महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितायां श्रीमद्भागवत–

सुबोधिन्यां

तृतीयः स्कन्धः

(अध्याय : १–१९)

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ
कंसारा बजार, मांडवी–कच्छ,
गुजरात–३७०४६५
Tel. 02834-231463
Email:gosharad@rediffmail.com
www.vallabhacharyavidyapeeth.org
www.pushtimarg.net

सम्पादक :
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ–पार्ला)
गोस्वामी श्रीशरद्कुमार (मांडवी–कच्छ)

प्रकाशन वर्ष :
वल्लभाब्द ५३९,
वि.सं.२०७३, सन.२०१७

प्रति : ५००

मुद्रक :
पूर्वी प्रेस्, राजकोट

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती) १०
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी) निःशुल्क
पुष्टिप्रवेश १-२ ले. : गो.शरद् (गुज) २०
पुष्टिप्रवेश-१-२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) १०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती) ३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) २०
प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती) २०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा अप्राप्य
साधनाप्रणाली संगोष्ठी अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा दुर्लभ
पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी ५०
सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी ५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध १००
जघन्याधिकार विचारगोष्ठी ८०
पुष्टिफलमीमांसा १००
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत-संक्षिप्तविवरण) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी २००
प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ १०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५
अमृत वचनावली (गुजराती) निःशुल्क
अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००
पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका १५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००
श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ४००

श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य–न्यासादेशविवरण सहित ५०

विवेकत्रयम्, प्रपञ्च–जीव–मूलरूप (संस्कृत) १०

गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य

सेवा[हिन्दी] (ऋतु–उत्सव–मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सेवा[गुज.] (ऋतु–उत्सव–मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य

श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा–भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य

रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

सेवाकौमुदी[(हिन्दी)], विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य

भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य

षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य

कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य

जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०

पुरुषोत्तमग्रन्थावली–५(द्रव्यशुद्धि–व्रतोत्सवनिर्णय–अपराधनिरूपण)(संस्कृत–गुज.–हिन्दी) १००

पुरुषोत्तमग्रन्थावली–६(उपनिषद्–गीताविवृति) संस्कृत २००

श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १–१९) संस्कृत २००

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र–ग्रन्थ–हस्ताक्षर (गुज.–हिन्दी) २५

आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध १०० द्वितीयस्कन्ध १००

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य निःशुल्क श्रीगोपीनाथप्रभुचरण निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथप्रभुचरण–श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला : मांडवी–कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण–कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात–३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्–पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल–वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :**

आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित–पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

प्रकाश–रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खंड १–२. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खंड १. शास्त्रार्थ–सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १–५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६–१२

पुष्टिविधानम् गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण

श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत)

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम–द्वितीयस्कन्ध

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय–साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण–प्रमेयप्रकरण

खंड ९.राजससाधन–फलप्रकरण

खंड १०.सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण

सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुलर्भ

वेदान्ताधिकरणमाला–भावप्रकाशिका

विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

प्रस्थानरत्नाकर

विद्वन्मण्डनम्

श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

वादावली : ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्य–स्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधि–करणसमालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः

अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः, भागवतस्वरूप–विषयकशंकानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः, भगवत्प्रति–कृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्र–धारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्र–धारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः यमुनाष्टपदी, प्रबोधः, मंगलारार्तिकार्या, व्रतचर्या, प्रेङ्खपर्याङ्कविवृति, ‘लालयति’ पलनापद, राजभोगारार्तिकार्या, वसन्ताष्टपदी, शयनारार्तिकार्या, चुतुःश्लोकी, रक्षास्मरणम्, गीताहेतुतात्पर्यम्, मुक्तितारतम्यम्, भक्तिजीवनम्, अस्मत्कुलस्वरूपवर्णनम्, सेवाश्लोकाः, गायत्रीव्याख्या, परिशिष्ट : महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य विरचित तेलगुपद, पदविवरण, श्रीमत्प्रभुचरणस्वरूपनिर्णयव्याख्यानम्.

श्रीमत्प्रभुचरणकृता स्ताविज्ञाप्तयः राधाकैङ्कर्यप्रार्थना, स्वामिन्यष्टकम्, स्वामिनीप्रार्थनाष्टपदी, स्वामिनी–स्तोत्रम्, ललितत्रिभङ्गीस्तोत्रम्, गोकुलाष्टकम्, लालयति दोलिकामञ्चशयनम्, भुजंगप्रयाताष्टकम्, विज्ञप्तयः, शयनारार्तिकार्या, विज्ञप्तयः.

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३.स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई

।। प्रकाशकीय ।।

सप्रकाश सुबोधिनी तृतीयस्कन्धका प्रकाशन गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज की आज्ञासे आज से ९० वर्ष पूर्व, वि.सं. १९८४ में विद्याविभाग(श्रीनाथद्वारा) ने किया था. गो.वा.श्रीनन्दकिशोर शास्त्री उसके सम्पादक थे. ग्रन्थके सम्पादनकेलिए तिलकायतश्रीने अपने निजी पुस्तकालयमेंसे चार हस्तलिखित प्रतियां उनको उपलब्ध करायींथीं.

तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी पर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित 'प्रकाश' की दो दुर्वाच्य प्रतियां सम्पादकको विद्याविभाग(श्रीनाथद्वारा)से प्राप्त हुई थी. तत्पश्चात् मुम्बई निवासी गो.वा.श्रीधीरजलालभाईके पाससे उनकेद्वारा प्रतिलिपि की हुई तृतीयस्कन्ध प्रकाशकी एक प्रति तथा नि.ली.गो.श्रीगोकुलनाथजी महाराज (मुम्बई) के संग्रहमेंसे भट्ट श्रीरमानाथ शास्त्री द्वारा इसकी एक ओर प्रति सम्पादकको प्राप्त हुई. इन सभी प्रतियोंके, किन्तु, अपूर्ण-अशुद्ध होनेके कारण 'प्रकाश' टीकाके प्रामाणिक पाठके निर्धारणमें तत्कालीन विद्वान् श्रीसदानन्द झा और श्रीपुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदीने अध्याय १-२० पर्यन्त तथा शेष ग्रन्थके संशोधनमें श्रीदामोदर शास्त्री, श्रीगिरिधारिलाल शास्त्री, आनन्दिलाल शास्त्री, श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री आदिने सम्पादककी सहायता कीथी. इस ग्रन्थके पुनः प्रकाशनके अवसर पर इन सभी महानुभावोंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं. इन सभी महानुभावोंके अवलोकन करलेने पर भी प्रकाश टीकामें जो अंश सन्दिग्ध लगे वहां आद्यसम्पादकने(?) चिह्न रखे हैं जिनको इस नूतन प्रकाशनमें भी यथावत् रखा गया है.

तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी पर श्रीविट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजी लिखित 'लेख' नामक टीका उस समय सम्पादकको प्राप्त नहीं हो पायी थी अतः उसका प्रकाशन वे कर नहीं पाय थे.

प्रकृतप्रकाशनके विषयमें:

इस ग्रन्थके पुनःप्रकाशनमें शुद्धपाठके निर्धारणार्थ उल्लिखित मुद्रित प्रतिके साथ मिलान करनेकेलिए हमें मांडवी घरसे तीन हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुईं. इनमेंसे दूसरी सर्वाधिक प्राचीन प्रतिका पाठ मुद्रित पाठके साथ अत्यधिक साम्य रखता है. इनके अतिरिक्त संखेडा, अहमदाबाद और जुनागढ से प्राप्त (द्रष्टव्य परिशिष्ट) हस्तलिखित प्रतियोंका और मांडवीकी शेष दो प्रतियोंका पाठ लगभग समान है. इतनी सब प्रतियोंके साथ मिलान करने पर भी उल्लेखनीय पाठभेद हमें उपलब्ध नहीं हो पाये हैं. जो उपलब्ध हुवे हैं उनको पूर्वप्रकाशनमें मुद्रित पाठभेदोंके साथ ही पादटिप्पणीमें लिख दिया है. ध्यातव्य है कि प्रथमादिक्रमसे निर्दिष्ट पाठभेद पूर्वप्रकाशित ग्रन्थके हैं जबकि ककारादिक्रमसे निर्दिष्ट पाठभेद नूतन प्रतियोंके हैं. जहां-जहां दोनोंके पाठभेद समान हैं

उनको प्रथमादिनिर्दिष्ट पाठभेदके साथ ही लिख दिया गया है.

इस प्रकाशनकी उल्लेखनीय उपलब्धि श्रीवल्लभजीकृत ‘लेख’टीका है जो हमें श्रीगट्टुलालजीके संग्रहमेंसे चतुर्थाध्यायके १६ वें श्लोक पर्यन्त ही और वह भी मध्यमें अनेकत्र तृटित अवस्थामें प्राप्त हुई है. ‘लेख’ टीकाकी ही एक ओर प्रति हमें मांडवीके संग्रहमेंसे भी प्राप्त हुई है. उसके भी, परन्तु, अपूर्ण होनेके कारण और उसमें द्वितीयस्कन्धके लेखके कुछ पत्र मिश्रित होजानेके कारण शुद्धपाठके निर्धारणमें अल्प ही सहायता प्राप्त हो पायी है. फिर भी जो जैसा उपलब्ध हुवा उसे यहां नूतनतया प्रकाशित किया गया है. समादरणीय गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ–पार्ला) ने कृपाकरके उसका अवलोकन कर जो महत्वपूर्ण निर्देश दिये तदनुसार उसका संशोधन किया गया है.

ग्रन्थमें उद्धृत वचनोंके आकरस्थलोंको खोजकर उद्धृतस्थलमें लिखा है. साथ –साथ समग्र ग्रन्थमें उद्धृत वचनोंकी आकारादि क्रमसे सूचि भी ग्रन्थान्तमें दी गयी है.

जिज्ञासु पाठकोंकी सुविधाकेलिए ग्रन्थारम्भमें ही महाप्रभु विरचित श्रीभागवततत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थमेंसे तृतीयस्कन्धके प्रकरण तथा अध्याय(१–१९)के अर्थ एवं श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रम् स्तोत्रमेंसे तृतीयस्कन्धके नामोंको उपलब्ध कराया है.

स्मरण:

इस ग्रन्थके सम्पादनार्थ अपने–अपने संग्रहोमेंसे हस्तलिखित प्रतियां प्रदान करनेवाले ज्ञाताज्ञात सभी महानुभावोंका सहयोग सर्वथा अविस्मरणीय है. पाठभेदको जांचनेकेलिये इतनी सारी हस्तलिखित प्रतियोंके मिलानमें महीनों प्रतिदिन कई घंटों तक एकाग्रता और धीरज से बैठनेवाले श्रीपंकज दूबे तथा चि.निकिता ठक्कर का सहयोग तथा पुनर्मुद्रणके कार्यमें टाईप् सेट् की हुई कम्प्युटरकी फाईल्को प्रेस्में भेजने लायक बनाना तथा छपाईमें जानेसे लेकर छपकर तैयार हुवे ग्रन्थको तत्तत्स्थान तक पहूंचाने का कार्य निःस्पृह भावसे करनेवाले यथाक्रम श्रीपीयूष गोंधिया तथा श्रीप्रवीणभाई डढाणीया का सहयोग भी अवश्य स्मरणीय है.

अन्तमें, दैवोद्धारप्रयत्नात्मा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कि जिन्होंने आधुनिक दैवी–पुष्टि जीवोंके हितार्थ समारब्ध श्रीभागवतके गूढार्थके प्रकाशनका कार्य सम्पन्न हुवा न होनेके कारण स्वधाम पधारनेकी दो–दो भगवदाज्ञाका उल्लंघन किया वे तथा आपके द्वारा परिश्रम पूर्वक किये गये इस अदेयदानसे आपके प्रति ऋणानुबन्धिताका अनुभव करनेवाले श्रीभागवतके गूढार्थके जिज्ञासु जन तो इसके प्रकाशनसे अवश्य सन्तोषका अनुभव करेंगे!

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्टकी ओरसे

शरद् गोस्वामी(मांडवी–हालोल)

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितः सप्रकाशः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

।। तृतीयस्कन्धप्रकरणार्थः ।।

तृतीयस्कन्धनिबन्धनं चिकीर्षुः उक्तविवक्षितयोः सङ्गतिम् आह **अधिकारिषु** इति.

अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ।।१ ।।

अधिकारः प्रथमस्कन्धार्थः. साङ्गश्रवणविधिः द्वितीयार्थः. तृतीयादि-दशस्कन्धेषु श्रोतव्यविषयः प्रतिपाद्यत इति अर्थः ।।१ ।।

एवं दशानां साधारणम् अर्थम् उक्त्वा तृतीयस्कन्धार्थम् आह **त्रयस्त्रिंशद् अथाध्यायाः तृतीये सर्गवर्णने** इति,

त्रयस्त्रिंशदथाध्यायास्तृतीये[1] सर्गवर्णने ।
स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते ।।२ ।।

एकदेशे सर्गप्रतिपादनव्यावृत्त्यर्थं **'त्रयस्त्रिंशदथाध्याया'** इति उक्तम्. सर्वेषां सर्गएव अर्थः **''सर्गः कारणसम्भूतिः''** (   )इति वाक्यात्. सर्गश्च लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधः इति. अलौकिके त्रयस्त्रिंशद्देवा सृष्टाः सन्तो यज्ञं साधयन्ति इति अविवादम्. लौकिकेपि अष्टाविंशतितत्त्वानि चतुर्विधभूतबीजानि कालश्च इति त्रयस्त्रिंशत्प्रकाराः सृष्टिः भवति. अतएव सर्गस्य विशेषणम् आह **स्वाभिप्रेते** इति. न तु सर्गो यः कश्चित् सृष्टिसाधारणः. तत्र स्वाभिप्रेतः पूर्वम् उक्तो लौकिकालौकिकभिन्नः. तत्रापि भगवद्रूपता सर्वत्र इति विशेषः. तत्रापि स्वोपयुक्ता-र्थसहितो मोक्षादिफलयुक्तः. जीवस्य हि द्विधा सृष्टिः, बहिः स्वरूपे च. बहिः सृष्टिः लोके प्रसिद्धा. सा हि वस्तुतो जीवस्य नाशरूपत्वात् प्रलयो भवति. अतो मोक्षएव मुख्यसृष्टिः. अधिकारिदेहव्यतिरेकेण स न भवतीति मोक्षार्थम् उत्पत्तिरपि निरूप्यते. तत्र गृहस्थस्यैव मुक्तिः सन्दिग्धेति दम्पत्योः मुक्तिनिरूपणम्. तत्र गृहस्थस्य मुक्तौ भगवत्सन्तोषः प्रयोजकः. तस्यापि[2] भक्तिः, ज्ञानं योगश्च आज्ञाकरणञ्च. तस्माद् एतत् सर्वं सर्गमध्यइति स्वोपयुक्तार्थेपि उक्तम् ।।२ ।।

प्रसिद्धिविरोधम् आशङ्क्य आह **लोके सर्गविसर्गौ** इति.

सर्गविसर्गौ हि यादृशौ नेह तौ मतौ ।
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम् ।।३ ।।

१.'त् तथा' इति पाठः. २.'भक्तिज्ञानम्' इति पाठः.[2]

पुरुषार्थपर्यवसायिनौ. तेन एकैका लीला स्वतन्त्रेति प्रत्येकम् एकैकस्कन्ध-वाच्यता, तेन स्कन्धद्वयविस्तरः ।।३ ।।

तत्रापि मैत्रेय-विदुरसंवादप्रकारेण लीलाकथनम् उचितम् इति आह **लीलाद्वयस्य** इति.

लीलाद्वयस्य श्रवणात् सिद्धः क्षत्ताऽधिकारतः ।
किं पुनः सकलश्रोतेत्यतस्तस्य कथा तता ।।४ ।।

सर्गलक्षणम् आह **तत्र** इति.

तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा ।
देवस्य तु द्विरूपत्वात् कारणानां त्रिरूपतः ।
पञ्चधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्षविभागतः ।।५ ।।

''**भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः. ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्**'' इति मूले लक्षणम्. तत्र गुणवैषम्यं रजसैव, तस्यैव सृष्टिकारणत्वात्. 'ब्रह्मणः' इति सन्देहाभावाय. भगवत इति भूतमात्रेन्द्रियधियो देहरूपाः, कार्याअपि भवन्ति इति कारणजन्मदा लीला इति उक्तम्. एवं व्याख्यानस्य आर्थान्तरम् अभिप्रेतम्. रजोभाजोपि लीलासृष्टिः मुख्यब्रह्मणोपि लीला. कालत्वेन कालस्यापि सृष्टिः लीला. जीवोपि कारणमिति तस्यापि स्वरूपस्थितः सृष्टिप्रयोजनत्वेन सर्गमध्यपातिनी भवति. अगुणवैषम्याद् ब्रह्मणोपि जन्म इति व्याख्यानार्थं कारणानां जीवानां जन्म द्यति खण्डयति इति व्याख्यानम्. अतः प्रकणानि विभजते, देवस्यतु द्विरूपत्वाद् इति गुणातीत-सगुणभेदेन कारणानां तत्त्वजीवानां त्रयो भेदाः तेन पञ्चधा पञ्च प्रकरणानि भवन्ति. एकप्राधान्ये अन्यस्य विभूतित्वम् इति स्थितिः. यथा तत्त्वसृष्टिः गुणातीतविभूतिः, यथा सगुणसृष्टिः विसर्गरूपा ब्रह्मप्रभृतीनाम् उत्पत्तिः, यथा वा दशविधा लीला कालस्य सृष्टिः, यथा तत्त्वानां लीला गुणसृष्टिः साङ्ख्यप्रकरणोक्ता, यथा जीवसृष्टिः मतान्तरभाषया, एवं पञ्चविधापि लीला सर्गरूपा बन्धमोक्षविभेदेन द्विरूपा, सगुणस्य मोक्षलीलायोगः, गुणातीतस्य ज्ञानं, कालस्य भक्तिः, तत्त्वानां मोक्षः, जीवस्य वैराग्यम् इति. तस्माद् अर्थभेदेन दशप्रकरणानि भवन्ति. तद् आह **बन्धमोक्षविभागतः** इति ।।५ ।।

तान् भेदान् स्पष्टयति **गुणातीताद्** इति.

गुणातीतात् सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा ।।६ ।।
कालो जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः ।

तत्त्वानां वक्तव्यत्वेपि नामसृष्टेः परिग्रहार्थं **नाम** इति उक्तम्. तेषां पूर्ववत् स्वातन्त्र्यं वारयति **तत्रापीशेच्छया भवः** इति न केवलं कालदेः ।।६ १/२ ।।

ननु सर्गे भूम्युद्धारस्य कुत्र उपयोगः ? तद् आह **सर्वाधारस्त्वरूपा या** इति.

सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धृतिः ।।७ ।।

मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता ।।७ १/२ ।।

भूम्युद्धारः सर्वसृष्ट्युपयोगी सर्वेषाम् आधारभूतः साधारणः. तेन बन्ध–लीलान्ते निरूपितः. जीवप्रकरणं व्यर्थम् इति आशङ्क्य आह **मुक्तोपि जायते** इति. मुक्तिः गौणिः इति केचित्. वस्तुतस्तु सनकादयो मुक्ताएव पूर्वं सिद्धज्ञानाएव उत्पन्ना, अग्रे ज्ञानोपदेशाभावात्. तथा वैकुण्ठवासिनामपि भक्तानां मुक्तानाम् ईश्वरेच्छया सम्भवः. अतः शापकथा. एकः कर्ता अपरो विषयः इति ।।७ १/२ ।।

उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ।।८ ।।

मतान्तरेण हि फलं राजसत्वाद् निरूप्यते ।

एवं जीवोत्पत्तौ उपपत्तिरेव उक्ता, नतु अयं प्रकारो भागवताभिमतः तेषां जीवानां मोक्षार्थं प्रक्रियान्तरं साङ्ख्यप्रकरणम्. मतान्तरेण फलनिरूपणे हेतुम् आह **राजसत्वाद्** इति ।।८ १/२ ।।

तथा सति फले वैषम्यम् आशङ्क्य आह **फले हि नास्ति** इति.

फले हि नास्ति वैषम्यम् इतीशस्योद्भवाभिधा ।।९ ।।

उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ।

क्रियाज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत् ।।१० ।।

यत ईशएव उद्भूय तत्रापि फलं प्रयच्छति अतो अस्यां लीलायाम् अवतारद्वयम्. क्रियावतारो वराहो, ज्ञानावतारः कपिलः इति. ननु सृष्टौ किमर्थम् अवतारः तत्र आह **कर्माधीना अन्यथाभवेद्** इति ।।१० ।।

ननु अपूर्वं निरूप्यते यद् मुक्तानां पुनरुत्पत्तिः! इति तत्र आह **मुक्तेपि** इति.

मुक्तेपि यदि नोत्पत्तिः उत्पन्ने मुक्तिरेव वा ।

तदा कृष्णेच्छया सृष्टिः इत्यर्थोहि विरुध्यते ।।११ ।।

तदा ईश्वरत्वं व्याहतं भवेद् इति अर्थः ।।११ ।।

सृष्टिः सफला इति स्पष्टयति **स्त्रीपुंसे**ति.

स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात् तदर्थं सृष्टिकृद्धरिः ।

ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति ।।१२ ।।

तस्मात् सृष्ट्यवतीर्णस्तु भजेत हरिम् आदरात् ।

किम् अत्र स्कन्धार्थे फलितम् इति आशङ्क्य आह **ऐहिकामुष्मिक–फलम्** इति ।।११ १/२ ।।

ननु साङ्ख्यप्रकरणे तदनुसारिणी सृष्टिः कथं न उक्ता? तत्र आह **साङ्ख्येन** इति.

साङ्ख्येन मुक्तिकथनात् सृष्टिः सामान्यतोदिता ।।१३ ।।

तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात् त्रिधा ।

गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद् गौणत्वाद् न विरुध्यते ।।१४ ।।

सामान्यतो मता या काचिद् वक्तव्य इति उक्ता, **उदिता** इति सन्धिः आर्षख्यापकः. अतएव गौणी तदविरोधार्थं निरूपिता ।।१४ ।।

ननु कर्दमस्य मुक्तौ साधनं न उक्तम् इति चेत् तत्र आह ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वाद् इति.

ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वाद् मुक्तिः भोगादिसंयुता ।

उपदेशेन च परा चतुर्भिः निवभिः क्रमात् ।।१५ ।।

उपदेशेन स्त्रीमुक्तिः ।।१५ ।।

चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ।

अधिकारः तथा सृष्टिः उपपत्तिः फलं तथा ।।१६ ।।

तेन क्रमात् प्रकरणचतुष्टयं भवति. दश प्रकरणानि पूर्वं निरूपितानि. स्थूलानि गणयति **अधिकारः** इति ।।१६ ।।

पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता ।

चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसङ्गताः ।।१७।।

अधिकारः ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ।।१७ १/२ ।।

पञ्चधा सृष्टिः पूर्वमेव उक्ता. चतुर्णामेव दशधात्वम् इति. तत्र सृष्टिः पञ्चविधा, उपपत्तिः द्विधा. त्रिधामुक्तिः. एवं त्रयाणां दश भेदाः. अधिकारस्तु ततो भिन्नः, तस्य स्कन्धद्वयोपयोगात्, स्कन्धद्वयम् एकं प्रकरणवत्. तेन षष्ठ्यध्यायाः सर्गविसर्गयोः. अधिकारे चतुष्टयम् इति. भगवतः कला निरूपिता भवन्ति ।।१७ १/२।।

एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अधिकारे अध्यायचतुष्टयम् इति तत्र प्रथमाध्याये यादृशो अधिकारः सपन्नः तं प्रतिपादयितुम् आह **प्रतिबन्धः** इति.

प्रतिबन्धो गृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनं मता ।।१८।।

बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाभ्यन्तरी मता।

कृष्णप्रसादयुक्तश्चेद् अधिकारी परः स्मृतः।।१९।।

प्रतिबन्धनिवृत्तिः **शुद्धिः तीर्थाटनम्** इति. भगवदीयत्वेपि त्रयो गुणाः अधिकाः. तेन पूर्वस्माद् विशिष्टो अयं प्रथमः. तस्य भगवत्कथाश्रवणं चेत् ततोपि उत्तमो भवति. तत्रापि आन्तरश्चेद् भगवद्गुणो भवति तदा तृतीयः. भगवत्कृपायां चतुर्थः इति. भगवदीयत्वेपि चतुष्टयं चेत् परमो अधिकारी भवति. बाह्या शुद्धिः द्विधा, दोषनिवृतिरूपा गुणाधायिका च. तत्र प्रथमाध्यायार्थः गृहासक्तिरेव प्रतिबन्धः. अतः

तन्निवृत्तिः वक्व्या इति शेषः।।१९।।

नन्तु क्षत्रियाद् भगवदीयात् शूद्रः कथम् अधिकारी ततोपि उत्तमो वा कथं? तत्र आह **शतं वर्षाणि** इति.

शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद् राजन्यतास्य हि।

तावत् क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात् कृष्णसभोज्यता।।२०।।

अतोऽधिकारस्तस्यात्र यथायुक्तं तु जीवनम्।

''**शापाद् वर्षशतं यमः**''(१।१३।१५) इति वा स्यात्. शतवर्षपर्यन्तं शूद्रत्वम्. अन्यथा ब्रह्मबीजस्य मुख्यशूद्रत्वं न उपपद्येत, राजत्वार्थं प्रार्थितत्वात्. क्षत्रियत्वमेव पश्चात्. अतएव मन्त्राद् आह्वानम्. तस्य अशूद्रत्वे हेत्वन्तरमपि आह **कृष्णसभोज्यता** इति. अतः क्षत्रियत्वात् तस्य अधिकारः. ब्रह्मबीजत्वं च अधिकप्रयोजनम्. ननु स शतवर्षाण्येव जीवति इति अभिप्रायेण कथं न शापः? इति अभिप्रायेण आह **यथायुक्तम्** इति. जीवनन्तु युक्त्या तस्य बहुकालं लक्ष्यते. सहि धृतराष्ट्रसमानः दुर्योधनसमानो भीमः. ततोपि कनिष्ठो अर्जुनः. तत्समानः कृष्णः. तत्र च ''**पञ्चविंशाधिकशतम्**'' (   ) इति वाक्यम्. अतः सार्धं शतं वा तस्य जीवनं भवति।।२०१/२।।

एवं चतुर्णाम् अर्थम् उक्त्वा प्रथमाध्यायार्थम् आह **अपमानाद्धि निर्विण्णः** इति.

अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया ।।२१।।

क्षत्ता सत्सङ्गतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः।

सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा।।२२।।

स्वतो निर्विण्णः कदाचिद् आगच्छेदपि. अतो हेतुपूर्वको निर्वेदः साधनीयः, स चेद् निर्विण्णो अन्यत्र तिष्ठेत् पुनः आसक्तिः भवेत्. अतः तीर्थसेवैव कर्तव्या. तत्रापि तीर्थे देवताबुद्धिः तदैव सेवा भवति. तत्रापि कामनाभावाय **विशुद्धः** इति. **क्षत्ता** इति पूर्वमेव जितेन्द्रियता सिद्धा. **सत्सङ्गः** उद्धवसङ्गः, तेनैव प्रीतः, नतु प्रश्नार्थम्. तत्र प्रश्नत्रयं कृतवान्, भगवतः कुशलप्रश्नः, सर्वेषां कुशलप्रश्नमिषेण भगवतः सामान्यप्रश्नः, चरितप्रश्नश्च इति. तद् आह **सामान्येन** इति ।।२२।।

उत्तरे क्रमेण उत्तराभावात् प्रकारम् आह **अन्तिमं मध्यतः कृत्वा** इति.

अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात् ।

मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम्।।२३।।

अन्तिमं चरित्रं मध्यतो विशेषप्रश्नोत्तरम् उक्त्वा सामान्योत्तरम् अनुक्त्वा मध्ये चरित्रम् उक्तम्. ''**कृष्णद्युमणिनिम्लोचे**''(३।२।७) इति विशेषोत्तरं ''**राजंस्त्वया-**

नुपष्टानाम्'' (१।१५।२२) इति सामान्योत्तरम्. मध्ये भगवतः चरित्रं च द्विविधमपि निरूपितम् इति अर्थः. तत्र हेतुः, **सम्बन्धकारणाद्** इति, भगवतः चरित्रकथनव्यतिरेकेण उत्तरासम्भवात् सम्बन्धे कारणम्. ननु भगवतः चरित्रं न इदं समीचीनं, भक्तानां बन्धूनां मारणाद् अत: कथम् अधिकारसिद्ध्यर्थं तच्चरित्रम् उक्तम् इति आशङ्क्य आह मारणे प्राप्तदोषस्य इति. यद्यपि ईश्वरत्वाद् न दोषः तथापि प्रतीत्या दोषसम्भवेऽपि ते सर्वेभक्ताः तेन प्रकारेण उद्धृताइति दोषनिवृत्तिः।।२३।।

ननु तथापि विदुर: परीक्षिदपेक्षया कथम् उत्तमो भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वाद् इति आशङ्क्य आह **सेवनाद्** इति.

सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि।

माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम्।।२४।।

अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी ।।२४ १/२।।

पूर्वं भगवत्सेवा तेन महती कृता. तदाज्ञाकरणं पाण्डवानां रक्षा. विशेषतो भगवन्माहात्म्यश्रुतिश्च. एतद्धेतुत्रयं परीक्षिति न अस्ति इति ततोऽपि अयम् उत्तमः. उत्तमत्वं कुत्र उपयुज्यते ? इति आशङ्क्य आह **कृष्णविश्वासदायिनी** इति. विश्वासस्य अभिज्ञापिका नि:शङ्कं प्रवृत्तिः।।२४ १/२।।

एवं प्रकरणार्थम् उपपाद्य द्वितीयाध्यायार्थम् आह द्वितीये इति.

द्वितीये तु तथाध्याये सामान्योत्तरमुच्यते ।।२५ ।।

तदर्थं हरिमाहात्म्यमार्थिकं कृतमेव च ।

विशेषमाहात्म्यमेव प्रश्नस्य जीवपरत्वे सामान्यमाहात्म्यं भवति. तदा एवम् अर्थः. भगवत्प्रश्नो जीवानां साधारणप्रश्नः, विशेषप्रश्नस्तु तत्तन्नाम्ना. अतो भगवतो अन्यशेषत्वात् तत्र विश्वासार्थं भगवतः आर्थिकं माहात्म्यं प्रथमं, पश्चात् कृतं निरूप्यते ।।२५ १/२।।

तस्य उत्तराङ्गत्वम् आह **कृतम्** इति.

कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात् सम्बन्धतोऽपि तत् ।।२६।।

अत्रोक्तं फलसिद्ध्यर्थम् उद्धवप्रेम चोच्यते ।

तृतीयाध्याये चरित्रम् उक्तम् इति. तत्साम्याद् इदमपि उत्तरशेषत्वेन उच्यते. कथया कथा सम्बध्यते इति हेत्वन्तरम्. ननु एवं सति किम् अत्र कथानिरूपणेन इति आशङ्क्य आह अत्र उक्तम् इति. द्वितीयाध्याये विश्वासार्थं भगवत्कृतं फलम् उक्तम्, तच्चरित्रेपि यथा भवति तदर्थं तत्सम्बद्धम् उक्तम्. भगवतो वार्ताकथनम् अध्यायार्थः. तत्र उत्तराङ्गद्वयम्. विश्वासार्थं माहात्म्यम्. कथायाअपि तथात्वं च. पूर्वाङ्गम् एकम्. परमा भक्तिः. अभक्तोक्ते सर्वथा न विश्वासः इति उद्धवप्रेम च उच्यते ।।२६ १/२ ।।

तत्र श्लोकान् विभजते **षड्भिः** इति.

षड्भिस्तथैकेन पुनर्दशयुक् सप्तभिस्तथा ।।२७।।

दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ।।२७ १/२।।

तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्रं केवलं कृतम् ।।२८ ।।

विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाभ्यां विंशतिः पुनः ।

भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ।।२९।।

द्वयोराज्ञाप्रसिद्ध्यर्थं पञ्च सन्देहवारणे ।

चतुर्भिः सङ्गमश्चेति षडर्थाः क्रमतोदिताः ।।३०।।

विशेषस्य कुशलस्य. चतुर्थाध्याये उत्तरं श्लोकद्वयेन. तद्दोषपरिहाराय पुनः भक्तोद्धारे विंशतिः. अविद्यमाने भक्तोद्धारे चत्वारि वाक्यानि इति शेषः. एकं वियोजकम्. 'इति सह विदुरेण' इति. उभयोः उद्धव–विदुरयोः. सन्देहनिवृत्तिः परीक्षितः. चतुर्भिः गुरुशिष्यङ्गमः. विद्यमानो भक्तः उद्धवः. अविद्यमानो विदुरः, एतद् अकथने क्रूरत्वाद् अभजनीयः स्यात् ।।२९ ।३० ।।

एवं श्रोतुः अधिकारं निरूप्य वक्तुः अधिकारम् आह **मैत्रेयस्यापि** इति.

मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं [१]श्रवणाद् ज्ञापनाद् मतम्।

अत एव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ।।३१ ।।

श्रोतर्येव अनुप्रवेशः. ननु वक्तुः प्राधान्याद् भिन्नतया निरूपणम् उचितं, तत्कथं श्रोतृशेषत्वम् इति आशङ्क्य आह अतएव इति. नहि मैत्रेयकृपया मैत्रेयो निकटे स्थापितः, किन्तु विदुरकृपया. अतो भगवन्मार्गे भक्तएव श्रेष्ठो न अन्यः इति अर्थः ।।३१ ।।

एवं चतुर्भिः अधिकारं निरूप्य श्रोतरि सिद्धे मुख्यसृष्टिं निरूपयति इति आह **अधिकारे** इति.

अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते ।

तत्त्वकार्यविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ।।३२ ।।

उभयोः भेदकम् आह **तत्त्वकार्यविभेदेन** इति. कार्यं पुरुषशरीरम्. गुणातीता द्विधा हि सृष्टिः. अग्रे उभयोः कारणत्वाद् द्वयं कारणत्वेनैव निरूपितम् ।।३२ ।।

तत्र तत्त्वेषु सन्देहाभावात् समष्टेः कारणत्वं साधयति **समष्टेः** इति.

समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम् ।

प्रश्नत्रयं तृतीये तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ।।३३ ।।

षड्भेदा नावतारे हि साधनेनोपसंहृतिः ।

---

१. श्रवणाह.

द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु ॥३४॥

जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च ।

एवं प्रकरणाध्यायार्थं निरूप्य विचारम् आरभते. तत्र प्रथमं विदुरस्य प्रश्नः "**सुखाय कर्माणि**"(भाग.पुरा.३।५।२) इति पञ्चदशभिः श्लोकैः. तत्र किं पृष्टम् इति विचारणीयम्. उत्तरत्वेन भगवल्लीलाम् आह उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूपाम्. ततः तदनुरोधेन एकः प्रश्नः कर्तव्यः इति भवति तदभावाद् विचारः. तत्र प्रथमं कर्मफले सन्देहः, फलार्थं विहितानि कर्माणि क्रियमाणानि विपरीतं फलं साधयन्ति इति एकः प्रश्नः. तत्र अंशत्रयम् अस्ति इति आह **कर्माणि प्रति वर्णिनाम्** इति. न एतानि कर्माणि लौकिकानि, किन्तु वैदिकानि. अन्यथा भ्रान्तस्य फलविपर्यये न किञ्चिद् दूषणम्. अतो वर्णिनामेव कर्माणि प्रति **प्रश्नत्रयम्**. कथं सुखं न जायते? दुःखाभावो वा उद्देश्यभेदेन. कथं वा असङ्कलितं दुःखं जायते? इति. अथ यदि कर्ममार्ग एतादृशएव तदा प्राणिना किं कर्तव्यम् इति प्रथमः प्रश्नः. तत्र यदि उत्तरं भगवद्भजनं कर्तव्यम् इति, तत्रापि भजनमपि कर्म इति, येन प्रकारेण कृतं भगवत्प्रीतिजनकं भवति तं प्रकारं कथय इति द्वितीयः प्रश्नः. अवतारचरितप्रश्नः तृतीयः. अवतारव्यतिरेकेण कृते चरित्रे प्रश्नचतुष्टयम् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः नानात्वम् इति. कार्यप्रश्नः पञ्चमः. सर्वत्र भिन्नप्रकार-करणहेतुः प्रश्नः षष्ठः. एवम् अवतारचरित्रेण सह सप्त भवन्ति. एवं सति प्रश्नत्रयं भवति. जीवकर्माणि द्विविधानि, स्वार्थानि भगवदर्थानि च इति. भगवत्कर्माणि च तृतीयानि, तत्सामान्यतः प्रतिजानीते प्रश्नत्रयं भवति. 'एतत्'पदं पूर्वेणापि सम्बध्यते, **वर्णिनाम्** इत्यनेन तद् द्योतितं प्रश्नप्रथमश्लोकार्थत्वेन, साधारण्येन च प्रतिज्ञा प्रश्नत्रयम् इति. तृतीये भगवत्कर्मप्रश्ने अवतारानवतारभेदेन द्वैविध्यम्. तत्र अनवतारप्रश्ने षड् भेदाः. सएव प्रथम इति प्रथमे **पुनः** इति उक्तम्. पश्चाद् अवताराः. उद्देशेन ग्रहणसन्देहं वारयति न अवतारे हि इति. अतो अनभिव्यक्तभगवतएव षट् प्रश्नाः कृताः, उपसंहारेपि निरूपिताः. "**यानीश्वर कीर्तय तानि मह्यम्**"(भाग.पुरा.३।५।१६) इति गृहीतावतारस्य च तेन भगवत्कर्मस्वेव द्विविधेष्वपि तस्य उपसंहारः इति तत्रैव उत्तरम् उक्तम् इति न दोषः. यतः साधने जीवकर्तृक-कर्मणि न उपसंहृतिः. हेत्वन्तरमपि द्वयोरपि **विभेदेन** इति. "**तदस्य कौषारव**"(भाग.पुरा.३।५।१५) इति. "**स विश्वजन्मस्थिति**" (भाग.पुरा.३।५।१६) इति इदानीं प्रश्नान् गणयितुं प्रथम उद्देशप्रकारेण एकएव प्रश्नः इति आह प्रकटे हि एकएवतु इति. प्रकटो अवतारः. अप्रकटे षड्भेदान् वदति जन्मादयः इति, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः यथा "**ससर्जाग्रे**"(३।१२।२) इत्यादिना. प्रवेशनानात्वे एकत्वेन गणिते. तदनन्तरं प्रकारद्वयप्रश्नः, "**यैस्तत्त्वभेदैः**"(३।५।८), "**येन प्रजानाम्**" (३।५।९) इति ॥३।-५७/८।३३।३४॥

एवं भगवत्कर्मप्रश्नेषु क्रियमाणेषु पूर्वयोः उत्तरं न वक्यव्यम् इति स्वरुच्या शास्त्रनिर्धारिण च निरूपयति इति आह **हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारः** इति.

हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि ।।३५ ।।

स्वरुचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

''**कस्तृप्नुयाद्**''(३।५।११) इति चतुर्भिः प्रश्नैः हेतूक्तिः. अनेनैव शास्त्र-निर्धारः. गृहासक्तिः दुःखात्मकं संसारं प्रयच्छति. कर्माणितु गृहासक्तिकार्याणि. अतो दुःखजनकत्वम् उचितमेव इति. ननु स्वयं पृष्ट्वा स्वयमेव कथम् उत्तरयति इति आशङ्क्य आह **भक्तत्वज्ञापनाय हि** इति. भक्तो हि कर्मणाम् असारतां ज्ञात्वा भगवद्धर्मेषु रमते ततः कर्मप्रश्नः तस्य अयुक्तो भवति. एवं ज्ञापनेन स्वस्य भक्तत्वम्. रुच्यापि इति आह **स्वरुचिश्चापि** इति. ''**परावरेषाम्**''(३।५।१०) इति श्लोकेन स्वरुचिः उक्ता. 'मह्यम्' इति उपसंहारेपि. ननु अवतारचरित्रमपि न उत्तरे निरूप्यते इति आशङ्क्य आह **षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम्** इति. स्थितौ अवताराणां प्रवेशं मन्यते. पुरुषे वा अनुप्रवेशः ।।३५ १/२।।

ननु ''**तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः**''(३।५।४) इति प्रश्नो अनुपपन्नः, प्रश्ने वा उत्तरे वा समानाभावाद् इति आशङ्क्य समाधत्ते **इष्टे** इति.

इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोर्भगवत्प्रीणनेऽपि च ।।३६ ।।

उत्तमे पथि सम्प्रश्न आद्यावेतौ यथोत्तरम् ।

इष्टे सुखदुःखाभावे भगवत्प्रीणने वा प्रसिद्धहेतोः अभावाद् अन्यो हेतुः वक्तव्यः इति लोकोपकारार्थं प्रश्नः उचितः. अतएव आद्यौ एतौ सर्वसाधारणौ लोकोपकारार्थं स्वार्थञ्च यतनीयम् इति. ननु अस्य उत्तराभावात् कथं प्रश्नः इति, तत्र आह **यथोत्तरम्** इति. यथावद् उत्तरम्. उत्तरवाक्ये प्रथमतएव ''**लोकान् साध्वनुगृह्णता**''(३।५।१८) इति प्रशंसायाः कृतत्वात्. तृतीयोत्तरेणैव आद्योत्तरं यथावद् उक्तम् इति अर्थः ।।२६ १/२ ।।

तत्र हेतुः **उत्तरत्वेन कथनाद्** इति.

उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम् ।।३७ ।।

अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः ।

तदेव स्पष्टयति उत्तरं **कर्मणि स्थितम्**. भगवच्चरित्रकथने पर्यवसितम्. अतएव सभाजनम्. तदुत्तरेणैव आद्ययोरपि उत्तरम् इति, दुःखाभावः सुखावाप्तिः कथाश्रवणादेव, तेनैव भगवानपि तुष्यति ।।३७ १/२ ।।

ननु तत्त्वानां स्तुतिः कुत्र उपयुज्यते तत्र आह **कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वम्** इति.

कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः ।।३८ ।।

विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोपि सुदुष्करम् ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः ।।३९ ।।

पौत्रोत्पत्तौ पुत्राणामिव न प्रकृते तत्त्वानां स्वतन्त्रता. ननु सामान्यतो निरूपणं प्रकृतोपयोगि भारतादावपि एतावच्छ्रुतत्वाद् इति आशङ्क्य आह **विशेषतस्तु कथनम्** इति. तर्हि कथनस्य किं प्रयोजनं, तत्र आह **श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थम्** इति. श्रवणकीर्तनादेः विषयः एतादृशः इति ज्ञापनार्थः ।।३९ ।।

अवतारचरित्रस्य अनन्तर्भावम् आशङ्क्य आह **सर्वावतारबीजत्वाद्** इति.

सर्वावतारबीजत्वात् पुरुषेणैव तत्कथा ।

गुणातीतात् सृष्टिलीला द्वयेनैवं निरूपिता ।।४० ।।

अध्यायद्वयार्थम् उपसंहरति **गुणातीताद्** इति ।।४० ।।

सगुणां तु त्रयेणाह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ।

ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ।।४१ ।।

सगुणातु लीला त्रिभिः. सृष्टि-भगवतोः मध्ये गुणानाम् अधिकारत्वात्. ते हि पूर्वपक्षत्वेनैव मतान्तरभाषया सिद्धाः निरूप्यन्ते इति ज्ञापयितुम् आह **पूर्वपक्षाधिकत्वत** इति. अत्रापि कारणसम्भूतिः कार्यसम्भूतिः इति अध्यायद्वयम्. तत्र कारणं ब्रह्मा, कार्यं सर्वं जगत्. तत्कालशेषत्वेन निरूपणीयम् इति स्तोत्रमेव कार्यत्वेन निरूप्यते सफलम् ।।४१।।

एवं सामान्यतः त्रयाणाम् अध्यायानाम् अर्थाः निरूपिताः. अधुना विचार्यन्ते. ननु इयं लीला विसर्गे प्रविशति न सर्गेइति आशङ्क्य आह **एतद्विभूतिरूपत्वाद्** इति.

एतद्विभूतिरूपत्वाद् अन्येषां न विसर्गता ।

साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुजयते ।।४२ ।।

अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम् ।

यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थेविविच्यते ।।४३ ।।

एतद् इति प्रथमसृष्टिस्वरूप-पुरुषरूपम् उच्यते. **अन्येषां** ब्रह्मादीनाम् अस्ति विभूतित्वं, ब्रह्मादीनाम् अस्ति च विसर्गता. उभयोः किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **साधारण्येन कथनम्** इति. भागवतं हि सारोद्धारात्मकम् उत्तमाधिकारसहितञ्च. तेन पुराणान्तरसाम्येन न विसर्गत्वेन निरूपणीयम्. तर्हि विसर्गो न वक्तव्यः इति आशङ्क्य आह **यादृशो हि विसर्गः** इति. तस्य न विभूतित्वं सम्भविष्यति इति भावः ।।४२-४३ ।।

गुणातीतात् सृष्टिलीला मैत्रेयेण स्वतएव निरूपिता भगवदाज्ञया. तावता

विदुरस्य आकाङ्क्षायाम् [1]असमाप्तौ सर्वसन्देहवारकं भागवतमेव इति सूतवत् शुकवद् भागवतमेव उपक्षिपति. तत्र अस्य परम्परा शेषात् सङ्कर्षणात्. तथा सति ब्रह्मादिक्रमेण न आगतम् इति कथं भागवतत्वम् इति आशङ्क्य आह **कृष्णोक्तम्** इति.

कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।
अयमर्थस्त्वन्यमुखान्नोद्भविष्यति कर्हिचित् ।।४४ ।।

भगवता प्रोक्तं भागवतम्. गीतादीनामपि भागवतत्वमेव, परं न पुराणत्वम्. नहि अन्यो भगवल्लीलां जानाति इति अभिप्रायेण आह **अयम् अर्थः** इति ।।४४ ।।

ननु अत्र परम्परायां पराशराद् मैत्रेयस्य अध्ययनम्. सतु विष्णुपुराणम् आह इति प्रसिद्धिः तस्माद् अस्य न भागवतत्वम् इति आशङ्क्य आह **वैष्णवादिपुराणानि** इति.

वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम् ।
सर्वतोमुखमेतद्धि तदर्थं शेषतः कथा ।।४५ ।।
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाण्वपि ।

''**त्रयोविंशति वैष्णवम्**''(   ) इति. त्रयोविंशतिसहस्रपरिमितं पुराणं भिन्नमेव, तद् व्यासेनैव कृतम्. ''**अष्टादशपुराणानाम्**''(   ) इति वाक्यात्. इयन्तु पराशरसंहिता भिन्नैव. पराशरो हि भागवतं श्रुत्वा मैत्रेयाय तथाबोधितवान्. तस्मात् तदपि भागवतमेव इति न कोपि विरोधः. ननु तथापि परम्परा भिन्नैव इति कथं भागवतम्? इति चेत् तत्र आह **सर्वतोमुखम्** इति. भगवतो हि स्वरूपं (भगवतैव) भागवते वक्तव्यम्. तद्भगवान् स्वयमेव कदाचिद् वदति. कदाचित् सङ्कर्षणो वासुदेवस्यैव तत्त्वं वदति, ''**तत्त्वमतः परस्य**'' (   ) इति वाक्यात्. ननु तत्र वाक्यानुपूर्वी विसदृशी तत् कथम् अनयोः एकत्वं तत्र आह **अर्थमात्रप्रधानत्वाद्** इति. सर्गादयो अर्थाः यादृशाः भागवते विवक्षिताः तएव पराशरवत् कृष्णेपि सन्ति इति न किञ्चिद् अनुपपन्नम् ।।४५ १/२।।

केचित् पुनः सूक्ष्मं भागवतं भगवद्ब्रह्मसंवादपरम्परया समागतं द्वितीयस्कन्धमात्रम्. स्थूलन्तु दशस्कन्धात्मकं शेषतः समागतम् इति. तं पक्षं दूषयति **स्थूले**ति.

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिदाहुर्मृषैव तत् ।।४६ ।।
पञ्चमादन्यवत्कृत्वा तथा शास्त्रविरोधतः ।

पञ्चमस्कन्धादिकं न पराशरेण उक्तं, नापि व्यासः पराशरात् श्रुत्वा पञ्चमादिकं कथयति. तथा सति ''**कस्मै येन पुरे**''(१२।१३।१९)ति श्लोकोक्ता समाप्तौ परम्परा विरुध्येत. मध्ये च मैत्रेयप्रवेशो व्यर्थः स्यात्. अतः सर्वतोमुखत्वख्यापनार्थमेव अर्थप्राधान्यविवक्षया शेषकथा निरूपिता इति निश्चयः ।।४६ १/२।।

१. 'समाप्तौ' पाठः.

एवं दूषणसमाधानम् उक्त्वा प्रकृते सङ्गतिम् आह **गुणातीताद्** इति.

गुणातीतात् सृष्टिकथा स्वत उक्तातिगोप्यतः ।।४७ ।।

कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वाद् न स्वतन्त्रता ।।

एतत् पारशरमुखाद् न श्रुतम् इति किम् अत्र मूलम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **कृष्णाज्ञया तन्मुखतः** इति. अनेन मैत्रेयस्य कृष्णमुखादेव भागवतश्रवणम् इति निरूपितम्. भगवान् आदिरूपेण ब्रह्मणे प्रोवाच,. अवतीर्यतु मैत्रेयोद्धवाभ्याम्. उद्धवात् परम्परा न स्पष्टा. मैत्रेयो विदुराय प्रोवाच ।।४७ १/२।।

इदम् अत्यन्तशुद्धचित्तस्य फलजनकम्. विदुरस्तु न एवंविधः इति आह **अत्यन्तशुद्धचित्तस्य** इति.

अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नापेक्ष्यते क्वचित् ।।४८ ।।

इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः ।

अनेन भागवतानां बहुत्वमपि ज्ञापितम्. भगवदीयो यः कश्चिद् भगवता प्रोक्तं कथयति तदेव भागवतम् इति सामान्यलक्षणम् ।।४८ १/२।।

युक्त्या पदार्थनिर्धारो लौकिकः. भागवतार्थस्तु अलौकिकः इति. तथापि अधिकाराभावे सो अर्थो न स्फुरति इति सन्देहे जाते तन्निराकरणम् अवश्यं कर्तव्यम्. तत्र यावता यो मन्यते तथा तस्मै निरूपणीयम् इति स्थितिः. तथा मैत्रेयोपि विदुरबुद्धिम् आश्रित्य समाधत्ते. तत्र पूर्वपक्षं सिद्धान्तञ्च आह गुणातीताद् इति.

गुणातीतात् सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ।।४९।।

कार्यकारणवैजात्याद् लोकहेतोरभावतः ।

निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ।।५०।।

यथा बालः पुरुषस्य निषेकाद् जन्म अज्ञात्वा भोजनमेहनावेव पश्यन्, तत्रापि तथा कल्पयन्, तदपि अनुपपन्नम् इति संशयीभवति. तत्र वक्ता बालं यथाकथञ्चिद् बोधयति, वस्तुतस्तु न सः सिद्धान्तः. किन्तु, यथा निरूपितं ''**भगवानेक आसेदम्**'' (३।५।२३) इति सएव सिद्धान्तः. विदुरस्य संशये हेतून् आह **कार्य-कारणवैजात्याद्** इति. कारणं गुणरहितम्. कार्यं सगुणम् इति. लोकहेतुः च कामः. एवं गुणातीते सन्देहद्वयम् ।।५० ।।

तत्परिहारार्थं यदि सोपाधिकएव जगत्कर्ता निरूप्यते तदा पूर्वोक्तदोषपरिहारो भवति. तथापि तदेव न सम्भवति इति तृतीयो दोषः समायाति इति आह **सोपाधित्वे** इति.

सोपाधित्वे परीहारः तदेव न भवेदिति ।

तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः ।।५१ ।।

एतस्य दूषणस्य समाधानाभावात् तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धः इति उक्तम्. इदमेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेपि ।।५१ ।।

मायासम्बन्धे निरूपयितुं शक्ये हि दुर्भगत्वादिकं सम्भवति इति एतयोः समाधानं मायासम्बन्धे[1] निरूपयितुं शक्ये सति तत्कार्येच निरूपयितुं शक्ये सति भवति इति आह **मायासम्बन्ध** इति.

मायासम्बन्धकार्येहि परिहार्ये तयोः क्रमात् ।
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ।।५२ ।।

एवम् एका शङ्का ब्रह्मगा अपरा जीवगा इति. पूर्वपक्षं निरूप्य सिद्धान्तं निरूपयति प्रथमस्य परीहारः इति. "**सेयं भगवतो माया यद् नयेन विरुध्यते**"(३।७।८) इति भगवतो मायायाश्च नित्यएव सम्बन्धः षष्ठ्या निरूपितः ।।५२ ।।

ननु एवं सति भगवत्त्वहानिः स्याद् इति आशङ्क्य आह **भगवत्त्वाविरोधित्वम्** इति.

भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ।।५३ ।।

'भगवत्'पदेन इति अर्थः. ननु विक्षेपशक्तिपक्षेपि भगवत्त्वाविरोधः उपपद्यते इति आशङ्क्य आह **असमासात् प्रधानत्वम्** इति. 'भगवतो माया' इति पदद्वयस्य असमासाद् एकार्थत्वाभावः तेन न मायावैशिष्ट्यं भगवतः, किन्तु, सा पृथगेव दासीवत् तिष्ठति इति उक्तं (भवति) ।।५३ ।।

एवं भगवति परिहारम् उक्त्वा जीवे परिहारम् आह **द्वितीयस्य** इति.

द्वितीयस्य परिहारे विरोधात्कार्यबाधनम् ।
विरोधमात्रमाहोस्विद् आद्ये सेयं दृशिर्यतः ।।५४ ।।

'भगवतो माया' इति पदद्वयेनैव प्रथमस्य परीहारः. द्वितीये पक्षं विकल्पयति **विरोधात् कार्यबाधनम्, आहोस्विद्** [2]विरोधएव इति. आद्ये समाधानं **सा इयं** दृशिः यतः इति. कार्यबाधनं कर्तुं न शक्यते संसारस्य असिद्धत्वात्. ननु एतदेव न स्याद् इति उच्यते इति चेद् भगवन्मायया तदुपपत्तिः इति बुध्यताम् ।।५४ ।।

तथापि युक्तिविरोधः इति द्वितीयपक्षे समाधानम् आह **द्वितीये** इति.

द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।
विरुद्धकार्यसम्बन्धस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ।।५५ ।।

कथं भूषणम् इति आशङ्क्य आह **विरुद्धकार्यसम्बन्धः** इति. मायया हि विरुद्धं कार्यं दृश्यते. शिरः छिद्यते जीवति. अन्त्राणि निष्कास्यन्ते स्वस्थः चेति।।५५।।

---

१. 'मायासम्भवे' इतिपाठः. २. विरोधो वेति पाठः.

ननु अत्रापि का उपपत्तिः इति आकाङ्क्षायाम् आह **विरोधोपि प्रतीत्यैव** इति.

विरोधोपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।
दर्शनं ज्ञानिनोप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ।।५६ ।।
इति दृष्टान्ततस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।
तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ।।५७ ।।[1]

सर्वभवनसमर्थत्वाद् ब्रह्मणः तच्छक्तित्वाद् मायायाश्च तथात्वम्. अयम् आत्मविपर्ययः ईश्वरस्य कार्पण्यादिः स्वरूपे ज्ञाते न भविष्यति इति आशङ्क्य आह **दर्शनं ज्ञानिनोपि एवम्** इति. यस्तु जीवे ज्ञानी जीवस्वरूपाभिज्ञः. जीवस्वरूपन्तुं सर्वावस्थासु भासतएव, ईश्वरस्वरूपमेव परं न भासते. अतः स्वप्नद्रष्टा भगवानेव इति तेन सह स्वस्य अभेदज्ञानात् स्वशिरश्छेदः स्वप्ने भासते. वस्तुतस्तु जीवस्वाप्नशरीरस्य शिरश्छेदः ईश्वरेण दृश्यते, स्वयं च तदभेदात् पश्यति. सुषुप्त्युत्क्राक्त्योरेव भेददर्शनम्. शरीरात्मा प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तो अन्वारूढः इति भेदेन निरूपणात्. ब्रह्मविदः तत्र भेदेन अनुभवः. अन्यस्यतु अबोधः तद् आह **इति दृष्टान्ततः** इति. स्वप्नदृष्टान्तेन सत्ये भगवत्स्वरूपे देहाद् भेदो निरूपितः. तत्र द्रष्टा भगवानेव इति. तर्हि शिरो जीवस्य इत्यत्र किं प्रमाणं? तत्र द्वितीयो दृष्टान्तो यथा जले चन्द्रमसः इति. यस्तु देहादिसंसारे जलप्राये अहम् इति मन्यते तस्यैव कम्पादिः नतु आकाशस्थस्य. अतो अभेदेपि जीवस्यैव तच्छिरः. अस्य अनर्थस्य निवृत्तिः स्वतो न भवति इति तन्निवृत्त्युपायः उच्यते इति आह **तन्निवृत्तिप्रतीकारः** इति, ''**स वै निवृत्तिधर्मेण**'' (३।७।१२) इत्यादिना ।।५६।५७।।

मार्गद्वयेन अनर्थनिवृत्तिः, भक्तिमार्गेण ध्यानमार्गेण च. तत्र प्रथमे शनैः तिरोभावः इति मैत्रेयाभिप्रायः. सर्वतिरोभावस्तु भगवत्साक्षात्कारे. तदा न स्वप्नदर्शनम्. जागरणेपि न देहादौ आत्मबुद्धिः, किन्तु सुषुप्तिवत् सर्वदा ब्रह्मानन्दानुभवः.

निदर्शनं सुलभं साधनं च गूढा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः ।
तदुक्तं वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या ।।५८ ।।

तत्र प्रथमपक्षे मुक्तिः वक्तव्या इति मैत्रेयः कैमुतिकन्यायेन ''**अशेष-संक्लेशशमम्**''(३।७।१४) इति श्लोकेन निरूपयति इति आह **निदर्शनं सुलभम्** इति. दृष्टान्तो अत्र सुलभः. सर्वेषामेव भगवद्गुणानुवादे परमानन्दानुभवात्. साधनं च सुलभं सर्वत्र सतां भगवद्गुणकीर्तनस्य नित्यत्वात्. 'च'काराद् न अत्र देशाद्यपेक्षा. ननु एवं सति कथं न सर्वेषाम् अनर्थोनिवर्तते तत्र आह गूढा सूक्तिः इति. समीचीना भगवच्चरित्रोक्तिः, **गूढा** गुप्ता. तेनैव हि भगवत्प्रकाशः सच दुर्लभः इति न सर्वमुक्तिः.

१. इदं विवरणं भाग. ३।७।९ आरभ्य मैत्रेयोक्तेः.

अतएव भक्तिमार्गो दुर्लभः इति[1] तद्दर्शनम् उक्तम्. ज्ञानमार्ग उक्तः. तदपि तदेव दर्शनम्. यद् न भेद्यम् आत्मनो भेदं न भासयति. एवं मार्गद्वयस्यापि सेवा हेतुः. भगवत्सेवया द्वयमपि प्राप्यते इति. सापि सेवा शास्त्रनिष्ठा पञ्चरात्रोक्ता न स्वेच्छया यथाकथञ्चित् कृता. इयम् आद्या प्रथमतः एवं कर्तव्या. पश्चाद् भगवत्प्रसादे तदुक्तप्रकारेण स्वेच्छयापि सेवा भवति इति अर्थः ।।५८।।

अयं सिद्धान्तो ज्ञातव्यः इत्येव अभिप्रेत्य सर्वं पृष्टम् इति आह **तदर्थमेव** इति.

तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसङ्गतः ।
अतोऽपि न विसर्गत्वम् अन्यशेषाद्यवीयसाम् ।।५९।।

अनेन सर्गत्वमेव समर्थितम् इति आह **अतोपि न विसर्गत्वम्** इति. यवीयसां ब्रह्मादीनां सृष्टिकर्तुः भगवतो विभूतिशेषत्वात्. एवं पूर्वपक्षाध्याये विभूतिज्ञानार्थं प्रश्नः समर्थितः ।।५९ ।।

विभूतिज्ञानं च भागवतादेव भवति इति तस्य प्रस्तावना इति आह **श्रीभागवतमेवात्र** इति.

श्रीभागवतमेवात्र श्रोतव्यं नान्यदस्ति हि ।
स्वज्ञानख्यापनार्थं हि तदुपाख्यानमीरितम् ।।६०।।

अन्यतः श्रवणं वारयितुं परम्पराम् आह इति आह स्वज्ञानख्यापनार्थम् इति ।।६० ।।

कथं ब्रह्मणो विभूतित्वम् इति आशङ्क्य आह **तदुद्भवस्तदाज्ञप्तः** इति.

तदुद्भवस्तदाज्ञप्तः तपसा तोषिते हरौ ।
स्तुते सम्प्रार्थिते चैवं बोधितः सर्वमेव हि ।।६१।।
चतुर्मुखश्चकारेदं यथापूर्वं तदाज्ञया ।
इति दर्शयितुं पृष्ट उपोद्घातं त्रिभिर्जगौ ।।६२।।

सप्तधा यो भगवत्सम्बन्धी सः तस्य विभूतिः. आवेशी भवति इति एके. अत्र गुणातीतात् सृष्टिम् उक्त्वा सगुणात् सृष्टिः वक्तव्या, सापि ‘‘**विरिञ्चोपि तथा चक्रे**’’ (३।१०।४) इति दशमाध्याये वक्तव्या. मध्ये अध्यायत्रयेण कथं सगुणात् सृष्टिः? इति आशङ्क्य आह **इति दर्शयितुं पृष्ट** इति. त्रिभिः उपोद्घातो निरूपितः. अनेन विभूतित्वनिरूपणएव तात्पर्यम् इति ज्ञापितम्. यतः सृष्टिः अल्पेनैव उक्ता।।६१-६२।।

पद्मकल्पस्य विशेषतो निरूपणे हेतुम् आह **पद्मकल्पः** इति.

पद्मकल्पः सात्त्विकानां श्रेष्ठस्तं तत उक्तवान् ।
पूर्वस्य प्रलयं शिष्टं हेतुं चाह विशुद्धये ।।६३ ।।

---

१. ‘कार्यादेः’ अधिकम्.

पद्मकल्पात् पूर्वकल्पः तामसो भवितुम् अर्हति. अतः तस्य प्रलयो निरूप्यते, तत्र यः शिष्टः शेषशायी भगवान् सच उत्तरत्र हेतुत्वार्थं निरूप्यते. अतः पद्मकल्पो अत्यन्तं शुद्धो भवति ।।६३ ।।

अत्र कल्पभेदेषु पदार्थानाम् अन्यथात्वं दोषाय न भवति इति ज्ञापयितुं पृथिव्याः त्रिरूपत्वम् आह **जघनाब्जपृथग्रूपैः** इति.

जघनाब्जपृथग्रूपैस्त्रिधा भूमेर्निरूपणम् ।

ब्राह्मे पाद्मे वराहे च तेन नान्योन्यदूषणम् ।।६४ ।।

ब्रह्मकल्पे विराजो जघनरूपा पृथिवी. पद्मकल्पे तस्यैव नाभिपद्मरूपा. वराहकल्पेतु पृथग्रूपा. तत्रापि आदिवराहकल्पे ब्रह्मणातलादिपञ्चलोकानां हस्तेन उद्धृतिः कृता, पुष्करपर्णे च स्थापिता. सैव मग्ना पुनः भगवता उद्धृता वराहकल्पे. अयन्तु श्वेतवाराहकल्पः ततोपि विसदृशः तेन दृष्ट–श्रुतयोः विरोधो न मन्तव्यः ।।६४।।

ननु बहूनां कल्पानां विद्यमानत्वात् कथं त्रयमेव निरूपितं तत्र आह **प्राकृतं त्रयम् एतद्** इति.

प्राकृतं त्रयमेतत् स्याद् अन्येष्वेकं यथोचितम् ।

अतस्त्रिधा भागवते भुवो रूपनिरूपणम् ।।६५ ।।

अन्ये कल्पाः एतद्विकाराः. अतः एतेषाम् अन्यतरस्य तेषु पृथिव्यादीनां रूपं भवति. अत्र निदर्शनार्थम् आह अतः त्रिधा भागवते इति ।।६५ ।।

तेषु कल्पेषु अन्यानपि धर्मान् विवेचयति पुरुषावयवैः इति.

पुरुषावयवैः सर्वं यदा तस्य पृथङ्न हि ।

पृथिवी वा समुद्रा वा परिखामध्यवत् पुरम् ।।६६ ।।

तदा सर्वं हरिर्मानी न मानीत्यपरे विदुः ।।

ब्रह्मकल्पव्यवस्था इयम्. तदा भवगतः सकाशात् पृथिव्यादीनां न भिन्नतया अवस्थानम्. एकमेव विराड्रूपम् आवरणजलमध्ये परिखामध्यनगरमिव तिष्ठति. तस्मिन् कल्पे सर्वं हरिरेव शरीरत्वाद्, यतः सः मानी. अन्येतु आहुः, विराट्शरीरं भवगता नारायणेन लीलार्थं करणत्वेनैव गृहीतम् इति. तस्मिन् पक्षे क्रीडाभाण्डं विश्वं न भगवत्स्वरूपम् इति अर्थः. स्वस्यैव समवायित्वेपि कामधेन्वादिदृष्टान्तैः न तत्र आत्मस्फूर्तिः. किन्तु आत्मीयत्वेनैव स्फुरणम् ।।६६ १/२ ।।

द्वितीयपक्षं निरूपयति **यदा** इति.

यदा पद्मात्सर्वमिदं तदा पूर्वकथा न हि ।।६७ ।।

जलं च मध्यतः सृष्टम् अथवाण्डस्य मध्यगम् ।।६७ १/२ ।।

पद्मकल्पपक्षे प्रलयजलमपि न अस्ति. किन्तु तिरोहितो नारायणः केवलं

नाभिपद्ममेव स्थलकमलवत् तिष्ठति. जलं च तन्मध्ये पुनः सृष्टम्. अण्डमध्ये वा विराजितिरोहिते कमलमात्रं प्रादुर्भूतं तिष्ठति. तदा कमलात् सर्वम्. सर्वे भगवदंशाः भगवन्मायासहिताः च इति ।।६७ १/२।।

तृतीयकल्पम् आह **कदाचिद् जलवद् भूमिः** इति.

कदाचिद् जलवद्भूमिः पृथगेव विनिर्मिता ।।६८ ।।

कटाहमूले गमनं तदा तस्या निरूप्यते ।

न समुद्रास्तदा सप्त न तथा विस्तृता च भूः ।।६९ ।।

यथा पद्मकल्पे जलनिर्माणम् एवं वराहकल्पे भूनिर्माणम्. **कटाहमूले** रसातले **तदा** सप्तसमुद्राणां सद्भावे प्रमाणाभावात् पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा पृथिवी न भवति, ज्योतिःशास्त्रविरोधाच्च ।।६९।।

अन्यदपि वैलक्षण्यम् आह **न शेते** इति.

न शेते प्रथमे कल्पे तिरोभावस्तु तस्य हि ।

द्वितीये शयनं तस्य तृतीयेपि क्वचिद् भवेत् ।।७०।।

ननु ब्रह्मकल्पातिरिक्तकल्पेषु कथं सर्वस्य भगवन्मूलत्वं तत्र आह **तदुद्धाराद्** इति.

तदुद्धारात्तदाधारात् तन्मूलं सर्वम् अत्र हि ।

अयं नारायणः शेते पूर्वसृष्टं निपीय तु ।।७१।।

भगवतैव उद्धारः पृथिव्याः कृतः. पद्मकल्पे पद्मस्य सएव आधारः, अतः तन्मूलत्वम्. एवं कल्पभेदेन विरोधं परिहृत्य ''**उदाप्लुतं विश्वम्**''(३।८।१०) इत्यत्र कस्यचित् शयनं निरूपितम्. तत्र पूर्वपक्षपरिहारार्थम् आह **अयं नारायणः शेते** इति. विराजः शयनं न सम्भवति इति श'ा. उत्तरन्तु तिर्यग्गोलाभिप्रायेण. अस्यापि कल्पस्य पूर्वमपि पद्मकल्पएव. ''**अनेन लोकान् प्राग्लीनान्**''(३।१०।७) इति वाक्यात् ।।७१ ।।

शयनस्थानम् आह **स्वाधारे** इति.

स्वाधारेऽण्डकटाहे वा जलमध्ये तु तत्स्थितिः ।

उदरस्थं जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते ।।७२ ।।

स्वस्मिन्नेव जलं कल्पयित्वा तस्मिन् शेते दैनन्दिनप्रलयः तादृशोपि भवति. अन्यथा नारायणस्य शयनं न सम्भवति. अथवा, यथाश्रुतानुरोधेन पक्षान्तरं कल्पनीयम् इति आह अण्डकटाहे वा इति. तदा निद्रानिमित्तं प्रलयो अभूद् लोकत्रयस्य. तदा नारायणो अवेक्षको भिन्नएव, पूर्वोक्तपुरुषाद् भिन्नः तस्य वा अन्तर्यामिरूपः. उभयत्रापि जलमध्यएव स्थितिः, यावत् सम्भवानां पदार्थानां हानोपादाने कर्तव्ये. अत्र विरोधम् आशङ्क्य परिहरति **उदरस्थं जगत्सर्वम्** इति. जले मग्नं जगद् इति प्रथमतो

निरूप्य ''**अन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्म**''(   ) इति पुनः अन्तः निरूप्यते. तत्र आधिभौतिकं नष्टम्, आध्यात्मिकम् अन्तःप्रवेशितम् इति व्यवस्था. तद् आह **जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्त्तते** इति ।।७२ ।।

राजसत्वे हेतुम् आह **न मूढम्** इति.

न मूढं न प्रकाशं च कृष्णदृष्ट्या तदुद्गमः ।

सङ्कोचश्च विकाशश्च नान्यथेति[1] तथोद्गमः ।।७३ ।।

तस्य निर्गमने हेतुम् आह **कृष्णदृष्ट्या** इति. तत्रापि हेतुम् आह **सङ्कोचः च** इति. अन्यथा सङ्कोच-विकाशौ न सम्भवतः ।।७३ ।।

अस्मिन् कल्पे तत्त्वानां न नियमः इति ज्ञापयितुं स्थानापत्तिम् आह **प्रथमे तु महत्तत्त्वं यथा** इति.

प्रथमे तु महत्तत्त्वं यथा पद्मं तथापरे ।

परिपालकरूपेण प्रविष्टो वेदरूपतः ।।७४ ।।

ब्रह्मा स्वयमभूद् द्वेधा स्वयमर्थोन्तरः पृथक् ।

अनन्तर्दृष्टितो भ्रान्तः तद्दृष्ट्या तस्य दर्शनम् ।।७५ ।।

महत्तत्त्वस्थानीयं पद्मं, तदेव जगदाधारम्. ततः कथं ब्रह्मोत्पत्तिः? इति आशङ्क्य भगवानेव तत्र प्रविष्टो ब्रह्मरूपेण जातः, परं शब्दब्रह्मरूपेण प्रविष्टः. अतः पुरुषस्थानीयोपि अयं ततो न्यूनरूपतया व्यपदिश्यते. पद्मकल्पे अयमेव विराट् स्थानीयः. अस्य [2]शब्दब्रह्मात्मरूपस्य कार्यद्वयसिद्ध्यर्थं रूपद्वयम् आह **ब्रह्मा स्वयम् अभूद् द्वेधा** इति. तत्र अर्थरूपः स्वयं चतुर्मुखएव जातः. यतो रूपप्रपञ्चोद्भवः. अतः[3] शब्दब्रह्मरूपोपि जातः. यतो वेदाः जाताः. यद्यपि अभेदेन वचनं तथापि अर्थात् शब्दात्मकः पृथक्. ननु एवं महतः तस्य पद्मे समुद्भूतस्य कथं स्वकारणान्वेषणे भ्रमः तत्र आह **अनन्तः दृष्टितो भ्रान्तः** इति. यदा पुनः तद्दृष्टिः अन्तःदृष्टिः तदा तस्य दर्शनम् ।।७४ ।७५।।

तत्र यादृशो दृष्टः तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपम् इति आह **साकारमेव** इति.

साकारमेव तद्ब्रह्म कारणं च तदेव हि ।

इति तद्वर्णनं स्तोत्रं तद्ब्रह्मत्वाय वर्ण्यते ।।७६ ।।

अस्मिन् कल्पे पद्मं ब्रह्मा च न अतो अन्यत् किञ्चिद् अस्ति. एतस्य यत् कारणं तत् चेत् साकारं तदा ब्रह्मैव तथा. कारणान्वेषिणा हि कारणमेव दृश्यते. अतः तदेव कारणम् इति ज्ञात्वा भगवद्वर्णनं स्तोत्रञ्च. अस्मिन् स्तोत्रे भगवत्स्वरूपनिर्णयः ।।७६ ।।

---

१. नान्यस्येति. २. पद्म. ३. अन्तः पाठः क्वचिदुभयं नास्ति.

सङ्ख्यापि स्तोत्रश्लोकानां ब्रह्मत्वनिर्णयः इति आह **एकविंशतिभिः** इति.

एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम् ।

चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम् ।।७७।।

''**एकविंशो हि पुरुषो भवति दशहस्त्या अङ्गुलयो दशपद्या आत्मैकविंशः**'' (   ) इति. किम् अनेन सिद्धम् इति आशङ्क्य आह **नित्यं भजनं,** तदेव **जन्मनः फलं,** तत् **चतुर्भिः** श्लोकैः **प्रार्थ्यते,** वस्तुतो भगवत्प्रसादः प्रार्थनीयः. तस्यापि एत्कारणमिति तावद् इदमेव प्रार्थ्यते. यतः **संसारे दुर्लभम्** एतत्. भजनसिद्ध्यर्थं तत्र चत्वारो अर्थाः प्रार्थिताः. तेनैव अर्थाद् भजनं प्रार्थितं भवति ।।७७ ।।

तान् गणयति **सात्त्विकत्वम्** इति.

सात्त्विकत्वं गुणासक्तिर्वाचकाविस्मृतिस्तथा ।

अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नान्यथा ।।७८।।

ननु एतच्चतुष्टयं प्रमाणादेव साधनीयम् इति आशङ्क्य आह **कृष्णतः तद्धि न अन्यथा** इति ।।७८ ।।

ननु एवं प्रार्थनायां कथं न सिद्धवत्कारेण सर्वं दत्तवान् ? किमिति साधनम् उपदिष्टवान् इति आशङ्क्य आह **प्रेम्णा न सेवनं यस्माद्** इति.

प्रेम्णा न सेवनं यस्माद् उपदेशस्ततः कृतः ।

आद्ये तपस्ततो ज्ञानं तेनान्यस्तत्फलं ततः ।।७९।।

द्विरूपं हृदयोत्साहस्तेनैवाविस्मृतिस्ततः ।

ननु प्रार्थनानुसारेण न उत्तरं किन्तु ''**भूयस्त्वं तप आतिष्ठ**''(३।९।३०) इत्यादि-भिन्नएव उपदेशः इति आशङ्क्य आह **आद्ये तपः** इति, साधनं हि उपदिश्यते सात्विकत्वं तपसा भवति. भगवद्गुणेषु आसक्तिः ज्ञानेन भवति, तेनैव वाचकाविस्मृतिरपि, वेदानाम् अविस्मरणम्. एतत्त्रितयसम्पत्तौ तत्फलम् अनुद्वेगः सेत्स्यति. अन्यदपि फलं भगवल्लीलापरिज्ञानम्. तस्मिन् सिद्धे हृदयोत्साहोऽपि वेदाविस्मरणमपि सम्यक् सेत्स्यति ।।७९ १/२ ।।

अनुद्वेगे हेत्वन्तरमपि आह **कृष्णासक्त्या** इति.

कृष्णासक्त्या त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्ते हरिः सदा ।।८०।।

अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरोभावाच्च नित्यता ।

ननु अप्राप्ते कृष्णे सुतराम् उद्वेगः स्याद् अतः आह **प्रीतो भक्ते हरिः सदा** इति. नित्यं प्रीतियुक्तभक्ते हरिः प्रीतः सन् न उद्वेगं प्रयच्छति इति अर्थः ।।८० ।।

इममेव अर्थं ज्ञापयितुम् अष्टभिः श्लोकैः भगवद्वचनं निरूपितम्. तेनैव रूपेण तिरोभूत इति नित्यतापि तस्य. एवं नवमेन अध्यायेन ब्रह्मपितुः ब्रह्मता साधिता ।।

ननु नवमाध्यायएव सगुणात् सृष्टिः वक्तव्या तदर्थं प्रश्नश्च कर्तव्यः तत्कथम् अत्र अनुक्त्वा कालप्रकरणे दशमाध्याये प्रश्नोत्तरे इति आशङ्क्य आह **चरित्र–परचित्तत्वाद्** इति.

चरित्रपरचित्तत्वाद् अग्रे पृष्टं न पूर्वतः ।।८१ ।।

अत एव गुरुः प्रीतः क्रमेणैवाह नान्यथा ।

उपोद्घातत्वेन भगवच्चरित्रं मध्ये प्रस्तुतं, तत्परं चित्तं जातम् इति तत्पूर्त्ति–पर्यन्तं न किञ्चित् पृष्टम् इति अर्थः. प्रश्नाभावादेव उत्तरमपि न. उत्तरत्र उच्यमानमपि पूर्वशेषएव भविष्यति इति भावः. अनेन भगवद्भक्तानां प्रसङ्गादपि भगवत्कथासम्पत्तौ प्रकान्त औदासीन्यं सूचितम्. तदैव भक्तत्वम्. एतत् परीक्षार्थमेव गुरुणा तथा उक्तं; ''**प्रीतः प्रत्याह**''(३।१०।३) इति वाक्यात्, पश्चात् प्रश्नेन प्रीतः तद् आह **अतएव गुरुः** इति. प्रीतिलिङ्गम् आह क्रमणैव आह न अन्यथा इति. पूर्वसम्बद्धरूपेणैव प्रश्नोत्तरम् आह नतु भिन्नतया. अन्यथा तथा प्रश्नान् पूर्वासम्बद्धानेव वदेत् ।।८१ १/२ ।।

यदि एकएव पद्मकल्पः स्यात् तदा ''**अनेन लोकान् प्राग्लीनान्**''(३।१०।७) इति वाक्यं न उपपद्येत. अतः तत्समर्थनार्थम् आह **पद्मकल्पाश्च बहवः** इति.

पद्मकल्पाश्च बहवः तेन ज्ञानं तथोदितम् ।।८२।।

पद्मतः सर्वसम्भेदं ब्रह्मभेदं तथोक्तवान् ।

किं तेन सिद्धम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **पद्मतः सर्वसम्भेदम्** इति. ननु ''**तस्यैव चान्ते कल्पो अभूद्**''(३।११।३५) इति वाक्यं विरुद्ध्येत इत्यतः आह **ब्रह्मभेदं तथा उक्तवान्** इति. ब्रह्माण्डान्तरे भिन्नस्य ब्रह्मणः पूर्वपरार्धान्तपक्षे न दोषो भवति इति ब्रह्मभेदोऽपि अनेन सूचितः इति अर्थः ।।८२ १/२।।

अथवा वर्षाभिप्रायो 'अन्त'शब्दः, तदा त्रिशतं षष्ठिः ब्रह्मकल्पा भवन्ति, तद् आह **सामान्यतो विभागो अयम्** इति.

सामान्यतो विभागोयं सर्वेषामुक्तमेव हि ।।८३ ।।

सृष्टिर्द्विधापि सम्पूर्णा कारणानामतः कथा ।

नतु चरमदिवसस्य. एवं कल्पान्तराणामपि विभागः सूचितो ज्ञातव्यः. अथवा, सगुणाद् ब्रह्मणः सृष्टि कथं न विशेषाकारेण उक्ता इति आशङ्क्य आह **सामान्यतः** इति, सामान्यप्रकारेण सर्वेषामेव उक्तम्, एतवान् जीवलोकस्य इति ।।८३ ।।

उपसंहरति सृष्टिः द्विधापि इति. विभूतिः अत्र मुख्या इति कालद्वारा सृष्टिं वक्तुम् आह **कारणानामतः कथा** इति. ।।८३ १/२ ।।

कालो जीवश्च वै रूपे नाम्नि वैदिकमुच्यते ।।८४।।

कालस्य कार्यतो जन्म तदुपाधिवशादपि ।

अव्यक्तत्वात् कृष्णभावाद् नोत्पत्तिः कापि तस्य तत् ।।८५ ।।

तथापि कारणत्वाद्धि प्रश्नो युक्तं तथोत्तरम् ।

तत्र कालस्य अध्यायद्वयेन निरूपणं कथयन् भेदम् आह **कालस्य कार्यतः** इति. स्वभावतो जन्माभावे हेतुम् आह **अव्यक्तत्वाद्** इति. ''**जनी प्रादुर्भावे**'' (धा.पा.दिवादि.१०२) इति धात्वर्थाभावाद् भगवदवतारत्वाच्च त्रिविधापि उत्पत्तिः न अस्ति. तर्हि सृष्टौ कथं तत्कथा इति आशङ्क्य आह **तथापि** इति. कालस्य कारणत्वम् अनुभवसिद्धं, ''**यद्भयाद् वाति वातोयम्**''(भाग.पुरा.३।२७।४०) इत्यादिक्याच्च(?). अतः प्रश्नः उत्तरञ्च युक्तम् ।।८५ १/२ ।।

लक्षणं च स्वरूपं च तस्य कारणतापि च ।।८६ ।।

सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्परिच्छेदकरः स्वयम् ।

कालस्य कारणत्वे यन्निमित्तं तद् आह **सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वाद्** इति. कालैनैव परिच्छिन्नं कालेनैव क्रियते ।।८६ १/२ ।।

कथम् एवं सामर्थ्यम् इति आशङ्क्य एतदर्थमेव कालरूपत्वम् इति आह **इदं कालस्य कालत्वम्** इति.

इदं कालस्य कालत्वमाविर्भावादिकं स्वतः ।।८७ ।।

कार्यतः कालकथनात्सामान्येन निरूपणम् ।

रसाद्यभिनये केवलेनैव हस्तेन सर्वे पदार्थाः चेष्टाविशेषेण प्रदर्श्यन्ते, अतः कालएव ब्रह्मणः सर्वभावेन आविर्भावे परिच्छेदहेतुः. केचन आविर्भावहेतुत्वेन वर्णयन्ति तन्निषेधार्थम् आह **आविर्भावादिकं स्वतः** इति. आविर्भाव-तिरोभावादिकं ब्रह्मणः स्वतएव, परिच्छेदएव परं कालात् ।।८७ ।।

कालो हि निरूपणीयः, सः सामान्यविशेषप्रकारेण अध्यायद्वयेन निरूपणीयः, तत्र कार्यनिरूपणस्य कुत्र उपयोगः इति आशङ्क्य आह **कार्यतः कालकथनाद्** इति, कार्यनिरूपणमेव सामान्यतो निरूपणम् ।।८७ १/२ ।।

ननु अत्र दशविधगणना किमिति कृता, सामान्यतएव कालकार्यत्वेन सर्वमेव जगद् वक्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **कञ्चित्प्रकारम् आश्रित्य** इति.

कञ्चित्प्रकारम् आश्रित्य बुद्धिसौकर्यसिद्धये ।।८८ ।।

[१]खगानां गणना प्रोक्ता भल्लूके लोमपक्षता ।

पक्षिजातिविशेषो वा तच्छब्देन तथोदितः[२] ।।८९ ।।

तथा सति सर्वं कार्यं न ज्ञातं भवति. बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं ततो गणना. तत्र खगानां गणनामध्ये भल्लूको गणितः, सच मृगविशेषो लोके प्रसिद्धो जाम्बवज्जातीयः.

१. 'विधानाम्' पाठः. २.'यथोदित' पाठः.

तस्य पक्षिषु गणना न युक्ता इति आशङ्क्य आह **भल्लूके लोमपक्षता** इति. पक्षान्तरम् आह **पक्षिजातिविशेषो वा** इति ।।८९ ।।

ननु ''**अर्वाक् स्रोतस्तु नवमः**''(   ) इत्यत्र कथं नराणाम् एकविधत्वं, मानुषेषु उत्तमाअपि ''**मध्यमा मानुषा ये तु**''(   ) इत्यादिषु भेदेन गणनात्. तत्र आह **अकृत्रिमनराणां च** इति.

अकृत्रिमनराणां च त्रैविध्यं गुणतोपि हि ।

ते जायस्व म्रियस्वेति मार्गगा एव कीर्तिताः ।।९० ।।

एते हि कालकार्यत्वेन कृत्रिमनराः गणिताः. अकृत्रिमाः सहजास्तु त्रिविधाः. उत्तमाः सात्त्विकाः. ते ज्ञाननिष्ठाः भक्तिनिष्ठाः वा. अन्येऽपि ज्ञातव्याः. तेषां कर्माधीनत्वम् आह **ते जायस्व म्रियस्व** इति ।।९० ।।

आत्मानं लीलया सृजति इति अभिप्रायम् आह **अनेकविधसृष्टिः चेद्** इति.

अनेकविधसृष्टिश्चेद्वैषम्यादि हरेर्भवेत् ।

आत्मानं हि स्वयं चक्रे तेन नात्रोक्तदूषणम् ।।९१ ।।

ननु एते दश प्रकाराः सर्वदा कालाद् जायन्ते आहोस्वित् सकृद् इति आशङ्क्य सकृदेव कारणतया जाता इति आह **तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्** इति.

तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्भेदानां तत्कथा तता ।

कार्यनाशोऽणुपर्यन्तं परमस्तेन स स्मृतः ।।९२ ।।

तत्कथा कालकथा. 'परमाणु'पदनिरुक्तिम् आह **कार्यनाशो अणुपर्यन्तम्** इति. स्थौल्याभावे हि सूक्ष्मता सा यत्र पर्यवसिता सः परमाणुः ।।९२ ।।

तत्र कालस्य परमाणुत्वे उपपत्तिम् आह **मानसोत्तरभूमेः** इति.

मानसोत्तरभूमेस्तु सोंशः सूर्यरथेन हि ।

यावता क्रम्यते कालः परमाणुः स उच्यते ।।९३ ।।

सर्वं नभोमण्डलं हि यावता क्रम्यते स तु ।

निबन्ध : संवत्सरः परः प्रोक्तस्तदावृत्तिरतः परम् ।।९४ ।।

षष्टि भेदा द्वादशात्मा तेन पञ्चात्मकः स्मृतः ।

पञ्चसंवत्सरादिभेदेषु उपपत्तिम् आह **षष्टि भेदाः** इति. प्रभवादयः षष्टि भेदाः बार्हस्पत्यमानएव सिद्धाः. तत्र बृहस्पतिः द्वादशारं कालचक्रं द्वादशभिः वर्षैः आक्रामति, तस्य षष्टिवर्षेषु पञ्चवारम् आक्रमणम् इति संवत्सरादयः पञ्च ।।९४ ।।

सङ्ख्या च परपर्यन्ता न ततो अधिका. संवत्सरगणनया ब्रह्मणो दिनं गणयितुम् अशक्यम् इति युगकल्पना कृता इति आह **यत्रावृत्तिः** इति.

यत्रावृत्तिर्न चैवास्ति परार्धानधिकत्वतः ।।९५ ।।

सङ्ख्यायास्तेन गणना युगादिभिरुदीर्यते ।

''**यत्र धर्मोविधीयते**'' (३।११।२०)इत्यादिनिरूपणं कालनिरूपणे व्यर्थम् इति आशङ्क्य आह **उत्पद्यमानसन्देहे** इति.

उत्पद्यमानसन्देहे धर्ममाह विभेदतः ।।९६ ।।

दिरात्रिव्यवस्थायां कार्याकार्ये तु सर्वतः ।

''**कृतकृत्याः प्रजाजात्या**''(११।१७।१०) इत्यादिधर्मैः 'कृतादि'शब्दप्रवृत्तिः. अतो मनुष्याअपि तन्निरूपणार्थं निरूपणीयाः. तेषां च धर्मभेदको धर्मएव इति धर्मनिरूपणम्. ननु एवं सति कृतादिषु [1]अहोरात्रमपि धर्मप्रवृत्तिः स्यात् तत्र आह **दिनरात्रिव्यवस्थायाम्** इति, तत्तु साधारणं, दिवसएव कार्यं न रात्रौ इति ।।९६ ।।

तत्रापि कार्यभेदान् हि वक्तुं धर्मादिवर्णनम् ।।९७ ।।

तत्सिद्ध्यै षड्विधत्वं हि ते हि भिन्ना यतः पृथक् ।

किञ्च, रात्रौ दिवसे च कार्यविभेदाः प्रतिकल्पं भिन्नाः. अतोऽपि धर्मादिवर्णनं कर्तव्यम्. धर्मसिद्ध्यर्थमेव मन्वन्तरनिरूपणम्. मन्वन्तरस्य षड्विधत्वं षडङ्गनिरूपणार्थम्. यतः ते मन्वादयः षडपि भिन्ना, देशादयो यतो भिन्नतया स्थिताः. अतः षण्णां योगे धर्मोभवति इति सिद्धम् ।।९७ ।।

सर्वेषां स्थितिसिद्ध्यर्थं भगवत्कृतिवर्णनम् ।।९८ ।।

तन्मूल एव प्रलयः शयने सर्वनिर्वृतिः ।

यथाकथञ्चिदपि उत्पन्नाः परस्परं विरुद्धगुणाः नाशं यास्यन्ति इति आशङ्क्य भगवता पालनम् उक्तम्. तर्हि कदाचित् प्रलयो न स्याद् इति आशङ्क्य आह **तन्मूलएव प्रलयः** इति, भगवतैव प्रलयः क्रियते. ननु परमदयालुः किमिति एवं करोति? इति आशङ्क्य आह **शयने सर्वनिर्वृतिः** इति, निरन्तरम् उत्पत्ति-प्रलयाभ्यां पीडिताः जीवाः भगवच्छयनएव निर्वृतिं प्राप्नुवन्ति ।।९८ १/२ ।।

एतत् शयनं पद्मकल्पएव भवति इति आह **पद्मानुसारी**ति.

पद्मानुसारिशयनं ब्रह्मा चाण्डवपुः स्मृतः ।।९९ ।।

भोक्तृत्वं कर्तृता चैव तस्य भेदेन वर्ण्यते ।

ननु एवं सति त्रिलोक्या नाशे ''**स्तूयमानो जनालयैः**''(३।११।३१) इति वाक्यं न उपपन्नं स्याद् अतः आह **ब्रह्मा च अण्डवपुः स्मृतः** इति, ब्रह्माण्डविग्रहः, एवं लोकत्रये कल्पादिव्यवस्था, अन्यथा ''**तस्यैव चान्ते**''(३।११।३५) इति वाक्यं न उपपद्येत. ननु एवं सति नाभिकमले को वा ब्रह्मा को वा सत्यलोकः इति शङ्कायाम् आह **भोक्तृत्वं कर्तृता चैव** इति. अभिमानी ब्रह्माण्डविग्रहः इति अवोचाम. एवं त्रयो

१. अहोरात्रादावपि.

ब्रह्माणो भवन्ति ।।९९ ।।

दैनन्दिनप्रलये कर्तुः ब्रह्मणः शयनोपायम् आह **पद्मे नोदरगः** इति,

भोक्ता सत्ये द्वितीयस्तु पद्मे नोदरगः सुखी ।।१०० ।।

प्रलयोऽयं समाख्यातः सर्गः पद्मे पुनस्तथा ।।

अनेन अभेदेन वर्णनपक्षो निवारितः. द्वितीयपद्मकल्पे **पुनः तथैव सर्गः**. वाराहकल्पेतु अन्यथा, तां सृष्टिम् अग्रे वक्ष्यामः ।।१०० ।।

ननु एकेनैव सर्गेण भगवल्लीलासिद्धौ किमिति अनेकवर्णनं तत्र आह **अस्मिन् अण्डे** इति.

अस्मिन्नण्डे त्रयोऽप्यासन् कल्पाः सर्वकथोक्तये ।।१०१ ।।

तेषामुक्तिस्तथा चाद्ये नाम्ना रूपस्य वर्णनम् ।।

अन्यथा भगवानेव तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते ।।१०२ ।।

पौरुषो अत्र विभूतिरूपः. सो अस्मिन् अण्डे यादृशः तादृशो वर्णनीयः. अतः सर्वेषां कथासिद्धये कल्पानाम् उक्तिः ।।१०१ ।।

तत्र प्रथमकल्पे ब्राह्मे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा छन्दोमयो निरूपितः, सः न उपपद्यते इति आशङ्क्य समाधानम् आह **तथाच आद्ये** इति. नामसृष्टिः भिन्ना निरूपिता, सापि रूपसृष्टिपरतन्त्रा इति न कोपि दोषः. आधिदैविकं वा रूपम्. अतएव ''**व्यक्ता-व्यक्तात्मनः**''(३।१२।४८) इति वचनम्. अन्यथा प्रकारान्तरेण इति पूर्वेणैव सम्बध्यते. आधिदैविकस्य शरीरित्वसम्पादकत्वं[1] भगवतएव युक्तं, न अन्यः तथा कर्तुं शक्नोति. इमम् अर्थं शब्दप्रसिद्ध्यापि समर्थयते तेन आद्यो ब्राह्म उच्यते इति. 'ब्रह्म'शब्देन भगवानेव ।।१०२ ।।

कालनिरूपणप्रस्तावे सर्वप्रभुत्वं कालस्य निरूप्य अक्षरेपि प्रभुत्वं भविष्यति इति आशङ्क्य आध्यात्मिकभेदानां तत्र प्रवृत्त्यभावम् आह **अतो अधिकस्य** इति.

अतोऽधिकस्य गणना नास्ति कालस्य पूरुषे ।

तत्रोपपत्तिकथनम् एवं कालो निरूपितः ।।१०३ ।।

भेदे हि सङ्ख्या नियामिका, द्विपरार्द्धाधिक-सङ्ख्यायाः अभावात्. कालप्रवृत्तिः पुरुषे न अस्ति, ''निमेष उपचर्यते'' इति तत्र उपपत्तिः. अध्यायद्वयेन कालप्रकरणं निरूपितम् इति उपसंहरति एवं कालो निरूपितः इति ।।१०३ ।।

अतः परं जीवसर्गो मुक्तामुक्तविभेदतः ।

मुक्तानां कारणत्वं हि तदिच्छावशगा यतः ।।१०४।।

अतःपरम् एकेन अध्यायेन जीवाः निरूप्यन्ते, तत्र अमुक्ताः जीवाः मुक्ति-

१. शरीरत्व इति पाठः.

प्रकरणे वक्तव्याः. ते न कारणभूताः. मुक्तास्तु जीवाः कारणभूताः एकेन अध्यायेन उच्यन्ते. मुक्तानां कथं कारणत्वम् इति आह **मुक्तानाम्** इति, मुक्ताः हि भगवत्सन्निधाने तिष्ठन्ति, अतो यदा भगवान् सृष्टिं कर्तुम् इच्छति तदा स्वलीलासिद्ध्यर्थं तान् प्रेरयति, अतो भगवदिच्छावशाः ते कारणभूताः इति अर्थः ।।१०४।।

तत्र मुक्तानां द्वैविध्यम् आह **लोकतीता** इति.

लोकातीता लौकिकाश्च तत्राद्या नाधिकारिणः ।

उत्पत्तिर्दुर्घटा तेषाम् अविद्या निर्मिता ततः ।।१०५।।

प्रथमानां मुक्तौ कारणत्वं, साहि जीवानां स्वरूपत(एव) आविर्भावरूपता इति पूर्वम् उक्तम्, तत्र लोकातीताः वैकुण्ठेपि विरक्ताः तिष्ठन्ति. अतः सृष्टौ ते न अधिकारिणः. मुक्त्यर्थं च उत्पादनीयाः. ज्ञानांशं तएव गृहीत्वा अवतरन्ति इति, अतः तान् व्यामोहयितुम् अविद्यायाः उत्पत्तिः ।।१०५।।

अभिमानी देवतेयं यतः सर्वं भविष्यति ।

मूलाविद्यावृत्तिरूपाः पञ्चैका [१]वात्र देवता ।।१०६।।

साहि आधिदैविकी, तेन सर्वानेव व्यामोहयिष्यति इति सर्वकार्यसिद्धिः. अत्र अविद्यायां पक्षद्वयम् आह **मूले**ति. एकैव देवता इति सिद्धान्तः.

लोकातीतोत्पादनार्थम् उत्पादिता ।।१०६।।

प्रथमं बाह्याभावाद् ब्रह्माणमेव मोहितवती इति आह **मूढः** इति.

मूढस्तया चतुर्वक्त्रः कृष्णध्यानं चकार ह ।

लोकातीतास्ततो जाताः काये ध्यानं प्रतिष्ठितम् ।।१०७।।

देवतारूपत्वाद् न ध्यानप्रतिबन्धिका, लोकातीतानाम् उत्पत्त्यनन्तरं तद्ध्यानं सृष्टिप्रकरणे जातं, ब्राह्मणः शरीरे प्रतिष्ठितं तत्कार्यम् अग्रे भविष्यति ।।१०७।।

मध्ये सनकादीनाम् उत्पत्त्यनन्तरं क्रोधो जातः इति आह **सर्गावेशाद्** इति.

सर्गावेशात्सन्निधानादविद्याकार्यसम्भवः ।

तदुत्पत्तिविचारेण नियन्तुमुपचक्रमे ।।१०८।।

ब्रह्मणो हृदये सृष्टिः आविष्टा तत्प्रतिबन्धे क्रोधस्फूर्तिः युक्तैव. अविद्यासन्निधानमपि हेतुः. तथापि इच्छाभावे कथम् उत्पत्तिः इति आशङ्क्य आह **अविद्याकार्यसम्भवः** इति, क्रोधस्तु अविद्याकार्यं ततएव उत्पद्यते, सच क्रोधः आधिदैविकः. आध्यात्मिकभ्रमात् तन्नियमनार्थं प्रवृत्तः इति आह **तदुत्पत्तिविचारेण** इति. सनकादयो महान्तो ज्ञानार्थमेव उत्पादिता इति तदुत्पत्तिविचारः ।।१०८।।

---

१. चात्र पाठः.

क्रोधे हि ध्यानसंयोगात् कृष्णांशः प्रविवेश ह ।।

तेनोभयस्य निःस्तारो ह्यन्यथैकस्य संक्षयः ।।१०९ ।।

आधिदैविकः क्रोधो न नियम्यः. ततो नियमनार्थं व्यापृतो ब्रह्मशरीरं दग्धुम् उद्यतः. तत्र पूर्वं ध्यानं प्रतिष्ठितम् इति क्रोधस्य ध्यानेन सह सम्बन्धो जातः. ततो ध्यानयुक्ते क्रोधे कृष्णावतारः प्रविष्टः. ततो यद् जातं तद् आह तेन उभयस्य इति. सनकादीनां ब्रह्मशरीरस्य च ।।१०९ ।।

तस्य रोदनम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य आह **उत्पत्स्यमानान्** इति.

उत्पत्स्यमानान् अखिलान् दृष्ट्वा रोदनमागतम् ।

संश्लिष्टवचनं प्राह ब्रह्मपीत्यै स्वयं पुनः ।।११० ।।

संसारानुपयुक्तान् हि स्रक्ष्ये सर्वानिति स्मरन् ।

अयम् अंशः कृपारूपः. ''**नामानि कुरु मे धातः**''(३।१२।८) इति वाक्यं रोदनस्य नामादिकरणहेतुत्वार्थं न भवति इति आह **संश्लिष्टवचनम्** इति. तथावचनस्य प्रयोजनम् अन्यदपि अस्ति इति आह **स्वयं पुनः** इति. तदाज्ञाव्यतिरेकेण सृष्टिः अशक्या, तस्यैव तत्र अधिकारात् ।।११० १/२ ।।

अतः शीघ्रमनेकेषाम् उत्पत्तिः प्रतिकूलतः ।।१११ ।।

निवारणं तपोबोधः प्रतिबन्धनिवृत्तये ।

सतु पूर्ववद् ब्रह्मा विशेषानभिज्ञ आज्ञां दत्तवान्, तच्छीघ्रम् अनेकेषाम् उत्पादनं, तैः कारणक्षये सृष्टिः न भविष्यति इति निवारणम् ।।१११ ।।

निवारितः प्रतिबन्धं करिष्यति इति आशङ्क्य तपोबोधनम्.

तपसा हि क्रोधकारणीभूता अविद्या नाशम् एष्यति, ततः शुद्धः क्रोधो यथायुक्तमेव कार्यं करिष्यति इति (ब्रह्म)वाक्यार्थः. तम् आह **उपाधिविनिवृत्त्यर्थम्** इति.

उपाधिविनिवृत्त्यर्थं कारणत्वाद् न निर्गमः ।।११२ ।।

अतोऽभिनन्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकार ह ।

ननु एवं सति महादेवे क्रोधकारणीभूता अविद्या तपसा कथं न दग्धा, दग्धायां वा कारणस्य नष्टत्वात् कथं न लयः, कथं केवलं प्रतिबन्धनिवृत्तिरेव इति आशङ्क्य आह **कारणत्वाद् न निर्गमः** इति, महादेवस्य कारणभूता सा. कार्यभूतन्तु तपः. तेन कार्येण कारणस्य न निर्गमः इति अर्थः ।।११२ ।। अतः प्रतिबन्धनिवृत्तिरेव जाता इति आह अतो अभिनन्द्य कृष्णस्य इति ।।११२ १/२ ।।

एवं लोकातीतानाम् उत्पत्तिम् उक्त्वा लौकिकान् चेत् स्वतएव उत्पादयेत् तदा अभीष्टसिद्धिः न भविष्यति इति तदुत्पादने प्रकारं कृतवान् इति आह **सृष्ट्यर्थम्** इति.

सृष्ट्यर्थं भगवद्ध्यानाद् मरीच्याद्युद्भवः पृथक् ।।११३ ।।

धर्मव्यवायसिद्ध्यर्थम् एका स्त्री पुरुषाः परे ।

पृथक् स्थानात् सर्वे उत्पादिताः. तत्प्रयोजनं धर्मव्यवायसिद्धिः. एवं सात्त्विकानां राजसानाम् उत्पत्तिम् उक्त्वा तामसोत्पत्तिं करिष्यन् 'पुत्रैर्निवारितः' इति वक्तुं कथं ब्रह्मणः सकाशात् तामसोत्पत्तिः इति आशङ्काव्युदासाय आह **एका स्त्री** इति, वागेका स्त्री, अन्ये सर्वे पुरुषाः, आस्याद् वाग् इति ।।११३ १/२ ।।

ततः किम् अतः आह **अविद्यासन्निधानाद्** इति.

अविद्यासन्निधानाद्धि सृष्ट्यावेशाच्च तद्धृदि ।।११४ ।।

जातः कामो मतिं चक्रे तस्यां सर्गाय भूयसे ।

दोषत्रयात् तस्यां सर्गार्थं मतिं चक्रे. अविद्यासृष्ट्यावेशो हृदि कामोत्पत्तिः ।।११४ १/२।।

निवारणे हेतुम् आह **अधर्मे धर्मनाशः स्याद्** इति

अधर्मे धर्मनाशः स्याद् इति कृष्णेन वारणम् ।।११५ ।।

तद्भावस्य परित्यागे सा रिरंसाभवत् तनुः ।

तामसीमपि सृष्टिं भगवान् अनुमन्येत, यदि सा धर्मनाशिका न स्यात्. तथा सति पूर्वसृष्टिद्वयमपि गच्छेद्, अतो निवारणं युक्तम्. ननु तनुत्यागो नाम कः पदार्थः? तत्र आह **तद्भावस्य परित्यागे** इति. तनोः किं प्रकृतिकत्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **सा रिरंसा** इति ।।११५ १/२ ।।

ततः तृतीया सृष्टिः न जाता इति तदर्थं ध्याने क्रियमाणे वेदानाम् उत्पत्तिः जाता इति आह **सृष्टिध्याने वाचकानाम्** इति.

सृष्टिध्याने वाचकानां प्रकारस्य समुद्गमः ।।११६ ।।

तन्मूलस्य च शब्दस्य ब्राह्मणो रूपकीर्तनम् ।

प्रकारः पूर्वादिमुखतः. तेन शब्दानां प्रकारभेदः. लौकिकालौकिकभेदेन तृतीया सृष्टिः. तेन जीवानां रूपनामनी सिद्धे नाम्नाम् अखण्डप्रवृत्त्यर्थं तन्मूलदेवताम् आह इति आह **तन्मूलस्य** इति ।।११६ १/२ ।।

एवं गुणसृष्टिम् उक्त्वा केवलैः प्रपञ्चब्रह्मभावम् आशङ्क्य सन्निपातसृष्टिं वक्तुं प्रवृतः इति वदन् सन्निपातविरोधिनं परित्यक्तवान् इति आह **नामावेशं परित्यज्य** इति.

नामावेशं परित्यज्य रूपावेशात्तु पूर्ववत् ।।११७ ।।

इच्छाध्याने समुद्भूते द्विधा चक्रतुरङ्गकम् ।

ततो अपराम् उपादायेत्यादिना. तत्र ब्रह्मणो अन्तःकरणं न सन्निपातरूपम् इति भगवदपेक्षायां* भगवदिच्छया तच्छरीरमेव द्विधाभूतं तद् आह **इच्छाध्याने** इति ।।११७ १/२ ।।

एवं चतुर्विधा सृष्टिं निरूप्य उपसंहरति **कारणत्वाद्** इति.

कारणत्वान्मुक्तजीवा एवमेके निरूपिताः ।।११८ ।।

नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा... ... ...

अमुक्तानाम् उत्पत्तिः पूर्वमेव उक्ता ।।११८ ।।

जीवप्रकरणे नामोत्पत्तेः अयुक्तत्वम् आशङ्क्य पुनः स्मारयति **नामोत्पत्तिः च तच्छेषा** इति.

इदानीं तृतीयः कल्पः उच्यते इति आह **तृतीयः** इति.

तृतीयस्त्वधुनोच्यते... ... ...

कल्पस्तत्र हि सृज्यानां न पूर्वस्माद्विशिष्यते ।।११९ ।।

भूसंस्थानविशेषोस्ति तदेवात्रोच्यते परम् ।

ध्यानरूपो मनुर्जातः क्षत्तुः प्रश्नस्तु पूर्ववत् ।।१२० ।।

पित्राज्ञयैव तद्धर्मस्त्रेधेत्येवं कथा तता ।

कालजीवौ निरूपितौ. तदर्थं ब्रह्मकल्पपद्मकल्पौ च निरूपितौ. अधुना भूमिः निरूप्यते सापि सर्वकारणम् इति. तदर्थं वाराहकल्पोपि निरूप्यते. अत्र आदितः आरभ्य सर्वनिरूपणम् आशङ्क्य आह **तत्र हि सृज्यानाम्** इति. अतिदेशन्यायेन सर्वकल्पेषु साधारणधर्माः समायान्ति, विशेषधर्माएव वक्तव्याः. ते चेत् कस्यचित् स्थाने समायान्ति तदा स्थनानां बाधः. तत्र भूसंस्थानं न पूर्ववद् इति तद् उच्यते, तेन पद्म-जघनयोः बाधः. पूर्वधर्माणाम् अनुवृत्तिं ज्ञापयितुं मनोः अत्र प्रयोजकत्वं निरूपयति इति तस्य भावम् आह **ध्यानरूपो मनुः जातः** इति. पूर्वम् इच्छाध्याने निरूपिते तत्र इच्छा शतरूपा. ध्यानं मनुः. तेन ब्रह्मणो विस्मरणेपि ध्यानमेव तं प्रेरयति इति भावः. विभूतिविस्तारार्थं मनोः उत्पत्तिः, सा भगवल्लीला इति भक्तत्वज्ञापनाय प्रश्नः इति आह **क्षत्तुः प्रश्नः** इति. सर्वकामात् चोदनया वा प्रवृत्तिः. तत्र कामप्रवृत्तौ वराहकल्पो न मोक्षपर्यवसायी भविष्यति इति आशङ्क्य चोदनया प्रवृत्तिम् आह **पित्राज्ञयैव** इति. "**उत्पाद्य शासधर्मेण**"(३।१३।११) इति वाक्ये प्रजोत्पादनं पृथिवीपालनं यज्ञकरणम् इति धर्माः उक्ताः. ते ब्रह्मणएव आज्ञया कृताः. एवं ज्ञापयितुं मनुब्रह्मसंवादप्रकारः इति अर्थः ।।१२० १/२ ।।

---

*. 'दवेक्षायाम्' पाठः.

ननु अत्र कल्पे का व्यवस्था. ब्रह्मा हि पूर्वकल्पे नाभिपद्मे स्थितः सृजति. तदभावे ब्रह्मणः सृष्टिः अस्ति न वा इति सन्देहः. सृष्टिकरणपक्षे किं मनुना कुत्र वा सृजति इति एतज्ज्ञातव्यम् तत्र आह **सत्ये स्थितः** इति.

सत्ये स्थितः सृजत्येवम् इत्यर्थो विनिरूप्यताम् ।।१२१ ।।

स्थानम् अन्विष्य तु पुनः गतस्य वचनं मनोः ।

दिनान्ते दर्शनात् पूर्वं सृजतः प्रातरेव हि ।।१२२ ।।

असर्गपक्षे ''**सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः**''(३।१३।१७) इति वाक्यं विरुध्यते. अनेनैव वाक्येन पूर्वं ब्रह्मणा स्वयं भूमिः उद्धृता इति ज्ञातव्यम्. तस्यामेव पालनाज्ञापनम्. तथा सति या प्रियव्रतादीनां पूर्वं सृष्टिः उक्ता सा आदिवराहकल्प इत्येव ज्ञेया. विज्ञापनन्तु द्वितीयदिवसे प्रातः इति आह **स्थानम् अन्विष्य** इति. ''**आदेशेऽहं भगवतो वर्त्ते**'' (३।१३।१४) इति ज्ञापनापेक्षा कथं ब्रह्मणः इति आशङ्क्य आह **दिनान्ते दर्शनात् पूर्वम्** इति. आदिवराहकल्पस्य दिनान्ते यावद् भूम्यादीनाम् अदर्शनं भवति तावदेव ब्रह्मा सत्यलोके गतः. तत्रैव च सृष्टिं करोति तदा प्रातरेव मनोः विज्ञापनम् इति अर्थः।१२२।

[१]**विज्ञापनेऽतिनैकट्यात् तथावचनम् आदरात् ।**

सर्वेन्द्रियनिरोधेन ध्यायतः परमात्मनः ।।१२३ ।।

प्रथमं श्वाससम्भेदः तेन कृष्णस्तथोद्गतः ।

ननु एवं सति कथम् इदानीमेव प्लाव्यमानेति वचनम् उपपद्यते तत्र आह **अतिनैकट्याद्** इति. **आदराद्** इति अग्रेण सम्बध्यते. पुनः उद्धारेपि पूर्ववदेव प्लवनं भविष्यति इति भगवद्ध्यानम्. यादृशो ध्यातः तादृशः तम् अज्ञापयित्वैव निर्गतः इति आह प्रथमं श्वाससम्भेदः इति. भक्तस्य दुःखनिश्वासात् पूर्वमेव भगवान् आविर्भवति इति ज्ञापितम्. अस्य अवतारस्य स्वरूपम् आह **कृष्णस्तथोद्गतः** इति वराहरूपेण।।१२३

तथारूपे हेतुम् आह यज्ञेन समतातु **अस्य** इति.

यज्ञेन समता त्वस्य जलाद् वस्तूद्धृतौ क्षमौ ।।१२४ ।।

गजो वा शूकरो वापि यज्ञस्त्वेवंविधः पुनः ।

यज्ञो हि 'मन्यु'शब्दवाच्यः. अतएव पशून् मारयति. वराहोपि तथा. ''**पशूनां वा एष मन्युः**''(   ) इति श्रुतेः. हेत्वन्तरमपि आह **जलाद् वस्तु उद्धृतौ** इति. अवश्यम् एकं रूपं कर्त्तव्यं मग्नपृथिव्युद्धारार्थम्. तत्र गुणातीतकार्यं यज्ञादेव भवति इति गजरूपता न कृता ।।१२४ ।।

यज्ञस्य जगत्कारणत्वे युक्तिः न वक्तव्या इत्यतः आह **सृष्टौ** इति.

सृष्टौ तत्कारणत्वं च कर्मरूपत्वतः स्फुटम् ।।१२५ ।।

ब्रह्मणोऽप्यवितर्क्यं हि रूपं भगवतो निजम् ।

तर्हि अस्य क्रियांशत्वमेव अस्तु किमिति अवतारत्वम् इति आशङ्क्य आह **ब्रह्मणोपि अवितर्क्यं हि** इति. एतादृशं रूपं निजमेव भवति ।।१२५ १/२ ।।

स्वरूपम् आह **एतदानन्दरूपं हि** इति.

एतदानन्दरूपं हि क्रियांशज्ञप्तये तथा ।।१२६ ।।

लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणेति मतिर्मम ।

अन्यथाप्रतीतौ हेतुम् आह **क्रियांशज्ञप्तये** इति. भगवतः क्रियाशक्त्यवतारः इति ज्ञापयितुं यज्ञानुकारिरूपपरिग्रहः. ''**सलिले स्वखुराक्रान्ते**''(३।१३।४६) इति वचनात् पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा न भविष्यतीति **लक्षमात्रम्** इति उक्तम्. जम्बूद्वीपस्यैव कर्मक्षेत्रत्वाद् इयं च भूमिः यज्ञार्थमेव इति. **मतिः मम** इति न अत्र अन्यसम्मतिः. ''**पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा**'' (३।११।३९) इति वाक्यं कल्पान्तरपरं, पञ्चसहस्रमात्रमेव इति ज्योतिर्विदः. तच्च विंशतिभागगणनयापि फलम् आयाति इति एतज्ज्ञापनार्थम्. इयं च भूमिः ज्योतिश्चक्रमध्ये वर्तते ।।१२६ १/२ ।।

अत्र स्तोत्रप्रयोजनम् आह **यज्ञत्वबोधकम्** इति.

यज्ञत्वबोधकं स्तोत्रं कथञ्चिन्मारणं त्विह ।।१२७ ।।

उद्धृतिः स्थापनं स्तोत्रं मारणं चेति तत्क्रमः ।

न अस्माकम् अत्र श्रद्धाभावः इति. हिरण्याक्षमारणन्तु यथाकथञ्चित्. इदं प्रकरणं भूम्युद्धारएव पर्यवसितम्. न अत्र मारणम् अभिप्रेतम्. अन्यथा वाक्यभेदः स्यात्. तस्मात् प्रधानानुरोधेन अन्येषां कालादिक्लृप्तिः. अकिञ्चित्करः च अस्मिन् कल्पे दैत्यः. यज्ञः च तस्य दाहकएव. अतः आगमनमात्रेणैव मारणम् ।।१२७ ।।

मारणमुख्यपक्षे क्रमम् आह **उद्धृतिः** इति. स्तोत्रं यद्यपि सन्दिग्धं तथापि उत्कर्षवर्णने तस्य दुःखं भवति इति पूर्वम् उक्तम् ।।१२७ १/२ ।।

ननु कल्पादौ भूम्युद्धारः तत्कुत्रत्यो हिरण्याक्षः इति आशङ्कायाम् आह **पूर्वकल्पे अस्य जननम्** इति.

पूर्वकल्पेऽस्य जननं रसायां प्रलये स्थितिः ।।१२८ ।।

देवानाम् ऊर्ध्वगमनम् अन्येषां नाश एव हि ।

ऋषीणां तत्सुतानां च ब्रह्मसाम्यमबाधके ।।१२९ ।।

महाकल्पएव पूर्वसृष्टेः नाशः. अवान्तरकल्पेषुतु त्रिलोक्यां विद्यमानानां मध्ये असुराणाम् अधोगमनम्. देवानाम् ऊर्ध्वगमनम्. मनुष्याणान्तु नाशः. मनुप्रभृतीनां

१. विज्ञापितेति पाठः.

देवत्वम्. ऋषीणामपि ऊर्ध्वगमनम्. विशेषोपि अस्ति. सत्यलोके स्थितिः. तेन कश्यपस्य ऊर्ध्वगमनं दितेः अधोगमनम् इति विमर्शः ।।१२९ ।।

अत्र षडध्यायाः हिरण्याक्षवधप्रस्तावे निरूपिताः मतान्तरभाषासिद्धाः, अतो भागवतार्थेन न विरोधः. अत्र एषा व्यवस्था. प्रकृतकथायां प्रासङ्गिककथा चेद् विशेषाकारेण पृच्छ्यते तदा न तावन्मात्रं वक्तव्यम्. किन्तु यस्मिन् कल्पे तत्प्रमेयम् उत्कृष्टतया सिद्धं तदेव वक्तव्यं, भक्तिजननस्य प्रयोजकत्वाद् इति. अतो यस्मिन् कल्पे हिरण्याक्षादीनाम् उत्कर्षः सः निरूप्यते. तत्र वैकुण्ठगतानां कथं पुनरावृत्तिः ।।१२९ ।।

नच वक्तव्यं कृत्रिमवैकुण्ठगतानां पुनरावृत्तिः इति. तत्र आह **कृत्रिमेऽपि हि वैकुण्ठे** इति.

कृत्रिमेपि हि वैकुण्ठे मुक्तिरेव तथापि तु ।
कृष्णेच्छया तु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी ।।१३० ।।

ये ''**अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्**'' (३।२७।२१) इति भगवदाराधनया वैकुण्ठगताः पुनरावृत्तिरहितमेव पदं प्राप्नुवन्ति, तथापि कृष्णेच्छया जय-विजययोः जन्म. तत्र इच्छायाः प्रयोजनं लोकज्ञापनम्. तत्र किं ज्ञापयति इति आकाङ्क्षायाम् आह **नष्टानां गतिः ईदृशी** इति. त्रिलोक्यां हिरण्याक्षादिसुखम् इन्द्रादेरपि दुर्लभं, तद् वैकुण्ठ-च्युतानां निरूप्यते, साहि तेषां परमापत्. अनेन वैकुण्ठसुखम् उन्नेयम् इतिभावः।१३०।

भूमावेव हि तद्युद्धमिच्छयामुक्तिरस्य हि ।
मारणानन्तरं तस्य ह्युदरस्य विभेदनम् ।।१३१ ।।

अस्मिन् पक्षे भूमावेव युद्धम्. भगवदिच्छयैव हिरण्याक्षस्य अमुक्तिः. क्रियाशक्त्या हननाद् वा, मुक्त्यर्थम् अवतारएव, मुक्तिः इति वा. उदरभेदनेन न मारणं, किन्तु मारणानन्तरम् उदरभेदः. अन्यथा प्राणाः भगवन्मुखे प्रविशेयुः. पुनः दैत्यत्वाभावाय संस्कृतानाम् अंशानां स्वस्मिन् प्रवेशनार्थम् उदरभेदनम् ।।१३१ ।।

हिरण्याक्षस्य माहात्म्यार्थम् आह **ब्रह्मणो दिनम् एकं हि** इति.

ब्रह्मणो दिनमेकं हि तद्युद्धम् इति लक्ष्यते ।
अथवा देववत्तस्य दिनं मेरुगतश्च सः ।।१३२ ।।

अनेन वराहकल्पः तेनैव समाप्तः इति ज्ञापितम्. पश्चात् श्वेतवाराहकल्पे सृष्टिः हिरण्यकशिपुराज्यं च इति ज्ञापितम्. पक्षान्तरम् आह **अथवा** इति. तदा मासषट्कं युद्धम्. अस्मिन् पक्षे ब्रह्मवाक्यानां सङ्गत्यर्थम् आह **मेरुगतः च सः** इति. भूमिस्थापनानन्तरं पूर्ववद् मेरावेव ब्रह्मा स्थितः ।।१३२ ।।

किम् अनेन सिद्धम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **षड्भिः संसारकथनम्** इति.

षड्भिः संसारकथनम् उत्पत्तिर्मरणं च सः ।

उपाधिजननं पूर्वं स्थानभ्रंशश्च जन्म च ।।१३३ ।।

प्रादुर्भावः सर्वतश्च विनश्यत्ता नशिस्तथा ।

ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणं नान्यथा तु तत् ।।१३४ ।।

मुक्तानां जीवानां भगवदिच्छया संसारः. सा भगवद्रूपा इति षड्भिः अध्यायैः संसारो निरूप्यते. संसारस्वरूपम् आह **उत्पत्तिः मरणञ्च सः** इति. उत्पत्तिः त्रिभिः अध्यायैः मरणं च तथा इति. ''**अनित्ये जननम्**''(सुबो.कारिका) इत्यादिना त्रिविधोत्पत्तिः निरूपिता. ''**कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः**''(३।१०।१४) इति मरणमपि त्रिधा. तत्र बीजोत्पत्तिः प्रथमाध्यायार्थः. तत्र जीवसम्बन्धो द्वितीयाध्यायार्थः. भगवद्विभूत्यावेशः तृतीयार्थः इति. अन्यथा तथा महत्त्वं न उपपद्येत. तद् आह **उपाधिजननम्** इति बीजजननम्. स्थानभ्रंशो वैकुण्ठात् क्षतिः जन्म प्रादुर्भावः च एकेन. उत्कर्षस्य नाशरूपत्वम् इति ज्ञापयितुं नाशाध्यायेषु निरूपणम्. वरुणवाक्येन नाशबीजकथनाद् विनश्यत्ता पञ्चमाध्यायार्थः. ''**नाशबीजं विनश्यत्ता विनाशश्चेति तद् भिदा**'' (   ). कथं सुजीवस्य एवम्भावः? इति आशङ्क्य आह **ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणम्** इति ।।१३३ ।१३४ ।।

अन्यथा बाधकम् आह **दक्षकन्या** इति.

दक्षकन्या ऋषेः पत्नी सन्ध्यायामग्निहोत्रिणम् ।

निर्लज्जा बोधिता स्थातुं क्षणं न त्यक्तवत्यपि ।।१३५ ।।

सत्कुलोत्पन्ना ऋषेः अतीन्द्रियद्रष्टुः पत्नी क्षणमात्रं स्थित्यर्थं याचितापि न स्थितवती. नहि एतद् भगवदिच्छाव्यतिरेकेण मर्यादया सिध्यति ।।१३५ ।।

अस्तु वा स्त्रियाः. मुनेरपि तथाभावो न उपपद्यते इति आह **मौनत्यागः** इति.

मौनत्यागस्तयोर्भाषा –स्तोत्रं तद्वश्यता तथा ।

अन्यत्रागमनं तत्र प्रतीकाराकृतिर्मुनेः ।।१३६ ।।

स्वभावविनिवृत्त्यर्थं संवादस्तादृशः पुनः ।

मुनौ षडर्थाः अनुपपन्नाः. पुनः यो धर्मरूपः संवादः सोपि ज्ञापकः. न एतयोः अयं स्वभावः इति. एवं प्रथमाध्यायार्थस्य अयुक्तत्वम् उपपादितम् ।।१३६ १/२।।

तथापि द्वितीयाध्यायार्थस्य अयुक्तत्वम् आह **सङ्क्षोभः** इति.

सङ्क्षोभो न क्वचिद् येषां काले देशे च वस्तुनि ।।१३७ ।।

ते कृष्णभावनायुक्ता वैकुण्ठे कृष्णभृत्ययोः ।

सनन्दनादयः क्रुद्धाः शापं दुर्विषहं ददुः ।।१३८ ।।

वस्तुनि अयुक्तकरणे अवस्था च कृष्णभावनायुक्ता. स्वयं च क्रुद्धाः. शापः च दुर्विषहः ।।१३८ ।।

एवं मुनीनाम् अयुक्ततां निरूप्य जय–विजयोरपि तथात्वम् आह **भगवद्–भावसम्पन्ना** इति द्वाभ्याम्.

भगवद्भावसम्पन्ना भगवद्गुणतत्पराः ।
लतापक्षिस्त्रियश्चापि निरहंमत्सराः शुभाः ।।१३९ ।।
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य–सारूप्यं सर्वथा गतौ ।
वैकुण्ठे भक्तसन्दर्शविघ्नं चक्रुश्च गर्वितौ ।।१४० ।।
स्वभावविनिवृत्त्यर्थम् उभयोश्च तथा कृतिः ।

पूर्ववद् अत्रापि स्वभावनिवृत्त्यर्थं शापानन्तरचेष्टेति आह **स्वभाव–विनिवृत्त्यर्थम्** इति ।।१३९–१४० ।।

तृतीयाध्यायार्थोऽपि अयुक्तः इति आह **मोहनम्** इति.

मोहनं तदुपेक्षा च दुर्घटं पतनं तथा ।।१४१ ।।
द्वेषोत्पत्तिस्तयोः कृष्णे सर्वं कृष्णेच्छयाभवत् ।

मोहनवाक्यैः सनकादीनां मोहनम्. तयोः उपेक्षा. तथा वैकुष्ठाद् दुर्घटं पतनम्. भगवति द्वेषोत्पत्तिः. अन्यथा उत्तरत्र द्वेषबुद्धिः न स्यात् ।।१४१ १/२ ।।

एवम् अध्यायत्रयार्थं दुर्घटत्वेन निरूप्य पुनः अन्येषां तथात्वं निरूपयति **अलौकिकी तदुत्पत्तिः** इति.

अलौकिकी तदुत्पत्तिः वृद्धिर्दिग्विजयस्तथा ।।१४२ ।।
स्वामिनो दुर्वचो वादो युद्धं ब्रह्मभ्रमस्तथा ।
संमुखे मरणे कृष्णाद् न मुक्तः किं ततोऽद्भुतम् ।।१४३ ।।

नहि महतः उत्पत्तौ दुर्निमित्तानि भवन्ति. वृद्धिः दिग्विजयश्च अलौकिकौ. पञ्चमाध्यायार्थानुपपत्तिम् आह **स्वामिनो दुर्वचो वादः** इति. युद्धमपि स्वामिना सह अयुक्तम्. ब्रह्मणः च भ्रमः सुतराम् अयुक्तः. षष्ठाध्यायार्थोऽपि अयुक्तः इति आह **सम्मुखे मरणे कृष्णाद्** इति ।।१४३ ।।

उपसंहरति **सोपपत्तिकम्** इति.

सोपपत्तिकम् आख्यानं जीवानां जननं हरिः ।
ऐहिकामुष्मिकफलं दातुं सृजति नान्यथा ।।१४४ ।।

हरिरेव उत्पादयति ऐहिकामुष्मिकफलदानार्थम्. अतः सर्गो लीला भवति इति उक्तं भवति ।।१४४ ।।

।। इति महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितो सप्रकाशः तृतीयस्कन्धस्य प्रकरणाध्यायार्थः(१-१९)।।

श्रीभागवतसारसमुच्चये महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्योद्धृतानि
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्रान्तर्गत–

तृतीयस्कन्धनामानि

वैराग्यहेतुः[१] तीर्थात्मा[२] सर्वतीर्थफलप्रदः[३]। तीर्थशुद्धैकनिलयः[४] स्वमार्गपरिपोषकः[५]।।३०।।

तीर्थकीर्तिः[६] भक्तगम्यो[७] भक्तानुशयकार्यकृत्[८]।भक्ततुल्यः[९] सर्वतुल्यः[१०] स्वेच्छासर्वप्रवर्तकः[११]।।३१।।

[१२]गुणातीतो[१३]ऽनवद्यात्मा [१४]सर्गलीलाप्रवर्तकः। [१५]साक्षात् सर्वजगत्कर्ता [१६]महदादिप्रवर्तकः।।३२।।

[१७]मायाप्रवर्तकः [१८]साक्षी [१९]मायारतिविवर्धनः। [२०]आकाशात्मा [२१]चतुर्मूर्तिः [२२]चतुर्धा भूतभावनः।।३३।।

[२३]रजःप्रवर्तको [२४]ब्रह्मा [२५]मरीच्यादिपितामहः। [२६]वेदकर्ता [२७]यज्ञकर्ता [२८]सर्वकर्ता[२९]ऽमितात्मकः।।३४।।

[३०]अनेकसृष्टिकर्ता च [३१]दशधासृष्टिकारकः। [३२]यज्ञाङ्गो [३३]यज्ञवाराहो [३४]भूधरो [३५]भूमिपालकः।।३५।।

[३६]सेतुर् [३७]विधरणो [३८]जैत्रो [३९]हिरण्याक्षान्तकः [४०]सुरः। [४१]दितिकश्यपकामैकहेतुसृष्टिप्रवर्तकः।।३६।।

[४२]देवाभयप्रदाता च [४३]वैकुण्ठाधिपतिर् [४४]महान्। [४५]सर्वगर्वप्रहारी च [४६]सनकाद्यखिलार्थदः।।३७।।

[४६]सर्वाश्वासनकर्ता च [४७]भक्ततुल्याहवप्रदः। [४८]काललक्षणहेतुश्च [४९]सर्वार्थज्ञापकः [५०]परः।।३८।।

[५१]भक्तोन्नतिकरः [५२]सर्वप्रकारसुखदायकः। [५२]नानायुद्धप्रहरणो [५३]ब्रह्मशापविमोचकः।।३९।।

[५४]पुष्टिसर्गप्रणेता च [५५]गुणसृष्टिप्रवर्तकः। [५६]कर्दमेष्टप्रदाता च [५७]देवहूत्यखिलार्थदः।।४०।।

[५८]शुक्लनारायणः [५९]सत्यकालधर्मप्रवर्तकः। [६०]ज्ञानावतारः [६१]शान्तात्मा [६२]कपिलः [६३]कालनाशकः।४१।

[६४]त्रिगुणाधिपतिः [६५]साङ्ख्यशास्त्रकर्ता [६६]विशारदः। [६७]सर्गदूषणहारी च [६८]पुष्टिमोक्षप्रवर्तकः।।४२।।

[६९]लौकिकानन्ददाता च [७०]ब्रह्मानन्दप्रवर्तकः। [७१]भक्तिसिद्धान्तवक्ता च [७२]सगुणज्ञानदीपकः।।४३।।

[७३]आत्मप्रदः [७४]पूर्णकामो [७५]योगात्मा [७६]योगभावितः। [७७]जीवन्मुक्तिप्रदः [७८]श्रीमान् [७९]अन्यभक्तिप्रवर्तकः।४४।

[८०]कालसामर्थ्यदाता च [८१]कालदोषनिवारकः। [८२]गर्भोत्तमज्ञानदाता [८३]कर्ममार्गनियामकः।।४५।।

[८४]सर्वमार्गनिराकर्ता [८५]भक्तिमार्गैकपोषकः। [८६]सिद्धिहेतुः [८७]सर्वहेतुः [८८]सर्वाश्चर्यैककारणम्।।४६।।

[८९]चेतनाचेतनपतिः [९०]समुद्रपरिपूजितः। [९१]साङ्ख्याचार्यस्तुतः [९२]सिद्धपूजितः [९३]सर्वपूजितः।४७।

।। इति तृतीयस्कन्धनामानि ।।

तृतीयस्कन्धानुक्रमणिका

।। बन्धसृष्टिप्रकरणम् ।।

(अध्याय १-१९)

(गुणातीतसृष्टिप्रकरणम् अ.१-६)

१. अधिकारप्रकरणे प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तीर्थसेवया बाह्यशुद्धि-निरूपणं सत्सङ्गप्रीत्या भगवत्प्रश्नत्रयकरणनिरूपणम्. -१

२. अधिकारप्रकरणे भगवत्कथाश्रुत्या कृता आर्थिकभगवन्माहात्म्य-ज्ञानेन आभ्यन्तरशुद्धिनिरूपणम्. -४५

३. अधिकारप्रकरणे केवलचरित्रश्रवणेन आन्तरज्ञानरूप-भगवद्गुण-प्रादुर्भावनिरूपणम्. -८७

४. अधिकारप्रकरणे भगवत्प्रयाणसमये अधिकारिणि उद्धवे विद्यमाने अविद्यमाने विदुरे च भगवत्प्रसादनिरूपणं विदुरमैत्रेय-समागम-निरूपणञ्च. -१११

५. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-गुणातीतसृष्टिप्रकरणे ब्रह्माण्ड-कारणीभूत-महदादितत्त्वोत्पत्तिस्तुतिनिरूपणम्. -१६४

६. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-गुणातीतसृष्टिप्रकरणे तत्त्वकार्यभूत-ब्रह्माण्ड-शरीरोत्पत्तिवर्णिनां कर्मनिरूपणम्. -२११

(सगुणसृष्टिप्रकरणम् अ.७-९)

७. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-सगुणसृष्टिप्रकरणे शङ्कोत्तरनिरूपणेन सृष्टिभगवतोः मध्ये मतान्तरभाषया गुणप्रवेशनिरूपणम्. -२३९

८. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-सगुणसृष्टिप्रकरणे सगुणाद् ब्रह्मणो जगत्कारण-रूपहृदिजातभगवद्दर्शनचतुर्मुखब्रह्मोत्पत्तिनिरूपणम्. -२६७

९. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-सगुणसृष्टिप्रकरणे अवश्यंभावि-जगदुत्पत्तिफलक-ब्रह्मस्तोत्रनिरूपणम्. -२९९

(कालसृष्टि/तत्त्वसृष्टिप्रकरणम् अ.-१०-११)

१०. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-कालसृष्टिप्रकरणे दशविधसर्गरूपकार्यतः कालजन्मनिरूपणम्. -३३८

११. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-कालसृष्टिप्रकरणे परमाण्वादि-द्विपरार्धान्त-
कालोपाधिवशात् कालजन्मनिरूपणम्. -३६१

(मुक्तजीवसृष्टिप्रकरणम् अ.१२-१९)

१२. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे लोकातीत-लौकिकमुक्त-
जीवसृष्टिनिरूपणं तच्छेषभूत-नामसृष्टि-निरूपणञ्च. -३९१

१३. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे सर्वतत्त्वाधारभूतभूम्युद्धारार्थं
वराहकल्पकथनेन मुक्तजीवोत्पत्तौ सङ्क्षेपतः उपपत्तिनिरूपणम्.-४२८

१४. अग्रिमैः षड्भिः विस्तरेण उपपत्तिकथनं जन्ममरणात्मकसंसारकथनञ्च.
बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानाम् उत्पत्तौ
विस्तरेण उपपत्तिकथनप्रस्तावे सन्ध्यायां कामेन आसुरबीजजनन-
निरूपणम्. -४६९

१५. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानाम् उत्पत्तौ
विस्तरेण उपपत्तिकथनप्रस्तावे ब्रह्मशापेन वैकुण्ठस्थयोः आसुरबीजे
समागमनिरूपणम्. -४९९

१६. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानाम् उत्पत्तौ
विस्तरेण उपपत्तिकथनप्रस्तावे भगवद्वाक्येन ब्राह्मणसान्त्वन-जयविजय-
पातनेन तत्र भगवद्विभूत्यावेशनिरूपणम्. -५५१

१७. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानाम् उत्पत्तौ
विस्तरेण उपपत्तिकथनप्रस्तावे अतिशयितोत्कर्षकथनेन नाशबीज-
निरूपणम्. -५८४

१८. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानाम् उत्पत्तौ
विस्तरेण उपपत्तिकथनप्रस्तावे दैत्यस्य भगवता सह युद्धकथनेन
विनश्यतानिरूपणम्. -६००

१९. बन्धसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे मुक्तजीवानाम् उत्पत्तौ
विस्तरेण उपपत्तिकथनप्रस्तावे दैत्यविनाशनिरूपणम्. -६२२

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितायां

श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां

तृतीयः स्कन्धः

अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम्।
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ तृतीयस्कन्धविवरणं चिकीर्षवो निबन्धे स्कन्धार्थस्य सङ्गतेः च उक्तत्वात् तत्स्मारयितुं ताभिरेव कारिकाभिः तद् अनुवदन्ति **अधिकारी**त्यादि. तेन प्रथमस्कन्धार्थो [१]हीन-मध्यमोत्तमभेदेन द्विविधः. सगुणो अग्रिमो गुणातीतः च इति त्रिविधो अधिकारः इति तादृशेषु अधिकारिषु द्वितीये साङ्गं वस्तुनिर्देशश्रद्धा-विमर्शाख्यसपरिकराङ्ग सहितं श्रवणं स्कन्धद्वयेन कर्तव्यतया सुनिरूपितं कीर्तयित्वा शुकेन स्वव्यसनेन निरूपणात् तत्र विधिविषयत्वाभावेन व्यासपादैः श्रवणं विधिविषयतया मुख्यम् उपनिबद्धम्. तत्र विषयापेक्षायां **शेषेषु** दशसु स्कन्धेषु **विषयाभिधा ''अत्र सर्गो विसर्गश्च''**(भाग.पुरा.२।१०।१) इति श्लोकोद्दिष्टानां

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

प्रभोस्तु श्रीवल्लभाचार्यवर्यवागीशसूनवे।
श्रीमद्विट्ठलनाथाय सर्वाधीशाय ते नमः ।।१।।

अथ तृतीयस्कन्धं व्याचिख्यासवः. पूर्वोत्तरस्कन्धयोः सङ्गतिं बोधयितुं पूर्वस्कन्धार्थः स्मारयन्तएव एतत्स्कन्धार्थनिरूपणं प्रतिजानते **अधिकारिषु** इति. प्रथमस्कन्धे निरूपिताः त्रिविधा ये अधिकारिणः तदर्थं द्वितीयस्कन्धे श्रद्धाविमर्शवस्तु-निर्धारणात्मकाङ्ग-त्रितयविशिष्टं श्रवणं सुष्ठु विस्पष्टतया **स्कन्धद्वयेन निरूपितम्** अधिकारः श्रवणं च निरूपितम् इति अर्थः. एवञ्च उक्तस्कन्धयोः विवक्षिताध्यायैः अङ्गाङ्गीभावएव सङ्गतिः इति बोधितम्. शेषेषु तृतीयादिषु विषयस्य सर्गादिलीलायाः अभिधा(धया?) निरूपणं क्रियते. एवञ्च उक्तस्कन्धयोः उत्तरैः सह

प्र.१. 'न्यून'इति पाठः.

त्रयस्त्रिंशद् अथाध्यायाः तृतीये सर्गवर्णने।
स्वाभिप्रेते सविशेषे हरेर्माहात्म्यसूचके॥२॥
लोके सर्गविसर्गौ हि यादृशौ नेह तौ मतौ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भूतमात्रेन्द्रियधियाम् इत्यादिभिः लक्षितानां लीलारूपाणां विषयाणाम् अभिधा अभिधानं परीक्षापूर्वकं निरूपणं क्रियते. तथा येन रूपेण विषयत्वं तद् अत्र विचार्यते इति अर्थः. एवं विषय-विषयीभावरूपा स्कन्धसङ्गतिः स्मारिता॥१॥

प्रस्तुतस्कन्ध-वाक्यार्थं व्याख्यातुम् अध्यायसङ्ख्याम् अनुवदन्ति **त्रयः** इत्यादि. सङ्ख्याप्रयोजनं द्वितीयसुबोधिन्यां निरूपितं, तन्निबन्धविचाराद् अविवक्षितम्. तद् मया तृतीयस्य आवरणभङ्गे सम्यग् उपपादितम् इति ततो अवगन्तव्यम्. **स्वाभिप्रेते** इति. शुक-व्यासयोः आशयगोचरे. **सविशेषे** इति. ''**अव्याकृतगुणक्षोभाद्**''(भाग.पुरा. १२।७।११) इति द्वादशस्कन्धोक्त-महापुराण-सामान्यलक्षणाद्यो विशेषः तत्सहिते. तदपि तत्रैव व्युत्पादितं सर्गे भगवद्रूपतैव विशेषः इति. **हरेर्माहात्म्यसूचके** इति. एतेन सविशेषत्वस्य प्रयोजनम् उक्तम्. निबन्धेतु ''**स्वोपयुक्तार्थसंयुतः**'' (त.दी.नि.३।२) इति पठितम्. स्वस्य श्रोतुः उपयुक्तो यो अर्थो मोक्षादिफलं तद् युक्तः इति तत्र अर्थः. तथा सति बध्नन्नेव मोचयति इति सर्वदुःखहर्तुः माहात्म्यसूचकं तद्वर्णनम् इति तस्यैव अयं निकृष्टार्थः उक्तः॥२॥

ननु सर्ग-विसर्गयोः उत्पत्तित्वाविशेषात् स्कन्धविभेदे किं बीजम्, एतावद् विस्तारस्य च किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **लोके** इत्यादि. तथाच

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अङ्गीभावः अवसरः च सङ्गतिः इति उक्तम्॥१॥

एवं निरूपणं प्रतिज्ञाय विवक्षितस्कन्धं निरूपयितुं तदध्यायसङ्ख्यां ग्राहयन्ति **त्रयस्त्रिंशद्** इति. **स्वाभिप्रेते** इत्यादिः विशेषणानि स(र्ग)वर्णने. **स्वाभिप्रेते** व्यासाभिप्रेते. **सविशेषे** विशेषेण महापुराणादौ इति(?) एतेषु(?) वर्तमानेन सह(?) **हरेः माहात्म्यस्य सूचके** इति॥२॥

ननु सर्गविसर्गादीनां सकृद् एतन्निरूपणेनैव ज्ञातुं शक्यत्वात् किमिति प्रतिस्कन्धेषु साकल्येन विसर्गादिकं प्रतिपाद्यते इत्यतः आहुः **लोके** इत्यादिः. सर्ग-विसर्गौ इति स्थानादीनाम् उपलक्षणम्. एवञ्च लोके पुराणान्तरे दुर्गा-गणपति-

किन्तु तौ लीलया वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम्।।३।।

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म 'सर्ग' उदाहृतः।

ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् इति 'सर्गस्य' लक्षणम्।।४।।

अत्रार्थो द्विविधोऽप्यस्ति विवक्षित इति स्फुटः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

लीलाभेदएव बीजं, तदर्थएव च विस्तारः इति अर्थः. निबन्धेतु 'लीलया' इत्यत्र 'सार्थकौ' इति पाठः. अर्थस्तु सार्थकौ पुरुषार्थपर्यवसायिनौ, तेन एकैकालीला स्वतन्त्रा इति प्रत्येकम् एकैकस्कन्धवाच्यता, तेन स्कन्धविस्तारः इति विवृतः. तेन तत्र फलमुखेन भेदः; अत्रतु हेतुमुखेन इति भेदः, तात्पर्यन्तु एकमेव. इतो अग्रे कारिकाः भिद्यन्ते इति तत्रत्यं प्रमेयं न अनूद्यते. अवान्तरभेदेऽपि पर्यवसान ऐकार्थ्यात् च इति.

ननु अत्र सकृदपि सर्गकथने स्कन्धार्थसिद्धेः वारद्वयं तत्कथनस्य किं तात्पर्यम् इति आकाङ्क्षायां सोपपत्तिकं तद् आहुः **भूते**त्यादिसार्द्धाभ्याम्. अत्र आद्येन मूलस्थलक्षणानुवादः. द्वितीये [1]एको ब्रह्मतः स्फुटो जायते. अपरः ब्रह्मार्थं क्रियते इति प्रकाश्यत्वं कार्यत्वञ्च द्वयोः भेदकम् उक्तम्. यतः एवम् अग्रे द्वैविध्यं दृश्यते. अतो अत्र लक्षणवाक्ये द्विविधोऽपि सर्गो विवक्षितः इति अर्थः. तथाच लक्षणवाक्ये ब्रह्मणः इति सम्बन्धषष्ठी तेन रूपेण कर्तृत्व-तादर्थ्ययोः उभयोरपि सङ्ग्राहिकी(?) तेन भगवदुपादानको मायिकश्च इति द्वौ सर्गौ. तत्र आद्ये इदम् उपादानलक्षणं द्वितीये तटस्थलक्षणम् इति बोधितम्. इदं च एकादशे अन्यत्र सर्वत्रैव अनुसन्धेयम् इति

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

प्रभृतिभ्यः यथा [2]प्राकृताश्च अनित्या एव सर्गादयः यथा उच्यन्ते तथा अत्र श्रीभागवते न उच्यन्ते, किन्तु लीलात्वेन. अतः तत्-तत्स्कन्धे सस पदार्थः साकल्येनैव निरूप्यते इति अर्थः ।।३ ।।

प्रकृते विवक्षितसर्गस्वरूपं ज्ञापयितुं तल्लक्षणं पठन्ति **भूत** इति ।।४ ।।

लक्षणवाक्यं विचारयन्ति **अत्र अर्थः** इत्यादिः. द्वैविध्यमेव ग्राहयन्ति **ब्रह्मणो जायते** इति. ब्रह्मार्थं क्रियते इति चेत्. **अपरः** द्वितीयः अर्थः. तथाच ''**ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्**''(४) इत्यत्र 'ब्रह्म'पदं पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं च अभिप्रेतम् इति तथा इति अर्थः ।।५ ।।

१. उपलब्धपुस्तकेषुतु 'एकम्' इति पाठः. २.''प्राकृताश्च नित्यौ'' इति पाठः अशुद्धएव भाति.

ब्रह्मतो जायते सर्गो ब्रह्मार्थं क्रियते(ऽ?) परः।।५।।
अतोऽत्र द्विविधः सर्गः श्रुतिसाङ्ख्यानुसारतः।
भूतमात्रेन्द्रियधियः प्रथमे त्रिविधा मताः।।६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतदर्थम्. अथवा घटितपूरितपात्रवद् वा द्वौ, तदातु उपादानलक्षणमेव इति. अयम् अत्र निबन्धाद् विशेषः. वाक्यपदाक्षरार्थानाम् अत्र वक्तव्यत्वात्; तत्रतु शास्त्रार्थाद्युपयोगिनएव अर्थस्य उक्तत्वाद् इति।।५ १/२।।

एवं द्विरुक्तिम् उपपाद्य तदवान्तरप्रकरणानि विभक्तुम् अध्यायान् विभजन्तः तत्प्रयोजनानि आहुः **भूते**त्यादिभिः पञ्चभिः. ***प्रथमत** इति. भगवदुपादानक-सर्गप्रकरणे. **अधिकारादि**पदेषु तादर्थ्ये सप्तमी. 'हरि'शब्दः पुरुषशरीरवाचकः. 'कार्य'शब्दो भौतिकसृष्टिपरः. अत्र एतद् बोध्यम्. पञ्चमाध्याये ''**अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः**''(भाग.पुरा.३।५।२२) इति उपक्रम्य ''**कालवत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः, पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्, ततोऽभवन्महत्तत्वमव्यक्तात्कालनोदिताद्**''(भाग.पुरा.३।५।२६-२७) इत्यादिना अतीन्द्रियभगवत्कर्तृक-पुरुषकरणक-मायाधिकरणक-वीर्याधानेन महत्तत्त्वोत्पन्ने ततः क्रमेण त्रयोविंशतितत्त्वोत्पत्तिम् उक्त्वा, षष्ठे ब्रह्माण्डपुरुषशरीरोत्पत्तिः उच्यते, तस्य आद्यावतारत्वं च उच्यते. तेन एकः सर्गः तच्छरीरनिर्माणार्थः. ततः तादृशशरीरविशिष्टावतारस्वरूपदर्शनम् अष्टमे उक्त्वा, नवमे तत्प्रसादेन तदाज्ञया

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इति. लक्षणवाक्यघटकः 'ब्रह्मणः' इति पदे अर्थद्वयस्य विवक्षितत्वादेव इति अर्थः. तत्र पञ्चम्यन्तपक्षे साङ्ख्यानुसारित्वं षष्ठ्यन्तत्वेतु सम्बन्धस्फोरणेन ब्रह्मार्थत्वज्ञापनात् श्रुत्यनुसारित्वम् उक्तं ज्ञेयम्. ननु किमिति मतद्वयानुरोधेनाऽपि अत्र सर्गः प्रतिपाद्यते? इत्यतः तत्प्रयोजनं वदन्तएव प्रकरणं विभजन्ति. प्रथमे जघन्ये अधिकारे भूतमात्रेन्द्रियधियः चत्वारोऽपि सत्त्वादिगुणभेदतः प्रत्येकं त्रिविधा मता अतः कार्ये प्रथमाधिकारिबुद्ध्यनुसारेण साङ्ख्यमतेन सर्गः उच्यते इति भावः. तद् इदं प्रथमे (इह त्रुटिः त्रयोदशपङ्क्तीनाम्.)

प्र.*'त'इति विशेषः प्रतिभाति.

अधिकारे हरौ कार्ये सत्वादिगुणभेदतः।
अतश्चतुर्णाम् उत्पत्तौ द्वादशाध्यायवर्णनम्।।७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दशमे चतुर्दशलोकसृष्टिः उच्यते. तेन तत्प्रकरणस्य समाप्तिः अवगम्यते. ततो दशमएव अध्याये ''**गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषो अप्रतिष्ठितः, पुरुषः तदुपादानम् आत्मानं लीलयाऽसृजद्**''(भाग.पुरा.३।१०।११) इति कालस्य उपादानताम् उपक्रम्य ''**विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्**''(भाग.पुरा.३।१०।१२) इत्यनेन जगतः सूक्ष्मरूपम् आदिकारणं ब्रह्म इति उक्त्वा ''**सर्गो नवविधस्तस्य**'' (भाग.पुरा. ३।१०।१३) इति प्रतिज्ञाय ''**आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः**'' (भाग.पुरा. ३।१०।१४) इत्यादिना आत्महेतुगुणवैषम्यरूपं भूतमात्रेन्द्रिय-धीसङ्घातात्मक-तच्छरीरजन्मोक्त्वा अन्येषां तेन तेन प्रकारेण सर्गपदोक्तिपूर्वोक्तं जन्म उच्यते. तेन सः सर्गः कार्यशरीरनिर्माणार्थः. एवं च यद्यपि पूर्वप्रकरणस्य अष्टमएव समाप्तिः तथापि सप्तमाध्याये विभूतिप्रश्नाद् नवमे विभूतिमत्त्वं पूर्वोक्तस्य निरूप्य तद्विभूतिः पूर्वम् उच्यते इति कालात्पूर्वं निरूप्यमाणस्य सर्गस्य मैत्रेयविचारेण पूर्वशेषत्वम्. व्यासविचारेतु प्रकरणान्तरशेषत्वमेव इति उभयं समञ्जसम्. तद् इदं निबन्धाद् अवगन्तव्यम्. एवम् अत्र प्रकरणद्वये सर्गभेदस्य निर्धारात् प्रथमे अधिकारप्रकरणेपि अधिकारस्य भगवदेकसाध्यत्वात् चतुरध्याय्यां तत्रापि भूतादिसर्गः सङ्ख्याबलाद् अवगन्तव्यः इति त्रिष्वपि अवान्तरप्रकरणेषु चतुर्णां सर्गः इति हृदयम्. यद्यपि द्वितीये भगवत्कर्तृकत्वं न स्पष्टं, तथापि सिद्धवद् अनुवादात् पूर्वोक्तएव कर्त्ता अत्रापि आयाति इति भगवत्कर्तृकत्वमपि अक्षुण्णम्. तद् एतद् अभिसन्धाय उक्तम् **अधिकारे हरौ कार्ये** इति. प्रकृतम् अनुसरामः. **अतश्चे**ति. प्रयोजनभेदाद् रूपभेदाच्च. यद्यपि भूतमात्राः तामस्य इन्द्रियाणि राजसानि, धियः सात्त्विक्यः तथापि तत्तत्कार्यार्थं कारणभूतसत्त्वादीनां तत्र आधिक्येन निवेशाद् गुणभेदकृतो भेदः तेषु बोध्यः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

द्वादशाध्यायाद् निरूप्यते इति आहुः **अतः चतुर्णाम्** इति. यतः भूतादयः चत्वारोऽपि सत्वादिगुणभेदतः प्रत्येकं त्रिविधत्वेन द्वादशः भवन्ति अतः चतुर्णाम् उत्पत्तिबोधार्थं द्वादशाध्यायवर्णनम् इति अर्थः ।।६-७।।

ततोऽत्र युक्तरूपस्य ब्रह्मणो विनिरूपणम्।
गुणवैषम्यकथनं षडध्याय्या निरूप्यते।।८।।
कर्मादिमार्गा वेदोक्ताः फलतस्ते यदि स्थिराः।
सर्गोऽत्र नैव जायेत ततस् तन्नाश उच्यते।।९।।
***कामेन कर्मनाशः स्यात् क्रोधेन ज्ञाननाशनम्।**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ततो अत्र इति. द्वादशाध्यायोत्तरं त्रयोदशे अध्याये **युक्तरूपस्य** क्रियाशक्तिप्रधानस्य वराहरूपस्य **ब्रह्मणो** विशेषेण निरूपणम्।।८।।

ननु गुणवैषम्ये निरूपणीये कश्यपदित्यादिकथायाः किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **कर्मादी**त्यादि. 'आदि'पदेन भक्तिज्ञाने. **फलतः** इति फलं मोक्षः तत्प्रापकतया. **ततो** हेतोः तन्नाशक–कामक्रोधाभ्यां कर्मज्ञानयोः नाशः हेतूपोद्घाततया शुकेन उच्यते, अतः प्रकृतसर्गसिद्धिरेव प्रयोजनम् इति अर्थः।।९।।

ननु ''**न मे भक्तः प्रणश्यति**''(भग.गीता ९।३१) इति भगवतः प्रतिज्ञया इति भक्तयोः दौवारिकयोः कथं भक्तिनाशः? इत्यतः आहुः **लोभेन** इत्यादि. तथाच

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

ततः इति. द्वादशाध्यायैः कार्यनिरूपणानन्तरं तत्र विषये युक्तं यद् रूपं सकलकारणभूतं वराहस्वरूपं तस्य च त्रयोदशे अध्याये निरूपणम् इति अर्थः. ततः **षडध्याय्या** गुणानां सत्त्वादीनां वैषम्यस्य अन्योन्यमेलनस्य वृद्धि-ह्रासभावस्य कथनं यद् तद् निरूप्यते ।।८ ।।

ननु गुणवैषम्यकथनस्य किं प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः **कर्मादी**ति. 'आदि'पदात् ज्ञानभक्तिमार्गौ ग्राह्यौ. तथाच गुणवैषम्याभावे तत्तद्गुणानां स्थिरत्वापत्त्या तत्प्रयुक्तस्वभावस्यापि तथात्वे तत्तद्स्वभावविहितमार्गस्थितिरपि नित्यैव भवेद् अतः तथा इति अर्थः ।।९ ।।

षडध्यायप्रतिपाद्यम् अर्थम् आहुः **कामेन** इत्यादि. चतुर्दशे अदितेः कामेन कश्यपस्य वैदिककर्मनाशः ''**इष्ट्वा अग्निजिह्वं पयसा**'' (३।१४।८) इत्यादिना निरूप्यते. तथा अग्रिमे क्रोधेन ज्ञाननाशः. कथम् अन्यथा जयविजयौ सनकादीन् अधिक्षिपेतां सनकादयो वा तौ कथं अधिक्षिपेयुः इति. ततः षोडशे लोभाद्

---

* ''कामेन कर्मनाशः स्यात् क्रोधेन ज्ञाननाशनम्'' इति कारिका न कोऽपि मातृकायाम् उपलभ्यते.

लोभेनापि च भक्तेर्हि धर्मिज्ञानीश्वरैः[क] कृताः।।१०।।

ततो गुणानां वैषम्यं तमःसत्वरजस्त्वतः।

एवम् एकोनविंशत्या हरिकर्तृक ईरितः।।११।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दोषवशाद् नाशः इति अर्थः.

ननु तादृशेषु कथं कामादिदोषोत्पत्तिः इत्यतः आहुः **धर्मी**त्यादि. काम-क्रोध-लोभाः क्रमेण धर्मिज्ञानीश्वरैः कृताः. अपत्यकामायाः [ख]कामपूर्त्तये यथा कामी भवेद् नित्यम् इत्यादिविध्यनुरोधिना धर्मिणा धर्माभिमानात् कामः, ज्ञानवता ज्ञानाभिमानात् क्रोधः, ईश्वरेण तदभिमानात् तेषु लोभः इति ते तैः कृताः. बन्धलीलात्वाद् न अत्र अभिमानो दोषः. लीलात्वात् च न भगवद्बन्धकः इति सुस्थम्. तथाच मार्गत्रयनाशरूपसृष्टीच्छाव्यापारबोधनाय तत्कथा इति भावः. अग्रे स्फुटम्. एतेन साङ्ख्याद् वैधर्म्यं वैषम्येपि बोधितम्. साङ्ख्ये गुणानां स्वभावादेव क्षोभरूपवैषम्यम्, इहतु भगवदिच्छया इति इयम् अवान्तरकथापि मूलवैषम्यस्य. तथात्वबोधनार्था।।११।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

भक्तिनाशः. भगवता स्वयुद्धलोभादेव जय-विजययोः भक्तिं नाशयित्वा दैत्यत्वं सम्पादितम् इति तथा. **धर्मी**ति ... ।।१०।।

सृष्ट्युपपत्तये कर्मादिमार्गाणाम् अस्थिरत्वोपपादनानन्तरं सृष्ट्यादि प्रयोजकानां गुणानां वैषम्यम् उच्यते इति शेषः. वैषम्यमेव आहुः **तमः** इति. रजःसत्वतमोभिः सृष्टिस्थितिप्रलयाः इति. प्रसिद्धक्रमवैषम्येन सृष्ट्यादिकम् उच्यते. तत्र सप्तदशे तमोगुणप्रधाना हिरण्याक्षोत्पत्तिः उच्यते. अतएव ''**सहाचला भुवश्चेलुः**'' (भाग.पुरा.३।१७।४) इत्यादि तथैवोत्पातवर्णनम्. ततो अष्टादशे भगवत्सन्निधौ युद्धार्थं रजःप्रधाना स्थितिः. अतएव ''**आह एनम् एहि अज्ञ महीं विमुञ्च नो**'' (भाग.पुरा.३।१८।३) इत्यादिरजःप्रधानानि वचनानि उक्तानि. ततः एकोनविंशे गुणप्रधानो हिरण्याक्षवधरूपो प्रलयः उच्यते. तस्य सत्वप्रधानन्तु भगवत्सान्निध्यप्रयुक्तमेव. अतएव ''**अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता अहो इमां को नु**

क. 'धर्मज्ञानीश्वरैः' इति जु२, मां१, मां२, मां३, मां४ पाठः.

ख.ज्ञानवता ज्ञानाकामपूर्तये-इत्यपि पाठः.

चतुर्दशभिरध्यायैः हरये सर्ग उच्यते।
गुणवैषम्यम् एकेन भगवद्भोगसिद्धये।।१२।।
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म भोगाय देहतः।
चतुर्भिर् उच्यतेऽध्यायैः नवभिश्च गुणास्त्रयः।।१३।।
यादृशैर् भगवद्भोगः तेषां सर्गो निरूप्यते।
कथायां त्वधिकारोऽत्र चतुर्भिः करणं परैः।।१४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवं पञ्चभिः प्रथमप्रकरणाध्याय-सङ्ख्याप्रयोजनोक्तिपूर्वकं प्रथमप्रकरणार्थः उक्तः. एवं द्वितीयस्य सार्द्धाभ्याम् आहुः **चतुर्दशे**त्यादि. **देहतो जन्म** इति योजना. **तेषाम्** इति. तादृशां भूतादीनां गुणानाञ्च. तद् इदं विंशे अध्याये स्फुटिष्यति. एवम् अत्र सर्गलक्षणघटकपदार्थानां प्रत्येकं निरूपणेन यथा सृष्टित्वाऽविशेषेऽपि अवान्तरविशेषात् सर्ग-विसर्गाभ्यां स्कन्धभेदः तथा प्रयोजनभेदभिन्नाभ्यां सर्गाभ्यां कुतो न इति आशङ्कापि निरस्ता. **लक्षणभेदस्य अभावाद्** इति निबन्धेतु ''**चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्येतु दशधा मता**'' इति प्रकरणविभागे उक्तम्. अत्रतु कथामात्रोपयोगाय ततोऽपि स्थूलतया उच्यते इति आशयेन आहुः **कथायाम्** इत्यादि. अत्र सुबोधिन्यान्तु चतुर्भिः अध्यायैः अधिकारः

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

लभेत संस्थितिम्'' (भाग.पुरा.३।१९।२७) इत्यादिस्तूयते. तदेतद् अग्रे वक्ष्यते च

''**उत्पत्तिः तामसी प्रोक्ता स्थिति वै राजसी मता,**
सात्विकप्रलयश्चेति विपरीतं फलं तयोः'' इति।।११।।

एवं ''**ब्रह्मतो जायते सर्गः**'' इति इमं पक्षम् उक्त्वा ब्रह्मार्थं क्रियते(?) पक्षेण अग्रिमाध्यायव्यवस्थाम् आहुः **चतुर्दशभिः** इत्यादि. **गुणवैषम्यम्** इत्यादि. **एकेन**विंशाध्यायेन **गुणवैषम्यं,** ततः चतुर्भिः भूतमात्रेन्द्रियधियां देहतो भागाय जन्म, ततो नवभिः त्रयो गुणाः इति चतुर्दशाध्यायानाम् अर्थः।।१२-१३।।

यादृशैः इति. यादृशैः भूतादिभिः चतुर्भिश्च नवभिश्च गुणैः भगवद्भोगः तेषां सर्गः चतुर्भिः नवभिश्च अध्यायैः निरूप्यते इति अर्थः. अत्र निबंधेति भक्तान् इति. अत्र अधिकारप्रकरणम् अध्यायचतुष्टयेन, द्वितीयं गुणातीतप्रकरणं द्वयेन, तृतीयं

सर्गस्य सविभूतेश्च सर्वत्रैवानुवर्णनम्।

उत्तमे त्वधिकारे *हि लीलामात्रं फलाय वै ।।१५।।

किं पुनर् दशधा लीलेत्येवं वैदुरिकी कथा।

तत्राऽधिकारे प्रथमे देहवैशिष्ट्यकारणम् ।।१६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उच्यते, परैः अग्रिमैः अध्यायैः सर्गस्य करणम्. ''**तद्विभूतीर्वदस्व नः**'' (भाग.पुरा. ३।७।२३) इति विशेषप्रश्नात् सविभूतेः सर्गस्य सर्वेष्वेव अध्यायेषु अनुवर्णनम्. तथाच विदुर-मैत्रयसंवादमात्रसिद्धं यत्तन्मात्रम् अत्र उच्यते, अतो न दोषः इति अर्थः. एतेन विदुरोद्धवकथायां सर्गप्रश्नाभावात् तत्र भूताद्युत्पत्तिव्याख्यानं न युक्तम् इति शङ्कापि निरस्ता, तस्य एतत्कथोपनिबन्धक-व्यासाशयगोचरत्वाद् इति. ननु अधिकारस्य प्रथमस्कन्धएव उक्तत्वात् पुनः कथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **उत्तमेतु** इत्यादि. **कथा** इति विदुर-मैत्रेयसंवादरूपा कथा. तथाच फलोपोद्घातत्वेन शुकेन व्यासपादैः च उच्यते. लीलोत्कर्षबोधनं प्रयोजनम् इति अर्थः.

एवं कथोपयोगिप्रकरणार्थम् उक्त्वा प्रथमाध्यायार्थम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** अर्थनिरूपणप्रस्तावे, **अधिकारे** अधिकारप्रकरणे **प्रथमे** अध्याये संस्कृतानां सत्त्वेन

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

गुणप्रकरणं द्वयेन, पञ्चमं जीवप्रकरणं नवभिः, षष्ठं तत्त्वप्रकरणं त्रयोदशभिः इत्येवं षट्प्रकरणानि प्रदर्शितानि. अत्रतु सुबोधिन्याम् आद्यैः चतुर्भिः कथायाम् अधिकारः निरूप्यते. परैः शिष्टैः अध्यायैः सर्गस्य करणं निरूप्यते. एतेन अत्र स्कन्धे सर्वत्रैव सर्गवर्णनं निक्षुण्णं सिद्धम् इति आहुः **सर्गस्य** इति. तेन सविभूतेः सर्गस्यैव वर्णनं सिद्धम् इति अर्थः ।।१४ १/२।।

आरम्भे उत्तमाधिकारवर्णनस्य प्रयोजनम् आहुः **उत्तमे** इति. अतएव. ''**जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह**'' (भाग.पुरा.१।१३।२) इति वक्ष्यते ।।१५ १/२।।

एवं स्कन्धार्थं प्रकरणं च उक्त्वा प्रथमाध्यायार्थम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** प्रथमाध्याध्यायार्थनिरूपणे प्रस्तावे **अधिकारे** अधिकारप्रकरणे **प्रथमे** अध्याये **संस्कृतानां** सत्वेन शुद्धिप्राप्तानां **त्रेधा** पञ्चधा वा **सर्गो निरूप्यते.**

---

* 'तु' इति क, ङ, च.,मां२ पाठः.

भूतानां संस्कृतानां हि त्रेधा सर्गो निरूप्यते।

तीर्थसङ्गगुणस्मृत्या[ङ] पञ्चधा वा निरूप्यते।।१७।।

तीर्थद्वयेन हरिणा भक्तैस्तत्कथयाऽपि च।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शुद्धिं प्राप्तानां **भूतानां** त्रेधा पञ्चधा वा सर्गो निरूप्यते.

भूतादीनां लक्षणन्तु पञ्चमाध्याये स्फुटीकार्यम्. आकाशस्य निर्लेपत्वाद् मुख्यप्राणस्य अपहतपाप्मत्वात् तत्संस्कारो न अपेक्ष्यते, इति शिष्टानां त्रयाणामेव सः इत्यतः **त्रेधा** इति उक्तम्. अस्मिन् पक्षे भगवदीयं स्मरणं गुणस्मृतिकोटौ निविशति इति ज्ञेयम्. **''पृथिव्यापस्-तेजोवायुराकाशा मे शुद्ध्यन्ताम्''** (महाना.उप. २०।२०) इति विरजाहोममन्त्रलिङ्गेन वाय्वाकाशयोरपि अशुद्धेः **पञ्चधा** इति पक्षान्तरम् उक्तम्. नस्यादिशुद्ध्यपेक्षणात् च. देहवैशिष्ट्यलक्षणम् इत्यनेन संस्कारे प्रमाणम् उक्तम्. अन्यथा उक्तविधवैशिष्ट्यवान् देहो न स्याद् इति.

कारणम् इति पाठेऽपि वैशिष्ट्यरूपकार्येण कारणानुमानात् सएव अर्थः. तृतीया सर्वत्र करणार्थे. तेन **हरिणा** इत्यत्र स्मृत्यारूढस्य भगवतः एवं करणत्वम्. अभिन्ननिमित्तोपादानत्ववत् कर्तृकरणाभेदस्याऽपि अदुष्टत्वाद् इति. स्मर्यमाणस्य रूपस्य वा करणत्वं द्वितीयस्कन्धे अङ्गुलीयकविमर्षे स्मर्यमाणरूपाणां नानात्वेन भेदस्य सिद्धत्वात्. व्यापारत्वन्तु स्मरणस्यैव इति बोध्यम्. एवं कर्तृकरणव्यापारफलानि सर्वत्रैव अनुसन्धेयानि.

ननु प्राप्यमिव यत्किञ्चिद् अदृष्टजन्ये देहस्थितानां भूतानां नाशाभावे कथं

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

भूतानां देहवैशिष्ट्यं लक्षयति ज्ञापयति तथा भूतः त्रेधा पञ्चधा वा सर्गः प्रवृत्तिरूपः निरूप्यते ।।१६ १/२।।

ननु को असौ त्रेधा पञ्चधा वा संस्कारः? इत्यतः करणत्वमुखेन तान् निर्दिशन्ति **तीर्थे**ति. **तीर्थद्वये**ति. तीर्थानि भगवदीयसङ्गो भगवद्-भगवद्गुणस्मृतिश्च इति **त्रेधा**, सामान्यविशेषभेदेन तीर्थद्वयं हरिगुणस्मृतिः भक्तसङ्गः कथा च इति **पञ्चधा.**

ननु विदुरदेहस्य शूद्रत्वात् तद्देहनाशाभावे कथं श्रीभागवतं फलिष्यति, कथं

ङ. 'गुणा' इति जु,अ,मां१, मां२ पाठः.

अस्मिन् भागवते शास्त्रे पूर्वदेहस्य नाशनम्।
नापेक्ष्यते यतः सर्वे भक्तिमार्गाधिकारिणः।।१८।।

एवं पूर्वाध्यायान्ते "**तद् वो अभिधास्ये शृणुत**" (भाग.पुरा.२।१०।५१) इति उक्तम्. शुकोऽपि सर्गे विदुरकथैव युक्तेति तत्कथाक्षेपणार्थं विदुरेण एवं प्रश्नः कृतः इति आह श्लोकद्वयेन

श्रीशुक उवाच

एवम् एतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल ।
क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहम् ऋद्धिमत्।।१।।

एवम् इति. यथा त्वया बहवः प्रश्नाः कृताः पूर्वपक्षपुरस्सरम्. **एतत्** सर्वम् अग्रे वक्ष्यमाणम्. एवमेव विदुरेण पृष्टो मैत्रेय आह इति न उच्यते. नहि सर्वे पदार्थाः पृष्टा वक्तव्याः. यदेव तस्य उपकारि भवति तदेव वक्तव्यम् इति भावः. कियतीं भगवत्कथां श्रुत्वा तस्यां हृदयं गतायां तद्दाढर्यार्थं विशेषं पृच्छति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

संस्कृतभूतसर्गः शक्यवचन इति आशङ्कायाम् आहुः **अस्मिन्** इत्यादि. तथाच यथा वैदिकसाधनाधिकारार्थं शूद्रदेहनाशापेक्षा, तथा "**देवाऽसुरो मनुष्यो वा**"(भाग.पुरा. ७।।७।५०) इत्यादिवाक्यात् स्वरूपयोग्यतायाः स्वतएव सिद्धत्वाद् न अत्र अधिकारार्थं पूर्वदेहनाशापेक्षा, किन्तु फलोपधानार्थं प्रोक्षणादिवत् संस्कारेण तेषां रूपान्तरापत्तिरेव सर्गः इति सः न अशक्यवचनः इति अर्थः।।१८।।

एवं सर्गम् उपपाद्य व्याख्यातुम् आरभमाणा अवतारणमुखेन विदुरकथ-ासङ्गतिम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **युक्ता** इति. उपदेशनार्थं भगवता विचारितत्वेन तत्कथारीत्या बोधस्य शीघ्रं सम्भवाद् युक्ता इति अर्थः. तथाच सूतोक्तौ प्रसङ्गः, शुकोक्तौतु हेतुतागर्भः सः इति अर्थः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

उत्तमत्वं च? इत्यतः आहुः **अस्मिन्** इत्यादि ।।१८।।

एवं कारिकाभिः सर्वदेहम् उपपाद्य व्याख्यानम् आरम्भतः श्लोकम् अवतारयन्ति **एवम्** इत्यादि. **एवम्** इत्यत्र **आह इति नोच्यते** इति श्लोकः 'आह' इति क्रियापदं न उच्यते इति अर्थः. तत् तात्पर्यम् आहुः **नहि** इत्यादि. विदुरेण पृष्टा एवं पदार्थाः मैत्रेये न वक्तव्या इति न इति अर्थः.

सर्वोऽपि इति कार्यसिद्धिः श्रोतुः निरूप्यते. अन्यथा व्युत्थितस्य शङ्कया[क] न [ख]वक्तव्यं स्यात्. भगवत्त्वम् अत्र शास्त्रे द्विविधम् : नित्यं कार्यं च. तद् भगवति नित्यम्. तत् प्रसादविषयेषु कार्यम्. तस्या अधिकारार्थम् उपदेशादिषु गुरुत्व-ज्ञानित्वादि-सिद्ध्यर्थम् इह उच्यते. अतो मैत्रेयस्यापि प्रमेयसञ्चारणसामर्थ्यार्थं सर्वसन्देहवारणसामर्थ्यार्थं च भगवत्त्वं निरूप्यते. मित्रायाः पुत्र इति जन्मतएव तस्य सर्वोपकारित्वं सूचितम्. अग्रे 'भगवच्'छब्दाच्च न तथा दूषणम्. **किल** इति प्रसिद्धिः उभयत्र, भगवत्त्वे प्रश्ने[ग] च. अन्यथा स्वस्य तदन्वयप्रवेशाभावात् कथनम् अयुक्तं स्यात्. 'क्षत्रा' नाम अन्तःपुराध्यक्षः, सर्वथा जितेन्द्रियः. तादृशाभावे नपुंसकोऽपि क्रियते. अतो विदुरस्य जितेन्द्रियत्वं [घ]वक्तुं [ङ]क्षत्तृत्वम् आह **क्षत्त्रा** इति. **वनं प्रविष्टेन** इति तादृशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकवनस्थितिः प्रश्नाधिकारो निरूपितः. वनस्यैव इप्सिततत्वात् [च]कर्मत्वम्. प्रकर्षः तत्रैव देहत्यागविवक्षया[छ] त्याज्यस्य उत्कृष्टत्वम् अधिकारसूचकम् इति तद् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रोतुः इति विदुरस्य. एतेनापि युक्तत्वं विशदीकृतं बोध्यम्. **तस्य** इति प्रसादविषयस्य मैत्रेयस्य. **न तथा दूषणम्** इति. तथाच सर्वोपकारत्वात् तस्याः मित्रात्वं [*]नतु जबालावद् इति अर्थः. ननु अत्र प्रसिद्धेः प्रमाणतया कथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि [+]**तदन्वयप्रवेशाभावाद्** इति. संवादावसरे सह-चराभावात्. **क्षत्रियत्वम्** इति. निबन्धोक्तरीतिकम्. वस्तुतस्तु 'क्षतृत्वम्' इति पाठः ।।१।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

व्युत्थितस्य इति. **तस्य अधिकारार्थम्** इति मैत्रेयस्य इति अर्थः. अस्यैव अर्थकथनम् **उपदेशादिषु** इत्यादिः. **उच्यते** 'भगवत्'पदम् उच्यते. **न तथा** इति. पात्रनाम्नातु हीनता इति. सिद्धान्तविचारेण नामपूर्वकोक्त्या प्राप्तं दूषणम् अग्रे 'भगवत्'शब्दात् न इति अर्थः. **तदन्वयेति**. भगवत्त्वं प्रसिद्धं **स्वस्य** शुकस्य

सु.क. 'शङ्कायाम्' इति 'ङ'. ख. 'व्यक्तः' इति जु,मां१,मां३ पाठः. ग. 'पृष्टे' इति अ,जु,मां१ पाठः. घ. 'जितेन्द्रियचयत्वं वक्तुं चाह' इति मां१, ''जितेन्द्रियचयत्वं वक्तुम् आह'' मां३ पाठः. ''जितेन्द्रियत्वं च'' इति मां२,ख पाठौ. ङ. 'क्षत्रियत्वम्' इति जु.पाठः. च. 'कर्मत्वप्रकर्षः' इति जु,मां१,मां३ पाठौ. छ. 'देहत्यागविवक्षायाम्' इति मां१,मां३ पाठौ.

प्र.* 'तनुजबालवत्' इति पाठः. प्र.+.प्रवेशेति पदं प्रकाशपुस्तकेषु न उपलभ्यते.

स्वगृहम् ऋद्धिमद् इति. अनन्याधीनत्वं सर्वसम्पत्तिश्च उद्वेगाभावाय. चित्तोद्वेगेन यत् क्रियते कर्त्तव्यत्वसहितेनाऽपि न तत्फलाय इति।।१।।

ननु ज्ञानमार्गएव परित्यागो अङ्गम्, गृहस्य तद्विरोधित्वात्. भक्तिमार्गेतु गृहस्य उत्कृष्टत्वकथनाद् उद्वेगादेव तस्य गमनम् आशङ्क्य निवारयति

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवान् अखिलेश्वरः।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम्।।२।।

यद्वा अयम् इति. यद् गृहं भगवता आत्मसात्कृतम्. भगवान् विदुरगृहं स्वगृहं लोकप्रतीत्या मन्यते. न केवलम् अभिमतिमात्रम्, किन्तु व्यवहारोऽपि तत्र भगवदीयएवेति आह **प्रविवेश** इति. हेत्वन्तराणि निवारयति **पौरवेन्द्रगृहं हित्वा** इति. दुःशासनगृहं भगवत्स्थित्यर्थम् इन्द्रगृहादपि उत्तमं तैः प्रार्थ्यमानमपि हित्वा. उचितञ्च दुःशासनगृहे गन्तुं मन्त्रार्थम् आगतस्य, तत्रापि भक्तानां कार्यसाधकस्य, तत्रापि भगवतः सर्वोत्कृष्टपूर्णगुणवतः, उत्कृष्टएव स्थाने स्थातुम् उचितम्. किञ्च. अभक्तत्व-दैत्यत्वादि धर्मा न शङ्कनीयाः, यतो अयम् **अखिलेश्वरः** सर्वस्यापि स्वामी सर्वनियन्ता. अतो यथा भगवद्गृहे देवालयादौ स्थितिः उचिता तथा तस्य स्वगृहेऽपि. तथापि गृहमिति त्यक्तव्यमेव. गृहस्थितेः उकृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण, किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा; अन्यथा न स्थातव्यम् इति स्थितिः।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य स्वगृहेऽपि इति. विदुरस्य स्वगृहेऽपि।।२।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

मैत्रेयसाहचर्याभावात् भगवत्त्वकथनम् अयुक्तं स्याद् इति अर्थः।।१।।

यद्वा इति अत्र. हेत्वन्तराणि अन्यगृहालाभे तत्र गतं भविष्यति इति निवारयति इति अर्थः. **अभक्तत्वे**ति. दुःशासनादीनाम् अभक्तत्वदैत्यत्वादिः धर्माः सन्तीति भगवता तद्गृहे न गन्तव्यम् इति न शङ्कनीयं, यतः अयम् **अखिलेश्वरः** सर्वेषाम् अङ्गीकृत-स्वामित्वम् इति अर्थः. तथाच सर्वथा स्थितियोग्यमपि पौरवेन्द्रगृहं हित्वा विदुरगृहे प्रविष्टवान् तत्र आत्मसात्कृतत्वमेव हेतुः इति भावः. तदेव आहुः **अतो** इति. सर्वथा आत्मसात्कृतत्वादेव इति अर्थः. **तस्य** इति. विदुरस्य. ननु तर्हि तादृशं गृहं कुतः त्यक्तवान्? अतः आहुः **तथापि गृहम्** इति. तत्रापि व्यवस्थाम् आहुः **गृहस्थितेः** इति।।२।।

प्रश्ने कृतेतु उत्तरं देयम्, नतु अन्यस्य वचनं तत्र वक्तव्यम् इति आशङ्क्य तत्रत्यौ देशकालौ उत्कृष्टौ भविष्यतइति तौ पृच्छति[क]

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर् भगवता मैत्रेयेणाऽऽस सङ्गमः।

कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो।।३।।

कुत्र इति. अनुवादे[१] पूर्वोक्तपदानां कीर्तनम्. तदुक्तार्थपरिज्ञानबोधकम्. प्रश्ने हि सङ्गमो अपेक्ष्यते. महतां सङ्गमनिमित्तो देशः उत्कृष्टएव भवति इति **आस सङ्गमः** इति. 'समागम' इति पाठेपि 'अस्ति' इत्यादिप्रयोगः सिद्धएव. **कदा वा** इति कालस्य अनादरणीयत्वम्. **सह संवादः** इति साक्षाद् राज्ञा बहुपृष्टम् इति प्रश्नक्रमेणैव उत्तरं वक्तव्यम् इति आशङ्क्य निवारयति **एतद्वर्णय** इति. **नः** इति अस्मभ्यम् उपकारित्वात्. **प्रभो** इति सामर्थ्यं पूर्वोत्तरम् अत्रैव सङ्क्रामयितुम्. अनेनैव वा तत्सन्देहनिवारणं कर्तुं सूचितम्।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कुत्र इत्यत्र. **कालस्य अनादरणीयत्वम्** इति. तस्य कालस्य इदानीम् अभावेन स्वस्य अनुपयोगात् तथा इति अर्थः. **बहुपृष्टम्** इति. एतत्प्रश्नात् पूर्वं बहुपृष्टम्. **उपकारित्वाद्** इति. संवादस्य उत्तमद्वयसम्बन्धित्वेन शीघ्रं फलजनकतया तथात्वात् ।।३।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

कुत्र इत्यत्र. मध्ये आपन्नस्य सङ्गत्यर्थम् आहुः **प्रश्ने** इत्यादि. राज्ञा पूर्वस्कन्धे प्रश्ने कृते. श्रीशुकेन स्वयमेव उत्तरं देयं नतु विदुर-मैत्रेयसंवादम् अन्तराकृत्य. तथापि यत् तथा उक्तं तत्तु तत्रत्यौ देशकालौ उत्कृष्टौ भविष्यतः इति गमयति. तथाच तावपि पृष्टव्यौ इति अभिप्रायेण राजा तौ पृच्छति इति अर्थः. **पूर्वोक्तपदानाम्** इति. 'क्षतृ'-'भगवन्'-'मैत्रेय'-पदानाम् इति अर्थः. **तदुक्तार्थे**ति शुकोक्तार्थे इति अर्थः. **पूर्वोत्तरम्** इति. राजकृतं पूर्वप्रश्नानाम् उत्तरम्. **अत्र** विदुरमैत्रेय-संवाद**एव** सङ्क्रामयितुम् इति अर्थः. **अनेनैव** इति. एतत्संवादेनैव पूर्वसन्देहवारणं कर्तुं सामर्थ्यं सूचितम् इति अर्थः ।।३।।

क. 'पृच्छतः' इति जू,मां१,मां३ पाठाः. ख. 'अपि' इति अधिकम् क पुस्तके.

पूर्वापेक्षयाऽपि मुख्यतया एतच्छ्रवणे हेतुम् आह

न ह्यल्पार्थोदयस् तस्य विदुरस्याऽमलात्मनः।

तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः॥४॥

न ह्यल्पार्थोदयः इति. खण्डशः पदार्थश्रवणं खण्डमेव फलं जनयति. इदन्तु खण्डमपि अखण्डमेव फलं जनयिष्यति, सम्बन्धिवैशिष्ट्यात्, देशकालपात्रविशेषे जलादिदानवत्. तद् आह अल्पस्य अर्थस्य उदयो यत्र तादृशः स प्रश्नो[क] न भवति इति **हि** इत्यनेन तादृशस्य वैयर्थ्यापत्तिः इति युक्तिः उक्ता. सम्बन्धिनो वैशिष्ट्यम् आह **विदुरस्य अमलात्मनः** इति. परमनीतिज्ञस्य निर्मलान्तःकरणस्य इति अर्थः. वयन्तु अनीतिज्ञाः शापादिना [ख]च न शुद्धान्तःकरणाः. अतो यत्किञ्चित् पृच्छाम इति भावः. ततोऽपि तद्गुरुः उत्कृष्टः इति आह **वरीयसि** इति. **साधुवादोपबृंहितः** इति. अन्तरुत्साहो[१] हेतुः उक्तः फलावश्यंभावाय. अतएव तेन उपबृंहितो अधिकः पुष्टः कृतः इति॥४॥

अत्र देशकालपरित्यागहेतवः त्रयः पृष्टाः. तत्र प्राथमिकत्वा-परित्यागहेतुः वक्तव्यः. स च साक्षाद्भगवत्कथारूपो न भवतीति शुकेन अवर्णनीयत्वम् आशङ्क्य तादृशवर्णनायां हेतुम् आह सूतः

सूत उवाच

स एवम् ऋषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता।

प्रत्याह तं सुबहुवित् प्रीतात्मा श्रूयताम् इति॥५॥

स एवम् इति. ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः. येन मन्त्रेण भगवदङ्गानां मध्ये उत्कृष्टेन शीघ्रम् अस्य हृदयं शुद्धं भविष्यतीति तदुपकारार्थं शुकप्रवृत्तिं बोधयति. 'वर्य'पदेन स्वहानिः निवारिता. **अयम्** इति पुरःस्थितत्वेन तस्य भगवत्त्वं फलं जातमिति परोपकारनिरतत्वं सूचितम्. **राज्ञा** इति लोके तत्प्रश्नोत्तरम् आवश्यकम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नहि इत्यत्र. **अन्तः उत्साहः** इति. मैत्रेयस्य सः. परित्यागहेतुप्रश्नः साधुवादोपबृंहणाक्षिप्तो ज्ञेयः॥४॥

सः एवम् इत्यत्र. **भगवदङ्गानाम्** इति. प्रापकत्वेन शेषाणाम्. **स्वहानिः**

क. 'पृष्टो' इति जु,मां१,मां३ पाठौ. ख. 'च अशुद्धा...' इति मां१,मां३ पाठौ.

परीक्षिता इति तस्य बीजसंस्कारः सूचितः. अतः इदं तदुपकारीति प्रत्याह. [क]सर्वतत्त्वपरिज्ञापनार्थं **सुबहुवित्** इति. मुख्यभगवत्वेन[ख] उपस्थिततत्वात् **प्रीतात्मा.** अत्रापि शङ्कान्तरं न कर्तव्यम् इति **श्रूयताम्** इति आह।।५।।

अस्य परित्यागो भगवन्निमित्तं भगवतैव कृतः इति निरूपयितुं भगवत्पक्षपातिनो भगवद्विमुखैः सह स्थितिः अनुचिता इति वक्तुम् कौरवाणां भगवद्विमुखत्वम् आह चतुर्भिः

श्रीशुक उवाच

यदातु राजा स्वसुतान् असाधून् पुष्णन् अधर्मेण विनष्टदृष्टिः।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान् विबन्धून् प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह।।६।।

यदातु इति. विदुरस्य गृहत्यागे [ग]दशभिः हेतुः उच्यते.

चतुर्भिः अपराधोक्तिः एकेन हि समागमः।
त्रिभिः मन्त्रोक्तिः अपरे निषेधकनिवारणे।।१।।

धर्मशास्त्रविरुद्धं लोकशास्त्रविरुद्धं नीतिविरुद्धम् इश्वर-

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति. तपोबलादिहानिः. **मुख्यभगवत्त्वेन** इति. गुणातीतत्वेन प्राप्तब्रह्मतया तथात्वेन ।।५।।

यदातु इत्यत्र. **अस्य परित्यागः** इति. विदुरकर्तृकपरित्यागः.

ननु अत्र विदुरस्य उत्तमाधिकारबोधनाय गृहत्यागे वक्तव्ये दुर्वाक्य-

---

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

यदातु इत्यत्र. श्लोकदशकार्थं कारिकया सङ्गृहृयते **विदुरस्य** इत्यादि. **निषेधकनिवारणे** इति. ‘‘**इति ऊचितवान्**’’ (३।१।१४) इति अग्रे असत्कारोक्त्या तद्वाक्यनिषेधः उक्तः. अग्रिमे ‘**निर्वास्यताम्**’ (३-१-१५) इत्यनेन निवारणं निष्कासनम् . तथाच अपरे वाक्ये निषेधकनिवारकः इति अर्थः. प्रयोजकत्वाद् इति. यद्यपि दुर्योधनेनैव सर्वं क्रियते, तथापि धृतराष्ट्रानुमत्या क्रियतेइति सएव अपराधित्वेन उच्यते इति अर्थः. तर्हि ‘‘**सः एषः दोषः**’’(३।१।१३) इत्यादिना

क. ‘परिज्ञानार्थम्’ इति जु,अ,मां१,मां२,मां३ पाठाः.
ख. ‘मुख्यभगवद्भक्तत्वेन’ इति मां२ पाठः. ‘मुख्यभगवद्वक्तव्येन’ इति अ,जु,मां१,मां३ पाठाः.
ग. ‘हेतुः दशभिः’ इति जु,मां१,मां२,मां३ पाठौ.

वचनोल्लङ्घनम् इति अपराधाः. यद्यपि धृतराष्ट्रेण एवं न कृतं तथापि ''अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'' इति न्यायाद् अपराधित्वं भवति, प्रयोजकत्वात्. सएव कथ्यते. नैमित्तिकत्वाच्च निमित्तपरित्यागकथनं न दोषाय. अत्र मुख्य अपराधो भगवद्वाक्योल्लङ्घनं, तत्स्वभावतो जीवस्य न घटतइति दोषत्रयसन्निपातः तद्धेतुत्वेन वक्तव्यः. न हि सन्निपाताभावे कश्चिद् भगवद्वाक्यं न मन्यते. तत्र प्रथमं तामसं दोषम् आह **यदा तु** इति. **राजा** इति अदीर्घदर्शित्वम्. **तु** शब्दो विदुरस्य पूर्वस्नेहव्यावृत्तिसूचकः. **स्वसुतान** इति औरसत्वाद् अत्यागः. असाधुसंवद्र्धनं दोषायेति तदधर्मेण सुतराम् अन्तर्दृष्टिरपि गता. तद् आह **विनष्टदृष्टिः** इति. **भ्रातुर्यविष्ठस्य** इति सम्बन्धकृतधर्मोऽपि न अस्ति इति सूचितम्. **विबन्धून्** इति सर्वथा दयाभावः. कनिष्ठभ्रातुः पाण्डोः पुत्रान् पाण्डवान् राज्यस्पर्द्धादिशङ्कारहितान् स्ववशान् पितृहीनान् सर्वथा परिपालनीयान् लाक्षाभवने प्रवेश्य विश्वासघातं[क] कृत्वा **ददाह** इति अर्थः. अनेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वारितत्वेन निर्गमनकथनं न युक्तम्, उद्वेगप्रसञ्जकत्वेन अधिकारजघन्या-पादकत्वाद्? इत्यतः आहुः **नैमित्तिकत्वाद्** इत्यादि. भक्तस्य द्विधा गृहस्थितिः पूर्वम् उक्ता. तत्र भगवति पाण्डवान् प्रति प्रचलिते सहस्थितेः अभावाद् भगवत्कार्यार्थं स्थितिः अवशिष्यते, कार्यन्तु पाण्डवरक्षारूपं, तद् यदा न सिध्यति तदा तदर्थस्थितेरपि अभावात् तत् त्यक्तव्यम् इति, गृहत्यागस्य नैमित्तिकत्वाद् अस्थितौ निमित्तभूतानां बहिर्मुखानां कौरवाणां नगरस्य परित्यागकथनम् उद्वेगप्रसञ्जकत्वेपि न अधिकारन्यूनत्वाय इति अर्थः. ननु एवं सति तेषां बहिर्मुखत्वमात्रं वक्तव्यं, किं दोषान्तरकथनेन इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अत्र मुख्ये**त्यादि. तथा च मुख्यदोषकारणबोधनार्थं दोषान्तरकथनम् इति अर्थः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

दुर्योधनत्यागः कथम् उपदिष्यते? इति अतः आहुः **नैमित्तिकत्वाच्च** इति. धृतराष्ट्रस्य न स्वभावतः दुष्टता अपितु दुर्योधनं निमित्तं प्राप्यैवेति तत्परित्यागकथनम् उचितमेव इति भावः. **स्वभावतः** इति. ''**ब्रह्मदासा ब्रह्मकितवा**''(आथर्वणब्रह्मसूक्त द्र.शां.भा.२।३।३) इत्यादिषु सहजदासत्व(?!)श्रुतेः इति भावः।।६।।

क.'विश्वासपातकम्' इति क.ग.ङ.च.छ.जु,मां१,मां२ पाठौ. 'विश्वासघातकं' इति मां२ पाठः.

अस्य क्रिया सम्पूर्णा इति पाण्डवानाम् अमरणेऽपि वधदोषो जातएव इति भावः।।६।।

राजसं दोषम् आह **यदा सभायाम्** इति.

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः केशावमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम्।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः स्वास्त्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि।।७।।

भगवता संरक्षितानां तेषां राजसूयेन राजत्वयुक्तानां राज्याकाङ्क्षां परित्यज्य तूष्णीं स्थितानां बलाद् अपराधकरणं सर्वनाशकम्. युधिष्ठिरस्य कुरुदेवत्वात् राजपत्नीकेशाकर्षणं सर्वनाशाय इति जानन्नापि **न वारयामास**. **सभायाम्** इति परलोकनाशोऽपि सूचितः. "**सभां वा न प्रवेष्टव्यम्**" (मनुस्मृ. ८।१३) इति स्मृतेः. **अवमर्शः** आकर्षणम्. उत्पादकस्य परिपालनम् आवश्यकम् इति 'सुत'पदम्. परलोकसाधकत्वाभावाद् न 'पुत्र'पदम्. **कर्म** इति. दुरदृष्टजनकम्. **गर्ह्यम्** इति. लोकेऽपि निन्दाजनकम्. "**ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः, स्रवते ब्रह्म तस्याऽपि भिन्नभाण्डात् पयो यथा**" (भाग.पुरा. ४।१४।४१) इति. सम्बन्धरहितानां ब्राह्मणानामपि एतद् उचितम्. तदपि न कृतवान् इत्याह **न वारयामास** इति. अनेन क्षत्रत्वं तस्य गतम् इति सूचितम्. **नृप** इति सामर्थ्यम्. **स्नुषायाः** इति अतिलोकविरोधः. **अस्त्रैः कुचकुङ्कुमानि हरन्त्या** इति दयाहेतुत्वम् अमङ्गलत्वं च सूचितम्. [क]'स्व'शब्देन [ख]अस्राणाम् अलौकिकसामर्थ्यं सूचितम्. **कुचकुङ्कुमानि** इति उपरि वस्त्राभावः. कुङ्कुमानामपि गमने अतिलज्जा. इतररागाभावार्थं तथाकरणम्. एवं प्रत्यक्षतोऽपि[ग] क्रौर्यं निरूपितम्।।७।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

यदा इति अत्र. **उत्पादकस्य** इति. कर्तृः इति षष्ठी इयम्. **सम्बन्धरहितानाम्** इति "**दीनानां समुपेक्षा**" (भाग.पुरा.४।१४।४१) इति समान्योक्त्या तथा अवसीयते इति भावः. **एतद् उचितम्** इति. इष्टनिवारणेन दीनरक्षणम् उचितम् इति अर्थः।।७।।

क. 'स्म' इति मुद्रितपाठस्तु अशुद्धएव. ख. 'अश्रूणाम्' इति मां२ पाठः.
ग.'अतिक्रौर्यम्' ख. ग. घ. च. छ; जु, अ, मां१,मां२,मां३ पाठाः.

सात्विकं दोषम् आह **द्यूते त्वे**ति.

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।
न याचतोऽदात् समयेन दायं तमो जुषाणो यदजातशत्रोः।।८।।

तुशब्देन अस्मिन् कृते पूर्वं कृता अपराधाअपि अकृता भवन्ति इति सूचितम्. पूर्वं तेषां राज्यापहरणं केवलम् अधर्मेणैव. तदपि सोढ्वा महद्दुःखम् अनुभूय स्वकीयं दायं शास्त्रतो लोकतश्च अविरुद्धं समयेन मर्यादया **याचतो** याचयतः, याचमानाय वा, पदव्यत्ययः छान्दसः. अदाने हेतुः **तमो जुषाणः** इति मोहं जुषाणः. **अजातशत्रोः** इति विपरीतशङ्काभावः. स्वकृतनियमोल्लङ्घनाद् मोहः।।८।।

एवं त्रिदोषव्याप्तो भगवद्वाक्यं न अङ्गीकृतवान् इति आह **यदा च पार्थे**ति.

यदा च पार्थप्रहितः सभायां जगद्गुरुर् यानि जगाद कृष्णः।
न तानि पुंसाम् अमृतायनानि राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः।।९।।

पृथासम्बन्धात् प्रेषणं न अत्यन्तानुचितम्. स्वतो न दत्तवानेव. यदा च न दत्तवान् तदा पार्थेन युधिष्ठिरेण **प्रहितः** प्रेषितः भगवान् **यानि जगाद तानि नोरु मेने** इति सम्बन्धः. सभायाम् इत्युक्तेः लोकप्रतीत्यापि न अन्यथाकथनम्. **जगद्गुरुः** इति सर्वेषां हितोपदेशकर्तृत्वात् परमार्थतोऽपि न अन्यथाकरणम्. **यानि जगाद** इति. सन्ध्यनुगुणतया अविरोधवाक्यानि जगद्गुरुत्वप्रतिपादनार्थं धर्मान्तरेण अन्यथावचनव्यावृत्यर्थम्. सर्वेषामेव तानि वाक्यानि सर्वदुःख–निवर्त्तकानि इति आह **अमृतायनानि** इति. अमृतस्य अयनानि स्थानभूतानि अमृतकुण्डिका इति अर्थः. यथा क्षीरसागरं मथित्वा अमृतकलशम् उद्धृतवान् एवं सर्वशास्त्राणि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यदा च इत्यत्र. **धर्मान्तरेण** इति. पार्थप्रहितत्वेन.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

द्यूते इत्यत्र. **पदव्यत्ययः** इति. षष्ठ्यन्तस्थले चतुर्थ्यन्तम् अपेक्षितम् इति भावः. **स्वकृते**ति. द्वादशवार्षिकवनवासानन्तरम् इति अर्थः 'भागं' दास्यामि इति **स्वकृतनियमोल्लङ्घनाद्** इति अर्थः।।८।।

मथित्वा तानि वाक्यानि उद्धृत्य व्याहृतवान् इति अर्थः. राजत्वाद् अज्ञानपोषः. पूर्वं जीवनसुकृतम्, राज्यभोगसुकृतम्, जीवत्पुत्रसुकृतं च इति लेशत्रयं स्थितम्. तन्मध्ये क्षताः पुण्यलेशा यस्य स तथा उक्तः. उरुसम्माननायां न कश्चन अपकारो भवेद् इति भावः. जीवनं विद्यमानमपि गतप्रायं सूचितं, पुण्यांशस्य गतत्वात्. केवलं पापांशेन जीवति इति भावः।।९।।

एवं पुत्रस्नेहेन भगवद्वाक्योल्लङ्घने कृते, तत्प्रभृति स्वतः तद्गृहे अगच्छन्नपि यदा उपहूतः आकारितः तदा भवनं प्रविष्टः इति आह **यदा** इति.

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन।
अथाऽऽह तं मन्त्रदृशां वरीयान् यद् मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति।।१०।।

तदनन्तरं मन्त्रार्थं पृष्टः. **किल** इति वचनं स्वस्य तथा अनुसन्धाने व्यर्थगूढार्थभावकत्वाद् अनात्मवित्त्वं स्यादिति तन्निराकरणार्थम् उक्तम्. **पूर्वजेन** इति कथनावश्यकत्वम्. तथा भिन्नक्रमेण उक्तवान् इति आह **अथ आह** इति. सम्बन्धादिकम् अनपेक्ष्य भयादिकमपि अनपेक्ष्य **अथ** स्वतन्त्रतया **आह**. तस्य मन्त्रस्य प्रसिद्धिम् आह **तम्** इति. तादृशकथने हेतुः **मन्त्रदृशां वरीयान्** इति. यथा वेदे "**स एतं मन्त्रम् अपश्यद्**" ( )इति बृहस्पतिप्रभृतयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति, तथा नीतिशास्त्रेऽपि ये मन्त्रद्रष्टारः तेषां मध्ये वरीयान्. किञ्च. अस्य मन्त्रस्य सर्वलोकप्रसिद्धिः अस्ति इति आह **यद् मन्त्रिणः** इति. विदुरेण प्रोक्तं **वैदुरिकम्** इति. तेन प्रोक्तम् इति अधिकारसिद्धत्वात् सर्वजनीनप्रसिद्धिः ।।१०।।

मन्त्रमेवा आह **अजातशत्रोः** इति.

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं तितिक्षतो दुर्विषहं तवाऽऽगः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन्मध्ये इति पूर्वोक्तदोषत्रयेण अल्पीभूतसुकृतमध्ये।।९।।

यदोपेत्यत्र. **यद्** इति मन्त्रवाक्यम् ।।१०।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

यदोपहूतो इत्यत्र. **किल इति वचनम्** इति अर्थः. **स्वस्य** इति. शुकस्य इति अर्थः ।।१०।।

सहानुजो यत्र वृकोदराहिः श्वसन् रुषा यत् त्वमलं बिभेषि।।११।।

उपायचतुष्टयमध्ये दानमेव मन्त्रः. **दायम्** इति न हीनता. **अजातशत्रोः** इति विपरीतशङ्काभावः. तस्य अजातशत्रुत्वं न केवलं नामतः किन्तु कार्यतोऽपि इति आह अन्यैः **दुर्विषहम्** अपराधं सहते इति. अजातशत्रुत्वादेव अदानम् अस्तु इति आशङ्क्य भीमम् उपस्थापयति. **सहानुजः** इति. अनुजैः सह वर्तते इति. सादेशाभावः. अर्जुनादीनामपि क्रूरत्वं सूचितम्. यत्र यस्य राज्ञो निकटे **रुषा** श्वसन् 'वृकोदर'नामा **अहिः** अस्ति. न हि सर्प वैरं कार्यम् अकृत्वा निवर्त्तते. तस्मात् सन्तोषार्थं **दायं** देयम् इति अर्थः. ननु ते चत्वारः किं करिष्यन्ति? मम तादृशाः शतं पुत्राः सन्ति इति आशङ्क्य आह **यत् त्वमलं बिभेषि** इति. यस्माद् भीमाद् एकस्मादपि त्वमलं बिभेषि. आकाशवाणीश्रवणाद् एकएव भीमः सर्वान् मारयिष्यतीति शतमपि अप्रयोजकम्. विपरीतशङ्काऽपि निवारिता. आस्ते इति अर्थात्. अनेन भेदो दण्डश्च निवारितः. दायत्वाच्च अदाने न साम।।११।।

सहायाभावम् आशङ्क्य एकसहायेनैव त्रैलोक्यजयसामर्थ्यं भवतीति तं विशिनष्टि **पार्थांस्तु देवः** इति.

पार्थांस्तु देवो भगवान् मुकुन्दो गृहीतवान् स क्षितिदेवदेवः।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः।।१२।।

सहायार्थं प्रार्थनापि न अपेक्ष्यते. **तु** पुनः स्वयमेव गृहीतवान्. **पार्थान्** इति सम्बन्धेन बहुवचनेन च सर्वथा तदुद्योगो लक्ष्यते. नहि बहून् स्वकीयान् गृहीत्वा कश्चित् तूष्णीं तिष्ठति. देवत्वाद् न मानुषैः जेतुं शक्यः. अतएव दुर्योधनस्य दैत्यत्वाद् मारणमपि गम्यते. देवदैत्यानाम् अजेयत्वाय **भगवान्** इति. अनेन प्रारब्धकर्मापि चेद् विपरीतं भवेत्, तदपि अन्यथा कुर्याद् इति सूचितम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पार्थान् इत्यादि. पूर्वश्लोके एकस्य अजातशत्रोरेव कथनाद् अत्र बहुवचनं किम् अभिप्रायम् इति शङ्कायाम् आहुः **बहुवचनेन** इत्यादि. **लक्ष्यते** इति अजहत्स्वार्थया बोधनाद् न प्रतिज्ञाहानिः. जरासन्धस्य राजसूयारम्भे जितत्वात्

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

पार्थान् इत्यत्र **तदुद्योगः** इति. भगवता पाण्डवार्थम् उद्योगो लक्ष्यते तेन तत्कार्यपरत्वं सूचितं भवति इति अर्थः।।१२।।

कालजयाय **मुकुन्दः** इति. अन्येषामपि दुःखं दूरीकृत्य मोक्षदातुः कालजयः किं वक्तव्यः इति अर्थः. अनेन राज्यदानं च आवश्यकम् इति ज्ञापितम्. किञ्च. स **भगवान् क्षितिदेवदेवः** इति. क्षितिदेवाः ब्राह्मणाः तेषामपि देवः, तद्धितकर्तृत्वात्. अतो यत्र भगवान् तत्रैव ब्राह्मणाइति तव ब्राह्मणा अपि न सहायाः. किञ्च. **आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवः** इति. यो भगवान् स्मृतो ध्यातो वा सर्वम् अनिष्टं निवार्य राज्यादिकं प्रयच्छति, तत्र साक्षादेव भक्तानां हितार्थे भक्तपुर्याम् आस्ते. किञ्च. यदुदेवाः यादवाः यदोः वंशे उत्पन्नाः देवाः इति तेषामपि देवः इति यत्र भगवान् तत्रैव यादवाः इति. तव बन्धुसहायोऽपि नास्ति इति उक्तम्. किञ्च. **विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः** इति. नृदेवाः राजानः ते सर्वे विशेषेण निर्जिताः येन. तमपि विजिगीषतइति जरासन्धाद् अजेतृत्वेन सर्वे राजानः तद्वश्याः. अतः तव राजसहायोऽपि नास्ति इति उक्तम्. **नृदेवदेवाः** जरासन्धादयः ते वा निर्जिता येन. अतो निर्बलस्य तव जये कः प्रयास? इति भावः।।१२।।

दुर्योधनो न मन्यते इति चेत् तत्र आहः **स एष दोषः** इति.

स एष दोषः पुरुषद्विड् आस्ते गृहान् प्रविष्टो यम् अपत्यमत्या।
पुष्णासि कृष्णाद् विमुखो गतश्रीः त्यजाशु चैनं कुलकौशलाय।।१३।।

स प्रसिद्धः त्रिदोषो अयमेव. **दोषः** इति वचनात् तदनङ्गीकारो न बाधकः. **दोषः** सर्वैः उपायैः त्याज्यो न तु दोषानुरोधेन औषधं त्याज्यम् इति भावः. तस्य दोषत्वे हेतुम् आह **पुरुषद्विड्** इति. यः पुरुषं द्वेष्टि स दोषः. अन्यथा तस्यैव शरीरे तन्नियम्ये स्वयं स्थितः कथं तं द्वेष्टि! यस्य राज्ये ग्रामेऽपि स्थितः तं न द्वेष्टि, तत्र तच्छरीरे विद्यमानो रोगम् ऋते कथं द्विष्यात्! अतः पुरषद्वेषाद् दोषः इति अवसीयते*. तत्त्याग उपपत्तिरूपो निदानम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद्विजिगीषा न इदानीं युज्यते इति अरुच्या अर्थान्तरम् आहुः **नृदेवदेवाः** इत्यादि ।।१२।।

सः एषः इत्यत्र **निदानम्** इति. रोगोच्छेदमूलकारणम्. **अयम्** इति. **एषः** इत्यस्य अर्थनिर्देशः।।१३।।

---

* 'अध्यवसीयते' इति ख.

आस्ते इति शीघ्रं तस्य प्रतीकारः कर्त्तव्यः. साम्प्रतं स्वकार्यम् अकृत्वैव तूष्णीं तिष्ठति. उपेक्षितस्तु कुलमेव *नाशयिष्यति इति भावः. क्व अस्ति इति आकाङ्क्षायाम् आह सर्वत्रैव तव **गृहान् प्रविष्ट आस्ते**. ममत्वात् सर्वगृहप्रवेशने निवारणाशक्तिः. अयम् इति दूरे स्थितम् अङ्गुल्या निर्दिशति. तथापि अन्धत्वात् तां न द्रक्ष्यति इति प्रकारान्तरेण बोधयति. **यम् अपत्यमत्या** त्वं **पुष्णासि**. आपद्भ्यः त्रायते इति अपत्यम्. तन्मतिरेव. किञ्च. त्वञ्च कृष्णाद् विमुखः, यत्तः पुष्णासि. अतएव गतश्रीश्च भविष्यसि. तस्माद् अस्य सर्वानर्थमूलत्वात् ''त्यजेद् एकं कुलस्यार्थे'' इति न्यायाद् एनं त्यज. 'च'कारात् कृष्णवैमुख्यं च त्यज इति अर्थः.

यदा एवम् आक्रोशपूर्वकम् आज्ञारूपेण उक्तवान् तदा **असत्कृतः इति ऊचिवान्** इति सम्बन्धः.

इत्यूचिवान् तत्र सुयोधनेन प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ।।१४।।

इत्युचिवान् इति वा भिन्नम्. तत्र स्थाने आगतेन भ्रातुरन्तिके वा. **सुयोधन**इति तस्य अपकर्षार्थं वचनम्. ननु पितृव्यतिरस्कारं कथं कृतवान्? इति आशङ्क्य अन्तःक्रोधेन बहिः दुष्टैः आक्रान्तत्वाद् इति तृतीयान्तं विशेषणद्वयम्. प्रवृद्धो यः कोपः तेन स्फुरितम् अधरं यस्य. अनेन क्रोधेन लोभएव स्फुरितइति तदुक्तो दानरूपः उपायोऽपि असम्मतः इति सूचितम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यूचिवान् इत्यत्र. मन्त्रस्य श्लोकत्रयात्मकत्वेन पूर्वोक्ता या **आह** इति क्रिया एतन्दन्तसम्बन्धे पुनः वचनक्रिया व्यर्था इति आशङ्क्य पदसम्बन्धम् आहुः **इति ऊचिवान् इति सम्बन्धः** इति. इति ऊचिवान् इत्यस्य असत्कृतः इत्यनेन सम्बन्धः इति पूर्वोक्तोपसंहारएव अयं नतु क्रियान्तरम् इति अर्थः. मन्त्रस्य श्लोकद्वयात्मकत्वे **''स एषः''**(३।१।१३) इति वाक्यस्य क्रियाकाङ्क्षित्वात् तद् आदाय पक्षान्तरम् आहुः

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इति ऊचिवान् इत्यत्र. इति सम्बन्धः इति ।।१४।।

---

* 'नाशयति' इति क. ङ पाठः.

असत्कारो धिक्कारः, अग्रे वक्तव्यो वा. एवम् अप्रियकथनं धर्मनीतिविरूद्धं "**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयाद्**" इति स्मृतेः. प्रधानपरित्यागश्च नितिविरूद्धः. सोऽपि सन्माननेनैव बोधनीयो भवति. तथापि एवं वचनं परित्यागार्थमेव, भगवद्विमुखैः सह स्थातुम् अयुक्तत्वात्. स्नेहश्च न स्थापनीयः. चित्तस्य अतिदुष्टत्वात् सर्वथा परित्यागमपि न सहते. अतः एवं वचनम् एतद् अभिसन्धाया आहः **सत्स्पृहणीये**ति. सद्भिः स्पृहणीयं शीलं यस्य. एवमेव आसद्भिः सह स्थितौ तत्परित्यागार्थम् एवं, कर्त्तव्यम् इति सत्सपृहणीयता. **क्षत्ता** इति विश्वासपात्रत्वं सूचितम्. दुष्टचतुष्टयमध्ये दुर्योधनो मुख्यः. कर्ण-दुःशासन-शकुनयस्तु सहायाः. तद् आह तैः सहितः इति. अथवा. ननु मन्त्रस्य स्वहितत्वाद् अङ्गीकारमेव कथं न कृतवान्? इत्याहः* सद्भिरेव स्पृहणीयं शीलं यस्य इति. तस्य सपरिवारस्य असत्वाद् इति भावः।।१३-१४।।

क एनम् अत्रोपजुहाव जिह्मं दास्याः सुतं यद् बलिनैव पुष्टः।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते निर्वास्यताम् आशु पुराच्छ्वसानः।।१५।।

क एनम इति. लोकोक्त्या अधिक्षेपः. पित्रा समाहूतत्वं ज्ञात्वा अयुक्तकरणात् तमपि आक्षिपति इति ज्ञायते, स्वभाव-जाति-क्रियादुष्टस्य मन्त्रानर्हत्वात्. अयन्तु तादृशइति विशेषणत्रयम्. द्वयं सिद्धम्, क्रियैव तृतीया. **जिह्मः** कुटिलः छिद्रान्वेषी. "मया कापट्येन स्थातव्यम्, विश्वासं जनयता

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति ऊचिवान् इति वा भिन्नम् इति. **एवम् अप्रिये**त्यादि एतद् आरभ्य **सत्स्पृहणीयशीलः** इत्यस्य आभासो बोध्यः. अग्रे **तथापि** इति कथनाद् अत्र **यद्यपि** इति अध्याहार्यम्. **चित्तस्य** इत्यादि. दुर्योधनादिचित्तस्य तथात्वात् सः विदुरकृतं परित्यागमपि न मर्षयति, किन्तु विपक्षप्रवेशशङ्कया बध्नाति अतो हेतोः नीत्यैव तथा वचनम् इति अर्थः. एवं व्याख्यानस्य अतिदुरूहत्वात् प्रयोजनान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि ।।१४।।

कः एनम् इत्यत्र. विशेषेण द्वयस्यैव दर्शनात् कथं त्रयम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **क्रियैव** इत्यादि. परकृत्य आस्ते इति क्रिया. **सत्त्वादीनाम्** इति.

---

* 'इत्यतः आह' इति ख पाठः.

स्वावसरे अपकर्तव्यम्'' इति जिह्मलक्षणम्. तद् अद्य विदुरे स्पष्टं जातम्. स्वाधिकारानुसारेण भगवान् सर्वत्र तथा स्फुरति इति सत्वादीनाम् आपेक्षिकत्वं ज्ञापितम्. **दास्याः सुतम्** इति जातिदोषः. क्रियादोषं वक्तुं कृतघ्नताम् आह **यद् बलिनैव पुष्टः तस्मिन् प्रतीपः** इति. यथा आश्रितत्वात् चण्डालादिभ्यो बलिः दीयते तथा अयमपि पतितः*, ब्रह्मबीजस्य शूद्रायां जातत्वात्. अतएव 'एव'कारः. बलिपुष्टाश्च काका एवमेव भवन्ति इति ज्ञापितम्. पोषएव तथाभावे हेतुः. परेषां शत्रूणां कृत्ये आस्ते इति क्रियादोषः. दण्डो **निर्वास्यताम्** इति. **आशु** इति यावत् चित्ते तदुक्तं न प्रविश्यति तेषामपि तेनापि वधस्य अनुक्तत्वात् परित्यागस्यैव उक्तत्वाद् निर्वासनं दण्डः. श्वसानः प्राणमात्रावशेषः. असतां दृष्ट्या प्राणहरणापेक्षया अधिको अयं दण्डः. 'श्मशानः' इति पाठे यत्र स्थास्यति तेषाम् अमङ्गलं भविष्यति इति अर्थः. यमत्वेन मृतोपजीवित्वाद् वा. अतएव पुराद् निर्वास्य इति केवलं वचनम् उक्तवान्. एवं दशभिः श्लोकैः पूर्वावस्थापरित्यागहेतुः उक्तः. अनेन पूर्वदेहसम्बन्धिनोऽपि त्यक्ता इव।।१५।।

परित्यागम् आह

स इत्थम् अत्युल्बणकर्णबाणैः भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां गतव्यथोऽयाद् उरु मानयानः।।१६।।

स इत्थम् इति. अत्युल्बणत्वं शीघ्रकार्यकरणात्. दशैते बाणाः कर्णद्वारा हृदयं प्रविष्टाः. दशप्राणस्थानेषु **मर्मसु ताडितोऽपि भ्रातुः पुरः** इति मृत्युसन्निधौ इव बाणानां प्राणहारकत्वं दृष्टान्तीकृतम्. **ताडितोऽपि गतव्यथः**. तत्र हेतुः मायाम् अधिकं मानयानः. **धनुर्द्वारि निधाय** इति प्रतिपक्षगमन-शङ्कानिवर्तिता. निःसारणात् पूर्वमेव **अयात्,** स्वकर्तृकस्यैव परित्यागस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सदसदुदासीनादिभावानाम्. **चित्ते** इति. धृतराष्ट्रचित्ते।।१५।।

सः इत्थम् इत्यत्र वाक्यस्य एकत्वाद् बाणैः इति बहुत्वानुपपत्तिम् आशङ्क्य तत्समाधानाय आहुः **दशेति.** सुयोधन-तदनुगकृतौ पूर्वश्लोकोक्तावसत्कारौ एतच्छ्लोकोक्ता आह्वानाक्षेपादयोष्टा इति एवं दशकर्णबाणपद उत्तरपदलोपिनं बोधयितुम् आहुः **कर्णद्वारा**इत्यादि।।१६।।

---

*.प्रतीपः. ग.

हेतुत्वाद्, अन्यथा "**सर्वान् बलकृतान् अर्थान् अकृतान् मनुः अब्रवीद्**" इति विरोधः स्यात्।।१६।।

एवम् अपमानतो निर्विण्णस्य तीर्थादिजनित–सुकृत–परिपाकेन पृथिवी–जलयोः संस्कृतत्वाद् अधिकारिदेहे द्वयसम्पत्तिं निरूप्य तेजोनिरूपणार्थं सत्सङ्गो जात इति आहः **स निर्गतः** इति अष्टभिः.

चतुर्भिः भूमिसंस्कारः तथाऽन्यैश्च जलस्य च।

उत्तरोत्तरशेषत्वात् [क]तच्छेषोऽप्युच्यते स्फुटः ।।१।।

पुण्यदेशार्थगमनं पुण्यदेशे तथैव च।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः निर्गतः इत्यत्र **कारिकासु.** भूसंस्कारनिरूपणे सरित्सरः कथनस्य जलसंस्कारनिरूपणे तेजःसंस्कारक-सत्सङ्गकथनस्य किं प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः **उत्तरोत्तरे**त्यादि. पृथिवीजलतेजस्सु पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरशेषत्वात् तच्छेशः. तस्य संस्कारकस्य जलस्य तेजसः च अंशः शेषित्वाय स्फुटः उच्यते. तथाच एतज्ज्ञापनं प्रयोजनम् इति अर्थः. यद्यपि संस्कारकस्य संस्कार्यार्थत्वाद् विपरीतः शेष-शेषीभावः, तथापि संस्कार्यस्वरूपविचारे पृथिव्यपेक्षया जलस्य तदपेक्षया तेजसः च आन्तरतायाः क्रममुक्तिकथने सिद्धत्वात् पूर्वपूर्वस्यैव उत्तरोत्तरशेषत्वम् अतो न शङ्कालेशः. **पुण्यदेशे** इत्यत्र गमनम् इति अनुषङ्गः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

स निर्गतः इति. अष्टश्लोकानाम् अर्थः कारिकात्रयेण सङ्गृह्यते **चतुर्भिः** इत्यादि. आद्यैः चतुर्भिः इति अर्थः. **अन्यैः** इति. अवशिष्टैः इति अर्थः. 'च'कारात् सत्सङ्गेन तेजसोऽपि शुद्धिः ज्ञेया. ननु पृथिव्यादिक्रमेण त्रयाणां शुद्धौ किं गमकम्? इत्यतः आहुः **उत्तरोत्तरे**ति. पृथिव्याप्तेजसु उत्तरोत्तरशुद्धेः पूर्वपूर्वशुद्धिशेषत्वस्य सिद्धत्वात् उत्तरोत्तरस्य शेषभावोऽपि अनेन क्रमेण स्फुटः उच्यतइति एतदेव प्रयोजनम् इति भावः. उत्तरोत्तरशुद्धेः पूर्वशुद्धशेषत्वं नाम पूर्वशुद्ध्यधीनत्वमेव. एतच्च क्रममुक्तौ ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयः तेन आत्मनापोनलमूर्तिः इति अत्र स्फुटम् (१).

पुण्यदेशार्थगमनम् इत्यादिना क्रमेण श्लोकचतुष्टयार्थः उक्तः(२).

क. 'विशेषोप्युच्यते' इति मां३ पाठः.

तदङ्गानि फलं चेति चतुर्धा भूमिसत्क्रिया ।।२।।

[क]**जले सामान्यसम्बन्धो विशेषश्चापि तद्गतः ।**

साधनं च फलं चेति जलोक्तिश्च चतुर्विधा ।।३।।

मन्त्रगृहाद् निर्गतो न स्वगृहं गतः, किन्तु पुरादपि निर्गतः इति आह **स निर्गतः** इति.

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो गजाह्वयात् तीर्थपदः पदानि ।

अन्वाक्रमत् पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्त्तिः ।।१७।।

कौरवपुण्यलब्धः इति पूर्वजोपार्जितसुकृतेन प्राप्तो निर्गतश्चेद् वंशस्थापकसुकृतमेव तद्द्वारा निर्गतम् इति सूचितम्. पुण्यलब्धत्वं भगवत्स्थानगमनेऽपि[ख] हेतुः. सर्वतीर्थानि पादे यस्य इति. तस्य स्थानेषु इति तीर्थेष्वपि विशेषः, वैष्णवस्थानेष्वेव गतः इति अर्थः. अन्वाक्रमद् मध्ये स्थानानतिक्रमेण आक्रान्तवान्. राजनिवेशनवद् न स्थानमात्रम्, किन्तु नानामूर्त्या अभिमानेना अनुभावं प्रदर्शयन् स्वयम् अधिष्ठाय येषु स्थितः. तानि तीर्थानि इति पूर्वेण सम्बन्धः. **पुण्यचिकीर्षया** इति तत्त्वाज्ञानाद् उक्तम्, परमेश्वरप्राप्ति-साधनत्वाद् वा. अथवा उर्व्यां पुण्यचिकीर्षया, पुण्येन पृथिवीं संस्कर्तुम् इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदङ्गानि इति. संस्काराङ्गानि मेध्यविविक्तवृत्तित्वादीनि. **फलम्** इति. स्वशरीरसंस्कारार्थप्रयत्नस्य आनुषङ्गिकं भूमेः देवसम्बन्धित्वरूपं फलम्. **जले** सामान्यसम्बन्धः इति सरस्वतीसम्बन्धः. **तद्गतः** इति. सरस्वतीगतः. **साधनम्** इति. कृत्रिमतीर्थसेवनम्. **फलम्** इति. भगवदीयसङ्गः. **जलोक्तिः** इति. जलसंस्कारोक्तिः. **तत्त्वाज्ञानाद्** इति. विदुरस्य स्वस्वरूपस्य च अज्ञानात्. ननु सनत्सुजातादिसङ्गस्य जातत्वात् तत्त्वाज्ञानं न युक्तम् इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **परमेश्वरे**त्यादि. ननु स्वगृहे भगवतः आगमनेन साऽपि सिद्धैव इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **पृथिवीम्**

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

जले सामान्यसम्बन्धः इत्यादिना क्रमेण तदग्रिमश्लोकचतुष्टयार्थे उक्तम् इति ज्ञेयम् ।।१७।।

क. 'जलस्यान्य' इति मां३ पाठः. 'जले स अन्य' इति मां१ पाठः. 'स जले अन्यसम्बन्धो' इति जू. पाठः. ख . 'गमनहेतुः' इति मां३ पाठः.

दैत्याधिष्ठिते स संस्कारो न भविष्यतीति, **उर्व्या** यानि सहस्रमूर्तिः भगवान् अधिष्ठाय स्थितः इति उक्तम्. अनेन संस्कृते देवधिष्ठानात् पञ्चाग्निविद्यावद् भगवन्मूर्त्तिष्वेव तस्य संस्कारः प्रदर्शितः।।१७।।

विशेषम् आह

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जेष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरस्सु।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः।।१८।।

पुरेषु इति मथुरादिनगरेषु, परमेश्वरक्रीडास्थानत्वात्. गोकुलनिकट–वृन्दावनानि **उपवनानि**. **अद्रिः** गोवर्द्धनादिः. **कुञ्जानि** लतागृहाः. सर्वाणि एतानि भगवत्सम्बन्धात् पुण्यजनकान्यपि भक्तिजनकानि. **अपङ्कतोयेषु** इति कृष्णजलक्रिडादियोग्येषु सरितां **सरस्सु** कालियादिह्रदेषु. तेषु पर्यटने निमित्तम्, अनन्तमूर्तेः रासादिक्रीडाचिह्नैः सम्यग् अलङ्कृतेषु. जलस्थल–प्रधानेषु एकाकी चरति स्म इति अर्थः. **अनन्यो** भक्तो वा. अनेन पञ्चगुणा पृथिवी

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति. क्षेत्रादिरूपाम्. दैत्याधिष्ठित इति भूतले इति अर्थात्. ननु दैत्याधिष्ठानं न शिवालयादिरूपः इति न इदं विशेषणतात्पर्यम् इत्यतः आहुः **अनेन** इत्यादि. तथाच यथा प्रोक्षणादिक्रियया व्रीह्यादियज्ञनिवर्त्तनरूपो अतिशयः उदेति. तथा क्षेत्रेषु तद्गमनादिना भगवन्मूर्त्तिषु अनुभावप्रदर्शनादिरूपो यो अतिशयः, सो अनेन विशेषेण प्रदर्शितः इति अर्थः. एवञ्च अनुभावदर्शनादिरूपो विदुरगोलकसंस्कारो अत्र मुख्यः, अन्येष्वपि अनुभावप्रदर्शकत्वरूपो भगवन्मूर्तिक्षेत्रादिषु आनुषङ्गिकः इति द्विविधोऽपि अत्र विवक्षितः इति ज्ञापितम्. ‘‘**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि**’’(भाग.पुरा.१।१३।१०) इति वाक्यस्वारस्यात्. तेन स्वाध्यायनियमाधीतमन्त्राणां यथा पुरश्चरणादिभिः शीघ्रफलदत्वं, तथा विदुरक्रियया भगवन्मूर्त्यादिषु विशेषानुभावप्रदर्शकत्वम् इति सिद्ध्यति ।।१७।।

पुरेषु इत्यत्र. **भक्तिजनकानि** इति. एतेन वैदुरिकशरीरे अतिशयो भक्त्याधिक्यानुकूलरूपो बोधितः. **अनेन** इत्यादि. भूतान्तरगुणानाम् अग्रे वाच्यत्वाद् अत्र सैव तथाविधा संस्कृता इति अर्थः. घ्राण-स्पर्शन-रसन-दर्शनक्रियाभिः विषयस्य जनकस्य च संस्कारो युगपदेव सम्भवति. ननु शब्दस्य ग्रहणजननगोलकयोः भेदाद्

संस्कृता इति ज्ञापितम्. तत्र पृथिवी द्विविधा मृत्पाषाणभेदेन, पुरेषु अद्रिषु इति. उपवनेन गन्धः, कुञ्जेषु स्पर्शः, सरस्सु रसः, अनन्तलिङ्गसमलङ्कृतत्वेन रूपम्; कुञ्जेषु वा शब्दः, अपङ्कतोयेषु इति रसः, सरस्सु इति स्पर्शः. अनन्यत्वेनैव मौनं सिद्धं, तेन वा शब्दः संस्कृतः।।१८।।

साधनानि आह

गां पर्यटन् मेध्यविविक्तवृत्तिः सदाऽऽप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो व्रतानि चेरे हरितोषणानि।।१९।।

गां पर्यटन् इति. एते सप्तत्वगादिधातुसंस्काराः. व्रतानि अन्तःकरण-संस्कारकाणि. एकाकिपरिभ्रमणं भगवच्चरित्रस्य अतिगोप्यत्वात्. एवं दर्शनेन किञ्चिद् भक्त्युत्पत्तेः कृष्णप्राप्त्यभावाद् विरहेण तत्प्राप्तयएव व्रतानि कृतवान्. अत्र एवं क्रमः. अन्वेषणार्थं प्रथमं पर्यटनं, ततो अन्तर्बहिर्नियमाः, ततोपि व्रतानि. तत्र मेध्ये एकान्ते ध्यानद्यर्थम् उपवेशनादिरूपा स्थितिः यस्य इति. पवित्रैकरात्रान्तरिता आहारादिजीविका यस्य इति वा. त्रिकालस्नान-भूशयनाभ्यङ्ग-वर्जनादयः त्रयो गुणाः दोषत्रयनिवारकाः.

ननु एवं करणे बन्धुभिः कथं न बद्धः? तत्र आह **अलक्षितः स्वैः** इति. तत्र हेतुः **अवधूतवेषः** कृत्रिमवेषधारी. व्रतानि चत्वारि : एकादश्युपवासः, सर्वभूतदया, यथालाभसन्तोषः, सर्वेन्द्रियोपशमश्च इति. एतानि भगवत्तोष-हेतुभूतानि।।१९।।

फलम् आह

इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं कालेन यावद् गतवान् प्रभासम्।
तावच् छशास क्षितिम् एकचक्राम् एकातपत्राम् अजितेन पार्थः।।२०।।

इत्थम् इति. शुद्धो हि देवदेशे तिष्ठतीति पूर्वकामनापि सम्पूर्णा. ज्ञापकं च एतत्फलस्य. यथा असदधिष्ठानं भूमौ गतं तथा शरीरेऽपि इति. पुण्याधिक्याद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यतः आहुः **अनन्यत्वेन** इत्यादि ।।१८।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इत्थम् इत्यत्र. **यथा असदधिष्ठानम्** इति 'तावत्' शब्देन उच्यते. तीर्थपर्यन्तमेव इति ।।२०।।

भारतएव पर्यटनं बहुनाऽपि कालेन. **यावत्** प्रभासपर्यन्तं **गतवान् तावद्** अन्यथा सर्वम् आसीद् इति आह **तावद्** इति. एकस्य चक्रं सैन्यं यस्याम्. सैन्यं वा, राजचिह्नं वा अन्यस्य नास्ति इति अर्थः. भारतमेव वर्षं यावत्प्रभासं तावत् शब्देन उच्यते. **तावद्** इति अर्थ विशेषे वा. अस्य तीर्थपर्यटनमेव भगवद्भक्तानां भगवता राज्योपलम्भने हेतुः. **अजितेन** इति सामर्थ्यम्. **पार्थः** इति हेतुः।।२०।।

एतत्तु पूर्वं जातमपि असम्भावनया जिज्ञासाभावाद् न ज्ञातवान्. प्रभासेतु, अधिकारिणो देहपरित्यागार्थं तत्स्थानम् इति, तत्र गतो बहिश्चित्तइव जातः. ततः शुश्राव इति आह

तत्राऽथ शुश्राव सुहृद् विनष्टिं वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।
संस्पर्धया दग्धमथाऽनुशोचन् सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम्।।२१।।

तत्र अथ इति. **अथ** इति भिन्नक्रमे. सुहृदां विनष्टिं श्रुतवान्. तस्य शोकहेतुत्वाय विशेषणम्. सुहृद्विनष्टिमेव निरूपयति **संस्पद्र्धया दग्धम्** इति. अनुवादे धर्मप्राधान्यम्, निरूपणे धर्मिणः इति वैपरीत्यम् अवस्थाभेदेन. औदासीन्यशोकनिरूपणार्थं*, उपपादनएव विशेषणम्. **वनं यथा वेणुजवह्नि–संश्रयम्** इति. वेणुजो वह्निः सम्याग् आश्रयो यस्य, सम्यक् श्रयते यम् इति वा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्र अथ इत्यत्र. **तस्य** इति. श्रवणस्य. **विशेषणम्** इति. 'सुहृत्'पदम् ननु एवं सति तृतीयपादोक्तस्य विशेषणान्तरस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अनुवादे**

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तत्राऽथ इत्यत्र. **तस्य** इति. विनाश्यस्य इति अर्थः. **विशेषणम्** इति. विनष्टौ सुहृद् इति विशेषणम् इति अर्थः. **अनुवादे धर्मप्राधान्यम्** इत्यादिः. भूतपूर्वसुदाहृदिनाशानुवादे विनाशधर्मस्यैव श्रवणक्रियाकर्मत्वेन निरूपणात् प्राधान्यं निरूप्यते. अनुशोकनिरूपणे च संस्पर्धया दग्धम् इति धर्मिणः प्राधान्यं निरूप्यते. तच्च विपरीतं धर्म्यनुवादस्यैव मुख्यत्वात्. तथाऽपि यत् तथा निरूपणं तत्तु धर्मस्यैव प्राधान्यं बोधयितुम्. तेन धर्माधीनैव धर्मिणः अवस्था इति ज्ञापितम्. तथाच पूर्वं कौरवाणां हृष्टपुष्टत्वेन तदा औदासीन्यमेव विदुरस्य स्थितम्, इदानीन्तु विनाशधर्मं प्रधानीकृत्य तच्छोकम् इति भावः. **उपपादनएव** इति. शोकोपपादनार्थमेव वनं यथा

---

*.विशेषणार्थम्. ख. ग. थ. च. छ.

अर्थः. संस्पद्र्धया दग्धम् इति अन्यायनाशः. **तत्र** प्रभासे. संस्पद्र्धिनां भवतु नाशः, तत्सम्बन्धात् सर्वेऽपि सुहृदो नष्टाइति शोकः. नाशे दृष्टान्तः. वेणुभ्यां जातो वह्निः न तावन्मात्रं नाशयति किन्तु वनमेव सर्वम्. तद्वत् कौरवपाण्डव-संर्स्पद्धया इति नाशे हेतुः. अनेना अनुपयोगनाशः सूचितः. अतएव अनुशोकः.

सरस्वती धर्महेतुः जलसंस्काररूपिणी।

भक्तिहेतुस्तु यमुना सत्सङ्गात् तैजसी स्मृता।

ज्ञानहेतुस्तुगङ्गा स्यात् बुद्धिसंस्कारकत्वतः।।१।।

प्रत्यक् स्रतो अभिमुखम्. **तूष्णीं** शोचन्नित्यप्रकटत्वाय. द्वारका-गमनाभावाय एवम् उक्तम्.।।२१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. बहुकालगमनोत्तरमपि यत् तत्रत्यैः अनूद्यते तत् सर्वनाशकत्वरूपधर्म-प्राधान्येनैव, नतु कौरवनाशरूपधर्मिप्राधान्येन इति वैपरीत्यं धर्मिणः पूर्वं कथनं विनाशस्य अवस्थाभेदेन औदासीन्यशोकयोः निरूपणार्थम् इति अर्थः ।।२१।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इति दृष्टान्तगर्भिणं विशेषणं इति अर्थः. वेणुदृष्टान्तबोधितम् इति अर्थः. धर्ममम् आहुः **तत्र प्रभासे** इत्यादि.

प्रसङ्गात् सार्धकारिकया सरस्वत्यादीनां स्वरूपम् आहुः **सरस्वती** इति. **जलसंस्कारे**ति. जलस्य संस्कारं भगवत्सेवानुकूलं निरूपयति इति तथा भक्तिहेतुः इति भक्तेः कायिकव्यापाररूपत्वात् कायस्य च पृथिवीप्राधान्यात् अनेन पृथिवीशुद्धिः उक्ता इति ज्ञेयम्. **सत्सङ्गात्** इति. सत्सङ्गप्राप्य इति अर्थ. ''**तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श**'' (३।१।२४) इति सत्सङ्गनिरूपाणात् तेजसः शुद्धिः उक्ता इति भावः. वाय्वाका-शयोस्तु निर्लेपत्वेन स्वतएव प्रायः शुद्धत्वात् न उक्ता. वस्तुतस्तु तीर्थे त्रयाणामेव शुद्धिः. ''**वार्तां सखे! कीर्तय तीर्थकीर्तेः**''(३।१।४५) इत्यादिना भगवदीयप्रश्नैः तत्समरणेन वायुः संस्कृतः. तत्र ''**स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम्**'' (३।१।२५) इति भगवत्कथाप्रश्नेन हृदयाकाशशुद्धिः उक्ता इति ज्ञेयम्. **ज्ञानहेतुः** इति. अनेन अन्तःकरणशुद्धिः उक्ता. **अप्रकटत्वाय** इति. ''कोऽपि मा द्राक्षीः'' इति. बुद्ध्या इति अर्थः. ननु तदापि कम् अर्थम्? इत्यतः आहुः **द्वारका** इति. इदानीं पर्यन्तं मौसलस्य

ननु भगवद्वासभूतद्वारकात्यागेन वृथा अन्यत्र गतः इति आशङ्क्य, तत्र कृष्णस्मारकाणि बहूनि सन्ति इति आह **तस्याम्** इति द्वयेन

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च पृथोरथाग्नेर् असितस्य वायोः।

तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे।।२२।।

तस्यां सरस्वत्याम् एकादशतीर्थानि प्रसिद्धानि. अत्र व्युत्क्रमो जलप्राधान्याद् जलक्रमानुरोधेन. तत्र सरस्वत्यामेव त्रितकूपम् अस्ति. तत् प्रथमं निर्दिशति, कूप्यानामेव अपां प्राथम्यात्. एवम् अन्यान्यपि ज्ञातव्यानि. **उशनसा**दीनां तपःस्थानानि तानि. **मनुः** स्वायम्भुवः. **पृथुः** वैन्यः. तीर्थचतुष्टये सेविते शोकादयः सर्वे व्यावृत्ताः. त्रितस्तु कूपे पतितः तस्मात् सङ्कटाद् निस्तीर्णः, तथा अयमपि शोकसङ्कटाद् निस्तीर्णः. उशना तत्र मृतसञ्जीविनीं विद्यां प्राप्तवान तथा अयं मृतो जीवितः. मनोस्तु इष्टसिद्धिः ज्ञानरूपा, अस्याऽपि शोकनिवृत्तिः ज्ञानोत्पत्तिः तत्र. पृथुस्तु पूर्वजातसर्वदोषनिवर्तकः. एवं चतुर्भिः पूर्वावस्था गता, तेन प्राप्ता. अतः परम् अथ भिन्नक्रमेण विशोकः तीर्थानि कृतवान् इति आह **अग्नेः** इति. **असितः** ऋषीः, वायुः देवता, **सुदासो** राजा, **गवां** गोसत्रस्थानं गोतीर्थं, **गुहः** कुमारः, **श्राद्धदेवो** वैवस्वतमनुः. एतानि सप्ततीर्थानि अवश्यं सप्तधातुशोधकानि।।२२।।

अन्यानि प्रकीर्णकानि प्लक्षजातपर्यन्तं निरन्तरं कृतानि सर्वशोधकानि जातानि इति आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्याम् इत्यत्र. **गता** इति नाशश्रवणाद् गता ।।२२।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

असञ्जातत्वात् यादवैः ज्ञातः सन् विदुरः तत्रैव नीयेत इति तथा इति भावः ।।२१।।

तस्याम् इत्यत्र. **व्युत्क्रमः** इति. सरस्वत्यां तीर्थानि श्लोकोक्तक्रमेण न स्थितानि इति तथा इति अर्थः. **कूप्यानामेव** इति. तैत्तिरीये च जलभेदनिरूपणे ''**कूप्याभ्यः स्वाहा**''(तैत्ति.संहि.७।४।१२) इति. कूप्यानामेव अपाम् इति प्राधान्य-श्रावणात् तथा इति भावः. **एवं चतुर्भिः** इति. त्रेतादीनां चतुर्भिः तीर्थैः पूर्वया विशोकावस्था स्थिता सा सुहृद्विनष्टीश्रवणाद् गता अनेन विदुरेण पुनः प्राप्ता इति अर्थः।।२२।।

अन्यानि च इत्यत्र. **प्लक्षजातपर्यन्तम्** इति..... ।।२३।।

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः कृतानि नानाऽऽयतनानि विष्णोः।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि यद् दर्शनात् कृष्णम् अनुस्मरन्ति।।२३।।

अन्यानि च इति. एतानि तपःकरणाद् लोके तथाख्यातानि नित्यान्येव. अन्यानि तु **द्विजदेवैः** ब्राह्मणैः देवैश्च कृतानि, अतएव **नाना आयतनानि** नाना स्थानानि येषु तीर्थेषु. किञ्च. तेषु आयतेनेषु विष्णोः **प्रत्यङ्गमुख्याङ्कित–मन्दिराणि** सन्ति. प्रत्याङ्गानि आयुधानि, तेषु मुख्यं सुदर्शनम्. चक्राङ्कितानि चक्रेण उपरिचिह्नितानि भगवन्मन्दिराणि भवन्ति. किं तावता? इत्यत आह **यद् दर्शनात् कृष्णम् अनुस्मरन्ति** इति. भगवत्स्मरणं बहुजन्मसुकृतेन भवति. तद् अत्र चिह्नदर्शनेनैव भवतीति तीर्थानाम् आधिक्यम्. साङ्गस्य भगवतः तत्र स्थितिः इत्यपि. अनेन स्मारकदर्शनात् चिरं स्थित्वा तत्र–तत्र गतः इति लक्ष्यते. अतएव कालविलम्बाद् यदुकुलनिवृत्तिरपि जाता।।२३।।

एवं तीरगमनेनैव सर्वे देशा अतिक्रान्ता इति आह

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रम् ऋद्धं सौवीर–मत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद् यमुनाम् उपेत्य तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श।।२४।।

ततस्तु अतिव्रजय इति. **ऋद्धम्** इत्यनेन तत्र भगवान् अस्ति इति ज्ञापितम्. **सौवीर**देशो गुर्जरदेशः, **मत्स्याः** ततो अर्वाक्. **कुरुजाङ्गल**देशः कुरुक्षेत्रदेशः. सर्वत्र ग्रामैकरात्रविधिना समागमने षट्त्रिंशद्वर्षा जाताः. तद् आह **कालेन तावद्** इति. यावत्कालं भगवान् स्थितः, मौशलं च जातं, **तावद् यमुनाम् उपेत्य** तावता* कालेन यमुनां गतः **तत्र उद्धवं ददर्श** इति सम्बन्धः. दर्शने हेतुः **भागवतम्** इति. इदं दर्शनं प्रत्ययजनकम्. यावता उद्धवः प्राप्तः तावता स्वयमपि तत्र गतः इति।।२४।।

अतःपरं सत्सङ्गेन अग्निसंयोगवत् स्वस्याऽपि तेजःप्राप्तिरिति तं विशिनष्टि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ततः इत्यत्र. **प्रत्ययजनकम्** इति. श्रुतस्य अर्थस्य प्रकारयाथार्थ्य-बोधजनकम् ।।२४।।

---

* 'तात्कालेन' इति जु,अ,मां१,मां२,मां३ पाठाः.

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं बृहस्पतेः प्राप्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं स्वानाम् अपृच्छद् भगवत्प्रजानाम्।।२५।।

स वासुदेवानुचरम् इति. भगवद्भक्तत्वेऽपि सेवकत्वं विशेषः. वासुदेवसेवकत्वाद् मोक्षोपयोगित्वं तद्दर्शनस्य. अनेन सम्भाषणीयत्वं सूचितम्. प्रकटेऽपि नीतिज्ञत्वाद् अन्यं न बोधयिष्यतीति विशेषणम्. **बृहस्पतेः प्राप्तनयम्** इति. बृहस्पतेः सकाशात् प्राप्तो नयो नीतिशास्त्रं येन. 'प्राक्तनयम्' इति पाठे पूर्वम् उद्धवः पुत्रत्वेन स्थितइति देवगुह्याभिज्ञः. प्रशान्तत्वाद् न स्वयम् आसज्जते. प्रतीतत्वाद् न परिहारः सम्भवति. **आलिङ्ग्य गाढम्** इति उभयोः भगवदीयत्वात् पूर्वस्नेहः सूचितः. प्रणयेन इति उभयत्र. स्वानां भद्रत्वे हेतुः **भगवत्प्रजानम्** इति. भगवत्परिपाल्यानाम्, भगवता अंशावतारेण उत्पादितानां वा. तस्मिन् दृष्टे स्वयमपि भगवत्सम्बन्धी जातः इति तदीयानां स्मरणेन पञ्चभूतेषु वायुः संस्कृतः।।२५।।

भगवदीयानां कुशलं द्विविधम्, सामान्य–विशेषरूपेण. तत्र सामान्यं भगवत्पोष्याणां कुशलं भगवत्स्थितिसाध्यमिति प्रथमं हेतुभूतां भगवत्स्थितिं पृच्छति

कच्चित् पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्य–पाद्मानुवृत्येह किलाऽवतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ।।२६।।

कच्चिद् इति. अवतारावेशाभिप्रायेण द्विवचनम् स्वगतभेदाभावाद् भगवन्मूर्तीनाम्. **पुराणौ** इति पुरुषोत्तमौ. जीववैलक्षण्याय उक्तम्. अविशेषेण कार्यम् आह नाभौ भवे पद्मे आविर्भूतो ब्रह्मा **स्वनाभ्यपाद्मः**, तस्य **अनुवृत्तिः** प्रार्थना. **किल** इति पुराणादौ तथाप्रसिद्धत्वात्. भूम्याः कुशलं भारावतरणं कृत्वा, सर्वेषां कुशलं यथा भवति तथा दत्तावसरौ **कृतक्षणौ**, निश्चिन्ततया स्वानन्दानुभवे निर्मितक्षणौ वा. वसुदेवगृहे किम् आसाते? इति प्रश्नः. अनेन सर्वेषां साधारणं कुशलं पृष्टम्।।२६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः वासुदेवेत्यत्र. **उभयत्र** इति आलिङ्गने प्रश्ने च. हेतुः इति शेषः. **वायुः** इति. स्मरणसमानाधिकरणप्राणरूपो वायुः ।।२५।।

कच्चित् पुराणौ इत्यत्र. 'स्वगत'शब्दो अन्तर्यामिबोधकः ।।२६।।

विशेषं पृच्छति

कच्चित् कुरूणां परमः सुहृन्नो भामः स आस्ते सुखम् अङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसॄणां पितृवद् ददाति वरान् वदान्यो वरतर्पणेन ।।२७।।

कच्चित् कुरूणाम् इति. प्रथमं वसुदेवकुशलप्रश्ने हेतुः **कुरूणां सुहृन्नो भाम**श्च. भामस्तु भगिनीपतिः. प्रतिविवाहसम्भावनया देवक्यपि स्वभगिनि इति अभिप्रायेण उक्तम्. कौरवगृहे वा तस्या अन्यो विवाहः. पृथापेक्षया वसुदेवस्य ज्येष्ठत्वात् देशन्यायेन कनिष्ठभगिनीभर्ता शालकः इति भावुकत्वम्. किञ्च. न सम्बन्धमात्रं वसुदेवे, किन्तु उपजीव्यः इति आह **यो वै स्वसॄणाम्** इति. शूरः श्वशुरो ददात्येव, स्वयमपि भगिनीनां ददाति. **वरान्** अभिलषितार्थान्. अविहितत्वाद् न चतुर्थी. अधिकदाने हेतुः **वदान्यः** इति. भगिनीनां भर्तृतर्पणमपि कृत्वा।।२७।।

यादवानां मध्ये सर्वतः उत्तमं प्रद्युम्नं पृच्छति

कच्चिद् वरूथाधिपतिर् यदूनां प्रद्युम्न आस्ते [क]सुखम् अङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवत्तोऽभिलेभे आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे ।।२८।।

कच्चिद् इति. **वरूथाधिपतिः** सेनापतिः. यदूनां मध्ये वीरः. यदूनां वा वरूथाधिपतिः. स्वतो वीरः सेनातो जन्मपरम्परया च. तद् आह **प्रद्युम्नः** इति. प्रकृष्टधनात्मकः. अतो राजापेक्षया प्रथमं पृष्टः. किञ्च. स पूर्वं सर्गहेतुः कामः. [ख]यं रुक्मिणी भगवन्तं प्रार्थयित्वा, वंशजननार्थं विप्रान् आराध्य, धर्मसिद्ध्यर्थं तदर्थं तपः कृत्वा रुक्मिणी तं लेभे. **आराध्य विप्रान्** इति शक्त्यतिशयाधानं कृतं गम्यते. **भगवत्तः** इति पुत्रार्थमेव यत्नः।।२८।।

कच्चित् सुखं सात्वतवृष्णिभोज–दाशार्हकाणाम् अधिपः स आस्ते ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कच्चिद्वरूथेत्यत्र. **शक्त्यतिशयाधानम्** इति. पूर्ववद् रुद्रपराभवो मा भूद् इति एतदर्थं तथाकृतम् इति अर्थः ।।२८।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

क्वचित् कुरूणाम् इत्यत्र. **प्रतिविवाह** इति. ..।।२७।।

क. 'मुखम्' इति मुद्रितपाठः. ख. 'तम्' इति जू, अ, मां१,मां२,मां३ पाठः

यमभ्यषिञ्चत् शतपत्रनेत्रो नृपासनाशां परिहृत्य दूरात्।।२९।।

कच्चित् सुखम् इति. राज्ञो राज्यन्तु काकतालीयन्यायेन आगतम् इति आह **यमभ्यषिञ्चद्** इति. मृतपुत्रस्य दुःखाभावेन राज्यस्वीकारे हेतुः **शतपत्रनेत्रः** इति. दृष्ट्यैव सर्वतापहारी कमलनयनः. **दुराद्** इति पुत्रपौत्रद्वाराऽपि।।२९।।

निरतिशयस्वरूपसामर्थ्यसद्भावात् साम्बादीन् माहात्म्यस्वरूपे वदन् पृच्छति

कच्चिद् हरेः सौम्य सुतः सदृक्ष आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे।।३०।।

कच्चिद् हरेः इति. सम्बोधनानि तत्र-तत्र कथने हेतुभूतानि. हरेरेव **सदृक्षो रथिनामग्रणीः साधु** आस्ते इति. 'साम्ब'पदेन च पार्वत्या सहितो महादेवएव अवतीर्णः इति ज्ञायते. अतएव तस्य जननं न प्राकृततया शक्यम् इति आह **असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या** इति. जाम्बवान् बले भगवत्तुल्यो भक्तश्च, तस्य कन्या ततोऽपि व्रताढ्या. तस्य स्वरूपतः सामर्थ्यम् आह **देवं गुहम्** इति. गुहस्य देवत्वम् उत्कर्षो भूतगणमध्यपातित्वाभावाय. अम्बिकया अग्निपत्न्याम् अन्तर्भूतया. अयमपि तस्य उत्कर्षः।।३०।।

शूरान् उक्त्वा शूरभक्तम् आह

क्षेमं स कच्चिद् युयुधान आस्ते यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः।
लेभेऽजसाऽधोक्षजसेवयैव गतिं तदीयां यतिभिर् दुरापाम्।।३१।।

क्षेमं स कच्चिद् इति. **युयुधानः** सात्यकिः अर्जुनशिष्यः. **गतिं** परमभक्तिं फलरूपाम्. तत्र साधनं भगवत्सेवैव, न तु ज्ञानमपि इति आह **यतिभिः दुरापाम्** इति।।३१।।

परमभक्तम् आह

कच्चिद् बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

कच्चिद्धरेः इत्यत्र. **सम्बोधनानि** इति. उक्तवक्ष्यमाणश्लेकेषु सम्बोधनानि तत्र-तत्र स्वरूपमाहात्म्यकथने हेतुभूतानि सम्मतिबोधकानि इति अर्थः. **अग्निपत्न्ये**ति।।३०।।

यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः।।३२।।

कच्चिद् बुधः इति. अतएव बुधः. **अनमीवो** नीरोगः. कृष्णसेवा–योग्यत्वाय तथा प्रश्नः. **श्वफल्कपुत्रो** अक्रूरः. **भगवत्प्रपन्नः** शरणागतः. तस्य भक्तिः लोके प्रसिद्धा इति आह **यः कृष्णपादाङ्किते**ति. **मार्गपांसुः** अत्यन्तम् अपवित्रः, सोऽपि कृष्णपादाङ्कित इति गङ्गापेक्षया तस्य उत्तमत्वं मत्वा तत्र लोटनं कृतवान्. **अचेष्टते**ति भक्त्यावेशेन लौकिकपदार्थ–ज्ञानाभावः सूचितः. प्रबोधितोऽपि भक्त्याविष्टो न प्रबुद्ध इति आह **प्रेमविभिन्नधैर्यः** इति. धीरो हि सर्वग्रहणे समर्थः।।३२।।

यद् भक्त्या पुत्रत्वमपि [क]प्राप्तो हरिः ताम् अतिभक्तां पृच्छति:

कच्चित् शिवं देवकभोजपुत्र्या विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं त्रयी यथा यज्ञवितानम् अर्थम् ।।३३।।

कच्चिच्छिवम् इति. 'भोज'इति वंशनाम. देवकएव भोजः. पुत्रत्वम् अघटमानम् आशङ्क्य दृष्टान्तः, अदितिः यथा वामनमाता. विष्णुरेव प्रजा यस्याः. देवानां मातेति सर्वदेवाः तस्याम् आविर्भूता इति भगवानपि स्वयम् आविर्भूतः. पुत्रत्वं च गर्भस्थितिमात्रेण, न जननात्. तद् आह **या वै स्वगर्भेण दधार देवम्** इति. धारणमपि सर्वलोकार्थम्. तद् आह **त्रयी यथा** इति. गर्भस्थितिमात्रेण जनकत्वं वारयन् माहात्म्यम् उक्तं भवति. **अर्थम्** इति सहजसम्बन्धरूपत्वाद् अन्तर्यामितया विद्यमानएव प्रादुर्भूतः इति सूचितम्।।३३।।

अनिरुद्धे जीवस्योत्कर्षभावेन आविष्टस्य भगवतएव माहात्म्यं वदन् स्तौति

अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यम् आमनन्ति स्म ह शब्दयोनिं मनोमयं सत्वतुरीयतत्त्वम् ।।३४।।

अपि इति. **भगवान्** अनिरुद्धः. **सात्वतां** वैष्णवानां सर्वकामपूरकः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कच्चिच्छिवम् इत्यत्र. **उक्तं भवति** इति. त्रयीदृष्टान्तेन उक्तं भवति ।।३३।।

क. 'गतो' इति जु,मां१,मां२ पाठः.

अनिरुद्धएव हि पालकः. स हि मनसो अधिष्ठात्रि देवता. अतएव **यं शब्दयोनिम् आमनन्ति. स्म** इति प्रसिद्धे. "**मनः पूर्वरूपं वाग् उत्तररूपम्**" (ऐत. उप.१।१।३) इति श्रुतेः. **ह** इति आश्चर्यम् तादृशस्य अवतारः इति. यतो अयं मनोमयः, तद्देवतात्वेनैव प्रसिद्धः; अतएव न केनाऽपि रोद्धुं शक्यतइति अनिरुद्धः. किञ्च. **सत्वस्य** अन्तःकरणस्य **तुरीयं** यद् मनः तस्य परमार्थतत्त्वम्. अनेन सर्वात्मत्वं तस्य लोकसिद्धमपि इति उक्तम्।।३४।।

एवं कतिपयान् विशेषेण पृष्ट्वा अन्यान् सर्वान् एकेन पृच्छति

अपिस्विद् अन्ये च निजात्मदैवम् अनन्यवृत्या समनुव्रताये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्ण–गदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ।।३५।।

अपि स्विदन्ये च इति. निजश्च असौ आत्मा च चैतन्यरूपः. तस्याऽपि यो देवः तादृशम्. अनन्यवृत्या सर्वभावेन ये तदेकनिष्ठा हृदीकादयः. **सत्यात्मजाः** सत्यभामापुत्राः. **चारुदेष्णः** प्रद्युम्नभ्राता. **गदादयो** भ्रात्रादयः. 'आदि'शब्देन सर्वे सङ्गृहीताः. तेषां चरित्रमपि किं समीचीनम्? इति प्रश्नः।।३५।।

युधिष्ठिरस्य कुशलं पृच्छति

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत् सभायां साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ।।३६।।

अपि स्वदोर्भ्याम् इति. असाध्यसाधने हेतुः **विजयाच्युताभ्याम्** इति. तौ हि नरनारायणौ, अनिरुद्धांशौ धर्मरक्षकौ. राजा च धर्मः. बाहुभ्यां च आत्मा रक्ष्यते, अतः उक्तं **स्वदोर्भ्याम्** इति. **विजयो** अर्जुनः. **अच्युतो** भगवान्. **सेतुं** मर्यादां परम्परागताम्. **धर्मेण** [क]विहितप्रकारेण. किं परिपालयति? इति पश्नः. धर्मत्वेन धर्मतः परिपालनं सिद्धमेव, किम् इति पुनः पृच्छ्यते इति आशङ्क्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अपिस्विदास्ते इत्यत्र **लोकसिद्धम्** इति मनसः [ख]आत्माभेदस्य लोके प्रसिद्धत्वाद् इति अर्थः।।३४।।

अपि स्वदोर्भ्याम् इत्यत्र. **गुणद्वयम्** इति राजसूयकृतं साम्राज्यलक्ष्मीः

क. 'उचित' इति मां१,मां३ पाठः. ख.आमनस्यात्माभेदस्य इति पाठः.

सिंहासनस्या अनर्थहेतुत्वम् आह **दुर्योधनः** इति. विविधो जयो विजयः, तस्य परम्परा यस्याम्, तादृशलक्ष्म्या. विजयो अर्जुनः *तस्य अनुवृत्त्या सेवया साम्राज्यलक्ष्म्या च यत् सभायां दुर्योधनो अतप्यत इति भिन्नं वा. राज्ञस्तु [१]गुणद्वयम् अधिकम् अस्ति इति सुतरां तापः सम्भवति इति भावः।।३६।।

भीमं पृच्छति

किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याऽङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ।।३७।।

किं वा इति. कृतापराधेषु **अमर्षी भीमो अघमतिः किम्** इति प्रश्नः. अघमत्या अमर्षि किम् इति वा. **अघमतिः** पापमतिः मारकः इति अर्थः. अघमत्या मारयिष्यामि इति बुद्ध्या. अघम् अपराधं दण्डरूपम्, अत्यमर्षी भीमः इति वा. अत्यमर्षित्वे दृष्टान्तः. **दीर्घतमं** दीर्घकालचिन्तितं, पुत्रादिपरम्परा-विषयमपि वा. अनेन प्रतिज्ञा भीमेन पालिता न वा, अर्जुनेन वा ते मारिताः? इति प्रश्नः. अशक्यन्तु तस्य नास्ति इति आह **यस्य** इति. यस्य भीमस्य **अङ्घ्रिपातं रणभूः** कर्कशाऽपि **न सेहे** सोढुम् अशक्ता. अङ्घ्रेः पातः उत्प्लुत्य पतनात्मकः. तस्य अवसरम् आह **मार्गं गदायाः चरतः** इति. गदायाः विविधशिक्षाप्रकारं कर्तुं चरतः. गदायुद्धएव उत्प्लुत्यादिप्रकाराः।।३७।।

अर्जुनं पृच्छति

कच्चिद् यशोधा रथयूथपानां गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते।
अलक्षितो यच् छरकूटगूढो मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष।।३८।।

कच्चिद् इति. **रथयूथपानां यशोधा** यशोधारकः. 'यशोह'इति पाठे सर्वेषां यशो दूरीकरोति इति. तत्र सामर्थ्यं **गाण्डीवधन्वे**ति. **यशोधा** कीर्तिधारी. सर्वेषां कीर्तिं तन्मारणेन स्वयमेव बिभर्तीति तथा, तन्मध्ये वा. अनेन स्वतः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अर्जुनकृता सेवा च इति गुणद्वयम् ।।३६।।

किं वा इत्यत्र. 'अघमति'पदं ''**सुपां सुलुग्**''(पाणि.सू.७।१।३९) इत्यनेन लुप्तविभक्तिकम् इति आशयेन आहुः **अघमतिः किम्** इति ।।३७।।

---

*. मुद्रितपाठस्तु 'तदनुवृत्या' इति.

परतश्च सामर्थ्यं सूचितम्. **गाण्डीवधन्वा** इति. तस्य त्रिषु लोकेष्वपि अरीणां विद्यमानत्वात्. उपरतारिः जातो न वा इति प्रश्नः. सामर्थ्यम् आह **अलक्षितः** इति. युद्धसम्बन्धार्थम्. **मायाकिरातः** अतएव अलक्षितः. अतएव **यत् शरकूटेन** आच्छन्नः. एतादृशसामर्थ्यवतो जये विलम्बकारणं नास्ति, प्रतियोगिप्राप्त्य-भावव्यतिरेकेण. अतः सन्देहः, किं सर्वे प्रतियोगिनः प्राप्ता न वा? इति ।।३८।।

यमौ पृच्छति

यमावुतस्वित् तनयौ पृथायाः पार्थैर् वृतौ पक्ष्मभिर् अक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृदे स्वरिक्थं परात् सुपर्णाविव वज्रिवक्रात्।।३९।।

यमौ इति. मातृभ्रातृसम्मानन-शत्रुजयसन्देहाभावेऽपि स्वतो रमणम् अस्ति नवा? इति सन्देहात् पृच्छति. माद्रीपुत्रावपि पृथायां समर्पणात् तत्पुत्रौ. **परात् उद्दाय** आच्छिद्य. **सुपर्णाविव** इति सम्भावनया गरुडदृष्टान्तः. **वज्रिवक्त्राद्** इति पयिमानमपि अमृतम् आच्छिद्य नेतुं समर्थौ यथा गरुडौ. **पराद्** इति वैकल्पिकः, छान्दसो वा. तेन शत्रुं जित्वा अजित्वा वा धनम् आनयत इति ज्ञापितम्।।३९।।

कुन्तीं पृच्छति

अहो पृथाऽपि ध्रियतेऽर्भकार्थे राजर्षिवर्येण विनाऽपि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये धनुर् द्वितीयः ककुभश् चतस्रः।।४०।।

अहो इति. **पृथाऽपि ध्रियते** अर्थात् प्राणान्. अथवा, अर्भकश्च अर्थश्च **अर्भकार्थे**. छान्दसो नपुंसकभावः. **तेन राजर्षिवर्येण** पाण्डुना **विनाऽपि**. भर्त्रा सहितावेव धनपुत्रौ रक्षणीयौ, तदभावेऽपि रक्षणाद् आश्चर्यम्. तस्य सामर्थ्यम् आह **यस्तु एकवीरः** इति. यस्य सहायापेक्षाऽपि नास्ति शत्रुजये. **वीरः** इति स्वयमेव युद्धकर्ता. **अधिरथः** इति रथवद्भ्यः सर्वेभ्यएव अधिकः. **चतस्रः ककुभो विजिग्ये** विजितवान्. सहाये* धनुरेव, अन्यथा मन्त्रादिना सिद्ध्या वा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अहो इत्यत्र. **ध्रियते** इत्यत्र विकरणव्यत्ययम् अभिप्रेत्य आहुः **अर्थात् प्राणान्** इति ।।४०।।

---

* मुद्रितपाठस्तु 'सहायो' इति.

जयः सिद्धो भवेत्, तच्च न आश्चर्यकारि. अतः उक्तं **धनुः द्वितीयः** इति।।४०।।

एतावता कालेन पूर्वं येषु-येषु अनुरागः स्थितः सः सर्वोपि उक्तः. साम्प्रतं द्वेषम् अनुवदति. तत्र प्रथमं धृतराष्ट्रं शोचति

सौम्याऽनुशोचे तम् अधःपतन्तं भ्रात्रे परेताय च दुद्रुहे यः।
निर्यापितो येन सुहृत् स्वपुर्या अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन।।४१।।

सौम्य अनुशोचे इति. **सौम्य** इति सम्बोधनं मित्रत्वज्ञापनाय. *अन्यस्य स्थाने अवक्तव्यं न वक्तव्यम् इति, सएव स्वयम् अधःपतन् शोचति. तम् अन्वहमपि तं शोचामि. शोके हेतुः **अधः पतन्तम्** इति. पाते हेतुः **भ्रात्रे परेताय च दुद्रुहे** इति जीवद्दशायामपि अपकृतः. मरणानन्तरमपि तत्पुत्रद्रोहेण अपकृतः. जीवन् भ्राता अहमपि अपकृतः इति आह **निर्यापितः** इति. मयातु अपकारो न कृतः इति आह **सुहृद्** इति. स्वनगरादेव अहं निर्यापितः. पुत्रद्वारापि कृतं स्वकृतमेव, यतः पुत्रान् स्वयम् अनुसृतः. एवं जीवन्मृतभ्रातृद्रोहाद् अधःपातः. **शोचे** इति इदानीमपि शोचामि. तत्र कारणम् अस्ति नवा? इति प्रश्नः. एवम् अपकृतगृहे स्थित्वा जीवति इति।।४१।।

ननु यथा पुत्रापराधेन समर्थोपेक्षया धृतराष्ट्रस्य अपराधित्वं तथा तवापि उपेक्षादोषादुष्टत्वाम् इति आशङ्क्य धृतराष्ट्र-भीष्म-द्रोणादीनां वासुदेव-मोहितानां प्रतिपक्षशङ्कया स्वहितमेव कृतवान् अहम् इति आह

सोऽहं हरेर् मर्त्यविडम्बनेन दृशो नृणां चालयितुर् विधातुः।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादात् चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र।।४२।।

सो अहम् इति. **सो अहम्** एवं धृतराष्ट्रादिभिः पकृतो **विधातुः प्रसादात् गतविस्मय**एव **चरामि**. अत्रापि अर्थे सन्देहः, किं युक्तम् अयुक्तम् इति. सर्वदुःखहर्ता भगवान्. स हि यथासुखं सर्वान् अभ्युदय-निःश्रेयसादिषु योजयति. तत्र ये प्रवृत्या सुखाधिकारिणो निवृत्या सुखम् इच्छन्ति तान् व्यामोहयति भगवान्. नृणां सम्बन्धि यत् **मर्त्त्यं** देहः तस्य **विडम्बनेन** अनुकरणेन. नृणां विधातुः इति वा. कपटमानुषचेष्टया **नृणां दृशः चालयितुः**. यदि न व्यामोहयेत् तदा तेषां सृष्टिं कथं

---

*. 'अन्यस्थाने' इति मां२; 'अनन्यस्थाने' जु,मां१,मां३ पाठः.

कुर्यात्? पुनः–पुनः सृष्ट्यर्थं तान् व्यामोहयति इति अर्थः. यथा भगवान् केनाऽपि न ज्ञातः तथा अहमपि न अन्येन उपलक्ष्यः. अतएव तत्प्रसादो मयि अस्ति इति ज्ञायते. अन्तस्तत्प्रसादसूचको विस्मयाभावः बहिः तत्प्रसादसूचको लोके ज्ञानाभावः. अतएव अन्ये बद्धा मारिताः, अहं विचरामि इति. **नृणां** भीष्मादीनाम् अन्तःकरणवृत्तीः भ्रामयतः. **प्रसादात्** कृतमपि अपराधादिकं तदिच्छया इति जानन् गताभिमानः तत्प्राप्त्युपायतीर्थाटनं करोमि इति अर्थः।।४२।।

ननु सर्वसमर्थः परमेश्वरः कथम् उपेक्षितत्वानित्यत आह

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः।
वधात् प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशोऽप्युपैक्षताऽघं भगवान् कुरूणाम्।।४३।।

नूनम् इति. यद्यपि भगवान् दुष्टनाशार्थमेव अवतीर्णः, तथापि दुर्याधनादीन् न हतवान् तत् **प्रपन्नार्तिजिहीर्षया**. शरणागतभीमादिप्रतिज्ञापूरणार्थम् इति अर्थः. **त्रिमदाः** विद्याधनाभिजनाख्याः. ''**विद्यामदो धनमदः तथैवाभिजनो मदः**'' इति. तेन **त्रिमदेन उत्पथानां** नृपाणां **वधात्**. ल्यब् लोपे पञ्चमी. वधं कृत्वाऽपि कुरूणां वधाद् उपेक्षां कृतवान्. *वधम् अकृत्वैव स्थितः. यतः तेषाम् **अघम्** अपराधम् उपेक्षितवान्. यतः **ईशः**, भक्तद्वाराऽपि मारयितुं समर्थः।।४३।।

एवं भगवच्चरित्रं सर्वमेव अहं तत्प्रसादाद् जानामीति स्वज्ञानं निरूप्य, भगवत्स्वरूपमपि जानामि इति आह

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर् ग्रहणाय पुंसाम्।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं परो गुणानामपि कर्मतन्त्रम्।।४४।।

अजस्य इति. **अजस्य अकर्तु**श्च जन्मानि कर्माणि च **उत्पथानां** दुष्टानां नाशाय, सतां शिक्षणाय च. नहि सूर्योत्पत्तिव्यतिरेकेण अन्धकारो नश्यति, नहि भगवदाचरणव्यतिरेकेण कश्चिद् धर्मम् आचरति. अतो दुष्टनिग्रह–शिष्टपरिपालनार्थं भगवतो जन्मानि कर्माणि विरुद्धान्यपि जायन्ते, अन्यथा कर्मपारतन्त्र्यरहितः कथं जन्म स्वीकुर्याद्? अनेन साधारणपक्षो ज्ञायते, स्वेच्छया

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अजस्य इत्यत्र. **अनेन** इति. विदुरेण ।।४४।।

---

* ''वधम् अकृत्वैव स्थितः. यतः तेषाम् अघम् अपराधम् उपेक्षितवान्'' इति मुद्रिते नास्ति.

जनिते देहे अग्निवद् भगवदावेशः इति. **गुणानमपि परः** इत्यनेन गुणजनित–कर्मपरतन्त्रः कथं भवेद्? इति महद्वैलक्षण्यं सूचितम्. देहमात्रस्यैव कर्मपरतन्त्रत्वं मन्यते. यथा सर्वमेव काष्ठम् अनित्यम्, तत्र प्रविष्टो अग्निरपि सुतराम् अनित्याविर्भावो भवति इति भावः. यथा वा भार्यादेहो भर्तृवशोऽपि भार्याजीवाधीनएव, तथा ईश्वरपरिगृहीतोऽपि देहः कर्माधीनएव इति केषाञ्चिद् मतम्. तथा अयमपि मन्यते. तद् अग्रे दूषयिष्यति उद्धवः।।४४।।

एवं स्वस्य सर्वबुद्धिम् उक्त्वा, तेना अधिकारिदेहहेतुभूतवायुसंस्कारं निरूप्य, संस्कृताकाशसिद्ध्यर्थं भगवच्चरित्रं पृच्छति

तस्य प्रपन्नाखिललोकपानाम् अवस्थितानाम् अनुशासने स्वे ।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः।।४५।।

तस्य इति. **प्रपन्नाखिललोकपानाम्.** प्रपन्नाश्च ते अखिललोकपाश्च[क] सर्वे हि इन्द्रादयो भगवत्प्रपन्नाः तदाज्ञाकारिणश्च. अतः तेषां कार्यार्थम् आविर्भूतस्य यदुकुले, वस्तुतो जन्मरहितस्य वार्तां कथय इति तृतीयः प्रश्नः. तीर्थयात्रार्थं कृतसङ्कल्पः कथम् अन्यत् श्रोष्यति? इति आशङ्क्य आह **तीर्थकीर्तेः** इति. तीर्थरूपा कीर्तिः यस्य. **सखे** इति सम्बोधनं युक्तम् अयुक्तं वा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य इत्यत्र. **संस्कृताकाशसिद्ध्यर्थम्** इति. भगवच्चरित्रस्मृत्या संस्कृत-हृदयाकाशभवनार्थम्. अत्र *भगवच्चरित्रेत्यादिपदैः आकाशादिक्रमेण उल्लेख्ये(?) ज्ञेयः।।४५।।

।।इति श्रीगोस्वामिपुरुषोत्तमजीमहाराजकृत-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे प्रथमाध्यायविवरणम्।।१।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अजस्य जन्मेत्यत्र. तदग्रे दूषयिष्यति इति. **''दुर्भगो बत लोको अयम्''** (३।२।८) इत्यादिना दूषयिष्यति इति अर्थः।।४४।।

तस्य इत्यत्र. **तृतीयः प्रश्नः** इति. सकलसुहृदसम्बन्धिकुशलप्रश्नः एकः. धृतराष्ट्रविषयकशोकः कर्तव्यः न वा इति द्वितीयः. भगवत्कथाविषयकः तृतीयः इति. एतावता प्रसङ्गने सिद्धम् अर्थं ज्ञापयन् सकलाध्यायस्य सर्गप्रतिपादकत्वं निगमयन्ति

सुबो.क. '...पालाश्च' इति जु,मां१,मां३ पाठः. प्रका.* भगवच्चरित्रेत्यादिपदैः सका...पाठः.

पृष्टं वक्तव्यमेव इति ज्ञापनार्थम्. एवं भगवच्चरित्रे भगवदीयानां चरित्रे शुश्रूषुः, प्राप्तसत्सङ्गः, तीर्थायतनैः* कृतपुण्यपुञ्जः, योग्यं देहं प्राप्य अधिकारी भवति इति भगवदधिकारसर्गे भूतसर्गो निरूपितः॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीवल्लभदीक्षितविराचितायां तृतीयस्कन्धे प्रथमाध्यायविवरणम्॥१॥

श्रीविट्ठरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

एवम् इत्यादिः.

॥ इति श्रीतृतीयस्कन्धे प्रथमाध्यायविवृत्तिः ॥

---

* 'तीर्थायनैः' इति मां१,मां३ पाठः.

द्वितीयाध्यायविवरणम्

अधिकारार्थसर्गे हि भूतसर्गो निरूपितः।
मात्राणामेव सर्गोऽत्र द्वितीये विनिरूप्यते॥१॥
मुख्याधिकारिणो भक्तौ क्रियाज्ञानविभेदतः।
अलौकिकचरित्रेण माहात्म्यं विषयो मतः॥२॥
क्रिया तु भगवत्येव नान्यत्रेति निरूप्यते।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ द्वितीयाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वक्तुम् अध्यायद्वयार्थम् आहुः **अधिकारे**त्यादि. तथाच अवसरःसङ्गतिः इति अर्थः॥१॥

ननु द्वितीयाध्याये उद्धवचरित्रं भगवद्वार्त्ता च उच्यते. तत्र मात्रासर्गः आद्ये वाच्यः तत्र उद्धवचरित्रस्य लौकिकवत् प्रतिभानात् कथं मात्रासर्गरूपता इत्यतः आहुः **मुख्ये**त्यादि. **मुख्याधिकारिणः** इति षष्ठी. तथाच तादृशचरित्रप्रयोजकतदवस्थायाः तदानीन्तनत्वेन विदुरानुभूयमान-माहात्म्यरूपतयैव विषयता इति मात्रासर्गः तेन रूपेण इति अर्थः॥२॥

ननु मात्रासर्गे श्रीमदुद्धवमाहात्म्यसूचने हरेः माहात्म्यसूचकपूर्वग्रन्थविरोधः इत्यतः आहुः **क्रियातु** इत्यादि. तथाच क्रिया भगवन्निष्ठैव अत्र निरूप्यते इति

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

द्वितीयाध्यायं विवरिषवः सङ्गत्यर्थं व्याख्यात-व्याख्यास्यमानाध्याययोः अर्थम् आहुः **अधिकारार्थे**ति. उत्तमाधिकारसिद्ध्यर्थं भूतमात्रेन्द्रियधियां प्राकृतत्वनिवृत्तिपूर्वकं अप्राकृतसर्गो वाच्यः, तत्र भूतानां सर्गः पूर्वाध्याये निरूपितः. **अत्र** द्वितीयाध्यायेऽपि **मुख्याधिकारिणो भक्तौ** उत्पत्यर्थः(र्थं ?) मात्राणां सर्गो निरूप्यते इति अर्थः ॥१ ॥

अत्र आद्यैः षट्श्लोकैः उद्धवस्य भक्त्युद्रेकः उच्यते. तेन शिष्टैः अष्टाविंशतिभिः भगवद्गुणाः उच्यन्ते. तेषां तात्पर्यं वक्तुम् आहुः **मुख्याधिकारिणः** इति. मुख्याधिकारिणः श्रीमद् उद्धवस्य **भक्तौ** भक्त्युद्रेके सति **क्रियाज्ञानविभेदतः** यद् अलौकिकं चरित्रं तेन यद् भगवन्माहात्म्यं तदेव **विषयो मतः** सम्मतः इति अर्थः ॥२ ॥

ननु अत्र श्रीमदुद्धवक्रियायाः भगवत्परत्वप्रतिपादने तेन श्रीमदुद्धवमा-हात्म्यमेव सिद्ध्यति नतु भगवन्माहात्म्यमपि इत्यतः आहुः **क्रियातु** इति. क्रियाविषयः भगवानेव इति अर्थः. तथाच तादृशस्याऽपि अधिकारिणः क्रियायाः भगवत्परत्वमेव

षड्भिस्तु मनसा तानि षट्कर्माणीन्द्रियैर् यतः।।३।।
षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् एकएव सः।
सप्ताधिकेन विंशत्या तावन्तो भगवद्गुणाः।।४।।
तत्त्वतो विषयाः प्रोक्तास् ते देवाः सर्वएव हि।
कथायां त्रिभिरध्यायैर् अधुनोत्तरम् उच्यते।।५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन्माहात्म्यसूचनस्य अबाधाद् न विरोधः इति अर्थः. ननु मात्राणां पञ्चसङ्ख्या-कत्वात् षड्भिः तन्निरूपणं कुतः इति अपेक्षायाम् आहुः **षड्भिः** इत्यादि तथाच संस्कारकाणां तावत्वेन षड्भिः उक्तिः अतो न दोषः इति अर्थः।।३।।

ननु एतावतैव मात्रासर्गोक्तिसिद्धौ शिष्टानाम् अष्टाविंशतीनां को अर्थः इत्यतः आहुः **षड्गुणे**त्यादि. तथाच सप्तसहितेन अधिकेन आद्येन भगवतो अग्रिमैः गुणानां च निरूपणात् तत्त्वतः संस्कारकारणत्वेन ज्ञानविषयाः प्रोक्ताः, **हि** यतो हेतोः, **ते** अत्र उच्यमानाः **सर्वएव** यादवाः **देवाः** संस्कृताः, तथाच संस्कारक-संस्कृतयोः बोधनाय तत्कृतकथनम् इति अर्थः।।४ १/२।।

एवं शुक-व्यासयोः उक्त्वा विदुरोद्धवसंवादे अस्य अर्थस्य अनुपयोगात् तदर्थं सङ्गत्यन्तरम् आहुः **कथायाम्** इत्यादि. **कथायाम्** इति. प्रश्नोत्तरात्मके संवादे.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

प्रतिपाद्य इति अर्थात् भगवन्माहात्म्यमेव सिद्ध्यति इति भावः. ननु षड्भिरेव क्रियायाः भगवत्परत्वमेव प्रतिपादने किं बीजम्? अतः आहुः **षड्भिस्तु** इति. मनसा सह षड्भिः इन्द्रियैः षट्कर्माणि भवन्ति, अतः षड्भिः श्लोकै भगवत्परा क्रिया निरूप्यते इति अर्थः।।३।।

एतस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः **षड्गुणे**ति. **हि** यतः सकलक्रियाश्रयः **एक**एव **भगवन् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः** इतः **षड्भिः** तथा इति अर्थः. एवं षण्णां तात्पर्यम् उक्त्वा शिष्टानाम् आहुः **सप्ताधिकेन** इति. सप्तसहितेन अधिकेन अष्टश्लोकैः इति यावत्. तथा विंशत्या च तावन्तो अष्टाविंशतिसङ्ख्याका गुणाः उच्यन्ते इति अर्थः. तत्तात्पर्यं वदन्ति **तत्त्वतः** इति. देवाः आधिदैविकाः अष्टाविंशतितत्त्वात्मकाः भगवद्गुणाः सर्वएव ज्ञानस्य विषयाः प्रोक्ताः इति अर्थः।।४ १/२।।

एवं अध्यायश्लोकतात्पर्यम् उक्त्वा अवशिष्टं निरूपयन्ति **कथायाम्** इति.

सामन्यकुशले त्वत्र त्रेधाऽप्युत्तरम् उच्यते।
लोकद्वये च भक्तौ च दुर्भाग्या यादवा इति।।६।।

तत्र प्रथमं विदुरेण पृष्टः उद्धवो न उत्तरम् क्तवान् इति आह **षड्भिः**.

भक्त्युद्रेकोद्धवे षड्भिः तादृशोक्तं फलाय हि।
अशक्तिर् भक्तिलिङ्गं हि हेतूक्तया तस्य साधनम्।।१।।
सर्वव्यापारराहित्यं भक्तिलिङ्गस्य दर्शनम्।
तथापि कृष्णमाहात्म्य–कथनाय समुद्यमः।।२।।

तत्र प्रथमं तस्य अशक्तिः उच्यते **इति भागवतः** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथाच अध्यायचतुष्टये प्रश्नोत्तरभावः सामान्यसङ्गतिः इति अर्थः।।५।।

कस्य किम् उत्तरम् इति आकाङ्क्षायां विशिष्य ताम् आहुः **सामान्ये**त्यादि. पूर्वाध्याये सामान्यकुशलं, विशेषकुशलं, भगवच्चरित्रञ्च इति त्रयं क्रमेण पृष्टम्. तत्र **सामान्यकुशले**तु अष्टादशभिः त्रेधोत्तरम् इति अर्थः. तथा सति शिष्टाः दशचरित्रप्रश्नोत्तरभूताः इति अर्थः सिद्ध्यति. ननु कथायां प्राथमिकानां षण्णां श्लोकानां का सङ्गतिः इत्यतः आहुः **भक्तौ**त्यादि. भक्त्युद्रेकयुक्तः उद्धवे षड्भिः श्लोकैः पञ्चार्थाः, षडर्थाः वा उच्यन्ते इति शेषः. स्फुटम् अग्रे. तथाच फलोपोद्घातएव सङ्गतिः इति अर्थः. **हेतूक्त्या तस्य साधनम्** इति. तत्स्वभावकथनेन असामर्थ्यसाधनम्.

इति इत्यत्र. **तत्र हेतुः** इति. अवक्तव्ये हेतुः. ननु मा अस्तु स्वतः कथं

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

''**वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः**'' (३।१।४५) इत्यनेन कथायां पृष्टा. तत्र उत्तरं त्रिभिः अध्यायैः उच्यते इति अर्थः. त्रेधात्वमेव विवृण्वन्ति. **लोकद्वये च** इति. इहलोके परलोके च इति अर्थः. तस्य ''**दुर्भगो बत**'' (३।२।८) इत्यादिषु स्पष्टम्।।६।।

आदावेव उत्तरदाने अशक्तिनिरूपणस्य प्रयोजनम् आहुः **भक्त्युद्रेके**ति. तादृशोक्तम् इति. तादृशेन उत्तमाधिकारिणोक्तप्रमेयम् इति अर्थः. षट्श्लोकानाम् अर्थं ग्राहयन्ति **अशक्तिः** इत्यादि. उत्तरदानाशक्तिः इति अर्थः. **हेतूक्त्या** इति. ''**सः कथम्**''(३।२।३) इत्यनेन हेतुःपुरःसरम् अशक्तिरूपार्थस्य साधनम् इति अर्थः।।१।।

इति इत्यत्र. **प्रकारविशेषाद् अवक्तव्यत्वाय** इति. पूर्वाध्याये प्रियाश्रया

श्रीशुक उवाच

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात् स्मारितेश्वरः ॥१॥

'इति'शब्देन पूर्वाध्यायार्थः प्रकारविशेषाद् अवक्तव्यत्वाय सङ्गृहीतः. तत्र हेतुः **भागवतः** इति. एतादृशीं कथाम् अन्यो वक्तुं शक्तः, ननु भागवतः. तथापि पृष्टश्चेद् भगवानिव स्वयमपि अन्तर्हित–शक्तिरेव भवति. तत्रापि अज्ञेन कुशलेन पृष्टः. तद् आह पृष्टः **क्षत्त्रा** इति. सा हि वार्ता प्रियाश्रिता, उत्तरेतु निराश्रया. न हि निराश्रया केनचिद् वक्तुं शक्या. तद् आह **प्रियाश्रयां प्रतिवक्तुं नोत्सेहे** इति. 'च'काराद् निषेधेऽपि अशक्तो न प्रष्टव्यः इति. इन्द्रियसामर्थ्ये विद्यमानेऽपि ज्ञानांशसहायेऽपि क्रियांशं मनः उत्साहात्मकं तत्र न जातम् इति **न उत्सेहे** इति उक्तम्. प्रत्युत कथाश्रयान्वेषणार्थं प्रवृत्तं चित्तं भगवन्तं स्मारयितुम् उत्कण्ठाम् *उत्पादितवत्. अनेन भक्तिः वचनप्रतिबन्धिका जाता इति उक्तं भवति. ईश्वरत्वाच्च न प्राणोद्गमः ॥१॥

एवम् अशक्तिं निरूप्य तस्या भक्तिलिङ्गत्वं वदन् हेतूक्त्या तां साधयति द्वाभ्याम् **यः पञ्चहायनः** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथापि प्रश्नेतु उत्तरदानम् आवश्यकम् इति कुतो न उक्तवान् इत्यतः आहुः **भगवानिव** इत्यादि. हेत्वन्तरम् आहुः **साहि** इत्यादि. ननु निषेधे कुतो अशक्तिः इत्यतः आहुः **प्रत्युते**त्यादि.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

वार्ता पृष्टा. तत्र प्रियाणामेव तिरोभावा(त्?)तिरा(प्रिया?)श्रयावार्ता सम्पन्ना इति अस्मादेव प्रकारविशेषाद् पूर्वाध्यायार्थः अव्य(व?)क्तव्यत्वाय सङ्गृहीतः. इममेव अर्थं सङ्गृहीतुं प्रकारविशेषवाची 'इति' शब्दः उक्तः इति भावः. **भगवानिव** इति. अतएव 'भागवतः' इति विशेषणं इति भावः. **अन्तर्हितशक्तिः** इति. भगवानिव स्ववशः इति अर्थः. **कुशलेन** इति. कुशलार्थम् इति अर्थः. **सा हि** इति. प्रश्नविषया इति अर्थः. **उत्तरेतु** उत्तरदाने इति अर्थः ॥१॥

---

* 'उत्पादितवान्' इति जु पाठः.

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद् रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया।।२।।

पञ्चवार्षिको हि सेवायाम् अधिकारी. बालस्य प्रातर्भोजनं सम्पूर्णदिवसे बलजनकम्. मात्रा लालनम् उत्साहजनकं, तद् द्वयं तस्य पूर्वमेव न आसीत्. बलं तु सपर्ययैव. उत्साहस्तु लीलयैव. बालत्वं तु तदानीन्तनं कीर्तितम्. तदुभयम् इदानीं न अस्तीति न बलम्, न प्रोत्साहः. अतएव अशक्तिः भक्तिलिङ्गम्. अनेन हस्तव्यापारो भगवत्येव इति निरूपितम्. मनोव्यापारस्तु प्रथमे स्पष्टः. **मात्रा याचितः** इति. लौकिक-वैदिकधर्मापेक्षाऽपि निराकृता. इच्छाभावेन भगवदीयानां पदार्थानां लौकिकापेक्षया अतिबलीयस्त्वं निरूपितम्. **यस्य** इति कृष्णस्य. **सपर्या** परिचर्या. क्रीडार्थं भगवदधिष्ठानं परिकल्प्य तत्र राजोपचारैः क्रीडनं बाललीला।।२।।

एवम् अशक्तेः भक्तिलिङ्गत्वं निरूप्य प्रकृते हेतूक्त्या अशक्तिं साधयति **स कथम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यः इत्यत्र. **अतएव** इति. अशक्तेः सेवाद्यभावजन्यत्वादेव. एवञ्च [1]ह्यमुद्रिका भक्तिः सेवां विना अशक्यत्वात्?. यः एवं, सः एवं, यो न एवं, स न एवम् इति एवम् अत्र भक्तिलिङ्गत्वम् अर्थात् साधितं ज्ञेयम् ।।२।।

सः कथम् इत्यत्र. **प्रकृते** इत्यादि. असामर्थ्ये हेतूक्त्या हेत्वभावेन कार्याभावं

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तस्या इति. प्रतिवचनाशक्तेः इति अर्थः. **यः** इत्यत्र **तद् द्वयम्** इति. बलजनकं **प्रातर्भोजनम्** उत्साहजनकं मातृलालनं च इति द्वयम् इति. **न आसीद्** इति. तथाच सर्वथापेक्षितः तदुभयाभावेऽपि सेवया सर्वं तस्य इति दृढतरसंस्कारः सूचितः. तर्हि बलाद्यभावे कथं सेवा स्यात्? अतः आहुः **बलन्तु** इत्यादि. **लीलया** इति. भगवत्सेवोपचारानुकूल-बाललीलया इति अर्थः. ननु तर्हि वयसा प्रौढो भविष्यति? इत्यतः आहुः **बालत्वन्तु** इति. **कीर्तितम्** इति. **यः पञ्चहायनो** इत्यनेन कीर्तितम् इति अर्थः. **तदुभयम्** इति. सपर्या लीला च इति द्वयम्।।२।।

१.इतःपूर्वं 'सा' इत्यधिकं पुस्तके.

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः।

पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद् भर्तुः पादावनुस्मरन्।।३।।

तस्य बाल्यएव तथात्वं न, किन्तु आजन्म भगवदीयैरेव सामर्थ्यम्, यतः सेवयैव सह जरां प्राप्तः. अनेन तस्य सेवा जराभावाद्यर्थमपि न व्यापृता. आनुषङ्गिकं तु न जातं, कालस्य बलीयस्त्वाद् इति आह **कालेन** इति. **जरसं** वाद्र्धक्यम्. पूर्वसिद्धस्य शक्तिहेतोः अभावात् **कथम्** इति शक्त्यर्थं प्रश्नः*. अतएव वार्तां कथं ब्रूयात्? अग्रेऽपि **वार्तां पृष्टो** माहात्म्यं कथयिष्यति. तत्तु सर्वदा साश्रयमेव, अलौकिकत्वात्. वार्तातु लौकिकी. नच अत्र भक्तिविरोधः, प्रकारान्तरेण भक्तेः क्रियमाणत्वात्. तद् आह **भर्तुः पादौ आनुस्मरन्** इति. 'भर्तृ'पदेन तस्य एवं लीला श्रुतिसिद्धा युक्ता इति सूचयति. ''**भर्त्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति**''(तैत्ति.आर.३।१४) इत्यादिश्रुतेः. **पादौ** इति द्विवचनं भक्तिमार्गख्यापनाय. **अनु** इति उपदेशानतिक्रमाय. अनेन बहिः वागिन्द्रियविषयनिवृत्तिः उक्ता।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वदन् अभावमुखेन कण्ठतो भक्तिलिङ्गतया साधयति इति अर्थः. **आनुषङ्गिकम्** इति. तत्र ''**प्रवयसोऽप्यासन्**''(   ) इति श्लोकोक्तं भगवद्दर्शनस्य गौणं फलम्. **प्रश्नः** इति प्रसिद्धौचित्यानुवादात्मकः प्रश्नः. ''**भर्त्ता सन्**'' (तैत्ति.आर.   ) इत्यादि. तैत्तिरीयारण्यकषष्ठप्रश्ने अयम् अनुवाकः, सः सर्वोपि एतल्लीलाभिप्रायस्वरूपयोः बोधको मया विद्वन्मण्डनविवरणे व्याख्याय व्युत्पादितः इति ततो अवधेयः. **इत्यादिश्रुतेः** इति 'आदि'पदेन अग्रिमानुवाकसङ्ग्रहः।।३।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

सः कथम् इत्यत्र **तस्य सेवा** इति. उद्धवकर्तृका भगवत्सेवा जराभावार्थं न व्यापृता किन्तु भगवदर्थमेव इति अर्थः. **आनुषङ्गिकम्** इति... **शक्तिहेतोः** इति. भगवत्सेवनेति अर्थः. **रसाश्रयम्** इति. ''**भर्तुः पादौ अनुस्मरन्**'' इत्यादिना आश्रयप्राप्तेः निरूपयिष्यमाणत्वाद् इति भावः. **अलौकिकत्वाद्** इति. माहात्म्यस्य लोकातीतत्वाद् इति अर्थः. **लौकिकी** इति. लोकवृत्तसजातीया इति अर्थः. **भक्तिविरोधः** इति. भगवत्प्रश्नेऽपि अनुत्तरे भक्तिविरोधो न इति अर्थः।।३।।

---

* 'पृष्टः' इति जु पाठः.

अशक्तिः न केवलं वागिन्द्रिये किन्तु सर्वत्रैवेति सर्वव्यापारराहित्यम् आह **स मुहूर्त्तम्** इति.

स मुहूर्त्तम् अभूत् तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ।।४।।

मुहूर्तमात्रमेव भगवति स्थितः. स हि कलारूपः, पादस्मरणेन च पादान्तिकं नीतः. **तूष्णीम्** इति सर्वेन्द्रियव्यापारराहित्यम्. तस्य सद्योमुक्तिम् आह **कृष्णाङ्घ्रिसुधया निर्वृतः** इति. ब्रह्मानन्दं प्राप्तः इति अर्थः. 'सुधा'पदेन च तत्र प्राणलयाभावः सूचितः, स्मरणे तदानन्दाविर्भावाभावात्. तदर्थम् उपायम् आह **तीव्रेण भक्तियोगेन साधु निमग्नः** इति. **तीव्रेण** इति बहिर्व्यापारोच्छेदनसामर्थ्यं सूचितम्. **भक्तिः** अत्र प्रेमलक्षणा. सच उपायभूतः सर्वदा विद्यमानः. नहि योगेन निमग्नः शीघ्रम् उत्तिष्ठति. अनेन क्रियारूप-स्पर्शेन्द्रियव्यावृत्तिः उक्ता. विषयोऽपि भक्तानाम् अनेन निरूपितः ।।४।।

एवं सर्वव्यापारराहित्यं निरूप्य तस्य भक्तिलिङ्गजनकत्वम्, अन्यथा तद् व्यर्थमिति तद् आह **पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गः** इति.

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चद् मीलद् दृशाऽशुचः।
पूर्णार्थो लक्षितस् तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ।।५।।

पुलकैः रोमोद्गमैः उद्भिन्नानि सर्वङ्गानि यस्य. अनेन आनन्दः पूर्णो मध्ये जातः इति उक्तम्. बहिरपि निर्गच्छति इति आह **मुञ्चद् मीलद् दृशा अशुचः** इति. **मीलद्** इति अन्तर्भोगो निरूपप्यते, नतु जलनिमग्नवत् केवलम् अन्तःपूर्णता. **अशुचः** आनन्दाश्रूणि. अनेन शोकं निवार्य स्वयं निर्गच्छन्ति इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः मुहूर्तम् इत्यत्र. ननु सद्यो मुक्तौ प्राणलयस्य आवश्यकत्वात् तदभावे को हेतुः इत्यतः आहुः **सुधापदे**त्यादि **स्मरणे** इति केवले स्मरणे. **क्रियारूप-स्पर्शेन्द्रिये**त्यादि. आनन्दनक्रियानिरूपकस्पर्शेन्द्रियम् उपस्थः तस्य अन्तर्मुखत्वम् इति अर्थः. **विषयः** इत्यादि. उक्तेन्द्रियविषयो भक्तिरूपो निरूपितः इति अर्थः।।४।।

पुलकेत्यत्र. **अन्यथा** इति. सर्वव्यापारराहित्येन भक्तिलिङ्गाजनने पश्यतो भक्त्यजननात् सर्वव्यापारराहित्यस्य भक्तिलिङ्गजनकत्वम् आह इति अर्थः. ननु एवं

सूचितम्. एवं रोमोद्गमादीनां भक्तिलिङ्गानाम् उत्पत्तिमु उत्वा तेषां लिङ्गत्वम् आह **पूर्णार्थो लक्षितः** इति. अर्थो भगवान् आन्दरूपः पूर्णो यस्मिन्. **तेन** विदुरेण, नेत्रोदकादिना वा. तस्य भक्तिदर्शनेन स्वस्याऽपि भक्तिः जाता. स्वात्मानं विकलीकरोति इति, भक्तेः अतिपूरेण अयं बहुदूरे प्लावितः इत्यपि लक्षितः. भक्ते प्लावकत्वं न सम्भवति इति स्नेहस्य प्रसर उक्तः. सा हि शास्त्रतो जायमाना यावत्कार्यमेव जायते. अनेन विसर्जनक्रिया नरूपिता. एवमेव सर्वेन्द्रियाणां भगवद्विषयत्वम्।।५।।

तादृशोऽपि भगवन्तं दृष्ट्वा लब्धाश्रयो भगवन्माहात्म्यकथनार्थं विदुरं कृतार्थीकर्तुं भगवदिच्छया भगवन्तम् आश्रयभूतं गृहीत्वैव सावधानतया समागतः इति आह **शनकैः** इति.

शनकैर् भगवल्लोकाद् नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन्।।६।।

शनकैः इति सावधानत्वम्. न तस्य स्मरणमात्रं जातं, किन्तु व्यापिवैकुण्ठे गत्वा समागतः इति आह **भगवल्लोकाद् नृलोकं पुनरागतः** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

संप्लावकस्नेहप्रसरकथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **सा हि** इत्यादि. तथाच भक्तेः साहजिकत्वज्ञापनाय तदुक्तिः इति अर्थः. पुलकोद्भेदनिरूपणप्रयोजनम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **अनेन** पुलकोद्भेदकथनेन **''सर्वेषां विसर्गाणां पायु एकायनम्''** (बृहदा.उप.२।४।११) इति श्रुत्युक्ता विसर्जनक्रिया निरूपिता इति अर्थः. इदमेव **''अक्षण्वताम्''**(भाग.पुरा.१०।२१।७) इत्यत्र **''रोमोद्गमस्तथा''** (तत्रैव) इत्यनेन उक्तं ज्ञेयम्. नच अत्र गोलकस्यापि कारणत्वं शङ्क्यम्. इन्द्रियस्थित्यर्थमेव तस्य अपेक्षणात्. अन्यथा खञ्जादीनां हस्तेन चलनस्य अन्येषां पादेन शिल्पस्यापि असम्भावापातात् 'सर्वेषाम्' इति विशेषणश्रुतिवाक्योपपत्तेः च. इमं न्यायं सजातीयेष्वपि अतिदिशन्ति नियच्छन्ति च. **एवमेव** इत्यादि. भक्त्युद्रेक इन्द्रियाणां पराक्त्वनिवृत्तौ तैः अन्तःभगवत्साक्षात्कारे भक्तदेहनिष्ठानां मात्राणां **''घ्राणं च गन्धः''** इति न्यायेन भगवदिन्द्रियरूपत्वप्राप्तिः एवं बहिःविषयाणामपि इति एवं मात्रासर्गो अत्र तेन विदुरस्यापि भावीति ज्ञापनाय अत्र बोधितः इति भावः।।५।।

शनकैः इत्यत्र. **गृहीत्वा** इति सन्निधाप्य इति अर्थः.

'पुनः'पदेन च पूर्वमपि उद्धवौ वैकुण्ठादेव समागतः इति ज्ञायते, अन्यथा ''**स्वधाम नय मामपि**'' (भाग.पुरा.११।६।४३) इति तस्य कामना प्रतिहता स्यात्. पूर्वन्तु भगवतः आज्ञापरिपालनार्थं समागतः, इदानीन्तु भक्तस्य. **नेत्रे विमृज्य** इति निद्रापायोत्थितत्वं सूचितम्. स्वस्य पूर्णत्वेन महत्वम् अल्पेषु आगतं गर्वाय भवतीति तन्निवृत्यर्थम् आह **उत्स्मयन्** इति. 'उच्'छब्दो विवृत्तिवाची हासवन्मुखविकासं बोधयति. तादृशो भूत्वा प्रत्याह।।६।।

एकेन साधारणम् उत्तरम् **कृष्णद्युमणि** इति.

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण हि ।

किं पुनः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्।।७।।

कृष्णो हि सदानन्दः सर्वदा द्युमणिरेव. न हि कदाचिदपि सूर्यो भूमौ समायाति, तत्र स्थितएव परम् इदं जगत् प्रकाशयति; तथा भगवान् व्यापिवैकुण्ठएव स्थितो अस्मदादिरूपां पृथ्वीं प्रकाशितवान्. सः इदानीम् अबहिर्मुखान् अस्मत्परभागस्थितान् प्रकाशयितुं निम्लोचति. तस्य निम्लोचे सति सर्वमेव जगत् पूर्वं तत्प्रकाशितम् अन्धकारेण गृह्यते. सहि अन्धकारो अजगरः आधिदैविकः. इदंहि लोके परिदृश्यमानं तमः आधिभौतिकम्. ''**हृतरूपं तु तमसा**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निद्रापायोत्थितत्वम् इति. यथा सुषुप्तौ सति संपद्य निद्रापाये जीवो बहिः आयाति इति तद्वद् आगतत्वम् इति अर्थः. **तादृशः** इत्यादि. तथाच एतेन नरवत्(?)प्रियत्वसाधक-मुख्यभक्ति-प्रतिबन्धकीभूत-गर्वस्य अभावः सूचितः इति अर्थः।।६।।

कृष्णद्युमणीत्यत्र. **आधिदैविकः** इति. देवे विद्यमानो मूलाविद्यास्वरूपः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

शनकैः इत्यत्र. **स्वस्य पूर्णत्वेन** इति. महत्त्वं हि स्वल्पाधिकारिषु क्षुद्रेषु समागतं गर्वाय भवति इति लोकोक्तिः. एवञ्च उद्धवस्याऽपि भगवद्भावादि-पूर्णत्वेन कदाचिद् गर्वः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थम् इति अर्थः.... **काष्टवद्** इति... ।।६।।

कृष्णः इत्यत्र. **अबहिर्मुखान्** इत्यादि. भगवन्निष्ठान् देवादीन् इति अर्थः. **अस्मद्** इत्यादि. अस्मान् परिकरभूतान् इति अर्थः।।७।।

वायौ ज्योतिः प्रलीयते'' (भाग.पुरा.११।३।१४) इति आध्यात्मिकम्. ''**आत्म–प्रस्वापनं तमः**'' (भाग.पुरा.३।१६।२०) इति आधिदैविकम्. महत्तत्वन्तु मुख्यो ब्रह्मा. अजस्य गरणं गिलनं येन इति. 'गॄ'निगरणे इति धातोः. येन महत्तत्वमपि भक्ष्यते भगवत्प्रकाशावसाने तेनैव एते भक्षिताः. सहि अमुक्तानाम् अभक्तानां च भक्षको नियतः. तद् आह **हि** इति. 'ह' इति पाठे भगवदीयानाम् एतद् महदाश्चर्यम्. **कुशलं** हि विद्यमानम् उच्यते. एतावत्तु जातम्, अतःपरं किं कुशलम् इति न जाने इति आह **किं पुनः कुशलं ब्रूयाम्** इति. किञ्च. कुशलं सर्वं लक्ष्मीकार्यं भगवत्कार्यं च. तत्र भगवता न तेषु किञ्चित् कुशलं कृतम्. लक्ष्मीकृतं गृहे स्त्रीषु च भवति, तद् लक्ष्म्यामपि गतायां **गतश्रीषु गृहेषु** सत्सु किं कुशलं ब्रूयामिति सर्वकुशलनिवृत्तिः. **अहम्** इति अहमेव उर्वरितः एतादृशः, अतो मां दृष्ट्वैव ज्ञातव्यं यद् ज्ञातव्यम्. वक्तव्यन्तु न अवशिष्यते इति अर्थः ।।७।।

ननु भगवता ते कथं न उपकृताः ? तत्र आह **दुर्भगः** इति त्रिभिः

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुः हरिं मीना इवोडुपम्।।८।।

तामसादिगुणैः ते भगवन्तं न जानन्ति. सामान्यतो अज्ञानम्, अन्यथाज्ञानं, विरुद्धं च ज्ञानम् अस्तीति भगवता ते न उपकृताः. तेषां सामान्यतो अज्ञानं सहेतुकम् उपपादयति. **अयं लोको** भूर्लोकः, दुर्गतं भाग्यं यस्य तादृशः. **बत** इति खेदे. न हि भाग्ये विद्यमाने स्वयं तिष्ठति भगवति गते. अभाग्यन्तु नास्ति, कियत्कालं भगवदनुभवाद्, यथा दुर्भगा तथा अयं लोकः. एतावता वर्त्ततएव दुर्भगता परम् अन्यस्याम्. **अयम्** इति जनात्मकः. तथा स्वयं भगवति व्यवहृतवान्, येन दुर्भगो जातः. यादवास्तु सुतरामेव तथा जाताः. ये चक्षुष्मन्तोपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आधिभौतिकम् इति. भौतिकेन तेजसा ग्रस्यमानत्वात्. **हृते**त्यादि. तथाच भूतरूपतेजोमात्राहारकत्वाद् आध्यात्मिकम् इति अर्थः।।७।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

दुर्भगः इत्यत्र. **सामान्यतो अज्ञानम्** इत्यादिः. इदंच यन्मर्त्यादि(१२-१४) श्लोकत्रयेण उच्यते इति ज्ञेयम्. **अभाग्यम्** इति. सर्वज्ञाभाग्याभावः. किन्तु भाग्ये सत्यपि तत्र

अन्धाइव कूपे पतिताः. सर्वतोमृत्युः अयं लोकः, यादवास्तु अन्योन्यघातेन तथैव जाता इति भावः. अन्धत्वम् आह **ये** सम्यग् एकत्र **वसन्तोऽपि न विदुः** इति. ज्ञाते किं स्याद्? इति आशङ्क्य दृष्टान्तेन विपरीते फलाभावम् आह **मीना इव उडुपम्** इति. पूर्वं समुद्रे मत्स्याः चन्द्रश्च एकत्र स्थिताः. ते चेत् चन्द्रं प्रार्थयेयुः तदा अमृतपानेन अमरा भवेयुः. सहि अमृतमयः, अमृतं च दातुं शक्तः. मत्स्याश्च सर्वतोमृत्यवो ज्ञातिघातिनश्च. तेषाम् अप्रार्थनायाम् अज्ञानमेव मूलम्. तथा यादवाः भगवदज्ञानाद् न मुक्ताः किन्तु सर्वतो मृत्यवो जाताः इति अर्थः. तस्य दानसामर्थ्यम् आह **उडुपम्** इति. तद् अमृतलेशेनैव नक्षत्राणि प्रकाशन्ते तत्तिरोभावेऽपि, एवं भगवत्तिरोभावेऽपि एते प्रकाशं प्राप्नुयुः यदि जानीयुः, सर्वदुःखहर्तृत्वाद् भगवतः।।८।।

किञ्च. मीनानां ज्ञानसामर्थ्यमपि नास्ति, एतेतु ज्ञानसमर्थाअपि न ज्ञातवन्तः इति आह **इङ्गितज्ञा** इति.

इङ्गितज्ञाः पुरु प्रौढा एकारामाश्च सात्वताः।
सात्वताम् ऋषभं सर्वे भूतावासम् अमंसत ।।९।।

भगवतः चेष्टितमपि जानन्ति. कदाचिद् भगवान् किञ्चिच्चिकीर्षया दिगादिकमपि पश्यति, तदैव जानन्ति ''एतत् करिष्यति'' इति. एवं ज्ञानशक्तिः उक्ता. **पुरु** अधिकं **प्रौढाः** अतिक्रियाशक्तियुक्ताः. अतएव ज्ञानक्रिया-शक्तियुक्तत्वाद् **एकारामाः**, भगवता सह एकत्रैवा आरामो येषाम्. शक्तिद्वयस्य फलम् एतत्. **सात्वताः** इति वैष्णवाः. एवं लौकिकप्रकारेण ज्ञानक्रिया-तत्फलभक्तियुक्ताअपि न जानन्ति इति आह **सात्वताम् ऋषभम्** इति. समस्तवैष्णवानां स्वामिनं, मुक्तानामपि कामपूरकम्. भूतेषु अवासो यस्य. पाञ्चभौतिकदेहे स्थितं, कारणभूतदेहे स्थितं वा. **अमंसत** ज्ञातवन्तः. अनेन विपरीतज्ञानं तेषां स्थितम् अतो ज्ञातुमपि न यतन्त इति भावः।।९।।

एवं श्लोकद्वयेन अज्ञानं, स्वसाधारण्येन अन्यथाज्ञानं च उपपादयन् रागम् उपपाद्य द्वेषम् उपपादयति **देवस्य** इति.

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चाऽन्यद् असदाश्रिताः ।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

दृष्टान्तः अस्ति इति भावः. **अन्यस्याम्** इति. भगवत्परित्यागावस्थायां इति अर्थः।।८।।

भ्राम्यते धीर् न तद्वाक्यैर् आत्मन्युप्तात्मनो हरौ ।।१०।।

देवस्य ज्ञानात्मकस्य **मायया** व्यामोहिकया केचन स्पृष्टा आत्मानं परं च न जानन्ति, पशुवद् भगवति व्यवहरन्ति. ये च पुनः मायया सम्यग्व्याप्ताः शिशुपालादयः ते असद् द्वेषमेव आश्रिताः. यद् असद् अन्यद् भवति, भगवत्सम्बन्धं दूरीकरोति. अथवा. केचिद् अन्यदेवाश्रिताः, येन भगवता भिन्नाः भवन्ति. अहङ्कारं गर्वसहितम् इति अर्थः. अन्ये पुनः 'च'कारोक्ताः सर्वथा तत्पदायोग्याअपि पाषण्डा **असद्** भगवन्निन्दामेव **आश्रिताः**. अनेन ये केचिद् ज्ञातुमपि यतन्ते तानपि ते नाशयन्ति इति भावः. तर्हि सर्वएव नष्टाः, तथा सति भगवदवतारफलं न जातम् इति आशङ्क्य आह **भ्राम्यते धीः** इति. न हि सर्वेषां बुद्धिं ते भ्रामयितुं शक्ताः. ये तद्वाक्यं मन्यन्ते अदृढमूलाः शास्त्ररहिताः तएव भ्रान्ताः भवन्ति. ये तु अस्मदादयः आत्मरूपे भगवति **उप्तात्मानः** ते न भ्रमन्ते. एकवचनं दुर्लभाभिप्रायेण. उप्त आत्मा येन इति. कृष्यादिना भूमिं भित्वा सर्वतः संस्कृत्य शुद्धं बीजं यैः उप्यते, तद् बीजं जाताङ्कुरं वायुना न गच्छति, अमूलं पतितं तृणादिकमेव गच्छति. 'आत्म'शब्देन च अन्तःकरणस्य शुद्धता उक्ता. भगवांस्तु स्वयं स्वचरणयोः उप्तं चित्तं केषामपि न दूरीकरोति, सर्वदुःखहर्तृत्वाद् इति आह **हरौ** इति।।१०।।

अतएव भगवान् ज्ञापनार्थम् आगतः प्रायेण सर्वानेव अनधिकारिणो ज्ञात्वा स्वरूपम् उपसंहृतवान् इति आह **प्रदर्श्य** इति.

प्रदर्श्याऽतप्ततपसाम् अवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायाऽन्तरधाद् यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ।।११।।

स्वोपेक्षादोषाभावाय प्रकर्षेण दर्शयित्वा. इन्द्रियाणां बहिर्मुखत्वेन दर्शनकरणायोग्यत्वेऽपि स्वसामर्थ्यं दत्वा प्रदर्शनं 'प्र'शब्दार्थः. तेषां दृष्टीनां साधनान्तराभावम् आह **अतप्ततपसाम्** इति. "**अतप्ततनूः न तद् आमो अश्नुते**" (ऋक्सं.७।३।८) इति श्रुतेः. येन न तप्तं तपः स तु आमो अपक्वः, नहि स जलाधारो भवितुम् अर्हति. जलनिकटे स्थितेपि आमघटे न जलं प्रक्षिप्यते, स्वरूपनाशशङ्कया. तथा भगवानपि स्वरूपं तेषां दृष्टौ न स्थापितवान्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

देवस्य इत्यत्र **रागम्** इति. स्वस्य यादवेषु स्नेहम्।।१०।।

तपोव्यतिरेकेण भगवति अन्यथाबुद्धिसम्भवात् तन्नाशएव स्यात्. तर्हि एतावत्कालं कथं स्थापितवान् तत्र आह **अवितृप्तदृशाम्** इति. न विशेषेण तृप्ता दृष्टिः येषाम्. वस्तुसामर्थ्याद् वस्तुविचारम् कृत्वैव रूपमेव पश्यन्तः. स्थिताः तृप्तप्रायाः जाताः. सर्वथा तृप्ताश्चेद् अन्यथा जानीयुः. अतएव उपसंहृतवान् इति अर्थः. **नृणाम्** इति राजसत्वम्. **आदाय** इति धर्मद्वारा तेषां दृष्टिषु प्रविष्टं ततः आच्छिद्य स्वयमपि अन्तर्हितवान्, मध्ये वा स्थापितवान्. **अवि**वन्मेषवद् वा तृप्तादृष्टिः येषाम्. तेहि अधोमुखाः नीचदृष्टयः. अतएव आदाने सुगमता. **स्वबिम्बम्** इति स्वयम् आदित्यो बिम्बं रूपम्. अनेन विदुरज्ञानं परास्तम्. यथा तेजोरूपं बिम्बं तथा आकृतिः सच्चिदानन्दरूपा इति. किञ्च. तद्रूपं लोकानां लोचनं ज्ञानरूपम्. नहि पदार्थबोधव्यतिरेकेण चक्षुषा किञ्चिद् जानाति. ''**चक्षुषः चक्षुः**'' (बृहदा.उप.४।४।१८) इति श्रुतेः लोचनम् एतदेव. नहि लोचनं दृश्यं भवति, निमेषमात्रेण च तिरोभवतीति तस्य तिरोभावो युक्तः इति अर्थः. 'तु'शब्देन रूपान्तरेण तिष्ठति इति सूचितम्।।११।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रदर्श्य इत्यत्र. **अन्यथा जानीयुः** इति. अन्यथा दोषारोपपुरःसरं जानीयुः. **अतएव** इति. एतदर्थम्. **विदुरज्ञानम्** इति. ''**अजस्य जन्म**''(भाग.पुरा.३।१।४४) इति पद्योक्तं स्वेच्छया जनिते देहे अग्निवद् भगवदावेशः इत्याकारकं ज्ञानम्. तत्र हेतुः **यथा** इत्यादि **इतिः** हेतौ. ननु लोच्यते अनेन इति करणव्युत्पत्त्या 'लोचन'शब्दस्य ज्ञानजनकत्वमेव अर्थो युज्यते, नतु ज्ञानरूपत्वम् इति चेत् तत्र आहुः **नहि** इत्यादि. तथाच बोधवैशिष्ट्यएव चक्षुषः करणत्वेन ज्ञानजनकत्वस्य बोधएव पर्यवसानात् तत्करणत्वेपि ज्ञानरूपत्वं न अयुक्तम्. विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषज्ञानस्य हीनोपादानबुद्धिं प्रति विषयत्वेन विषयज्ञानस्य मणित्वेन मणिज्ञानस्य च करणत्वेऽपि ज्ञानरूपत्वानपायेन ज्ञानरूपत्वव्याख्यानेपि दोषाभावाद् इति अर्थः. ननु तथापि गौण्यापत्तिस्तु दुर्वारैव इत्यतः आहुः **चक्षुषः** इत्यादि. तथाच लौकिकएव प्रत्युत गौणीति अर्थः. लोचनाधिदैविकत्वात् तद्धर्मान् अत्र आहुः **नहि** इत्यादि. नश्वरत्वपरिहाराय 'तु'शब्दः इति आहुः 'तु'शब्देन इत्यादि ।।११।।

यन्मर्त्येत्यत्र. **सच्चिदानन्दरूपम्** इति. **निरुपयितुम्** इति. पूर्वं

तद्रूपं सच्चिदानन्दरूपम् इति निरूपयितुं सदुत्कर्षं चिदुत्कर्षम् आनन्दोत्कर्षं च आह त्रिभिः **यद् मर्त्यलीलौपयिकम्** इति.

यद् मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग–मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ।।१२।।

इदं हि भगवतो रूपं सद्रूपम्. पञ्चभूतप्रकारेण पञ्चभूतसममपि पञ्चभूतेभ्यो विशिष्यते इति सदुत्कर्षः. तत्र पृथिव्युत्कर्षम् आह **यद् मर्त्यलीलौपयिकम्** इति. मृद्भावम् आपन्नाः मर्त्याः मृद्भावं त्यजन्ति इति वा मर्त्याः. पृथिव्यां ये भवन्ति तेषां या लीला स्वरूपक्लेशव्यतिरेकेण सर्वमनोहरचेष्टारूपा, तस्याः औपयिकं योग्यम्. मर्त्यानां न लीलाधारत्वम्, अमर्त्येषु मर्त्यलीलाभावः, तथापि पार्थिवानां न योग्यता. अतो अलौकिकमेव यद् मनुष्यरूपसदृशं शुद्धं सद्रूपं तदेव लीलायोग्यं, [क]कार्यदोषराहित्यात्. किञ्च,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यादवज्ञानानुवादे **भूतावासममंसत** इति तेषां विरुद्धज्ञानम् उक्तम्. तस्य विरुद्धत्वबोधनाय अविभक्तसच्चिदानन्दम् अक्षररूपम् इति वक्तुं सजातीय-विजातीयस्वगतवर्जितम् इति अर्थः. **पृथिव्युत्कर्षम्** इति. पृथिव्यपेक्षया उत्कर्षम्. ननु मर्त्यानां लीला इति समासे सम्बन्धषष्ठ्या आधारतारूपएव सम्बन्धः प्रतीयते. तथा सति मर्त्याधारकलीलायोग्यम् इति अर्थो भवति. तेन को वा पृथिव्युत्कर्षः सिद्धः इत्यतः आहुः **मर्त्यानाम्** इत्यादि. अत्र मर्त्यम् इति न उक्तम्. किन्तु नटचेष्टावद् अनुकार्यतच्चेष्टा-सजातीयचेष्टायोग्यत्वं, तेन तस्य मर्त्यभेदः सिद्धः इति एषः उक्तर्षः इति अर्थः. एतदेव प्रथमस्कन्धे स्फुटम् उक्तं, **''धत्ते जह्याद् यथा नटः''**(भाग.पुरा.१।१५।३५) इति. **कार्यदोषराहित्याद्** इति भावविकारराहित्यात्.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

यन्मर्त्यलीलौपयिकम् इत्यत्र. 'मृद्'शब्दात् यद् प्रत्ययम् अभिप्रेत्य आह **मृद्भावम् आपन्ना** इति. प्रसिद्धार्थम् आदाय आहुः **मृद्भावम्** इत्यादि. **त्यजन्ति** इति. पञ्चभूतानाम् अत्र अनित्यत्वाद् इति भावः. ननु मर्त्यानां लीला इति समासे सम्बन्धषष्ठ्या आधारतारूपसम्बन्धएव प्रतीयते. तथाच मर्त्याधारकलीलायोग्यम् इति अर्थः भवति. तेन को वा उत्कर्षः सिद्ध्यति? इति अतः आहुः **मर्त्यानां न** इति.

सु.क. 'कार्यसर्वदोष' इति मां२, 'सर्वदोष' इति जु, मां१,मां३ इति पाठः.

स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्. स्वस्य असाधारणरूपा साधनभूता सर्वभवनसमर्था या कारणरूपा माया, तस्याः बलम्. परीक्षार्थं बलिना यथा महत् कर्म कार्यते तथा सतो अनन्तरूपकर्त्र्याः सर्वसामर्थ्यं एकत्र व्यापृतं प्रदर्शनीयम् इति तादृशं रूपं निर्मितम्. नानाविधानि रूपाणि जलं स्वच्छतया गृह्णाति. तस्य जलस्य उत्कर्षो माया. वैकुण्ठस्थितमपि रूपं गृह्णाति इति जलभावेऽपि जलोत्कर्षः. किञ्च, स्वस्याऽपि विस्मापनम्. स्वयं हि तेजोमयः सर्वप्रकाशः सर्वमेव स्वरूपम् अन्येभ्यः प्रदर्शयति, तस्य न किञ्चिद् विस्मयं. तादृशस्याऽपि एतद् विस्मापनं विस्मयजनकम् ''अहो मया एतादृशमपि लोके प्रदर्श्यते'' इति. तेजोरूपं सत् तेजसोऽपि उत्कृष्टम्. किञ्च, **सौभगद्र्धेः परं पदम्**. सौभाग्यस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अनन्तरूपकर्त्याः इति. संचायकवद् रूपप्रयोजिकायाः. **प्रदर्शनीयम्** इत्यादि. स्वस्वरूपज्ञातृषु प्रदर्शनीयम् इत्यतो हेतोः तादृशं रूपं संचेयन्यायेन मायायां निर्मितम्. तेन जलोत्कर्षः कथम् इत्यतः आहुः **नाने**त्यादि. माया च स्वच्छत्वरूपा, तथाच यथा तेजोरूपस्य चन्द्रादेः प्रतिबिंबो हि अंशानां किरणानां जले प्रवेशाद् भवति, तत्र प्रविष्टे च अंशे चन्द्रधर्माः सर्वे मायया प्रत्याय्यन्ते*, तथाच संचायकस्थानापन्ना शुद्धसत्वात्मिका माया तस्यां सञ्चेय-न्यायेन प्रविष्टो यो अंशः तस्मिन् मूलधर्माः प्रत्याय्यन्ते*, तया इत्येषः मायिकत्वेऽपि मायोत्कर्षः इति अर्थः. एवञ्च संचेयतया भगवतो योगमाया समावृतत्वेन सर्वेषां भगवान् अप्रकाशः इति. **''नाहं**

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तर्हि प्रकृते कथं विवक्षितम्? अत आहुः **अमर्त्येषु** इति. ननु एतावता देवादिवदेव उत्कर्षः सिद्ध्यति नतु अतुल्यातिशयोऽपि इत्यतः आहुः **तथापि** इति. **पार्थिवानाम्** इति. पार्थिवावयवानां पार्थिवानां मुख्याधारत्वं न इति अर्थः. कथम् अलौकिकम्? इत्यतः आहुः **कार्ये**ति. कार्यगता ये दोषाः नश्वरत्वादयः तद्राहित्याद् इति अर्थः. **परीक्षार्थम्** इति. बलपरीक्षार्थम् इति अर्थः. **बलिना** इति. बलिष्ठेन इति अर्थः. पृथिवी उत्कर्षो निरूपितः. स्पष्टयन्ति **नाने**त्यादि. जलं हि स्वच्छतया दूरस्थितान्यपि सूर्य-चन्द्र-तारादिमण्डलरूपाणि गृह्णाति निकटस्थितानीव प्रदर्शयति च इति अयमेव जलस्य उत्कर्षो नतु सूर्यादिरूपे किञ्चिद् अधिकं सम्पादयति. तथा

प्रका*प्रत्याप्यन्ते.पाठः.

ऋद्धेः अणिमाद्यष्टैश्वर्यस्य च परमं स्थानम्. प्राणस्य योगस्य च कार्यम् एतद् द्वयम्, तेन वायुरूपं सद् वायोः उत्कृष्टम्. सौभगम् अत्र सौन्दर्यातिशयः सर्वपुरुषरोचकत्वम्. **ऋद्धिः** समृद्धिः. पुरुषोत्तमस्याऽपि रुचिजनकम् अतएव एतद्रूपे भगवतो अतिप्रीतिः, प्राणादपि अधिका. किञ्च, **भूषणभूषणाङ्गम्** इति. भूषणानां भूषणभूतानि अङ्गानि यस्य. भूषणानि अङ्गदादीनि कौस्तुभान्तानि, तेषां विभूषणम् अङ्गमेव. यथा इन्द्रनीलमणिः स्वर्णमणीनाम्. अनेन नभस्तले विमान-विद्युदादयइव भगवद्रूपे आभरणानि शोभन्ते इति आकाशतुल्यमपि आकाशाद् उत्कृष्टम्।।१२।।

एवं सदुत्कर्षं निरूप्य चिदुत्कर्षम् आह **यद् धर्मसूनोः** इति.

यद्धर्मनुसूनोर् बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाऽद्येह गतं विधातुर् अर्वाक्सृतौ कौशलम् इत्यमन्यत ।।१३।।

धर्मे हि ज्ञानम् अभिव्यक्तं भवति. धर्माद् जातं धर्मादपि उत्कृष्टम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रकाशः''(भग.गीता ७।२५) इति गीतावाक्यम्. मायावच्छिन्नेश्वरवादः तत्र च मायया मूलधर्मप्रतीतिर्मूले वास्तवास्ते धर्मा आवृते कंपादिवन्मर्त्यधर्मप्रतीतिः, वस्तुतस्तदभावः इति सर्वं यथास्थितं सङ्गतं भवति ।।१२।।

यद्धर्मसूनोः इत्यत्र. दृक्स्वस्त्ययनं व्युत्पादयन्ति **सर्वे** इत्यादि.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

आनन्दमयरूपस्य व्यापिवैकुण्ठादौ स्थितस्थंमेव इयं माया प्रदर्शयति इति तस्याः उत्कर्षः इति अर्थः. एतावता न भगवता तस्याः सम्बन्धः इति जलदृष्टान्तेनैव ज्ञापयन्ति **जलभावेऽपि** इति. सूर्यादीनां प्रदर्शनेन जले न कश्चन धर्मान्तरं उत्पद्यते किन्तु जलभावएव जलत्वमेव, तथाऽपि तादृशदूरवर्तिस्वरूपप्रदर्शकत्वमात्रेण तदुत्कर्षः तथापि इति अर्थः. **प्राणस्य** इति.... **अतएव एतद्रूपे** इति. भागवतः एतद्रूपे भक्तानां प्राणादपि अधिका इति अर्थः. **उत्कृष्टम्** इति उत्कृष्टत्वम् इति अर्थः।।१२।।

यद्धर्मसूनोः इत्यत्र. 'धर्मसूनु'पदतात्पर्यम् आहुः **धर्माद् जातम्** इत्यादि. धर्माद् जातं हि कार्यं **धर्मादपि उत्कृष्टं** भवति, धर्मस्य साधनत्वापन्नस्य गौणत्वात्. तथाच राज्ञः उत्कर्षः उत्पन्नशिष्टएव इति भावः. **तस्यापि** इति. धर्मसूनोरपि इति अर्थः. **धर्मोत्कर्षे**ति. वैदिकधर्मतोऽपि उत्कर्षं निरूपयति इति अर्थः. एवञ्च

तस्याऽपि राजसूययागो धर्मोत्कर्षरूपः. तादृशीम् अवस्थां स्मृत्वा धर्मेण आह. **बत** इति हर्षे. सर्वेऽपि भगवद्रूपं दृष्ट्वा एवं ज्ञातवन्तः तद्रूपं वर्णयति **दृक्स्वस्त्ययनम्** इति. दृष्टीनां **स्वस्ति** कल्याणरूपम् **अयनं** स्थानम्. सर्वेऽपि विषया दृष्टीनां नाशकाः, येऽपि भगवद्विषयाः तेऽपि स्वरूपतः कल्याणरूपा न. किं बहुना, विषयमात्रमेव तद्दृष्टिव्ययजनकम्, नतु पोषकम्. ज्ञानमेवतु दृष्टिपोषकम्. ज्ञानेन्द्रियाणाञ्च तदेव अयनम्. सजातीयएव प्रविष्टं सजातीयं वद्र्धते. तेन विषयपक्षेऽपि ''**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्**'' (कठोप.२।१।१)

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नाशकाः इति. अंशतो नाशकाः. अतएव मणिपरीक्षकादीनां तत् स्थापनार्थं बाल्यादेव उपनयनाभ्यासः. ननु ''**स सर्वधीवृत्तिः**''(भाग.पुरा.२।१।३९) इत्यत्र अस्मदिन्द्रियाणां भगवद्विषयत्वं व्युत्पादितम्. तथा सति अस्मद्दृशो भगवद्विषयत्वं, तथाच न स्वनाशः क्रियते इति पूर्वोक्तम् असङ्गतम् इति आहुः **येऽपि** इत्यादि. 'स्वस्ति'पदं हि अविनाशे कल्याणे च रूढम्. तथाच अनाशकत्वाभावे दृष्टेः स्वापोषकत्वाद् न तेषामपि कल्याणरूपता इति अर्थः. एतदेव आहुः **किं बहुना** इत्यादि. तर्हि प्रकृतेऽपि विषयत्वात् तथात्वापत्तिः इत्यतः आहुः. तथा च विषयत्वेपि ज्ञानरूपत्वाद् न तथात्वम् इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **ज्ञानेन्द्रिये**त्यादि. सच्चिदानन्दरूपे प्रपञ्चे इन्द्रियाणां स्वसजातीयविषयग्राहकत्वम् अन्यत्र उपपादितं, दशमस्कन्धे ''**अदर्शनं स्वशिरसः**''(भाग.पुरा.१०।४२।२८) इत्यत्र उपपादयिष्यते च. एवं सति ज्ञानरूपाणाम् इन्द्रियाणां तस्यैव स्थानत्वाद् उक्तरीत्या तथा इति अर्थः. ननु एवं ज्ञानरूपत्वेपि विषय-विषयीभावा[१]दृ(?)काभावेन साजात्याभावात् कथं

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

नैमित्तिकोऽपि उत्कर्षः उक्तो भवति इति भावः. **धर्मेणे**ति. हर्षात्मकधर्मप्राधान्येन इति अर्थः. **भगवद्विषया** इति. भगवता...बोधिता ये ''**पश्यन् शृण्वन्**'' (भग. गीता ५।८) इति श्लोकोक्ताः विषयाः तेऽपि स्वरूपतः स्वस्तिरूपा न भवन्ति. सङ्गादिना तेषामेव बन्धकत्वसम्भवात्. किन्तु कल्याणजनकास्तु भवन्ति, पापलेपनिवारकत्वात्. तथाच तेऽपि धर्मिबोधकस्वस्तिपदेन व्यावर्तिता इति भावः. आधिदैविकप्राप्त्याऽपि प्रकृतेः स्वस्त्ययनत्वं सुघटम् इति आशयेन आहुः

१.दृक्त्वा इति स्यात्.

इति न्यायेन यदा ज्ञानमेव पश्यति चक्षुः तदा स्वस्त्यनं भवति. ''**चक्षुषः चक्षुः**''(बृहदा.उप.४।४।१८) इति श्रुतेश्च. तदा त्रिलोकस्य या बुद्धिः जाता ताम् आह इह चिद्रूपे भगवच्छरीरे कौशलं **विधातुः** जगत्कुर्तुः गतम्. अर्वाक्सृतावेव कौशलम्. इतो अर्वाक् सत्वसृष्टावेव जगत्कर्तुः सामर्थ्यम्. अथवा, अर्वाक्सृतिः मनुष्यसृष्टिः अर्वाक्स्त्रोतस्त्वात् तत्र यत् कौशलं तद् इह गतम्. अर्वाक्सृतिकौशलेन इदं कर्तुं न शक्यते इति अमन्यत. तेन स्वस्त्ययनत्वात्, सर्वलोकप्रतीतिसिद्धत्वात्, सत्वसृष्ट्यतिरिक्तम् एतत् चिद्रूपम् इति।।१३।।

आनन्दरूपताम् आह **यस्यानुरागे**ति.

यस्यानुरागप्लुतहासरास–लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।

व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त–धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः।।१४।।

स्त्रियो हि आनन्दप्रधानाः, तासां दृष्टिः आनन्दएव भवति. यतः आनन्दार्थमेव प्रयतन्ते, साधने वा. प्रकृते साधनत्वाभावाद् निरूपाधिक–स्त्रीदृष्टिविषयत्वेन आनन्दत्वम् उच्यते. यस्य भगवतो अनुरागेण प्लुतो यो हासः, **प्लुतो** निमग्नो अधिको वा, तत्सहितो यो **रासः** रससमूहात्मको बहुनर्तकीयुक्तो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पोषकत्वम् इत्यतः आहुः **चक्षुषः** इत्यादि. तथाच एवं साजात्ये सर्वदृशां तत्र प्रवेशेन संसर्गाद्द[2](?)वर्धने युक्तैव कल्याणरूपा इति अर्थः. अतएव स्वरूपवर्णने मनोनयन-वर्द्धनम् इति प्रयोगोऽपि. एवं चिद्रूपत्वं प्रतिपाद्य तदुत्कर्षं साधयन्ति **तदा** इत्यादि. **इतो अर्वाग्** इति. चितो अर्वाक्. तस्यैव विवरणं **सत्त्वसृष्टौ** इति।।१३।।

यस्य अनुरागेत्यत्र. **आनन्दरूपताम्** इति. उत्कृष्टानन्दरूपताम्. तद् उपपादयन्ति **स्त्रियः** इत्यादि.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

''**चक्षुषश्चक्षुः**'' इति. **गतम्** इति. नष्टम् इति अर्थः. **अर्वाक्स्त्रोतस्त्वात्** इति. ''**अर्वाक्स्त्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्**'' (भाग.पुरा.३।१०।२५) इति तृतीये दशमाध्याये स्पष्टम्।।१३।।

यस्य इत्यत्र. **साधनत्वाभावाद्** इति. एतस्य आनन्दरूपस्य फलरूपत्वेन अन्यशेषत्वाभावाद् इति अर्थः. **निरूपाधिके**ति. निरूपाधिकस्नेहवत् स्त्रीविषयो

२.'संसर्गाद्वर्धने'.

नृत्यविशेषः, तत्र यद् लीवलावलोकनम्, तेन प्रतिलब्धो मानो याभिः. पूर्वम् अभिमानं परित्यज्य भक्तिमार्गानुसारेण भगवन्तं प्रपन्नाः. तत्र सख्यपर्यन्ते भगवद्भजने जाते अनुरागः प्रवृद्धः. हाससहितो रासो भावोद्गारी हृदये भगवदैक्यं प्रापयति. तत्र हास्यांशः काममध्ये प्रविष्टो भेदमपि बोधयेद् इति अनुरागेण प्लुतः कृतः परमप्रेमात्मको जातः. उत्साहजनकत्वाद् हासोऽपि अपेक्षितः. रासो वश्यतापादकः. अतएव तत्र वशीभूतस्य भगवतो यद् लीलावलोकनम्, तेन पूर्वं त्यक्तोऽपि मानो भगवता स्थापितो दृष्टिद्वारा दत्तः इति प्रतिलब्धमानाः भवन्ति. अनेन दीनतया भक्तिरसः आक्षिप्तः. स्वतन्त्राएव ताः भगवदानन्दानुभवे समर्था जाताः इति अर्थः. **व्रजस्त्रियो** गोकुलस्त्रियः. व्रजति इति व्रजः, सदा एकत्र स्थितिरहितः. तादृशीनां स्तब्धतया एकत्र रसास्वादनं स्वभावेन विरुद्ध्यते इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निरुपाधिकदृष्टिविषयत्वं व्युत्पादयन्ति **पूर्वम्** इत्यादि. **अनुरागः** इति एतासां भगवति अनुरागः. **भगवदैक्यम्** इति. मनसो लये चिदंशस्य स्वात्मनो रसात्मना भगवता सह अभेदप्रतीतिः, तदभावार्थम्. **परम-प्रेमात्मकः** इति. वाक्यान्वयाधिकरणोक्तरीतिकब्रह्मधर्मात्मकः. एतेन अनुरागस्य अनया प्रणाड्या निरुपाधिकत्वं प्रकटीकृतम्. ननु एवं परमप्रेम्णा अभेदएव संपाद्ये भेदबोधकस्य हासस्य किमिति मध्ये निवेशः इत्यतः आहुः **उत्साहे**त्यादि. **''सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा''**(भाग.पुरा.९।४।६६) इति दृष्टान्तबोधितं रासस्य कार्यान्तरम् आहुः **रासः** इत्यादि. ननु तादृशभक्त्यभावे कथं रासेन वश्यता इत्यतः आहुः **अनेन** इत्यादि. **आक्षिप्तः** इति. अर्थाक्षिप्तः. **स्वतन्त्राः** इति **''सो अश्नुते''** (तैति.उप.२।१) इति उक्तरीत्या स्वतन्त्राः. **आनन्दमयः** इति. निरवध्यानन्दात्मको भूमा इति अर्थः. एवम्

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

भवति इति अर्थः. **अभिमानं परित्यज्य** इति. श्रुतिरूपाणां हि वरप्रार्थितम् इति भगवद्रूपदर्शनेन स्वरूपज्ञातृत्वाद्यभिमानो यः पूर्वं स्थितः सः निवृत्तः. अतएव तद्रूपस्य भक्त्या भजनमेव प्रार्थितम् इति. ऋषिरूपास्तु पूर्वं प्रमाणमार्गपरत्वाभिमानेन स्थिताअपि भगद्रूपदर्शनेन तथाप्रपन्ना इति तथा इति भावः. **भेदम्** इति. तथा सति भगवदैक्यप्राप्तिहेतुभूत-भावोद्गारित्वं न सिद्ध्येद् इति भावः. **अनेन** इति. लब्धमानत्वकथनेन इति अर्थः. **आक्षिप्तः** इति. निवारितः इति अर्थः.

स्वभावविजयी भगवान् आनन्दमयः. कामसाधकत्वाभावम् आह **दृग्भिः अनुप्रवृत्तधियः** इति. दृग्भिः सह अनुप्रवृत्ता धियो यासाम्. यथा दृष्टिः भगवति प्रविष्टा, तत्सङ्गे चेतनाऽपि तत्रैव गता. अतो न स्वशरीरे तासां कामभोगापेक्षा, भगवत्स्वरूपएव आनन्दानुभवात्. न कामेन आनन्दो न वा स्वस्मिन् जातस्य आनन्दस्य अनुभवः, अन्तःकरणादीनां तत्रैव व्यापृतत्वात्. न आत्मनि आनन्दजननसामर्थ्यम्. अस्मिन् अर्थे न सन्देहः कर्तव्यः इति आह **किल** इति. किञ्च **कृत्यशेषाएव अवतस्थुः**. कृत्ये शेषो यासाम् ताः. प्रतिक्षणं भगवदात्मकतामेव प्राप्नुवन्ति इति गृहकृत्ये तासां कृत्यशेषएव तिष्ठति, देहस्मरणाभावात्. अतोऽपि स्वस्मिन् आनन्दोत्पत्तिः. यथा दूरे स्थितं दृष्टिः विषयीकरोति, तथा दूरे स्थितं भगवन्तमपि आनन्दरूपं दृष्टिः विषयीकरोति, अन्यथा आनन्दप्रेप्सूनाम् एवं स्थितिः न स्यात्।।१४।।

एवं सच्चिदानन्दत्वं स्वरूपस्य उपपाद्य, तत्र जीवस्येव भगवतोऽपि स्थितिः वक्तव्या इति आशङ्क्य, तत्रैव सच्चिदानन्दरूपे अक्षरे स्थितस्य पुरुषोत्तमस्य अग्निवत् तत्र प्रादुर्भावः इति आह **स्वशान्तरूपेषु** इति.

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैः अभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः।।१५।।

अक्षरस्य एवंप्रकारेण आविर्भावः, तत्र भगवदाविर्भावश्च निर्निमित्तं न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आनन्दोत्कर्षः समर्थितः. एतद्दाढ्यार्थम् आनन्दसाधनत्वेन दर्शनविषयत्ववारणाय आहुः **काम**ेत्यादि. **अन्यथा** इत्यादि. तथाच यदि आनन्दसाधनत्वेन भगवान् दर्शनविषयः स्यात्, चेतनायाः सर्वांशेन भगवति अनुप्रवृत्तिः न स्यात्. यदि तथा स्यात् तदा सर्वकृत्यशेषत्वेन अवस्थानं न स्यात्. एतेन यत्किञ्चित्कृत्यकरणमपि तासां **''ते तु ब्रह्महृदम्''**(भाग.पुरा.१०।२८।१६) इति न्यायेन भगवत्कृतमेव इति सिध्यति, तेन न कोऽपि शङ्कालेशः।।१४।।

स्वशान्तरूपेषु इत्यत्र **तम् अर्थम्** इति. आविर्भावनिमित्तभूतम् अर्थम्.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

न आत्मनि आनन्देति. उक्तहेतोः आत्मनि तदजननसामर्थ्यं न इति अर्थः. **अन्यथा आनन्दे**ति कामानन्देत्यर्थः।।१४।।

भवति. अन्यद्वारा तमर्थं कारयन् विषमो भवेत्. अतः पुत्रशिक्षावद् भगवान् दैत्यान् मारयति इति आह स्वस्य शान्तेषु स्वरूपेषु देवादिरूपेषु अशान्तैः **इतरैः** स्वरूपभूतैरेव दैत्यैः **अर्द्यमानेषु** सत्सु दयाविष्टचित्तः सर्वांशेनापि **अजः** उभयसमाधानार्थं स्वयं साक्षारः पुरुषोत्तमः आविर्भूतः इति अर्थः. कालकर्मादि-प्रेरणाभावार्थम् आह **परावरेशः** इति. **परः** कालादिः, **अवरः** कर्मादिः, तेषां नियन्ता. ननु पुरुषो नारायणः प्रथमपुरुषो वा स्वानन्देन सह अविर्भावं लभतां किं पुरुषोत्तमार्विभावेन? इत्यत आह **महदंशयुक्तः** इति. महान् अंशो यस्य प्रथम-पुरुषस्य, तद्युक्तः. सृष्ट्यर्थं स्वस्मिन् प्रकृतिपुरुषम् अन्तर्भाव्यैव आविर्भवति. अतएव स्वस्मिन् यशोदादिभिः जगद् उपलभ्यते. एतदेव हि ब्रह्मलिङ्गम्. *अन्यव्यावृत्यर्थम् आह **भगवान्** इति. **यथा अग्निः** इति व्याख्यातम्।।१५।।

एवम् अक्षरपुरुषोत्तमत्वं भगवद्देहात्मनोः उपपाद्य लोकप्रतीतिविरोधं भगवद्वाक्यविरोधं च परिहर्तुम् आह द्वयेन **मां खेदयति एतद्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

महान् इति. महत्तत्त्वम्. ननु प्रथमपुरुषयुक्तत्वे आभरणादिवत् तत्प्रतीतिः स्याद् इत्यतः आहुः **सृष्टी**त्यादि. तथाच अन्तरभावाद् न प्रतीतिः इति अर्थः. अन्तर्भावे किं मानम् अतः आहुः **अतएव** इत्यादि. **एतदेव** इति. जन्मादिसूत्रोक्तं जगदाधारत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वञ्च. **अन्यथा व्यावृत्त्यर्थम्** इति. अक्षरपुरुषव्यावृत्त्यर्थम्. **व्याख्यातम्** इति. विद्यमानस्यैव प्रकटीभावो नतु आगमनम् इति एतदाभासग्रन्थएव उक्तम् इति अर्थः. एतेन व्यापिवैकुण्ठे स्थितेरत्र स्थितेश्चैतावान् विशेषः इति बोधितम्. तेन "**वृन्दावनं सखि**"(भाग.पुरा.१०।२१।१०) इत्यस्य आभासटिप्पणी यथा श्रुतैव सङ्गच्छते इति ज्ञेयम्।।१५।।

माम् इत्यत्र **एवम्** इति. त्रिभिः स्वरूपम् उक्त्वा तस्मिन् अग्निवत् स्थितस्य आविर्भावकथनेन. अयुक्तत्वे हेतुम् आहुः **किमि**त्यादि. खेदे हेतुम् आहुः **एतदपेक्षया**

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

स्वशान्तरूपेषु इत्यत्र. **उभयसमाधानार्थम्** इति. अजत्वस्य लोकरक्षार्थं जन्मनश्च समाधानार्थम् इति अर्थः. **नारायणः** इति. विराड् अभिमानी जलशायीम् इति अर्थः. **प्रथमपुरुषः** इति. महत्तत्त्वकारणं प्रकृत्यधिष्ठानेत्यर्थः।।१५।।

---

* अन्यथा. क. घ.

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म–विडम्बनं यद् वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं पुराद्दव्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः।।१६।।

भगवान् लोकवञ्चनार्थं प्राकृतदेहत्वं ख्यापयितुं वसुदेवपुत्रत्वादि–विडम्बनं यत् करोति तद् विडम्बनमपि तस्य सर्वथा अयुक्तम् इति. किं सर्वसमर्थस्य वञ्चनेन इति तथाकरणं मां खेदयति इति आह **अजस्य जन्म–विडम्बनम्** इति. तत्रापि **वसुदेवगेहे** वसुदेवस्य भार्यायां देवक्याम्. एतदपेक्षया स्तम्भइव, जलइव, ब्रह्मणो हृदयादिव आर्विर्भावविडम्बनं समीचीनमिति **मां खेदयति**. किञ्च, **व्रजे च वासो** मां खेदयति. कुत्र व्यापिवैकुण्ठवासी, लौकिकानामपि वासायोग्ये गोकुले किमिति **अवात्सीद्** इति. किञ्च. **अरिभयादिव** जरासन्धादिभिः भीतइव **पुराद्** मथुरातो **व्यवात्सीद्** इति यत् पुरात् पलाय्य स्थानान्तरं गतम् इति **यत्**[1]. विवासः परदेशवासः. अयुक्तत्वे हेतुः **अनन्तवीर्यः** इति. **व्रजे च** इति 'च'कारो गुरुकुलादिसङ्ग्रहार्थः. **अरिभयाद्** इति. भयाभावादिव इति अयुक्तम्[2]. न हि सर्वात्मनो अरयः सन्ति, न वा तस्य भयम्, अन्यषां भयनिवर्तकत्वाच्च. **स्वयम्** इति न आंशद्वारा।।१६।।

वाक्यविरोधं परिहरति **दुनोति चेतः** इति.

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद् यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
ताताऽम्ब! कंसादुरुशङ्कितानां प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ।।१७।।

पित्रोः पादौ अभिवन्द्य कंसवधानन्तरं देवकी–वसुदेवपादौ अभिवन्द्य भगवान् एवम् आह **हे तात! हे अम्ब! कंसाद् उरुशङ्कितानां** किं करिष्यति इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. तथाच यदि जन्मानुकरणमेव आवश्यकं, तदा नृसिंह-मत्स्य-वराहवत् तत्कर्तव्यं, तदभावात् खेदः इति अर्थः. **लौकिकानाम्** इति. लोक उत्कृष्टानाम्. उभयाभावं व्याकुर्वन्ति **नहि** इत्यादि ।।१६।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

दुनोति इत्यत्र. **वाक्यविरोधम्** इति. "**तात! अम्ब!**" इत्येवमादीनि वाक्यानि **भगवतो** अयुक्तानि इति. विरोधमिति लोकव्यामोहनार्थत्वमात्रपदत्वव्यावेन व्यानेन

---

१ . यावत्. ख. २. 'उभयाभावाद्' इति जु,अ,मां१,मां२,मां३ पाठः.

शङ्कया अतिभीतानाम् अस्माकम् उपरि **प्रसीदतं** प्रसन्नौ भवतम् इति. यद् एतद्वाक्यं तत् **स्मरतो मम चेतः, दुनोति** दुःखितं करोति. अनेन सर्वाण्येव भगवद्वाक्यानि "**मानुषीं तनुमास्थितम्**" (भग.गीता.९।११) "**वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम्**" (भाग.पुरा.१०।५१।४१) इत्यादिवाक्यानि लोक-व्यामोहार्थम् इति व्याख्यातानि. यदा भगवद्वाक्यनामेव एषा गतिः तदा तैः व्यामोहितानां वाक्यानां किं वक्तव्यम् इति भावः।।१७।।

एवं सर्वविरोधं परिहृत्य, साक्षात् पुरोषत्तमत्वम् उपपाद्य, तस्य गुणकर्माणि निरूपयिष्यन्, भक्तिमार्गसिद्धये आदौ भजनीयान् गुणान् निरूपयति **को वा** इति.

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं विस्मर्तुम् ईशीत पुमान् विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद् भ्रूविटपेन भूमेः भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ।।१८।।

भजनीयः सएव स्याद् यः स्वयम् अभयः[अ], सकृदपि प्रपन्नं सर्वतो भयाद् मोचयति[आ], ऐहिकामुष्मिकीं च ऋद्धिं मोक्षं च प्रयच्छति[इ], भजनसन्देहेऽपि अनुषङ्गादपि यो मुक्तिं प्रयच्छति[ई], स्वयं च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः[उ], अनधिकारि-णोऽपि गतिं प्रयच्छति[ऊ], परार्थं स्वकृतनियममपि विरुद्धं न मन्यते[ए]—एवं यः सप्तगुणो भवति, षडङ्गसहितभजनोपयोगिमहागुणवान् स भजनीयः इति सप्तस्वपि गुणेषु हेतुभूतं गुणत्रयम् अन्यत् चेत्, भवति अतिसामर्थ्यम्, स्वरूपतएव सर्वोत्कर्षः, परमा दया च; स सर्वेषाम् उपास्यो भवति. तद् आह सप्तभिः श्लोकैः. प्रत्येकम् एकैकेन सप्तगुणाः. द्वाभ्यां त्रिभिः, ततो द्वाभ्यां तैरैव [क]स्थूलगुणाः निरूप्यन्ते.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दुनोति इत्यत्र. **एषा गतिः** इति. स्वरूपविरोधाद् भगवद्वाक्यान्तर-विरोधाच्च अनादरणीयत्वम्।।१७।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

परिहरति इति अर्थः. सर्वाण्येव भगवद्वाक्यानि कथम् अविरुद्धानि? इत्यत आहुः **मानुषीम्** इत्यादि।।१७।।

को वा इत्यत्र. **तैरेव** इति. सप्तभिरेव श्लोकैः इति अर्थः. अतिसामर्थ्यं

१.स्थूलगुणाः.

तत्र प्रथमम् अतिसामर्थ्यं निरूपयन् आश्रितसर्व–दुःखदूरीकर्तृत्वम् आह **को वा** इति. सर्वे हि प्राणिनः सर्वानेव भजन्ते. तद्गत–गुणदोषैः अनुरक्ताः विरक्ताश्च भवन्ति. एवम् अत्र निर्द्धारः. भजनीयदोष–व्यतिरेकेण सेव्यमानं न त्यजन्ति. लोके हि सर्वेषामेव देवानां मनुष्याणां वा सेवकाः तत्परित्यज्य भगवदीया जायन्ते, न भगवदीयाः कदाचिदपि अन्यस्य. यस्तु इमं शास्त्रार्थम् अन्यथाकरिष्यामि इति भगवन्मार्गे समागत्य तं त्युक्तुम् इच्छति कौतुकादपि, सोऽपि तथा कर्तुं न शक्नोति. तद् आह **अमुष्या–ङ्घ्रिसरोजरेणुं** सुकृदपि **विजिघ्रन् को वा विस्मर्तुम् ईशीत** इति. अतः सएव ईशः, यस्तु इशितव्यान् वशीकरोति. रेणुः घ्राणमार्गेण अन्तर्गतः पूर्वोक्तस्य सङ्घातं भगवदीयमेव करोति. स तदर्थोत्पादितसङ्घातः सर्वतो व्याप्तं तं रेणुं विस्मर्तुं न समर्थो भवेत्. ननु क्लिष्टः सङ्घातमपि विस्मरति, क्लेशनाशकमेव अधिमन्यते इति चेद्, तत्र आह **यो विस्फुराद्** इति. अयं हि कल्पतरुः, यस्य भ्रूः पर्णसहिता काचित् शााखा. अनन्तशाखस्य सा एका शाखा संहारकर्त्री स्वभावतः. सन्तुष्टातु सापि परम् ऐश्वर्यं प्रयच्छति. अतः तादृशशाखायाः विद्यमानत्वात् स्वानिष्टनाशे का शङ्का?

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

को वा इत्यादि सप्तानां तात्पर्योक्तौ **स्वयं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः** इति पद्यद्वयतात्पर्यबोधकम्. **मूलगुणाः**[क] इति. अतिसामर्थ्यादयः. **को वा** इत्यत्र 'वा' इति अनादरस्य यो विषयः तं स्फुटीकुर्वन्ति **यस्तु** इत्यादि. ये च अन्ये मन्दाः मन्दभाग्याः आधुनिकाः तथा कुर्वते, तत्र हेतुं व्याकुर्वन्ति **रेणुः** इत्यादि. तथाच यद् घ्राणद्वारा सः रेणुः न अन्तःप्रविष्टः, सो अनादरविषयः इति अर्थः. **परम् ऐश्वर्यं प्रयच्छति** इति

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

निरूपयन् इति अर्थः. द्वाभ्यां निरूपयन्ति **आह** इति. एकेन आह इति अर्थः. **पूर्वोक्ते**ति. "**या वै लसत् श्रीतुलसीविमिश्र**"(भाग.पुरा.१।१९।६) इति श्लोकोक्तः इति अर्थः. **तदर्थे**ति. भगवदीयत्वार्थम् उत्पादितः सङ्घातो यस्य तादृशः **सर्वतो व्याप्तं रेणुं विस्मर्तुं समर्थो भवेद्** अपितु न भवेद् इति का क्व योजनीयम्. **सङ्घातमपि** इति. तथाच रेणुं विस्मरति इत्यत्र किं वाच्यम् इति अभिमानः **अधिमन्यते** अधिकं मन्यते. **तत्र आह** इति आशङ्कायां भगवतएव सर्वक्लेशनाशकत्वम् आह इति अर्थः।।१८।।

क. मूलगुण' इति जु, मां१,मां२,मां३ पाठः.

यतो भूमेरेव सर्वाधारभूतायाः कृतो अन्तो येन. विशेषेण स्फुरता. यत्र भारसम्भावनाऽपि तत्र स्वयं गत्वा दूरीकरणस्वभावेन **भ्रूविटपेन** भारमपि **तिरश्चकार**. यदर्थं सर्वेषामपि देवादीनां महान् यत्नः. यावते दूरीकर्तुम् आयान्ति, तावत् स भारः पूर्वमेव तिरोभवति. यथा प्रथमोद्गतैः सूर्याकिरणैरेव सर्वतमोनाशः, सूर्यस्तु तमः पश्यत्यपि न; तथा भगवान् भक्तानाम् इति अर्थः।।१८।।

इष्टफलन्तु भक्तानां न वक्तव्यमेव. यतो द्विषन्नपि भगवन्तम् असुरोऽपि लोभाभिभूतः सर्वधर्मप्रतिपक्षो भगवत्सम्बन्धमात्रेणैव निषिद्धेनापि ज्ञानिनोऽपि दुर्लभं सायुज्यं प्राप्तवान्. अयञ्च अर्थः सर्वजनीनः तद् आह **दृष्टा** इति.

दृष्टा भवद्भिः ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग् योगेन कस् तद् विरहं सहेत ।।१९।।

कृष्णं द्विषतोऽपि चैद्यस्य शिशुपालस्य राजसूयसभायां सर्वैरेव राजभिः तत्र सेवायां क्रियमाणायां या **सिद्धिः** सायुज्यरूपा सा **भवद्भिरेव दृष्टा**. **ननु** इति सम्बोधनं संमत्यर्थम्. **यां** सिद्धम्. **योगिनः** स्वभावतः उत्तमाः फलपर्यवसायिना सर्वसाधनसहितेनाऽपि **योगेन** वाञ्छामेव केवलं कुर्वन्ति, नतु भगवत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तां प्राप्नुवन्ति. अतः को वा *तत्सम्बन्धाभावरूपं भगवद्**विरहं सहेत**? भगवत्सम्बन्धो हि कोटिकल्पवृक्षादपि अधिकः. सः प्राप्तः केन वा त्यक्तुं शक्यः? इति अर्थः।।१९।।

एवम् इष्टसिद्धिहेत्वनिष्टनिवारकभगवद्गुणं निरूप्य स्वरूपं निरूपयन् सम्बन्धव्यतिरेकेणाऽपि केवलस्वरूपसम्बन्धेनैव पूर्वोक्तादपि अधिकं फलं प्रयच्छति इति आह **तथैव** इति.

तथैव चाऽन्ये नरलोकवीरा य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ।।२०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''**तद्भूविजृम्भः परमेष्ठि-धिष्ण्यम्**'' (भाग.पुरा.२।१।३०) इति वाक्यात् तथा इति अर्थः।।१८।।

दृष्टेत्यत्र. **निषिद्धेन** इति, प्रकारेण इति शेषः।।१९।।

तथैव इत्यत्र **निरूपयन्** इति. निरूपयिष्यन्. ''**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्**

---

*. 'भगवत्सम्बन्धाभावरूपम्' इति जु,मां१,मां३ पाठः.

ये नरलोके वीराः, **अन्ये** भगवत्सम्बन्धरहिताः, भगवन्तं जानन्त्यपि न, तेऽपि **आहवे** स्वरूपसौन्दर्येणैव व्यामुग्धाः, **नेत्रैः नयनाभिरामं** लावण्यामृतपूरं कृष्णमुखारविन्दं पश्यन्तो भगवत्सायुज्ये प्रतिबन्धकरूपम् अशुद्धं देहं निराकृत्य पार्थास्त्रैः पूता बहवएव व्यापिवैकुण्ठं तच्चरणाविन्दं प्रापुः।।२०।।

एतादृशे का फलचिन्ता? अत्र परम् एकमेव बाधकम्, व्यामोहिका भगवल्लीला, तया चेद् न व्यामुग्धः. सा हि भगवतः सर्वोत्तमत्वादिगुणान् भजनीयतां च शास्त्ररहितानां बुद्धौ स्थिताम् अपनयति. तत्र सावधानेन भाव्यम् इति आह द्वाभ्याम् **स्वयं तु** इति.

स्वयं त्वसाम्यातिशयस् त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याऽऽप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिः चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः।।२१।।
तत् तस्य कैङ्कर्यम् अलं भृतान्नो विग्लापयत्यङ्ग यद् उग्रसेनम्।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठ्यधिष्ण्ये न्यबोधयद् देव निधारयेति।।२२।।

एषा लीला व्यामोहिका या स्वयम् ईश्वरो भूत्वा सर्वोत्तमः सर्वाधमस्य स्तब्धस्य स्वयं तं तादृशं विधाय कैङ्कर्यं करोति इति. येन भ्रान्तानां हृदये ''अयम् एतादृशएव'' इति भ्रान्तो मन्यते. तत्र प्रथमं तस्य सर्वोत्तमत्वम् आह **स्वयम्** इति. 'तु'शब्दो भ्रान्तप्रतीतिव्यावृत्यर्थः. न विद्यते लोके वेदे वा साम्यम् अतिशयश्च यस्य. यस्मात् स्वरूपतो गुणतश्च प्रसिद्ध्यापि त्र्यधीशः. किञ्च. अपेक्षितमपि किमपि न अवशिष्यते यद् लौकिकन्यायेन कैङ्कर्यहेतुः भवति. तद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वा''(पाणि.सू.३।३।१३१)।।२०।।

स्वयन्तु इत्यत्र. **तया चेद् न व्यामुग्धः** इत्यनेन तदानीमपि येषाम् अमुक्तिः तत्र उपपत्तिः उक्ता. **तादृशम्** इति. ईश्वरम्. **त्र्यधीशः** इति. गुणत्रयेशो

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

स्वयन्तु इत्यत्र. **सर्वाधमस्य स्तब्धस्य** इति. उग्रसेनस्य विशेषणम् इति स्यात्. विशेषणद्वयस्य तात्पर्यार्थो अयम्. सेनायाः उग्रत्वोक्त्या पूर्वम् अस्य सर्वोऽपि परिकरः तथैव इति ज्ञाप्यते इति तथा. **तादृशम्** इति. स्वकीयः ऐश्वर्यगुणादिमतं **विधाय** इति. अतएव श्रीबलदेवैः....रत्या. **येन भ्रान्तानाम्** इति. येन कैङ्कर्यादिना ये भ्रान्ताः तेषां हृदये अयं भगवान् सामान्येव देवः इति भासते इति हेतोः भ्रान्ताः तथा मन्यन्ते इति

आह **स्वाराज्यलक्ष्म्या**. स्वस्मिन्नेव यद् राज्यम्, सर्वमेव हि जगत् स्वस्मिन्नेव वर्तते; यः स्वस्मिन् राज्यं करोति सः सर्वस्मिन्नेव करोति. तत्र या लक्ष्मीः निरतिशयानन्दरूपा, तयैव प्राप्ताः सर्वे कामाः येन. ''**अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि मात्राम् उपजीवन्ति**'' (बृहदा.उप.४।३।३२) इति श्रुतेः. किञ्च. लोकेऽपि तस्य ऐश्वर्यं सिद्धम्. यतो **बलिं हरद्भिः** चिरकालीनैः लोकपालैः **किरीटकोटिभिः ईडितं** स्तुतं पादपीठं यस्य. यथा पदार्थकरणपक्षः तथा किरीटैरपि पीठस्य स्तोत्रम्. स्वयम् अपकृष्टभावेन नम्राः स्वसम्बन्धिनं सर्वोत्कृष्टत्वेन बोधयन्ति. घट्टनोद्गतशब्देन इति केचित्।।२१।।

एतादृशः स्वसिंहासने स्थितः स्वानन्दलक्ष्मीम् अनुभवन्नेव स्थातुं योग्यः, नतु कैङ्कर्यं कर्तुं योग्यः इति आह **तत् तस्य कैङ्कर्यम्** इति.

किङ्किरस्य भावः कैङ्कर्यम्. **तद्** इति प्रसिद्धम्. **तस्य** इति पूर्वोक्तस्य. ननु करोतु किमपि भगवान्, किं तव अनेन विचारेण? इति आशङ्क्य आह **अलं भृतान्नः** इति. वयमत्यर्थं भगवता भृताः. धृताः पोषिताः वा. सेवार्थमेव वयं पोषिताः. यदि सर्गइव सेवापि भगवतः कर्तव्या स्यात्, तस्मिन्नपि पक्षे वयं मुख्यसेवार्थम् उत्पादिताः, अस्मद्द्वारैव कारयतु. तदर्थम् अस्मान् उत्पाद्य पुनः स्वयमेव करणात् तत्कैङ्कर्यम् अस्मान् ग्लापयति. स्वयं ग्लायति अस्मानपि ग्लापयति. 'ग्लाययति' इति पाठे, ग्लयधातुः ग्लापार्थः. 'अङ्ग' इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

लोकत्रयेशश्च. स्तुतौ वाचः करणत्वेन किरीटकोटौ च तद्भावेन स्तुत्यसंभवम् आशङ्क्य तत्र उपपत्तिम् आहुः **यथा** इत्यादि. सकृद् उच्चारितैः पदैः पदार्थे बोधिते संस्कारोपनीतपदार्थानां वाक्यार्थबोधकरणत्वं शब्दधर्मरूपम् अशब्देषु पदार्थेषु भाट्टैः स्वीक्रियते तथा इति अर्थः।।२१।।

तत् तस्य इत्यत्र. **भगवतः कर्तव्या** इति. भगवत्कृतिसाध्या.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अर्थः. **पदार्थकरणपक्षः** इति. यथा पदार्थाः वाक्यार्थकरणत्वेन तद्गौणभावं भजन्तः अपदार्थमपि वाक्यार्थं बोधयन्ति तथा किरीटस्थिताः स्वगौणतां ख्यापयन्तः भगवन्-माहात्म्यं बोधयन्ति इति अर्थः. तथा किरीटकोट्योः भगवतः पीठे नीन्वैः।।२१।।

तत् तस्य इत्यत्र. **अस्मान् ग्लापयति** इति 'ग्लै हर्षक्षये' इत्यस्य णिजन्तस्य

स्वदुःखख्यापनयोग्यमित्रस्य सम्बोधनम्. **उग्रसेनम्** इति. उग्रा सेना यस्य, कंसपिता, तम्. **परमेष्ठ्यधिष्ण्ये** ब्रह्मणः स्थाने. अधिष्ण्यं धिष्ण्यम् इति पर्यायः. तस्मिन् निषण्णम्. स्वयं तिष्ठन् समागतान् सर्वानेव न्यबोधयत्. **हे देव!** अयम् आगतो नमस्करोति, पश्य इति **न्यबोधयत्**. इदं हि अतिदीनदौवारिककृत्यम्. यद्यपि सर्वं कृत्यं भगवत्कर्तृकमेव तथापि रूपान्तरमेव कृत्वा करोति. यदि स्वयमेव कर्तव्यं तदा विपरीतं किं न करोति? इति चित्तक्लेशः. देवसभायां यत्र ब्रह्मा उपविशति तद् राजासनम् इति **परमेष्ठ्यधिष्ण्यम्** उक्तम्. अनेन ब्राह्मणेष्वपि तस्य अनभ्युत्थानं निरूपितम्. अप्रतीकार्यश्च अयं क्लेशः।।२२।।

एवं रूपं मोहनं च उक्त्वा तस्य अभिप्रायापरिज्ञानाद् अज्ञस्य तव क्लेशः इति आशङ्क्य तदभिप्रायमपि जानामि, तथापि क्लेशः इति वक्तुं तस्य दयां निरूपयति. क्लेशस्तु बुद्धिकृतो न भगवत्कृतः. *स हि भगवान् सर्वानेव भक्तान् सेवकान् आत्मनोऽपि अधिकत्वेन ज्ञापयति. तत्र अन्यासहनम् अयुक्तम्. उग्रसेनोऽपि न वक्तव्यः, भगवतैव तथा क्रियमाणत्वात्. विपरीतञ्च करोति, पूर्वश्लोके तथैव कथनात्. तस्मात् प्रमाणबलम् अतिक्रम्य प्रमेयबलेन तथाकरोति इति तस्य प्रमेयबलं निरूपयन् भजनीयत्वं स्थापयति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अयम् इति. उपविष्टस्य अग्रे भगवत्तिष्ठत्वदर्शनादिरूपः. ननु अभिप्राये ज्ञाते कथं क्लेशसत्ता इत्यतः आहुः **क्लेशः** इत्यादि।।२२।।

भगवत्कृतत्वाभावं व्युत्पादयितुं तदाशयम् आहुः ***स हि** इत्यादि. **अहो**

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

रूपम् अङ्गीकृत्य इदम् उक्तम्. ग्लयधातुः इति. '' 'ग्लाय' ज्ञाने ज्ञापने च'' इत्यत्र उक्तं यद् ग्लयनं तदर्थकः अयं ग्लयधातुः इति अर्थः. **विपरीतम्** इति. स्वयं राज्यासने स्थितः उग्रसेनादीन् कैङ्कर्ये कुतो न स्थापितवान् इति अर्थः. **विपरीतम्** इति. **अनेन** इति. परमेष्ठ्यधिष्ण्ये स्थितिकथनेन इति अर्थः. **अप्रतीकार्यञ्च** इति. अतएव ग्लापयति इति वर्तमानप्रयोगः उक्तः इति भावः।।२२।।

तत्र अन्यासहनम् इति. तादृशे अर्थे अन्यस्याः पदादेः असहनम् अयुक्तम् इति अर्थः. **पूर्वश्लोके** इति. **''मां खेदयति''**(३।२।१६) इत्यादिश्लोके व्याख्याने. यथा

---

* 'अहो' इत्यस्याभासे.

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।२३।।

अहो इति. यथा भगवतः साधनं सर्वाश्चर्यकरं, फलपूर्णस्य तुच्छफल-साधकं, तथा तुच्छस्य साधनरहितस्यापि पूर्णफलदानमिति **अहो** आश्चर्यम्. बकस्य भगिनी दैत्यबकरूपा, तद्वृत्या सन्तोऽपि न मुक्ता भवन्ति. **इयम्** इति बुद्ध्या भगवत्सङ्गे साऽपि उपस्थिता. **स्तनकालकुटम्** इति स्तने विद्यमानं कालकुटम्, कालानां कूटं समूहः. सहस्रं हि काला मृत्यवः सन्ति, ते सर्वे तस्याः स्तन्ये एकीभूताः. अतः कालानां कूटं यत्र तादृशं स्तन्यम् **अपाययत्**. ज्ञानहेतु-पक्षेऽपि तस्यां दुष्टत्वम् आह **जिघांसया** इति. हन्तुमिच्छया. पूर्वमपि तस्याः दुष्टत्वम् आह **असाध्वी** इति. अनेन दैत्यधर्मोऽपि तस्यां नास्ति इति उक्तम्. ते हि जितेन्द्रियाः. तथापि आकृतिक्रिययोः यशोदातुल्यत्वात् तद्गतं दोषम् अविचार्यैव क्रियाफलं दत्तवान्. अनेन भगवत्स्वरूपं यथाकथञ्चिदपि सम्बन्धं साधनान्तरनिरपेक्षं फलं साधयति इति उक्तम्. भगवांश्च गुणानेव गृह्णाति, न दोषान्. अतः परमदयालुः इति आह **कं वा दयालुम्** इति. अन्यस्तु दयालुः दैन्यम् अपेक्षते, नम्रतां वा, दोषाभावं वा. अयन्तु किमपि न अपेक्षतइति ततो अन्यं **कं वा दयालुं शरणं व्रजेम!** 'शरण'पदेन च सेवाभक्त्यादिकमपि निवारितम् ।।२३।।

ननु ''**निबन्धाय आसुरी मता**'' (भग.गीता.१६।५) इति आसुर्यां सम्पदि जाताः कथं मुच्यन्ते? ''**तान् अहं द्विषतः क्रुरान्**'' इति भगवतैव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यत्र **फलपूर्णस्य** इत्यादि. फलेन निरवध्यानन्देन पूर्णस्य स्वस्य तुच्छफलत्वसाधकम् इति अर्थः. **ज्ञानहेतुपक्षे** इति. भगवान् अविनाशी, तत्र एतद्दोषसम्बन्धो न भविष्यति इति ज्ञानस्य हेतुत्वपक्षे।।२३।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

भगवतः इति फलपूर्णस्य भगवतः तुच्छफलसाधकं साधनानुष्ठानं सर्वाश्चर्यकरं तथा इति अर्थः. **तद्वृत्या** इति. बकवृत्या, तद्वत् दम्भात्मिकया स्थितया इति यावत्. **बुद्ध्या भगवत्सङ्गे**ति. भगवतो बुद्धिस्थत्वेन तत्सङ्गात् सापि उपस्थिता इति अर्थः. **ज्ञानहेतुपक्षेऽपि** इति. शुद्धक्रियाज्ञानयोः फलसाधकत्वात् तादृशस्तनपानक्रियायाः दुष्टत्वेऽपि ज्ञानं सम्यक् भविष्यति इति आशङ्कायां तदपि निषेधति इति अर्थः।।२३।।

अन्यथाप्रतिज्ञानात्. तत्र आह **मन्ये असुरान्** इति.

मन्येऽसुरान् भागवतन् त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रम् अंसे सुनाभायुधम् आपतन्तम् ॥२४॥

असुरान् अहं भागवतानेव मन्ये, "**माम् अप्राप्यैव**"(भग.गीता १६।२०) इति वचनात्. ये प्राप्नुवन्ति भगवन्तं दृष्ट्यादिनाऽपि, तेषाम् अधमगत्यर्थम् अप्राप्त्यभावाद् मुक्ताएव भवन्ति. येतु "**माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तः**" (भग. गीता.१६।१८)इति द्वेषसाधना भगवदप्राप्तिसाध्या निरूपिताः ते जगद्रूपमेव भगवन्तं द्विषन्ति, नतु साक्षात्. येतु साक्षाद् द्विषन्ति ते प्राप्नुवन्त्येव. केनचिद् अन्तःकरणधर्मेण ते भगवत्सम्बन्धिनइति भागवताः. येतु सहजा दानवाः "**दानवास्तु तमोलयाः**" (नार.पञ्च.   ) इति वैष्णवैः निरूपिताः ते वेदेऽपि देवप्रतिपक्षत्वेन निरूपिताः न मुच्यन्ते इति केचित्. ततश्च मुच्यमानेषु पूतनादिषु न सहजासुरत्वम्, किन्तु आसुरावेशः. सतु भगवत्स्म्बन्धे गच्छतीति तेषां मुक्तिः युक्ता इति. एतदर्थं भेदवादं वैनाशिकीं च प्रक्रियां मोहकवाक्यवत् स्वविरुद्धं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मन्ये असुरान् इत्यत्र. **इति वचनाद्** इति. अस्मिन् वाक्ये भगवद्प्राप्त्यधम-गत्योः हेतु-हेतुमद्भाववचनात्. **अप्राप्त्यभावाद्** इति. तद्धेतुभूतायाः भगवदप्राप्तेः अभावात्. तर्हि येषां न मुक्त्यधिकारः ते के इत्यतः आहुः **येतु माम्** इत्यादि. **अन्तःकरणधर्मेण** इति. बुद्धिवृत्तिविशेषेण. अत्र मतान्तरम् आहुः **येतु** इत्यादि **मन्यन्ते** इत्यन्तम्. **वैष्णवैः** इति. तन्त्रैः. **ततः** इति. उक्तवाक्येन तेषां तमोलयनिश्चयात्. **एतदर्थम्** इति. द्विविधानां मुक्त्यमुक्तिव्यवस्थार्थम्. जीवः परमार्थतो ब्रह्मभिन्नः इति वादं नैयायिकवद् आगन्तुकसत्तावादेन दृष्टसृष्टिम् उपगम्य प्रातिभासिकसत्तावादेन वा विनाशसम्बन्धिनीं प्रपञ्चप्रक्रियां च मन्यन्ते. स्वमतविरुद्धं भगवद्वाक्यं, तादृशानि वेदवाक्यानि च मोहकवाक्यवद् मत्वा प्रतिपादकानि मन्यन्ते इति अर्थः. एवं तन्मतम् अनूद्य तत्र दूषणम् आहुः **ते बहु** इत्यादि. वास्तवभेद-वैनाशिकप्रक्रिययोः अङ्गीकारे

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

मन्ये इत्यत्र. **अप्राप्त्यभावात्** इति किन्तु उच्चगत्यर्थं भगवत्प्राप्तिरेव इति. अत्रैव अर्थे मतान्तरम् आहुः **येतु सहजा** इत्यादि **युक्ता** इत्यन्तेन. **वैष्णवैः** इति. तन्त्रैः नारदपञ्चरात्रादिभिः इति अर्थः. **एतद् अर्थम्** इति. मुक्तजीवभिन्नाएव तथा अयुक्ताः

भगवद्वाक्यं वेदवाक्यानि च मन्यते. ते बहुवाक्यविरोधात् चिन्त्याः. भक्त्यर्थं वा तथा वदन्ति इति लोकशिक्षार्थं वा. असुराणां भगवत्प्राप्तौ उपायम् आह **संरम्भ–मार्गाभिनिविष्ट–चित्तान्** इति. क्रोधसंरम्भएव भगवत्प्रापको मार्गः, तत्र अभिनिविष्टं चित्तं येषाम्. क्रोधमार्गेण तेषां चित्तं भगवति प्रविशति इति अर्थः. ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामिव भगवद्विषयकत्वेन क्रोधस्यापि भगवन्मार्गत्वम्. भगवतः परमदयालुत्वसिद्ध्यर्थं क्रोधस्यापि मुक्तिहेतुत्वं निरूप्यते, अन्यथा दयालुत्वं न स्यात्. तस्माद् वैष्णवैः एकम् अङ्गीकर्त्तव्यम्, दैत्यानां मुक्त्यभावो वा, भगवतो दया वा. तत्रापि बलिष्ठा दया इति आह **ये संयुगेऽचक्षत** इति. ते हि युद्धे मर्तुं समायान्ति. तेषु चेद् भगवतो दया न भवेत्, तदा परोक्षे स्थितो अन्येन मारयेत्, नतु स्वयं प्रत्यक्षो भवेत्. ननु तथा सति भक्तिमार्गविरोधः इति चेत् तत्र आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''**यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः**''(बृहदा.उप.२।१।२०) इति उक्तं सर्वलोक-प्राणदेवात्मनां ब्रह्मणः सकाशाद् विभागेन व्युच्चरणबोधकं श्रुतिवाक्यं ''**एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय**''(छान्दो.उप.६।२।३) इति आगन्तुकभेदसृष्टिबोधकानि श्रुतिवाक्यानि; ''**ममैवांशः**''(भग.गीता १५।७) ''**अहं सर्वस्य प्रभवः**''(भग.गीता १०।८) ''**त्वय्यग्र आसीद्**''(भाग.पुरा.८।६८।१०) ''**विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं**''(भाग.पुरा.३।१०।१२) चतुःश्लोकीप्रभृतिवाक्यानि जीवद्वयप्रवेशाङ्गीकारे जयविजयशाप-बोधकवाक्यानि च विरुद्ध्येरन्. उक्तवाक्यानां मोहकवाक्यतुल्यत्वाङ्गीकारे ''**यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य**''(तैत्ति.उप.२।७) इति ''**मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्**''(भाग.पुरा.११।२१।४३) इत्यादीनि विरुद्ध्येरन्, अतः चिन्त्या इति अर्थः. तेषां वैष्णवत्वेन तेषु पक्षपाताद् आशयान्तरम् आहुः **भक्त्यर्थं वा** इति. भक्तिस्तु पूर्वोक्ते सैद्धान्तिकारेपि सिद्ध्यति इति विरोधापरिहारात् पक्षान्तरम् आहुः **लोकशिक्षार्थम्** इति. तथाच भेदादौ तात्पर्याभावाद् न विरोधः इति अर्थः।।२४।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

च इति भेदवादम् अङ्गीकुर्वन्ति. तथा सकलवाक्यानां विनाशम् उक्तिमानम्. नतु जीवन्तः इति. तथाच मर्यादामार्गीयः मोक्षानन्दं न अनुभवन्ति किन्तु प्रलयएव भगवति कालद्वारा लीनाः भवन्ति इति भावः।।२४।।

तार्क्ष्यपुत्रम् इति. **अंसेसुनाभं** चक्रम् आयुधं यस्य तादृशं गरुडं पश्यन्ति. **अंसेसुनाभायुधम्** इति अलुक्समासः. एतावान् भेदो भक्तदैत्ययोः, भक्ताः सर्वरूपं सर्वदा भगवन्तं पश्यन्ति, गरुडाधिरूढं च, अन्यैः सह संयुगे च, दैत्यास्तु संयुगेएव गरुडमेव पश्यन्ति, परं भगवदारूढम्, भगवान् आरूढो यम् इति. अयमर्थः. कलात्मको गरूडः, तदुपरि च भगवान्, अतः कालं प्राप्य भगवन्तं प्राप्नुवन्ति, नतु जीवन्ति इति विशेषः इति।।२४।।

एवं भगवतः स्वरूपगुणान् उक्त्वा, विदुरस्य तद्विषयकम् अज्ञानं दूरीकृत्य, पृष्टकथायाम् उत्तरं वदन् पञ्चाऽपि मात्रा निरूपयति दशभिः श्लोकैः **वसुदेवस्य देवक्याम्** इत्यादिभिः.

गन्धो भगवतः स्थानं रसः क्रीडाऽपि बालकैः।
रूपं त्रिभङ्गि ललितं सर्वदोषनिवारकम्।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वसुदेवेत्यत्र. कारिकासु. पूर्वम् उद्धवावस्थानिरूपणे मात्रासंस्कारो भक्त्युद्रेकेण अन्तःभगवत्साक्षात्कारे सामान्यतः उक्तः, तथापि साक्षात्कारोत्तरं केन प्रकारेण भवति इति न उक्तम्, अतो व्यापारविशेषबोधनाय अयं ग्रन्थः इति आशयेन आहुः **गन्धः** इत्यादि. अत्र **मृत्योः** इति पञ्चमी.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

वसुदेवस्य इत्यादि. दशश्लोकेषु द्वयोः एकैके मात्रासर्गनिरूपकत्वं कारिकाभिः स्पष्टयन्ति **गन्धः** इत्यादि. **वसुदेवस्य** इत्यादि. द्वाभ्यां गन्धगुणकपृथ्वी-प्रधानस्थानानि निरूपणेन गन्धो निरूपितः. ''**परि**'' इति द्वाभ्यां बालकैः सह क्रीडा निरूपिता. सएव दशः सर्वेन्द्रियैः रसमानत्वाद् इति भावः. ''**सएव**'' इत्यादिद्वयेन दोषरूपनिवारणपूर्वक-वेणुवादनानुकूलः त्रिभङ्गललितस्वरूपनिरूपितं तदेव रूपम्. ततो ''**विपन्नान्**'' इत्यादिद्वयेन मृत्योः सकाशाद् गोपादीनां रक्षा अमार्ग(?)तश्च नन्दादीनां रक्ष्य इति अयमेव स्पर्शः. रक्षायाः प्रायः स्पर्शप्रधानत्वाद् इति भावः. ततो द्वाभ्यां लोकवेदातिक्रमेण मनोवाक्कायैः प्रपन्ने भक्तजने या भगल्लीला सएव शब्दः. अयम् अर्थः. ''**य एनं विसृजेद् धर्मः पारम्पर्यागतं नरः**''(भाग.पुरा.१०।२४।११) इत्यादि मार्यादिकलोकवचनम् अतिक्रम्य पुष्टिलीलानुकूलभगवद्वचनात्मकएव शब्दः नन्दादिभिः अङ्गीकृतः इति. तथा ''**एवमेव पतिः स्त्रीभिः न हातव्यः लोकेप्सुभिः**

मृत्योरमार्गतो रक्षा तस्य स्पर्शोऽभिधीयते।

लोकवेदविरोधेन मनोवागनुसारतः।।२।।

प्रपन्ने भगवल्लीला दुःखाभावसुखात्मिका ।

स शब्दो नाऽन्य इत्येषमात्रा रूपोऽधिकारकृत्।।३।।

वसुदेवस्य भार्यायां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।

चिकीर्षुः भगवान् अस्याः शम् अजेनाऽपि याचितः।।२५।।

वसुदेवस्य भार्यायां देवक्याम्. **भोजेन्द्रस्य** कंसस्य बन्धनं यस्मिन्, तादृश गृहे. वसुदेवस्य देवकीनिमित्तं भोजेन्द्रबन्धने जाते वा. तात्पर्यस्य निरूपितत्वाद् यथा लोकसिद्धां कथां निरूपयति, सर्वभावविकाराणां तुल्यत्वाय. **अस्याः** पृथिव्याः **शं** कल्याणं चिकीर्षुः. पृथिवीसुखार्थं भगवदवतारः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

लोकविरोधेन भगवन्मनोनुसारतः प्रपत्तिः अन्नकूटकरणे, **वेदविरोधेन** भगवद्वागनुसारतः प्रपत्तिः वेणुस्वनश्रवणाद् आगमने बोध्या. 'दुःखाभाव'पदेन अनुद्भूतः परमानन्दो बोध्यः. दुःखस्य आनन्दाभावरूपतायाः सर्वनिर्णये व्युत्पादितत्वेन तदभावस्य आनन्दात्मकत्वाद् इति. एतेन अधुनापि कृपावलोकितानां हृदि एतद्भानेन इतरेव मात्रासंस्कारः इति बोधितं, गन्धः एतेषां करणत्वं स्मरणादेस्तु व्यापारता इति बोध्यम्. विवृतौ. **तात्पर्यस्य** इति. सर्वमुक्त्यभावाय लोकवचनरूपस्य. **सर्वे**त्यादि. भगवति प्रतीयमानानां तेषां वचनकरणत्वाय।।२५।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अपातकी'' (भाग.पुरा.१०।२६।२५) इति मार्यादिकवेदात्मकभगवद्वचनोल्लङ्घनः न पुष्टिलीलानुकूलः भगवदभिप्रायानुसारि स्ववचनमेव उत्कृष्टतया भक्तैः स्थापिताम् इति तथा. अतएव ''**तासां वाचो जयन्ति हि**''(सुबो.१०।२६।३१) इति वक्ष्यते. तथाच शब्दप्राधान्यपुरःसरत्वेन एतयोः लीलयोः प्रवृत्तत्वात् शब्दतन्मात्रानिरूपकत्वम् इति भावः. **दुःखाभावे**ति भावः. इन्द्रवृष्ट्यादिनिवारणे दुःखाभावात्मिका लीला. अग्रिमेण सुखात्मिका सा इति. **इति एषः** इति. **इति** एवं प्रकारकम् **एषः** लीलासमुदायः अलौकिकमात्रां निरूपयति इति तथा. अतएव अलौकिका(?)धिकारकृद् इति अर्थः.

वसुदेवस्य इत्यत्र. ननु पूर्वं माहात्म्ये निरूपितेऽपि पुनः जाते **भोजेन्द्रबन्धने** इत्यादिलोपो सजातीयतया किं प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः **तात्पर्यस्य** इत्यादि.

इति प्रयोजनम्. ब्रह्मप्रार्थनाऽपि भक्तोद्धारार्था. ‘अपि’शब्देन अन्येषामपि प्रार्थना सर्वोद्धारार्था ।।२५।।

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद् विबिभ्यता ।

एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ।।२६।।

ततो मथुरायां जननान्तरं, **पित्रा** वसुदेवेन **कंसाद्** विशेषेण **बिभ्यता नन्दव्रजम् इतः** प्राप्तः. तत्रच उपसंहततेजा भूत्वा, **एकादश समाः** एकदशवर्षाणि, बलभद्रसहितः, सएव निजसहायइति तत्सहितो **अवसत्**. एते हि दश प्राणात्मकाः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ततः इत्यत्र. समुदायेन दशभिः प्रत्येकं द्वाभ्यां निरूपणस्य तात्पर्यम् आहुः **एते** इत्यादि. **प्राणात्मकाः** इति इन्द्रियात्मकाः. **विषयात्मकौ** इति. सृष्ट्युत्तरं मात्राणां भूतगुणतया प्रवेशाद् इन्द्रियैः मात्राग्रहणे भूतानामपि विषयत्वात् तथा इति अर्थः. इदं यथा तथा मया प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादितम्. श्लोकद्वयोक्तं सङ्गृह्णते **जनने** इत्यादि. **हेतुत्रयम्** इति. भ्वादिसुखचिकीर्षा प्रार्थनाद्वयं च. **हेतुद्वयम्** इति. पितुः भयं ब्रह्मप्रार्थना च.

एवम् अनुषङ्गे कृते व्रजवासोऽपि ब्रह्मप्रीत्यर्थः इति शङ्का स्याद् इति

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तादृशलीलाकरणे सर्वमुक्त्यभावः. लोकवचनरूपस्य तात्पर्यस्य “**स्वयं त्वसाम्यातिशयः त्र्यधीशः**” (३।२।२१) इत्यादिना निरूपितत्वाद् उत्पत्त्यादिसर्वभावविकाराणां भगवति प्रतीयमानानाम् आसुरव्यामोहकत्वेन तुल्यत्वाय लोकसिद्धान्तः. जन्मादिकथां निरूपयन्ति इति अर्थः।।२५।।

ततो इत्यत्र. **सएव** इति. बलभद्रः इति अर्थः. **निजसहाय** इति. बलेन भद्रत्वाद् इति भावः. बलभद्रं “**बलवदुच्छ्र्यात्**” (भाग.पुरा.१०।२।१३) इति वाक्यम् अनुसन्धेयम्. दशश्लोकानां समुदायेन तात्पर्यान्तरम् आहुः **दश प्राणात्मकाः** इति. दश प्राणशोधकाः इति अर्थः. द्वाभ्यां-द्वाभ्यां प्रत्येकरूपेण निरूपणस्य प्रयोजनम् आहुः **द्वौ** इत्यादि. **विषयात्मकौ** इति. रूपादिपञ्चतन्मात्रानिरूपकौ इति अर्थः. **वसुदेवस्य** इत्यादि श्लोकद्वयपदतात्पर्यं निरूपयन्ति **जनने** इत्यादि. **हेतुत्रयम्** इति. भ्वादिसुखचिकीर्षा, प्राग्जन्मीनवसुदेवप्रार्थना, ब्रह्मप्रार्थना च इति त्रयम्. **हेतुद्वयम्** इति. पितुः कंसाद् भयं, ब्रह्मप्रार्थना च इति द्वयम्. ननु पूर्वश्लोकएव ब्रह्मप्रार्थनायाः

द्वौ–द्वौ च विषयात्मकौ. जनने हेतुत्रयं; गोकुलसमागमने हेतुद्वयम्. अजेनाऽपि इति अनुषङ्गात्. इदञ्च न प्रयोजनमध्ये प्रविशति, भिन्नतया स्वातन्त्र्येण निरूपणात्. इदञ्च अन्तरिक्षस्थानमिव. अतएव रुद्रप्रीत्यर्थम् **एकादश समाः अवसत्**. वायोः तुल्यरूपतया प्रीत्यर्थं गूढार्चिष्ट्वं सबलत्वं च. **समाः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन्निवृत्यर्थम् आहुः **इदम्** इत्यादि. प्रार्थितपूरणम्. तर्हि किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **इदं च अन्तरिक्षे**त्यादि. अन्तरिक्षं यथा रुद्रदैवतं ते अन्तरिक्षम् अजयन् इति श्रुत्या बोध्यते; तथा व्रजोऽपि रुद्रस्य पशुपतित्वाद् रुद्रदैवतः इति तथा इति अर्थः. अत्र अयमेव आशयः इत्यत्र किं गमकम् अतः आहुः **अतएव** इत्यादि. तुल्यतां समर्थयन्ति **वायोः** इत्यादि. वायौ कार्यस्य यथा गूढत्वं, तथा अत्र इति वायोद्वासो अन्तरिक्षतौल्यसमर्थकः इति अर्थः. **सबलत्वम्** इति. बलस्य सङ्कर्षणत्वेन रुद्राधिदैविकत्वात् तत्प्रीत्यर्थं बलसाहित्यम् इति अर्थः. एवञ्च तावद् वर्षवासः पूतनामारणाद्याः सङ्कर्षणलीलाः बलसाहित्येन कृताः गोचारणाद्याः. फलप्रकरणीयषष्ठाध्यायलीला च रुद्रप्रीत्यर्थाः. केवलकृता मारण-व्यतिरिक्ताः च न तदर्थाः इति फलति. तथा जन्मस्थानभूमिः व्रजस्थो गन्धश्च इति विषयद्वयं गन्धमात्रासंस्कारकम् इति च।।२६।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

उक्तत्वाद् अत्र कथं तल्लाभः? अतः आहुः **अजेनापि** इति. धराद्रोणप्रार्थनास्वारस्याद् अत्रापि तदनुषङ्गो ज्ञेयः इति भावः.....''**सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः**'' (भाग.पुरा. १०।८।५२) इति वाक्यम् अनुसन्धेयम्. इदमपि निरूपितं हेतुद्वयमपि भगवतो गोकुलवासे प्रयोजनत्वेन न प्रविशति किन्तु निरूपधिस्नेहवद्भक्तेभ्यः स्वरूपलावण्यामृतदानमेव मुख्यं प्रयोजनम् इति भावः. हेतुद्वयनिरूपणं लोकदृष्ट्या समागमनमानः इति ज्ञेयम्. अत्र अर्थे गमकम् आहुः **भिन्नतया** इति. **ततः** इत्यनेन प्रक्रमान्तरबोधनाद् इति भावः. एकादशवर्षवाससूचितम् आहुः **इदञ्च अन्तरी**त्यादि. अन्तरिक्षं यथा रुद्रदैवतं ते अन्तरिक्षभयजम् इत्यादिश्रुत्या बोध्यते. तत्र गोपिरुद्रस्य रुद्रदैवस्य इति भावः. अत्र अर्थे प्रगमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. समुदितरूपेण प्राणनिरूपकत्वं यद् उक्तं तदपि ज्ञापयितुम् आहुः **वायोः** इत्यादि. यथा प्राणवायुः स्वकार्यं कुर्वन्नपि न स्वरूपतः प्रत्यक्षः तथा भगवानपि गूढार्चिः इति अर्थः. **सबलत्वं च** इति. प्राणतुल्यत्वाय बलदेवसाहित्यं च निरूपितम् इति अर्थः।।२६।।

वर्षाः।।२६।।

एवं भिन्नतया स्थितस्य पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात्, शिरोभूतवासुदेवरूपेण क्रीडां कृतवान् इति आह अष्टभिः. ''**सप्त वै शीर्षण्याः वाग् अष्टमी**'' (तैत्ति.संहि. ५।३।२।५) इति श्रुतेः. तत्र श्रौत्रे आह **परीतः** इति द्वाभ्याम्

परीतो वत्सपैर्वत्सान् चारयन् व्याहरद् विभुः ।

यमुनोपवने कूजद् द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ।।२७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परीतः इत्यत्र. **भिन्नतया** इति वायुवदनासङ्गेन. **पूर्वोक्तप्रयोजनं** भूप्रभृतीनां सुखरूपं बोध्यम्. लीलाकर्तुः शिरोरूपत्वं साधयितुम् अष्टभि कथने हेतुम् आहुः **सप्ते**त्यादि. सप्तगोलकानां वाचः च इति अष्टानां तत्र स्थित्या तत्साम्येन वासुदेवस्य तथात्वम् इति अर्थः. अत्र वासुदेवस्य शिरोरूपत्वकथनेन सङ्कर्षणस्य मध्यभागरूपता बोधिता. आगलाद्रुद्रमीशानम् इति प्रकारस्य नृसिंहसहस्रनामोक्तत्वेन तस्य अन्यत्र वक्तुम् अयुक्तत्वाद् इति. ननु एवं सति रसनिरूपणं कथम् अत्र युज्येत इत्यतः आहुः **वक्त्रम्** इत्यादि. स्कन्धार्थो हि भूतादिसर्वसर्गः सर्वगतः[1], सच बलं विना न भवति, बलं च प्राणधर्मः प्राणः च आपोमयः. ताः च रसप्रधानाः, तद्ग्राहकं मुखम्, अतो अत्र युक्तं रसनिरूपणम् इति अर्थः. तर्हि कथं श्रोत्ररूपता इत्यतः आहुः **श्रोत्रम्** इत्यादि. प्रकरणार्थो अत्र श्रोतुः अधिकारः, श्रोता श्रोत्रप्रधानो अतः तथा इति

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

परीतः इत्यत्र. **पूर्वोक्ते**ति. ब्रह्मप्रार्थनादीत्यर्थः. क्रियानिरूपकश्लोकाष्टकस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः **शिरोभूते**ति. सङ्कर्षणादि-मूर्तित्रयमुख्यभूतेति अर्थः. वासुदेवो अत्रैव आविर्भूतः इति सिद्धान्ताद् इति भावः. ननु एतावता अष्टभिः निरूपणे किं गमकम्? इत्यतः आहुः **सप्त** इति. शीर्षणि चक्षुरादीनां सप्तगोलकानि अष्टमी च वाग् इति अर्थः. **श्रौत्रे आह** इति. श्रोत्रयोः शब्दग्राहकत्वाद् अत्र कूजनादिशब्द-निरूपणात् तथा इति भावः. ननु वक्त्रेण सह चक्षुरादिगोलकानि अष्टौ भवति. अतश्च वाचा सह गोलकाष्टकस्य निरूपणार्थं नवश्लोकाः वक्तव्याः इत्यतः आहुः **वक्त्रम्** इत्यादि. एतदेव श्लोकार्थं द्वयं स्कन्धार्थत्वेन वक्त्रनिरूपकम् इति अर्थः. **स्कन्धार्थः** सर्गः. वाक्शब्दैश्च वक्रेणैव इति प्रथमातिक्रमे मानाभावात् प्रथमयुक्तेः

१.अयं पाठो विशेषः.

वक्त्रम् एतद् द्वयं स्कन्धार्थत्वेन. श्रोत्रम् एतद् द्वयं, प्रकरणार्थत्वेन. **वत्सपैः** गोपालैः बालकैः वेष्टितो **वत्सान् चारयन्** इति. क्रिययैव वायोः प्राणानाञ्च, **व्याहरद्** विहारं कृतवान्, बालैः सह क्रीडितवान् इति अर्थः. बाधाभावाय आह **यमुनोपवने** इति. यमुनायाः समीपवने. चित्तोद्वेगाभावाय आह कूजद्भिः द्विजैः सङ्कुलिता अङ्घ्रिपा यस्मिन्. भगवद्भक्ता वेदकल्पवृक्षेषु स्थिताः भक्तिम् आश्रित्य भगवन्तं गायन्ति इति उक्तं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अर्थः. तथाच रूपभेदेन उभयमपि सङ्गतम् इति भावः. अत्र वत्सचारणस्य वायुक्रियात्वं द्रव्यनयनात्मकत्वेन बोध्यम्. नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः इति वायोः कर्मलक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात्. प्राणक्रियात्वन्तु कूजनग्रहणानुकूलतया. **प्राणानाम्** इति बहुवचनन्तु अग्रिमक्रियास्वपि तथात्वातिदेशाय. तेन विहारस्यैव भगवदभिप्रेतत्वाद् वत्सचारणस्यापि एतेनैव रूपेण भगवत्क्रियात्वम् इति भावः. बालकैः सह क्रीडायाः कथं रसत्वम् इत्यतः आहुः **यमुनायाः समीपे** इति. तथाच जलस्य रसप्रधानत्वात् सामीप्येन[२] रसत्वम् इति अर्थः. श्रोत्रत्वसमर्थनाय आहुः **भगवदि**त्यादि. **वेदकल्पवृक्षेषु** इति. अक्षरात्मकस्य व्यापिवैकुण्ठस्य दहरइव अत्र सत्त्वात् प्रणवबीजस्य वेदतरोः तत्र शक्तिविश्लेषेण नानारूपेषु तेषु. तथाच कूजनग्रहणात् श्रोत्रत्वम् इति अर्थः।।२७।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

वक्त्रमपि अंशतः उच्यते इति भावः. श्रोत्रनिरूपणम् उपपादयन्ति **श्रोत्रम्** इति. प्रकरणार्थञ्च श्रोतुः अधिकारं श्रोत्रा च श्रोतृप्रधानः इति प्रकरणार्थविचारेण तथा इति अर्थः. दशसु श्लोकेषु प्राणसंस्कारकत्वम् उक्तं तदपि अंशतः स्मारयन्ति. क्रिययैव वायोः प्राणानां च इति. वायुप्राणानां क्रियाप्राधान्याद् विहारक्रियोक्त्या तदपि स्मारिताम् इति भावः. **बाधाभावाय** इति. क्रीडायां क्षुत्तृडादिबाधाभावाय समीपएव जलवनफलादिकं निरूप्यते इति अर्थः. **भगवद्भक्ता** इत्यादि. **''प्रायो अमी मुनि-गणा''** (भाग.पुरा.१०।१५।६) इतिवाक्याद् द्विजाः भक्ताः. तत्कूजन-वेदवाणी. अतएव 'द्विज'पदम् उक्तम्. अङ्घ्रिपाः कल्पवृक्षं तेषु स्थिताः तान् आश्रित्य स्थिता इत्यादि इति अर्थः।।२७।। **(इति द्वितीयाध्यायलेखः)**

२.इतःपूर्वे 'सा' इत्यधिकं पुस्तके.

भवति।।२७।।

वने क्रीडाम् उक्त्वा सन्ध्यादिषु व्रजे क्रीडाम् आह **कौमारीं दर्शयंश्चेष्टाम्** इति.

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।
रुदन्निव हसन् मुग्धबालसिंहावलोकनः ।।२८।।

कुमारसम्बन्धिनी पञ्चवर्षपर्यन्तं जायमाना. पञ्चाऽपि लीलाः पञ्चवर्षैः क्रियमाणा व्रजवासिनां पञ्चविधानाम्. त्रिविधाः पुरुषाः, द्विविधाः स्त्रियः. नहि सात्विक्यः स्त्रियः सन्ति. अतः सर्वेषामेव प्रेक्षणीयां चेष्टां प्रदर्शयन् व्याहरद् इति सम्बन्धः. समर्थो हि सः सर्वं कर्तुम्. **दर्शयन्** इत्यनेन स्वयं तथा न कृतवानेव. तत्र प्रथमं **रुदन्निव,** तामस्यः तदैव तुष्यन्ति, रुद्रप्रीत्यर्थञ्च. **हसन्** इति राजस्यः. मुग्धभावेन तामसाः, बालभावेन राजसाः, सिंहावलोकनेन सात्विकाः. अत्राऽपि आगतः पूर्वं भक्तान् स्मरति इति **रुदन्निव**. हसन् मुग्धो यो बालः सिंहः तद्वद् अवलोकनं यस्य।।२८।।

पौगण्डलीलाम् आह **सएव** इति.

सएव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सित–गो–वृषम् ।
चारयन् अनुगान् गोपान् रणद् वेणुर् अरीरमत् ।।२९।।
शिष्टेषु षट्सु वर्षेषु षड्भिः श्लोकैः विशेषतः ।
तास्ताः लीला इहोद्दिष्टाः क्रमो नात्र विवक्षितः।।१।।

सएव यः पूर्वम् उक्तः. **गोधनं** गवां समूहम्. **लक्ष्म्याः**[१] **निकेतम्** अतिसुन्दरम्. चारणे हेतुः सिता गावो वृषा यत्र इति. धर्मप्राधान्यं निरूपितम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कौमारीम् इत्यत्र. **प्रथमम्** इति. प्रथमवर्षे. **पूर्वं भक्तान्** इति. ततः प्राक्कालीनान् भक्तान् अस्मिन्नपि लोके बाल्ये स्तन्यादिरसग्रहणस्यैव प्रधान्याद् रसनिरूपकत्वम्।।२८।।

सएव इत्यत्र. रूपस्य अत्र निरूपणाद् अग्रिमे बाधकहरं तेजो बोध्यम्. प्राणपक्षेतु अत्र तद्ग्राहके अत्र नेत्रे बोध्ये. अतएव अत्र श्रीनिकेतनत्वेन गोधनं विशेषितम्. अग्रिमे च बाधकाः कामरूपित्वेन विशेषिताः. तद्विवेकस्य नेत्रकार्यत्वाद् इति।।२९।।

---

१. निकेतम् इति. ख. घ. ङ. २ . 'अनुगान्' इति मां१, 'अनुरागान्' इति मां३ पाठः.

अतः तच्चारणं धर्मकरणमेव इति उक्तम्. अन्यान्[२] स्वाज्ञया धर्मकर्तॄन् शीघ्रमेव फलसम्बद्धान् कृतवान् इति अभिप्रायेण आह **अनुगान्.** स्वस्य पश्चाद्-भावोपजीविनो गोपालान् वेणुवादनं कृत्वा, ब्रह्मामृतं पाययित्वा, परब्रह्मानन्दे **अरीरमद्** रमयामास।।२९।।

तत्र बाधकांस्तु लीलयैव दूरीकृतवान् इति आह **प्रयुक्तान्** इति.

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः ।
लीलया व्यनुदत्तान् तान् बालः क्रीडनकानिव ।।३०।।

भोजराजेन कंसेन प्रेषितान्, नानारूपधारिणो दैत्यान्, व्यामोहानार्थं समागतान्, **लीलयैव** क्रीडारूपयैव, **विशेषेण अनुदद्** दूरीकृतवान्. **तान्-तान्** इति प्रसिद्धान्. श्रमाभावाय आह **बालः क्रीडनकानिव** इति. वस्त्रपुत्रिकाः, काष्ठादिक्रीडासाधनानि वा. द्वयम् एकवर्षकृत्यम् ।।३०।।

सप्तमवर्षकृत्यम् आह **विपन्नान् विषपानेन** इति.

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।
उत्थाप्याऽपाययद् गावस् तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ।।३१।।

कालियह्रदे विषतोयपानेन **विपन्नान्** मृतान्, **भुजगाधिपं निगृह्य** तन्मारकं दण्डयित्वा, तान् सजीवान् **उत्थाप्य,** तदेव तोयं गाश्च अपाययत्. गावः इति गाः. **भुजगाधिपः** कालियः. **तत्तोयं** कालियह्रदतोयम्. **प्रकृतिस्थितं** विषरहितम्।।३१।।

अयाजयद् गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षुः सद्व्ययं विभुः।।३२।।

अयाजयद् इति. सप्तमान्तलीला. **गोसवेन** इति इन्द्रयागं भङ्क्त्वा.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विपन्नान् इत्यत्र. निग्रहस्य उत्थापनस्य च त्वचनेत्रस्पर्शे[१] जननात् ताभ्यां कृता मृत्योः सकाशाद् रक्षा स्पर्शरूपा अग्रिमे गोप्रसूतेः स्पर्शकार्यत्वात् तज्जनको यागएव मार्गाद् व्यावर्तकः स्पर्शक्रियारूपो बोध्यः।।३१।।

अयाजयद् इत्यत्र. **वैश्यस्तोमम्** इति. गोसवस्य नामान्तरम्. **वैश्यस्तोमात्मकम्** इति. वैश्यराजत्वात् तत्समूहात्मकम्. प्राणपक्षेतु क्रमस्य लीलायामिव अत्रापि अविवक्षिततत्वाद् **अयाजयद्** इत्यत्र मुखम्. शरच्छशीत्यत्र वाक्

१.'त्वङ्नेत्रस्पर्शैः' इति.

वैश्यस्तोमम्. गावः सूयन्ते अनेन इति **गोसवं** गोवृद्धिकरं, वैश्यस्तोमात्मकं. **गोपराजं** नन्दम्. **द्विजोत्तमैः** इति तेषां याजकत्वम्, न स्वस्य इति ज्ञापितम्. इन्द्रयागभङ्गेन तथाकरणे हेतुः **वित्तस्य** इति. कोट्यवधिद्रव्यस्य भाररूपेण स्थितस्य **सद्व्ययं चिकीर्षुः**. पूर्वस्थितस्य अन्यथाकरणे सामर्थ्यं **विभुः** इति ।।३२।।

अष्टमवर्षादिकृत्यम् आह **वर्षति इन्द्रे** इति.

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद् भग्नमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्राऽनुगृह्णता ।।३३।।

देवताप्रधानपक्षो मुख्यः इति ख्यापयितुम् इन्द्रेण वृष्टिं कारितवान्. पृष्टिलीलां च स्थापयितुं गोवर्द्धनोद्धरणं च कृतवान्. व्रजविषयक–**कोपाद्** हेतोः **इन्द्रे** मेघद्वारा [क]**वर्षति** सति, व्रजनाशम् आशङ्क्य स व्रजो रक्षितः. इन्द्रस्य कथम् एवं करणम्? इति आशङ्क्य आह भग्नो मानो यस्य तस्मिन् सति, पश्चाद् वर्षति सति. **गोत्रः** पर्वतः, सएव लीलातपत्रम्. पृथिवीरक्षकाअपि धर्मिष्ठत्वाद् भगवता उद्धृताः. लीलया आतपत्रमिव लीलातपत्रम्, छत्राकं वा. **त्रातो** रक्षितः. **भद्र** इति सम्बोधनम् उक्तविश्वासाय, भवानपि तथा रक्षित इति ज्ञापनार्थं वा. अन्यथापि पालयितुं समर्थः, स्वस्य परमम् अनुग्रहं व्रजविषयकं लोके ख्यापयितुं पर्वतोद्धरणं कृतवान् इति अभिप्रायेण आह **अनुग्रहणता** इति।।३३।।

वर्षचतुष्टयकृत्यम् आह

शरच्छशिकरैः मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् ।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः।।३४।।

शरच्छशिकरैः मृष्टम् इति. प्रत्यग्रोदित–चन्द्रकिरणैः **मृष्टम्**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

च इति पारिशेष्याद् विपन्नान् वर्षति इति एतयोः घ्राणं बोध्यम्।।३२।।

वर्षतीत्यत्र. **देवताप्रधानपक्षः** इति. विग्रहवती देवतैव यागे मुख्या इति पक्षः. **पुष्टिलीलाम्** इति. ऐहिकानुग्रहरूपां लीलाम्. **व्रजनाशम् आशङ्क्य** इति अतिविह्वलपदतात्पर्यम्. **उद्धृताः** इति 'आतपत्र'पदतात्पर्यम्. **रक्षितः** इति दुष्टचतुष्टयीतो रक्षितः।।३३।।

क. 'अभिवर्षति' इति मां१,मां३ पाठौ.

उज्ज्वलितं **रजनीमुखं मानयन् रेमे. रजनी** स्त्री, **शशी** भर्ता. स हि बहुकालेन समागतो मानिनीं ताम् अन्तस्तापेन क्लिष्टां स्वकरैः मृजन् मानापनोदनं करोति, न तावता तस्याः मानो अपगच्छति. साहि देवता निष्कलङ्केन रमणम् अपेक्षते. सहि भर्ता शशी, शशकलङ्कयुक्तः. अतः उभयसमाधनार्थं स्वयम् उपायं कृतवान्. रजनीं स्त्रीसहस्ररूपां कृत्वा, चन्द्रं स्वमनोभवं विधाय, तस्य मनोऽधिष्ठातृ-देवतात्वसिद्ध्यर्थं शब्दब्रह्मोद्गिरन्, परमां रतिक्रीडां कृतवान् शरत्कालीनः शशीति, वर्षाकाले रजनीमुखे वृष्टिः भवति इति, रुदतीव सा. अतएव तदनन्तरकाले उत्पन्नः स्वकरैः मार्जनं करोति इति युक्तम्. न हि अन्ये रजनीमुखं मानयन्ति, महतां तस्मिन् काले क्रीडाभावात्. दोषास्तु रसात्मकएव न भवति. निर्दोषतया माननं भगवदेकनिष्ठतयैव. स्त्रीणां मण्डलं मण्डनं यस्य, मण्डलस्य वा मण्डनभूतः, सुवर्णे नीलमणिवत्. कषपाषाणे वा सुवर्णरेखा ।।३४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शरदित्यत्र. **तस्य मनः** इत्यादि ''**मनःपूर्वो वाग् उत्तरम्**''(ऐत.उप. १।१।३) इति श्रुतेः इति अर्थः. **रसात्मके** इति सप्तमी इयम्. एवम् अष्टभिः अत्र शिरोरूप-वासुदेवव्यूहलीला उक्ता. अत्र एतद् बोध्यम्. इयं सर्वापि लीला वसुदेवगृहे प्रकटस्य, सच परः पुरुषः, तत्स्वरूपं च यन्मर्त्येत्यादिभिः उक्तम्, उत्कृष्टसच्चिदानन्दात्मकम्. तथा सति अक्षरात्मके पुरुषोत्तमदेहे व्यूहविभागः सिद्ध्यति. अतएव द्वादशे ''**वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्, अनिरुद्ध इति ब्रह्ममूर्त्तिव्यूहो अभिधीयते**'' (भाग. पुरा.१२।११।२१) इत्यत्र 'मूर्त्ति'पदम्. एवञ्च मथुरायां चतुर्व्यूहरूपेण प्राकट्यम्. गोकुलेतु वासुदेवरूपेण स्तन्यजननं तत्प्रयोजनम्. पुरुषोत्तमस्तु अजनएव इति ताभिरेव ज्ञातम्. ''**स त्वक्षरात्परतः परः**'' (मुण्डकोप. २।१२) इति, ''**अतोऽस्मि लोके वेदे च**''(भग.गीता १५।१८) इति श्रुति-स्मृतिभ्यां ततः परः उत्कृष्टः उक्तः सतु ''**कृषिः भूवाचकः**'' (गोपा.पू.उप.१।१) इति श्रुत्या सदानन्दः. ''**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः**'' (   ) इति स्मृत्या ''**आनन्दरूपममृतं यद्विभाति**'' (मुण्डकोप.२।२।७) इति श्रुत्या च साकारः. अयमेव रसात्मा स्वप्रतिष्ठएव इति तस्य लीला अर्थोक्तैव; वाङ्निवृत्तिश्रुतेः इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्कृपावलोकितैः अवधेयम् इति दिक् ।।३४।।

।।इति श्रीगोस्वामिपुरुषोत्तमजीमहाराजकृत-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वितीयाध्यायविवरणम्।।२।।

तृतीयाध्यायविवरणम्।

तृतीये मध्यचरितं कृष्णस्य विनिरूप्यते।
इन्द्रियाणां तथा सर्गम् अधिकारस्य पोषकम्।।१।।
आविर्भूतो हि भगवान् तत्वान्येव प्रवर्तयन्।
सर्वां सृष्टिं वितनुते तावन्तोऽत्र ततो गुणाः।।२।।
दशेन्द्रियाणि चत्वारि मनआदीनि देवताः।
अष्टाविंशतिरूपाणि निरूप्यन्ते ततोऽत्र हि।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ तृतीयाध्यायं विवरिषवः संवादे उत्तररूपा, शास्त्रेतु संस्कार्य-संस्कारकभेदेन द्विविधस्य मात्रासर्गस्य पूर्वाध्याये उक्तत्वात् तयोः संसर्गस्य च "**इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः**"(भाग.पुरा.४।२२।३०) इति न्यायेन इन्द्रियद्वारकत्वाद् न संस्काराभावे भगवदीयमात्राभिः तदनाकर्षे सम्यक् संसर्गाभावाद् न मात्रासंस्कार-सिद्धिः इति तदर्थं हेतुता अवसरः च सङ्गतिः इति बोधयन्तः तस्य अर्थम् आहुः **तृतीये** इत्यादि. **पोषकम्** इति. एतेन पूर्वोक्तयोः भूतमात्रासर्गयोः अधिकारजनकत्वं बोधितम्।।१।।

जातेष्ट्यधिकरणे सङ्ख्यायाः तात्पर्यवत्त्वस्य सिद्धत्वेन अत्र श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **आवि**रित्यादि. स्पष्टम्।।२।।

तत्त्वानि गुणाः च आहुः **दशे**त्यादि।।३।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अथ **तृतीयाध्यायं** विवरिषवः मात्रासर्गस्य पूर्वाध्याये निरूपितत्वाद् अत्र क्रमप्राप्तम् इन्द्रियसर्गमेव निरूप्य इत्येव अवसरसङ्गतिः इति आहुः **तृतीये**ति. **मध्यचरितम्** इति. मथुरास्थं चरित्रम् इति अर्थः. **इन्द्रियाणां तथा सर्गम्** इति।।१।।

श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **आविर्भूतः** इति. भगवन् हि यतः मथुरायां आविर्भूतः अतः पूर्वतनासुरसृष्टिनिराकरणपूर्वक-लीलानुकूल-स्वकीया-सृष्टिचिकीर्षया तत्कारणीभूततत्त्वान्येव प्रवर्तयन् सर्वां स्वयोग्यां सृष्टिं वितनुते तावन्तो अत्र अध्याये अष्टाविंशति-तत्त्वसमसङ्ख्याकाः गुणाः उच्यन्ते इति शेषः।।२।।

अनयैव सङ्ख्यया देवतासहितेन्द्रियमनआदिनामपि सर्गो ज्ञाप्यते इति आहुः **दशे**ति. **देवताः** इति. दशेन्द्रियाणां मनआदिचतुर्णां च देवताः इति **अष्टाविंशतिरूपाणि**

पूर्वाध्याये मथुरायाम् उत्पत्तिम् उक्त्वा, तत्र कर्तव्यचरित्रे वक्तव्ये, मध्ये गोकुलवासादिकं निरूपितम्. इदानीम् आविर्भावकार्यं निरूप्यते. तत्र प्रथमं गोकुलात् समागत्य कंसं हतवान् इति आह **ततः** इति.

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रोः चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम्।।१।।

ततो गोकुलात् **स** भगवान् स्व**पुरं** मथुराम् **आगत्य, स्वपित्रोः शं चिकीर्षया** उभयोः कार्यसिद्ध्यर्थम्, **बलदेवेन संयुतो रिपुयूथानां नाथं** कंसं **तुङ्गाद्** मञ्चाद् **निपात्य,** तदुपरि स्वयं पतित्वा, मृते तस्मिन् पित्रोः प्रियचिकीर्षया हतमपि तं **व्यकर्षत्** विकर्षणं कृतवान्. एवं हि तेषां कामना स्थिता ''क एनम् इत्थं करिष्यति?'' इति. **ओजसे**ति. यथा तस्य अवयवाः विशीर्णाः भवन्ति तथा महाप्रयत्नेन विकर्षणं कृतवान् इति अर्थः. इदमेव भक्तानां मनः. भक्तानां मनसि स्थितं दैत्यं हत्वा तन्मनः स्वस्थं कृतम् इति. एतादृशे चरित्रे कृते तेषां हृदये यद् जायते ''अस्माभिरपि एवं कर्तव्यं, भगवदपेक्षया स्थातव्यं; भगवानेव चित्ते स्थितं दोषं परिहृत्य मनः स्थिरकरिष्यति'' इति।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रथमपद्ये. **आविर्भावकार्यम्** इति चतुर्व्यूहरूपेण अवतारकार्यम्. ननु स्वरूपस्य बाह्यचेष्टारूपत्वात् कथं मनस्त्वम् इति आशङ्क्य तत्र उपपत्तिम् आहुः **भक्तानाम्** इत्यादि. तथाच **''प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाग्''**(बृहदा.उप.१।४।७) इति श्रुत्युक्तन्यायेन मनःकार्यकरणाद् रूपस्यैव मनस्त्वं, लीलास्तु करणभूताः स्मरणं च व्यापारः इति अर्थः. एवम् अग्रेपि बोध्यम्. ननु एवं तन्मनःसंस्कारेऽपि कथम् अन्येषां मनःसंस्कारसिद्धिः इत्यतः आहुः **एतादृशे** इत्यादि **यद्** इति यस्मात्।।१।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इति अर्थः ।।३ ।।

ततः इत्यत्र. **उभयोः** इति. पित्रोः इति अर्थः. **तेषाम्** इति. पित्रादीनाम् इति किलष्टानाम् इति अर्थः. अनेन मनः सर्गो निरूपितः इति आहुः **इदमेव** इति. अत्रोक्तमेयप्रमेयम् इति अर्थः. अस्यैव प्रपञ्चः भक्तानाम् इत्यादि।।१।।

एवं दुष्टनिग्रहं निरूप्य शिष्टपरिपालनं वक्तुं सतां शिक्षार्थं स्वयम् आद्यं ब्रह्मचर्यलक्षणं धर्मं सम्पूर्णं कृतवान् इति आह **सान्दीपनेः** इति.

सान्दीपनेः सकृत् प्रोक्तं ब्रह्माऽधीत्य सुविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद् वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ।।२।।

सन्दीपनस्य पुत्रः सर्वज्ञः, तस्य सकाशात् **ब्रह्म** वेदम् **अधीत्य**. **सकृत् प्रोक्तम्** इति अतिसौबुद्ध्यं लोकप्रतीत्या निरूप्यते, विधिपरिपालनार्थं वा. **सुष्ठु विस्तरम्** इति अर्थावबोधाङ्गादिसहितम्. **अधीत्य** विद्यां समाप्य, गुरुवे दक्षिणां दत्तवान्. सा दक्षिणा वररूपा, सोऽपि पुत्ररूपः, सोऽपि पूर्वं मृतरूपः. पूर्वं पञ्चजनोदरं प्राप्य **मृतं पुत्रं**, मरणात् पूर्वावसरे स्थितरूपं, **तस्मै प्रादात्**. भगवदाज्ञया कालेन मरणक्षणम् आरभ्य सर्वतत्त्वसमूहस्य सङ्घातस्य प्रतिक्षणं यो विकारो जातः, तं सर्वमेव विकारं काल उद्गिरणं कृतवान्; तदा स सर्वोऽपि सङ्घातः पूर्वस्थितएव भवति. इयमेव मनोधिकारिदेवता; चन्द्रएव हि क्षीणो वद्र्धते, शब्दहेतुश्च भवति।।२।।

एवम् आचारेण शिष्टपरिपालनम् उक्त्वा, द्वितीयाश्रमलक्षणं धर्मम् आचारेण प्रवर्तयन् कृतवान् इति आह **समाहुता** इति.

समाहुता भीष्मक–कन्यया ये श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत् सुपर्णः।।३।।

भीष्मककन्यया येषां बुभूषया, **श्रियः** सवर्णेन रुक्मिणा, **ये समाहुताः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सान्दीपनेः इत्यत्र. **इयम्** इति. कालोद्गीर्णगुरुपुत्रदेहरूपा।।२।।

समाहुताः इत्यत्र. मूलस्थं **बुभूषया** इति पदं भूप्राप्तौ इत्यस्य इति अभिप्रेत्य

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

सान्दीपनेः इत्यत्र. **उद्गिरणम्** इति. ग्रस्तम् इति निष्कासितवान् इति अर्थः. अत्र मनोदेवता निरूपिता इति आहुः **इयम्** इति. श्लोके निरूप्यमाणाः इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **चन्द्रे**त्यादि. **शब्दहेतुः** इति. समुद्रादिगर्जनहेतुः भवति इति अर्थः. चन्द्रकलावृद्ध्या समुद्रगर्जनं प्रसिद्धम्. यद्वा ''**मनः पूर्वो वागुत्तरः**'' (एत.उप. १।१।२) इति चन्द्राधिष्ठितः मनसः एतच्शब्दहेतुत्वम् इति तथा इति अर्थः।।२।।

समाहुता इत्यत्र. **भीष्मककन्यया** इति. तथा निमित्तभूतया येषां राज्ञाम्

तेषां **मुर्घ्नि पदं** दत्वा **गान्धर्ववृत्त्या** तां हृतवान्. "**गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यो क्षत्रस्य तौ स्मृतौ**" (मनुस्मृ.३।२६) इति प्रथमविवाहे तद् उभयं विधातुम्, रुक्मिण्यंशे गन्धर्वता, इतरविषये प्रसह्य कन्याहरणाद् राक्षसत्वम् इति **गान्धर्ववृत्त्या जह्रे** इति उक्तम्. तेषां **मूर्घ्नि पदं दधद्** इति. बन्धुभिः यत् तेभ्यो दत्तम् तदेका बहुभ्यो दातुम् अशक्येति यो रोचते, यो वा महांन् तस्मै देयम् इति इच्छया जातत्वात्, तत्सिद्ध्यर्थं सर्वेषां मस्तके स्वपदं सर्वानुकल्परूपं दत्तवान्. अनेन तेषाम् इच्छापि समर्थिता, सर्वप्रतिरूपत्वाद् भगवतः. **श्रियः** समानवर्णेन रुक्मिणीरूपेण ये समाहृताः इति वा पाठः. रूपेण व्यामुग्धाः समागताः इति, तेषां मस्तके पददानेन, तस्मिन् पक्षे तेषां मोहो निराकृतः. **भीष्मककन्यया** कर्त्र्या,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **भीष्मके**त्यादि. तथाच भीष्मक-कन्याकर्तृका या एषां राज्ञां प्राप्तीच्छा तया स्वोट्टंकितया हेतुभूतया रुक्मिणा समाहूता इति अर्थो ज्ञेयः. **समाहुता** इत्यत्र च आर्षो ह्रस्वः. **श्रियःसवर्णेन** इति. **श्रियो** रुक्मिण्याः समानौ वर्णौ वाचकौ यस्य असौ सवर्णः तेन इति श्रीधरीये व्याख्यातम्. **दत्तम्** इति भावे क्तः. **देयम्** इति. दानं कर्तव्यम्. पदस्य सर्वानुकल्परूपत्वं कथम् इत्यतः आहुः **सर्वप्रतिरूपत्वाद्** इति. सर्वप्रपञ्चरूपमूलत्वात्; 'प्रति'शब्दस्य मूलस्वरूपवाचकत्वं प्रतिपुस्तकादिपदे प्रसिद्धम्. **मोहः** इति. श्रीरुक्मणीरूपविषयिका आसक्तिः. अस्मिन् पक्षे मूलयोजनाम्

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

उद्भेवच्छया श्रियः सवर्णेन भ्रात्रा रुक्मिणा ये समाहूताः तेषाम् इति अर्थः. **गान्धर्वम्** इत्यादि... रुक्मिण्यंशे इति **इतरे**ति. राजन्यः चक्रविषयः इति अर्थः. **बन्धुभिः** इति. बन्धुभिः यत् तेभ्यः समाहूताः कन्या दत्तम्. अन्यतमविषयक-निश्चयाभावात् सर्वेभ्यएव देवेभ्यः मनसो दत्तम् इति भावः. इयं च एका बहुभ्यो दातुः शक्या इति हेतोः यः एतस्य एका अन्या यैः रोचते एतत्प्रीतिविषयो भवति इति यावत्. यो वा सर्वेभ्यो महान् तस्मै देयम् इति. बन्धुवर्गेच्छायाः जातत्वात् तदिच्छापूर्तिसिद्ध्यर्थं स्वस्य रुक्मिणीप्रीतिपात्रत्वं सर्वतो महत्त्वं च ख्यापयितुं सर्वेषां समाहूतानां राज्ञां मस्तके स्वपदं सर्व बन्धुवर्गेच्छानुकल्परूपं दत्तवान् इति अर्थः. **तेषाम्** इति. बन्धूनाम् इति अर्थः. **सर्वप्रतिरूपत्वाद्** इति.... **तस्मिन् पक्षे** इति. बन्धुभिः न समाहूता किन्तु रक्मिणीव्यामुग्धाः समागता इति **पक्षे** इति अर्थः. **तेषां मोहः** इति. रुक्मिणी

श्रियः सवर्णेन करणेन, गान्धर्ववृत्त्या बुभूषया ये समाहृताः इति अर्थे अनियतत्वात् सर्वप्रतिरूपतया गान्धर्वत्वम्. प्रसह्य कन्याहरणं तु सर्वत्र तुल्यमेव. **मिषताम्** इति चौर्यं निवारितम्, सर्वेषां बलहानिर्वा निरूप्यते. **स्वभागम्** इति न वैधो दोषः. **सुपर्णः** इति गुरुडभावम् आपन्नो भगवानेव. तथा सति अमृतमिव तां हृतवान् मातुः प्रियचिकीर्षया. **स्वभागम्** इति वचनाद् इयं ज्ञानशक्तिः. एषैव बुद्धिः अधिकारिणो या भगवदेकपरा, भगवतैव सर्वान् दोषान् दूरीकृत्य स्वार्थमेव आत्मसात्कृता भवति॥३॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **भीष्मके**त्यादि. तृतीययोजनायां गान्धर्वत्वप्रकारम् आहुः **गान्धर्वे**त्यादि. **अनियतत्वात्.** इच्छायाः अनिश्चितत्वात्. भगवतः सर्वप्रतिरूपत्वात् कुत्रापि इच्छाभवने भगवत्येव पर्यवसानाद् विवाहस्य गान्धर्वत्वम् इति अर्थः. श्रीधरेण त्रिधा व्याख्यातत्वाद् अत्रापि तदादृत्य त्रिधा व्युत्पादितम्. **सर्वत्र** इति. पक्षत्रयेपि. स्कन्धार्थविचारेण अत्र बुद्धिसर्गे गमकम् आहुः **स्वभागम्** इत्यादि. तथाच इयं संस्कारिका इति अर्थः. संस्कार्यस्वरूपम् आहुः **एषैव** इत्यादि॥३॥

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अस्मद्योग्या इति यः तेषां मोहः सः निराकृतः इति अर्थः. **गान्धर्ववृत्त्या बुभूषया** इति. अस्मिन् पक्षे **गान्धर्ववृत्त्या** इत्यस्य **जह्रे** इत्यनेन अन्वयः. **अनियतत्वाद्** इति. गान्धर्ववृत्त्या बुभूषायाः सर्वं गतत्वेन अनियतत्वात् सर्वमूलरूपतया भगवति गान्धर्वत्वम् इति अर्थः. यद्वा **अनियतत्वाद्** इति. बन्ध्वादिषु रुक्मिणीदान-विषयकायाः इच्छायाः अनिश्चितत्वात् कुत्रापि इच्छाभवने भगवतः सर्वप्रतिरूप-त्वाद् भगवत्येव पर्यवसानाद् विवाहस्य गान्धर्वत्वम् इति अर्थः. **सर्वत्र** इति. पक्षत्रयेऽपि इति अर्थः. **मातुः** इति. यथा मातुः विनतायाः दास्यनिराकरणार्थं तत्प्रियाचिकीर्षया मृतं हृतवान् तथा तद्बन्धुवर्गप्रियचिकीर्षया भगवन्नैनाम् (?!) इति अर्थः. अत्र बुद्धिनिरूपणं समर्थयन्ति **एषैव** इति. श्रीरुक्मिणीनिष्ठैव. **भगवत्परा** इति. लौकिकपारलौकिकत्यागपुरःसरं भगवदेकविषयिणी इति अर्थः. **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते''** (भग.गीता४।११) इति मर्यादया तादृशाधिकारिणमेव भगवान् आत्मसात्करोति इति आशयेन आहुः **भगवतैव** इति. यया बुद्ध्या भगवत्सम्बन्ध-

एवं सोमवंशे विवाहम् उक्त्वा सूर्यवंशे सोत्सवं विवाहम् आह **ककुद्मिनः** इति.

ककुद्मिनो विद्धनसो दमित्वा स्वयंवरे नाग्नाजितीम् उवाह ।
तद् भग्नमानानपि गृध्नतोऽज्ञान् जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः।।४।।

ककुद्मिनो वृषभान् पणत्वेन स्वीकृतान्, **विद्धनसः** कृत्वा नासिकां भित्वा, तत्र रज्जुं निपात्य, समाकर्षणेन दमित्वा भग्नवीर्यान् कृत्वा. तत्रापि स्वयंवरएव, नतु आहूय दानम्. अनेन स्वधर्मोऽपि उक्तो गान्धर्वः. नग्नजितः पुत्रीं सत्याम् उवाह. तस्यां राक्षसत्वमपि आह **तद्भग्नमानान्**, पूर्वं स्वयंवरार्थम् आगतान्, समयबन्धरूपैः तैरेव वृषैः भग्नो मानो येषाम्. तथाभूतानपि तन्मारकवृषभजेतुः भगवतः सकाशात् तां हर्तुं **गृध्नतो** अधिकाकाङ्क्षावतः, अतएव **अज्ञान्**, स्वयम् **अक्षत**एव **स्वशस्त्रैः** तान् शस्त्रभृतो **जघ्ने**. अनेन तान् हत्वा नयनाद् राक्षसत्वं निरूपितम्.

इयमेव हि बुद्धिदेवता ब्रह्मरूपा. तस्याः दोषाः द्विविधाः नियताः अनियताश्च. नियताः मायाकृताः सप्तव्यसनात्मकाः. अनियतास्तु अनन्ताएव. तान् उभयविधानपि भगवान् दूरीकृत्य, नग्नान् पाषण्डान् जयति इति वेदो धर्मो वा, तज्जनिकां देवतां स्वनिष्ठामेव कृतवानिति, न स्वभावतोऽपि भगवदीयानां बुद्धिः अन्यविषया भवति।।४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ककुद्मिनः इत्यत्र. **तज्जनिकाम्** इति. तस्माद् वेदाद् धर्माद् वा जनिः जननं यस्याः सा तथा. बुद्धिजनिकाम् इति वा. अत्रापि संस्कारवत्त्वं भगवतएव. एवं सर्वत्र बोध्यम्।।४।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

प्रतिकूलत्वेन दोषरूपान् शिशुपालादीन् दूरीकृत्य भगवता श्रीरुक्मिणी आत्मसात्कृता भवति इति अर्थः।।३।।

ककुद्मिनः इत्यत्र. अत्र बुद्धिदेवतानिरूपणं ज्ञापयन्ति **इयमेव** इति. वर्णयिष्यमाणा गुणेत्यर्थः. **तस्याः** इति. बुद्धेः इति अर्थः. **व्यसनात्मकाः** इति. तएव सप्त वृषाः इति अर्थः. तेत्तरीजान(?) इत्यर्थः. **तज्जनिके**ति. ततो जनिः उत्पतिः यस्याः इति स्वार्थे कः. नाग्नजितिम् इति अर्थः।।४।।

एवं विवाहम् उक्त्वा तत्र रमणम् आसक्तिव्यतिरेकेण न भवतीति तद् आसक्तिकार्यम् आह **प्रभुः** इति.

प्रभुः प्रियं ग्राम्य इव प्रियाया विधित्सुर् आर्च्छद् द्युतरुं यदर्थे ।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषाऽन्धः क्रीडामृगो नूनम् अयं वधूनाम् ।।५।।

प्रियायाः सत्यभामायाः **ग्राम्य इव प्रियं विधित्सुः द्युतरुम् आर्च्छत्** पारिजातम् आहृतवान्. स्वर्गस्थितियोग्यं देवोपभोग्यम् इति पारिजातमर्यादा; तां भङ्क्त्वा, प्रियार्थम्, यथा ग्रामीणः कामरसाविष्टो मर्यादां भङ्क्त्वा रसम् अनुभवति तथा दिव्यभोगं कृतवान् इति अर्थः. पारिजातस्य स्वर्गेऽपि दुर्लभतां ख्यापयितुम् आह **यदर्थे** इति. यस्य पारिजातस्य अर्थे, **वज्री** इन्द्रो वज्रं गृहीत्वा स्वर्गार्थं ब्राह्मणवधमपि अङ्गीकृत्य, यो ब्राह्मणं वृत्रं हतवान् तादृशत्वं 'वज्रि'-पदेन सूच्यते. भगवताऽपि सह कलहार्थं **सगणो** देवादिसहितः, विचारानुत्पत्तये **रुषाऽन्धः आद्रवद्** आभिमुख्येन युद्धार्थम् आगतः. अनेन सर्वस्मादपि स्वर्गात् पारिजातो अधिकः इति उक्तम्, यदर्थम् इन्द्रादयोऽपि मर्तुं सुमुद्यता इति.

ननु इन्द्रः सर्वज्ञो देवो बृहस्पतिशिष्यः कथम् एवम् नीतिविरुद्धं सर्वप्रकारेण उपजीव्येन भगवता कथं विरोधं कृतवान्? इति आशङ्क्य आह **क्रीडामृगो नूनम् अयं वधूनाम्** इति. **अयम्** इन्द्रो **वधूनाम्** इन्द्राण्यादीनां निश्चयेन **क्रीडामृगो** वानरः. वानरो यथा यथोक्तमेव करोति नतु किञ्चिदपि विचारयति. 'वधु'शब्देन च ताएव गृहपतयः उक्ताः. तद्रक्षार्थमेव इन्द्रादीनाम् उपयोगइति अयम् अहङ्कारो निरूपितः. भगवद्भक्तानां भगवतैव स्थापितो अहङ्कारः फलाय इति. *अस्य अभिमानिनी देवता रुद्रः. तद् भक्तनिराकरणेन भगवानेव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रभुः इत्यत्र. **अयम् अहङ्कारः** इति. श्रीसत्यभामानिष्ठः सः संस्कार्यत्वेन निरूपितः इति अर्थः. संस्कृतस्वरूपम् आहुः **भगवदि**त्यादि. संस्कारप्रकारं वदन्तः

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

प्रभुः इत्यत्र. **वधूशब्देन** इति. वहति सर्वं गृहभारम् इति वधूः. वहोधश्च इति धः. अहङ्कारनिरूपणं समर्थयन्ति **अयम्** इत्यादि. श्रीसत्यभामानिष्ठः. अत्र उत्तमता-वच्छेदकम् आहुः **भगवदि**त्यादि. **फलाय** इति. अतः तन्मनोभिलषितमेव पारिजाता-नयनादिना कृतवान् इति भावः. **सुतम्** इत्यस्य आभासे. ***अस्य अभिमानिनी** इति.

तद्रूपइति भक्ताहङ्कारनिर्वाहकं रूपम् उत्तरत्र वर्ण्यते।।५।।

भगवतो भोगोऽपि भक्तेष्टसिद्ध्यर्थमेवेति तस्य दयां प्रतिपादयन्, दुष्टनिग्रहपूर्वकं भक्तानां सर्वमेव इष्टं प्रयच्छन्, भोगं करोति इति आह **सुतं मृधे** इत्यादि चतुर्भिः

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस् तत्तनयाय शेषं दत्वा तदन्तःपुरम् आविवेश ।।६।।

सुतं नरकासुरं भगवता हतं **दृष्ट्वा** धरित्री भगवन्तं प्रार्थितवती शेषरक्षार्थम्. कृते करणाभावात्, तदा [क]तथा **आमन्त्रितः तत्तनयाय** भगदत्ताय शिष्टं सर्वमेव राज्यं **दत्वा,** तत्पुत्रोपयोगाभावपदार्थग्रहणार्थं तदन्तःपुरम् आविवेश इति अन्वयः. भगवान् सर्वेषां स्वकीयानां सर्वमेव कार्यं स्वयं करोति इति भगवच्चरित्रम् उक्तम्. इदमेव रूपम् अहङ्कारदेवतायाः. नरकासुरवधे हेतुः **खं वपुषा ग्रसन्तम्** इति. वृत्रतुल्यता निरूपिता. ब्रह्मणा हि कृतं जगत् परिपालयितुं समुद्यतो विष्णुः, रुद्रप्रसादाद् महाभूतग्रसनसामर्थ्यं प्राप्तवन्तं स्थित्यर्थं स्वपुत्रमपि हतवान्. पौत्रस्थापनन्तु भार्याप्रार्थनया. दोषाभावाय **मृधे** इति उक्तम्. सङ्ग्रामे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परिचारकमपि आहुः **अस्य** इत्यादि. **तद्रूपः** इति. अहङ्कारदेवतारूपः।।५।।

सुतं मृधे इत्यत्र. **कृते करणाभावाद्** इति. कृते भौमहनने पुनः अहननस्य अभावाद् इति अर्थः. **उक्तम्** इति. संस्कारकम् उक्तम्. **इदम्** इति. स्वयं कर्तृत्वाभि-मानरूपम्. ननु वामनावतारपुत्रं भौमं कुतो हतवान् इत्यतः आहुः **नरके**त्यादि. ग्रासस्य गिरणात्मकत्वाद् मुखकार्यत्वाच्च प्रकृते तदभावेन कर्तृकरणकर्मणाम्

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

लौकिकाहङ्कारस्य इति अर्थः. **तद्भक्ते**ति. अहङ्काराधिष्ठातृमहादेवभक्त-निराकरणेन भगवानेव भक्ताहङ्कार-नियामक-देवतारूपो जातः इति अर्थः. **उत्तरत्र** इति. अहङ्कारनिरूपकश्लोकाद् उत्तरस्मिन् ‘‘**सुतम्**’’ इति श्लोके इति अर्थः.

व्याख्याने. **इदमेव** इति. स्वयं कर्तृत्वाभिमानरूपम्. भगवान् यत् स्वयं वा अन्यानपेक्षएव लौकिकाहङ्कारनिवर्तनपूर्वकं स्वकीयत्वं ख्यापयन् तत्र अन्याः कन्या अङ्गीकृतवान् इति तथा. **प्रतिक्रियाकालो अयम्** इति. प्रारब्धक्रियाऽपरि-

---

क. ‘तया’ इति जु,मां१,मां३ पाठः.

हननं क्षत्रियाणां न दोषाय. शून्यं हि वस्तुना पूरितं भवति, **खम्** आकाशं शरीरेण पुरितमिति तेन ग्रासो निरूप्यते. **ग्रसन्तम्** इति वर्त्तमाननिर्देशेन प्रतिक्रिया-कालोऽयम् इति सूचितम्. **सुनाभं** सुदर्शनम्. **उन्मथनं** खण्डशश्छेदनम्. तच्छरीरं मथित्वा तत्र स्थितं जीवम् उद्धृतवान् इति वा. तदन्तःपुरप्रवेशात् तम् आत्मनि सायुज्यं प्रापितवान् इति लक्ष्यते. अतएव न दाषोऽपि केनापि अंशेन. ताश्च देवस्त्रियः इति च. सम्बन्धएव वरप्राप्त इति अष्टावक्रशाप-प्रसादाभ्याम् अवगम्यते।।६।।

तत्र ताभिः वृतः इति आह **तत्राहृताः** इति.

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः कुजेन दृष्ट्वा हरिम् आर्तबन्धुम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अनुपपत्तिम् आशङ्क्य आहुः **शून्यम्** इत्यादि. तथाच गौण्या अभिप्रेतत्वाद् न अनुपपत्तिः इति अर्थः. उन्मथने शरीरस्य वाच्ये तस्य भौमविशेषणत्वम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य तत्तात्पर्यम् आहुः **तच्छरीरम्** इत्यादि. छान्दोग्ये ''**प्राणः पिता प्राणो माता**''(छान्दो.उप.७।१५।१) इति निर्धारणाद् अत्र सुतत्वं मथनं च जीवपर्यन्तं तस्य च अच्छेद्यत्वमपि शास्त्रसिद्धम्, अतो अत्र उन्मथेन जीवोद्धारो अर्थादेव प्राप्यते इति तथा इति अर्थः. 'वा'शब्दः एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे. ननु उन्मथनस्य जीवपर्यन्त-त्वम् अर्थाद् अस्तु उद्धारस्य न ततः प्राप्तिः इति आशङ्कायाम् आहुः **तदन्तः** इत्यादि. परोक्षवादत्वाद् न अत्र लक्षणादोषः. बहिःविचारणे स्वार्थत्यागा-भावात् च. एवं व्याख्याने गुणान्तरमपि आहुः **अतएव** इत्यादि. **केनापि अंशेन** इति. स्वस्य क्रूरतया बाह्यान्तःपुरस्य पारक्यतया च. हनने दोषाभावस्य हेत्वन्तरमपि आहुः **ताः** इत्यादि. तथाच, यथा ''**देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथाः**''(भाग.पुरा. १०।४०। १९) इत्यत्र. नृसिंहरूपेण तदर्थं हिरण्यकशिपुवधः तथा इति अर्थः. बाह्यप्रवेशेऽपि हेतुम् आहुः **सम्बन्ध** इत्यादि. अतो न केनापि अंशेन दोषः इति अर्थः।।६।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

समाप्त्यवच्छिन्नो वर्तमानकालएव प्रतिक्रियाकालः. कार्ये न्निष्ठष्टिन्नेतु(?) कृते करणाभावात् प्रतिक्रिया न स्याद् इति भावः. **अतएव** इति. तद्गृहस्य सर्वथा आत्मसात्कृतत्वादेव इति अर्थः. **न दोषः** इति. तद्गृहस्थकन्याग्रहणादिषु न दोषः इति अर्थः. प्रकारान्तरेणापि तदभावम् आहुः **देवे**ति. अष्टावक्रेति।।६।।

उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष–व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ।।७।।

ताः पूर्वोक्ता देवस्त्रियः, साम्प्रतं नरदेवकन्याः **कुजेन** नरकासुरेण **आहृताः**, तत्र अन्तःपुरे, सर्वदुःखहर्तारम् ऐहिकपारलौकिकदोषदूरीकरणसमर्थं, स्वभोगार्थं तथा करोति इति आशङ्कानिवृत्यर्थम् **आर्तबन्धुम्** आर्तानां तदीयत्वे बन्धुवद् हितकर्तारं, **दृष्ट्वा उत्थाय सद्य** एकवारमेव तं पतित्वेन **जगृहुः. हरिम् आर्तबन्धुम्** इति विशेषणं न ज्ञातम् उपयुज्यते किन्तु स्वरूपसदेव. अतएव भगवद्दर्शनमात्रेण बन्दीक्लेशबन्धुत्यागादिसर्वदुःखानाम् अपुनःस्मरणं विस्मृतत्वात्. स्वगृहे पुष्टा इव कामकलापूर्णाः कन्दर्पकोटिलावण्यं भगवन्तं भोगेच्छया गृहीतवत्य इति आह **प्रहर्षव्रीडानुरागप्रहितावलोकैः** इति. भगवन्तं हस्तेन दीनतया शरीरेण वा बन्धुमिव न गृहीतवत्यः किन्तु हर्षेण, **व्रीडया** अनुरागेण च प्रहितानि यानि अवलोकनानि, आनन्दचित्सद्भावदृष्टयः. प्रथमतो भगवन्तम् आनन्दामयं दृष्ट्वा प्रकृष्टो हर्षो जातः. तेन आनन्दानुभवार्थं दृष्टिः प्रथमं प्रेषिता. ततो अधिभुज्यमाने भगवति पतिस्त्रीरूपं चेतनभावम् आपन्ना, व्रीडया भोगं निवार्य, तदीयत्वख्यापिका दृष्टिः प्रेषिता. ततो अन्तःकरणे भगवति परमप्रेमोत्पत्तौ, भगवतोऽपि स्वस्मिन् दृष्टिपाते, **अनु**पश्चाद् उद्गतो **रागो** जातः. तेन परमवैषयिकभोगार्थं भगवति सा दृष्टिः प्रेषिता. तान्येव अवलोकनानि, भगवद्ग्राहकाणि. अनेन भगवदीयानाम् एवं चित्तं, भगवता उत्पाद्यते इति उक्तम्।।७।।

तासां भगवतः स्वीकारम् आह **आसां मुहूर्त एकस्मिन्** इति.

आसां मूहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्र आहृताः इत्यत्र. 'हरि'पदस्य विशेषणत्वं प्रकरणबलेन विशेष्यतया च भगवतः प्राप्तत्वाद् बोध्यम्. स्कन्धार्थविचारेण आहुः **अनेन** इत्यादि. **चित्तम्** इति. निश्चयात्मकवृत्तिकम् अन्तःकरणम्. एवम् अत्र संस्कार्य-संस्कारयोः स्वरूपम् उक्तं ज्ञेयम्।।७।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तत्र इत्यत्र. **स्वरूपसदेव** इति. स्वरूपेण सदेव. अवयवार्थेन विशेषो गुणातिशयाध्यायकं सदेव इति यावत्. अत्र चित्तनिरूपणं स्मारयन्ति **अनेन** इत्यादि।।७।।

सविधिं जगृहे पाणिम् उरुरूपः स्वमायया।।८।।

समुदायेन भोगः स्त्रीणां सुखकरो न भवतीति तासां कालतः इच्छाबाधनाभावाय भगवान् **उरुरूपो** भूत्वा, लौकिकवाच्यतानिवृत्यै सविधिं विधानपूर्वकं समानफलसिद्धये भगवत्वख्यापनाय च एकस्मिन् मुहुर्ते **पाणिं जगृहे** विवाहं कृतवान् इति अर्थः. **स्वमायया** जगत्कर्तुः करणभूतया. केवल–सच्चिदानन्देऽपि भोगार्थं तद्ग्रहणयोग्यत्वाय स्वरूपम् आच्छादयतीति, मायायाः करणत्वम्. *यथा सर्वमेव जगद् भगवद्रूपं चिदंशमायया व्यवहितं सर्वैः यथेष्टं व्यवह्रियते तथा भगवान् स्वमायया तासाम् अभिलषितभोगार्थम् उरुरूपो जातः इति अर्थः. **योषिताम्** इति भोगदशा प्रदर्शिता. **नानागारेषु** इति पूर्णरसाविर्भावाय. अत्र विधिः गान्धर्वः इति प्रतिभाति, क्षत्रियाणां मुख्यत्वात्. एवं ग्रहणमेव चित्ताधिष्ठातुः वासुदेवस्य भक्तान् प्रति चित्तप्रेरणाम् इति उक्तम् ।।८।।

तासां फलम् आह **तास्वपत्यान्यजनयद्** इति.

तास्वपत्यान्यजनयद् आत्मतुल्यानि सर्वशः ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर् विबुभूषया ।।९।।

अपत्यानि कन्यापुत्ररूपाणि. तासाम् अधिकरणत्वेन तत्तुल्य अपत्यजननं निवारितम्. तथा सति भगवदिच्छया प्रकृतिपुरुषसम्बन्धेनैव तासां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आसाम् इत्यत्र. **एवं ग्रहणम्** इति गान्धर्वेण [१]भक्तपाणिग्रहणम्. इदम् अत्र संस्कार्यस्वरूपम्. संस्कारकस्तु स्वयमेव, नतु अयम्. नामसाम्येऽपि स्वरूपभेदाद् इति।।८।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

आसाम् इत्यत्र. **कालतः** इति. इदं उपलक्षणम्. देशवयआदिभिरपि तदिच्छाबाधानाभावाय तदनुरूपो भूत्वा इति अर्थः. एककालावच्छेदेन सकल–पाणिग्रहणसूचितम् आहुः **समाने**त्यादि. **स्वरूपम्** इति. निरावरणस्वरूपानुभवस्तु व्रजस्थानामेव इति भावः. **एवम्** इति. गान्धर्वेण पाणिग्रहणस्यैव क्षत्रियाणां मुख्यत्वाद् एवमेव पाणिग्रहणम् इति अर्थः. अत्र चित्तदेवतानिरूपणं स्मारयन्ति **चित्ते**त्यादि।।८।।

तास्वित्यत्र. **अधिकरणत्वेन** इति. अन्यथा सम्बन्धे षष्ठ्येव ब्रूयाद् इति

---

* 'यतः' इति क. ख. घ. ङ. च. छ.मां१,मां३,जु.पाठः. प्रकाश.१.भक्तिपाणिग्रहणम् पा.

पुत्राः जायेरन् तद्व्यावृत्यर्थम् **आत्मतुल्यानि** इति आह. **सर्वशः** इति पञ्चधा. शरीरतः इन्द्रियतः प्राणतो अन्तःकरणतः स्वरूपतः तत् सर्वधर्मतश्च इति. **एकैकस्यां दशदश** इति विध्यर्थः परिपालितः. **''दश अस्यां पुत्रान् आधेहि''** (बोधा.गृ.सू.१।४।१९) इति श्रुतेः. प्रकृतेः विशेषभवनेच्छया इति करणं सङ्ख्यायाम्. सा हि एकमेव पुरुषं सकृद् उपलभ्य महत्तत्त्वकार्यं कृतवती, पुनः सम्बन्धे प्रयोजनाभावात् सकामैव स्थिता. इदानीं भगवान् चेद् अनन्तरूपो भवति तदा तद्भोगार्थं पुनः-पुनः पुरुषसम्बन्धं प्राप्य कार्याणि जनयिष्यति इति. तस्याः विबुभूषा सिद्ध्यति. यागवत् करणता अस्याः. भगवदिच्छया व्यापृताः बहुधा जननं साधयति इति. अनेन साङ्ख्यवद् भगवद्भक्तानाम् इन्द्रियप्रवृत्तिः इति दशसङ्ख्यया बहिरिन्द्रियाणां स्वरूपम् उक्तम्. ते हि अग्रे न बीजभावं प्राप्नुवन्ति, भोगश्च अन्येच्छया इति; तत्रापि न भोगेच्छाकारणम् किन्तु भवनेच्छैव[क] कारणम्।।९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तासु इत्यत्र. **स्वरूपतः** इति पदं **शरीरतः** इत्यादीनां विशेषणं ज्ञेयम्. **यागवद्** इति. यावत्फलसमापनं स्वरूपसतीति अर्थः. व्यापाराकाङ्क्षायाम् आहुः **भगवदिच्छया** इत्यादि. स्कन्धार्थविचारेण आहुः **अनेन** इत्यादि. **अनेन** इति पद्येन. **इन्द्रियप्रवृत्तिः** इति. आनन्दजनकेन्द्रियप्रवृत्तिः. प्रवृत्तौ साङ्ख्यतुल्यत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **ते हि** इत्यादि. **ते** इति साङ्ख्यजीवाः. **तत्रापि** इति. भोगेऽपि. अत्र हि 'अपत्य'पदेन अपगतित्याजकत्वस्य सङ्ख्यया च बाह्यत्वरूप-तत्स्वरूपस्य बोधनाद् एतद्द्वयम् उक्तम्. तेषां कदेवताकेन्द्रियकार्यत्वात् तद्वा तदिन्द्रियमपि विशेषाकारेण उक्तम् इति अर्थः ।।९।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

भावः. **तत्तुल्ये**ति. किन्तु आत्मतुल्यानिएव अपत्यानि इति भावः. **तथासति** इति. तत्तुल्यानामेव जनने अभिप्रेते भगवदिच्छामात्रतः प्रकृतिपुरुषसम्बन्धेन महत्तत्त्वोत्पत्तिवद् अत्रापि स्याद् इति अर्थः. **सङ्ख्यायाम्** इति. अपत्यनिष्ठ-बहुत्वसङ्ख्यायाम् इति अर्थः. करणत्वम् उपपादयन्ति **सा हि** इत्यादि. यागवत् इति ।।९।।

क. 'भगवदिच्छैव' जु,मां१,मां३ पाठः.

एवं कामलीलाम् उपपाद्य क्रोधलीलां सोपपत्तिकाम् उपपादयति **कालमागधे**त्यादि सप्तभिः

काल–मागध–शाल्वादीन् अनीकै रुन्धतः पुरम् ।
अजीघनत् स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ।।१०।।

कामजनकानि चत्वार्येव बहिरिन्द्रियाणि. इन्द्रियं, स्पर्शः, श्रौत्रं, चक्षुः इति. रक्ष्यते[क] च चतुर्भिः क्रोधांशैः संवत्सररुद्रपालकसूर्यैः.

कामक्रोधौ समौ कर्तुं सप्त सप्त निरूपिताः ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कालेत्यत्र. लीलाकृतिक्रमं विहाय करणक्रमेण यद् अत्र निरूपणं, तस्य तात्पर्यम् आहुः **कामे**त्यादि. **इन्द्रियम्** इति. क(?)देवताकम् इन्द्रियम्. **स्पर्शः** इति त्वक्. अत्र एवं प्रतिभाति. **तासु** इत्यत्र इन्द्रियं कामजनकम् उक्तम् अपत्योत्पादनात्. 'आसाम्' इत्यत्र स्पर्शः, पाणिग्रहणात्. ''तत्र आहृताः'' इत्यत्र चक्षुः तद्दृष्ट्या भगवतोऽपि तासु दृष्टेः. 'समाहुता' इत्यादित्रये श्रोत्रं, ''**सुतं मृधे**''(भाग.पुरा.७।८।१५) इतितु दृष्टेरेव शेषः इत्यत्र मनसो अनुक्त्या भगवतः साङ्ख्यवद् आस्थितिः उपपादिता. ''**असक्तः साङ्ख्यमास्थितः**''(भाग.पुरा.३।३।१९) इति वक्ष्यमाण-त्वात्. तथा सति तद्रक्षापि असक्तत्वेनैव इति तद्रक्षकाअपि बाह्याएव. जनकसम-सङ्ख्याका युक्ता इति आशयेन आहुः **रक्ष्यते** इत्यादि. अत्र कालहा मुचुकुन्दः इति तदाविष्टः संवत्सरात्मकः. मागधादिहन्तृषु रुद्रात्मकः. पाण्डवेषु पालकात्मकः. सूर्यास्तु अग्रे यादवाः स्फुटाएव इति.

सङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **कामे**त्यादि. तथाच न अत्र स्वरूपेण गुणैश्च सप्तत्वं विवक्षितम् इति अर्थः. लोभलीलायामपि न स्वरूपस्य कर्तृत्वेन प्रवेशः इति आहुः **षडि**त्यादि. ''**ते**''(   ) इति श्लोकाः. अत्र क्रोधलीलान्तिमस्य ''**एवं**

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

कामजनकानि इति. **इन्द्रियम्** इत्यादि. तथाच चतुर्णां मध्ये गुह्येन्द्रियं ''**तासु अपत्यानि**'' (३।३।९) इति श्लोके उक्तम् इति भावः. अन्यानितु यथायथम् अग्रिमेषु ज्ञेयानि. **रक्ष्यते च** इति. कामो हि क्रोधोत्पत्त्या नश्यति. क्रोधांशैश्च संवत्सरादिभिः क्रोधोत्पत्तिप्रतिबन्धेन कामो रक्ष्यते इति अर्थः. तत्र कालनेमिनिवारको मुचुकुन्दः संवत्सररूप आधिदैविकः कालात्मा उक्तः. भीमः

यल्लोभे गुणसङ्ख्यास्ते निवृत्तिः सप्तधा ततः ।।१।।
ततो मध्ये चतुर्मूर्त्तेः प्रद्युम्नादेर्निरूपिताः।
वासुदेवाद् भक्तरक्षा तृतीया सा निरूप्यते।।२।।

तत्र प्रथमं सर्वपरिपालनार्थं भूभाररूपान् शत्रून् अत्युत्कटान् प्रथमं मारयति इति आह **काले**ति. त्रयोहि उद्गताः स्वयम् आगत्य भक्तद्रोहं कृतवन्तइति तान् हतवान्. तत्र काल–मागधौ मथुरापुरनिरोधकौ. शाल्वो द्वारकायाः निरोधकः. **कालः** कालयवनः. **मागधो** जरासन्धः. कालस्य प्रथमतः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

संचिन्त्ये''(भाग.पुरा.३।३।१६)ति श्लोकस्य देहलीदीपवद् उभयत्र उपकाराद् लोभेपि निवेशो बोध्यः. **निवृत्तिः सप्तधा ततः** इति. ततः त्रिविधलीलोत्तरं ''**तस्यैवं रममाणस्य**''(भाग.पुरा.३।३।२२) इति सप्तभिः निवृत्तिः उक्ता. यतः चतुर्धा लीला अत्र उक्ता, ततो हेतोः अत्र एतन्मध्यएव चतुर्मूर्त्तेः प्रद्युम्नादेः लीला निरूपिता. साच अनिरुद्ध-प्रद्युम्न-वासुदेव-सङ्कर्षणक्रमेण इति ज्ञापनाय आहुः **वासुदेवाद्** इत्यादि.

एवं सङ्ख्यादितात्पर्यम् उक्त्वा व्याकुर्वते **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति क्रोधलीलायाम्. **ते हि** इत्यादि. काल-मागध-शाल्वादिमार्गत्रयस्थाः क्रमेण प्रवाह-

---

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तमःप्रधानो रुद्रः. कामपालको बलभद्रः. सूर्यः तमो निवर्तकः. **प्रद्युम्नः** इति. सूर्यस्य जगत्प्रसवकर्तृत्वात् प्रद्युम्नस्यापि वंशजनकत्वेन तथात्वाद् वा सूर्यत्वम्. प्रकारान्तरेणापि प्रकरणार्थं ग्राहयन्ति. कारिकाभिः **कामक्रोधो** इति. यथा साङ्ख्यम् आस्थितो निर्लेपतयैव कामम् उपभुङ्क्ते तथा निर्लेपतयैव क्रोधलीला इति ज्ञापयितुम् उभयोः निरूपकाः सप्त-सप्त श्लोकाः उक्ताः. **तत्र समाहुताः** (३।३।३) इत्यादिः सप्तभिः. कामलीला **काले**त्यादिसप्तभिः **क्रोधलीला** इत्यादि. अत्र क्रोधलीला अन्तिमस्य ''**एवं सञ्चिन्त्य**'' (३।३।१६) इत्यादिषड्भिः लोभलीला निरूप्यते. अस्यामपि लीलायां कर्तृत्वेन स्वरूपस्य अप्रवेशाद् गुणैरेव सा लीला इति भावः।।

''**तस्यैवं रममाणस्य**''(३।३।२२) इत्यादिः सप्तभिःसप्तभिः(?) सर्वभोग-निवृत्तिः उच्यते. तत्रैव श्लोकेषु चतुर्मूर्तेः सम्बन्धिनिरूपिताः. **तृतीया** इति. व्याख्याने. ननु जरासन्धस्य मुख्यत्वात् सः कुतः पूर्वं न अनूदितः इत्यतः आहुः **अग्रे** इति. कालयवनवधात पश्चाद् इति अर्थः. व्याख्यने. **जरासन्ध** इति. त्रिमूर्तिरपि इति।।

उपादानम् अग्रे जरासन्धवधात्. 'आदि'शब्दः त्रिष्वपि सम्बध्यते. तेन ससमूहाः ते त्रयएव उक्ताः भवन्ति तामसादिगणाध्यक्षाः. **अनीकैः** इति सेनानां रोधे करणत्वम्. अनेन तज्जयस्य दुर्लभता वा सूचिता. तथापि **अजीघनत्. स्वयम्** इति. भिन्नतया स्वोद्योगे*, नतु तदुद्योगे. **स्वपुंसां** मुचुकुन्द-भीम-प्रद्युम्न-बलभद्रादीनां **तेज आदिशत्**. अनेन प्रतिष्ठार्थं तान् मारकत्वेन उपस्थापितवान्. ते हि मार्गत्रयस्थाः लौकिकादिप्रकारेण ब्राह्मणब्रह्मशिवप्रपन्नाः भक्तकामना-विक्षेपकाः भवन्ति. तन्निवारको भगवान् त्रिमूर्तिरपि त्रिविधकामनियन्ता।।१०।।

एवम् उद्यतान् त्रिविधान् हत्त्वा स्वतो अनुद्यतान् अन्यद्द्वारैव कांश्चिद् मारितवान् इति आह **शम्बरम्** इति.

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्रादीन् अवधीत् कांश्च घातयन्।।११।।

शम्बरः प्रद्युम्नेन मारितः. द्विविदो बलेन. बाणः छिन्नभुजो भगवतैव कृतः. बल्वलोऽपि बलेनैव. दन्तवक्रादयो भगवतैव. 'आदि'शब्देन विदूरथादयः तत्पक्षपातिनः. एतान् कांश्चित् घातयन् कांश्चिद् अवधीत्. हस्तौ उक्तौ. भगवदीयैः भगवत्कर्तव्यं भगवदाज्ञया कर्तव्यम् इति।।११।।

एवं दोषनिर्हारार्थम् उद्यतान् अनुद्यतांश्च दैत्यान् हत्वा शस्त्रसंन्यासं विधाय भूमिभारं निराकृतवान् इति आह **अथ** इति द्वाभ्याम्

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान् नृपान् ।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषाम् आपततां बलैः।।१२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मर्यादा-पुष्टिस्थाः. तद् विशदयन्ति **लौकिके**त्यादि. कालो गर्गपुत्रत्वाद् लौकिक-प्रकारेण ब्राह्मणप्रपन्नः. द्वितीयो मर्यादया वेदप्रपन्नः तृतीयः पुष्ट्या शिवप्रपन्नः इति तथा इति अर्थः. **त्रिमूर्तिरपि त्रिविधकामनियन्ता** इति. मुचुकुन्दभीमप्र(द्यु?)म्न-मूर्तिरपि सात्त्विकादीनां त्रयाणां कामपूरकः. तथाच अत्र पूर्वोक्तेन्द्रियनियामिका देवता व्यासचरणैः स्कन्धार्थविचारेण बोधिता इति अर्थः ।।१०।।

स्कन्धार्थविचारेण आहुः **हस्तौ** इति. संस्कार्यौ हस्तौ. प्रकारम् आहुः **भगवदीयैः** इत्यादि।।११।।

---

* 'स्वद्योगेन...तदुद्योगेन' इति मां१,मां३ पाठः

भक्तानामेव यद् दुःखं दोषरूपं न्यवारयत्।
भूमेस्तु देहजो भारो न शस्त्रेण निवार्यते।।१।।
उत्तारितस्तु भूभारः कण्डूयां जनयेद् ध्रुवम्।
ततस्तस्या निवृत्त्यर्थं नखरूपैर्हि पाण्डवैः।।२।।
प्रयत्नप्रेरितैर्बाह्यां स्वयमेव न्यवारयत्।
अन्तरन्यां च तामेव पूर्वस्पर्शसमुद्भवाम्।
कृमिकण्टकरूपां[१] तां तन्नाशेनाऽवधीत् पुनः।।३।।

अथ इति प्रक्रमान्तरे सारथ्यभावेन. ते भ्रातृपुत्राणां पाण्डवानां दुर्योधनादीनां च पक्षयोः सहाययोः पतितान् धर्मम् अनपेक्ष्य स्नेहाग्रहभावेन[२] पतितान् घातयन् इति पूर्वेण सम्बन्धः. तेषाम् आधिक्यम् आह **चचाल** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ इत्यत्र. भिन्नप्रक्रमकथनतात्पर्यम् आहुः सार्धाभिः तिसृभिः **भक्तानाम्** इत्यादिभिः. अत्र अर्द्धेन पूर्वानुवादः. **न्यवारयद्** इति. स्वोद्यमेन न्यवारयत्. **देहजः** इति. राजादिदेहजः. शस्त्रेण अनिवारणे हेतुम् आहुः **उत्तारितः** इत्यादि. जरासन्धानीत-द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशताक्षौहिणीनां म्लेच्छकोटित्रयस्य अन्येषां च दुष्टानां मथुरासमीपे हननेन शाल्वादीनां द्वारकासमीपे हननेन पौण्ड्रकादीनां तत्र हननेन च उत्तारितः इति स्वयमेव न्यवारयद् इति अर्थः. **अन्तरन्याम्** इति. ‘‘कियान्’’(भाग.पुरा.३।३।१४) इत्यादिश्लोकेषु चिन्तितम्. **तन्नाशेन** इति. यदुकुलनाशेन. तथाच एवं भावबोधनार्थं भिन्नप्रक्रम इति अर्थः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अथ इत्यत्र. **अथ** इत्यनेन प्रक्रमान्तरेण अन्येषां नाशोक्तेः सूचित-कारिकाभिः आहुः **भक्तानाम्** इत्यादि. अस्यैव प्रपञ्चम् आहुः **ततः तस्याः** इत्यादि. **ततः** कारणात् तस्याः कंडूतेः निवृत्त्यर्थं स्वप्रयत्नप्रेरितैः नखरूपैः पाण्डवैः बाह्या कंडूति स्वयमेव न्यवारयत्. पाण्डवानां बाहुरूपक्षत्रियवंशान्तरइव जातत्वाद् नखरूपत्वम् इति आहुः **पूर्वस्पर्शे**ति. भगवदवतारतः पूर्वं ये उद्धृताः यादवाः तेषां स्पर्शसमुद्भवाम् अन्तःकंडूतिम् इति अर्थः. **तन्नाशेन** उद्धृतयादवनाशेन न इति अर्थः. तेन लीला-सृष्टिस्थानां तेषां नित्यता उक्ता भवन्ति. तद् एतद् विद्वन्मण्डने भाष्ये च स्पष्टम्.

१.कीटक. ग. ङ. छ. २.‘स्नेहात् तदभावेन’ इति जु,मां१,मां३ पाठः.

कुरुक्षेत्ररूपाः भूः. धर्मक्षेत्रे हि ते अधर्मभावं प्रापिताः. चलनम् अधर्मात् ते सर्वे हि अधर्मैकनिष्ठाः ज्ञातिघातिनः. अतएव **येषां बलैः भूः चचाल** इति. देवेन्द्रकार्यं कृतवान् इति अर्थः।।१२।।

किञ्च. अप्रधानवधम् उक्त्वा प्रधानवधम् आह **सकर्णदुःशासने**ति.

सकर्ण–दुःशासन–सौबलानां कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषाम् ।

सुयोधनं सानुचरं शयानं भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन् ।।१३।।

ननु जीवनादृष्टे विद्यमाने कथं सर्वे सम्भूय मृताः ? न हि एकम् अदृष्टं सर्वेषाम् इति आशङ्क्य दुर्योधनपक्षपातेनैव सर्वेषाम् आयुः क्षीणम् इति आह **सकर्णो** दुर्योधनः कर्णसहितः. दुःशासनो भ्राता. सौबलिः शकुनिः मातुलः. एते चत्वारो दुष्टाः. एतेषां कुमन्त्रस्य यः परिपाकः तत् कुमन्त्रे ये स्थिताः, तेषां श्रीः आयुश्च पाकेनैव हतम् इति आह **हते**ति. हता श्रीः आयुश्च येषाम् इति. **येषाम्** इति विशेषणम्. दुर्योधनमपि हतवान् इति सम्बन्धः. अनुचरसहितो भग्नोरुः शयानः पश्यतिकर्म. एवं सर्वं कार्यं कृत्वापि भारनिवृत्तये समागतो निवर्तकैः भारं जनयन् पूर्वभारं दूरीकृत्यापि **न ननन्द** सन्तोषं न कृतवान्. स्पर्शरूपता निरूपिता. भगवदीयानां स्पर्शनेन्द्रियं ज्ञानहेतुरेव न सुखहेतुः इति।।१३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्कन्धार्थविचारेण आहुः **देवेन्द्रे**त्यादि. तथाच सारथिरूपेण अनया लीलया स्मरणादिव्यापारेण हस्तदेवता संस्कृता इति अर्थः।।१२।।

सकर्णेत्यत्र. **येषाम् इति विशेषणम्** इति. पूर्वश्लोकोक्तं येषाम् इत्यादिकं दुर्योधनादीनां विशेषणम् इति अर्थः. **पश्यति कर्म** इति. पश्यतेः कर्म. स्कन्धार्थ-विचारेण आहुः **स्पर्शरूपता** इत्यादि. त्वगिन्द्रियकार्यकर्तृत्वेन तद्रूपत्वं भगवतो निरूपितम् इति अर्थः. संस्कृतस्य त्वगिन्द्रियस्य कार्यम् आहुः **भगवदीयानाम्** इत्यादि।।१३।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

देवेन्द्रेइति. कंडूतेः निवृत्त्यर्थं देवान् मारितवान् इति तथा।।१२।।

सकर्णेत्यत्र. **येषाम्** इति. स्पष्टञ्च इदं लेखे .... **स्पर्शरूपते**ति स्पर्शप्रधानत्वगिन्द्रियरूपता इति अर्थः. कंडूतिजनकदुष्टस्पर्शनिवृत्त्या रोषरहिततद्रूपता उक्ता इति भावः. **न सुखहेतुः** इति. **ननन्द पश्यन्** इति अस्य सूचितार्थो अयम्।।१३।।

द्वितीयं भारं दूरीकर्तुम् अनन्दनमेव आह **कियान्** इति.

कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशैः आस्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ।।१४।।

क्षुद्रनिराकरणार्थं क्षुद्रग्रामे यदि महाराजः समायाति तदा तत्सेनयैव ग्रामो नश्यति. तत्रत्यः क्षुद्रस्तु अल्पमेव नाशयति, सैनिकास्तु सर्वम् इति न्यायेन आह **भुवः कियान्** वा **भारो** मया **क्षपितः मदंशैः** करणैः दूरीकृतः. तान् अंशान् आह **यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः** इति. द्वयं द्वयम् उभयत्र. तेषां मूलभूतैः स्वतेजोभिरेव.एवं चतुर्विधैरपि तेजोभिः चतुरङ्गसेनारूपो अष्टादशाक्षौहिणिकः तावदक्षौहिणीभिः जातो भारो यस्माद् दूरीकृतः ततोऽपि अधिको भारो अस्ति इति आह **आस्ते बलम्** इति. अधिकत्वे हेतुः **दुर्विषहम्** इति. केनापि सोढुम् अशक्यम्. दुर्विषहत्वे हेतुः **मदंशैः** इति. सर्वस्यापि भगवदंशत्वेऽपि यदूनां सम्बन्धिभिः मदंशैः इति भक्तपक्षपाताद् अनिवार्यत्वं निरूपितम्. वायुः अत्र बलाधिष्ठाता भगवत्सम्बन्धिनीमेव स्पर्शबुद्दिंध जनयति. तत्र सुखं पूर्णं, न तेन परिच्छिन्नेन ग्रहीतुं शक्यतइति परिच्छिन्नतुल्यतया ज्ञानं न भगवदभिप्रेतम् इति स्पर्शदेवतानिर्णयः ।।१४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कियान् इत्यत्र. मूले **क्षपितः** इति भिन्नं पदम्. तत्र सोर्लुक्. 'अक्षौहिणी'-पदे ह्रस्वम् आर्षम्. स्कन्धार्थविचारेण आहुः **वायुः** इत्यादि. अत्र यादवेषु दुर्विषह-बलाधिष्ठाता वायुः अन्यान् असहमानो भगवत्सम्बन्धिनीमेव स्पर्शबुद्धिं जनयति. तथाच भगवति संनतिं जनयद् इतरासह्यबलप्रयोजकं रूपम् अत्र स्पर्शदेवता इति अर्थः. तर्हि कुतः तस्यानन्दनहेतुत्वम् इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति. भगवति. **स्पर्शदेवतानिर्णयः** इति. तस्याः सुखाजनकत्वनिर्णयः. तथाच तादृशं रूपं भगवत्सुखे

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

कियान् इत्यत्र. **द्वितीयं भारम्** इति. अन्तःकंडूतिजनकं. **सैनिकास्तु** जनके. **सैनिकास्तु सर्वम्** इति. तथाच अन्येषाम् उपमर्दो यादवानाम् अकिञ्चित्करः तेषान्तु अन्यैः अशक्यएव इति भावः. **द्वयम्** इति. भीमार्जुनौ पाण्डवसैन्ये मूलभूतौ द्रोण-भीष्मौ कौरवसैन्ये इति स्पर्शदेवतां निरूपणम् अत्र बोधयन्ति. **वायुः** इत्यादिः. अतएव यादवानाम् अन्यान् उपमर्द्यत्वम् इति भावः. **तत्र** इति. भगवति. **पूर्णम्** इति

तस्याऽपि भारस्य निवृत्युपायम् आह

मिथो यदेषां भविता विवादो माध्व्या मदाऽऽताम्रविलोचनानाम् ।

नैषां वधोपाय इयान् अतोऽन्यो मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ।।१५।।

मिथो यदेषाम् इति. यद् यदा एषां यादवानां **मिथो विवादो भविता**. सोऽपि विवादो विवेकरहितो मौढ्याद् नाशपर्यवसायी जातः इति अभिप्रायेण आह **माध्व्या मदा ताम्रविलोचनानाम्** इति. **माध्वी** मदिरा बहुपानसिद्ध्यर्थं मधुररसां ताम् उक्तवान्. तया यो **मदः** गर्वो देहविवेकादिविस्मरणात्मकः. तेन आताम्राणि विलोचनानि येषाम्. ननु अन्योन्यघातेन मदिरया निषिद्धमरणेन च भवत्सहायार्थम् आगतानां भवदीयानाम् अयुक्तता इति आशङ्क्य प्रकारान्तराभावाद् एवं क्रियते इति आह **नैषां वधोपाय इयान् अतो अन्यः** इति. एषाम् इयानेव वधोपायो नतु अन्यः. तत्र हेतुम् आह **मय्युद्यते** इति. अन्यस्तु उपायः सांशे मयि उद्यते स्वयमेव अन्तर्दधते. न हि सूर्याणां निराकरणं तमसा भवति. तुल्यत्वाच्च न एकेन. **स्म** इति प्रसिद्धे. यदा-यदा यादवनाशार्थं मागधादयः प्रवृत्ताः तदा अहम् उद्यतः तान् हन्तुम्. तदा मयि उद्यते, अन्ये उपायाः अन्तर्दधते. ननु का इयं भगवतो लीला यत् स्वकीयान् सेवकान् स्वसङ्गे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परिच्छिन्नतुल्यता ज्ञानं यदा न जनयति, तदैव अधिकारिनिष्ठस्पर्शदेवतासंस्कारार्थकं यथा श्रीमदुद्धवे, इतरथातु न तत्संस्कारकम् इति एषः निर्णयः इति अर्थः।।१४।।

मिथः इत्यत्र. एकवचनपक्षे दधते इति ''**दध धारणे**''(धा.पा.भ्वादि.८) इत्यस्य रूपम्. उपायान्तराभावे हेतुं व्युत्पादयन्ति **नहि** इत्यादि. अस्यां लीलायां भक्तक्लेशदर्शनाद् अक्लिष्टकर्मत्वं न स्याद् इति आशङ्कते **ननु** इत्यादि. समादधते

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अपरिच्छिन्नम्. **तेन** इति. परिच्छिन्नेन स्पर्शेन।।१४।।

मिथः इत्यत्र. **अन्यस्तूपायः** इति. यादवपराभवाय न यदा अन्ये समायान्ति तदा सोपस्करो भगवानेव तत्सहाये भवति इति अन्यकर्तृक एषां नाशोपायः तिरोधत्ते इति अर्थः. तदेव स्पष्टयन्ति **नहि** इति. तर्हि एतेष्वेव अन्यतमेन सर्वेषां नाशः कुतो न? इत्यतः आहुः **तुल्यत्वाच्च** इति. सर्वेषां तुल्यत्वाद् एकेनैव तेषु अन्यतमेन निराकरणं न इति अर्थः. अतः मिथः उत्पादनमेव युक्तम् इति भावः. अत्र अर्थे आशङ्कते **ननु**

समागतान् अनन्यशरणान् स्वयम् एवम् अन्यायेन नष्टान् करोति? इति. उच्यते, सर्गार्थम् एवम् इति. स्वात्मना सह च तुल्यता अतो न अत्यन्तभक्तिविरोधः. स्वतः तेषाम् आविर्भावसामर्थ्याभावाद् माययैव आविर्भाव-तिरोभावौ. खेदाभावाय तथावस्था. उत्पत्तिलीलार्थमिति न लीलाविरोधः. यथा अस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सर्गार्थमेव इति. अन्यथारूपत्यागेन स्वरूपापत्तिरपि सर्गविशेषएव. कारणं संभूतिरूपत्वाद् जीवस्य हेतुत्वात्. अतः तदर्थम् इति अर्थः. ननु हेतुत्वदशायां तस्य अविद्याकर्मसाहित्यम् आयास्यति इति चेद् न इति आहुः **स्वात्मना** इत्यादि. तथाच मुक्तित्वेन भूरितया तुल्यता अभिप्रेयते इति स्वात्मवद् हेतुता इति न सः इह दोषः इति अर्थः. **अतो न** इति. आपाततः प्रतीयमानोऽपि फलतो न इष्टकर्मत्वम् इति अर्थः. ननु मुक्तत्वे तुल्यत्वम्. नतु इदानीम् इति स्वरूपतस्तु भक्तिविरोधो न अपैति इत्यतः आहुः **स्वतः** इत्यादि. स्वतो सामर्थ्यं सूर्यकिरणवद् ज्ञेयम्. तथाच इदानीमपि अंशत्वात् कर्मत्वजन्योत्पत्तिनाशाभावाच्च तुल्यता इति अर्थः. अतएव **''न कर्म बन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते''**(पद्मपुरा.) इत्यादीनि पाद्मादिवाक्यानि. ननु यदि एवं, तदा कथम् अयं प्रकारः इत्यतः तिरोभावप्रकारस्य तात्पर्यम् आहुः **खेदाभावाय** इत्यादि. युद्धे तदर्थं तथा इति अर्थः. एतेन सिद्धम् अर्थान्तरम् आहुः

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इत्यादि. समादधते **उच्यते** इत्यादि. **सर्गार्थमेव** इति. सर्गो हि स्कन्धार्थः. अत्र च तदर्थमेव यादवानां पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरप्राप्तिरूपः सर्गएव उक्तः इति अर्थः. **स्वात्मना** इति. यथा भगवान् अन्यापरिभूतएव स्वात्मनैव तिरोभवति तथा एतेऽपि इति अर्थः. ननु एवं तर्हि शस्त्रादिसाधनं किमिति निरूपितम्, एवमेव कुतो न तिरोहिता? इत्यतः आहुः **स्वतः तेषाम्** इति. यथा भगवान् अन्यूनएव वैकुण्ठाद् आविर्भूतः तथा एतेषां सामर्थ्याभावात् तिरोधानेऽपि करणमायापेक्षिता न इति अर्थः. **खेदे**ति शस्त्रादिजनितखेदाभावाय मदिरामत्तावस्था कृता इति अर्थः. ननु यदि भाररूपत्वाद् मारणीयाएव यादवाः तदा बहिः किम् उत्पादितवान् इत्यतः आहुः **उत्पत्तिः** इति. ननु सर्गनिरूपणे किमिति संहारलीलाम् उक्तवान्? इत्यतः आहुः **उत्पत्तिः** इति. **यथा अस्य** इति. मौसलस्य इति अर्थः. **वक्ष्यते** इति. **तेषाम्** इति. यादवानां मुक्तिनिरूपक-

सर्गहेतुत्वं तथा अग्रे वक्ष्यते. नच तेषां दुर्गतिः. मुक्तौ एतदर्थमेव उक्तत्वात् सर्गादौ मुक्त्यन्ते च उक्तत्वात्. सर्वत्र तान् विना न आश्रयो निरूपयितुं शक्यः इति सूचितम्. तस्मात् स्वाविर्भावे तेषाम् आविर्भावं कारयन् स्वतिरोभावे च तान् तिरोभावयन् स्वसमानान् करोतीति न भक्तेषु कापि तिरस्कारलीला. एवं विसर्गो निरूपितः।।१५।।

तत्र देवतां मित्रं निरूपयन् प्रद्युम्नं निरूप्य वासुदेवं निरूपयति षड्भिः. यद् आपाततो भक्तानाम् अहितप्रतिभानम् तद् भक्तिमार्गस्य तथात्वख्यापनाय.

दशलीलापरे व्यापिवैकुण्ठे नित्यवत् स्थितिः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सर्गादौ इत्यादि. तथाच सर्वासु लीलासु तत्साहित्यम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तथाच आपाततः क्लिष्टत्वभानं, नतु वस्तुतः क्लेशः इति न स्वरूपतोऽपि विरोधः इति अर्थः. एवं दोषं परिहृत्य स्कन्धार्थविचारेण अस्य अर्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि. 'विसर्ग'पदं करणव्युत्पन्नम्. तथाच स्मृतम् एतद्रूपम् अनेन व्यापारेण विसर्गजनकेन्द्रिय-संस्कारकम् उक्तम् इति अर्थः.

एवं संचिन्त्य इत्यत्र. **प्रद्युम्नं निरूप्य** इति कामलीलायाः विधिप्रयुक्तत्वेन तया अनिरुद्धनिरूपणोत्तरं क्रोधलीलायाः तिरोधानविचारलीलायाः च मोक्षात्मक-सर्गोपयोगित्वेन तया प्रद्युम्नं निरूप्य इति अर्थः. ननु एवं माध्वीपानार्थं प्रेरणे प्रद्युम्नस्य कथं मित्रत्वम् इति अपेक्षायां तस्याः चिन्तायाः तात्पर्यं वक्तुं पूर्वम् अहितभानप्रयोजनम् आहुः **यद्** इत्यादि. **तथात्वख्यापनाय** इति. नित्यस्थिति-विरुद्धत्वख्यापनाय. तद् एतत् कारिकाभिः व्युत्पादयन्ति **दशे**त्यादि. ज्ञानाश्रयस्य

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

एकादशस्कन्धे पुनः मौशल्यस्य कथम् एतेषां मुक्तिबोधनार्थम् इति अर्थः. **सर्गादौ** इति. सर्गनिरूपक-तृतीयस्कन्धादौ इति अर्थः. **मुक्त्यन्ते** इति. मुक्तिनिरूपक-एकादश-स्कन्धान्ते इति अर्थः. विसर्गो निरूपितः इति मलवद् लौकिकशरीरत्यागएव विसर्गकार्यं निरूपितम् इति।।१५।।

देवताम् इति. ननु यादवानां भक्तानां किम् इति एवं विरुद्धं प्रदर्शितवान्? इत्यतः आहुः **यद् आपाततः** इति. **तथात्वे**ति.

एतस्यैव अर्थं प्रपञ्चयन्ति कारिकाभिः **दशे**त्यादि. सर्गादि-दशलीलाप्रधाने

रूपान्तरेण भजनं स्वामिसेवकयोर्हि ते।।१।।
स्वामित्वं सेवको हन्ति सेवकत्वं तथापरः।
अन्यथा सफलो न स्याद् भक्तिमार्गः ससाधनः।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आत्मरूपत्वे ''**अहमात्मा गुडाकेशः**''(भग.गीता१०।२०) इति वाक्याद् विभूति-रूपत्वेन दशमलीलात्वम्. तथा सति ''**दशभ्यः परमक्षरम्**''(   ) तच्च भगवतः परमं धाम व्यापिवैकुण्ठात्मकं, ''**तस्मिन् यदक्षरे परमे प्रजाः**'' (महाना. उप.१।३) इति श्रुतेः तत्रत्यं सर्वं परब्रह्मात्मकमेव इति सर्वेषां **नित्यवत् स्थिति,** एकरसा स्थितिः न सेव्य-सेवकभावः. तत्र हेतुः; यतो **भजनं रूपान्तरेण ते** च रूपे **स्वामि-सेवकयोः.** एकः स्वामी, इतरः सेवकः इति(१).

तत्र **स्वामित्वं सेवको हन्ति** स्वस्मिन् विद्यमानं तद्विरुद्धत्वाद् दूरीकरोति, एवं स्वामी स्वस्मिन् विद्यमानं सेवकत्वं दूरीकरोति, तेन स्वामिसेवक-भावाभावाद् नित्यवद् ऐकरस्येन तत्र स्थितिः इति अर्थः. ननु प्रजारूपेण तत्र विद्यमानत्वे एवं स्थितेः किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. ससाधनायां भक्तौ हि अण्वी गतिः फलम्. यदि एवं स्थितिः न स्यात्, तदा तद्गतेः अण्वीत्वाभावेन **ससाधनो भक्तिमार्गः सफलो न स्यात्.** अतो गतेः अण्वीत्वमेव प्रयोजनम् इति अर्थः. अत्र **ससाधनः** इति विशेषणेन निःसाधने भक्तिमार्गे अयं न प्रकारः इति तद्रीत्या शङ्का न कार्या इति बोधितम्(२)

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

व्यापिवैकुण्ठे भगवतः सेवकानां च नित्यवत् स्थितिः. तथाच तत्र सेव्यस्वामिभावाः नित्यएव इति. तत्रापि मर्यादया यो यत्र सेवायां स्थापितः सएव राजसेवावत् करोति. न तत्र भक्तिमार्गोत्कर्षार्थमेव अत्र स्वयं प्रादुर्भूतो भक्तानामपि अवतारयति इति हृदयम्. तर्हि अत्र प्राकट्ये को वा तदुत्कर्षः? इत्यतः आहुः **रूपान्तरेण** इति(१).

भक्तिमार्गस्य अत्युत्कर्षार्थं हि भगवान् भगवन्मर्यादामपि अन्यथा करोति इति आशयेन उत्कर्षम् आहुः **स्वामित्वम्** इति. सेवकः स्वसेवायां भगवन्तं वशीकृत्य स्वामित्व-समानाधिकरण-स्वतन्त्रत्वादीन् हन्ति. सेवकोत्कर्षं ख्यापयन् सेवकत्वम् हन्ति सेवकत्वम् अपनय्य स्वामिभावं सम्पादयति इति अर्थः. अतएव उग्रसेनादीन् राजत्वेन भावयित्वा स्वयं सेवकत्वम् अङ्गीकृतवान् इति तथा. वैपरीत्येतु न तथा इति आहु **अन्यथा** इति(२).

सेवादशायां चेत् स्वामी विरसः सिद्ध्यभावता।
पश्चात् चेत् सेवकत्वं स्यात् फलमीशश्च नो भवेत्।।३।।
यावत् साधनमात्मानं सर्वशास्त्रविरोधिनम्।
कृत्वाऽन्ते पूर्वधर्मस्य नाशं च कुरुते फले।।४।।
अतः स्थितिदशायां हि तद्विचिन्त्य हरिः स्वयम्।
स्वान् अभिप्रेतविषयान् भोजयत्येव नान्यथा।।५।।

तद् आह

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ।।१६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवं फलदशास्थितिम् उक्त्वा साधनदशास्थितिम् आहुः **सेवे**इत्यादि. **सिद्ध्यभावता** इति. सिद्धेः अभावता. तथाच विद्यमानाऽपि सिद्धिः असिद्धिरूपा इति सेवादशायां स्वामिसारस्यम् आवश्यकं, सारस्येन **पश्चात्** फलदशायां चेत् सेवकत्वं **फलं** स्यात्, सेवकः **ईशो न भवेदे**व. **चो** अवधारणे(३).

तथाच अण्वीत्वार्थं फलदशायाम् ईशत्वम् आवश्यकम्. अतो दशाद्वय-स्थितिसाधनाय **यावत् साधनं** साधनदशापर्यन्तम् **आत्मानमेव सर्वशास्त्रविरोधिनम्** उच्छृङ्खलसेवकरूपं **कृत्वा, अन्ते** साधनदशासमाप्तौ **फले** देये, **पूर्वधर्मस्य** सेवकत्वादेः नाशमपि **कुरुते. चो** अप्यर्थे(४).

अतः उच्छृङ्खलस्वात्मप्रवेशात् **स्थितिदशायां हि** निश्चयेन तत्फलं **विचिन्त्य स्वानभिप्रेतविषयान्** माध्व्यादिरूपान् **भोजयत्येव.** तेन प्रविष्टरूपेण स्वयं भुञ्जानः तानपि भोजयति. **न अन्यथा** न अनिष्टार्थं, तथाच एवं प्रेरणादिचिन्तायाः तात्पर्यात् प्रद्युम्नस्य मित्रत्वं युक्तमेव इति अर्थः(५).

एवं कारिकाभिः विचारतात्पर्यं, तेन मित्राख्यदेवतासंस्कारं च बोधयित्वा निगमयन्ति **तद् आह** इति.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

ननु एवं सेवकानां स्वाच्छन्द्यं स्यात् ततश्च सर्वनाशः इत्यतः आहुः **सेवा** इति. सेवादशायां चेत् सेवकः प्रौढ्या सेवां न कुर्यात् चेत् स्वामी विरसः स्यात्. तेन सेवकत्वधर्मसिद्ध्यभावता इयं भवेत्... (इतो आरभ्य २१ श्लोकपर्यन्तो लेखः त्रुटितः.)

एवंप्रकारेण सम्यग् विचारयित्वा तथाकरणसामर्थ्यं तस्यैवेति **भगवान्** इति आह. **स्वराज्ये** पितृपैतामहे, स्वस्यैव राज्ये वा. ''शास्त्रफलं प्रयोक्तरि'' इतिन्यायेन भगवद्राज्ये वा. **धर्मजम्** इति तथा स्थाने स्थापनाधिकारो दर्शितः. **नन्दयमास** इति सर्वानेव सुहृदः सर्वप्रकारेण आनन्दयुक्तान् चकार. न केवलं लौकिकविषयैरेव पूर्णान् करोति किन्तु वैदिकमार्गेणाऽपि इति आह **साधूनां वर्त्म दर्शयन्** इति. सतां मार्गो वैदिकः तद्धर्मनिष्ठा तद्दर्शयन् स्वयं यज्ञादिधर्मान् कुर्वन् वैदिकमार्गेणापि **नन्दयामास** इति अर्थः. अनेन प्रवाहं मर्यादां च स्थिरीकृतवान् इति उक्तम्।।१६।।

पुष्टिमार्गमपि तावत् स्थिरीकरोति इति आह **उत्तरायाम्** इति.

उत्तरायां धृतः पूरोर् वंशः साध्वभिमन्युना।
स वै द्रौण्यस्त्रसञ्छिन्नः पुनर् भगवता धृतः।।१७।।

पूरोः वशो अभिमन्युना उत्तरायां शास्त्रानुसारेण धृतः. स्वभार्यायाम् अर्जुनपुत्रो यथाशास्त्रं गर्भं धृतवान्. इमां मर्यादां प्रवाहो[१] दूरीकृतवान् इति आह **स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्नः** इति. निश्चयो अत्र ब्रह्मास्त्रस्य अमोघत्वाद्, अतएव सम्यक् छिन्नः. अग्रे सन्ततिः छिन्ना. **पुनः** छेदनानन्तरं सएव वंशो **भगवता धृतः**. छिन्नो हि पूर्वभागो न उत्तरं बिभर्ति. वंशः प्रदीपसन्ततिवद् भवति. यथा निरन्तरम् उत्पद्यमानाः तेजोवयवाः अङ्गुल्यग्रपरिमितां दीपशिखां स्वप्रवेश-निर्गमाभ्यां समां स्थापयन्ति तैलं वर्तिकां च निमित्तम् आश्रित्य तथा पूर्वदेहे अन्नायुषी समासाद्य शरीरोत्पादकावयवाः स्थूलतया परिदृश्यमानं रूपं प्रवेशनिर्गमाभ्यां सममेव स्थापयन्तो वस्त्रवत् सूक्ष्मातानत्वात् तन्मध्ये उत्तरोत्तरं शुक्रान्तानि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथा इति विचारमात्रेण. एतेन वासुदेवत्वमपि विवक्ष्यमाणलीलायाः बोधितम्।।१६।।

उत्तरायाम् इत्यत्र. [क१]**प्रवाहाद्** इति. अविच्छिन्नसर्गपरम्परातः. छिन्नस्य कथं पुनः अविछिन्नतया स्थापनम् इति आकाङ्क्षायां छेदस्य वंशस्य स्वरूपं वदन्तो व्युत्पादयन्ति **छिन्नः** इत्यादि. **पूर्वभागः** इति. मूलभागः. **पूर्वदेहे** इति. पितृशरीरे.

क१. 'प्रवाहाद्' इति जु,मां१,मां३ पाठः. १.सुबोधिनीपुस्तकेषु प्रथमान्तः पाठः.

सप्तावरणानि सूक्ष्मसूक्ष्माणि* कुर्वन्ति. ततो अन्तः सूक्ष्मम् आवरणं प्रशिथिलावयवं सूक्ष्मवस्त्रवत् स्थितं योषाग्निसम्बन्धात् सर्वतः आकृष्टं पिण्डीभूतमिव योनौ प्रविशति. तत्रापि अन्नायुषी निमित्तम् आश्रित्य पूर्ववत् तत्रापि सप्तधातून् सृष्ट्वा अन्तः सूक्ष्मसूक्ष्मान् रूपविशेषान् कुर्वन्ति इति आब्रह्मतृणस्तम्बानां व्यवस्था. तत्र तस्याः सन्ततेः विच्छेदे पूर्वसाधितस्य पिण्डस्य विनाशकेन विघाते उत्तरोत्पादनासामर्थ्ये भगवान् स्वयं प्रविष्टः तां सन्ततिं तथैव रक्षितवान्, नतु कृष्यादिवद् बीजान्तराधानेन सन्तत्यन्तरमेव. शास्त्रतो अभ्यनुज्ञानात् पूर्वसन्ततिं कृतवान् इति अर्थः. अनेन पुष्टिमार्गप्रवृत्तिः प्रवाहेण मर्यादाभङ्गएव इति सूचितम्।।१७।।

स चेत् पुष्टिमार्गो मर्यादां यथास्थानस्थितां न कुर्यात्, प्रवाहवत् तस्यापि बाधकत्वमेव स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **अयाजयद्धर्मसुतम्** इति.

अयाजयद् धर्मसुतम् अश्वमेधैः त्रिभिः विभुः ।
सोऽपि क्ष्माम् अनुजै रक्षन् रेमे कृष्णम् अनुव्रतः।।१८।।

अतो= ब्राह्मणानां स्वतः प्रवृत्यभावाद् भगवत्प्रेरणयैव याजनं कुर्वन्ति इति भगवान् **अयाजयद्** इति उक्तम्. मन्त्रसहितदेवतासान्निध्यकरणाद् वा. **त्रिभिः** इति कायिकादिसर्वपरिहारार्थम्. ''**तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्**'' (मुण्डकोप.३।२।९) इति श्रुतेः त्रिविधफलसिद्ध्यर्थम् आहारपृथक्त्वन्यायेन त्रयो अश्वमेधाः कृताः. याजनादिसामर्थ्यार्थम् आह **विभुः** इति. एवं निर्दुष्टस्य अग्रिमकार्यम् आह **सोऽपि** इति. **क्ष्मां** पृथ्वीम् **अनुजैः** भ्रातृभिः सह **रक्षन्** द्विविधधर्मसम्पन्नः कृष्णभक्तो जातः इति अर्थः. सदेवौ पादौ निरूपितौ ।।१८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पूर्ववद् इति. पितृशरीरइव. +सिवनेन छिन्नवस्त्रवद् एकीकृत्य **मर्यादाभङ्ग** इति. मर्यादाभङ्गे सति।।१७।।

सोऽपि इत्यत्र. **द्विविधधर्मसम्पन्नः** इति. वैदिकधर्मभगवद्धर्मसम्पन्नः. स्कन्धार्थविचारेण आहुः **सदेवौ पादौ** इति. गतिसाधनभूतौ वैदिकभगवद्धर्मौ पादौ, तत्पोषको विष्णुः देवः. तथाच स्मृतेन एतल्लीलाविशिष्टेन रूपेण पादयोः सदेवयोः संस्कारः इति अर्थः।।१८।।

---

*.रूपाणि. क. ङ.मां२. पाठः. =. मुद्रितपाठस्तु 'अन्तः'. + अत्र 'सेवनेन' इति पाठो युक्तः.

एवं भगवान् भक्तहितं विधाय धर्मस्थापनफलमिव स्वार्थं कृतां सृष्टिं बुभुजे इति आह त्रिभिः **भगवानपि** इति.

भगवानपि विश्वात्मा लोक–वेद–पथानुगः ।

कामान् सिषेवे द्वार्वत्याम् असक्तः साङ्ख्यम् आस्थितः।।१९।।

भगवत्सेवको युधिष्ठिरादिरपि भगवद्दत्तं राज्यं बुभुजे. भगवानपि कामान् सिषेवे. विषयान् नानाविधान् बुभुजे इति अर्थः. तस्य स्वार्थसृष्टस्य जगतो भोगे जीवतुल्यता स्याद् अत आह **विश्वात्मा** इति. नहि भगवान् विश्वं विषयत्वेन भुक्तवान् किन्तु आत्मत्वेन. सहि विश्वात्मा त्रिविधपरिच्छेदाभावेन, नतु केवलं विश्वरूपेण. ननु तस्य विषयभोगः सर्वत्र स्वतएव सिद्धः किमिति विशेषाकारेण उच्यते? इति अतः आह **लोकवेदपथानुगः** इति. सहि सर्वदा ब्रह्मत्वेन सर्वान् विषयान् भुङ्क्ते. अत्रतु लोकानुसारेण लौकिकसाधनेन लौकिकक्रियारूपेण लौकिकान् विषयान् भुङ्क्ते. वेदानुसारेणतु वैदिकक्रियया वैदिकान् पुत्रान् उत्पाद्य तान् अनुभवति. अतो अत्र प्रकारत्रयेणापि अनुभवति इति अर्थः. कामभोगे हि निर्गमनमार्गो न अस्ति इति तस्य सर्वावरकत्वात् कथं भगवान् जीववत् कामान् सिषेवे? इति अतः आह **द्वार्वत्याम्** इति. अनेन कर्मविरोधः परिहृतः. यथा निस्तारणोपायं कुर्वाणः कर्मफलम् उपभुङ्क्ते तद्वद् इति. ज्ञानविरोधाभावाय **असक्तः** इति. आसक्त्या भोगो हि ज्ञानविरोधी. स्वार्थं कृतसृष्टिम् अनुभवति इति ज्ञापयितुम् आह **साङ्ख्यम् आस्थितः** इति. सङ्ख्या हि तत्त्वानाम्. यत्र भिन्नतया गणना *साक्षित्वे पर्यवस्यति इति सर्गभेदे हेतुः निरूपितः. अनेन भक्तिविरोधोऽपि परिहृतः. भगवान् भुङ्क्ते, जीवोऽपि भुङ्क्ते. जीवद्वारा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवान् इत्यत्र. **विश्वात्मा** इत्यत्र. कर्मधारयबोधनाय आहुः **त्रिविधे**त्यादि. विश्वतया वस्तुपरिच्छेदाभावः, आत्मत्वेन व्याप्त्या देशपरिच्छेदाभावः तेनैव नित्यतया कालपरिच्छेदाभावो बोध्यः. **स्वतएव सिद्धः** इति. ‘‘**स सर्वधीवृत्तीति**’’ (भाग.पुरा.२।१।३९) न्यायेन सिद्धः. **इत्यर्थः** इति. अर्थः उच्यते इत्यर्थः. **साक्षित्वे पर्यवस्यति** इति. तत्त्वानां सङ्घाततया पारार्थ्येन सा तथा इति अर्थः. **अनेन** इति. एवं जीवेश्वरसाधारण-पारार्थ्यबोधनेन. **भवति** इति. भगवदर्थत्वाभावाद् भवति.

---

*. ‘साक्षित्वेन’ इति मां१,मां३ पाठः.

भगवान् भुङ्क्ते इति पक्षे भक्तिमार्गविरोधो भवति. घ्राणं निरूपितम् ।।१९।।

रमणं पुरुषोत्तमरूपेण पुरुषरूपेण च इति द्विवतीये* भोगं वदन् रमयामास इत्येतद् विस्तारयति **स्निग्धस्मितावलोकेन** इति.

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणाऽनवद्येन श्रीनिकेतेन चाऽऽत्मना ।।२०।।
इमं लोकम् अमुं चैव रमयन् सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणः स्त्रीक्षणसौहृदः।।२१।।

चतुर्भिः चतुर्विधानां भूतानां भोगो निरूप्यते. चतुर्विधानि अत्र भूतानि. त्रिविधा जीवाः मार्गत्रयवर्तिनो व्यापिवैकुण्ठवासिनश्च. तत्र भगवान् इमं लोकं स्निग्धस्मितावलोकेन रमयामास. अत्र हि द्विविधा जीवाः ''**द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन्**'' (भग.गीता.१६।६) इति. तत्र दैवाः स्निग्धावलोकेन प्रेमदृष्ट्या रतियुक्ताः कृताः. आसुरास्तु स्मितेन मन्दहासेन अर्द्धमायामोहेन सर्वथा मुग्धाः शुद्धदैत्याः भवन्ति, ते दोषमलात्मकाः. अर्द्धमुग्धास्तु लौकिकाः भगवत्प्रसादेन सर्वानेव विषयान् प्राप्नुवन्ति इति तत्र स्मितावलोकस्य हेतुत्वम्. आमुष्मिकान् वाचा पीयूषकल्पया रमयामास. ते हि मर्यादावन्तो वैदिकफलभोक्तारः. तद्धि स्वर्गापवर्गाख्यम्. तद् भगवद्वाचा वेदेन स्वर्गाख्यं भवति. अमृतकल्पेन च उपनिषद्–भागवतादिना आमुष्मिकं फलं प्राप्नुवन्ति. अनवद्येन चरित्रेण सर्वानेव पुष्टिमार्गस्थितान् भक्तान् **यदूंश्च सुतरां** रमयामास. चरित्रेणैव हि भक्ता रज्यन्ते. लोकनिन्दारहितेनतु कुलीना यादवाः सुतरां रज्यन्ते. वैकुण्ठस्थिताः श्रीनिकेतेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्कन्धार्थविचारेण आहुः **घ्राणम्** इति. ''**षाड्वर्गिकं जिघ्रति**''(भाग.पुरा.१।३।३६) इत्यत्र उक्ता घ्राणक्रिया. तथाच एतल्लीलाविशिष्टस्मृतं सद् घ्राणेन्द्रियसंस्कारजनकम् इति आशयेन निरूपितम् इति अर्थः।।१९।।

स्निग्धेत्यत्र. स्कन्धार्थविचारेण आहुः **घ्राणदेवता** इत्यादि. पुरुषरूपो भौमविस्तारो हि स्निग्धेत्यादिभिः उक्तैः करणैः अत्र उच्यते. भूर्लोको गन्धप्रधानः इति तत्रत्यानां रमणकथनाद् अनेन कारणेन सा निरूप्यते।।२०।।

असौ लोको वाक्प्रधानः इति वाचा इत्यनेन अग्रिमे **इमम्** इति वाग् निरूप्यते.

---

* 'द्वितीयेन' इति मां१,मां३ पाठः.

आनन्दयुक्तेन आत्मना सच्चिदानन्दरूपेण. ‘च’कारात् श्र्यादिविभूत्या. क्षणदया दत्तक्षणो रात्र्या दत्तावसरः. स्वप्न-सुषुप्ति-सुखं निद्रया भवतीति रात्रेः क्षणदात्वं लौकिकम्. ततो अत्र विशेषं वक्तुं स्त्रीणां सम्बन्धिनि क्षणे सुखे सौहृदं यस्य इति उक्तम्. वैकुण्ठसुखं हि निष्प्रपञ्चे स्वरूपे स्थितो रमते. रात्र्याम् अवतीर्णोऽपि तथा स्त्रीसुखे. एवं चतुर्भिः सर्वेषां रमणम् उक्तम्. **स्निग्धे**ति घ्राणदेवता. **इमम्** इति वाक्. अतएव **तस्यैवम्** इति अग्निः।।२०,२१।।

सङ्कर्षणचरित्रम् आह **तस्यैवम्** इति.

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ।।२२।।

एवं प्रकारद्वयेन रममाणस्य विरागो भोगप्रतिबन्धात्मा षष्ठो भगवदीयो गुणः प्रादुर्भूतो जातः इति आह. द्विविधा हि विरक्तिः. भोग्य-परित्यागेन दोषदर्शनसहितेन शास्त्रदृष्ट्या साधारणी, लौकिकानाम् अतिभोगेन च. भगवतो विशिष्टा सा जाता इति वक्तुं तद्धेतुम् आह **संवत्सर-गणान् बहून्** इति. संवत्सराणां गणाः प्रभवादिसमूहाः. तेऽपि बहवो बहुरूपेण रमणात्. वैराग्यस्य विषयम् आह **गृहमेधेषु योगेषु** इति. उपायेषु वैराग्यम् नतु स्वरूपभोगे. उपायो द्विविधः पूर्वम् उक्तो लौकिको वैदिकश्च. तत्र सुतरां लौकिकेषु इति. गृहएव मेधा बुद्धिः यैः इति. **विरागो** रागाभावरूपो रागनिवर्तको वा।।२२।।

रागस्य हि उभयं निवर्तकम्, असाध्यताज्ञानम् अनिष्टज्ञानं च. तत्र अनिष्टज्ञानं *लौकिकेषु विहितेषु शास्त्रतः परमार्थतश्च इति तुल्यबलत्वाभावाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अतएव इति वाक्सन्निधानात्. अग्नित्वगमकम् आहुः **सङ्कर्षणे**त्यादि ।।२१।।

तस्य एवम् इत्यत्र. **प्रकारद्वयेन** इति. लौकिकेन वैदिकेन च. **विशिष्टा** इति. अधिभोगजा।।२२।।

दैवाधीनेत्यत्र. भगवद्वार्ताकथनप्रस्तावे वार्तान्तरस्य कुतः कथनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **रागस्य** इत्यादि. **तुल्यबलत्वाभावाद्** इति. वैराग्योपाधिकेषु,

---

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तस्य एवम् इत्यत्र. ***लौकिकेषु विहितेषु** इति. विहितेषु लौकिकेषु गार्हस्थ्यधर्मेषु उत्तरवयसि निषेधस्मरणात् शास्त्रतः अनिष्टज्ञानम्. अतएव परमार्थ-

अकार्यताज्ञानं लोके निवर्तकं मन्यमानो भगवति वैराग्यम् उक्त्वा पुरुषरूपेऽपि कैमुतिकन्यायेन वैराग्यम् आह **दैवाधीनेषु** इति.

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।

को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरम् अनुव्रतः ।।२३।।

यत्र स्वप्रयत्नसाध्यता न अस्ति तेनापि अंशेन तत्र रागो न जायते. दृष्टएव प्रयत्नसाध्यता, न अदृष्टे. सर्वमेव च अत्र अदृष्टरूप-कर्मसाध्यम्. तत्र देहो भोगाधिष्ठानं, विषयाः तदाधाराः भोग्याः. भोक्ता च तदभिमानी त्रयमपि दैवाधीनम्. स्वयं पुमान्, अनेन आक्षिप्तो देहो वा. स्रगादयश्च विषयाः. ततः किम्? अत आह **को विस्रम्भेत** इति. को वा विश्वासं कुर्याद् भोगो भविष्यति इति. घुणाक्षरन्यायेन कदाचिद् भवति. न हि एतावता घुणकीटो अक्षराणि लिखितुं जानाति इति घुणभक्षिकाष्ठे अक्षराणि वाचयितुं कश्चिद् विचारयति. तथा दैवगत्या स्वप्नवत् कदाचिद् भोगे जाते सर्वदा भविष्यति इति को वा विश्वासं कुर्याद्? इति अर्थः. ननु जगदेव विश्वासं करोति, कुतो निषिध्यते? इति आशङ्क्य आह **योगेन योगेश्वरम् अनुव्रतः** इति. शास्त्रोक्तप्रकारेण शास्त्रं बुद्ध्वा विहितभक्तिमार्गेण उपायेन योगेश्वरं सर्वोपायप्रवर्त्तकं यः सेवते सर्वभावेन, स विश्वासं न करोति इति अर्थः।।२३।।

एवं वैराग्यम् उक्त्वा सत्यसङ्कल्पत्वाय तदनुगुणं बहिः वैराग्यजनकं शापं निरूपयति **पुर्याम्** इति.

पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिः यदुभोजकुमारकैः ।

कोपिता मुनयः शेपुर् भगवन्मतकोविदाः ।।२४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रागोपाधिकेषु च विहितत्वस्य निन्दितत्वस्य तौल्येपि परमार्थविचारे बलस्य तुल्यत्वाभावात्. तथाच वैराग्ये प्रस्तुते तत्प्रसङ्गात् कथनम् इति अर्थः।।२३।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तोऽपि इति. **तुल्यबलत्वाभावाद्** इति. पुरुषरूपाणां भगवद्रूपस्य च तुल्यबलत्वाभावात् तेष्वेव असाध्यताज्ञाननिरूपणं निवर्तकम्. भगवतस्तु किञ्चिदसाध्यं नास्तिएव इति ''**यद्यद् आचरति श्रेष्ठः**''(भग.गीता ३।२१) इति मर्यादया अनिष्टज्ञानमेव निवर्तकं मन्यमानः इति अर्थः. ततः सकाशाद् अत्यभीष्टं निरन्तरसेनानिर्वाहकः।।२२।।

पुर्यां द्वारकायाम्. सामीप्ये सप्तमी. **कदाचिद्** इति भगवद्विचारित-काले. **क्रीडद्भिः** इति न तेषां स्वभावतो दुष्टत्वम्. **यदुभोजकुमारकैः** इति उपजीव्याः सर्वएव भगवदीयाः बालकाः, तत्रापि कुमाराः. ''**न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्**'' (भाग.पुरा.७।५।४९) इति दोषाभावः सूचितः. तैः **कोपिता मुनयो** मननशीलाः ब्रह्मर्षयः **शेपुः** शापं दत्तवन्तः. तत्र हेतुः **भगवन्मतकोविदाः** इति. भगवदभिप्रायं जानन्तीति सर्वदोषाभावः।।२४।।

ततः परित्यागत्रयम् आह **ततः कतिपयैः** इति त्रिभिः

ततः कतिपयैर् मासैः वृष्णिभोजान्धकादयः ।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर् देवविमोहिताः ।।२५।।

गृहपरित्यागः, प्रवाहपरित्यागः, सर्वस्वपरित्यागश्च इति रागाभाव-द्वयस्य तद्धेतुभूतशापस्य च त्रिषु पर्यवसानात्. तत्र आद्यम् आह **कतिपयैरेव मासैः** त्रिभिः मासैः सर्वेऽपि यादवाः निर्गताः इति. **वृष्णिभोजान्धकाः** सात्त्विकराजसतामसाः निर्दिष्टाः. तदादयः सर्वेऽपि त्रिष्वेव अन्तर्भवन्ति इति. अतएव **संहृष्टा ययुः**. न हि भगवदभिप्रायं सगुणाः जानन्ति. प्रकर्षेण भानस्थानं संहर्तुः सङ्कर्षणस्य स्थानं **प्रभासः**. **रथैः** इति युद्धसाधननयनं सूचितम्. एवं गमने हेतुः **देव**रूपेण भगवता **मोहिताः** इति. मनुष्यभावं परित्यज्य देवभावम् प्राप्तव्यः इति. अनेन शापो अत्र विपरीतो निरूपितः।।२५।।

शापो हि हीनभावं नयति, नतु उत्कृष्टभावम्. एतेतु शापाद् देवभावं प्राप्स्यन्तीति लौकिकक्रियापरित्यागार्थम् आह **तत्र स्नात्वा** इति.

तत्र स्नात्वा पितॄन् देवान् ऋषींश्चैव तदम्भसा ।
तर्पयित्वाऽथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः।।२६।।

अयमेव वा विशेषमोहः. ते हि भगवद्भक्ताः भगवद्भक्त्यैव सर्वसमाधानं कर्तुम् उचिताः तथापि स्नानादिकमेव कृतवन्तः. तत्र सरस्वत्याम् अग्निकुण्डे वा **स्नात्वा** देवर्षिपितृतर्पणं विधाय **विप्रेभ्यो बहुगुणाः गावः**. बहुदोहसारदुग्धसाधुत्वादयो बहवो गुणाः. अनेन आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-भौतिकतोषः सम्पादित इति उक्तम्।।२६।।

धनत्यागम् आह **हिरण्यम्** इति.

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।

हयान् रथान् इभान् कन्यां धरां वृत्तिकरीमपि।।२७।।

हिरण्यं सुवर्णम्. **हिरण्यं रजतम्** इति देवतपितृप्रीत्यर्थं दक्षिणाविषयः. **शय्यां वांसासि** इति रात्रिदिनसुखकराणि. **अजिनकम्बलान्** इति आस्तरण–परिधेयानि. त्रिविधानि एतानि सत्वरजस्तमोभेदेन साधारणानां देयानि. **हयान् रथान्,** केवलाः सहिताश्च अश्वाः. **इभाः** हस्तिनः स्वतन्त्रताः. **कन्यां धराम्** इति राजसं दानम्. हयाः सात्विकाः. **वृत्तिकरीमपि** इति भूमिमात्रम्. पूर्वं धरा ग्रामादिरूपा. किं बहुना, येषां यद् अस्ति, यत्किञ्चिद् नीतम् तत् सर्वं ब्राह्मणद्वारा परित्यक्तम् इति अर्थः।।२७।।

एवं परित्यज्य शुद्धा भूत्वा भगवत्प्रीतिकरं कर्म कृतवन्तः इति आह **अन्नं चोरुरसम्** इति.

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्वा भगवदर्पणम् ।

गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुः भुवि मूर्धभिः।।२८।।

अनेकव्यञ्जनयुक्तम् अन्नं पूर्वोक्तेभ्यएव ब्राह्मणेभ्यः कृष्णप्रीत्यर्थं दत्त्वा निवृत्तपापाः भक्त्यावेशेन सात्विकभावं प्राप्ताः स्वधर्मोद्बोधेन राजसमिश्राः सात्विकाः जाताः इति आह **गोविप्रार्थासवः शूराः** इति. गवां विप्राणामेव अर्थे **असवः** प्राणा येषाम् इति सात्विकत्वम्. **शूराः** इति राजसाः. तादृशानां सर्व–प्रायश्चित्तम् आह **प्रणेमुः भुवि मूर्धभिः** इति. यएव शापं दत्तवन्तः तेभ्यः तदीयेभ्यो वा भूमौ साष्टाङ्गप्रणामं कृतवन्तः. *शिष्टेषु शिष्टानि. एवं मर्यादया चतुर्विधं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्तिमसमाप्तौ. स्कन्धार्थविचारेण षण्णां तात्पर्यम् आहुः *****शिष्टेषु शिष्टानि** इति. तथाच ‘‘**दैवाधीनः**’’(भाग.पुरा.३।३।२३) इत्यत्र उक्तरीत्या कामेषु [१]विश्रंभ-भावः चक्षुःकार्यम्. ‘‘**पुर्याम्**’’(भाग.पुरा.४।२८।१३) इत्यत्र भगवन्मतज्ञानेन प्रेरणं तद्देवताभूतस्य अर्कस्य कार्यम्. ‘‘**ततः**’’(   ) इत्यत्र शापस्य भगवदाज्ञायाः श्रवणाद् गमनं श्रोत्रकार्यम्. ‘‘**तत्र**’’(   ) इत्यत्र स्नानतर्पणादिकं दिग्विशेषनियतत्वात् तत्र प्रेरणं दिक्कार्यम्. ‘‘**हिरण्यम्**’’(भाग.पुरा.१।१२।१४) इत्यत्र वृत्तिकरधरादाने प्रेरणं रसनेन्द्रियदेवताकार्यम्. ‘‘**अन्नम्**’’(भाग.पुरा.३।२९।

भगवच्चरित्रम् अत्र निरूपितम्. इन्द्रियाणां ज्ञानकर्मभेदो विहिताविहितभेदश्च.

अष्टभिः सप्तभिश्चैव षड्भिः सप्तभिरेव च।

चतुर्मूर्तेः भगवतः चरित्रं खम् इह उच्यते ।।१।।

एतद्रूपाणीन्द्रियाणि नान्यं गृह्णन्ति च क्वचित्।

सर्गार्थं हेतवश्चोक्ता जन्महेतुस्वभावतः ।।२।। ।।२८।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे तृतीयाध्यायविवरणम्।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

२९) इत्यत्र रसनकार्यं स्फुटमेव इति एवम् एतानि त्रीणि इन्द्रियाणि सदेवताकानि उक्तानि इति अर्थः. वार्तापक्षे अध्यायार्थं सङ्गृह्णन्ति **एवम्** इत्यादि. अत्र **मर्यादया** इत्यनेन सर्वलीलास्वनिरुद्धसम्बन्धो न बाध्यते. किन्तु 'मर्यादा'पदं विभागपरम्. स्कन्धार्थविचारेण इन्द्रियनिरूपणेऽपि किञ्चिद् विशेषम् आहुः **इन्द्रियाणाम्** इत्यादि. द्विविधान्यपि बहिरिन्द्रियाणि आन्तराणि च कार्यानुमेयानि इति कार्यद्वारा तद्भेदः. मध्ये **माध्व्या मदे**त्यनेन अविहितकार्यस्यापि बोधनाद् **विहिता-विहितभेदः** च उक्तः इति. चरित्रोक्तौश्लोकसङ्ख्यां वदन्तो अध्यायार्थं कारिकाभ्यां सङ्गृह्णन्ति **अष्टभिः** इत्यादि. **खम्** इन्द्रियम्. तथाच भगवान् इन्द्रियसर्गकर्त्ता, चतुर्मूर्तिदेवताचरित्रम् इन्द्रियरूपं करणं, तेन करणेन स्मरणादिना व्यापारेण अधिकारिण एतद्रूपाणि इन्द्रियाणि यदा करोति, तदा तानि भगवदतिरिक्तं न विषयतया स्वीकुर्वन्ति. तथाच एवं सर्वत्र लौकिकपदार्थेषु कार्येषु च चतुर्मूर्तिचरित्रत्वेन ग्रहणं यस्य भवति, तदिन्द्रियाणि संस्कृतानि इति ज्ञेयम् इति अर्थः. एवम् इन्द्रियसंस्कारः कस्य जीवस्य इति अपेक्षायां तत्स्वरूपं बोधयितुं यादवनिरूपणम् इति आशयेन आहुः **सर्गे**त्यादि. **सर्गार्थं** लीलासृष्टौ पुनः अत्र आगमनार्थं हेतुः जीवो अस्य सर्गादिः इत्यत्र उक्ता अविद्याकर्मणां कारकाः हेतुभूताः जीवाः अधिकारित्वेन उक्ताः. तत्र हेतुः **जन्म** इत्यादि. तथाच एतादृक्-स्वभावविशिष्टानां लीलासृष्टावतारणयोग्यानाम् एवम् इन्द्रियसंस्कारः इति अर्थः. एतेन कालमागधादीनामपि **''निलयं तदीयम्''**(भाग.पुरा.२।७।३५) इति वाक्यात् क्रोधादिपूर्वकस्मरणेन मुक्त्यर्थम् अवतारणाय च संस्कारो बोधितः. तेन कामादिना सर्वात्मभावेन च यथाधिकारं यथाकार्यम् इन्द्रियसंस्कारो बोद्धव्यः इति ज्ञापितम्.

इति श्रीगोस्वामिपुरुषोत्तमजीमहाराजकृत-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे तृतीयाध्यायविवरणम्।।३।।

चतुर्थाध्यायविवरणम्

चतुर्थे ह्यधिकारार्थं बुद्धिर् भगवतोच्यते ।
पञ्चधा साऽत्र सम्प्रोक्ता पञ्चपर्वाधिकारिणाम् ।।१।।
स्वरूपं च गुणाः प्रोक्ताः फलम् अत्र निरूप्यते ।
एतादृशे हि पुरूषे भगवान् आविशेद्यतः ।।२।।
तदैव तद्गताः सर्वे बुद्ध्यन्ते नाऽन्यथा यथा ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ चतुर्थाध्यायं विवरिषवः कथासङ्गतेः स्फुटत्वात् स्कन्धाद्यर्थानुरूपां सङ्गतिं व्युत्पादयन्ति त्रिभिः **चतुर्थे** इत्यादि. **भगवता** इति. व्यासेन शुकेन वा. तेन अवसरःसङ्गतिः. येन रूपेण अवश्यवक्तव्यत्वं तद्वक्तुं पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्तः आहुः **पञ्चधा** इत्यादि. पञ्चधा इति स्मृतिनिश्चय-संशय-विपर्ययद्वयरूपेण पञ्चधा. तत्र हेतुः **पञ्चे**त्यादि. यतः पूर्वाध्याये तादृशं तद् उक्तम्, अतः तादृशां रूपं फलम् अत्र निरूप्यते. तथाच तदनुकूलबुद्धित्वेन रूपेण अवश्यवक्तव्यम् इति अर्थः.

ननु अत्र सर्गावान्तरविशेषे वक्तव्ये फलनिरूपणस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **एतादृशे** इत्यादि. **यथा** इति. यथावत्. तथाच आवेशयोग्यताबोधनाय पूर्वाध्यायान्ते तेषां स्वरूपं गुणाश्च उक्ताः. यदा आविशेत् तदा सम्यग् तद्गुणाः बोद्धुं शक्यन्ते, अतः तेषु भगवदावेशरूपं फलं तद्गुणज्ञापनाय उच्यते, इति तदेव प्रयोजनम् इति अर्थः.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अथ तुरीयाध्यायं व्याचिख्यासवः

अध्यायार्थं निरूपयन्ति **चतुर्थे** इति. पूर्वाध्याये इन्द्रियाणां निरूपितत्वाद् **अत्र चतुर्थे** अधिकारसिद्ध्यर्थं क्रमप्राप्ताः **भगवता** व्यासेन बुद्धिः उच्यते. **सा** बुद्धिः **अधिकारिणां पञ्चधा** उच्यते. पञ्चधात्वमेव आहुः **पञ्चपर्वा** इति. ''**वैराग्यं साङ्ख्य-योगौ च तपोः भक्तिञ्च केशवे, पञ्चपर्वातु विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेद्**'' (शास्त्रार्थनिब.४५।४६) इति पूर्वाध्यायद्वये भगत्स्वरूपं गुणाश्च उद्धवैः उक्ता. इदानीं श्रीभगवत्प्राप्तिरूपं **फलं निरूप्यते** इति अर्थः ।।१ १/२ ।।

संस्कृतभूताद्यपेक्षया बुद्धेः श्रेष्ठम् आहुः **एतादृशः** इति. यतः संस्कृतबुद्धिमति पुरुषे भगवान् यथा-यथा आविशते तदैव तद्गताः पुरुषसङ्घात-गताभूतादयः

अतो भगवतः सर्गे हेतुश्चाऽयं निरूप्यते ।।३।।

तत्र प्रथमं स्मृत्यात्मिका बुद्धिः भगवदिच्छय उत्पन्ना इति आह **अथ** इत्यादित्रिभिः

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर् मर्म पस्पृशुः।।१।।

तामसी राजसी चैव सात्त्विकी चेति सा क्रमात्. पूर्वमेतादृशा अपि सर्वदोषविनिर्मुक्ताः. भगवदिच्छया श्रमापनोदनं कर्तव्यम् इति तेषां मतिः उत्पन्नाः. ततः पूर्ववासनया तेषाम् असद्बुद्धिः उत्पन्नाः इति आह **अथ** भिन्नप्रक्रमेण. **ते** पूर्वोक्ताः ब्राह्मणैः **अनुज्ञाताः**. **भुक्त्वा** इत्यन्तं पूर्वसम्बन्धि. **वारुणीं पीत्वा** इति निषिद्धाचरणम्. तस्याः फलम् आह **तया विभ्रंशितज्ञाना**ः इति.

सर्वं हि साधनं व्यर्थं यदि बुद्धिः विनश्यति ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतस्य आवेशस्यापि फलान्तरम् आहुः **अतः** इत्यादि. यतो लीलार्थं स्वसङ्गे अवतारणीया, अतोः हेतोः भगवत्कर्तृके अधिकारिबुद्धिसर्गे अयम् आवेशो *हेतुरपि निरूपितः. तथाच अग्रिमलीलार्थमेव अयम् आवेशः इति सा अस्य प्रयोजनम् इति अर्थः. एवञ्च हेतुतारूपं सङ्गत्यन्तरमपि बोधितम्(३).

अथ इत्यत्र. मूले 'अथ'शब्दः पूर्वोक्तप्रणामान्तकृत्यानन्तर्यस्यापि बोधकः इति आशयेन आहुः **भुक्ते**त्यन्तं **पूर्वसम्बन्धि** इति. ननु अत्र अधिकारोपयोगिबुद्धौ

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

उद्बुद्ध्यन्ते. भगवदीयत्वं ज्ञापयन्ति. **अतः** कारणाद् अयं बुद्धेः सर्गः भगवत्सम्बन्धि-सङ्घातः **सर्गे हेतुः निरूप्यते** हेतुत्वेन निरूप्यते इति अर्थः(३).

अथ इत्यत्र. तत्र प्रथमम् इति. संशयादिपञ्चसु मध्ये प्रथमं स्मृत्यात्मिका बुद्धिः उत्पन्ना इति अर्थः. अतएव दानादिना स्मृतमपि मद्यपानं पुनः स्मृतम् इति अर्थः. प्रसङ्गात् स्मृतेः त्रैविध्यम् आहुः **तामसी** इति. तथा चेत् समुत्पन्ना स्मृतिः तामसी इति भावः. तस्य तत्त्वमेव प्रपञ्चयन्ति **पूर्वम्** इत्यादि.

एतत् संसूचितम् अर्थः कारिकायां ज्ञापयन्ति **सर्वं हि** इति. **तस्माद् एवम्** इति.

प्रकाश : * 'हेतुमपि' इत्यपि पाठः.

अकर्तव्यं तदा नाऽस्ति महतामपि निश्चितम् ।।१।।
तस्माद् एवं न कर्तव्यम् इति बुद्धिरिहोच्यते ।
अतोऽत्र शास्त्रे सर्वत्र ह्यप्रामाण्यं स्मृतेः सदा ।।२।।

बुद्धिभ्रंशफलम् आह **दुरुक्तैः मर्म पस्पृशुः** इति. दुरुक्तानि दुर्वाक्यानि अपकर्षबोधकानि. यस्य यद् न उचितं तत् प्रमादाद् जातं **मर्म** इति उच्यते. अपकर्षवाक्यैः तादृशम् उक्तवन्तः इति अर्थः. ज्ञानं च अत्र शास्त्रे स्थिरम्[क], न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निरूप्यायां ज्ञानविभ्रंशादिकथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **सर्वम्** इत्यादि. **इति बुद्धिः इह उच्यते** इति. एवं अवज्ञानबिभ्रंशबोधनादिना निषिद्धाचरणनिषेधिका बुद्धिः इह श्लोके सूच्यते इति तद्बोधनं स्वमहत्त्वानुसन्धानस्य दुष्टत्वबोधनं च प्रयोजनम् इति अर्थः. एतेन सिद्धं प्रयोजनान्तरम् आहुः **अतो अत्र** इत्यादि. यतो अत्र श्लोके निषिद्धाचरणनिवर्तिका बुद्धिः सृज्यत्वेन विवक्षिता, सैव च प्रमाणभूता, अतः सर्वत्र शास्त्रे तद्विरुद्धायाः निषिद्धप्रवृत्तिजनिकायाः स्मृतेः सदैव प्रामाण्यम् इत्यपि सूच्यते इति अर्थः.

ननु स्मृतेः संस्कारजन्यत्वात् तस्य च अनुभवजन्यत्वात् तेन संस्कारद्वारा स्वसमानाकारस्मृत्युत्पादनं क्रियते इति तज्जनकानुभवस्य प्रामाण्ये कथं स्मृतेः अप्रामाण्यम् इति आशङ्कायां प्रमाणानुभवजन्यत्वेपि तस्याः अप्रामाण्यं व्युत्पादयितुम् अत्र सिद्धज्ञानस्य स्थिरत्वं पूर्वं व्युत्पादयन्ति **ज्ञानं च** इत्यादि. **चो** अप्यर्थे.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

यतः बुद्धिभ्रंशे सर्वनाशः तस्माद् भगवत्परैः बुद्धिभ्रंशकरं दुःसङ्गादिकं न कर्तव्यम् इति अर्थः. अनेन संस्कारः उपाधिरपि प्रदर्शिता इति ज्ञापयन्ति **''इति बुद्धिः इहोच्यते''** इति निष्कृष्यते इति अर्थः. दानादिना शुद्धानामपि असद्बुद्धिः अत्र निरूपिता. तत्सूचितम् अर्थम् आहुः **अतो अत्र** इति. यतः दानादिना शुद्धानामपि भगवदिच्छया पुनः अपेयपानादौ बुद्धिः प्रवृत्ताः अतः अस्मिन् प्रमेयमार्गे सर्वत्र शास्त्रे दानादिना जन्यायाः स्मृतेः अप्रामाण्यम् अप्रयोजकत्वम् इति अर्थः. **तथा विभ्रंशितज्ञाना** इत्यत्र पूर्वस्थितज्ञानस्य अधःपातः उच्यते. तेन ज्ञानस्य स्थिरत्वम् उक्तम्. अन्यथातु असद्बुद्धिः उत्पन्ना इति एका उक्तिः स्याद् इति. तदुपपादयन्ति प्रसङ्गाद् **ज्ञानं च अत्र** इति.

क. 'स्थितम्' इति जु,मां१,मां३ पाठः.

त्रिक्षणावस्थायि. घ्राणेन गन्धवद् मनसा तस्य ग्रहणे स्फुरणम्. तद् भगवति नित्यमेव, अन्येषान्तु जन्यम्. शरीरस्य [ख]अन्नमिव लोकशास्त्रादिकं तस्य पोषकम्. इन्द्रियाणि जनकानि, अभ्यासो दार्ढ्यहेतुः. तच्च त्रिविधम्, सात्विकादिविभेदेन. देशादयश्च षट्पदार्थाः निषिद्धाः तस्य नाशकाः, विहितास्तु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ननु ज्ञानस्य स्थिरत्वे सर्वदा तदनुव्यवसायापत्तिः इत्यतः आहुः **घ्राणेन** इत्यादि. यथा गृहादौ व्याप्तो घ्राणसम्बद्धोऽपि गन्धः संयुक्तसमवायेन संयोगेन वा ग्रहणएव स्फुरति, नतु सर्वदा अत्यन्तसम्बन्धेन ग्राहकतायाः कौण्ठ्याद्, एवं मनसा तस्य संयुक्तसमवायेन संयुक्तविशेषणतया वा ग्रहणे स्फुरणम्, अतिसम्बन्धेन ग्राहकता कौण्ठ्ये च अस्फुरणम्, अतो न सर्वदा तदापत्तिः इति अर्थः.

ननु भवतु एवं, तथापि सर्वदा विषयस्फूर्तिः केन वार्येत इत्यतः आहुः **तदि**त्यादि. तथाच भगवति नित्यसर्वविषयकज्ञानस्य मतान्तरे संमतत्वाद् न तत्र तद्वारणापेक्षा. अन्येषान्तु जन्यत्वाद् भावविकाराणां तत्रापि वक्तव्यत्वेन तस्य उत्पत्तौ पोषे दाढ्र्ये च विषयस्फूर्तिः, तदभावे च तदभावः इति तद्वारणम् इति अर्थः. **पोषण**न्तु सजातीयसंवलनं, **दार्ढ्यन्तु** सजातीयस्थितिसाधिका घनता. एवं सति अस्मिन् पक्षे स्मृतिजननार्थं न संस्कारापेक्षा. इन्द्रियैः जनितेन [१]लोकशास्त्रादिपुष्टेन अभ्यासाद् दृढेन उद्बोधकैः उद्बुद्धेन तेनैव कालान्तरे स्मृतिसम्भवात्, संस्कारपक्षे अनन्तसंस्कार-तदुत्पत्तिध्वंसादिकल्पनागौरवाच्च इति विरुद्धवृत्तितिरोहितं सूक्ष्मावस्थं ज्ञानमेव संस्कारः. धारावाहिकस्थले च एकमेव प्रकाशमानं तद् इति फलति. एवं स्थिरत्वं साधयित्वा तत्पोषस्य नाशस्य च बोधनार्थं गीतादिसिद्धान्तस्य प्रकारान् आहुः **तच्च** इत्यादि. एतेन सजातीय-विजातीयभेदस्य प्रामाणिकता दर्शिता. ननु भवतु एवं, तथापि विषयान्तरविषयकज्ञानेन तन्नाशाभावे तन्नाशः केन वक्तव्यः इत्यतः आहुः **देशे**त्यादि.

ननु एवं सति देशाद्यन्यतमस्य नाशकस्य तत्र तत्र सुलभत्वात् स्थिरत्वं तस्य

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

ननु तस्य नित्यत्वे सर्वदेवता तस्यादित्यत(?) आहुः **घ्राणेन** इति. यथा घ्राणे

ख. 'अन्यमेव' इति जु,मां१,मां३ पाठः. प्रकाश : १.लोकास्ता.

अन्तःकरणशुद्धिहेतवः पोषकाः. तत्र जीवस्य प्रयत्नेन स्थापितं तिष्ठति, गृहे पदार्थाइव. शब्दाः विषयाश्च उद्दीपकाः जनितस्य अजनितस्य उत्पादनएव सामग्रीरूपाः. तदेव बुद्धि-चेतनादिवाच्यम्. तद् एकं भगवद्रूपम्. तस्य उत्पत्तिः नेकधा. आनन्त्येऽपि दशधा तद् निरूप्यते, लीलावत्. आश्रयरूपं मुख्यम् अविकृतं सर्वोपास्यं सर्वात्मभूतं च. तदेव प्रकाशकधर्मरूपेण आविर्भूतम् अविकृतमेव भगवद्गुणत्वेन उच्यते. तदेव पुनः सृष्ट्यर्थं वेदशरीरं गृह्णाति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दुर्घटमेव इत्यतः आहुः **विहिताः** इत्यादि. तथाच नाशकवत्पोषकस्यापि सत्वाद् न स्थैर्यदौर्घट्यम् इति अर्थः. एतेन ह्रीर्धीर्भीः इति एतत् सर्वं मनएव इति श्रुतिबोधितं मनोधर्मत्वमपि तस्य स्मारितम्. तेन सिद्धम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति अन्तःकरणे. **प्रयत्नेन** इति स्थापकव्यापारेण. एवं स्थैर्यहेतुम् उक्त्वा सर्वदा सर्वस्फूर्त्यभावे हेतुं स्फुटीकुर्वन्ति **गृहे** इत्यादि. तथाच उद्दीपकसमसमवधानस्य असार्वदिकत्वाद् न सर्वदा सर्वस्फूर्तिः इति अर्थः. ननु इन्द्रियाणां जनकत्वे सर्वदा कुतो न सर्वज्ञानानां जननम् इति आकाङ्क्षायाम् एतेषामेव सहकारित्वम् आहुः **अजनितस्य** इत्यादि. सामग्री समवधानाभावाद् न सर्वदा उत्पत्तिः इति अर्थः. अग्रे तत्प्रकाराणां भेदान् वक्तुं तन्नामानि तत्स्वरूपं च आहुः **तदेव** इत्यादि. एकत्वे प्रतिशरीरं भिन्नवत्-स्थित्यनुपपत्तिम् आशङ्क्य आहुः **तस्य** इत्यादि. उपपत्तिः इति आविर्भावः. तथाच एवम् आविर्भावभेदाद् न अनुपपत्तिः इति अर्थः. एतेन व्यापकत्वमपि तस्य बोधितम्. तेन बीजयोनिप्रतिपत्ति-न्यायेन घटाकाशन्यायेन च एकस्यैव अनेकत्वं परिच्छिन्नत्वं च उपाधिवशात् सिद्ध्यति. **आनन्त्येपि** तत्प्रकारज्ञानोपायम् आहुः **आनन्त्ये** इत्यादि. तथाच एवं राशिभेदेन तत्प्रकारज्ञानं सुघटम् इति अर्थः. दश प्रकारान् स्फुटीकुर्वन्ति **आश्रये**त्यादि. **मुख्यम्** इति. कारणभूतम्. इदम् एकं निर्विषयम्. द्वितीयं भगवद्गुणरूपं नित्यं सविषयम्. एतेन जीवरूपं ज्ञानं पूर्वस्य तद्धर्मरूपन्तु द्वितीयस्य अंशः इत्यपि बोधितम्. **तदेव** इति. गुणरूपम्. **सृष्ट्यर्थ**मपि. नामसृष्ट्यर्थं, वैदिकसृष्ट्यर्थं वा. तेन

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

सन्निकर्षएव गन्धप्रतीतिः तथा मनः सन्क्रिर्षे ज्ञानम् इति अर्थः. **तदेव** इति. "**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुत्युक्तम्. तदाश्रयमेव रूपमेव ज्ञानं सर्वप्रकाशकत्वेन धर्मरूपत्वेन आविर्भूतं सः भगवद्गुणत्वेन उच्यते इति अर्थः.

तदपि रूपं विराडिव अनन्तम् पश्चाद् विराजताम् आपद्यते शरीरविशिष्टम्. तदा व्यष्टयइव विकृताः सर्वे शब्दाः भवन्ति. तदेव पुनः प्रमातारं प्रमेयं च आश्रयते. तत्र प्रमेयाश्रयं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव. परं प्रमेयरूपतया एकविधमिति तेद् एकमेव उच्यते. प्रमातरितु पञ्चधा तद् भवति, अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात्. अन्तःकरणेतु चतुर्धा, इन्द्रियेतु एकधा. विशेषास्तु विषयाश्रयज्ञानद् विगुणतया

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वेदात्मकशब्दशरीरविशिष्टं तृतीयम्. **अनन्तम्** इति. ''**अनन्ता वै वेदाः**''( ) इति श्रुतेः अनन्तम्. इदमेव ''**स एष जीवो विवरप्रसूतिः**''(भाग.पुरा.११।१२।१७) इत्यत्र ये(?)(मे) व्यक्तिः इयं हि [2]वाणी इति वैखरीरूपं वेदात्मकत्वेन उक्तम्. ततः शब्दसृष्टिम् आहुः **पश्चाद्** इत्यादि. ''**सर्वेषां सतु नामानि रूपाणि च पृथक् पृथक्, वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः**''(मनुस्मृति १।२३) इति स्मृतौ तथा कथनात् तथा इति अर्थः. इदं विकृतशब्दशरीरविशिष्टं तुरीयम्. पञ्चमादिरूपाणि वक्तुं केवलस्य तस्य आश्रयभेदम् आहुः **तदेव** इत्यादि. **आश्रयते** इति. अर्थप्रकाशरूपेण लोके प्रकटीभवितुं तद् उभयम् अधितिष्ठति. पञ्चमं रूपम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **प्रमेयाश्रयम्** इति. व्यापकत्वात् प्रमेयावच्छिन्नम्. अन्यानि पञ्च आहुः **प्रमातरी**त्यादि. एतेन एतेषाम् अव्यापकत्वं बोधितम्. **एकधा** इति. निर्विकल्पकत्वेन एकधा. ननु बहिःइन्द्रियाणां पञ्च-सङ्ख्यात्वात् तैः नानाविधम् अविकल्पकज्ञान-जननदर्शनात् च कथं तत्र एकधा इत्यतः आहुः **विशेषाः** इत्यादि. सविकल्पकरूपाः विशेषास्तु विषयाश्रयं प्रमेयरूपं यज्ज्ञानं तेन कृता या द्विगुणता, प्राथमिकसंयोगेन ज्ञाने जाते तदुत्तरं विषयविमर्षणाय पुनः चतुष्टयसंयोगे यद्विशिष्टज्ञानं तद्रूपा तया प्रकाशिताकारा भवन्ति इति तेषाम् अनुग्राहकान्तरजन्यत्वाद् न तैः इन्द्रियै(नि?)ः ज्ञानस्य एकविधत्वभङ्गः इति अर्थः.

तर्हि अन्तःकरणे कथं चतुर्धा इति आकाङ्क्षायां तत्र आकारभेदेन भेदान्

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

'भगवत्'शब्दवाच्यत्वेन धर्मरूपमपि तत्र ज्ञानम् अस्ति इति भावः. **शरीरविशिष्टम्** इति. वेदात्मकसमष्टिरूपम् इति अर्थः. **विकृता** इति. लौकिकाः प्राकृताः इति अर्थः. **तत्रापि**

२.वाणीरिवैश्वरी.पा.

पुष्टा भवन्ति. तत्र मनसा जनितं संशयात्मकं भवति, विशेषास्तु अत्रापि विषयकृताः. अहङ्कारो बुद्ध्या सहितः स्वापं पश्यति इति स्वप्नज्ञानम् अहङ्काराश्रितम्. शरीराभिमतिस्तु अहङ्कारेण कृता बुद्ध्याश्रया. चित्तन्तु आत्मानमेव सुषुप्तौ पश्यति अन्यदा लीनम् अतो निर्विषयकं ज्ञानं चित्ताश्रितम्. तस्य च स्थितिः निरूपिता शास्त्रादिभिरिति नाशोऽपि विशेषेण रूप्यते. पूर्वोक्तमर्यादाभावएव सामान्यतो नाशः. तत्र हेतुः माया, ज्ञानस्यैव [ग]तिरस्करिणी. तस्याः षडाश्रयभूताः कालादयः. कलिः मगध-मद्यादि-दैत्य-शाक्त-निषिद्धक्रियाः. ते यथायथं स्वरूपतः, स्थानतो, गुणतश्च ज्ञानस्य अंशतो नाशं कुर्वन्ति. येषु ज्ञानं जायते तेष्वेव नश्यति. अतो अत्र मदिरया तेषां यद् ज्ञानं पूर्वस्थितं प्रमातरि बुद्ध्याश्रयम्, तद् अधस्तात् पतितम् इति विभ्रंशितज्ञानत्वम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः तत्र **मनसा** इत्यारभ्य **चित्ताश्रयम्** इत्यन्तम्. **अन्यदा** इति. जाग्रत्स्वप्नयोः चित्तलयप्रकारस्तु सप्तविंशे स्फुटीकार्यः. एवं ज्ञानस्य दशप्रकारान् जन्यस्य उत्पत्तिप्रकारं च उक्त्वा स्थिति-नाशयोः प्रकारं सप्रमाणम् उपपादयन्ति **तस्य च** इत्यादि. **शास्त्रादिभिः** इति. ''**स्थिरबुद्धिरसंमूढः**''(भग.गीता ५।२०) ''**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते**''(भग.गीता २।६५) इत्यादिशास्त्रेण स्मृत्यन्यथाऽनुपपत्तिरूपया साधकयुक्त्या त्रिक्षणावस्थायित्वबाधिकया गौरवरूपयुक्त्या च इति अर्थः. **रूप्यते** इति हेतुबोधनपूर्वकम् उच्यते. नाशप्रकारम् आहुः **पूर्वोक्ते**त्यादि. **पूर्वोक्तमर्यादाभावे** इति. विहितार्थसंसर्गाभावे. **तत्र** इति. मर्यादाभावे सामान्यतो नाशे वा. ननु पूर्वं देशादीनां नाशकत्वम् उक्तम्, इदानीं कथं मायायाः उच्यते इत्यतः आहुः **तस्याः** इत्यादि. ननु तस्याएव ज्ञाननाशकत्वे एतेषाम् अनुपयोगात्. पूर्वोक्तम् असङ्गतम् इति आशङ्कायाम् आहुः **ते** इत्यादि. **यथायथम्** इति देशकालाभ्यां **स्वरूपतः**, द्रव्यकर्तृभ्यां **स्थानतः,** मन्त्र-कर्मभ्यां **गुणतः** इति. तथाच विशेषनाशे तेषाम् उपयोगाद् न पूर्वोक्तम् असङ्गतम् इति अर्थः. एवं नाशं व्युत्पाद्य प्रकृते यदूनां बुद्धेः न सामान्यतो नाशः, किन्तु विशेषतः इति बोधयितुं तं विशेषम् आहुः **अतः** इत्यादि. **बुद्ध्याश्रयम्** इति शरीराभिमानरूपम्.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इति संशयादिज्ञानेऽपि इति अर्थः.

ग. 'कारिणी' इति जु,मां३ पाठः.

मायया च अविद्यमानाः पदार्थाः बुद्धावेव उपस्थाप्यन्ते. तद् विषयसहकृतं बुद्ध्याश्रितं ज्ञानं स्मृतिरूपं भवति. तया कृत्वा तद्विषय–सम्बन्धीनि वाक्यानि दुरुक्तानि भवन्ति. तानि च विषयसहितानि विषयाश्रयाधारं मर्म स्पृशन्ति. "**मृङ् प्राणत्यागे**"(धातुपा.तुदादि.१५१) इति धातोः आवश्यकमरणार्थे धातोः द्विभावे कृते 'डन्'प्रत्यये कृते 'मर्म' इति भवति. तत्राऽपि अल्पोऽपि आघातः शब्दकृतोऽपि महतीं व्यथां जनयति. मत्तत्वात् स्पर्शमात्रम् उक्तं, नतु आघातः।।१।।

एवं स्वरूपविस्मरणपूर्वकविपरीतपदार्थस्मरणैः शब्दस्पर्शेण क्षोभं जनयित्वा, शस्त्रादिभिरपि स्पर्शं कृतवन्तः इति आह **तेषाम्** इति.

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृत–चेतसाम् ।

निम्लोचति रवावासीद् वेणूनामिव मर्दनम् ।।२।।

मैरेयेण द्रव्येण पूर्वज्ञाननाशपूर्वक–विपरीतज्ञानजननलक्षण–दोषेण स्वस्थाऽपि चेतनात्मिका बुद्धिः स्नेहेन अतिसमापि विषमा जाताः. विषयाश्रितमपि ज्ञानं तेजःप्रकाशापेक्षमिति तदभावे तदपि न इन्द्रियपोषकं जातम् इति अभिप्रायेण आह **निम्लोचति रवावासीद्** इति. सर्वत्र दोषः समानो जातः इति आह **वेणूनामिव** इति. **मर्दनं** नाशः।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अधस्तात् पतितम् इति. बुद्धेः मलिनभागे तामसे अंशतः पतितम्. तथाच एवं शरीराभिमतेः मलिनदेशे पाते कालेन स्वरूपतो अंशाद् नाशितं, निषिद्धया पानक्रियया च गुणतो अंशाद् नाशितं, तदा तेषां स्वस्मिन् उत्कर्षे अन्यस्मिन् अपकर्षे च भाते तत्तद्दोषांशस्फूर्तिः अभूत्. तेन कार्यान्तरम् आहुः **मायया** इत्यादि. **विषयाश्रयाधारम्** इति. विषयो दोषः, तदाश्रयः पुरुषः, सः आधारं यस्य तत्तथा. तथाच पूर्वं दोषांशे स्फुरिते ततो मायया अविद्यमाने प्रत्यनीकत्वे बुद्धौ उपस्थापिते तादृशैः वाक्यैः मर्म स्पृष्टवन्तः. अतः प्रमाणज्ञानोत्पन्नत्वेऽपि तस्मिन् मायया विजातीयसंवलनात् तद्गुणांशनिवृत्तौ तज्जन्या स्मृतिः अप्रमाणभूता जाता इति तया तथा करणात् तादृश्याः स्मृतेः स्वरूपतो गुणतः फलतश्च अप्रामाण्यम् इति अर्थः।।१।।

तेषाम् इत्यत्र. **तेजःप्रकाशापेक्षम्** इति. विषयालोकसंसर्गेण तमोनाशात् स्वोत्पत्तौ तत्सापेक्षम्।।२।।

एवं तेषां पूर्वस्थितिं साधनसाध्यभावेन तिरोभावं प्रापयित्वा *स्वस्यापि अनीश्वरत्वं तिरोभावयितुं साधनं साध्यं च आह

भगवान् स्वात्ममायायाः गतिं ताम् अवलोक्य सः ।
सरस्वतीम् उस्पृश्य वृक्षमूलम् उपाविशत् ।।३।।

भगवान् इति. अनैश्वर्यतिरोभावे हेतुः. स्वस्य यः आत्मा चिदंशः, तस्य **मायायाः गतिं** प्रवृत्तिं कार्यकरणम् इति यावत्. **तां** पूर्वोक्ताम्. **अवलोक्य** इति उत्तरत्र साधनम्. **सः** इति तदर्थं प्रवृत्तः. अनैश्वर्यतिराभावो द्वयेन भवति, वेदैः वैष्णवैश्च. तद् उभयं कृतवान् इति आह **सरस्वतीम् उपस्पृश्य वृक्षमूलम् उपाविशद्** इति. सरस्वती वेदात्मिका, सैव नदी, तद**ुपस्पर्शनं** स्नानम्. अनेन वेदेषु स्वात्मानं स्थापितवान् इति उक्तम्. द्वितीयम् आह **वृक्षमूलम्** इति. "**वैष्णवाः वै वनस्पतयः**" ( )इति श्रुतेः. तस्यं मूलं येन रूपेण विष्णुना ते जनिताः तद्बीजात्मकं मूलम्. तत्र विष्णौ बीजात्मके अर्थांशं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवान् इत्यत्र. **एवं तेषाम्** इत्यादि. यादवानां स्नेहेन वर्तमानतया च **स्थितिं** मैरेयपानरूप**साधन**विपरीतस्मृत्याख्यबुद्धिवृत्तिविशेषरूप**साध्यभावेन** पूर्वोक्तरीत्या तिरोभावयित्वा, तथा तिरोभावप्रापकस्य भगवतो यादववर्तमानत्व-स्थापनासामर्थ्यं तिरोभावयितुम् अनैश्वर्यतिरोभावसाधनं स्वात्ममार्गगत्यवलोकनं तत्साध्यम् असामर्थ्यतिरोभावं च आह इति अर्थः. **तस्य मायायाः** इति. तद्व्यामोहिकायाः मायायाः. **पूवोक्ताम्** इति. "मिथो यद्" इत्यत्र विचारित-मर्दनरूपाम्. **उत्तरत्र** इति. वक्ष्यमाणे कार्ये. **द्वयेन** इति. गुणानां स्वरूपस्य च स्थापनेन.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

भगवान् इत्यत्र. **साधनसाध्यभावेन** इति. ज्ञानप्राकशसाधनं तेजः ज्ञानं साध्यं, तदुभयम् इति तिरोहितम् इति अर्थः. **साधनं साध्यञ्च** इति. मायारूपसाधनेन अस्वतन्त्रतयैव पूर्वपरूपतिरोधानम् आहः इति अर्थः. **द्वितीयम् आह** इति. द्वितीयं स्वात्मस्थानं आह इति अर्थः. **वैष्णवा वै** इति. तथाच वेदाः वैष्णवाश्च भगवत्स्थानम् इति उक्तम्. **अर्थांशम्** इति. धर्मांशम् इति अर्थः. **एकत्र** इति. वेदे इति अर्थः. **स्वरूपम्** इति. धर्मिस्वरूपं वैष्णवेषु इति अर्थः. **आश्रयभावेन** इति. भगवति स्वधाम्नि गते

---

* 'तस्यापि' इति जु,मां१.मां२,मां३ पाठः.

स्थापितवान् इति अर्थः. एवम् ऐश्वर्यादिगुणान् एकत्र, स्वरूपञ्च एकत्र स्थापयित्वा आश्रयाभावेन अनैश्वर्यं निराकृतवान् इति अर्थः. ननु भगवान् बीजे किमिति स्थापितवान्? वैकुण्ठे हि स्थापनीयम्. तत्रा आह **उपाविशद्** इति. उप समीपे वैकुण्ठे स्थितेन सर्गलीलाकर्तुम् अशक्या, अतः तत्समीपएव **आ** सर्वतः सर्वभावेन तत्र प्रविष्टः सृष्ट्यर्थम्. एतदर्थमेव प्रथमतः इयं कथा कथिता. यथा भगवान् ऐश्वर्येण बीजे प्रविशति. अयमेव च अधिकारः. माहात्म्यं, स्वरूपं,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आश्रयाभावेन अनैश्वर्यं निराकृतवान् इति. अत्र अयम् अर्थः. यदा भगवान् स्वरूपं लीलाम् उभयं वा तिरोधापयितुम् इच्छति, तदा व्यामोहिकां चिदंशमायां विस्तारयति, माययैव तिरोभावः इति. तस्याः च षडाश्रयाः पूर्वम् उक्ताः. तेषु देशकर्तृमन्त्राणां प्रकृते अभावात् कालद्रव्यक्रियाभ्यः ताम् उत्थापित-वान्. ततः तया तत्तद्बुद्धिषु व्यामोह उदपादि. ततः तं सहकृत्य प्रत्यनीकत्वेन भासमानाः विषयतारूपाः ते तत्तद्बुद्धिं प्रति प्रत्यायिताः, ततो व्यामुग्धानां लीलामध्यपातिनां शस्त्राहतिद्वारा तेषां प्राकृतानि शरीराणि अन्यथाकृत्य तेभ्यो देहेभ्यो वैकुण्ठपुरवासिनः साकारान् उद्धृत्य स्वस्थानं प्रापितवान् इति तेषां विद्यमानत्वं लीला, तत्सम्बन्धिनित्यत्वस्थापकैः वेदवाक्यैः तदर्थाभिज्ञवैष्णवसङ्गेन च ज्ञातं भवति इति वेदेषु गुणस्थापनेन ऐश्वर्यं सिद्धीकृत्य वैष्णवेषु स्वरूपस्थापनेन ऐश्वर्याधारं सिद्धीकृत्य, ऐश्वर्याश्रयाभावेन प्राप्स्यमानम् अनैश्वर्यं भगवत्त्वेन निराकृतवान् इति अर्थः. **बीजे** इति. शुद्धसत्त्वाविर्भूत अक्षरात्मके. ननु सृष्ट्यर्थम् एवं प्रवेशोक्तौ किं मानम् अतः आहुः **एतदर्थम्** इत्यादि. यथा इत्यादिना उक्तस्य अर्थस्य ज्ञापनाय तथा उक्ता इति अर्थः. ननु एवं सृष्ट्यर्थं प्रवेशेऽपि अधिकारे कः उपयोगः इत्यतः आहुः **अयम्** इत्यादि. अयम् इति बुद्धिस्थः. **रूपम्** इति भूतानि. विषय इति मात्राः. ननु एवं तेषां कथम् अधिकारोपयोगिभूतादिरूपता इत्यतः आहुः **बीजे**त्यादि. तथाच एतेषां तत्र तत्र बीजरूपेण प्रवेशएव अधिकारसिद्धेः एतेषां तथात्वम् इति अर्थः. अग्रे ब्रह्मशापापदेशेन इत्यत्र वक्ष्यमाणायाः चिन्तायाः अधिकारकारणत्वं बोधयितुं

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

संसारतः भीतानाम् आश्रयभावेन प्राप्तं यद् अनैश्वर्यं तद् वेदादिषु ऐश्वर्यगुणविशिष्ट-स्वात्मस्थापनेन निराकृतवान् इति अर्थः. **बीजात्मके कारणरूपे** इति. मोक्षबीजात्मके

लीला, विषयः, चरित्रम्, इन्द्रियाणि, स्वांशेन कारणप्रवेशः, बुद्धिः इति बीजरूपो अयं सर्गः. विष्णोः जाताः वैष्णवाः, विष्णोः इमे इति च. अतो भगवान् स्वयं वृक्षमूले उपविश्य सृष्टिकारणबीजम् उपपाद्य मोक्षकारणबीजमपि उपपादयितुं वैष्णवम् उद्धवं पूर्वमेव विचारितवान्. नवसु लीलासु प्रथमा मया कर्तव्या, अन्तिमातु अनेन, मध्यमास्तु कालादिभिः इति. उद्धवस्य च कामना "**स्वधाम नय मामपि**" (भाग.पुरा.११।६।४३) इति. तद् यदा यत्र तिष्ठति तत् स्वधाम. इदानीं बीजात्मके कारणरूपे विष्णौ स्वयं स्थितः. तञ्च कारणरूपे अमृत-दर्यात्मक-बदर्याम् आनन्दानुभवार्थं मोक्षैकसाधन-तपःसन्निधाने तिष्ठतु इति विचारितवान्।।३।।

तस्याऽपि पूर्वस्थितिविनाशएव भवतीति विनाशस्थाने प्रभासे समागच्छतु इति च इच्छां कृतवान्. अतो द्वितीयं बीजं निरूपयन् निश्चयरूपां बुद्धिम् एकोनविंशतिश्लोकैः आह. अष्टादशविद्यास्थानातिक्रमे हि बुद्धिः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वृक्षमूलोपवेशादिबोधितं तदाकारम् आहुः **विष्णोः** इत्यादि. **अतः** इति. वैष्णवद्वैविध्याद् अधिकारसृष्टिकारणभूतं बीजं वृक्षमूलोपवेशनक्रियारूपोपाय-चातुर्य्येण स्वजातेषु वैष्णवेषु स्थापयित्वा मोक्षकारणबीजं स्वस्वामिकेषु उपदेश-क्रियया स्थापयितुं तथा कृतवान् इति अर्थः. **नवसु** इत्यादि. एताः लीलास्तु बीज-रूपेण अनुभाव्यमानाः ज्ञेयाः. **तं च** इति. **चो** अप्यर्थे. एवं **कृतवान्** इत्यन्तेन विचाराकारः सङ्गृहीतः।।३।।

अहम् इत्यत्र. **अतो द्वितीयं बीजम्** इति. एवम् इच्छायाः आकाराद्

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

कारणरूपे इति. **तं च** इति. तम् उद्धवमपि मोक्षकारणभूतदर्यात्मकबदर्यां तिष्ठतु इति विचारितवान्।।३।।

तस्यापि इति. तस्य उद्धवस्यापि बदर्यां स्थितिः. पूर्वस्थितिनाशएव भवति इति प्रभासे समागच्छतु इति इच्छां कृतवान्. पूर्वं हि भगवतं परिच्छिन्नमेव पश्यति इदानीं तथावस्थायां विरहेण बदर्यां स्थितिः निर्व्यग्रतया न स्याद् इति सर्वत्र भगवद्दृष्टिः स्थापितवान् इति भावः. **द्वितीयं बीजम्** इति. मोक्षकारणीभूतं बीजम् इति अर्थः. सङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **अष्टादशे**ति. **द्वादशात्मा** इति. सूर्यात्मकः. **अनेनैव**

निश्चयम् अवलम्बते. तत्र सप्ताङ्गानि मीमांसया सहितानि, द्वादशात्मा स्वतन्त्रतया प्रकाशकत्वात्. अनेनैव पूर्वावस्था गच्छति इति ज्ञापितम्. मुक्तौतु कारणस्य अवक्तव्यत्वाद् इमामेव लीलाम् अन्यथा उक्तवान्. बीजात् फले विस्तारो भवति इति च. अतः प्रथमं भगवदुक्तम् आह **अहं चोक्तः** इति.

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्त्तिहरेण ह ।

बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं सञ्जिहीर्षुणा ।।४।।

स्वकीयाः अन्येऽपि प्रभासगमनार्थम् उक्ताः, **अहं च उक्तः बदरीं त्वं प्रयाहि** इति. 'च'कारात् प्रभासे गत्वा इति हृदयम्. **भगवता** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मोक्षकारणीभूतम् आज्ञैव कार्या इति निश्चयरूपं बीजम्. **द्वादशात्मा** इति. ''**सैषा त्रय्येव विद्या तपति, य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः**''(छान्दो.उप.१।६।६) इति श्रुत्युक्तः. **अनेनैव** इति. ''**नाऽनुध्यायाद् बहून् शब्दान्**''(बृहदा.उप.४।४।२१) इति श्रुतेः एवम् अपरविद्यास्थानातिक्रमेणैव. ननु यदि पूर्वावस्थात्यागे एतावदेव कारणं, तदा एकादशे स्कन्धे किमिति अन्यथा उक्तम् इत्यतः आहुः **मुक्तौ** इत्यादि. अवक्तव्यत्वाद् इति. अत्र उक्तत्वेन पुनः अवक्तव्यत्वात्. **अन्यथा** इति वैराग्येण गोविचरणपूर्वकम्. तथाच विस्तारार्थम् अन्यथा उक्तवान् इति अर्थः. **अरण्यात्मिका** इति. ''**अरश्च हवै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके**''(छान्दो.उप.८।५।३) इति श्रुतेः, ''**अरनामामृतम्भोधिः ण्यनामामृतसागरः**''( ) इति स्मृतेः च ब्रह्मलोकत्वेन तदात्मिका. **पदार्थाविस्मरणाद्** इति. 'बदरी'पदयौगिकार्थाविस्मरणं विधाय।।४।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

इति. द्वादशात्मत्वप्रकाशनेन उद्धवस्य परिच्छिन्नदर्शनावस्था गच्छति इति अर्थः. **मुक्तौतु** इति. एकादशस्कन्धे इति अर्थः. **कारणस्य** इति. तस्य स्कन्धस्य मुक्तिलीला-प्रतिपादकत्वेन सर्गकारणस्य अवक्तव्यत्वादिनामेव मोक्षकारणभूतामेव लीलां किञ्चित् प्रकारभेदेन उक्तवान् इति अर्थः. तत्र हि. **बीजात् फले** इति. अतएव एतत्स्कन्धस्य सकलबीजभूतसर्गप्रतिपादकत्व-सकलशास्त्रबीजरूपश्रीभागवतस्य बीजत्वेन उक्तेः **उक्तः** मुक्तिरूपफल-प्रतिपादक-स्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे विस्तारेण उपदिष्टः इति भावः।।४।।

कार्यसिद्ध्यावश्यकता तद्वाक्ये सूचिता. ननु किमिति एवम् उक्तवान्? इति आशङ्क्य आह **प्रपन्नार्तिहरेण** इति. प्रपन्नानम् **आर्तिं** सर्वक्लेशं सृष्टौ सर्वैश्वर्यदानेन दूरीकरिष्यामि इति तथा उक्तवान्. **ह** इति आश्चर्यं, विपरीतेन साधनेन साध्यम् इति. बदर्यपि अरण्यात्मिका फलार्थम् अमृतरूपा च. वस्य अमृतस्य दरी बदरी इति. **त्वं प्रयाहि** इति विशेषतया निर्दिष्टम्. प्रकर्षेण गमनं पदार्थाविस्मरणात्. अन्यत्तु, स्वकुलं स्वसमूहः. ते सृष्टावेव उपयुज्यन्ते, अतः स्वार्थं सम्यग् जिहिर्षुः अन्यथा अनन्तविधा सृष्टिः न स्यात्।।४।।

यद्यपि भगवता मुखतः एवम् उक्तम्, तथापि प्रभासे समागत्य गन्तव्यम् इति हृदयाभिप्रायः. अन्यथा पूर्वावस्थापरित्यागो न स्यात्. तद् आह **अथापि** इति.

अथापि तदभिप्रेतं जानन् अहम् अरिन्दम ।

पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ।।५।।

तदभिप्रेतं पूर्वोक्तम्. **जानन् अहम्** इति उपदेशज्ञानेन सर्वज्ञतायाः जातत्वात्. भगवत्कृपया तदपि ज्ञातम्, परं मयैव. **अरिन्दम** इति सम्बोधनम् अभिप्रायज्ञानार्थम्. राजनीतावपि प्रभोः अभिप्रेतमपि कर्तव्यं, न एतावता वाक्योल्लङ्घनम्. तथापि सह न गतं, प्रथमतयैव बदरिकाश्रमयात्रा कृता. गिरिदुर्गपर्यन्तं समागत्य पश्चात् प्रभासं गतः इति लक्ष्यते. अभिप्रायस्य सन्देहेऽपि पूर्वावस्थायाः विद्यमानत्वात् स्नेहादपि गतः इति आह पादयोः **विश्लेषणं** वियोगः, पूर्वास्थाया वा परित्यागः, तत्र अहम् **अक्षमः**।।५।।

अभिप्रेतो अर्थः तर्कितोऽपि प्रमितो जातः इति आह **अद्राक्षम्** इति.

अद्राक्षम् एकम् आसीनं विचिन्वन् दयितं पतिम् ।

श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतम् अकेतनम् ।।६।।

तदा भगवतः ऐश्वर्यस्य प्रादुर्भूतत्वात् षोडशाऽपि कलाः तदा भगवति दृष्टाः [क]सम्पूर्णो भवति. अतो अत्र भगवतः षोडशः विशेषणानि. एतान्येव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथापि इत्यत्र. **लक्ष्यते** इति. **पृष्ठतः** इति पदेन अजहत्स्वार्थया बोध्यते।।५।।

अद्राक्षम् इत्यत्र. **अभिप्रेतो अर्थः** इति. स्वकुलसंहाररूपः.

गुणोपसंहारे षोडशाधिकरण्या प्रतिपादितानि. एवं सर्वार्थस्य सर्वगुणविशिष्टस्य साक्षात्कारो जातइति **अद्राक्षम्** इति उक्तम्, ब्रह्मसाक्षात्कारादेव पूर्वास्था-परित्यागात्. तत्र प्रथमं भगवतः अयम् असाधारणो गुणः यत् सर्वप्रपञ्चातीतः सर्वम् उपसंहृत्य एको भवति, कारणरूपश्च भवति. किञ्च. भगवान् आसीनो भवति सर्वत्रैव, विशेषतो वैष्णवानां समीपे. अव्यग्रत्वाय च उक्तम्, कार्याभावात्. उपविष्टएव हि सृष्टिं करोति इति च ज्ञापितम्. अनेन लोकेषु अवयवोपसंहारश्च ज्ञापितः. भगवतोऽपि दर्शनं भगवदिच्छयैव जातम् इति आह **विचिन्वन्** इति. सर्वत्र सरस्वतीतीरे गरुडध्वजादिरथान्वेषणेन क्व अस्ति? इति विचारयन् यत्र उपविष्टः स्थितः तत्र दृष्टः इति अर्थः. अनेन विचारदशायां सर्वभूतस्थितम् एकमेव विचारयेत्. तदनन्तरं स प्रियत्वेन आत्मत्वेन पर्यवस्यति, ततोऽपि ब्रह्मवित्त्वे ब्रह्मात्मभावे जाते पतित्वेन पर्यवस्यति, अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमः पतिः इति. एवं चतूरूपं प्रमेये निरूपितं, साधन-फलभेदेन. प्रमाणे तस्य रूपत्रयम् आह, अर्थशब्दफलानां तत्र प्राधान्यात्. तत्र अर्थः **श्रीनिकेतः**.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गुणोपसंहारे इति. चतुर्लक्षण्याः तृतीयाध्यायस्य तृतीये पादे. **अनेन** इति. निर्व्यग्रतया आसीनत्वेन. मध्ये विचयनोक्तेः तात्पर्यम् आहुः **अनेन विचारे**त्यादि. गुणोपसंहारे पूर्वोक्ताएव गुणाः उपास्ये मननीये च रूपे उपसंहृताः इति यत्र एते उक्ताः तत्स्थानम् आहुः **एवं प्रमेये** इत्यादि. **प्रमेये** इति प्रमेयाविरोधप्रतिपादके द्वितीयाध्याये. तत्र आद्यपादद्वयेन साङ्ख्यादीनि मतानि अपाकृत्य तृतीयादिपादद्वये वियदादिसर्ववस्तुकारणत्वं प्रतिपादितम्. तत्रापि **''तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात् सः''**(ब्रह्मसू.२।३।१३) इति सूत्रे आकाशादिकं सृष्ट्वा तेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं स्वयं करोति इति प्रतिपादितम्. तेन एकत्वम् आसीनत्वं च स्फुटमेव सिद्धम्. तत्र ऐक्यविचार्यमाणं स्वजीवस्यापि तदात्मकत्वं बोधयत् तस्यैव निरुपाधिप्रियत्वे पर्यवस्यति. स्थितिस्तु विचार्यमाणात् तत्तद्वस्तुनियामकतां भगवति बोधयन्ती अक्षरादपि परत्वेन तावत्पर्यन्तस्य नियम्यतया अक्षरस्यापि भगवान् पतिः इत्यत्र पर्यवस्यति इति एवं चतूरूपं तत्र निरूपितम् इति अर्थः.

---

* मुद्रितपाठस्तु ''स पूर्णो भवति'' इति.

अनेन प्रपञ्चयज्ञसौभाग्यैः युक्तः इति उक्तः. **सरस्वत्यां कृतकेतम्** इति वेदैकसमधिगम्यता. **अकेतनम्** इति फलम्. सर्वाश्रयराहित्येन स्वरूपस्थित इति, स्वरूपे तादृशस्यैव उक्तत्वात्. श्रीवत्से लक्ष्मीश्च अत्र उपविष्टा दृष्टा. सरस्वतीतीरे च शुद्धे उपदेशनार्थं स्थितो दृष्टः. अनाश्रितत्वेन सर्वे हेतुवादाः विरोधाश्च परिहृताः, गृहरथासनाद्यभावश्च. एवम् एकेन प्रमाण-प्रमेयनिर्णयः. चतुर्मूर्तिः त्रिमूर्तिश्च उक्तः. **एकः** सङ्कर्षणः, **आसीनो** वासुदेवः, **दयितः** प्रद्युम्नः, **पतिः** अनिरूद्धः इति. **श्रीनिकेतो** विष्णुः, इतरौ ब्रह्म-शिवौ।।६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अग्रिमं रूपत्रयं प्रथमाध्याये निरूपितम् इति आहुः **साधने**त्यादि. तत्र हि जन्माद्यधिकरणे सृष्टि-स्थितिभङ्गकर्तृत्वं प्रतिपादितं, तच्च अवान्तरकार्ये ब्रह्मादि-रूपेषु नियतम् इति अण्डसम्बन्धिष्वपि सृष्ट्यादिषु तदेव त्रिरूपं करणतया सिध्यति इति साधनत्वेन तत् त्रयं प्रतिपादितं, तथाच समन्वयेक्षत्यानन्दमयाधिकरणेषु क्रमेण अर्थादीनां त्रयाणामेव हेतुतया प्राधान्यात् सच्चिदानन्दात्मकं रूपत्रयं फलत्वेन प्रतिपादितम् इति द्वेधा रूपत्रयं निरूपितम् इति अर्थः. तद् एतद् विभजन्ते. **तत्र** इत्यादि. **प्रपञ्चे**त्यादि. द्विविधप्रपञ्चकरणाद् विराजः सौभगभाजनत्वात् च तैः युक्तः. अनेन सत्फलत्वम् उक्तम्. द्वितीये शब्दफलत्वम्. तृतीये आनन्दफलत्वम्. तत्र हेतुम् आहुः **स्वरूपे** इत्यादि. भूमस्वरूपे स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इत्यनेन स्वप्रतिष्ठिताया(?)एव श्रवणाद् इति अर्थः. पुरःस्फूर्तिकम् अर्थम् आहुः **श्रीवत्से** इत्यादि. 'अकेतन'पदात् सिद्धम् अन्यमपि अर्थम् आहुः **अनाश्रितत्वेन** इत्यादि. **एकेन** इति. श्लोकेन. अत्र सर्वहेतुवादपरिहारः प्रमेयनिर्णयः. [१]प्रमाणाध्यायसमाप्तौ सर्वाधारत्वेन अनाश्रितत्वस्यैव सिद्धत्वाद् आधारराहित्यं प्रमाणनिर्णयो बोध्य. **इतरौ** इत्यादि. प्रवाहाद् वेदमार्गस्थितत्वाद् ब्रह्मा, अग्रहत्वाद् वैराग्याच्च शिवः इति अर्थः. गुणोपसंहारेतु सर्वविद्याविषयत्वेन एकत्वं, वेदैकसमधिगम्यत्वं च इति द्वयं सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे सिद्धम्. आसीनत्वं "**व्याप्तेश्च समञ्जसम्**"(ब्रह्मसू. ३।३।१०) इत्यत्र सर्वव्याप्तिबोधनेन. विशेषतो वैष्णवसमीपे स्थितिस्तु चतुर्थस्य प्रथमे "**आसीनः सम्भवाद्**"(ब्रह्मसू.४।१।७) इति सूत्रे. प्रियत्वं कार्याख्याना-धिकरणस्य द्वितीयवर्णके सम्यक् प्रतिपादितम्. पतित्वन्तु आत्मगृहीत्यधिकरणे.

एवं प्रमेय–प्रमाणे निरूप्य फलरूपं भगवन्तं पञ्चरूपम् आह

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।

दोर्भिश्चतुर्भिः विदितं पीतकौशाम्बरेण च ।।७।।

श्यामावदातम् इति. श्यामश्च असौ अवदातश्च इति. मध्यन्दिन–सवितृमण्डलमध्य–सदृशवद् भासते इति अर्थः. ''**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**'' (भग.गीता.८।९) इति श्रुतेः. अनेन सारूप्यरूपा मुक्तिरपि उक्ता भवति. **विरजं**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

*प्रियशिरस्त्वाधिकरणसिद्धस्य निरुपधिप्रियस्यैव आनन्दमयस्य सर्वनियामकत्व-बोधनात्. आनन्दमयाधिकरणविषयवाक्ये ''**ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा**''(तैत्ति.उप.२।५) इति. ब्रह्मणः पुच्छत्वश्रावणेन नियम्यत्वसिद्ध्या पुरुषोत्तमे तन्नियामकत्वम् अर्थबलादेव सिद्ध्यति. ततएव अकेतनत्वमपि, श्रीनिकेतत्वं पुरुषविद्याधिकरणे पुरुषसूक्ते ''**स भूमिं विश्वतो वृत्वा**''(शु.यजुर्वेद ३।१।१) इत्यनेन प्रपञ्चसाहित्यस्य ''**तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्**''(शु.यजुर्वेद ३१।९) इत्यनेन यज्ञसाहित्यस्य, ''**तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्**'' इति पुरुषसूक्तव्याख्याने स्मृत्या श्रीसाहित्यस्य सिद्धत्वाद् इति।।६।।

श्यामावदातम् इत्यत्र. श्यामत्वेन अप्रकाशत्वे प्राप्ते तद्वारणाय 'अवदात'-पदम् इति आशयेन आहुः **मध्यन्दिने**त्यादि. ''**तन् मध्ये यत् कृष्णं तद् अन्नस्य**'' (छान्दो.उप.६।५) इति श्रुतेः, पार्थिवं यत्कृष्णं तत्सदृशं यद्धिरण्यमयपुरुषस्य भास्वरं श्यामरूपं तद्वद् इति अर्थः. ननु तादृशभास्वररूपे किं मानम् अतः **आदित्ये**त्यादि. अत्र आदित्यतुल्यवर्णत्वस्य ब्रह्मणि बोधनाद् आदित्यान्तःस्थितेऽपि तद्वर्णता अस्ति इति तथा इति अर्थः. सदृशपदाभावेतु प्राञ्जलमेव तत्. एतेन सिद्धम् अन्यमपि आहुः **अनेन** इत्यादि. भगवति तत्सारूप्यकथने[१] न तस्मिन्नपि भगवद्धर्मस्यैव संक्रान्तत्वात् सापि भगवदात्मिका उक्ता भवति इति अर्थः. विरजत्वेन सिद्धं फलरूपत्वम् आहुः **व्यापी**त्यादि. ''**क्षयन्तमस्य रजसः पराके**''(   ) इति

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

श्याम इत्यत्र. **पञ्चरूपम्** इति. सालोक्यादिमुक्तिपञ्चकम्. **उत्पादकम्** इति.

---

* इत पूर्वं प्रियशिरस्त्वाधिकरणे. इत्यपि लभ्यते. १.तत्साररूप्यके धनेनेत्येव. पुस्तकेषूपलभ्यते.

निर्मलं, व्यापिवैकण्ठे रजोऽभावः. अनेन सालोक्यमपि उक्तम्, उत्पादक-संस्कृत-भूताभावश्च. तेन सालोक्येऽपि पुनरूत्पत्तिः निवारिता. मुक्त्युपदेष्टारम् एनं प्रति तथाविधम् आत्मानं प्रदर्शयति फलत्वाय. अनेन षोडशकलो अयं मनोमयो वेदात्मा सूचितः. **प्रशान्तारुणलोचनम्** इति. प्रकर्षेण शान्ते अरुणे लोचने यस्य. ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ती लोचने यस्य इति उक्तम्. प्रकर्षः साधनसाहित्यम्. अनेन सार्ष्टिः उक्ता, समानैश्वर्यम्. इदमेव हि सामीप्यं, ज्ञानक्रिया-शक्तिमत्त्वस्यैव तथात्वात्. अनेन वेदार्थो अपि एतावानेव अत्र प्रसिद्धः इति सूचितम्. **दोर्भिः चतुर्भिः विदितम्** इति. विदितं ज्ञातम्. अनेन सायुज्यम् उक्तम्. उभयोः बाहुचतुष्टयं ज्ञापितमिव. अत्र यत् पदत्रयम् क्रियया,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रुतेः इति अर्थः. **उत्पादके**त्यादि. **उत्पादकं** रजः तज्जन्यं कर्म च अदृष्टरूपं तत् संस्कृतभूताभावः. सच रजस्तमोराहित्यबोधनेनैव उक्तः इति अर्थः. एवं सर्वधर्मप्रत्यायनप्रयोजनम् आहुः **मुक्ती**त्यादि. **अनेन** इति. उपदेशार्थं तादृग्रूपप्रदर्शनेन. **प्रकर्षः साधनसाहित्यम्** इति. 'लोचन'पदेन विचारक्रियायाअपि लाभाद् अत्र शक्तिद्वयमपि बोध्यते. तत्र ज्ञानशक्तौ शान्तिप्रकर्षः, क्रियाशक्तौ आरुण्यं साधनसाहित्यम् इति अर्थः. एतेन सिद्धं फलरूपम् आहुः **अनेन सार्ष्टिः** इत्यादि. **अनेन** इति प्रकर्षबोधनेन. प्रकर्ष-मात्रस्यैव तुल्यैश्वर्यत्वप्रयोजकत्वात्. अन्यथा "**न तत्समश्च**"(श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतिविरोधापत्तिः इति भावः. **इदम्** इत्यस्यैव विरणं **ज्ञाने**त्यादि. **एतावान्** इति. प्रकृष्टज्ञानक्रियाशक्तिमान्. ननु ततो अधिको रसात्मा तस्य अत्र अप्राकट्याद् इति. **अनेन** इत्यादि. ज्ञातत्वकथनेन. "**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**"(मुण्डकोप.३।२।९) इत्यत्र उक्तं तद् उक्तम् इति अर्थः. तर्हि पदान्तरस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **उभयोः** इत्यादि. **उभयोः** इति वामदक्षिणभागयोः. **ज्ञापितम्** इति भावे क्तः. ज्ञापनमिव इति अर्थः. कथं

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

उत्पादकपददृष्टं(?) तेन संस्कृतानि देहोत्पादनसमर्थानि यानि भूतानि तेषाम् अभावश्च वैकुण्ठे उक्तः इति अर्थः. **षोडशकलः** इति. **उभयोः** इति. ज्ञानि-भक्तयोः सायुज्यार्थं चतुष्टयं ज्ञापितमेव इति अर्थः. **पदत्रयम्** इति. दोर्भिः चतुर्भिः इति.

भक्त्या, ज्ञानेन च सायुज्यं भवति इति ज्ञापयितुम्. **दोर्भिः** क्रियाभिः, **चतुर्भिः** पादसेवनादिभिः. विशेषण दितं यस्मात् इति सर्वाज्ञाननिवर्तकं ज्ञानं कालनिवर्तकं वा, अन्यथा चतुर्भुजम् इत्येव उक्तं स्यात्, प्रकटचतुर्भुजार्थं वा. **पीतकौशाम्बरेण च** इति. पीतं कौशं कौशेयं यद् अम्बरम्, तेन च विदितम्. अनेन ब्रह्मभावेऽपि ज्ञानम् अङ्गम् इति तदेव विशेषणम् आह **पीतम्** इति, अहन्ता–ममताभावः. **कौशम्** इति कुशसम्बन्धिनो यमनियमादयः. **अम्बरम्** इति अवस्थात्रय–परित्यागेन निर्लेपता. एतानि ब्रह्मभावे ज्ञानसाधनानि. ''**वैराग्यं च तपश्चैव समाधिरिति साधनम्**'' एकमेव एतत्, न प्रत्येकपर्यवसायि. 'च'कारो अनुक्तसर्व–

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तज्ज्ञापनात्मकम् इत्यतः आहुः **अत्र** इत्यादि. **पदत्रयम्** इति. असमस्तं पदत्रयं विदितं यस्माद् इति समासम् अभिप्रेत्य आहुः **काले**त्यादि. तथाच ज्ञानविषये रूढं 'विदित'पदम् उक्तयोगद्वयोपकृतं सदेव तावन्तम् अर्थं बोधितवद् इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अहन्ताममताभावः** इति. ''**वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः, आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा**''(पाणि.सू.२।४।२८श्लोक) इति अनुशासनात् 'पीत'पदम् अपीतार्थकं सद् अहन्ताद्यभावं बोधयति इति तथा. **अवस्थात्रयं** जाग्रदादिरूपं बोध्यम्. ऐकपद्यसूचितम् अर्थम् आहुः **एकम्** इत्यादि. एतत् त्रयं समुचितमेव साधनम् इति अर्थः. फलाध्यायेतु ब्राह्मणेत्यधिकरणे द्वादशाहसूत्रे सारूप्यदेहेन्द्रियासुहीनानामेव साकारत्वेन सारूप्यात् सिद्ध्यति. भोगसाधनेनैव सामीप्य-सार्ष्टि-सालोकान्यपि सिद्ध्यन्ति. सायुज्यन्तु अनावृत्तिसूत्रे ''**अनावृत्तिः शब्दाद्**''(ब्रह्मसू.४।४।२२) इत्यस्य पुनः कथनेन मुख्याधिकार-रहितानां साधितम्. गुणोपसंहारेतु रजस्तमोराहित्येन प्रकाशकत्वं पुरुषविद्याधिकरणएव सिद्ध्यति. ''**आदित्यवर्णम्**''

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

व्यक्तम् इति अर्थः. **ज्ञानेन च** इति. विदितपदसूचितार्थो अयम्. विशेषेण दितम् इति विशेषेण खण्डितम् अतः न अन्यथा ज्ञानादि यस्मात् तादृशं ज्ञानम् इति अर्थः. विपदस्य कालवाचकत्वम् अभिप्रेत्य आहुः **काले**ति. चतुर्भुजपदस्य पुरुषार्थरूपा यत्र इति अर्थः. **अहन्ता** इति. तथाच पूर्वमहतादिनाशो यमादयश्च अङ्गत्वेन अपेक्षिता इति भावः. **अवस्थात्रये**ति. जाग्रदाद्यवस्था सात्त्विकादयो वा।।७।।

फलसमुच्चयार्थः. सर्वफलरूपो भगवान् इति अर्थः।।७।।

एवं फलरूपं निरूप्य साधनरूपं चतूरूपं निरूपयति **वाम ऊरौ** इति.

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रि–सरारुहम् ।

अपाश्रितार्भकाश्वत्थम् अकृशं त्यक्तपिप्पलम् ।।८।।

वामे **ऊरौ दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् अधिश्रित्य** स्थितम्. दक्षिणम् अङ्घ्रिसरोरुहं यस्य इति वा. भक्तिः अनेन साधनत्वेन उक्ता. वामा मनोहरा ये भगवत्प्रतिच्छायरूपाः तेषु भगवद्भक्तिमार्गः कमलवत् सुन्दरः सर्वाप्यायकश्च स्थापितः. सरोरुहत्वेन प्रेम्णैव तदुद्गच्छति इति सूचितम्. 'दक्षिण'पेदन भक्तिमार्गे त्रीणि विशेषणानि इति सूचितम्. चातुर्यं, दक्षिणो देशः, पाषण्डाभावएव च. भक्ते च ऊरुपदं सकुटुम्बस्य भक्तिपरत्वाय, स्त्रीपुत्रादिस्थानेऽपि भक्तिरेव इति वा. अधिश्रयणं पाकार्थे यथा सर्वोपयोगि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

(भग.गीता८।९) इति श्रुतेः तद्विषयवाक्ये सत्वात्. रजोराहित्येन निर्दोषत्वं वेधाद्यधिकरणे. तत्र विभूतिरूपस्य मुख्यप्राणस्य निर्दुष्टतास्थापनेन कैमुतिकेनैव भगवतो दोषराहित्यस्य सिद्धत्वात्. प्रकृष्टज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वं सम्भृत्यधिकरणे. तद्विषयवाक्ये अन्यस्य ब्रह्मणा स्पर्द्धितुम् असामर्थ्यस्य प्रतिपादनात्. तस्य च क्रिययेव ज्ञानेनापि तुल्यत्वात्. सारूप्यादिप्रदत्वं च हानौ तूपायनेत्यधिकरणे. तत्र [२]ब्रह्मप्राप्त्यर्थं तरं(?) कैः धर्मैः साम्यम् इति विचारे सारूप्यादिचतुर्दातृत्वस्य अर्थबलादेव सिद्धेः. भक्त्यादिभिः सायुज्यदातृत्वं गतेः इति अर्थवत्वम् इत्यधिकरणे. तत्र मर्यादा-पुष्टिभेदेन अङ्गीकारस्य तत्तत्फलहेतुत्वबोधनेन, मर्यादामार्गीयाङ्गीकारे यथाधिकारं विहितभक्त्यादिसाधननिवेशाद् इति. एतेनैव ब्रह्मभावप्रदत्वं तत्साधनसमुपनिवेशः च सिद्ध्यति इति बोध्यम्।।७।।

वाम ऊरौ इत्यत्र. अधिश्रित्य इत्यस्य ल्यबन्तत्वाङ्गीकारे अध्याहारापत्तिः इति तन्निवृत्यर्थं पक्षान्तरम् आहुः **दक्षिणम्** इत्यादि. तथाच 'अधिश्रित्य'पदं क्यबन्तं तेन न अध्याहारः इति अर्थः. **अनेन** इति वामोरौ दक्षिणचरणस्थापनकथनेन. तद्व्याकुर्वन्ति **वामाः** इत्यादि. अत्र अङ्घ्रेः गतिसाधनत्वेन मार्गत्वं, जले स्नेहाख्य-

---

२.ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरमिति स्यात्.

भवति. वैष्णवैः संस्कृतो भक्तिमार्गः साधनम् इति. एवं भक्तिं साधनत्वेन निरूप्य, कर्माणि साधनत्वेन निरूपयति **अपाश्रितार्भकाश्वत्थम्** इति. अपाश्रितः आश्रितो अर्भकाश्वत्थो येन. आश्रितः पश्चाद् इति वा. अर्भाणां कं सुखं यस्मात्, बालकसुखदायी. अर्भकरूपः कोमलो अश्वत्थो वा. तस्यैव अरणी भवतः. कर्माणि सर्वाणि तत्साधनान्येव. 'अपाश्रय'पदेन च साधनत्वेनैव कर्मणाम् अपेक्षा, नतु तद्गतं फलमपि अपेक्षत[क] इति सूचितम्. अपाश्रिताः अर्भकाः यस्मिन् इति बालाधिकारः कर्मणि सूचितः. अकृशम् इति ज्ञानं पूर्णत्वाद्, अन्येषां परिच्छेदरूपत्वात्. अनेन पूर्णमेव ज्ञानं साधनम् इति, नतु खण्डब्रह्मज्ञानानि शारीरकादीनि. सर्वेषां भक्तानाम् उपसंहृतत्वाद् दौर्बल्यम् आशङ्क्य निराकृतं, भक्तानां तत्रैव प्रवेशात्. अनेन अन्येऽपि दैहिकाः धर्माः निवारिताः. उत्पत्तिकार्यतपस्यादीनि[ख] च अक्षरसाम्याद् निवारितानि. ''**अस भुवि**'' (धातुपा. अदादि.६४) ''**डुकृञ् करणे**''(धातुपा.तनादि.१७९) ''**शम उपशमे**''

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गुणसत्त्वेन 'सरोरुह'पदं प्रेमजन्यश्रवणादिपरं बोध्यम्. **आश्रितः** इति छायार्थम् आश्रितः. द्वितीयो अर्थः श्रीधरव्याख्यातः सङ्गृहीतः. एतेन कथं कर्मबोधः इति आकाङ्क्षायां व्याकुर्वन्ति **अर्भाणाम्** इत्यादि. तथाच बालसुखदायकत्वेन अरणिजन्यत्वेन च अत्र कर्मबोधः इति अर्थः. **सूचितम्** इति, अपोपसर्गस्य वर्जनेऽपि शक्तत्वाद् वर्जितत्वेन आश्रितः इति अर्थस्य द्योतनेन तादृशकर्मणो अनभिप्रेतत्वं सूचितम् इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे वृत्तेरपि पारोक्ष्याद् व्याख्यानान्तरम् आहुः **अपाश्रिताः** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे अपाश्रितार्भकम् अश्वत्थे यस्य इति गड्वादिसमासो बोधितः. **परिच्छेदरूपत्वाद्** इति. तत्परिच्छेदेन रूप्यन्ते इति रूपाणि, भक्त्युपासनाभेदानां तथात्वाद् इति अर्थः. पुरःस्फूर्तिकम् अर्थम् आहुः **सर्वेषाम्** इत्यादि. **तपस्यादीनि** इति. तपसः इदं तपस्यं, यत्प्रत्ययः तद्धितो अत्र. शब्दविशेषसूचितम् अर्थान्तरम् आहुः **असित्यादि**. ''**रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीं स्थितः, स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः**''(रामपूर्वतापिन्युप.१।२) इति रामतापनीयमन्त्रे. आद्याक्षरमात्रेण धात्वर्थग्रहणदर्शनाद् अत्रापि तथा अर्थोक्तौ न

क. 'अपेक्ष्यते' इति मां२ पाठः. ख. 'तपस्यानि च' इति जु,मां१,मां२,मां३ पाठः.

(धातुपा.दिवादि.१२०१) इति धात्वादयो गृहीताः. प्रपञ्चकर्मज्ञानिना वा ज्ञानसाधनानि; ततः ससाधनं ज्ञानम् उक्तं भवति. **त्यक्तपिप्पलम्** इति. त्यक्तं पिप्पलं कर्मफलं येन. वैराग्यम् एतत्. पिप्पान् लाति इति पिप्पलम्. पिपः पान्ति इति पिप्पाः. पिबति इति पिः, कालः, अविशेषेण सर्वभक्षकत्वात्. तद्रक्षकाणि कर्माणि, कालविशेषएव विहितत्वात्. कर्माणि च फलमेव आदत्ते, फलकामनयैव कर्मकरणात्. तत्र एकवचनं सर्वं त्याज्यत्वेन एकरूपम् इति. अनेन वैराग्ये लौकिकानि, दैहिकानि भक्तिमार्गस्थानि वा विरक्तस्य न निषिद्धानि, नवा नित्यानि, फलेन तेषामपि अनाकर्षात्. नैमित्तिकानि च अदूर्धनिषिद्धानि, कालपोषकत्वात्. अग्निहोत्रादीन्यपि नियतकालकर्तव्यानि नैमित्तिकान्येव. सर्वदा कर्तुं शक्यान्येव नित्यानि. योगेन आत्मदर्शनम्, दानादि परार्थक्रिया, भगवद्भजनम् इत्यादि, एतेषां न कालपरिपालकत्वम्. अतो वैराग्ये नित्यानि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दोषः इति अर्थः. **कर्मफलम्** इत्यत्र कर्म इति भिन्नं पदम्. अत्र कर्मत्यागो न सुबोधः. इति तदर्थं योगम् आहुः **पिप्पलान्** इत्यादि(?) अत्र पिप्पलं पिःपलम् इति द्विधा प्रयोगो दृश्यते. तत्र पकारद्वयपक्षे पिप् कालः. विसर्गपक्षे पिः कालः. तत्र एकस्मिन् पक्षे पिपः पान्ति इति. अन्यस्मिन् पीन् पान्ति इति तत्र सकारागमः च बोध्यः. पक्षद्वयसङ्ग्रहाय आहुः **अविशेषेण** इति. अर्थस्य तौल्येन. तमेव अर्थम् आहुः **सर्वभक्षकत्वाद्** इति. अत्र पिप्पानि च लानि च इति पिप्पलम्, एकवद्भावो विग्रहे बोध्यः. एकवचनविग्रहपक्षेऽपि अयमेव अर्थः. एवम् अर्थस्य अग्रे स्फुटत्वाद् अत्र पाठोऽपि एतदनुसारेण बोद्धव्यः. एतद्विशेषसूचितम् अर्थम् आहुः **अनेन वैराग्ये** इत्यादि. **दैहिकानि** प्राणधारणोपयोगीनि भिक्षाटनादीनि. नित्यानां विवक्षितं स्वरूपम् आहुः **सर्वदा** इत्यादि. स्फुटम् अग्रिमम्. साधनाध्यायेतु वैराग्यं प्रथमपादार्थः. ज्ञानं द्वितीयस्य. कर्म तुरीयस्य. भक्तिः तृतीयस्य. तत्र सर्वात्मभावस्यैव मुख्यतया निर्धारितत्वाद् इति. गुणोपसंहारेतु भक्तिरूपत्वं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे तत्र भक्तिमार्गीयस्य सर्वात्मभावस्य भगवद्रूपत्वनिर्धारणाद् इति तत्प्राप्यत्वं स्फुटमेव.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

अकृशम् इत्यत्र. **एकवचनम्** इति. त्यक्तं ''पिप्पालालाति'' इत्यत्र एकवचनम् इति अर्थः.

कर्तव्यान्येव, नैमित्तकानि विकल्पन्ते; काम्यानितु त्यक्तव्यान्येव इति सूचितम्. गीतायां यद् भगद्वचनम् "**यज्ञदानतप...**" (भग.गीता.१८।५) इति. तत्रापि यज्ञाः नित्याः, जरामर्यादयो वा. दानमपि ज्ञानोपदेशादयः सर्वदा दातुं शक्याः, अक्षयत्वात्. तपोऽपि नित्यमेव यत् सम्भवति, ऊद्र्ध्वरेतआदिरूपम्, नतु कृच्छ्रादि, तेषां सर्वदा कर्तुम् अशक्यत्वात्. एवं षोडशकलं भगवन्तं दृष्टवान्.

प्रमेये साधने चैव चतुर्मूर्तिः फले पुनः।
पञ्चात्मकस्त्रिमूर्तिस्तु प्रमाण इति निश्चयः॥ ॥८॥

यदैव मया भगवान् दृष्टः तदैव मैत्रेयोऽपि समागतः, विदुरोद्धारार्थं तदानयनात्. अतएव मुख्यं भागवतं मैत्रेयोक्तमपि भवति, ब्रह्मसमानत्वात्, साक्षाद् भगवता त्रयाणां स्थाने निरूपितत्वात्. अतः शुकोक्तत्वमपि पृष्ठतः कृत्वा [१]मैत्रेयोक्तत्वमेव उक्तम्. एकान्तरितत्वाद् लीलाद्वयेन कृतार्थता विदुरस्य,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञानरूपत्वन्तु अक्षरधियाम् इत्यधिकरणे. अक्षरस्य ज्ञानप्रधानत्वाद् इति ज्ञानप्राप्यत्वं स्फुटमेव. स्वानभिप्रेतकाम्यकर्मफलदातृत्वन्तु नानाशब्दादिभेदाद् इत्याद्यधिकरणत्रये स्फुटम्. वैराग्यन्तु तादृशकर्मणां तत्फलस्य च अनभिप्रेतत्वात् तेष्वेव सिद्धम्. "**न वा तत्सहभावाश्रुतेः**"(ब्रह्मसू.३।३।६७) इत्यधिकरणे. सर्वरूपत्वं समहाराधिकरणे. एवं षोडशाधिकरण्येमानि विशेषणानि बोधितानि इति प्रतिभाति।।८।।

तस्मिन् इत्यत्र. **ब्रह्मसमानत्वाद्** इति. ब्रह्मणे यथा आश्रयलीला उपदिष्टा तथा उद्धवाय इदानीम् उपदेष्टव्या इति तच्छ्रवणाधिकारित्वेन तथात्वात्. **उक्तम्** इति. व्यासपादैः अत्र उपनिबद्धम्।।९।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

षोडशविशेषणानाम् अर्थं कारिकया सङ्गृह्यते **प्रमेय** इति. **चतुर्मूर्तिः** इति. तथाच अष्टौ विशेषणानि प्रमेय-साधनयोः इति भावः.

ब्रह्मसमानत्वमेव प्रपञ्चयन्ति **साक्षाद्** इति. **त्रयाणाम्** इति ब्रह्मोद्धव-मैत्रेयाणाम्. **अतः शुकोक्तत्वम्** इति. मुख्यत्वाद् इति अर्थः. **उक्तम्** इति. "**यदाह भगवान् क्षत्ता**"(भाग.पुरा.२।१०।४८) इत्यादिना द्वितीयस्कन्धान्ते शौनकेन उक्तम् इति अर्थः. मुख्यत्वमेव प्रदर्शयन्ति एकान्तरितत्वाद् इति भावः. भगवता मैत्रयस्थां

---

१. 'मैत्रेयोक्तमेव' इति जु,मां१,मां२,मां३. पाठः.

एवम् उद्धवोक्तेऽपि भवष्यिति कल्पान्तरे. ब्रह्मोद्धव–मैत्रेयाणां सूक्ष्मलीला–मात्रश्रवणेनैव कृतार्थता. सा च लीला आश्रयरूपा ''**परमां स्थितिम्**'' (भाग.पुरा. ११।२९।४४) इति वचनात्. तस्यापि आगमनं भगवदिच्छया. पूर्वमपि स वेदव्यासतुल्यः, शुकतुल्योऽपि, नारदतुल्योऽपि. अतो ब्रह्मपरम्परायां यावन्तः ते सर्वे, मैत्रेयः एकएव इति न परम्पराद्वयस्य अल्पमपि वैलक्षण्यम् इति. तादृशरूपो मैत्रेयः समागतः इति आह **तस्मिन् महाभागवतः** इति.

तस्मिन् महाभागवतो द्वैपायनसुहृत् सखा ।

लोकाननुचरन् सिद्धः आससाद यदृच्छया।।९।।

तस्मिन् देशे काले च[२]. भगवद्भक्तानामपि कृतार्थकरणसामर्थ्याद् महाभागवतत्वम्. **द्वैपायन** इति तदर्थमेव पुष्ट्या भगवदवतारः, तथा अयमपि इति ज्ञातव्यम्. तस्य सुहृत्, तस्यापि हितकारी सखा च, पराशरशिष्यत्वात्. अनेन पुराणमेव व्यासवत् परम्परया पराशराद् अवगतम्, नतु भागवतम् इति सूचितम्. व्यासोऽपि नारदादेव भागवतं ज्ञातवान्. अनेन मैत्रेयस्याऽपि भगवदाज्ञया पुराणकथनं न व्यासस्य अधिकारिणो विरोधहेतुः, तत्पुत्रोपदेशाच्च. एतदर्थं मित्रत्वम् उक्तम्. **लोकाननुचरन्** इति शुकवत् स **सिद्धः** उक्तः. शुकोहि आचरन्नेव सिद्धो जातः. **आससाद यदृच्छया** इति नारदतुल्यता निरूपिता, स हि यादृच्छिकः।।९।।

एवं भगवान् सर्वसंविधानं विधाय पूर्वावस्थां त्याजयितुं स्वस्य कृपाम् असाधारणं कारणं स्वयमेव सम्पादितवान् इति आह **तस्य अनुरक्तस्य** इति.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तस्यापि इति. मैत्रेयस्य इति अर्थः. **परम्पराद्वयस्य** इति. ब्रह्मपरम्परया उक्तेः मैत्रेयोक्तेः च इति अर्थः.

तस्मिन् इत्यत्र. **तदर्थमेव** इति. भक्तं कृतार्थकरणार्थम्एव इति अर्थः. **पुष्ट्या** इति. यमुनान्तरजले तथैव जातत्वाद् इति भावः. **अधिकारिणः** इति. पुराणाचार्यस्य इति अर्थः. **तत्पुत्रे**ति. व्यासपुत्रविदुरोपदेशाद् इति अर्थः. एतावता वेदव्यासतुल्यता उक्ता. **स हि यादृच्छिकः** इति. ''**ययौ यादृच्छिकौ मुनिः**'' (भाग.पुरा.१।३।३८) इत्यादि इति भावः।।९।।

---

२. वा. ग.

तस्याऽनुरक्तस्य मुनेर् मुकुन्दः प्रकृष्टमोदानतकन्धरस्य ।
आश्रृण्वतो माम् अनुरागहास–समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ।।१०।।

ननु, **गोप्या दयोपदेशश्च उपदेशो न हि द्वयोः,**
भिन्नप्रकारयोर् जात्या स्वरूपेण गुणेन च।।१।।

इति आशङ्क्य आह **अनुरक्तस्य** इति. अनुरक्तस्य प्रसिद्धस्य मैत्रेयस्य आश्रृण्वतो माम् आह इति सम्बन्धः. अन्यत्र कथनाभावाय **मुनेः** इति. कृपाकथने हेतुः **मुकुन्दः** इति. स हि मोक्षदाता सर्वेषाम्. यथा जगत्कर्ता अतः तथा उक्तवान्. तर्हि उभयोः प्रधानत्वं [क]कथं न उच्यते? तत्र आह **प्रकृष्टमोदानत–कन्धरस्य** इति. प्रकृष्टो यो मोदः तेन आनता कन्धरा यस्य. स हि प्रेमभरेण गृहीतो ज्ञानाधारम् अधः कृत्वा, प्रेमाश्रु मुञ्चन्, चरणमेव पश्यन् स्थितः. अतः साक्षाद् उपदेशानधिकारी, भक्त्या च कृतार्थः. अतः तस्य शृण्वतएव सतो माम् उद्दिश्यैव आह. स्वस्थे हि चित्ते उपदेशो घटते. स्वास्थ्यं च देशकालवैपरीत्यदर्शनात्, श्रमादिना च न सम्भाव्यते. अत आह **अनुरागहास–समीक्षया** इति. अनुरागाद् भयनिवृत्तिः, नहि अनुरक्तो भगवान् मारयति. हासेन च मोहः. भगवता पूर्णं कृतं पश्यन्नपि न अनुसन्धत्ते. सम्यग् ईक्षा समीक्षणं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य इत्यत्र. **नहि** इत्यत्र हिः हेतौ न उचितः इति अर्थः।।१०।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तस्य इत्यत्र. आशङ्कां कारिकया अवतारयन्ति **ननु गोप्यादये**ति. उद्धवे या विशेषतो भगवद्दया सा गोप्या उपदेशश्च गोप्यो तौ द्वयोः उद्धव-मैत्रेययोः न उपपदेशः किन्तु उद्धवस्यैव इति अर्थः. उभयोः तारतम्यप्रयोजकधर्मान् आहुः **भिन्ने**ति. जात्यादिना भिन्नप्रकारं प्राप्तयोः इति अर्थः(१).

इति आशङ्क्य इति. पूर्वोक्ता शङ्कायाः **आश्रुणवतः** इति एतैव तत्समाधानम् आह इति अर्थः. **कृपाकथने** इति. कृपापूर्वककथने मुकुन्दत्वं हेतुः इति अर्थः. **ज्ञानाधारम्** इति. उत्तमाङ्गम् इति अर्थः. साक्षाद् अनुपदेशे किञ्चिद् आशङ्कते **स्वस्थे हि** इत्यादि. **अतः आह** इति. इति आशङ्कायां कालादीनाम् अबाधकत्वम् आह इति अर्थः. **पूर्णं कृतं** इति. मोहम् इति अर्थः।।१०।।

क. 'कुतो' इति जु,मां१,मां२,मां३ पाठः.

दयासहितं, तेन दशेकालभयानि सर्वाण्यपि निवृत्तानि. विशिष्टेन श्रमाभावः. अनुरागपूर्वको यो हासः तत्सहिता समीक्षा इति।।१०।।

पूर्वम् "**अतिव्रज्य गतीः तिस्रो माम् उपैष्यसि केवलम्**" (भाग.पुरा.११।२९।४४) इति भगवता प्रोक्तम्. तद् उद्धवस्य सर्वथा हितमिव भवति. सहि भगवन्तमेव प्राप्तुम् ईष्टे, निरन्तरं च निकटे स्थातुम्. साधनानि च न कर्तुं वाञ्छति. तादृशस्य बदरिकाश्रमप्रेषणं न अत्यन्तम् अभीष्टमिति तदिच्छाम् अनुवदन् देयान्तरम् आह. अस्मिन् दत्ते तदेतच्च अन्यार्थं भविष्यति. अहमिव तथा करिष्यति इति अभिप्रायेणा आह **वेद अहम्** इति.

श्रीभगवानुवाच

वेदाऽहम् अन्तर्मनसीप्सितं ते ददामि यत्तद् दुरवापम् अन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ।।११।।

ते यदन्तर्मनसि ईप्सितं तद् अहं वेद. इदं वाक्यम् अनुवादकम्. तत् फलं दास्यमि इत्येतदर्थम्. एवम् उक्ते प्रथमतएव आश्वासो भवति. अन्यथा काकतालीयशङ्का स्यात्, अन्यथाभिप्रायशङ्का च. ननु तद् भगवदात्मकं लोकवेदतो अदेयं कथं दास्यति? इत्यतः आह **ददामि यत्तद्** इति. यत् त्वया मनसि कृतं तदेव दास्यम् इति अर्थः. तस्याः असाधारणत्वम् आह **दुरवापम् अन्यैः** इति. त्वद्व्यतिरिक्तैः सर्वैरेव दुरवापम्. तां कामनां विस्मृतामिव स्मारयति **सत्रे पुरा** इति. "**विश्वसृजः प्रथमाः सत्रम् आसत**" (तैत्ति.ब्राह्म.३।१२।९।७) इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वेदेत्यत्र. **तद् एतच्च** इति. साधनकरणं, बदरिकाश्रमप्रेषणं च. अन्यार्थभवने प्रकारम् आहुः **अहमिव** इत्यादि.

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

तत्र **अस्मिन्** इति. अभिलषिते दत्ते सति इति अर्थः. अन्यार्थम् इति. तथाच. न एतावता उद्धवान् अभिप्रेतम् इदम्. अग्रे तदभिप्रेतस्यापि तदित्सितत्वाद् इति. तथाच बद्रि(दरि?)काश्रमप्रेरणादिकं प्रासङ्गिकम् इति भावः. **तदेतच्च** इति. साधनकरणं बदरिकाश्रमप्रेषणञ्च इति. **अन्यार्थम्** इति. जगदुद्धारार्थम् इति अर्थः. तद् एतद् आहुः **अहमिव** इति. हिरण्यमयशकुनीति।।११।।

कर्माणि इत्यत्र. **स्वतः एकः उत्पद्यते** इति. बुद्धिदोषाद् इति अर्थः. सच अत्र

श्रुतौ सहस्रसमयागे विश्वसृजां मध्ये वसवोऽपि स्थिताः, तन्मध्ये त्वम् एको मत्सिद्धिकामः, न हि सर्वे. "**एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वम् असृजन्त**" (तैत्ति. ब्राह्म.३।१२।७?/९।८) इति श्रुतेः, "**ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्ति**" (तत्रैव) इति श्रुतेश्च विश्वसामर्थ्यम्. ततो विश्वं सृष्ट्वा ब्रह्मसायुज्यं प्राप्नुवन्ति इति सर्वेषां फलम्. अधिकारीविशेषप्रयुक्तं विश्वकरणसामर्थ्यं यागस्य. स्वतः सामर्थ्यं हिरण्मय-शकुनिरूप-ब्रह्मोत्पत्तिः. तदा ते विश्वं सृष्ट्वाा ब्रह्मसायुज्यं प्राप्ताः. भवांस्तु तदुभयं न काङ्क्षितवान्, किन्तु सङ्गानुरोधेन यागे प्रवृत्तो मत्सिद्धिमेव काङ्क्षितवान्. मम सिद्धिः मद्भावः "पुरुषोत्तमो मम भवतु, अहं वा भवामि" इति; तच्च सर्वथा दुर्ल्लभं यागात्. अतो यागः कामितत्वाभावाद् न नियतं फलं दत्तवान्. एतच्च दातुम् असमर्थः त्वाम् एवंरूपम् उत्पाद्य मत्सेवां कारितवान्. अतो मया सेवाफलं बदरीस्थाने पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपं यथा सिद्ध्यति तथोपायः उक्तः. यागफलन्तु न दत्तं, तद् इदानीं दास्यामि इति अर्थः. **वसो** इति सम्बोधनम् एतदर्थानुसन्धानं भगवत्कृपया तस्य जातम् इति ख्यापनार्थम्. फलार्थमेव यागः इति त्वया अहमेव इष्टः।।११।।

तर्हि किं दातव्यम्? कथं दातव्यम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **स एषः** इति.

स एष भावश्चरमो भवानाम् आसादितस् ते मदनुग्रहो यत्।
यद् मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या ।।१२।।

स एष भावो जन्म, **ते भवानां चरमः**. यदि इदानीं न दत्तं स्यात् तदा तव अग्रे जन्माभावात् फलं न भवेदेव. ततः किम्? अतः आह यदि अस्मिन् जन्मनि **मदनुग्रहः** प्राप्तः. मम अनुग्रहः फलसूचको अन्तिमजन्मनोऽपि अन्तिमत्वं साधयति. एवम् अन्तिमे जन्मनि अनुग्रहो जातइति फलम् आवश्यकम्. किञ्च, न योग्यता मात्रं किन्तु फलमुखमेव तद् जातम् इति आह **यद् मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तम्** इति. **नृलोकान्** सर्वानिव एकान्ते स्थित्वा **उत्सृजन्तं मां ददृश्वान्** दृष्टवान् असि. एतच्च दर्शनं निर्मलया सेवया जातम् अतः ससाधनत्वात्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रुतिस्तु तैत्तिरीयाणां ब्राह्मणे तृतीयाष्टकद्वादशप्रपाठकसप्तमानुवाकस्था. **उपायः** इति. बदरीगमनरूपः।।११।।

तत्स्थिरम्, न काकतालीयम्. **उत्सृजन्तम्** इत्यनेन त्यजन्तम्, ऊद्ध्र्वं सृजन्तं च इति अर्थद्वयं विवक्षितम्. तेन यागप्रयोजनं मद्भावश्च एकरूपो भवति. मद्भावेपि एतद् द्वयं कर्तव्यं, गुप्ततया स्थित्वा विश्वजननं, सर्वलोकपरित्यागश्च. त्वज्जन्मनः चरमत्वादेव परित्यागः सिद्धः. मद्भावेन जगज्जननम् अवशिष्यते. तत्र मत्सायुज्ये जगज्जननम् अन्यथासिद्धं भवति, एकीभावश्रुतेः "**यथा सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्**" (बृहदा.उप.२।४।११) इति. भिन्नतया ब्रह्मभावे "**जगद्व्यापारवर्जम्**" (ब्रह्मसू.४।४।१७) इति न्यायाद् न जगत्कर्तृत्वम्. अतः सर्वाविरोधेन मद्भावेन जगज्जनं यथा सिध्यति तथा वक्ष्यामि इति अभिप्रायेण, ब्रह्मणोअपि एतदेव मया उक्तम् इति एतदर्थज्ञानेन यथा ब्रह्मा मद्रूपं जगत्कृतवान् क्रियया तस्य तथाधिकारात् त्वमपि एतज्ज्ञानाद् मद्रूपो भूत्वा मद्रूपं जगद् ज्ञानेन करिष्यसि इति आशयेन तज्ज्ञानम् आह **पुरा** इति.

पुरा मया प्रोक्तम् अजाय नाभ्ये पद्मे निषण्णाय मम आदिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन् महिमावभासं यत् सूरयो भागवतं वदन्ति ।।१३।।

एतद्वक्ष्यमाणं ज्ञानं **मम नाभ्ये पद्मे निषण्णाय अजाय** [क]**आदिसर्गे प्रोक्तम्**. तत्रहि सर्वे कृतयुगे ब्रह्मविदो ब्रह्मरूपाः. मच्छिक्षया ब्रह्मा पुरुषोत्तमरूपान् कृतवान्. "**यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगे युगे**" (भाग.पुरा. ११।२४।२) इति भगवद्वाक्यात्. नाभौ भवं नाभ्यम्. अजः इति योनिद्वारा न जातः इति. [ख]असम्बन्धेन देहे सम्बन्धेन वा, समष्टिव्यष्ट्युभयरूपत्वाभावात्. तस्य स्वरूपम् अग्रे वक्तव्यम्. "**रजोभाजो भगवतो लीला इयम्**" (भाग.पुरा. ३।१०।१८) इति. अतो अयम् अजः. यद् उक्तं तत् किम्? इति आकाङ्क्षायाम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पुरेत्यत्र. स्वस्य पुरुषोत्तमरूपत्वाभावे स्वयं कथं तादृशान् सृष्टवान् इति आकाङ्क्षायां नाभ्यादिपदतात्पर्यम् आहुः **असम्बन्धेन** इत्यादि. कार्यं हि कारणेन सम्बद्धमेव उत्पद्यते अयन्तु साक्षात् सम्बन्धाभावेन नाभ्ये पद्मे निषण्णत्वेन समवेतसंयोगेऽपि समवेतत्वाभावेन उभयविधकार्यरूपत्वाभावाद् इति अर्थः. तर्हि किं

क. 'आद्ये सर्गे' इति जु,मां१,मां२,मां३ पाठः.

ख. 'असम्बद्धे' इति मां२, 'असम्बन्धे' इति जु,मां१,मां३ पाठः.

आह **ज्ञानं परम्** इति. ज्ञानम् अध्यात्मरूपमपि भवति, तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **परम्** इति. तद् औपनिषदमपि भवति इति ततोपि उत्कृष्टम् आह **मन्महिमावभासम्** इति. मन्महिम्नो अवभासो यत्र इति, यस्मिन् ज्ञाने मम पुरुषोत्तमत्वं भासते. माहात्म्यप्रतिपादकागुणाः, कर्माणि, शक्तयश्च, अलौकिकं च सामर्थ्यम् एतत् सर्वं यत्र भासते तद् भागवतम् इति लोके प्रसिद्धम्. सूरयः तथा वदन्ति इत्यतो अस्मिन्नपि शास्त्रे वादिनामपि वादएव।।१३।।

तत् कथयिष्यामि इतितु न उक्तम्, वस्तुनिर्देशएव परं कृतः. "**न अपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद्**" इति शास्त्रमर्यादा. वस्तुनिर्देशएव पृच्छा अस्य ज्ञापकः. अतो अधिकारी भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा पृष्टे वक्तव्यम् इति पृष्टवान् इति आह

इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः प्रतिक्षणाऽनुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस् तं मुञ्चन् शुचः प्राञ्जलिराबभाषे ।।१४।।

इत्यादृतोक्तः इति. आदृतश्च असौ उक्तश्च. 'वसो' इत्यादि-सम्बोधनपूर्वकं पूर्वकृतसेवानुवादाद् आदृतः, वस्तुनिर्देशाद् उक्तश्च. आदृतएव वा उक्तः, 'प्रष्टव्यम्' इति. अन्यथा उत्तरस्य वाग्व्ययरूपस्य क्लेशरूपत्वाद् भक्तस्य प्रश्नो न घटेत. आज्ञायान्तु सर्वथा [क]कर्तव्यएव. तदुक्तम् **उक्तः** इति. आदरस्तु स्फुरणार्थः. अनेन प्रमाणबलं प्रमेयबलं च दत्तम् इति उक्तम्. ततः किं जातम्? इति अतः आह **परमस्य पुंसः प्रतिक्षणानुग्रहभाजनो अहं** जातः इति. [ख]अहम् एतावत्कालं कालस्य स्थितः, इदानीं परमस्य जातः. ननु कालोऽपि परएव. तत्र आह **पुंसः** इति. ज्ञानेन अक्षरभावो वा 'पर'शब्देन प्राप्तः, 'पुरुष'शब्देन निवार्यते. किञ्च. न सम्बन्धित्वमात्रं किन्तु प्रतिक्षणानुग्रहभाजनः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य स्वरूपम् इत्यतः आहुः **तस्य** इत्यादि. **अजः** इति पुरुषोत्तमरूपः. **अतः** इति विद्वत्संमतत्वात्।।१३।।

इति इत्यत्र. **आदृतएव वा** इति. अस्मिन् पक्षे सम्बोधनवस्तुनिर्दोशां(षां)शौ आदरएव हेतू इति भेदः. समासस्तु सएव. परमस्य इत्यत्र परम् अस्य इति पदच्छेदः. एकपदाभिप्रायेण अर्थान्तरम् आहुः **ज्ञानेन** इत्यादि. **निवार्यते** इति. भगवतः सकाशाद् निवार्यते।।१४।।

क. 'कर्तव्यमेव' इति जु,मां१,मां३ पाठः. ख. 'अहमेव तावत्कालस्थितः' इति जु,मां१.मां३ पाठः.

भक्तं दृष्ट्वा भगवदनुग्रहस्य तरङ्गा उद्गच्छन्ति, तेषां भाजनं पात्रम् अहमेव जातः, नतु अचेतने समुद्रे तरङ्गाणां लयइव भगवत्येव अनुग्रहो लीनः इति. निरन्तरं मद्विषयकएव जातः इति वा. तदा भगवदनुग्रहस्य [ग]कार्यं मयि जातम् इति आह **स्नेहोत्थरोमा** इति. अन्तर्भक्तिरसः पूर्णः. तदा स्नेहेन उत्थितानि सर्वाण्येव रोमाणि अवयवशः. सर्वत्रैव अङ्गे लोमशो देवताः सन्ति, ते भगवति सन्तुष्टे सर्वे सन्तुष्टाएव उत्थिताः. तत्रापि स्नेहेन महदस्य सुखं कर्तव्यम् इति. स्खलिताक्षरश्च जातः. पदवाक्योच्चारणं दूरे, अक्षराण्यपि उच्चारयितुं धृतानि क्षरन्ति इति. अनेन मर्यादा सर्वथाऽपि शान्ता, वाचः प्रयत्नपरित्यागात्. किञ्च, **मुञ्चन् शुचः**. नेत्राभ्यां शोकाश्रूणि मुञ्चन्. अनेन ससाधनं ज्ञानं पूर्वस्थितं निवृत्तम् इति ज्ञापितम्. प्रकृष्टा अञ्जलिः यस्य. अञ्जलिमेव पुरतो निधाय विज्ञापितवान्. अनेन तस्य प्रश्नाधिकारः सूचितः. आ ईषद्बभाषे, यथा कथञ्चिद् मुखाद् वर्णाः निःसृताः इति अर्थः।।१४।।

उद्धवः स्वाभीप्सितं प्रार्थयितुम् अन्यनिषेधं तत्र हेतुं च आह त्रिभिः. तत्र ब्रह्मणे मया भागवतं प्रोक्तम् इति श्रवणे प्रायेण अयं मां ब्रह्माण्डान्तरे ब्रह्माणं करिष्यति इति प्रतिभातं निवारयति **को नु ईश** इति.

को न्वीश ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि ना अहं प्रवृणोमि भूमन् भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ।।१५।।

ईश इति सम्बोधनं सर्वसामर्थ्यबोधनाय. **ते पादसरोजभाजां** सम्बन्धिषु चतुर्ष्वपि अर्थेषु को नु दुर्लभः? चरणरूपा पृथिवी, ब्रह्माण्डमपि पृथिव्यात्मकमेव. तत्तु प्राप्यदुग्धपानवत् सेवते. तत्रापि सरोरुहं जलोद्भवं पद्मं, जलस्यापि फलरूपम्. अनेन सर्वमेव ब्रह्माण्डे स्थितं फलं, तापापनोदश्च त्वद्भजने स्वतः सिद्धः. अत्र तीर्थैकदेशे मुक्तिः प्रसिद्धा, लक्ष्म्येकदेशे अर्थः प्रसिद्धः, फलत्वेन सेवनया कामः प्रसिद्धः, विहितत्वाद् धर्मः सिद्धएव. अतः तेषां को वा दुर्लभः? 'ईश' इति सम्बोधनाद् असाध्यमपि सिद्ध्यति. **चतुर्ष्वपि** इति निर्द्धारवचनम्. अवान्तरभेदेन सर्वएव एतेषु अन्तर्भवन्ति इति सूचितम्. तथापि सूक्ष्मतया प्राप्तमपि स्थूलतया प्राप्तव्यम् इति चेत् तत्र आह **तथापि ना अहं प्रवृणोमि** इति. यदि भगवदिच्छा तथैव भविष्यति तदा केन निवारयितुं शक्या? तथापि तद् न

ग. कार्यमपि क. ग. घ.

अस्मदभिप्रेतं, न वा याचनीयम्. किञ्च. न च ब्रह्मत्वं दुर्लभं, बहवएव ब्रह्माणो जायन्ते, यतो भूमा भगवान् ब्रह्माण्डकोटिविग्रहः. तत्र किम् एकस्मिन् ब्रह्माण्डे स्थितेन ब्रह्मणा कार्यं भवष्यिति इति, सम्पूर्णं परित्यज्य कोट्यंशग्रहणात्. अतो अहं **भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुक**एव. चिन्तामणिवत् सर्वसाध्यापेक्षया साधनमेव अधिकम्. न हि चिन्तामणिः वस्त्रं प्रयच्छतीति कश्चित् चिन्तामणिं परित्यज्य वस्त्रम् इच्छति. तस्मात् किं ब्रह्मत्वेन इति अर्थः।।१५।।

तर्हि एवं सति न किञ्चित् प्रार्थनीयम् इति आयाति. तत्र आह **कर्माणि अनीहस्य** इति.

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम् ।
कालात्मनो यत् प्रमदाऽयुताश्रयः स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदाम् इह।।१६।।

अत्र चरणभजने एकं प्रार्थनीयम्, दोषाभाव इति. तत्र दोषो द्विविधः. भगवद्भजने क्रियमाणे स्वतः एको दोषः उत्पद्यते, भगवता च आपरः क्रियते. तद् उभयं यथा न भवति तथा उपायो वक्तव्यः. तत् चेद् भागवतं भविष्यति, तदा तद् वक्तव्यम् इति. प्रथमतो दोषद्वयम् अनुवदति. दोषानिवर्त्तकत्वे भागवतेनाऽपि न कृत्यं, न हि भगवच्चरणारविन्दाद् अन्यत् फलम् अस्ति. तत्सेवमानानां तद्बाधकनिवृत्तिरेव प्रार्थनीया. तच्च बाधकं सर्वैरेव पोष्यते, नतु बाध्यते. तदेतद् अत्यभीष्टम् इति ज्ञापयितुं प्रथमं फलाद् आह **कर्माणि अनीहस्य** इति. अनेन अयम् उत्तमो अधिकारीति ज्ञापितम्. भगवतो विरुद्धानि कर्माणि स्वबुद्धौ

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कर्माणि इत्यत्र. **फलाद् आह** इति. फलं सेवनं, स्वरूपज्ञानं वा, तस्माद् जातं दोषम् आह इति अर्थः. **अनेन** इति. बाधकनिवृत्तिप्रार्थनेन. भजनहेतुः भगवत्त्वं तेन।।१६।।

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतलेखः

श्लोके उच्यते. भगवतो इत्यादिस्तु मन्त्रेषु इति अत्र इति ज्ञेयम्. **तच्चेद्** इति. उपायभूतम् इति अर्थः. **दोषद्वयम्** इति. स्वतः उत्पन्नं भगवत्कृतं च इति अर्थः. **दोषे**ति. भागवतस्य दोषः इति अर्थः. **तद् एतद्** इति. तद् एतत् सेवाबाधकनिवर्तनम्. प्रथममुक्तं य(?) प्रथमफलाद् इति. चरणानुवृत्तिरूपं फलम्।।१६।।

एतावानेव ग्रन्थः उपलभ्यते.

स्फुरितानि बाधकानि. सामान्यदूषणद्वयं, विशेषेण दूषणत्रयम् इति भगवतः सेव्यत्वसिद्धये स्वस्य जन्मादिदुःखनिवृत्यर्थम् अभवः सेव्यइति भगवान् अभवो अङ्गीकर्त्तव्यः. स्वस्य कर्मणा नानाविधक्लेशा भवन्ति, तदभावाय सेव्यो भगवान् इति तस्य तदभावो अङ्गीकर्त्तव्यः. तच्च प्रत्यक्षेण भजनहेतुना विरुध्यते. वसुदेवस्य गृहे जननाद्, निरन्तरं कर्मकरणाच्च. प्रत्यक्षन्तु युक्तिरूपानुमानाद् बलिष्ठम्. चरणभजनन्तु स्वतो अतिरसं प्रयच्छति इति फलतो महत्त्वं च प्रत्यक्षसिद्धम्. पर्यवसानेतु बाधः. यत्र भगवानेव जायते, एवं च करोति, तत्र तदा आश्रयाणाम् अस्माकं का वार्त्ता? भगवानेव हि फलदाता, यदि अन्ततः सएव भविष्यामः तथापि एवंरूपः इति. जननादिक्लेशस्य विद्यमानत्वात् किं भजनेन? इति अनास्था प्रतिभाति. किञ्च, साधारणेश्वरादपि अन्यथाप्रतिभाति. वस्तुतो ब्रह्मादीनामपि उपास्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् महानेव अयम् इति प्रतिभाति, तथापि त्रयो दोषाः बुद्धौ स्फुरन्ति. कथं भगवान् स्वकीयं स्थानं मथुरां परित्यज्य शत्रुभयात् पलायितो 'द्वारका'ख्यं दुर्गम् आश्रितः? कथं वा कालयवनात् पलायते? कथं वा स्वरूपानन्दः स्वभोगार्थं स्त्रीसहस्रं परिगृह्णाति, उपभुङ्क्ते च ताः? अतो यावज्जन्मैव अन्यथाप्रतिभानाद् भजनबाधकम् अभगवत्त्वमेव प्रतिभाति. अथ यदि मोहनार्थम् एवं करोति इति अभिप्रायः कल्प्येत, तथापि यावदवतारं मोहकत्वात् कथम् उपास्यो भवेत्. अथ उपासकं न व्यामोहयति इति कल्प्येत तदपि न सम्भवति. स्वयं सर्वज्ञो असर्वज्ञइव मन्त्रेषु माम् उपहूय कर्त्तव्यं पृच्छति, उक्तं च करोति. अतः केनाऽपि प्रकारेण चरित्रादिदर्शनेन भगवद्भजनबुद्धेः नाशएव दृश्यते. व्यामुग्धानां वचनानितु किं वक्तव्यानि? यदि एतानि दूषणानि भागवते परिहृतानि भवन्ति तदा तद्वक्तव्यम् इति अभिप्रायेण अन्तिमां लीलां पश्यन्नेव आन्तं[१] दूषणान्येव सिद्धानि इति तां दशां पश्यन् पूर्वदूषणान्येव अनुवदति. दूषणत्वाय स्वरूपं च कीर्त्तयति, सिद्धान्तसम्भावनार्थं च. कर्माणि [२]पूतनासूपयःपानादीनि. **अनीहस्य** पूर्णब्रह्मणः. **अभवस्य** निर्विकारस्य. **भवः** सर्वविकारहेतुः जननात्मा. सर्वसंहर्तुः सर्वनियन्तुश्च कालात्मनः स्वरक्षकत्वेन, दुःखगतिहेतुं दुर्गादिकं स्वरक्षकत्वेन मन्यते. **अथ** इति भिन्नप्रक्रमेण. अनेन दुर्गाश्रयेऽपि पलायनं स्वतन्त्रतयापि पलायनं सूचितम्. आत्मारामस्य च

१.अनन्तानि. क. २. 'पूतनास्तनपानादीनि' इति जु,मां१,मां२,मां३ पाठः.

प्रमदायुताश्रयणम्. एतल्लीलापञ्चकम्. ब्रह्मत्वेन त्वां जानताम्, लीलापञ्चकं च पश्यतां सङ्कटे पतिताः धीः खिद्यति. **इह** इति अस्मिन् अर्थे।।१६।।

त्वत्कायिकेन व्यामुग्धो अहं वाचिकेनाऽपि मुग्धो जातः इति आह **मन्त्रेषु** इति.

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत् त्वम् अकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः।
पृच्छेः प्रभो! मुग्ध इवाऽप्रमत्तः तन्नो मनो मोहयतीव देव! ।।१७।।

जरासन्धवधार्थं राजप्रार्थनायां, यागार्थं युधिष्ठिरप्रार्थनायां च स्वयम् उपायं जानन्नेव माम उपहूय. **मन्त्रेषु** इति बहुवचनेन कालान्तरेऽपि स्यमन्तकादिषु पृष्टम् इति प्रतिभाति. **वा** इति अनादरे. **आहूय** इति प्रासङ्गीकत्वं निषिद्धम्. **त्वम्** इति न अत्र तिरोहितं किञ्चिद् इति सूचितम्. सर्वशास्त्रानुसारेण न कुण्ठितः. तीक्ष्णतामपि अपरित्यज्य स्वकार्यकर्ता अकुण्ठितः. अखण्डः तैलधारावद् अनवच्छिन्नः, न कालादिना शङ्कितभङ्गः आत्मबोधो यस्य. पृच्छेः आमन्त्रेण पृष्टवान् असि. विधिप्रयोगात् परिहर्तुमपि अशक्यः इति सूचितम्. **प्रभो** इति. सम्बोधनं पूर्वस्थितिमपि नाशयेद् इति, भयादपि कथनं सूचितम्. **मुग्ध इव** इति. तदानीन्तनचेष्टया न जानाति इत्येव प्रतीतिः उत्पन्ना, अन्यथा न सोपपत्तिकं वदेत्. बहूनामपि वाक्ये युक्त्या बलिष्ठत्वज्ञानेऽपि पक्षान्तरे स्वाभिप्रेतमेव करोतीति **अप्रमत्तः** इति उक्तम्. अतः तव एतादृशं चरित्रं, **नो** अस्माकमेव सर्वेषां भक्तानां मनो मोहयतीव. सान्निध्याद् भजनाच्च माहात्म्यं प्रतिभातीति 'इव'प्रयोगः. **देव** इति सम्बोधनं पूर्वपक्षसमाप्तिसूचकम्. देवचरित्रं मनुष्यबुद्ध्या निर्द्धारणाशक्यम् इति सूचनात्।।१७।।

तस्मात् तदर्थं भागवतं कथय इति आह **ज्ञानं परम्** इति.

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम्।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्तः वदाऽञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ।।१८।।

पूर्वोक्तो अस्माकं यो मोहः सो अज्ञानकृतइति ज्ञानेनैव तद् निवर्तते, अतो ज्ञानैकप्रतिपाद्य एतादृशं भागवतं कथनीयम्. ननु जाग्रत्स्वप्नवद् ज्ञानाज्ञाने अन्योन्यविरोधिनी. तथा च [क]उभयतुल्यत्वाद् अन्योन्योपमर्दसम्भवात् किं ज्ञानेन? इति अतः आह **परम्** इति. प्रकृत्यादिनियन्तृ, अज्ञाननिवर्तनसमर्थम्. ननु

क. 'उभयोः तुल्यत्वाद्' इति जु,मां१-२-३ पाठः.

भगवदिच्छायाः प्रधानत्वाद् ''अस्य ज्ञानं नश्यतु'' इति इच्छया, भगवत्प्रेरितमायया वा अज्ञानादिनिवर्तकमपि ज्ञानं नश्येदेव. ''**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलाद् आकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति**'' (मार्क.पुरा. १।५४) इति वाक्यात् परेणाऽपि ज्ञानेन किं प्रयोजनम्? इति आशङ्क्य पुनः विशिनष्टि **स्वात्मरहःप्रकाशम्** इति. स्वकीयानां मायादिशक्तीनाम् **आत्मनो** भगवतश्च **रहो** यद् मर्म, बन्धन-मोचनलीलायां कीदृशो भगवदभिप्रायः तदीयानां च इति; यत्र ज्ञाने इदं रहः प्रकाश्यते, तादृशज्ञानरूपं ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तम् इति श्रुतम्. **कस्मै** इति द्व्यर्थवचनाद् न ज्ञायते कस्मै प्रोक्तम्, अन्यथा स वै पृष्टः स्याद् इति गम्यते. तत्रापि अवान्तरभेदाः सन्ति, भगवदभिप्रायाणाम् अनन्तत्वात्. अतः सर्वएव अभिप्रायो यत्र गम्यते तत् समग्रं भगवान् इति अचिन्त्यैश्वर्यतया कदाचित् तादृशमपि ज्ञानं भवेद् वदेद् वा इति सम्भावना. तद् ज्ञानं पुरुषविशेषएव भवति इति चेत् तत्रा आह तद् ज्ञानं **नो** अस्माकं ग्रहणाय क्षमं चेत् तदा वक्तव्यम्. **अपि** इति सम्भावनायाम्, कृपाविषयत्वाद् मम. वस्तुनिर्देशाच्च मय्यपि तत्सम्भावितम्. ननु तद् ज्ञानं मद्रूपं कथम् अन्यस्य सम्भवति? सतु ब्रह्मा मदवतारः इति चेत् तत्र आह **हे भर्तः**. अनधिकार्यपि भार्यारूपः पतिं तद्गतं धर्मं च बिभर्ति. अतो अस्माकं त्वं भर्ता इति स्वरूपत्वेऽपि तद् युज्यते. अतः तत् सर्वथा वक्तव्यम् इति आह **वद** इति. प्रार्थनायां लोट्. आग्रहे हेतुः **अञ्जसा यद् वृजिनं तरेम** इति. **वृजिनं** पूर्वोक्तं दुःखं, तद् अनायासेनैव **तरेम** इति।।१८।।

एवं स्वाभिप्राये प्रकटिते अधिकारी अयं भवति इति भगवान् तद् आह **इति** आह

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः।
आदिदेशाऽरविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम्।।१९।।

इति आवेदितहार्दाय इति. **हार्दं** हृदयस्थितम्, अभिप्रेतम् इति यावत्. तदा तज्ज्ञानं **भगवान् मह्यम् आदिदेश**. सिद्धमेव वस्तु यथा किञ्चिद् आदिश्यते इदम् इति. आज्ञायाअपि दत्तत्वात् स्वपरव्यवहारोपयोगि भविष्यति, अन्यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञानम् इत्यत्र. **प्रतिपाद्येतादृशम्** इत्यत्र प्रतिपादीति पदच्छेदः।।१८।।

इत्यावेदितेत्यत्र. **आज्ञायाः** इति. अतो मद्वयुनम् इति विचारवाक्य-

केवलनिर्देशो व्यर्थः स्यात्. भगवति स्थितमेव तद् ज्ञानम् उद्धवेन व्यवहर्तव्यं, नतु यथा ब्रह्मणे दत्तं तथा अस्मै दत्तं, तथाऽसामर्थ्यात्. तर्हि सर्वस्वं प्रदर्शितं कथम्? तत्र आह **अरविन्दाक्ष** इति. अरविन्दवद् अक्षिणी यस्य. अनेन तापहारित्वेन दृष्ट्यैव तदनधिकारो निवारितः. भगवद्विचारेण सिद्धं तत् किं रूपम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **आत्मनः परमां स्थितिम्** इति. **परम्** आश्रयरूपा भगवतः स्थितिः. न ततः परम् अन्यत् सा परा काष्ठा॥१९॥

ततः त्वया किं कृतम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह

स एवम् आराधितपादतीर्थाद् अधीत–तत्त्वात्म–विबोधमार्गः।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देवम् इहाऽऽगतोऽहं विरहातुरात्मा॥२०॥

स एवम् इति. एवंप्रकारेण भगवता ज्ञापितार्थो अहं **पादौ प्रणम्य परिवृत्य विरहातुरात्मा इह आगतः** इति सम्बन्धः. इह आगत्य वा विरहातुरात्मा जातः इति तद् 'भागवता'ख्यं शब्दब्रह्म मया स्वाधीनं कृतम्. तच्च गुरुसेवाव्यतिरेकेण न भवति इति, प्रभुत्वेन सेवितोऽपि भगवान् गुरुत्वेनाऽपि सेवितः तद् आह **आराधितपादतीर्थाद्** इति. आराधितपादश्च असौ तीर्थरूपश्च. 'तीर्थ'शब्देन गुरुः अत्र उच्यते. आराधितौ पादौ यस्य इति, गुरोः चरणसेवा कृता इति गम्यते. तादृशतीर्थाद् भगवतो **अधीतो विबोधमार्गो** येन. ते च विबोधमार्गाः बहवः इति प्रतीकादिव्यावृत्यर्थम् 'आत्मा' इति उक्तम्. आत्मविषयको विबोधमार्गः इति तत्रापि शारीरादिपक्षाः सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **तत्त्वे**ति. **तत्त्वं** परमार्थरूपम्, तस्य यः सहजो भावः इति. स्वरूपेणैव प्रादुर्भूतइति स्वरूपमेव अत्र 'आत्म'शब्देन उच्यते. विशेषबोधः पूर्वसन्देहवारकः. तदनन्तरं विद्यासमाप्तौ **पादौ प्रणम्य**, पुनः तां गुरुत्वबुद्धिं परित्यज्य, **देवं** स्वामिनम् उपास्यं तं **परिवृत्य** प्रदक्षिणीकृत्य इहैव आगतः. भगवत्प्रदक्षिणानन्तरम् अत्रैव मम आत्मलाभो जातः, ''अयम् अहम्'' इति. किं भगवदिच्छया ततः एकेनैव पदा अत्र आगतः, क्रमेण वा इति न जानामि. परं प्रदक्षिणा, इदं च स्थानं स्मर्यते. अतएव इदानीं विरहातुरात्मा जातः, अन्यथा एतावद् दूरम् आगमनेव न स्यात्. अनेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बोधितायाः. **तथा सामर्थ्याद्** इति. उद्धवे गुणार्दनस्य अभावेन भगवत्स्थितज्ञान-व्यवहारसामर्थ्यात्॥१९॥

अग्रिमवार्त्ताऽपि तत्रत्या न ज्ञायते इति उक्तम् भवति. इदानीन्तु विरहेण आतुर आत्मा अन्तःकरणं विद्यते।।२०।।

तर्हि किम् अतःपरं कर्तव्यम्? इति आशङ्कायाम् आह

सोऽहं तद्दर्शनाह्लाद–वियोगार्तियुतः प्रभो ।

गमिष्यते दयितं तस्य बदर्याश्रम–मण्डलम् ।।२१।।

सो अहम् इति. तस्य दर्शनेन आह्लादः, वियोगेन च आर्तिः, उभययुतः सन्. सर्वसन्देहानां भगवता निवारितत्वात्, प्रभोः भगवतः आज्ञा अवश्यं परिपालनीया इति, द्वारकापेक्षयाऽपि **दयितं** प्रियम् अत्यन्तम् बदरीस्थानमेव भगवतः ऋषिरूपस्य आश्रमम् इति बदर्येव आश्रमं गमिष्यामि. तत्र अधिकं विशेषम् आह **मण्डलम्** इति. यथा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः तथा बदर्याश्रममण्डलमिति[क] तत्र भगवतो नित्यं सन्निधानं बोधितम्।।२१।।

उपपादयत्यपि **यत्र** इति.

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवान् ऋषिः ।

मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ।।२२।।

यत्र बदरिकाश्रमे उभयरूपेण भगवान् अस्ति. आश्रमे **ऋषीः नरश्च**. **च**काराद् भगवान् नरप्राधान्येन ऋषीः भगवान् आश्रमे. नारायणप्रधानो देवो नरसहितो मण्डले. अतः सूर्यमण्डलापेक्षयाऽपि तत् स्थानं समीचीनम् इति उक्तम् भवति. उभयोः भगवत्वम् ऋषित्वं देवत्वं च. अतो **मृदु तीव्रं दीर्घं तपः तेपाते**. देवत्वाद् मृदु तपः कुर्वाते[ख]. ते हि सात्विकाः न अत्युग्रतपोयोग्याः, भगवत्वात् तीव्रं कुर्वाते, ऋषित्वाद् दीर्घम्, तेहि अजन्म तपः कुर्वन्ति. भगवांस्तु शीघ्रफलकं कर्म करोति, विलम्बे कारणाभावात्. अतः तीव्रत्वम् उक्तम्. तपो अत्र [ग]समाधिरूपम् आहारपरित्यागपूर्वकम्. ननु एतादृशतपःकरणे को हेतुः? तत्र आह **लोकभावनौ** इति. लोकं भावयतः. लोकास्तु त्रिविधाः, अतः सर्वहितार्थं त्रिविधं तपः करोति इति अर्थः।।२२।।

एवं निश्चयां बुद्धिं निरूप्य विपर्ययस्य अत्र अप्रयोजकत्वात्

क. 'मण्डलेऽपि इति' इति जु,मां१–३ पाठः. ख. 'कुर्वन्ति' इति जु,मां१–२–३ पाठः.
ग. 'समाधिरूपो आहारपरित्यागपूर्वकः' इति जु,मां१–३ पाठः.

त्याज्यत्वेन तद्वदन्नेव संशयम् आह **इत्युद्धवाद्** इति त्रिभिः

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवाद् उपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।

ज्ञानेनाऽशमयत् क्षत्ता शोकम् उत्पतितं बुधः।।२३।।

अत्र प्रथमं सुहृदा श्रुत्वा, भगवदिच्छां च श्रुत्वा, द्वयोः फले जाते शोके तदपगमे च, ततो बुधो भूत्वा सन्देहनिवृत्त्यर्थं तमेव अर्थम् उद्धवं पृच्छति इति स्वाधिकारक-वक्तृवाच्य-निरूपणाद् वाक्यत्रयम्. सन्देहस्य अनिवृत्तत्वाद् अग्रिमवाक्यं सन्देहस्थापकमिति न इयं बुद्धिः निश्चयरूपा, पदार्थस्य अनिर्द्धारितत्वात्. उपायनिर्द्धारणपक्षेतु संशयस्य अप्रयोजकत्वात् साधन-निश्चयात्मकएव सः निरूप्यते. इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण मदिरापानादिना **सुहृदां वधम् उद्धवाद् उपाकर्ण्य**, श्रोतुमपि अशक्यं शोकादिस्वकार्यावश्यम्भावि **दुःसहम् उद्धवात्** श्रुतम् इति, विपरीतशङ्काभावाद्, दूराद् वह्निरिव तस्य हृदये शोकः आपतितः. ततः उत्प्लुत्य अत्रैव आगतः इति अर्थः. तं शोकं **ज्ञानेन अशमयत्**. तद् ज्ञानं तस्य पूर्वसिद्धम् इति आह **क्षत्ता** इति. येन ज्ञानेन पूर्वम् इन्द्रियजयेन रागो निवार्यते तेनैव शोकोऽपि निवारितः. कामदस्य विशेषम् आह **उत्पतितम्** इति. उद्यतो हि कामः तेन न निवारितः, परम् अनुत्पत्यर्थमेव यत्नं कृतवान्, **शोकन्तु उत्पतितमपि** निवारयामास; यतो अयं **बुधः**. भगवतः स्मरणेन तस्य ज्ञानोत्पत्तेः मनसा भगवतैव अयम् उपदिष्टः।।२३।।

एवं भगवच्छिष्योऽपि भूत्वा, शोकं निवार्य विशेषाकारेण कथनार्थं तं पृच्छति इति आह **स तम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्युद्धवेत्यत्र. स्कन्धार्थविचारेण अग्रे का वा बुद्धिः उच्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **निरूप्य** इति. सृज्यत्वेन उक्त्वा. **अत्र अप्रयोजकत्वाद्** इति अधिकारे [१]अनुकूलत्वात्. द्वयोःफलस्य विवरणं **शोके तदपगमे च** इति. **सन्देह-निवृत्त्यर्थम्.** कर्माणीत्यादिश्लोकद्वयसन्देहनिवृत्त्यर्थम्. ननु अत्र संशयरूपा बुद्धिः उच्यते इत्यत्र किं मानम् इत्यतः आहुः **सन्देहे**त्यादि. **सः** इति बुद्धिवृत्तिविशेषः।।२३।।

१.अननुकूलत्वादिति स्यात्.

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभ! ।

विश्रम्भाद् अभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ।।२४।।

महाभागवतत्वात् प्रार्थना. भगवदनुगृहीतो भगवानिव वक्तव्यो भवति. **स तम्** इति पदाभ्यां भगवतैव एतत्सङ्घट्टनं कृतम् इति प्रायेण एतद्द्वारैव विशेषं वक्ष्यति इति प्रश्ने हेतुः. **व्रजन्तम्** इति सेवादिना मनोनुरञ्जनानन्तरं प्रष्टव्यम् इति पक्षो निवारितः. स्वस्य अधिकारनिरूपणार्थं **कौरवर्षभ** इति उक्तम्. एकस्वामिसेवकत्वात् पूर्वस्नेहाच्च पृष्टे वक्ष्यति इति कृतो **विश्रम्भो** विश्वासः, स्नेहनिश्चयो वा. इदं वक्ष्यमाणम् **अभ्यधत्त**. तथापि भगवद्भक्तः कथम् अन्यं प्रार्थयत इति आशङ्क्य आह **मुख्यं कृष्णपरिग्रहे** इति. भगवता यावन्तः सेवकाः परिगृहीताः तत्र उद्धवो मुख्यइति तादृशप्रार्थने न कोऽपि भक्तिविरोधः इति अर्थः।।२४।।

प्रष्टव्यं पृच्छति **ज्ञानं परम्** इति.

विदुर उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं यदाह योगेश्वर ईश्वरस् ते ।

वक्तुं भवान् नोऽर्हति यद्धि विष्णोर् भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ।।२५।।

पूर्ववद्व्याख्यानं पदत्रयस्य. एतादृशं यद् भगवान् तुभ्यम् आह तद् **भवान् नो** अस्मभ्यं **वक्तुम् अर्हति** इति अन्वयः. ननु बहवएव सन्ति ज्ञानिनो व्यासादयः, किमिति मामेव प्रार्थयसे? इति आशङ्क्य एतद् न कोऽपि जानति इति हेतुभूतं पदद्वयम् आह **योगेश्वर ईश्वरः** इति. साधनतः स्वरूपतश्च यः सर्वेश्वरः, सच तुभ्यम् एवंप्रकारेण उक्तवान् तद् अतिदुर्लभम्. न हि व्यासादयः ईश्वराः, नवा अनिरुद्धादयो योगेश्वराः. उभयभावम् अवलम्ब्याऽपि यद् भगवान् तुभ्यम् उपदिष्टवान्, तेन अवश्यम् एतद् वक्तव्यम् इति. तद् आह **वक्तुं भवान् नो अर्हति** इति. यथा भगवान् भवान्, तथा भवान् अहम्. अतो यथा तादृशे योगे भगवान् अवक्तव्यमपि उक्तवान्, एवं त्वमपि वद इति अर्थः. ननु भगवान् भक्तोद्धारार्थमेव यतते, स्वतन्त्रश्च; अतः उपदेशं करोतु नाम. अस्माभिस्तु तत्कथं कर्तुं शक्यम्? इति अतः आह **भृत्याः स्वभृत्यार्थ–**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः तम् इत्यत्र. **स्वस्य** इति परीक्षितः।।२४।।

कृतश्चरन्ति इति. **यद्** यस्माद् **विष्णोः भृत्याः**. स्वामिसमानधर्मत्वात् सेवकानाम्. यथा स्वामी स्वसेवकोद्धारकः, एवं भृत्याअपि स्वभृत्यार्थमेव कृतं येषां तादृशाएव भूत्वा स्वभृत्यान् अन्वेष्टुं चरन्ति. अन्यथा भगवदीयत्वेनैव कृतार्थाः सन्तः किमिति परिभ्रमेयुः. भगवत्स्मरणात् च उद्धवः उपदेशार्थऽमेव रक्षितः इति हृदये प्रतिभातम्. अतो भगवदाज्ञयैव [क]आगच्छन्तमपि उद्धवं **स्वभृत्यार्थकृतः चरन्ति** इति उक्तवान्।।२५।।

विदुरोक्तम् अभिप्रायम् अङ्गीकृत्य, सामान्यन्यायो अयमेव इति मत्वा, विदुरे भगवत्कृतो विशेषो अस्ति इति भगवद्वाक्यपरिपालनार्थं भिन्नेन प्रकारेण उपदिशति **ननु ते** इति.

उद्धव उवाच

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे ।
साक्षाद् भगवताऽऽदिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ।।२६।।

तत्त्वोपदेशस्तु भगवता कृतएव, केवलम् ''**आचार्यवान् पुरुषो वेद**'' (छान्दो.उप.६।१४।२) इति विधिपरिपालनार्थं यदि कश्चिद् गुरुः सेव्यः तदा भगवतैव निर्दिष्टः **कौषारवो** मैत्रेयः **ते** तव तत्त्वज्ञानार्थं **संराध्यः**. यतः स ऋषिः. भगवदीयत्वेऽपि ऋषीत्वं तत्र अधिकम् इति अर्थः. भगवता च निर्दिष्टइति सो अवश्यं तुभ्यं वक्ष्यति. तद् आह **साक्षाद् भगवता आदिष्टः** इति. तादृशे समये आज्ञप्तः, सन्देहो वा पुनः प्रश्नो वा यत्र न उत्पद्यतएव. तद् आह **मर्त्यलोकं जिहासता** इति. अतः परम् अस्मिन् लोके स्थितः तदाज्ञां चेद् न कुर्यात् सोऽपि लोकवत् त्यक्तव्यएव स्यात्. अतः सर्वान् तजन् भगवान् तं परिगृह्य आह ''विदुरः उपदेष्टव्यः'' इति. अतः सर्वथा स उपदेक्ष्यति. भगवदाज्ञा च पुनः त्वया मयाऽपि कर्त्तव्या, अतः तत्र गच्छति इति अर्थः।।२६।।

एवं विदुरम् उक्त्वा स गतः इति वक्तुम्, प्रसङ्गाद् अन्यां कथाम् उपसंहारव्याजेन कथयति **इति** इति.

श्रीशुक उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेः गुणकथया सुधयाऽऽप्लुतोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ।।२७।।

क. 'आगतमपि' इति मां२, '...आज्ञयैव गच्छन्तमपि' इति जु,मां१-२ पाठः.

सन्ध्याकाले यमुनातीरे दृष्टः उद्धवः प्रातःकालपर्यन्तं भगवत्कथामेव कथितवान्. यथा–यथा यस्मिन् अवसरे पुष्ट्यादिलीलया स्वस्मिन् कृपां कृतवान्. एवं विदुरोपि उद्धवं प्रति भगवत्कृपाकथां कथयति स्म. तद् आह **सह विदुरेण** इति. 'इति' इति उपसंहारः. प्रसङ्गाद् अन्यामपि कथां कथयन्तौ भविष्यतः इति आशङ्क्य तन्निराकरणार्थम् आह **विश्वमूर्त्तेः** इति. विश्वमेव मुर्त्तौ यस्य, अनन्तमूर्तिः वा भगवान्. तेन प्रासङ्गिक्यपि कथा भगवद्विषयिकैव भवति. अतः तस्या अनन्तगुणस्य सर्वोत्तमत्वप्रतिपादका ये धर्माः तत् कथयैव क्षुत्–पिपासा–श्रमादिसर्वे तापाः उभयोरपि निवृत्ताः. ननु कथया कथं क्षुत्–पिपासादिकं निवर्त्तते, स्वाभाविकत्वाद् दोषाणाम्? कथायाश्च तन्निवर्त्तकत्वेन लोके प्रसिद्ध्यभावाद् अस्वाभाविकत्वम्, अतः कथं निवर्त्तकत्वम्? इति चेत् तत्र आह **सुधया** इति. अमृतरूपा हि सा. अमृतं हि तथा भवति इति लोकसिद्धम्. सा कालकृतमपि निवर्त्तयति जरामरणादिकं, किमुत कालाधीन–कर्मस्वभावकृत–निवर्त्तकत्वम्. किञ्च, अल्पयाऽपि कथया सुधया लोका अमरा जायन्ते, अत्रतु महान् अमृतपुरः येन आ समन्तात् प्लुतः उरुतापो यस्य. अतएव कालोऽपि तेन न ज्ञातः इति आह **क्षणमिव** इति. देशकृतोऽपि दोषः तस्य न स्फुरितः इति आह **पुलिने यमस्वसुः** इति. यमभगिनीहि कालिन्दी मकरादि–सर्वदुष्टजन्तुसमाश्रिता, तस्याः पुलिने रात्रौ सर्वे दोषाः सम्भवन्ति, तेऽपि न स्फुरिताः. अतएव **तां निशां सम्यग् उषितः**. ननु निद्रया पीडितः कथं वार्त्तां कृतवान्? तत्र आह **औपगविः** इति. उपगोः अपत्यम् औपगवः, तस्य अपत्यम् औपगविः. अथवा, ''एको गोत्र'' इति निर्बन्धे बाह्वादित्वाद् इञ् इव. उप समीपे गावो यस्य सः उपगुः इति, गोरक्षकत्वाद् रात्रौ जागरणाभ्यासः. तस्य च अयम् अपत्यं, तत्स्वभावएव. अतः तां निशां वार्त्तयैव **समुषितः**. प्रातःकाले तस्मात् पुलिनाद् बदरिकाश्रमं गतः इति अर्थः. भगवद्वियोगेऽपि भगवत्वकथया स्थितः इति सम्यग् उषितः. सएव निवासः समीचीनः, यो विषयान्तराभावेन भगवत्कथयैव गच्छति इति सिद्धान्तः।।२७।।

विपर्ययबुद्धिं मायां च एकीकृत्य प्रश्नोत्तररूपेण निरूपयति **निधनम् उपगतेषु** इति षड्भिः

राजोवाच

निधनम् उपगतेषु वृष्णिभोजेष्वधिरथ–यूथपयूथपेषु मुख्यः।
स तु कथम् अवशिष्ट उद्धवो यद् हरिरपि तत्त्यज आकृतिं त्र्यधीशः॥२८॥

विपर्ययः प्रश्नः एव, माया सिद्धान्तगोपने।
सिद्धान्तकथनेऽप्यस्य बुद्धिः पर्यवसानगा॥१॥

कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति इति सिद्धान्ताद्, न सप्तार्थी राज्ञा बुद्धा. न वा एते शब्दाः, किन्तु शब्दान्तरैः एतैश्च यथासम्भवं कथैव श्रुता. अतो अस्य भगवत्स्वरूपाज्ञानाद् एवंप्रश्नो युक्तएव. स हि शापादेव सर्वं जातम् इति मन्यते, यथा स्वतक्षकम्. ततः पृच्छति **निधनम् उपगतेषु. निधनं** मरणं प्राप्तेषु. **वृष्णिभोजेषु** इति. षट्सु यादवेषु, द्वौ बहुवचनान्तौ निर्दिष्टौ, षण्णां सात्विकादित्वख्यापनाय. वृष्णिभोजेषु निधनम् उपगतेषु सत्सु उद्धवः कथम् अवशिष्टः? इति प्रश्नः. ननु अप्रयोजकाः बहवएव तिष्ठन्ति, शापश्च प्रधानपरः, अतएव भगवद्वाक्यम् "**स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च**" (भाग.पुरा. ११।३०।६)इति. तथा अयमपि सन्न्यासी उर्वरितः इति चेत् तत्र आह **अधिरथयूथपयूथपेषु मुख्य** इति. अधिरथानां **यूथपाः** सेनापतयो महामात्रतुल्याः, तेषां यूथं पान्ति इति महाराजानो जरासन्धप्रभृतयः, क्षत्रियाणां बलेनैव आधिक्यात्, तेष्वपि **मुख्यो** महाबल इति अर्थः. अतः स कथम् अवशिष्टः? यस्माद् नाम्नैव स तादृशः इति आह **उद्धवो यद्** इति. यस्माद् उद्धवः उद्ध्र्वं हवो यस्य. सर्वापेक्षया तस्य सङ्ग्राम उच्चैः भवति इति. उत्सवपरत्वेऽपि क्षत्रियाणां युद्धादेव उत्सवो भवति. प्रायिकम् एतद् इति चेत्, तथा सति शापवैयर्थ्यापत्तेः. उद्धतपरम् इति चेत् तत्र

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निधनेत्यत्र. स्कन्धार्थविचारेण अग्रिमग्रन्थे का बुद्धिः उच्यते इति अपेक्षायां ताम् आहुः **विपर्ययबुद्धिम्** इत्यादि. **चो** अप्यर्थे. सकारणान्तां कारिकया विवृण्वन्ति **विपर्ययः** इत्यादि. तादृशाधिकारविरहेण मायया सिद्धान्तगोपने कृते सति शुकेन सिद्धान्तकथनेपि अस्य राज्ञो विदुरपृष्टे भगवच्चरित्रएव विपर्ययः, विपर्ययरूपा बुद्धिः उत्पन्ना इति उच्यते. तत्र गमकं **पर्यवसानगा** इति. परिदृश्यमाननिधनरूप-पदार्थग्राहिका इति. **इति सिद्धान्ताद्** इति. अयं सिद्धान्तः प्रथमस्कन्धनिबन्धाद् अवगन्तव्यः. **न सप्तार्थी राज्ञा बुद्धा** इति. अनीहत्वाभवत्व-कालात्मत्वात्माराम-त्वाकुण्ठिताखण्ड-सदात्मबोधत्वाप्रमत्तत्वदेवत्वरूपा राज्ञा पूर्वं न बुद्धचरा(?)

आह **हरिरपि** इति. औद्धत्यशङ्काऽपि यत्र न अस्ति इति अर्थः. यादवाकृतिं यथा नरवानरादेः एकान्नबीजत्वेऽपि पूर्वबीज–सन्तति–पाताद् जात्यैव भेदो भवति, एवं ब्राह्मण–क्षत्रिययोः यादवायादवयोश्च. अतो यादवेषु कश्चन धर्मो वर्त्तते येन ते इति ज्ञायन्ते, तन्निवृत्यर्थमेव शापः. अतो यादवत्वख्यापनार्थं भगवांन् तल्लक्षणं स्वरूपे प्रदर्शितवान्, तदेवा 'आकृति'शब्देन उच्यते. तां **तत्त्यज** इति स्वबुद्धिः. **त्र्यधीशः** इति गुणत्रयस्वामी, सर्वम् अन्यथाकर्तुं समर्थः. तादृशोऽपि शापं न अन्यथा कृतवान् इति अर्थः।।२८।।

शुकः तद्बुद्धिम् अनुसृत्यैव भगवानिव तां बुद्धिं लोके स्थापयितुं प्रकारान्तरेण समाधानम् आह

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनाऽमोघवाञ्छितः।
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन् देहम् अचिन्तयत्।।२९।।
अस्माद् लोकाद् उपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धवएवाऽद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः।।३०।।
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु।।३१।।

ब्रह्मशापापदेशेन इति. ब्रह्मशाप इति उपदेशमात्रं किन्तु स्वाज्ञाकारिणा कालेन सर्वं कुलं संहृत्य आज्ञामपि इच्छयैव कृतवान्. पश्चात् स्वयमेव सर्वमेव लोकं त्यजन्, बीजभावेन प्रवेशं कुर्वन्, एवम् अचिन्तयत्. तद् आह **अस्माद् लोकाद्** इति. ''निश्चयेन मया अयं लोकः त्यक्तव्यः''. तत्र गुणपञ्चकानां कार्यस्य जातत्वाद् ज्ञानकार्यम् अवशिष्यते. तत्तु न ग्रन्थमात्रेण भवति, प्रत्यग्रसन्देहानां तत्र अनिराकरणात्. अतः केनचित् पुरुषेण तत्प्रवर्त्तकेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आकृतिं निश्चायितुम् आहुः **यादवाकृतिम्** इति. एतम् अर्थं व्युत्पादयन्ति **यथा** इत्यादि. **भेदः** इति. आकृतिभेदः. **कश्चन** इति. प्रायो ज्ञापको नियतव्यञ्जकः. **स्वबुद्धिः** इति राज्ञो विपर्ययबुद्धिः।।२८।।

अस्माद् इत्यत्र. **प्रवेशं कुर्वन्** इति. अधिकारिबुद्धौ प्रवेशं कुर्वन्. परोक्षवादत्वाद् उत्सृजशब्दार्थत्वाच्च न अत्र लक्षणादोषः।।३०।।

स्थातव्यम्. तत्र मम अनन्तगुणत्वेऽपि, प्रचार्यमाणे ज्ञाने, अहं वा, उद्धवो वा प्रचारणसमर्थो भवति. यतः तद् ज्ञानं **मयि** मद्विषयकमेव, नहि अन्यो मां जानाति, अहं वा जानामि, "**भक्त्या माम् अभिजानाति**" (भग.गीता.१८।५५) इति ज्ञानपूर्णभक्तो वा. अतः उद्धवं ज्ञानपूर्णं भक्तं ज्ञात्वा स्वस्थाने तं स्थापितवान्. किञ्च, तज्ज्ञानं **मदाश्रयं**, मामेव आश्रित्य तिष्ठति, 'भग'शब्द-वाच्यगुणमध्यपातात्. शब्दाश्रितन्तु ज्ञानं वाक्यश्रवणात् सर्वस्यैव अधिकारिणो भवति, इदन्तु मय्येव हृदि स्थिते मत्सङ्गेन समायाति. नारदादयोऽपि शास्त्राश्रितमेव ज्ञानं समाश्रिताः, इदन्तु पुष्ट्यात्मकम्. अहन्तु स्वस्मिन् वा भक्ते वा तिष्ठामि, अतो भक्तोत्तमत्वात् साक्षाद् उद्धवएव अर्हति. ननु सन्ति ज्ञानिनो अन्येपि भक्ताश्च, को अस्मिन् विशेषः? इति आशङ्क्य आह **सम्प्रति आत्मवतां वरः** इति. सम्प्रति मज्ज्ञानधारकः कोऽपि न अस्ति. अत्र अङ्गत्रयम् अपेक्ष्यते; ज्ञानम्, भक्तिः, अतिजितेन्द्रियता च. तत् त्रयं कस्याऽपि न अस्ति, एकेन द्वयेन वा न इदं ज्ञानं तिष्ठति. अयं च कालः सर्वानेव अजितेन्द्रियानेव करोति, तस्माद् उद्धवएव सम्प्रति आत्मवतां वरः।।२९-३०।।

किञ्च, न उद्धवो अण्वपि मन्न्यूनः. ज्ञानाधारत्वार्थं ये गुणाः अपेक्ष्यन्ते ते मय्येव [क]उद्धवेऽपि सर्वे सन्ति सर्वप्रकारेण. अतो अणुमात्रमपि मत्तो न्यूनो न भवति. तत्र प्रमाणम् आह **यद्गुणैः न अर्दितः**[१] इति. मज्ज्ञाने सएव अधिकारी यस्य गुणक्षोभो न भवति. गुणा हि बहुधा हृदये क्षोभम् उत्पादयन्ति. किं बहुना, तत्क्षोभरहितो ब्रह्माऽपि न भवति, अतो अयमेव गुणैः न अर्दितः. तत्र हेतुम् आह **प्रभुः** इति. प्रभुः समर्थः स्वभावनियन्ता, सएव 'शूर' इति उच्यते. शूरएव हि लोके प्रभुः भवति. तथा अस्मिन् शास्त्रे यएव स्वभावं जयति, सएव प्रभुः. तादृशश्च उद्धवः. क्षत्रियः, शूरः, सम्बन्धि, पितृव्योऽपि भूत्वा नीचादपि नीचभावेनैव सेवते. अयमेव हि स्वभावजयः. इदमेव प्रभुत्वं भगवदवगतम्. अतो **मद्वयुनं** मज्ज्ञानम्, **लोकम्** अधिकारिणं **ग्राहयन्** भक्तिज्ञानोपदेशेन जितेन्द्रियत्वं च शिक्षयन् **इह** लोके **तिष्ठतु**. एवम् अचिन्तयद् इति सम्बन्धः।।३१।।

ततो भगवता आज्ञप्तः तथैव कृतवान् इति आह

क. 'तदुद्धवेपि' इति मां३, 'मय्येववदुद्धवेपि' जु,मां१ पाठः. १.नार्द्यते क. ख. ग. च. छ.

एवं त्रिलोकगुरुणा संदिष्टः शब्दयोनिना ।

बदर्याश्रमम् आसाद्य हरिम् ईजे समाधिना ।।३२।।

एवं त्रिलोकगुरुणा इति. एवमेव प्रमेयं बोधयित्वा त्वं तिष्ठ इति आज्ञप्तः. ''**आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया**'' इति मम एतद् असाध्यम् इति ज्ञात्वाऽपि जगद्गुरुवाक्यं स्वशक्त्यनुसारेण कर्त्तव्यम् इति कृतवान्. ननु भगवानेव सर्वानेव अनधिकारिणो ज्ञात्वा किमिति उद्धवं स्थापितवान्? इति आशङ्क्य आह **शब्दयोनिना** इति. स हि वेदकर्ता, सर्वाधिकारेण पदार्थान् वदति. यत्रैव तदधिकारेण आविशति, स्वयं सएव अधिकारी भवतीति, न अस्य अधिकारानधिकारविचारः कश्चन. ''**प्रजापतिः आत्मनो वपाम् उदखिदत्**'' इति उपक्रम्य ''**स एतं प्राजापत्यम् अजं तूपरमालभेत**'' ( ) इति आह. नहि एतादृशस्तूपरः केनचिद् उत्पादयितुं शक्यते. तथापि सर्वप्रकारेण क्रीडां कुर्वन्, एतत् कर्मणि यमेव यजमानं कृत्वा क्रीडितुं वाञ्छति तमेव स्वप्रवेशेन तथा करोति. अतो अत्रापि **शब्दयोनिना** उपदिष्ट इति. बदर्याश्रमे गत्वा, भगवदुक्तार्थसिद्ध्यर्थं साधनान्तरम् अलभमानः, सर्वदुःखहर्तारं भगवन्तं स्वमनःक्लेशमपि निवारयिष्यति इति समाधिना तम् **ईजे**. अतो भगवदाज्ञया स्थितः इति न शापादेः बाधकत्वं, न वा साधकत्वम्. यादवभावत्यागोऽपि न परमार्थतः, इदानीमपि भगवतो यादवत्वात्, तथैव भक्तानाम् अनुभवात्. लोकप्रतीत्या, लीलायामपि स्वैच्छयैव तथात्वम्।।३२।।

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतम् आह

विदुरोऽप्युद्धवात् श्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।

क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ।।३३।।

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।

अन्येषां दुष्करतमं पशूनां विक्लवात्मनाम् ।।३४।।

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ! कृष्णेन मनसा धृतम् ।

ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ।।३५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् इत्यत्र. **शापादेः** इत्यादि. शापस्य न स्थितिबाधकत्वं, कालस्य न स्थितिसाधकत्वम् इति अर्थः. लोकप्रतीतेत्यस्य तथात्वम् इत्यनेन अन्वयः।।३२।।

कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिः भरतर्षभ!।

प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ।।३६।।

विदुरोऽपि इति. सिद्धान्तस्य अनुक्तत्वाद् विपर्ययमायासम्बन्धः तत्राऽपि सिद्धः. अतः तच्छेषत्वेन विदुरकथाऽपि कथ्यते. अतएव अग्रे विदुरो अन्यथा वक्ष्यति ''**स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः**'' (भाग.पुरा.१।१३। १९) इति. यथा उद्धवो बदरिकाश्रमं गतः एवं विदुरोऽपि ''**प्रापद्यत स्वःसरितम्**'' (भाग.पुरा.३।४।३६) इति सम्बन्धः. मध्ये स्वस्य सम्यग् ज्ञानं नास्ति इति ज्ञापयितुं, भागवते उद्धवे निर्गते स्वयं प्रेम्णा विह्वलः सन् रुरोद. रोदनहेतवश्च भगवच्चरित्रश्रवणं, भगवन्मोहक-लीलाश्रवणं, भक्तेषु भगवत्कृपाश्रवणं च. सात्विकम् एतत्. आद्यं राजसम्. अतः त्रिभिरपि त्रिविधप्रेमोद्गमाद् रोदनम्. उद्धवमुखात् श्रुतत्वाद् न अन्यथाभावशङ्का. लोकप्रसिद्ध्यनुसारेण च पदार्थान् निरूपयति **कृष्णस्य** इति. चरित्राणां भक्तिजनकत्वाय स्वरूपमाहात्म्यम् आह **परमात्मनः** इति. विदुराधिकारेण एवम् उक्तम्, स्मृत्यनुसारेणैव तस्य भगवत्स्वरूपज्ञानात्. **परमात्मा** पुरुषोत्तमः. आत्मा भूत्वा सएव परमः. चिन्तामण्यादेः लोकप्रतीत्या परमत्वेऽपि न आत्मत्वं, न वा जीवस्य परमत्वम्. अत उभयप्रकारेण भगवानेव ज्ञायतइति तथोक्तम्. **क्रीडया** [१]बालकनटवत् कपटमानुषवेषं कृतवान्, तदेवोपात्तदेहत्वेन उच्यते. तादृशस्य सर्वैरेव **श्लाघितानि कर्माणि** भूभारहरणादीनि, गोवर्द्धनोद्धरणादीनि वा. 'च'काराद् गुप्तान्यपि, अद्भुतचरित्रं गोपिकारमणं वा।।३३।।

देहन्यासम् इति. देहस्य न्यासः कारणे स्थापनम्, शब्दच्छलेन नटवत् त्यागो वा. **एवम्** इति श्रुतिप्रकारेण. **धीराणां** वैराग्यानुसन्धानानाम्. **धैर्यं** साहसं,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विदुरोऽपि इत्यत्र. **तच्छेषत्वेन** इति विपर्ययशेषत्वेन. एवम् अत्र स्वांशेन भगवत्प्रवेशाद् बुद्धिसंस्कारेण तत्सर्गो निरूपितः।।३२।।

।।इति श्रीगोस्वामिपुरुषोत्तमजीमहाराजकृत-तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे चतुर्थाध्यायविवरणम्।।

१.''वा लोके'' इति घ.

सर्वपरित्यागेन एवं योगेनैव एतत् त्याज्यम् इति. स्वरूपे गत इति फलप्रदर्शनाद् अवान्तरक्लेशो न अनुसन्धेयः इति **धैर्यवद्र्धनम्. अन्येषाम्** अविवेकिनां देहात्ममानिनां **दुष्करतमं,** नहि एवं कश्चित् कर्तुं शक्तः. तत्रापि **पशूनाम्** अग्रिमहिताहितविवेकानुसन्धानरहितानाम्. तत्रापि **विक्लवात्मनां,** विक्लव आत्मा येषां, वैक्लव्यमेव येषाम् अन्तःकरणधर्मः सहजः. मौर्ख्येणाऽपि येषां साहसाभावः ते पशुभ्योऽपि विशिष्यन्ते।।३४।।

किञ्च, आत्मानं च भगवता मनसा धृतम् इति श्रुत्वा. **कुरुश्रेष्ठ!** इति सम्बोधनं तत्पूर्वजैः कृतानि पुण्यानि एवं वंशीयेषु उपतिष्ठन्तः इति ज्ञापनार्थम्. 'च'काराद् उपदेशनार्थं मैत्रेयाज्ञापनम्. न केवलं स्मरणमात्रं किन्तु मनसि स्थापितम्. ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**'' (भग.गीता.४।११) इति न्यायव्यतिरेकेणाऽपि बहिर्मुखेऽपि भक्ते पलायमानमपि **मनसा धृतम्**. तादृशं कृपापात्रम् आत्मानं[क] **ध्यायन्,** गुणान्तरकथनाभावाद् **गते भागवते रुरोद**. प्रेम्णा च विह्वलो जातः, मूर्च्छितो अभूद् इति अर्थः।।३५।।

ततो मूर्च्छायां भगवान् समागत्य सर्वम् उपदिश्य गतः इति सिद्धएव भूत्वा, ज्ञानादिसम्पन्नो मूर्च्छातः उत्थाय, कालिन्द्याः तीराद् निधिस्थानात् प्राप्तपुरुषार्थः **कतिभिरेव अहोभिः स्वःसरितं प्रापद्यत**. अयं मोहभावो मानुषाणामेव, नतु देवानाम्. देवत्वप्रापिका च गङ्गा, अतो अत्र विद्यमानाऽपि स्वःसरिदेव. **भरतर्षभ** इति सम्बोधनं फलपर्यवसायिविवेकस्य प्राप्तत्वाद् न तस्य मायामोहः इति सूचकम्. **अहोभिः कतिभिः** इति प्रतिबन्धक-कालापगमार्थम् उक्तम्. प्रकर्षेण आपद्यते इति मध्ये क्लेशाभावः उक्तः. तत्र गमने हेतुम् आह **यत्र मित्रासुतो मुनिः** इति. जगन्मित्रायाः पुत्रोऽपि तादृशः, स्वस्वभावादेव सर्वान् कृतार्थान् करिष्यति इति. तस्य अन्यत्रगमनशङ्कां वारयति **मुनिः** इति. सहि मननशीलः, जानाति च विदुरः समायास्यति इति. एतादृशएव देशो वक्ता च भगवत्कथायां फलसाधकः इति ज्ञापितम्।।३६।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित विरचितायां तृतीयस्कन्धे चतुर्थाध्यायविवरणम् ।।

क. 'तादृशं मनसेक्षितम् आत्मानम्'' इति जु, मां१-३ पाठः.

।। पञ्चमाध्यायविवरणम् ।।

चतुर्णां सर्ग आद्योऽत्र ह्यधिकारे निरूपितः ।
पुरुषत्वाय कृष्णस्य चतुर्भिः सर्ग ईर्यते ।।१।।
सएव भगवल्लीलां श्रोतुम् अर्हति तत्त्वतः।
अन्यथाऽन्यो हि मनुते ह्यधिकारस् ततो हितः।।२।।
कृष्णार्थसृष्टौ भूतानि जातान्येवेति निश्चयः।
वेदे पञ्चभिरेवाऽस्य पुरुषत्वकथोदिता ।।३।।
त एव बहुधा व्यस्ताः [क]तस्मात् तत्त्वानि तानि वै ।
भोगः शरीर एवेति मात्रास् तत्र निरूपिताः।।४।।
नानाविधानि शास्त्राणि तैः सन्देहविनिश्चयौ ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ पञ्चमाध्यायं विवरिषवः प्रकरणान्तरस्य आरभ्यमाणत्वात् पूवोत्तर-प्रकरणसङ्गतिं निरूपयितुं द्वयोरपि अर्थं वदन्तो द्वाभ्यां पूर्वोत्तरभावं समर्थयन्ति **चतुर्णाम्** इत्यादि. **अत्र** सर्गनिरूपके स्कन्धे हि यतो हेतोः **आद्यः सर्गो अधिकारे निरूपितः.** ततः **कृष्णस्य** पुरुषोत्तमस्य प्रथमपुरुषरूपेण प्राकट्यार्थं सर्गान्तरम् ईर्यते. अतः **सएव** अधिकार्येव तथा जानाति न अन्यः इति सो अत्यन्तम् आवश्यकः. तथाच हेतु-हेतुमद्भावः सङ्गतिः इति अर्थः. एवं सङ्गतिं निरूप्य अग्रे निरूपणीये सर्गद्वये न पूर्ववत् संस्कार्यता सृज्यानां किन्तु स्वरूपस्यैव उत्पत्तिः इति बोधनाय पञ्चमे भूतानां स्वरूपं बोधयन्ति **कृष्णार्थे**त्यादि. तथाच **भूतत्वम्** अत्र जातत्वेनैव विवक्षितं, नतु पृथिव्याद्यन्यतमत्वेन इति अर्थः. ननु **जातत्वस्य** साधारणत्वाद् एतेषु भूतत्वं कया उपपत्या इति आकाङ्क्षायां तदुपपादकं रूपम् आहुः **वेदे** इत्यादि. **पञ्चभिः** इति. आकाशादिभिः. **बहुधा** इति. त्रयोविंशतितत्त्वरूपेण, तथाच वेदोक्तभूतव्यष्टितया तद्भावत्वेन रूपेण भूतत्वम् इति अर्थः. अग्रिमाध्यायोक्तानां मात्रात्वे उपपत्तिम् आहुः **भोगः** इत्यादि. **शरीरे** ब्रह्माण्डात्मके. **तत्र** अध्याये **निरूपिताः** पदार्थाः **मात्राः.** **''निर्भिन्नं तालु वरुणः''**(भाग.पुरा.३।६।१३) इत्यादिना भोकस्य कथनात् पुरुषभोग्यत्वम् अत्र मात्रात्वं विवक्षितं, नतु भूतसूक्ष्मत्वं शब्दाद्यन्यतमत्वं वा इति अर्थः. तदग्रिमाध्यायोक्तानाम् इन्द्रियत्वम् उपपादयन्ति **नाना** इत्यादि. **अत्र शास्त्राणि**

क. 'ह्यस्मात्' इति मां१-३ पाठः.

मनो भगवतो ह्युक्तं तेनैवेन्द्रियसङ्कथा।।५।।
बुद्धिर् भगवतो ब्रह्मा तत्कार्यं च निरूप्यते।
स्तुतिप्रसादौ कार्याणां भूतान् इत्येष निश्चयः।।६।।
ततस् तेषां शरीराणि मात्रा एव हरेर् यथा।
कालएवेन्द्रियाण्येषां तत्राऽऽसक्तो म्रियेत वै।।७।।
बुद्धिस् तेषां महात्मानो वेदा मन्वादयस् तथा।
तत्रोक्तैरेव यद्युक्तम् उक्तं तेषां हिताय तत्।।८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उद्देश्यानि. **मनो** विधेयम्. तत्र युक्तिः **सन्देहविनिश्चयौ** इति. **तेनैव** इति. उभयेन्द्रियप्रेरकेण मनसैव. तथाच सन्देहनिश्चयाभ्यां कार्याभ्याम् अनुमानविधया शास्त्रेषु मनस्त्वं बोधयित्वा उपलक्षणविधया अन्येषु इन्द्रियत्वं सङ्कथितम् इति अर्थः. *तदग्रिमाध्यायोक्तस्य बुद्धिरूपत्वं पूर्ववद् आहुः **बुद्धिः** इत्यादि. **तत्कार्यम्** इति. **''क एष यो असौ''** (भाग.पुरा. ३।८।१८) इत्याद्युक्तालोचनरूपं बुद्धिकार्यम्. तथाच बुद्धिकार्यकर्तृत्वाद् **ब्रह्मा भगवतो बुद्धिः** इति अर्थः. एवं भगवत्प्रकरणस्थानां चतुर्णां स्वरूपम् उक्त्वा कार्यप्रकरणस्थानां चतुर्णाम् आहुः **स्तुती**त्यादिसार्द्धैः त्रिभिः. **स्तुतिप्रसादौ नवमाध्यायोक्तौ. कार्याणां** ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिव्यष्टीनां **भूतानि**(?) जातत्वात् सङ्घातहेतुत्वाच्च इत्येव **निश्चयः** सूक्ष्मेक्षिकया निर्धारः. एवम् अग्रे भोग्यत्वात् **तच्छरीराणि मात्रा** यथा पूर्वप्रकरणे भगवतः स्वासक्तमृत्युहेतुत्व-रूपकार्यात् **कालएव** तद् **इन्द्रियाणि यद्** यस्मात् **तत्र** अध्याये उक्तैः वेदादिभिः न एतत्पूर्वैः कृतं कर्मेत्यादिकं **तेषां** कार्याणां **हिताय** युक्तम् उक्तम्. **तत्** तस्माद् हेतोः **ते महात्मानएव** बुद्धिरूपा इति अर्थः. अत्र इदं बोध्यम्. लक्षणे भूताद्युत्पत्तेरेव सर्गत्वं प्रतिपाद्य [1]तत्परीक्षके अस्मिन् स्कन्धे चतुरध्याय्युत्तरं पञ्चमे महदादिसर्वतत्त्वोत्पत्तिं, ततो ब्रह्माण्डोत्पत्तिं, ततः शास्त्रकृतसन्देहनिश्चयौ, ततो ब्रह्मोत्पत्तिं, ततो ब्रह्मस्तुत्यादिकं, ततः पुनः महदादिसर्गं, ततः कालं, ततो ब्रह्मादीन् यद् वक्ति, एवम् अग्रे वराहावतारणादिकथाम् अन्यत् च यद् वक्ति, तेन एवं ज्ञायते. [2]यत्सर्व-साधारणभूतादिसर्गो न अत्र सर्गत्वेन विवक्षितो भूतादयः च न ते विवक्षिताः, किन्तु लीलारूपः सर्गः, तदुपयोगितया विचारिताएव च तत्प्रतियोगिनो भूतादयः इति.

* ''तदग्रिमाध्यायोक्तानां बुद्धिरूपत्वम् आहुः(?). १.परिक्षके. पा. २.यतः.पा.

कार्योपयोगितत्त्वानां पञ्चमे विनिरूप्यते।
उत्पत्तिर् यादृशैः कार्यं तद्भावश्च निरूप्यते।।९।।
प्रश्नाभिनन्दने चाङ्गं सर्वत्रैव हरेः कृतौ।
अतोऽत्र भगवत्प्रश्नः षड्विधो विनिरूप्यते।
वैराग्यादिः सृष्टिमार्गे विपरीतप्रवेशतः।।१०।।

तत्र प्रथमं तयोः कथार्थं सम्बन्धम् आह

श्रीशुकः उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां मैत्रेयम् आसीनम् अगाधबोधम्।
क्षत्तोपसृत्याऽच्युतभक्तिशुद्धः पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वक्ष्यति च "**रजोभाजो भगवतो लीलेयम्**"(भाग.पुरा.३।१०।१८) इति. एवं सति पृथिव्याद्यन्यतमत्वं शब्दाद्यन्यतमत्वं चक्षुराद्यन्यतमत्वं चित्ताद्यन्यतमत्वम् अन्यद् वा न भूतमात्रेन्द्रियधीलक्षणम् अभिप्रेतं, किन्तु विशिष्टदेहादिरूपस्थूलकार्यजनकत्वं भूतत्वं, भूतसूक्ष्मरूपत्वे सति भोग्यत्वं मात्रात्वं ज्ञानक्रियान्यतरकरणत्वे [३]सति दुर्ज्ञेयत्वम् इन्द्रियत्वम्, इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धित्वम् इति फलोपहितं लक्षणम् अभिप्रेतम्. एवम् अग्रिमप्रकरणेपि द्रष्टव्यम्. तेन अनायासेन भूतादिकार्यं कुर्वते भगवतएव भूतादिरूपत्वं, तेन तेन रूपेण भवनमेव च सर्गः इति फलति. अयमेव अर्थो अग्रे पञ्चविंशाध्यायारम्भे "**भगवद्रूपनिष्पत्तौ**"(भाग.पुरा.३।२५।कारिका) इत्यादि-कारिकाद्वयेन स्फुटीकरिष्यते इति न अत्र चोद्यं किञ्चित्. एवं सङ्क्षेपेण अष्टाध्याय्या अर्थः प्रदर्श्य प्रस्तुताध्यायार्थं विशेषाकारेण प्रदर्शयन्ति **कार्ये**त्यादि. **कार्यं** विराजः शरीरं, **तदुपयोगिनां तत्त्वानाम् उत्पत्तिः,** च पुनः **यादृशैः** तैः तत्कार्यं सिध्यति, **तद्भावः** तादृशसामर्थ्यवत्ताप्रकारः च पञ्चमे **निरूप्यते** इति अर्थः. ननु तर्हि प्रश्नाद्युपनिबन्धस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **प्रश्ने**त्यादि. भगवत्कृतिनिरूपणे यतः एतयोः अङ्गत्वम् अतो हेतोः सृष्टिरूपे भगवज्ज्ञानोपाये भगवद्गुणानां विपरीतप्रवेशाद् विरक्तो जिज्ञासति(?) ज्ञानी श्रयते, श्रितो यशः श्रद्धत्ते, यशस्यतृप्तो वीर्याणि जिज्ञासति(?) ज्ञातवीर्यः तम् ईश्वरत्वेन अनुसन्धत्ते इत्येवं षोढा भगवत्प्रश्नः तत्त्वानामेव ज्ञानार्थं निरूप्यते, अतः उपोद्घातत्वेन

३.सदुर्ज्ञेयत्वम्.

द्वारि इति. सर्वेषां देवत्वसिद्ध्यर्थं या देवनदी प्रवृत्ता, सा प्रथमतएव समीचीनं कार्यं करिष्यति इति भगवदाज्ञया मैत्रेयः तत्रैव स्थितः. गङ्गाद्वारि ब्रह्मकुण्डएव इति मे मतिः, [क]अन्तर्वेद्यां भगवत्सान्निध्यात्. **कुरूणाम् ऋषभः** इति महान् उद्योगः फलपर्यवसायी तस्य लक्ष्यते. **मैत्रेयो** हितकर्ता. **आसीनो** अव्यग्रः. अगाधो बोधो यस्य इति स्वबुद्धेः तत्र निमज्जनं सम्भविष्यति इति सूचितम्, अन्यथा न सर्वसन्देहनिवृत्तिः. **क्षत्ता** प्रथमतएव जितेन्द्रियो विचक्षणश्च. अच्युता या अच्युते भक्तिः [ख]तया शापाधिकारादि-बीजपातयोनिदोषादिसर्वाशुद्धि-निवृत्त्या शुद्धः. **उपसृत्य** समीपे गत्वा, विध्यनुसारेण वा, मैत्रेयस्य आर्जव-करुणादयः **सौशील्यगुणाः** तैः **अभितृप्तः** कथं वक्ष्यति नवा? इति सन्देहरूपा क्षुद् गुणैः निवृत्ता इति तादृशो भूत्वा **पप्रच्छ** इति अर्थः।।१।।

षट्प्रश्नेषु वैराग्यार्थं कः उपायः कर्तव्यः? इति प्रश्नं कुर्वन् स्वभावतो वैराग्यहेतोः अप्रयोजकत्वम् आह

विदुरः उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं चाऽन्यद् उपारमं वा ।
विन्देत भूयस् तत एव दुःखं यद् अत्र युक्तं भगवान् वदेन् नः।।२।।

सुखाय कर्माणि इति. फलं लोके द्विविधं, दुःखाभावः सुखं वा. दुःखस्य सुखप्रतिबन्धकत्वेन वा दुःखाभावः सुखएव हेतुः. अतो लोकः सुखार्थमेव सर्वं व्यापारं करोति, तेन च पुनः कदापि सुखं न प्राप्नोति. **लोकः** इति प्रमाणनिर्देशः. **च**कारात् पूर्वसुखमपि गच्छति. किञ्च. **अन्यद् उपारमं वा** दुःखाभावो वा न भवति, प्रतिबन्धकाभावएव क्वचित् साधनपर्यवसानस्य दृष्टत्वात्. तत्परमपि न जातम् तथा सति सहजं वा सुखं भवेत्. किञ्च, प्रत्युत

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद्बोधनमेव प्रयोजनम् इति अर्थः.

सुखाय इत्यत्र. मूले **अन्यद् उपारमम्** इत्यत्र वर्णागमः, **वा** शब्दावपि अर्थौ, अथवा **अन्यद्वा न** तस्यैव व्याख्यानम् **उपारमम्** इति, दुःखाभावः इति अर्थः. लिङ्गम् अशिष्यम्. एतं पक्षम् अभिप्रेत्य आहुः **प्रतिबन्धके**त्यादि।।२।।

क. 'अन्तर्वेदिभगवत्...' इति मां१-२-३ पाठः. ख. 'तेन' इति जु, मां१-२-३ पाठः.

तैरेव दुःखं भवति. **भूयः** सहजादपि अधिकम्. **ततएव** इति साधनान्तरनिवृत्तिः, साधनान्तरस्य अदृष्टत्वात्. "**तदुदितः सहि यो यदनन्तरः**"(   ) इति सुखसाधनस्यैव दुःखसाधकत्वम्. साधनताज्ञानन्तु अन्धपरम्परया. अनिवृत्तिः स्वाग्रहाद्, अस्मदीयैः तथैव कृतम् इति. भूयो व्यभिचारदर्शनमपि परम्पराश्रद्धा बाधते. एतादृशे अर्थे फलविपर्ययं दृष्ट्वापि यदि न निर्वतन्ते तदा वाक्यमात्रेण कथं निवर्तेरन्? तस्माद् वैराग्यार्थं किं कर्त्तव्यम् इति प्रश्नः. अथवा, येनैव अव्यभिचारि सुखं भवति, तद्वा वक्तव्यम् इति लोकाद् अतिरिक्त-प्रमाणत्वं तस्य आह **भगवान्** इति. अस्माकन्तु भगवदुक्तमेव प्रमाणम्, अतो अस्माभिः स्वार्थमेव पृच्छ्यतइति न अप्रकृतत्वम्. **वदेद्** इति प्रार्थनायाम् ।।२।।

ननु अस्माकं भगवदाज्ञा तत्त्वोपदेशार्थे, नतु एतादृशार्थकथनार्थे इति आशङ्क्य आह

जनस्य कृष्णाद् विमुखस्य दैवाद् अधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ।।३।।

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य इति. भवत्सु द्वयम् अस्ति, भगवतः सामान्याज्ञा विशेषाज्ञा च इति. इदं सामान्यया आज्ञया वक्तव्यं; यतो भगवान् भवतः एतदर्थमेव सृजति, अन्यथा भगवदीयाः न उत्पद्येरन्, स्वार्थं तेषां प्रयोजनाभावात्. अतएव तेषु 'भूत'पदप्रयोगः. जातानि इति अर्थः. शब्दच्छलेन ते लग्नाः स्वसमानं कुर्वन्ति इति ज्ञाप्यते. यदि लोकानां तथा भाग्यमपि न भवति तथापि तएव भाग्यरूपाः भूत्वा तान् स्वसमानान् कुर्वन्ति इति **भव्यानि** इति उक्तम्. अतो लोकोपकारार्थं समागतानां भवताम् एतद् आवश्यकम् इति. **जनस्य** प्राणिमात्रस्य. जन्मतएव ज्ञायते भगवद्विमुखो अयम् इति, अन्यथा जन्मैव न स्यात्. प्रवृत्या च अवसीयते. **कृष्णाद्** इति मूलसच्चिदानन्दवैमुख्यं महद् आश्चर्यम् इति. तथापि विमुखस्य, जननानन्तरमपि दैवात् प्राचीनासुरकर्मणो विमुखस्य, दैवादेव अधर्मशीलस्य, स्वभावतएव अधर्मो रोचते इति. नहि स्वाभाविकं केनचिद् निवर्त्तयितुं शक्यते. अतएव **सुदुःखितस्य**, अन्यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जनस्य इत्यत्र. भगवदीयस्य तद्बहिर्मुखस्य च अत्र जन्मकथनात् तावन्मात्रं न वैमुख्यगमकम् इत्यतः आहुः **प्रवृत्या** इत्यादि. दुःखितभवनप्रयोजनम् आहुः **अन्यथा**

तदनुग्रहमपि न मन्येत. **इह** अस्मिन् लोके न ततो अन्यो दुःखनिवारणहेतुः. **नूनं** निश्चितम्. सन्देहाभावः उभयत्र. भगवदीयैरेव दुःखाभावो न अन्यैः इति. तत्र हेतुः **जनार्दनस्य** इति. जनां सर्वलोकजननीम् अर्दयति इति. जनायाः वा अर्दनं यस्माद् इति. सहि मूलजननं निवारयति, तदीयाः च तत्साधकाः।।३।।

अस्य उत्तरं ''भगवद्भजनं कर्तव्यं'' तद् अव्यभिचारिसुखहेतुः भवति इति यदि, [क]तदा तत्र उपायं कथय इति पृच्छति

तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ।।४।।

तत्साधुवर्य इति. **तत्** तदा. यदि भगवद्भजनेनैव प्राणी कृतार्थो भवति तदा तत्र **वर्त्म आदिश**. भगवत्प्रेरणया भगवदाज्ञारूपवेदानुसारेण वा क्रियमाणेऽपि भगवान् न परितुष्यति, दुःखस्य अनिवृत्तत्वात्. अतो येन मार्गेण सम्यग् आराधितो भगवान् ज्ञानं प्रयच्छति तम् उपायं स्थिरं प्रहितं सर्वलोकप्रसिद्धं कथय इति प्रश्नः. कल्याणरूपम् इति साधनदशायामपि सुखरूपत्वं, यथा विमानयानम्. गूढस्य अत्यभीष्टस्यापि ज्ञापने हेतुः **हे साधुवर्य** इति सम्बोधनम्. हितमात्रं साधुरपि वदति, एतादृशन्तु भगवद्भक्तो यो ब्रह्मवित् सएव वदति, सहि स्वात्मानमिव सर्वं मन्यते. येन मार्गेण प्रथमं भगवान् संराधितो भवति. भगवत्वाच्च संराधनं कठिनं ''**किमासनं ते गरुडासनाय**''(   ) इति वाक्यात् स्वस्य च अमर्यादत्वादिगुणवैशिष्ट्यात्. **पुंसाम्** इति बहूनां काकतालीयवद् उपायो न मार्गो भवति. किञ्च, भगवान् अन्तर्यामी सर्वानेव नानाप्रकारेण प्रेरयति, स्वस्वभावाद्, जीवस्वभावम् अनुसृत्य वा. उभयथाऽपि प्रेर्यधर्माविष्टो भवति. तत्र यदि पूर्ववदेव सः प्रेरयेत्, तदा कृतमपि भजनं व्यर्थं स्यात्. अतः तादृशः उपायो वक्तव्यः येन सएव अन्तर्यामी भक्त्या पूतो भवति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. यदि दुःखं न प्राप्नुयात् सुखलेशजमदव्याप्तः सत्कुलजन्मादिरूपं भगवदनुग्रहमपि न अनुसन्दध्याद् इति अर्थः।।३।।

तद् इत्यत्र. **दुःखस्य अनिवृत्तत्वाद्** इति. अयं हेतुः अपरितोषज्ञापको ज्ञेयः. **प्रहितम्** इति. प्रकर्षेण हितम्.

क. 'तेनोदिते तदा' इति मां१–३ पाठः.

पूतः पवित्रएव प्रेरयति. भक्त्या पूतो भक्तावेव प्रेरयेत्. सहि स्वभावतः प्रवाहनिर्वाहार्थमेव नियुक्तः तथा प्रेरयति यथा प्रवाहः सिध्यति. अयं तस्य सहजो धर्मः. तथा करणाद् अपूतइव लोके प्रसिद्धः. तस्यैव च बहीरूपं कालः. यथा एकेन हस्तेन ध्रियते, अपरेण च मार्यते; तत्र उभयोः पावानार्थं मार्गद्वयं सृष्टम्. वेदः कालस्य अन्तर्यामिणो भक्तिः. तन्मार्गेण प्रविष्टः सोमवत् पूतो भवति. वेदेन पूतः कालो न मारयति, भक्त्या पूतो अन्तर्यामी न अन्यथा प्रेरयति. इदञ्च पावनं न अशुद्धस्य शुद्धिजनकं, किन्तु सोमवत् तन्मार्गनिर्गमनम्. अन्योन्याश्रयाच्च अयम् अर्थो न सिध्यति इति प्रश्नः. गुरूपदेशाच्च अयम् अर्थो न सेत्स्यति इति आह **हृदि स्थितः** इति. सहि हृदये स्थितः स्वेच्छया यदि प्रेरयेत्, किं बहिः उपदेशेन. अतो भगवता यद् उक्तम् इदं विदुराय ज्ञानं वक्तव्यम् इति, तद् अन्तर्यामि-समाधानव्यतिरेकेण न भविष्यति इति. तत्समाधानार्थं प्रथमतो भगवदाराधना, ततो भगवत्सन्तोषः, ततो भगवता दत्तस्य प्रेम्णः प्राप्तिः, ततः प्रेमभक्त्या तस्यैव अन्तर्यामिणो ज्ञानार्थं प्रेरणम्. पूर्वसिद्ध-नानाविधज्ञानानां विद्यमानत्वात् तदस्मरणपूर्वकं यथा ज्ञानम् उदेति वाक्यात्, तथा प्रेरणं पूर्वसिद्धमिति तज्जनितं ज्ञानं न कार्यं समर्पयति. अतएव महताऽपि साधनेन वाक्याद् ज्ञानं न उदेति. यदा पुनः सएव अन्तर्यामी स्यस्यैव गुणभूतं ज्ञानं तस्मै प्रयच्छति तदा पवित्रमिव वाक्यं ज्ञानहेतुः भवति. तद् ज्ञानं त्रिविधम्. शारीरात्मनो ब्रह्मत्वेन अनुभवः, साङ्ख्यं सर्वतत्त्वविवेचनात्मकं, भगवतश्च अशेषविशेषप्रकारेण स्वरूपबोधकम्. तत् त्रिविधमपि ज्ञानं साधनसाध्य-फलभूतभक्त्या पूतो भगवान् प्रयच्छति इति. **ज्ञानं** ब्रह्मभावः, तच्च सर्वतत्त्वानां ज्ञानसहितम्. तत्राऽपि तत्त्वानां मूलभूतस्य सर्वभावज्ञानं पुराणम्।।४।।

ननु एतद् निरन्तरं भगवद्गुणश्रवणाद् भवति इति चेत् तत्र आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सोमवद् इति. यथा सोमो वल्लीविशेषो वैदिकेन मार्गेण संस्कृतः फलसाधकत्वात् पूतो भवति तद्वद् इति अर्थः. ननु ज्ञानार्थं प्रेरयत्येव अन्यथा ज्ञानाशंसा तव कथं स्याद् अतः किमर्थं तादृशो प्रेरणोपायप्रश्नः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **पूर्वे**त्यादि एतज्ज्ञानन्यायेन वैराग्यमपि एतत्सजातीयमेव पृष्टं ज्ञेयम्. अज्ञविधस्य ज्ञानान्तरवद् अपायप्रसङ्गेन अस्थिरत्वाद् इति।।४।।

करोति कर्माणि कृतावतारो यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्यधीशः ।
यथा ससर्जाऽग्र इदं निरीहः संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ।।५।।

करोति कर्माणि इति. अयञ्च तृतीयः प्रश्नः. भगवतो हि इयं श्रीः. अत्र सप्तपदार्थाः पृच्छ्यन्ते, सप्तविधभक्तिसिद्ध्यर्थम्. भगवतो अवतारकर्माणि, जगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः त्रयः, प्रवेशनानात्वं, जगतः प्रकाराः इति. सप्तानां पूर्वपूर्वसाधकत्वम्. तत्र भगवदवतारकर्माणि किमर्थम्? इति आकाङ्क्षायां, मोक्षार्थम् इति चेद्, उत्पत्तिः व्यर्था न भवेत् किमिति सन्देहः. अथ यदि तदर्थमेव उत्पादनं, तदा अवतारकर्माणि व्यर्थानि, उभयोः एकत्वाद्, अमोहकत्वेनैव च कार्यसिद्धेः. तस्माद् उत्पादनलीलाऽपि ज्ञातव्या. उत्पादनमात्रेण च कार्यासिद्धेः योग्यतासिद्ध्यर्थं तावत्कालं स्थितिरपि मृग्या. यदि भगवान् तद् नाशयेत्, तदा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

करोति इत्यत्र. **अयञ्च** इतदिश्लोकपञ्चकेन क्रियमाणः व्युत्क्रमेण तृतीयस्य श्र्याख्यस्य गुणस्य प्रश्नः इति अर्थः. **इयम्** इति. पृच्छमाना. **प्रकाराः** इति. तत्त्वभेदेन स्वरूपादिभेदेन द्विविधाः प्रकाराः. ननु एकप्रश्नमध्ये सप्तानां किमिति निवेशः इति आकाङ्क्षायां निवेशे हेतुम् आहुः **सप्तानाम्** इत्यादि. तथाहि वस्तूनां स्वरूपभेदः प्रत्यक्षसिद्धः. सच कारणभेदाभावे अघटमानः कारणीभूततत्त्वभेदं साधयति. तत्त्वभेदः च प्रवेशभेदः. अन्यथा भगवतः एकत्वात् तत्त्वानि न भिद्येरन्. प्रवेशभेदः प्रलयं साधयति. अन्यथा प्रतिकल्पम् एकविधमेव ब्रह्माण्डं तिष्ठेत्. प्रलयः स्थिति(?) स्थितिः उत्पत्तिम्. साच जन्माद्यस्य इति न्यायेन [१]भगवतं(?) साधयति इत्यतः सप्तानाम् एकत्र निवेशः. ननु तस्य तस्य तत्तदुपपादकत्वं ज्ञायतएव चेत् प्रश्नस्य किं बीजम् इति आकाङ्क्षायां तद् आहुः **तत्र** इत्यादि. **व्यर्थे**ति. उत्पत्तेः संसारार्थत्वाद् अवतारकर्मभिः मोक्षे सा तथा इति कथम् उभयसामञ्जस्यम् इति प्रश्नबीजम्. **उभयोः एकत्वाद्** इति. जीवोत्पत्त्यवतारकर्मणोः एकेनैव कार्यसिद्धौ इतरवैयर्थ्याद् इति अर्थः. ननु सहकारित्वाद् न अन्यतरवैयर्थ्यम् इति चेत् तत्र आहुः **अमोहकत्वेन** इत्यादि. तथाच अवतारकर्माणि व्यर्थानि इति अर्थः. **ज्ञातव्या** इति. परस्पराविरोधेन ज्ञातव्या. ननु उत्पत्तेः स्थितिद्वारैव मुक्त्यर्थत्वम् इति चेत्, तत्र आहुः **यदी**त्यादि.

१.भगवत्त्वम्. भगवन्तमिति स्यात्.

विहितकरणादिनाऽपि कार्यं सेत्स्यतीति न अवतारप्रयोजनम्. किञ्च, यदि बहुधा अयं भगवान् न भवेत् तदा अवतारेण सर्वमुक्तिरेव भवेत्. अतो भिन्नस्वभावेन प्रेरणाद् नानाभावाच्च सर्वा व्यवस्था सम्पद्येत. लोकाः चेद् भगवत्कृताः एकविधाः स्युः, ब्रह्माण्डाद् वा निर्गमनं न भवेत्, तदाऽपि अवतारकर्माणि भिन्नानि. ऐकात्म्ये वा यदि एकस्य साधनम् अन्यस्य भवेत्, [क]तथापि व्यर्थं स्याद् इति भेदनिर्माणं च ज्ञातव्यं स्यात्. अतः सप्तानाम् एकः प्रश्नः, सप्ताङ्गत्वात् श्रियः. **कृतावतारो भगवान् यानि कर्माणि करोति**. **यानि** इति प्रसिद्धिः उक्ता. बहूनि च वक्तव्यानि, तेषां कर्मत्वञ्च वक्तव्यम्. तानि च भगवत्कर्माणि भवन्ति न भवन्ति इति, भगवतः कर्तव्यम् अकर्त्तव्यं वा. दोषत्रयाभावस्तु मयैव ज्ञायते इति विशेषणत्रयम् आह. भगवान् कालाधीनतया न किञ्चित् करोति, कालार्थं वा. तद् आह **आत्मतन्त्रः** इति. स्वतन्त्रो न कालाधीनः इति अर्थः. कर्म-स्वभावयोः स्वमध्यपाताद् भिन्नतया निवारयति **भगवान्** इति. कर्माधीनता व्यावर्त्तिता. नहि पूर्णज्ञानवतः कर्माणि बन्धकानि भवन्ति. **त्र्यधीशः** इति. त्रिगुणनियन्ता, अतो न स्वभावाधीनः. तस्माद् एतादृशेन यानि कर्माणि कृतानि, न स्वभावाद्, न अदृष्टतः, न कालप्रेरणात्, तानि कर्माणि अलौकिकान्येव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन्नाशयेद् इति. स्थितौ मोहं नाशयेत्. 'तद् न नाशयेद्' इति पाठे तं मोहं न नाशयेद् इति अर्थः. एतेन नाशलीलायाअपि प्रयोजने सन्देहो बोधितः. **संपद्येत** इति. अतो अन्तर्यामिस्वभावभेदोऽपि सहेतुको ज्ञातव्यः इति अर्थः. **निर्गमनम्** इति. तत्त्वभेदेन स्वरूपभेदेन च भेदः. **भिन्नानि** इति. न स्युः इति शेषः. अतो जगतो द्विधा भेदोऽपि ज्ञातव्यः इति अर्थः. **सर्वम्** इति(?). तत्कारणभूततत्त्वभेदः. **अतः** इति. उत्तरोत्तर-ज्ञानस्य पूर्वपूर्वज्ञानसाधकत्वात्. **श्रीः** अत्र वासुदेवस्य माया ज्ञेया. अतः एवं प्रश्न-बीजम् उक्त्वा व्याकुर्वते **कृते**त्यादि. **प्रसिद्धिः उक्ता** इति. तथाच न करोति इति उत्तरं न दातुं शक्यम् इति अर्थः. **तेषां कर्मत्वम्** इति. कर्तुः ईप्सिततमत्वं तेषां केन रूपेण. एतस्यैव विवरणम्. **तानि** इत्यादि. तस्यापि निष्कर्षो **भगवतः** इत्यादि. तव्यस्तु आवश्यकार्थः. ननु कालकर्मस्वभावाधीनः करोति इत्येव कल्पनीयम् इति चेत्, तत्र आहुः **दोषे**त्यादि. **स्वमध्यपाताद्** इति. आत्मतन्त्रपदैकदेशबोधित-

क. 'तदापि' इति जु,मां१-२-३ पाठः.

भवन्ति इति श्रोतव्यानि भवन्ति. किञ्च, **यथा इदं ससर्ज. अग्रे** सृष्टेः पूर्वम्. एको दोषाभावस्तु ज्ञायते यद् अयं चेष्टया न करोति इति. मनः चेष्टाऽपि निवारिता. इच्छायां सन्देहः. प्रयत्नो न अस्ति इति निश्चयः, ज्ञानं च अस्ति इति. किञ्च, सर्वमेव उत्पादितं सम्यक् स्थापयित्वा **जगतो वृत्तिं विधत्ते.** सर्वेषामेव जीविकां प्रयच्छति. अत्र दूषणाद्यभावो न श्रुतो, न ज्ञायते; प्राणिनाम् अन्योन्याहारात् ।।५।।

किञ्च **यथा** इति.

यथा किल स्वे ख इदं निवेश्य शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एतद् अनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत् ।।६।।

यथा वा इदं सर्वं संहृत्य, **स्वे** स्वकीये हृदयाकाशे **इदं** सर्वं **निवेश्य,** स्वयमपि **गुहायां** गुप्तस्थाने **किल शेते**. अत्र एकस्य दूषणस्य परिहारो ज्ञायते. निवृत्ता वृत्तयो यस्य, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिवृत्तयो यत्र न सन्ति इति. का वा गुहा, को वा [प्र]सङ्गोप्यः? इति न जानीमः. हृदये च पुनः सर्वं निवेशितवान्. किञ्च, योगेश्वराणाम् अधीश्वरः. एकएव **एतत्** सर्वं सृष्टम् **अनुप्रविष्टो यथा बहुधा आसीत्** तद् वक्तव्यम्. योगेन नानारूपाणि योगी करोति. ते हि उपायेन स्वयोगं व्ययीकृत्य तथा भवन्ति, यथा कर्मणा. परं कर्मणा क्रमेण भवन्ति, योगेनतु एकदैव भवन्ति. अयन्तु तेषामपि ईश्वरः. 'अधि'शब्देन च यागैश्वर्येऽपि अधिके निरूपिते भवतः. अनेन बहुधा भवनं सम्भवति इति उक्तम्. परम् अखण्डः, समुदायेन वा, खण्डशो वा भवति इति सन्देहः ।।६।।

ननु एतादृशं चरित्रं भवता बहुधा श्रुतं भारतादौ, किमिति पुनः पृच्छ्यते इति आशङ्क्य आह

क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां क्षेमाय कर्माण्यवतार भेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि।।७।।

क्रीडन् विधत्ते इति. द्विज-गो-सुराणां **क्षेमाय** अवतारभेदैः **क्रीडन् कर्माणि विधत्ते**. किम् अतो यदि एवम्? अतः आह तानि **कर्माणि शृण्वताम**पि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्वमध्यपाताभावाद्(?) **अत्र** इति. विविधायां जीविकायाम्।।५।।

यथा इत्यत्र. **संगोप्य** इति. स्वस्वरूपम् अज्ञापनीयः।।६।।

मनो न तृप्यति. अन्येषां तृप्तावपि **नो** मनो न तृप्यति. तत्र हेतुः **सुश्लोकमौलेः चरितामृतानि** इति. एकं कर्तुः विशेषणम् अपरं कर्मणाम्. सुश्लोका उत्तमा कीर्तिः मौलौ यस्य. यदा भगवान् दृश्यते तदा दूरादेव तस्य कीर्तिः दृश्यते, यथा दूरात् पुरुषस्य मुकुटं दृश्यते. अतो भगवदिच्छायां निवृत्तायां परं कीर्तीच्छा निवर्तते. भगवन्तं मन्यमानः कथं शिरोभूषणाद् निवर्तेत? किञ्च, एतानि **कर्माणि** अमृतरूपाणि **चरितामृतानि**. कर्माण्येव चरितानि. चरितानाम् अमृतत्वम् अनुभवसिद्धं, क्षुत्–पिपासादिनिवारकत्वेन मरणनिवर्त्तकत्वञ्च. **चरितम्** इति प्रयत्नमात्रम्. भक्षणवाचकत्वेन वा विरोधेन अमृतत्वम् अद्भुतकर्मत्वेन. कर्माणि च पुनः चरितेन कृत्वैव **अमृतानि,** उत्पन्नान्येव नित्यानि इति. प्रयत्नमात्रविषयत्वेन तेषां नित्यत्वे, श्रवणादि प्रयत्नविषयाणामपि नित्यत्वात्, सर्वेन्द्रियव्यापारपूर्णत्वेन ऐहिकामुष्मिकदुःखनिवारकाणि भवन्ति, तदा उभयामृतत्वं सम्पद्यते. **द्विज–गो–सुराणाम्** इति मन्त्राः हविः देवताश्च यागे प्रधानभूताः त्रयो निर्दिष्टाः. तेषां **क्षेमाय** कर्मकरणम्. अनेन भगवत्कर्माणि धर्मरूपाणि इति उक्तम्. ततश्च तानि मनसा भावितानि मनोयज्ञाः भवन्ति, कीर्तितानि वाग्यज्ञाः, श्रुतानि ज्ञानयज्ञाः इति. अवतारभेदैः इति. नानाविधैः अवतारैः. भेदग्रहणेन लोके तदवतारत्वेन ज्ञातुम् अशक्यम् इति गम्यते. मत्स्याद्यवताराः विसदृशत्वाद् भेदाः इति उच्यन्ते. अथवा, ज्ञानक्रिया–विशिष्टभेदेन त्रयो अवताराः. तेषां भेदाः. ज्ञानकलावताराः व्यासादयः, क्रियाकलावताराः वराहादयः, उभयं कृष्णः. अवताराः च भेदाः च इति वा. तदा भेदाः आवेशिनः. अवतारैः आवेशैश्च यज्ञानां परिपालनं क्रियते इति करणे रक्षा हेतुः, अतृप्तौ चरितामृतत्वम्. अतः चरित्राणि वक्तव्यान्येव इति अर्थः ।।७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

क्रीडन् इत्यत्र **मरणनिवर्तकत्वं च** इति **''क्षतु खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः''** (   ) इति श्रुतेः क्षुधः तथात्वात् तन्निवारकत्वेन तथात्वम् इति अर्थः. चरित्रे मरणनिवारकत्वस्य अनुभवसिद्धत्वाभावाद् नञ्समासम् अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **भक्षणे**त्यादि. कर्मणां श्रवणासेचनत्वेन अत्यास्वादनेऽपि न तेषां हानिसंभावना इति तथा इति अर्थः. अद्भुतकर्मत्वमेव व्युत्पादयन्ति **कर्माणि** इत्यादि. **नित्यानि** इति. ध्वंसाप्रतियोगीनि. अर्थद्वयस्यापि अत्र विवक्षितत्वबोधनाय आहुः **प्रलये**त्यादि।।७।।

किञ्च,

यैस् तत्त्वभेदैर् अधिलोकनाथो लोकानलोकान् सहलोकपालान् ।
अचीक्लृपद् यत्र हि सर्वसत्व–निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ।।८।।

यैः इति. **यैः तत्वभेदैः लोकान् अलोकांश्च** लोकपालसहितान् **अचीक्लृपत्** तानि कथय इति आह. कति तत्त्वानि लोकसर्गे व्यापृतानि, कति च अलोके. यदि सर्वैरेव तत्त्वैः सर्वएव कृताः स्युः तदा लोकालोकादिभेदो न स्यात्. लोक्यते इति लोकः, प्रत्यक्षयोग्यः. लोकालोकात् परभागास्तु न प्रत्यक्षयोग्याः. अस्य अयं भावः. स्वभावतएव लोकरूपाः अलोकरूपाश्च लोकाः, नतु तेजसा प्रकाशिताः, मनुष्याणामेव तदपेक्षणात्. तदभावो वा किं मूलकः? अत्रैव हि मेघ–काष्ठ–सूर्यादयः उत्पद्यन्ते, ते च अन्यत्र कुतो न भवन्ति? अतो अलोकाः केचन स्वतएव इति. तत्रापि च लोकपालाः सन्ति. तत्र चक्षुषा विषयग्रहणे आलोकापेक्षाभावः, चक्षुः अभावो वा. अथवा, **लोकान्** स्वर्गादीन्, **अलोकान्** लोकरहितान् उज्जटान् देशान्, लोकेऽपि लोकपाल–सहितान् त्रीन् इति अर्थः. **यत्र अचीक्लृपत्** तत् कथय इति प्रश्नः. ननु किमिति त्रयो भेदाः गणिताः? लोकाः राजसाः, अलोकाः तामसाः, लोकपालाः सात्विकाः इति. तत्र आह **सर्वसत्वनिकायभेदो अधिकृतः प्रतीतश्च**. सर्वाणि च **सत्वानि** जीवयोनिभेदाः, तेषां **निकायः** समूहः, तस्य **भेदः** सहानवस्थानम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यैः इत्यत्र. मूले **'अधिलोकनाथ'**पदं लोकनाथाधिपतित्वबोधकम्. सहलोकपालान् इत्यनेन अलोकेष्वपि तत्साहित्यस्य प्रतीयमानत्वाद् लोकालोक-परभागे तदभावाद् 'अलोक'पदं न तत्परम् इति आशयेन आहुः **अस्य अयम्** इत्यादि. **मनुष्याणाम्** इति. मनुष्यतुल्यचक्षुष्कानाम्. **तदभावः** इति. उलूकादिषु आलोका-पेक्षाभावः. लोकालोकपरभागस्य अलोकत्वं हृदि कृत्वा आहुः **अत्रैव** इत्यादि. तथाच लोकालोकपरभागपक्षे इदं प्रश्नबीजम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **तत्रापि** इति. उलूकादिष्वपि. 'त्रिलोक'पदेन पिपीलिकादिसङ्ग्रहार्थम् आहुः **चक्षुः अभावो वा** इति. 'अलोक'पदेन व्याख्यातानां सत्त्वविशेषत्वेन आधेयत्वाद् यत्र इति आधारवाचकपदविरोधः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. **तत्कथय** इति लोकादिजनकतत्त्वभेदाधिकरणं कथय इति अर्थः.

समूहाअपि भिन्नाः तिष्ठन्ति इति. नहि पिपीलिकाः पक्षिणश्च एकत्र भवन्ति. सोऽपि अधिकृतः. तत्रापि अधिकारिणः सन्ति, अन्यथा उपदिकानां मुखे जलं, काकानाम् एकाक्षित्वं, पशूनाञ्च तूपरातूपरभेदो न स्यात्. किञ्च, प्रतीतोऽपि अयं सर्वोऽपि भेदः, यत्र प्रतीयन्ते सर्वे भेदाः, तत्र अप्रतीताः कियन्तो वा भवन्ति इति. युक्तएव महतो निर्माणे तत्त्वभेदः इति **हि**शब्दार्थः. अनेन ब्रह्माण्डनिर्माणं सहेतुकं वक्तव्यम् इति प्रश्नः।।८।।

किञ्च,

येन प्रजानामु उत आत्मकर्म–रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।

नारायणो विश्वसृगात्मयोनिः एतच्च नो वर्णय विप्रवर्य! ।।९।।

येन इति. प्रजानामपि प्रत्येकम् **आत्मा** स्वरूपं, कर्म, रूपम्, **अभिधा** नाम; एतेषां येन हेतुना कृत्वा **भिदां व्यधत्त**. एकस्यामपि योनौ अनन्ताएव भेदाः. तेषु च एको द्वितीयइव न भवति स्वरूपादिना केनाऽपि. तत् कुतः? इति प्रश्नः. [१]ननु एतद् अकृतमेव स्यात्! तत्र आह **नारायणो विश्वसृगात्मयोनिः** इति. अत्र हेतुत्रयम् अस्माभिः ज्ञायते, न अन्य इति. तान् आह ''**नराद् जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुः बुधाः**''(   ) तानि अयनं यस्य इति, तेषु सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्. एकेन अंशेन द्वयं न क्रियतइति तदंशे विद्यमानएव भगवान् तावद्भेदे हेतुः इति एकः पक्षः. किञ्च, **विश्वसृक्** सर्वस्य कर्ता भगवान्; सर्वत्रैव उपादान–गोचरापरोक्षज्ञानम् अस्य अस्ति, अन्यथा तावतो न सृजेत्. अतो भगवज्ज्ञानमेव तावद्भेदे हेतुः इति द्वितीयम्. किञ्च, **आत्मयोनिः** इति. आत्मैव **योनिः** कारणं यस्य. अयं स्वस्मादेव स्वयम् उत्पद्यते. अतो भगवतः कश्चन तादृशो गुणो अस्ति, येन स्वयमेव स्वस्माद् उत्पद्यते इति भिन्नो भवति. एवमेव अयम् अनन्तमूर्तिः जातः इति स्वयमेव तावद्रूपो भवति इति. एवं तत्त्वतो ज्ञानतश्च इति हेतुत्रयं ज्ञायते. अन्यद् वक्तव्यम् इति अर्थः. **एतत् च** इति 'च'कारात् पूर्वोक्तमपि प्रष्टव्यम् इति उक्तम्. अन्यथा उत्तरमेव वक्तव्यं स्यात्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अधिकारिणः इति. नियतकार्ये नियुक्ताः. तत्र अर्थाप्रमाणत्वेन आहुः **अन्यथा** इत्यादि।।८।।

येन इत्यत्र. **अकृतम्** इति. हेतुं विनैव. **पूर्वोक्तम्** इति. 'नारायणादि'-

सर्वत्र. **नः** इति बहुवचनम् [क]एकशिष्यत्वाद् अवक्तव्यनिराकरणेन प्रचारण-पारम्पर्यबहुत्वज्ञानार्थम्[ख]. **विप्रवर्य** इति. ''**प्रा पूरणे**'' (धातुपा.अदादि. ५४) इति धातोः विशेषेण पूरयति इति सर्वगुणपूर्णता निरूपिता. तेषामपि वर्यत्वात् पूर्णाः भगवद्गुणाः अस्मिन् सन्ति इति सर्वकथने हेतुः।।९।।

ननु एतत् सर्वं भारते कथितमेव, तथाच पुनः किमर्थं पृच्छ्यते इति आशङ्क्य आह

परावरेषां भगवन् व्रतानि श्रुतानि मे व्यासमुखाद् अभीक्ष्णम् ।

अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां तेषाम् ऋते कृष्णकथामृतौघात् ।।१०।।

परावरेषाम् इति. श्रुतस्याऽपि श्रवणे किं दूषणम्? आनन्त्यात् पदार्थानाम् अपर्यवसानम् इति चेत्, तत्र उच्यते. **परावरेषां** ब्रह्मादिस्थावरान्ता-नाम्. **व्रतानि** नियतधर्माः, कर्माणि च **श्रुतान्ये**व. तानि **व्यासमुखाद् अभीक्ष्ण**शः श्रुतानि. व्यासो हि नीतिज्ञानार्थं बहुधा सर्वेषां धर्मान् कथयति, अन्यथा राज्ये स्थिरा बुद्धिः न भवति इति. परं राज्यमेव त्यक्तम् इति तेभ्यः उपरता बुद्धिः. उपरमे हेतुः **क्षुल्लसुखावहानाम्** इति. अल्पमेव सुखम् आवहन्ति. तद्वतः श्रवणेन तथा हृदयभावनायाम् अन्ततो गत्वा तत्त्वं भवति. तस्माद् वा दोषाद् विमुच्यते. उभयथापि अल्पं सुखं फलतः. स्वरूपतस्तु तद्दुःखात्मकमेव. अतः उक्तं **क्षुल्लसुखम् आवहन्ति** इति. अतः तैः तृप्ताः जाताः. अतः परं तच्छ्रवणेच्छा न उत्पद्यते इति अर्थः. **तेषाम्** इति प्रसिद्धानाम् इति. **कृष्णकथामृतौघाद् ऋते**. कृष्णकथैव **अमृतौघो** अमृतपूरः, तस्मात् परं न तृप्तिः. विरोधाभासश्च सूचितः, क्षुल्लसुखात् तृप्तिः, अमृतपूराच्च अतृप्तिः इति. अयम् अर्थः. इच्छा हि यथा-विषयं जायते, तस्मिन् प्राप्ते निवर्त्तते च. साच विषयसमाना भवति. विषयः च अल्पः इति अल्पीयस्येव सा सर्वत्र उत्पद्यते, पिपीलिकाक्षुद्वद्. नहि पिपीलिका

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पदत्रयोक्तं हेतुत्रयम्. एतेन ऐश्वर्यं पृष्टं ज्ञेयम्. यशो-वीर्ययोः अग्रे स्फुटत्वाद् इति. यशो वा अत्र. तथा सति ''**तदस्य**''(भाग.पुरा.३।२६।७) इति श्लोके वीर्यं, शिवाय इति फलकथनात्. सः विश्वेति ऐश्वर्यम्, 'ईश्वर'पदस्य तत्र प्रयोगाद् इति।।९।।

क. 'एकाशिष्यत्वाद्' इति जु, मां१-२ पाठः. ख. 'ज्ञापनार्थम्' इति मां१-२-३ पाठः.

गजभोज्यं भोक्तुम् अर्हति, अतो अल्पेनैव निवर्तते. गजस्तु कोटि–पिपीलिकान्नेनाऽपि न तृप्यति. अतो भगवद्विषयिणी या इच्छा, अनन्त–गुणत्वाद् भगवतः सर्वं ग्रहीतुं महता कालेनाऽपि अशक्ता, न तृप्ता भवति. अतो न निवर्तते इति. **कृष्णः** इति सदानन्दः. तस्य कथा तद्रूपा, भगवद्धर्माणां भगवद्रूपत्वात्. सरसश्च पदार्थो बहु गृह्यते, अल्परसो अल्पएव इति अनुभवः।।१०।।

अत्र अधिकारिभेदेन व्यवस्था भविष्यति इति आशङ्क्य निराकरोति

कस्तृप्नुयात् तीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ।।११।।

कः तृप्नुयाद् इति. अत्र इच्छैव न उत्पद्यते, उत्पन्ना चेद् न कदापि तृप्यति, वह्निः आहुतिभिरिव. तद्गुणाः इच्छामेव वर्द्धयन्ति इति पूर्वं निरूपितम्. युक्तः च अयम् अर्थः. आसुराणाम् इच्छाभावाद् देवानां मध्ये कः तृप्नुयात्. विहितार्थएव हि तेषां प्रवृत्तिः. तत्र विरक्ताविरक्तभेदेन, ब्राह्मण–क्षत्रियभेदेन वा यज्ञाः तीर्थानि च विहितानि, चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षफलकानि. तानि स्वरूपतो दुःखात्मकान्यपि फलतः समीचीनानि. भगवद्गुणास्तु चतूरूपाणि, स्वरूपतोऽपि अमृतौघानि, फलतो मोक्षफलानि, यज्ञरूपाणि, तीर्थरूपाणि च. अतः कः तृप्नुयात्. तीर्थानि पादे यस्य. ‘‘**तिस्रः कोट्यो अर्द्धकोटी च तीर्थानां वायुः अब्रवीत्, दिवि भुवि अन्तरिक्षे च तानि वै जाह्नवीजले**’’ (स्कन्दपुरा.खं.६ ११७।६८) इति. सा गङ्गा भगवत्पदी, तादृशस्य च अभिधानम्. शब्दमात्रम् एतद् इति पक्षो अग्रे निवर्तयिष्यते. **सत्रेषु सूरिभिः** भगवद्गुणाभिज्ञैः **ईड्यते.** सत्रेषु हरिगाथोपगायनम् अस्ति, यथा अश्वमेधे ‘‘**ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायेताम्**’’ (आप.श्रौ.सू.७।१) इति, यथा वा नारदो गानार्थम् आहूतः. तेन हि सत्रं पूर्यते ‘‘**विष्णोः कर्माणि पश्यत**’’ (तैत्ति.संहि. १।३।६) इत्यादि श्रुतेश्च. किञ्च, **यो** भगवान् **कर्णनाडीं पुरुषस्य यातः,** स्वस्य हृदि स्थित्यर्थं, हृदये विद्यमानां गेहरतिं संसारदायिनीम् अनिष्टरूपां **छिनत्ति,** अमृतरूपत्वात्. इष्टरूपत्वं पूर्वमेव निरूपितम्, अनिष्ट–निवारकत्वञ्च उक्तम्, यागात्मकता च निरूपिता. **कर्णनाडीं पुरुषस्य यातः** इत्यनेन शब्दो न केवलः इति उक्तम्. भगवत्सहितत्त्वेतु तीर्थानि सिद्धान्येव ।।११।।

ननु एवं सति व्यासः कथम् अन्यद् उक्तवान्? इति आशङ्क्य आह

मुनिः विवक्षुः भगवद्गुणानां सखाऽपि ते भारतम् आह कृष्णः ।

यस्मिन् नृणां ग्राम्यसुखानुवादैः मतिः गृहीता नु हरेः कथायाम्।।१२।।

मुनिः विवक्षुः भगवद्गुणानाम् इति. स हि भगवद्गुणानेव वक्तुम् इच्छुः, तेषाम् अधिकारसिद्ध्यर्थं, भवानिव भगवदाज्ञां प्राप्य भरतवंशोत्पन्नानामेव चरित्रम् आह. सहि दौष्यन्तिः मायाम् अत्यगाद् इति तद्वंश्याः तादृशाएव. तेषां श्रवणेन देवमायामोहाभावे भगवद्गुणाः श्रोतुं शक्याः भवन्ति. अतो अनधिकारिणोऽपि भगवद्गुणश्रवणसिद्ध्यर्थं, **ते सखाऽपि** केवलभगवद्-गुणवक्ताऽपि, नाम्ना **कृष्णो**ऽपि **भारतम् आह. यस्मिन्** भारते **नृणां** बुद्धिः उपायेन आकृष्टा भवति. तत्र ते सर्वे ग्राम्यकथास्वेव आविष्टचित्ताः. प्रवृत्तिः च स्वरुच्यैव. अतः तेषां बुद्धिग्रहणार्थं ग्राम्यकथासु भगवत्कथाः प्रवेशिताः. ताः कथाः ग्राम्यत्वेनाऽपि गृहीताः स्वप्रयोजनं कुर्वन्ति इति प्रयत्नः सार्थको भवति. तद् आह **नु** निश्चयेन इति।।१२।।

ततः किम् अतः आह

सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिम् अन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययम् आशु धत्ते ।।१३।।

सा श्रद्दधानस्य इति. आस्तिक्यबुद्धिः **श्रद्धा**. कथा प्रथमतः स्वकार्यं श्रद्धामेव जनयति. ग्राम्यपदार्थेषु उच्चनीचभावे रसानुभवाद् उत्कृष्टमेव गृह्णाति, न निकृष्टम्. अतः **सा** मतिः **श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना**, श्रद्धया निरन्तरश्रवणाद् विवर्द्धमाना, अन्यत्र कृशरतया प्राप्ते विरक्तिं करोति. उत्तमान्न-सम्पत्तौ नहि कश्चित् पिण्याकं भक्षयति. परम् एकएव गुणो अपेक्ष्यते, स्वातन्त्र्यम् इति. तद् आह **पुंसः** इति. ततोऽपि किम् अतः आह **हरेः पदानुस्मृती**ति. प्रवृद्धमत्या निरन्तरं भगवत्स्मरणं करोति, तदा चित्ते भगवत्स्मरणस्य निरन्तरस्थितौ चित्तं निर्वृतं भवति, तत्र हि भगवान् आनन्दमयः प्रविष्टः इति. तदा सम्पन्नं सत् तच्चित्तं ततो न निवर्तते. तदा ततोपि प्रवृद्धा मतिः समस्तानां दुःखानाम् **अत्ययं** नाशम् **आशु** शीघ्रमेव **धत्ते**. अतः परमपुरुषार्थः ससाधनो भारते निर्दिष्टः।।१३।।

एवमपि उपाये कृते येषां चित्तं भगवति न प्रविशति तानपि अहम् अनुशोचे

तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे हरेःकथायां विमुखान् अघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषाम् आयुर् वृथावादगतिस्मृतीनाम्।।१४।।

तान् इति. भगवान् स्वसेवार्थम् इन्द्रियाणि दत्तवान्. कतिपयेभ्यो न दत्तवान्. येभ्यो न दत्तवान् ते शोच्याः. तेषां चेद् इन्द्रियाणि भवेयुः, तद्द्वारा भगवद्भजनं कुर्युः इति. ये पुनः दानसमये आसुराणि इन्द्रियाणि प्राप्तवन्तः ते तां कथां श्रुत्वापि तद्रसानभिज्ञाः न भजन्ते, ते शोच्यानामपि शोच्याः. अथवा, ये न जानन्त्येव सञ्ज्ञाद्यभावात्; तान् अहं शोचे. तेऽपि यदि दैवगत्या भगवत्सम्मुखाः भवेयुः, तथाऽपि न शोच्याः; सर्वथा विमुखाः चेत् तदा शोच्याः. तथात्वे हेतुः **अघेन** इति. पापनैव भगवद्वैमुख्यं कार्यते, स्वनाश-शङ्कया. तदा कालोऽपि तान्, ग्रसति इति आह **क्षिणोति** इति. सहि सर्वज्ञो देवः सर्वान् जानाति. ग्रासार्थं च **अनिमिषः** सावधानः. 'तु'शब्दः पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति. भगवद्विमुखस्य देवतान्तरेण वा, मार्गान्तरेण वा, निस्तारो अस्ति इति पक्षः. तेषां सर्वेषामेव आयुः हरति तस्य तदेककार्यत्वात्. ननु कायवाङ्मनोभिः ते किञ्चित् समीचीनं करिष्यन्ति इति आशङ्क्य आह **वृथा वादगतिस्मृतीनाम्** इति. अर्थशून्याः त्रयोऽपि वादादयः, तएव तेषां रोचन्ते, दिवाभीतानां यथा तेजः. **गतिः** कायिकी. तस्मात् तेषां सर्वस्वनाशाद्, विद्यमानेऽपि पुरुषार्थसाधने पुरुषार्थाभावाच्च, शोच्यानामपि शोच्याः॥१४॥

एवम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भारततात्पर्यम् उक्त्वा, तेन भगवत्कथायां गृहीतचित्तं मां प्रति भगवत्कथैव केवला वक्तव्या इति आह

तद् अस्य कौषारव शर्मदातुः हरेः कथामेव कथासु सारम्।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्त्तबन्धो शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः॥१५॥

तद् अस्य इति. पूर्वप्रश्नाः चत्वारो अज्ञानान्यथाज्ञाननिवर्तकाः. अयन्तु प्रश्नो ज्ञातएव, प्रत्यहभोजनवद् आवश्यको अपेक्ष्यते. **तत्** तस्मात् कारणात्. **अस्य** पुरतः परिदृश्यमानस्य भगवतः, स्वभावतया सर्वेभ्यः **शर्मदातुः** दुःखनिवारकस्य च, कथामेव कथय. ननु हरिकथा लौकिक्या[१] संवलिता, कथं भिन्नतया केवला कथयितुं शक्यते? तत्र उपायम् आह **कथासु सारम् उद्धृत्य** इति. सृष्टिप्रकाराः बहवः सन्ति. तत्र भगवत्कर्तृकैव सृष्टिः वक्तव्या. पालनं बहुविधम् अस्ति, कालकर्मादिभिः क्रियमाणं, तत्र भगवक्रियमाणमेव वक्तव्यम्. प्रलयोऽपि तथैव. यस्यां सृष्टौ भगवानेव प्रविश्य नाना भवति, नतु जीवः पुरुषो

१.लोकिक्यसंवलिता घ.

अन्यो वा. चरित्रमपि प्रकृत्याद्यसंवलितं वक्तव्यम् इति. किं बहुना भक्तेष्टपूरण–दुःखनिवारणैकप्रयोजनं केवलं भगवच्चरित्रं सर्वतः सारम् उद्धृत्य वक्तव्यम्. बुद्ध्यैव अत्र उद्धारः. सूक्ष्मोद्धारे दृष्टान्तम् आह **पुष्पेभ्यइव** इति. यथा पुष्पएव मकरन्दो अन्तः तिष्ठति परं तं भ्रमरएव पिबति. मधुमक्षिका च उद्धृत्य स्थापयति. तथा यद्यपि भ्रमरवत् पीयते तथापि परोपकारो न भवति इति मधुमक्षिकावद् उद्धृत्य वक्तव्यम्. ननु एतत् क्लेशात्मकं भवति, पीतस्य पुनः उद्गिरणात्. तत्र आह **आर्त्तबन्धो** इति. लोकोपकारार्थं क्लेशोऽपि सोढव्यः. वस्तुतस्तु पानइव निष्कासनेऽपि इन्द्रियसम्बन्धस्य तुल्यत्वाद् अविकृतत्वाच्च परोपकारे सिद्धे रोमन्थइव रसास्वादनं भवति. अतो **नो** अस्माकं [२]**शिवाय कीर्त्तय**. अधिकारो न अस्ति इति न मन्तव्यम्. तीर्थरूपा कीर्तिः यस्य इति, तेनैव अधिकारोपि भविष्यति.।।१५।।

एवम् उद्धृतभगवत्कथां पृष्ट्वा, मूलपुरुषस्य [क]द्वितीयपुरुषस्य चरित्रं वा, पृच्छति

स विश्वजन्म–स्थिति–संयमार्थे कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।

चकार कर्माण्यतिपूरूषाणि यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ।।१६।।

सः विश्वेति. यः पूर्वोक्तः सएव कार्यान्तरार्थे अवतीर्णः तस्य चरित्रं प्रथमतः पृष्टम् इति. अन्ते सर्वस्याऽपि विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे यः **कृतावतारः** परमपुरुषः, व्यष्टीनां वा जन्माद्यर्थे **कृतावतारः**, नतु कालादीन् आज्ञापयति, किन्तु स्वयमेव आगत्य करोति यः. ननु भगवत्कृतेऽपि इहेत्याद्यनुभवात् कथं केवलं भगवत्कृतं तद् भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **प्रगृहीतशक्तिः** इति. प्रकर्षेण गृहीताः कालादिशक्तयो येन. ते हि कालादयः तत्र प्रतीयमानाअपि भगवता नियमिताः, न स्वतः कार्यं कुर्वन्ति. प्रतीतिमात्रन्तु न दोषाय. जन्माद्यर्थमेव अवतारान् जन्मादीनि करिष्यत्येव. किन्तु अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः प्रकर्षेण अतिपौरूषाणि यानि चकार. साधारणन्तु न करिष्यति,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः विश्वेत्यत्र. **विश्वे**त्यादिविशेषणप्रयोजनम् आहुः **कार्यान्तरे**त्यादि. तथाच पूर्वप्रश्नाद् अस्मिन् वैलक्षण्यज्ञापनाय विशेषणम् इति अर्थः।।१६।।

२.फलकथनात्. प्र. क. ‘‘मूलपुरुषस्य द्वितीयचरित्रं वा’’ इति मुद्रितपाठः.

ईश्वरत्वात्. **तानि** केवलं **मह्यमेव** कथय. मया परम्परार्थमपि अन्यस्मै न वक्तव्यम् इति भावः।।१६।।

एतादृशप्रश्नकर्ता न अन्यो भविष्यति, न वा प्रश्नव्यतिरेकेण वक्तुं शक्यम्. अतो अस्य अधिकारो निरूपितः. अनेनैव प्रश्नेन अन्ये सहिताः भवन्तीति पर्यवसानतः एकएव प्रश्नः सिद्धः. तस्य उत्तरम् अध्यायद्वयेन वक्ष्यति, अवतारादिपौरुषप्रयोजनभेदात्. तस्माद् एतद् अध्यायद्वयं स्वतएव अनेन उद्धृत्य उक्तम्. अनेन चेद् अतृप्तः प्रश्नान्तरजिज्ञासुः भविष्यति तदा पूर्वोक्तानपि विशेषान् तत्रैव कृशरे पातयित्वा जीवसन्देहनिवृत्त्यर्थं वक्ष्यामि इति अभिप्रायो मैत्रेयस्य. अतः प्रश्नाभिनन्दनं वक्तुं तस्य अयं प्रश्नो अभिप्रेतः इति आह

श्रीशुकः उवाच

एवं स भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।
पुंसां निःश्रेयसार्थाय तम् आह बहुमानयन् ।।१७।।

एवम् इति. मैत्रेये आविष्टो भगवान् वर्त्ततइति सः भगवान्. केवलेन एतज्ज्ञातुं वक्तुञ्च अशक्यम्. **क्षत्त्रा** इति पूर्ववत्. **कौषारविः** इति पितृनाम्ना विवेकित्वम्. **मुनिः** इति तदुक्तार्थज्ञानानुसन्धाने हेतुः. इदम् अतिपवित्रं चरित्रं न एकस्मै प्रयोजनाय वक्तव्यम् इति **पुंसां निःश्रेयसार्थाय** इति उक्तम्. परं तम् उद्दिश्यैव इति आह **तम् आह** इति. बहुमाननेन तस्य हृदये प्रविशति इति, भगवदीयत्वाच्च बहुमाननं कृतवान् इति अर्थः।।१७।।

तत्र चतुर्भिः सन्माननं करोति.

पृष्टार्थदेहजीवानां सम्बन्धस्याऽपि सर्वतः।
ज्ञात्वा कथनबोधाय तैरुत्कर्षो निरूप्यते।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् इत्यस्य आभासे. **अध्यायद्वयेन** इति. तेन विदुरमैत्रेयसंवादे प्रश्नोत्तर-रूपौ अवान्तरप्रकरणसङ्गतिः[१] बोधिता. द्वाभ्यां कथने हेतुः **अवताराद्** इति. अवतारः च तदादिः च इति अवतारवादी [२]तत्पौरुषयोः यत् प्रयोजनं तद् भेदाद् इति अर्थः. **पूर्वोक्ते**ति. ''**यन्मर्त्यलीला**''(भाग.पुरा.३।२।१२) इत्यत्र पूर्वं द्वितीयस्कन्धे च आनन्दशक्तित्वेन उक्ता।।१७।।

१.इतोऽग्रे 'रेवसङ्गतिर्नतु पृथक्. य (?) सङ्गतिरपीति बोधितम्. इति पाठोऽप्यस्ति. २.तयोः.

तत्र प्रथमं प्रष्टव्योत्कर्षेण तम् अभिनन्दति

मैत्रेयः उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता ।
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजाऽऽत्मनः।।१८।।

साधु पृष्टम् इति. बहवएव पृच्छन्ति, कोपि एवं न पृच्छतीति **त्वया** इति उक्तम्. नच तव अयं प्रश्नः काकतालीयः किन्तु ज्ञात्वैव कृतः. उत्तरमपि ज्ञायते तर्हि प्रश्नो व्यर्थः इति आशङ्क्य आह **लोकान् साध्वनुगृह्णता** इति. लोकोद्धारार्थमेव ज्ञात्वाऽपि **त्वया** प्रश्नः कृतः. अनेन अस्मिन् शास्त्रे परोपकारो मुख्यं साधनम् इति उक्तम् भवति. तवाऽपि एकम् आनुषङ्गिकं फलं सिध्यति इति आह **कीर्तिं वितन्वता लोके** इति. अस्मिन् लोके आत्मनः कीर्तिं विस्तारयता भवता पृष्टम्. ननु स्वकीर्त्यर्थं तथा करणम् अनुचितं चेत् तत्र आह **अधोक्षजात्मनः** इति. अधोक्षजएव अन्तःकरणे यस्य. देवालयप्रतिष्ठया देवएव प्रतिष्ठितो भवति इति. परम्पराश्रयणन्तु साक्षाद् भगवतः इन्द्रियागोचरत्वात्. तद् आह **अधोक्षजे**ति. एवम् अस्य प्रश्नस्य स्वपरहितत्वात् साधुत्वम्।।१८।।

देहोत्कर्षम् आह शूद्रायोनिदोषाभावाय

नैतत् चित्रं त्वयि क्षत्तः बादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत् त्वया हरिरीश्वरः।।१९।।

न एतत् चित्रम् इति. ''**क्षेत्रम् एके प्रशंसन्ति बीजम् अन्ये मनीषिणः**'' ( ). तयोः बीजमेव उत्तमम्. ''**यद् बीजस्य प्रभावेन तिर्यञ्च ऋषयो अभवन्**''( ). अतो **बादरायणस्य वीर्यजे त्वयि चित्रं न.** तादृशवक्तुः पुत्रः वक्तुमेव समर्थो भवति, किं पुनः प्रश्ने. अतएव चित्राभावः. तस्य बीजस्य फलमपि जातम् इति आह **गृहीतः** इति. अनेन प्रामादिक-बीजत्वशङ्का निवारिता. नहि अन्यथा उत्पन्नो भगवद्भक्तो भवति, भगवत्कर्तृकसर्गत्वात्. अतएव अनन्यभावेन केवलभगवद्भावेन भगवान् गृहीतः. सहि दुःखमपि शमयति. योन्यादिसर्वदोषानपि दूरीकरोति, यतः **ईश्वरः**. करणे हेतुः **हरिः** इति. दीनदयालुत्वात् तथा करोति इति अर्थः।।१९।।

जीवोत्कर्षम् आह

माण्डव्यशापाद् भगवान् प्रजासंयमनो यमः ।

भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात्॥२०॥

माण्डव्यशापाद् इति. सहि धर्मराजएव माण्डव्यशापाद् व्यासद्वारा क्षत्रियभोगपत्न्यां जातः. माण्डव्यो हि यमेन अज्ञानाद् दण्डितः. कस्यचिद् राज्ये चौरैः सह 'माण्डव्य'नामा ऋषिः तपः कुर्वाणः शूले आरोपितः. सहि यमं प्रष्टुं गतः. तेन पृष्टो यमः आह ''त्वया बाल्ये [क]शकुन्तायाः पृष्ठे इषीका प्रवेशिता'' इति. ततः क्रुद्धो मुनिः ''बाल्येन कृतं पित्रोः भवति इति, अज्ञानात् त्वया अहं दण्डितइति, शूद्रो भव'' इति शशाप. तस्य देवस्य शापसम्बन्धे हेतुम् आह **प्रजासंयमनः** इति. प्रजाः संयमयति मारयतीति तथा. अतः तेन कर्मणा देवस्याऽपि पापं लग्नम्. ततो ''दैत्यषु जन्म मा भवतु'' इति सर्वथा दैत्यस्य सम्बन्धरहिते भगवति व्यासे आविष्टः, शापसार्थकत्वाय तस्यैव **भ्रातुः क्षेत्रे,** भोगपत्न्यां **भुजिष्यायां** शूद्रायाम्. व्यासस्यापि सङ्क्रमणयोग्यार्थं **सत्यवतीसुतः** इति उक्तम्. उपरिचरवसोः बीजाद् मत्स्ययोनौ जाता, कैवर्ताधिपेन दाशेन परिपालिता दाशकन्या सत्यवती, तस्याः पुत्राद् व्यासाद् **जातः** इति॥२०॥

भगवदीयत्वेन प्रकृतोपयोगिमहत्वम् आह

भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च ।

[ख]यज्ज्ञानदेशाय च माम् आदिशद् भगवान् व्रजन् ॥२१॥

भवान् इति. नित्यं भवान् भगवत्संमतः. सेवकसहितस्याऽपि, वैष्णवानामपि सुसम्मतः. तद् आह **सानुगस्य** इति. सर्वदा सम्मतिः तदानीं स्मरणाद् अवसीयते. सेवकाअपि भीष्मादयः ''**विदुरेण महात्मना**'' (महाभा.१-स्त्रीपर्व.८।१७) इति वाक्याद् भवन्तं मन्यन्ते. तत्र हेतुम् आह [ग]**यज्ज्ञानदेशाय** इति. यस्य तव ज्ञानोपदेशार्थं भगवान् **माम् आदिशत्**. 'च'कारात् स्वयमपि स्मरणेन उपदिष्टवान्. **भगवान्** इति स्मरणे [घ]हेतुभावः. **व्रजन्** इति तस्य आवश्यकत्वम्. देवरात् सुतोत्पत्तिः विहिता इति व्यासस्य भ्रातृपत्नीगमने[ङ] न दोषः. तस्य रागसम्बन्धाभावः प्रयोजकः इति अग्निहोत्रादिवत् कलौ निषिद्धः ॥२१॥

एवं तस्य अभिनन्दनम् उक्त्वा तत्पृष्टां भगवल्लीलाम् आह

क. 'शकुन्तिकायाः' इति जु,मां१-२-३ पाठः. ख-ग.'यस्य' इति जु,मां१-३ पाठः.
घ. 'हेत्वभावः' इति जु,मां१-२-३ पाठः. ङ.गमनम् ख. ग. घ. च.जु.मां१.मां३.

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ।।२२।।

अथ इति. लोकप्रसिद्धेः भिन्नः प्रकारइति 'अथ'शब्दः. केवलभगवन्निर्मितचरित्रं वेदएव, तथापि तुभ्यं तद् वक्तव्यं न भवति इति, **योगमायोपबृंहिताः** भगवल्लीला वदिष्यामि इति आह **ते भगवल्लीला** इति. **योगमाया** साधनभूता [१]पूर्वोक्ता भगवन्माया, तया **उपबृंहिताः** स्पृष्टाः, केवलाः तव योग्याः न भवन्ति इति. तत्राऽपि अन्तिमप्रश्ने परिहारः उच्यते इति आह **विश्वस्य स्थित्युद्भवान्ताएव अर्थाः** प्रयोजनानि यासां ताः. **आनुपूर्व्येण** क्रमेण वर्णयिष्यामि. भगवल्लीलायाः मनोनुरञ्जकत्वेन स्नेहजनकत्वम्. योगमायोप-बृंहितत्वेन आश्चर्यरूपत्वाद् अद्भुतत्वम्. बुध्यन्तरविस्मरणाय एतद् उच्यते. विश्वोत्पत्यादिकन्तु माहात्म्यज्ञानार्थम्. आनुपूर्वीतु बोधसौकर्याय. एवं सति भक्तिः भवति. अनेन भगवत्कर्तृकता लीलयैव इति सर्वदोषाभावः. पुरुषोत्तमत्वाय च लीलोपायेन सम्बद्धा इति न सा अपगच्छति. तस्याः न कर्तृत्वे प्रवेशः, किन्तु सहभावमात्रम्. अन्यथा सर्ववशीकरणं न स्यात्. विश्वस्य स्वरूपं वक्तव्यम्. तद् एकं भगवद्रूपम्. तासां लीलानां तदुत्पत्यादयो विषयाः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ ते इत्यत्र. **अन्तिमप्रश्ने** इत्यादि. **''स विश्वजन्म''** (भाग.पुरा. ३।५।१६) इत्यनेन उक्ते ईश्वरकृतिप्रश्ने या(?) कालादिशक्तिभिः विश्वजन्मादि-सम्भवेऽपि स्वयं तानि किमर्थं चकार इति आशङ्का तत्परिहारः तेषामेव प्रयोजनत्वकथनाद् लीलात्वेन उच्यते इति अर्थः. **सर्वदोषाभावः** इति. **''करोति कर्माणि''**(भाग.पुरा.३।५।५) इत्यत्र भगवदवतारकर्माणि किमर्थम् इत्यादिना वैयर्थ्यादिदोषाः उद्भाविताः तेषाम् अभावः. **पुरुषोत्तमत्वाय च लीला** इति. यदि लीलां न कुर्यात् तदा सर्वस्य एकरूपत्वेन तरतमभावाभावात् पुरुषोत्तमत्वं न सिध्येद् इति तदर्थं सा इति अर्थः. योगमायोपबृंहितत्वकथनप्रयोजनम् आहुः **उपायेन** इत्यादि. सर्वमुक्त्यनन्तरम् आश्रयलीलामात्रस्थितौ पुरुषोत्तमत्वमपि आगन्तुकं स्याद् इति तन्निवृत्यर्थं सा माया योगार्थमेव उपायरूपा इति तया भगवति सम्बद्धा लीला कदापि

१.'यन्मर्त्यलीला...इत्यत्र, पूर्वं द्वितीयस्कन्धे च आनन्दशक्तित्वेन उक्ता. प्र.

सिद्धाएव. मया परं कीर्त्यन्ते, नतु कविवद् वर्ण्यन्ते इति आनुपूर्वी निरूपिता ।।२२।।

एवं प्रतिज्ञाय श्रोतारं सावधानं विधाय विश्वस्य उत्पत्तिनिरूपणार्थं पूर्वावस्थाम् आह

भगवान् एक आसेदम् अग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षितः ।।२३।।

भगवान् एकः आस इदम् इति. **इदं** सर्वं जगत् पूर्वं **भगवानेव आस**. शुद्धातु भगवल्लीला भगवानेव एवंप्रकारेण भवति इति. योगमायोपबृंहितातु इदं जगद् एकं रूपं भगवतः प्रवाहानादिप्रकारेण आविर्भाव-तिरोभावयुक्तम् अनाद्यनन्तं वर्तते. तिरोभावे तद् भगवानेव भवति, यथा लवणं जलमेव भवति. तथापि न तयोः स्वरूपैक्यं, तस्य मिष्टो रसः, अस्य च लवणः. परं विवेचयितुं न शक्यते इति भगवत्वम्. तद् आह **इदं** जगद्, **अग्रे** सृष्टेः पूर्वम्. **भगवानेव आस**. अनन्तमूर्तौ च भगवति न तस्य तिरोभावः, किन्तु एकस्मिन्नेव. **आस** इति तत्र न भगवत्कर्त्तव्यता काचित्. विलीनं लवणं जले स्वतएव भवति, ततः पृथक्करणन्तु महत् कठिनं भगवदेकसाध्यम्. अतः इदं भगवच्चरित्रम् उच्यते. स्वयं तथाभवने भिन्नतया उत्पादने वा योगिवद् मणिवद् न कोऽपि प्रयासः. ननु जीवानां तदानीन्तनानां चिद्रूपत्वात् कथम् एकस्मिन् लयः? तत्र आह **आत्मात्मनाम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवतो न अपैति इति पुरुषोत्तमत्वं नित्यम् इति अर्थः. **सर्ववशीकरणम्** इति. मुक्तानां मुमुक्षूणां भक्तानां च वशीकरणम्. आनुपूर्वीकथनस्य प्रयोजनान्तरम् आहुः **तासाम्** इत्यादि।।२२।।

भगवान् इत्यत्र. **एवं प्रकारेण भवति** इति. अहिकुण्डलवत् स्वतएव सर्वरूपो अस्ति इति अर्थः. **इति भगवत्त्वम्** इति. एतेन सः यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्ते इत्यादि यो लयप्रकारः प्रवेशे सति अभेदप्रतीतिविषयत्वं यत्छ्रावितं, ''**यज्ञतमः परे देव एकीभवति**''(सुबालोप.२।२) इति श्रुतिच्छायाम् आलम्ब्य रामानुजाचार्यैः विशिष्टाद्वैतमात्रम् उच्यते. तद् एतल्लीलामूलकम् इति ज्ञापितम्. **उच्यते** इति. अतिपौरुषाणीति प्रश्नोत्तरत्वेन उच्यते. शुद्धलीलायाः भिन्नतया कर्तृत्वस्य कुतो न उत्तरत्वम् इति आकाङ्क्षायां तयोः प्रकारम् आहुः **स्वयम्** इत्यादि. तथाच तत्र

सहि भगवान् सर्वेषां जीवानाम् आत्मा, समष्टिवद् मूलभूतः चिद्रूपएव. तत्रैव अस्य सत्प्रधानस्य लयः, अन्यथा काठिन्यमेव न स्यात्. सति लये सदेव स्यात्. अमुक्तजीवानां प्रलयाद् जीवाश्रितं जगत् तत्रैव लीनम्. तस्य उद्गमनसामर्थ्याय आह **विभुः** इति. सहि सर्वसमर्थः प्रथमतो जीवान् स्वस्मिन् सम्पाद्य तत्रैव जगद् लयं कारितवान्. अनेन तस्य अस्पर्शो निरूपितः. एवम् ऐक्येऽपि अस्पर्शे विभुत्वहेतुः. ननु जीवानाम् इच्छादिधर्माणां विद्यमानत्वात् कथम् एकभावेन स्थितिः? तत्र आह **आत्मेच्छानुगतौ** सत्याम्. आत्मनां या इच्छा सर्वएव धर्माः तेषामपि तत्रैव अनुगतिः. भगवतो वा इच्छायाः यदा तत्र जगति अनुगतिः, तदा तल्लीनम् इति पूर्वप्रलये हेतुः निरूपितः. तदा अयं भगवान् 'आत्मा' इत्येव व्यपदिश्यते. आत्मत्वेन वा तस्मिन् इच्छा. तेन वा तदात्मभूतं जातम्. तदा भगवान् सृष्ट्यन्तरवद् एकरसो न जातः किन्तु नानामतिभिरेव उपलक्षितः. अथवा. सर्वैरेव मतिभिः एकएव उपलक्षितः. यथा अन्योन्यविजातीयानि सहस्रं लवणानि एकस्मिन् जले परिच्छिन्ने प्रक्षिप्तानि, एकरसत्वमपि आपन्नानि नानामतिभिः उपलक्षितम् एकं भवन्ति. यथा केनचित् पृष्टः सैन्धवादि क्व? इति सर्वार्थे जलमेव निर्दिशति. आत्मेच्छायाः सर्वत्र अनुगमाद् आत्मत्वं वा. तेन एकदेशएव भगवति विश्वस्य लयः उक्तो भवति. "**एकांशेन स्थितो जगद्**" (भग.गीता.१०।४२) इति भगवद्वाक्यं तत्परमेव. आविर्भावेऽपि तथा।।२३।।

एवं पूर्वस्थितिम् उक्त्वा प्रथमतो जीवानाम् उद्गमम् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रयासाभावाद् न तदुत्तरत्वम् इति अर्थः. **अन्यथा काठिन्यम्** इति. चिति लयाभावे पृथक्करणे प्रयासः. चित्येव लये गमकम् आहुः **स्वयम्** इत्यादि. **अमुक्ते**त्यादि. तथाच जीवान् आश्रितस्य सति लयाङ्गीकारेपि जीवाश्रितस्य तस्य जीवात् पृथग्भावे तेषां मुक्तिप्रसङ्गात् तदाश्रितं तच्चित्येव लीयते इति मन्तव्यम्. तथाच मुक्तजीवसम्बन्धिनः सति शेषस्य चितीति निष्कर्षः इति अर्थः. **अनुगतिः** इति. पृष्ठतः तत्र गमनम्. पूर्वार्धम् 'आत्म'पदस्य सत्त्वेऽपि उत्तरार्धे यद् उक्तं तत्प्रयोजनम् आहुः **तदा** इत्यादि. नानामतिसद्भावे सम्यक् लय उपपद्यते इति अरुच्या सूक्ष्मेक्षिकया प्रकारान्तरं तथात्वएव आहुः **अथवा** इत्यादि. **तेन** इति. आत्मत्वे आत्मेच्छानुगतेः हेतुत्वकथनेन. **तथा** इति एकांशेन विष्टम्भः।।२३।।

स वा एष तदा द्रष्टा नाऽपश्यद् दृश्यम् एकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरलुप्तदृक् ।।२४।।

स वा एषः इति. सएव भगवान् स्वस्मिन् विद्यमानसर्वः. **वै** निश्चयेन. **एषः** देवदत्तादिरूपेण प्रतीयमानो जीवो जातः. **तदा** जीवो भूत्वा तिरोभाव–प्रकारेण आविर्भूतः, पूर्वसंस्कारेण तदा दृष्टा जातः. ''अहं द्रष्टा'' इति पूर्वावस्थां स्मृतवान्. तदा द्रष्टृत्वनिर्वाहार्थं दृश्यालोचने क्रियमाणे **दृश्यं न अपश्यत्**. यतः सः एकएव सर्वजीवानाम् आत्मभूतो निर्गतः इति एकएव राजते. यद्यपि आत्मानमपि द्रष्टुं शक्नोति, तथापि पूर्ववासनया बहिर्मुखएव निर्गतः इति स्वातिरिक्तमेव दृश्यम् आलोचयन्, तदभावे आत्मानमेव **असन्तं मेने**. **इव** इति अद्र्धासत्वम्. आत्मांशो वर्त्तते, वेद्यांशो न अस्ति इति औपाधिकधर्माणाम् उपाध्यभावे धर्माभावः. अतो द्रष्टा आत्मानम् अद्रष्टारमेव मेने. ननु पूर्वं दृश्यस्य विद्यमात्वात्, सदृश्यस्य तस्य लयात्, स्वाविर्भावे दृश्यमपि कुतो न आविर्भूतम्? इति चेत् तत्र आह **सुप्तशक्तिः** इति. सुप्ताः शक्तयो यस्य. ये प्रपञ्चोद्बोधकाः ते न अद्यापि उपस्थिताः इति. एवं तर्हि ज्ञानशक्तिरपि अनुद्गता स्यात्, तत् ततः कुतो मेने आत्मानम् असन्तम् इति. तत्र आह **अलुप्तदृग्** इति. अलुप्ता दृग् यस्य. अस्य ज्ञानशक्तिः पूर्वमपि न लुप्ता, लोपं न प्राप्ता, आत्मवदेव स्थिता, आत्माविर्भावएव आविर्भूता इति अर्थः. सः यदा आत्मानम् असन्तमिव मेने ।।२४।।

एतान्येव आत्मासत्त्वज्ञानानि एकीभूतानि मायारूपेण जातानि इति आह

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
'माया' नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ।।२५।।

सा वा एतस्य इति. यद् आत्मानम् अन्यथा ज्ञातवान् एषैव माया. सा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स वा इत्यत्र. **तिरोभावप्रकारेण** इति. पराभिध्यानसूत्रोक्तप्रकारेण. कुतो न अस्ति इति अपेक्षायाम् आहुः **औपाधिके**त्यादि. औपाधिकाः धर्माः येषां तादृशां पदार्थानां, तदभावे तदभावाद् न अस्ति इति अर्थः ।।२४।।

सा वा इत्यत्र. जगतः पूर्वावस्थायां भगवदतिरिक्तस्य अभावात् सा इत्यनेन

१.विष्टभः

पूर्वोक्ता प्रसिद्धा मोहिका. **सदसदात्मिका**. सदसद्रूपः आत्मा यस्याः. स्वभावतः सन्, अन्यथा अङ्गीकाराद् असन्, एतादृशएव आत्मा तस्याः. अयमेव आत्मा, सा धर्मरूपा. तस्याः वा स्वरूपम् आत्मैव समर्पयति. त्रितयात्मकं वा स्वरूपम्. तस्याः धर्मत्वम् आह **एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः** इति. **एतस्य** जीवस्य सम्यग् द्रष्टुः. अर्थाद् आलोचनेन आत्मानमेव पश्यति इति. **शक्तिः** उत्तरकार्ये सामर्थ्यम्. तस्याः **नाम 'माया'** इति. मया सह वर्तते इति प्रत्ययस्य अलुक्, सुबन्तप्रतिरूपको वा अयं निपातः, ततो 'अण्'प्रत्ययः, सवर्णदीर्घः, न ङीप्. **महाभाग** इति सम्बोधनम्. अयम् अर्थो दुर्ज्ञेयः इति, तज्ज्ञाने महद्भाग्यम् इति सूचितम्. **यया इदं निर्ममे विभुः** इति. **यया** मायया चिच्छक्तिरूपया अनुद्धृतसारया **इदं** जगदेव निर्ममे. यस्य भावरूपा शक्तिः तस्य कर्तृत्वं व्यावर्त्तयति **विभुः** इति. भगवत्कर्तृकएव जगति जीवार्थत्वात्, तन्माययैव भगवान् जगत् कृतवान्. येन-केनाऽपि जगत्करणाद्, **विभुः** इति ।।२५।।

[क]या त्वया सामान्यतः सृष्टिः उक्ता, तां विस्तरेण निरूपयति

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्याम् अधोक्षजः ।
पुरुषेणाऽऽत्मभूतेन वीर्यम् आधत्त वीर्यवान् ।।२६।।

कालवृत्त्या इति. 'तु'शब्दः अन्य पक्षं व्यावर्त्तयति. न वा जीवः कर्ता, न वा अन्येन करोति इति. कालस्य वृत्तिः, कालः तत्र समागत्य परिवृत्तः, प्रदक्षिणं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जाग्रती का वा शक्तिः परामर्शणीया इति अपेक्षायां तस्याः तत्र सिद्धं स्वरूपं वदन्तः श्लोकम् अवतारयन्ति **एतानि** इत्यादि. **यदात्मानम्** इत्यत्र यद् आत्मानम् इति पदच्छेदः. **पूर्वोक्ते**ति. द्वितीयस्कन्धे चिच्छक्तित्वेन उक्ता. तद् आहुः **अयम्** इत्यादि. सतः सकाशाद् असदात्मिका इति अभिप्रेत्य आहुः **तस्याः वा** इत्यादि. तथाच तमोरूपा इति अर्थः. पक्षान्तरम् आहुः **त्रितये**त्यादि. आत्मा असत्त्वज्ञानानां पिण्डीभावरूपा 'माया'पदे 'अण'प्रत्ययोत्तरम् आदिवृद्धिः बोध्या. **भावरूपा** इति. अभिप्रायरूपा, धर्मरूपा वा. **जगत् कृतवान्** इति. पूर्वस्माद् भिन्नं व्यावहारिकं जगत्कृतवान् इति अर्थः ।।२५।।

क. 'यत्तया' इति मां२, 'यत्त्वया' इति मां१-३ पाठः.

कृतवान्, कालपरावृत्त्या कृत्वा मायायां गुणक्षोभो जातः. कालेन व्यापृता क्षुब्धगुणा जाताः इति अर्थः. तदा सा व्यामुग्धा सती पुरुषइव कामान्धा जाता. तदा भगवान् इन्द्रियातीतएव तस्याः अदृश्यएव भूत्वा तस्याः भर्तृयोग्यम् आत्मनः सकाशाद् एकं पुरुषं निर्ममे. सहि भर्तृयोग्यो भगवदंशः पुरूषोत्तमात्मकएव. तस्य स्वतः प्रवृत्यभावात्, तं निमित्तीकृत्य भगवान् स्वयमेव तदन्तर्यामी भूत्वा, तस्यां **वीर्यम् आधत्त**. यतः स्वयमेव **वीर्यवान्**. पुरुष–जीवयोः वीर्याभावात्, कोशाभावात्, शरीरएव तयोः कोशसम्भवात्. अतः पुरुषं निमित्तीकृत्य भगवत्स्थापितं वीर्यं मायायां स्थितं जीवप्रवेशाद् महत्तत्वम् अभवत्।।२६।।

ततोऽभवन् महत्–तत्त्वम् अव्यक्तात् कालचोदितात् ।
विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जन् तमोनुदः ।।२७।।

तस्यामेव स्थितस्य बीजस्य महत्–तत्त्वता न अस्तीति, प्रसवार्थं कालक्षोभात् प्रसवकर्त्र्याः तस्याः महत्–तत्त्वम् अभवद् इति आह **अव्यक्तात् कालचोदिताद्** इति. जीवधर्मादेव भगवदंशाच्च सर्वं चेतनं कार्यं जायते. सङ्घातोत्पत्तिरेव अत्र अभीष्टा, सङ्घातएव च लीयते. सहि विज्ञानात्मा जातः. **महत्–तत्त्वम्** इति. **महद्** इति तस्य नाम. **तत्त्वम्** इति भगवतः कारणभावः. तस्य जनने गुणभावेऽपि पश्चात् प्रधानभावात् तत्त्वतां परित्यज्य महान् पुंस्त्वेन निर्दिष्टः. सहि विविधज्ञानात्मा जातः. तदद्वारैव च सर्वं जगद् जातं, क्रमसृष्टिपक्षत्वात्. तदा तस्य विज्ञानेन स्वस्मिन् विद्यमानं जगत् प्रकाशयुक्तं जातम्. तद्गतम् आवरणं च तमो दूरीभूतं, तद् आह **सः विज्ञानात्मा**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कालवृत्या इत्यत्र. **गुणक्षोभो जातः** इति. पूर्वोक्तेषु आत्मादिषु भान-विषयीभूतेषु आत्मांशः [१]सत्त्वत्वेन, असत्त्वांशः तमस्त्वेन ज्ञानांशो रजस्त्वेन परिणम-मानो गुणसाम्यावस्थारूपं तत्सरूपं कृतवान्. तेन सा गुणमयी प्रथमकार्यरूपा जाता इति बोध्यम्. ततः एवं तस्याः गुणक्षोभः इति अर्थः।।२६।।

ततः इत्यत्र. **तस्याम्** इत्यादि. एतेन पुराणान्तरस्थाः शक्तिनाभिकमलात् चतुर्मुखोत्पत्तिः एतत्सृष्टिसमाना इति ज्ञापितं बोध्यम्. सर्ववेदेतिहाससारत्वात् श्रीभागवतस्य।।२७।।

१.सतत्त्वेन.

आत्मदेहस्थमेव विश्वं प्रकाशयन् **तमोनुदो** जातः इति. सः जगज्जननार्थं भगवता सृष्टइति पुनः तूष्णीं तस्मिन् स्थिते कार्यार्थं भगवता सः दृष्टः।।२७।।

सोऽप्यंश–गुण–कालात्मा भगवद्दृष्टि–गोचरः ।
आत्मानं व्यकरोद् आत्मा विश्वस्याऽस्य सिसृक्षया ।।२८।।

कालोऽपि समागतः. कारणगुणाअपि समागताः सत्त्वादयः. **अंशो**ऽपि पुरुषः समागतः, **आत्मा** जीवोऽपि. एते यस्मिन् तादृशो भूत्वा चतुर्मूर्तिः भगवद्दृष्ट **आत्मानं** विविधम् **अकरोद्** व्यापाराविष्टं कृतवान्. यतो अयं विश्वस्यापि आत्मा. अन्यथा स्वात्मा न व्यापृतः स्यात्. तथा किमर्थम् अकरोद्? इति आशङ्क्य आह **विश्वस्य अस्य सिसृक्षया** इति. सहि पूर्वं ब्रह्मविदिव स्थितः, पश्चात् कार्यव्यापृतो जातः इति अर्थः।।२८।।

कार्यम् आह

महत्–तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् अहन्तत्त्वं व्यजायत ।
कार्य–कारण–कर्त्रात्मा भूतेन्द्रिय–मनोमयः।।२९।।

महत्–तत्त्वाद् इति. स्वातन्त्र्याभावात् पुनः कारणभावमेव आपन्नः इति **महत्–तत्त्वाद्** इति उक्तम्. सः यदा **विशेषेण कुर्वाणो** जातः, कार्यम् आत्मार्थं कर्तुम् ऐच्छत्, तदा तस्माद् **अहन्तत्वम् अजायत**. तस्य त्रैविध्यं पूर्ववद् निरूपयति **कार्यकारणे**ति. **कार्यम्** अधिभूतम्, **कारणम्** अध्यात्मम्, **कर्ता** अधिदैवम्. सः त्रितयात्मा भूत्वा **भूतेन्द्रियमनोमयो** जातः. भूतानाम् इन्द्रियाणां मनसश्च जनकः त्रिविधो अहङ्कारो जातः इति अर्थः।।२९।।

तान् भेदान् गणयति **वैकारिकः** इति.

वैकारिकस् तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहन्तत्वाद् विकुर्वाणाद् मनो वैकारिकाद् अभूत् ।।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ।।३०।।

वैकारिकः सात्त्विकः. **तैजसो** राजसः. **तामसो** भूतहेतुः. सात्त्विकात् सृष्टिम् आह **अहन्तत्वाद्** इति. **वैकारिकाश्च ये देवाः** इति गन्धर्वादिदेवव्युदासः. सात्त्विकाऽहङ्कारकार्यभूताः ये देवाः तेऽपि सात्त्विकाः जाताः इति अर्थः. तेषां भिन्नत्वे प्रमाणम् आह **अर्थाभिव्यञ्जनं यतः** इति. देवाधिष्ठानव्यतिरेकेण

केवलाद् इन्द्रियात् शब्दज्ञानादिकं न भवतीति सामर्थ्यं देवानामेव. इन्द्रियाणामेव तथात्वं कल्प्येत यदि कल्पितं शास्त्रं स्यात्. यथा सिद्धम् अत्र उच्यते इति देवाधीनैव विषयप्रकाशनशक्तिः।।३०।।

राजसात् सृष्टिम् आह

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।

तामसो भूतसूक्ष्मादिः यतः खं लिङ्गम् आत्मन।।३१।।

तैजसानि इन्द्रियाण्येव इति. **एव**कारः सात्त्विकत्व-तामसत्व-व्युदासार्थः. **ज्ञानं** सत्वप्रधानम्. क्रिया तमःप्रधाना इति. उभयविधानाम् इन्द्रियाणां राजसत्वे युक्तिः पूर्वम् उक्तैव. 'च'काराद् बुद्धिप्राणौ. तामसात् सृष्टिम् आह **तामसः** इति. भूतसूक्ष्माणाम् आदिः शब्दतन्मात्रम्. तस्य आदित्वेनैव ग्रहणात् तामसः इति पुलिङ्गनिर्देशः, अहङ्कारविशेषणं वा. तदा भूतानां सूक्ष्माणां च सः आदिःइति सामान्यतः तस्य कार्यं निर्दिष्टम्. यतो अहङ्कारात् शब्दतन्मात्राद् वा **खम्** आकाशम् **आत्मनो** भगवतो **लिङ्गम्** बोधकं शरीरं वा. आकाशवद् व्यापको निर्लेपश्च इति. यथा वा आकाशे अभ्रतमःप्रकाशाः भवन्ति, न भवन्ति च, तथापि न तैः आकाशो लिप्यते. एवम् आत्मा "**आकाशशरीरं ब्रह्म**" (तैत्ति.उप.१।६।२) इति श्रुतेश्च. माहात्म्यार्थं तथा कथनम्. अन्यथा तामससृष्टिः अधमा इति न वक्तव्या स्यात्।।३१।।

आकाशाद् वायोः सृष्टिम् आह

काल-मायांश-योगेन भगवद्-वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन् निर्ममे-ऽनिलम्।।३२।।
अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ।।३३।।
अनिलेनाऽन्वितं ज्योतिः विकुर्वत्परवीक्षितम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तैजसानि इत्यत्र. **पूर्वम् उक्तैव.** द्वितीयस्कन्धे उक्तैव इति अर्थः. भूतसूक्ष्मपदस्य अहङ्कारविशेषणत्वे अहङ्कारादेव मात्राणां भूतानाञ्च पृथग् उत्पत्तिः. मात्राभ्यो मात्राः. भूताद् भूतम् इति. तद् आहुः **तदा** इत्यादि. तदा शब्दतन्मात्रस्य अर्थबलादेव लाभः इति आशयेन आहुः **यतः** इत्यादि ।।३१।।

आधत्ताऽम्भो रसमयं कालमायांश–योगतः ।।३४।।

ज्योतिषाम्भोऽनुसंस्पृष्टं विकुर्वद् ब्रह्मवीक्षितम् ।

महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ।।३५।।

कालेति. पूर्ववत् कालो गुणक्षोभकः, **माया** गुणरूपा, **अंशः** पुरुषो जीवोऽपि वा. अत्राऽपि पूर्ववद् भगवद्दृष्टिः. **भगवद्वीक्षितं नभो** जातम् इति भिन्नम्. [१]कार्योन्मुखात् सृष्टिम् आह **नभसः** इति. **नभसः** सकाशाद् **अनुसृतम्** उत्पन्नं **स्पर्शं** स्पर्शतन्मात्रम्. तत्पुनः **विकुर्वद् अनिलं निर्ममे** ।।३२।।

एवम् **अनिलोऽपि** नभसा स्वकारणेन कृत्वा उरुबलान्वितो जातः. तदा **रूपतन्मात्रं ससर्ज**. ततो **ज्योतिः** जातम्. **लोकस्य लोचनम्** इति माहात्म्यं तस्य. आलोकाभावे लोको अस्मदादिः विद्यमानेऽपि चक्षुषि न पश्येत्. अतो **लोकस्य लोचनम्** इति उक्तम् ।।३३।।

अनिलेन अन्वितं ज्योतिः इति. पूर्ववत्कारणाद् बलसिद्धिः. **परेण** भगवता **वीक्षितं** सत्. **अम्भो रसमयम्** इति. रसतन्मात्रं जलात् पृथग् न प्रतीयते इति श्लिष्टमेव उत्पन्नम् इति उक्तम्. अत्राऽपि वा क्रमः कल्पनीयः. प्रथमतो रसतन्मात्रं, पश्चाद् अम्भः इति. **कालमायांशयोगतः** इति. ज्योतिः इत्यस्य साधनम्. एवम् अग्रेऽपि।।३४।।

ज्योतिषा अनुसंस्पृष्टम् अम्भो दत्तसामर्थ्यं जलम्. **गन्धगुणां महीम्** इति पूर्ववत्. प्रथमतो गन्धतन्मात्रं, तस्माद् मही।।३५।।

तेषां धर्मान् आह

भूतानां नभआदीनां यद्यद् भाव्यावरावरम् ।

तेषां परानुसंसर्गाद् यथासङ्ख्यं गुणान् विदुः ।।३६।।

भूतानाम् इति. नभः आदिः येषां, वायुप्रभृतीनां मध्ये यदेव उत्तरोत्तरम् अग्रे भाव्यं तदेव अधिकगुणम्. तत्र हेतुः **तेषां परानुसंसर्गाद्** इति. कारणानु–

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अनिलेत्यत्र. **ज्योतिः इत्यस्य साधनम्** इति. 'ज्योतिः'पदोक्तस्य अम्भःकारणस्य सहकारि वा निर्वाहकं च इति अर्थः ।।३४।।

१.कार्योन्मुखाम्. घ ङ.मां१.मां३.

संसर्गात्. **यथासङ्ख्यं** सङ्ख्याम् अनतिक्रम्य. आकाशस्य एको गुणः शब्दः. वायोः द्वयं शब्द-स्पर्शौ. तेजसः त्रयः शब्द-स्पर्श-रूपाणि. अम्भसः चत्वारः शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः. पृथिव्याश्च अधिको गन्धः. **विदुः** इति प्रमाणम्।।३६।।

एतेषां तत्त्वानां चेतनानां कार्यौपयिक-रूपसिद्ध्यर्थं भगवद्भजनम् आह

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः ।

नानात्वात् स्वक्रियाऽनीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्।।३७।।

एते देवाः इति. देवेन्द्रियाणाम् ऐक्यविवक्षायां दशत्वं, भूत-तन्मात्राणि च दश, महदहङ्कार-मनांसि त्रीणि. एवं प्राकृतिकः त्रयोविंशतिको गणः. सामान्यनिर्देशात् काल-मायादयोऽपि स्तोत्रं कुर्वन्ति इति ज्ञायते. सर्वे देवाः **विष्णोः** भगवतः **कलाः** धर्माः इति अर्थः. **कालमायांशाः** लिङ्गानि वर्तन्ते येषाम् इति. हेतुसहिताअपि गुणत्रयकार्यरूपत्वाद् भिन्नभावं प्राप्ताः. अतो नानात्वाद् भिन्नभावात् **स्वक्रियायां** ब्रह्माण्डनिर्माणे **अनीशाः** सन्तः. त्रिविधत्वाद् अमेलनम्. प्रत्येकन्तु असमर्थाः. अतो **विभुं** समर्थं, **प्राञ्जलयो** भूत्वा **प्रोचुः** स्तुतिं कृतवन्तः इति अर्थः. एतेषां [क]देहवचनादिकं विचार्यते. तत्त्वानि एतानि भगवद्भावभूतानि. 'भावो' नाम सर्वान् प्रति सामान्यकारणता. भगवतः कारणता पञ्चविंशति-प्रकारेण जाता इति उक्तं भवति. भावप्राधान्येन धर्मिणो अप्राधान्यात्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एते देवाः इत्यत्र. ज्ञान-कर्मणोः देवतेन्द्रियगोलकाधीनत्वात् प्रकृतदेवानां त्रितयस्यापि असिद्धत्वात् स्तुतिः कथं सङ्गच्छते इति आकाङ्क्षायां तदुपपादनं प्रतिजानते. **एतेषाम्** इत्यादि. तत्र पूर्वं साङ्ख्याद् विलक्षणम् एषां स्वरूपम् आहुः **तत्त्वानि** इत्यादि. **सामान्यकारणता** इति. तेन सत्तासामान्यं धर्मान्तरं वा. तथाच यत्समाससाङ्ख्ये अष्टौ प्रकृतयः, षोडशविकाराः इत्यारभ्य समाप्तौ एतत्परं याथातथ्यम् इति उपसंहाराद् अनारोपितरूपत्वेन एतेषां तत्त्वता रूढा बोधिता, सा अत्र न अभिप्रेता, किन्तु तस्य भावः तत्त्वम् इति यौगिक्यभिप्रेता, साच एवं रूपातु वैयाकरणप्रतिपन्ना इति अर्थः. ननु एवं भगवद्भावरूपत्वे सच्चिदानन्दात्मकदेहादिकं सिद्धमेव इति का अनुपपत्तिः इत्यतः आहुः **भावे**त्यादि. तर्हि सच्चिदानन्दतिरोभावे कः प्रकारः एतेषु शिष्टः इत्यतः आहुः **यावद्** इत्यादि. **तादृशाः** इति. मूले देवाः इति

क. 'देववचनानि' इति मां१-३ पाठः

सच्चिदानन्दरूपाण्यपि तिरोहितरूपाणि भवन्ति. यावद् धर्ममात्रप्राकट्यं[ख] भगवता क्रियते तादृशाएव भवन्ति. भगवतः सर्वतःपाणिपादत्वाद् यदंशाः एते प्रतिरूपतया निर्गताः, तत्र सर्वत्रैव कारणप्रतिरूप–हस्त–पादादीनां विद्यमानत्वात् तैरेव तेषां व्यवहारः. शरीरन्तु उत्पन्नमेव. अभिमानिनोऽपि चिदंशाः देवविशेषाः. अतएव न अधिकबलत्वम्. वेदेतु तत्त्वस्थानीयः प्रजापतिरेव इति, समष्ट्यनन्तरमेव तत्रत्यानां पदार्थानां निरूप्यमाणत्वात् ‘‘**द्वया ह प्राजापत्याः**’’ (बृहदा.उप.१।३।१) इत्यत्राऽपि सृष्टिभेदेन उभयविधेन्द्रियाण्यपि तत्र सन्ति इति, तेषामपि इदमेव रूपम् इति ‘‘**चक्षुरुदगायद्**’’ ( ) इत्यादि सङ्गच्छते. यथा अत्र महत्–तत्तवं तथा वेदे प्रजापतिः. यथा अत्र पुरुषः तथा विराट्. यथा भगवान्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उक्तत्वात् पुल्लिङ्गनिर्देशः. तथाच तत्त्वत्व-जडत्वादिरूपसामान्यधर्मस्य मायात्वादि-रूपविशेषधर्मस्य प्राकट्यम् एतेषु क्रियते इति तावन्मात्रधर्माणो भवन्ति. किं बहुना, [१]संदेशोऽपि(?) तेषु सत्ताख्यधर्मरूपेण अन्तःप्रविष्ट इति तद्योगेन एते सन्तो नतु स्वरूपतः इति एवंरूपा भवन्ति इति अर्थः. तर्हि कथं देहवचनादिकं तत्र आहुः **भगवतः** इत्यादि. **प्रतिरूपतया** इति. प्रतिनिधिरूपतया. **कारणप्रतिरूपा** इति. कारणात्मकप्रतिरूपाणां मूलेन्द्रियाणाम्. तथाच तत्र यानि गोलकापन्नानि तानि अत्र इन्द्रियाणि इति अर्थः. एवम् अत्र इन्द्रिय-गोलकयोः सत्ता विचारिता. देवतासत्तां विचारयन्ति. **अभिमानी**त्यादि. ननु अभिमानिनां देवत्वे किं मानम् इति अपेक्षायां धर्मएव मानम् इति आहुः **अतएव** इत्यादि. **न अधिकबलत्वम्** इति. ‘‘**कनीयसाएव देवाः**’’(बृहदा.उप.१।३।१) इति श्रुत्युक्तं न्यूनबलत्वम्. तथाच इदं देवत्वगमकम् इति अर्थः. ननु श्रुतौ प्राजापत्यानुपक्रम्य पाठेन अत्र तदभावतः तया वक्तुम् अशक्तत्वाद् न इदं गमकम् इति शङ्कायां तथात्वम् उपपादयन्ति. **वेदेतु** इत्यादि. **तत्र** इति. प्रजापतौ. तथाच तत्र तत्त्वाभावेऽपि चक्षुरादीनाम् उद्गानविचारे तेषामपि अभिमानिदेवतेन्द्रियगोलकानि [२]आस्थेयानि. तत्र गोलकेन्द्रिययोः पूर्वोक्तरीत्या कल्पनां कृत्वा देवतास्थले अभिमानिनएव तथात्वेन कल्पनीयाः. अतो न्यायसाम्यात् तत्र सिद्धं न्यूनबलत्वम् अत्रापि कार्यकरणाशक्त्या [३]व्यक्तीभवत्सुखेन अभिमानिषु

ख. ‘...धर्ममात्रैकप्राकट्यं’ इति मां२; ‘...धर्ममात्रे प्रागल्भ्यम्’ इति मां१-३ पाठः.

१.सदंशोऽपीति स्यात्. २.आप्स्थ्येयानि. ३.व्यक्तीभवेत्.

तथा यज्ञः. यथा कालः तथा परमेष्ठी. यथा माया तथा तेषां प्रयत्नः इति. उत्तरकाण्डेतु यज्ञस्थानीयं ब्रह्म. यथा अत्र भगवत्स्तुतिः तथा तत्र उद्गीथः, आधिदैविकत्वात् तेषाम् अस्मदादीन्द्रियनियामकत्वेन उच्यन्ते. अन्यथा दोषगुणादिनियमा भगवदाज्ञा च प्रत्येकं कर्तव्या स्यात्. अतो भगवदिन्द्रिय–प्रतिरूपेन्द्रियाणां तत्त्वेषु विद्यमानत्वाद्, विसर्गे जीवेष्वपि तथात्वाद्, न काऽपि अनुपपत्तिः।।३७।।

सृष्टौ तु साधकं रूपं भक्त्यादेः विनिरूप्यते।
तत्त्वादिस्तोत्ररूपेण सर्वलीलासु तत्स्थितौ।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

देवत्वं गमिष्यति इति अर्थः. न्यायसाम्यं स्फुटीकुर्वन्ति **यथा**त्वादि. **तेषां प्रयत्नतः** इति. **वेदघटितपात्रवत् सृष्टिः** इति प्रजापत्यादीनां चतुर्णां प्रयत्ने जगदाकारप्रयोजकः इति अर्थः. ननु तेषु यदि अभिमानिनां जीवानामेव स्वदेहेन्द्रियनियामकत्वं, तदा तद्वद् अस्मदादिदेहेष्वपि तैरेव इन्द्रियैः अभिमानिना च कार्यसिद्धेः किं तेषां नियामकत्व-कल्पना इत्यतः आहुः **आधिदैविकत्वाद्** इत्यादि. अस्मदिन्द्रिय-मूलभूतेन्द्रियात्मक-देवदेहाभिमानित्वात् तथा उच्यते इति अर्थः. ननु यदि तेषाम् एवं नियामकत्वं, तदा अस्मदिन्द्रियाभिमानित्ववद् देवान्तरसर्वेन्द्रियामानित्वमपि स्याद् इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. यदि एवं स्यात् तदा कनीयस्त्वज्यायः त्वत्कृताः सौम्यत्वोच्छृङ्खलत्वादयो गुणदोषाः, सर्वेन्द्रियनियमनं च प्रत्येकं स्यात्. भगवदाज्ञा च सृष्टिकृतिविषयिणी प्रत्येकं स्यात्. सर्वेषु सर्वसामर्थ्येन प्रत्येकम् अण्डनिर्माणे शक्तत्वाद् यतो न एवम् अतः स्वदेहमात्रएव तेषां तथात्वम्, अन्यत्रतु [२]अनियतकार्यकर्तृत्वमेव इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **विसर्गे जीवेषु** इति. पुरुषाद् उत्पन्नेषु ब्रह्माण्डस्य ब्रह्मादिदेवानां देहेषु. **न कापि अनुपपत्तिः** इति. तदिन्द्रियदेवतयोः तेषाम् अस्मदादीनां वैलक्षण्ये च अनुपपत्तिः न इति अर्थः।।३७।।

एवं तत्त्वानां वचनादिकं विचार्य तत्कर्तृकस्तुतेः तदनुप्रसङ्गेन ब्रह्मकृतर्षिकृतवक्ष्यमाणस्तुत्योः च तात्पर्यं वदिष्यन्तः प्रस्तूयमानस्य अर्थस्य प्रकृतोपयोगाय आहुः **सृष्टौतु** इत्यादि. **तुः** सृष्टिसामर्थ्ये अपेक्षिते भक्त्यादिनिरूपणं किं प्रयोजनम् इति शङ्कानिरासे. **सृष्टौ भक्त्यादेः** सकाशाद् यन्मोक्षसाधकं

२.प्रतिनियत.

तत्त्वैस्तु भक्तिनिर्द्धारो ज्ञानस्य ब्रह्मणा तथा।
ऋषिभिः यज्ञनिर्धारः त्रितयं सृष्टिहेतुकम् ॥२॥
भगवत्कार्यसिद्ध्यर्थं कामादिरहितं तथा।
साधकं नाऽन्यथारूपम् इत्यग्रे नाश उच्यते ॥३॥
कालप्रयुक्ता भक्तिर्हि त्रयोदशविधा यतः।
अन्यथा सृष्टिकरणं शुद्धया नैव तद् भवेत् ॥४॥
भक्ति–प्रपत्ती प्रत्यक्षं भक्तिज्ञाने परोक्षतः।
सात्त्विकीयं समाख्याता वासन्तग्रैष्मभावतः ॥५॥
राजसे भक्तिराहित्यात् तदर्थं प्रार्थना पुरा।
शरणाऽऽगमनं पश्चाद् निन्दया साधनं फले ॥६॥
तामसे ज्ञाननिन्दातः परोक्षे भजनं स्तुतम्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्तत्त्वादिस्तोत्ररूपेण **निरूप्यते. तु** पुनः **स्थितौ सर्वासु लीलासु तद्** निर्धारत्रयं **सृष्टिहेतुकम्** अतः तैः तत्स्थितेः सृष्टेः च मोक्षसाधकरूपनिरूपणाय भक्त्यादि-कथनम् इति अर्थः. रूपस्वरूपम् आहुः **भगवदि**त्यादि. **तथा** इति. मोक्षसाधकम्. तत्र गमकम् आहुः **साधकम्** इत्यादि. भक्त्यादौ कामादिसाहित्यस्य दोषात्वादेव अग्रे कर्मादि**नाशः उच्यते.** अतः तद्रहितमेव तद्रूपं तथा इति अर्थः. भक्त्यादि-कथनप्रयोजनम् उक्त्वा श्लोकसङ्ख्यया निर्धार्य तत्स्वरूपम् आहुः **काले**त्यादि. यतो ब्रह्मकल्पीयसृष्टिप्रकाराद् भिन्नप्रकारेण अत्र सृष्टिकरणं तच्च **शुद्धया भक्त्या नैव भवेद्** अतः सा **कालप्रयुक्ता त्रयोदशविधा** निर्धार्यते इति अर्थः. आद्यानां चतुर्णाम् अर्थम् आहुः **भक्तिप्रपत्ती** इत्यादि. आद्ययोः छायेच्छाबोधनाद् वसन्तभावः; द्वितीययोः सरित्प्रकथनाद् ग्रैष्मभावो बोध्यः. अग्रिमाणां चतुर्णाम् आहुः **राजसे** इत्यादि. **पुरा** प्रथमश्लोके. **तदर्थं** स्मृत्याद्यर्थं **प्रर्थाना. पश्चात्** तृतीये [१]इतरनिन्दया **शरणगतिसाधनं,** चतुर्थे ज्ञानवैकुण्ठप्राप्तिरूपं फलद्वयम् इति अर्थः. अत्र आद्योक्ता प्रार्थना अन्तिमोक्तं फलं च राजसत्वगमकम्. आद्ययोः मेघवद् आगमन-निकट**वसन्त**भावबोधकं ज्ञेयम्. तदग्रिमाणामा(?)दूरत्वकथनं वर्षाभावबोधकम्. अन्त्ययोः पदव्यासविलासानुगमन-कथनं शरद्भावबोधकं ज्ञेयम्. तदग्रिमाणाम् आहुः

१.दया.

भगवत्कार्यराहित्य–हेतूक्त्या स्वस्य साधनम्।।७।।

फलवत् प्रार्थना प्रोक्ता द्विविधा सा निगद्यते।

तत्र प्रथमं सात्त्विकीम् उत्तमां भक्तिं प्रत्यक्षे निरूपयति

देवाः ऊचुः

नमाम ते देव! पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।

यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति।।३८।।

नमाम इति. नमनातिरिक्तस्य प्रत्यक्षे भजनस्य अभावाद्, ''**नमो नमः एतावत् सदुपशिक्षितम्**'' (   ) इति वाक्याच्च, स्वामिन् **ते** चरणारविन्दं **नमाम** इति आहुः. नमने हेतुरूपम् आह **देव** इति. यत्रैव देवरूपता प्रतिभाति सएव नमस्यः. गुर्वादिष्वपि देवत्वमेव नमनप्रयोजकं, गुरुत्वन्तु परिचर्यायाम्. तच्च नमनं त्रिविधं– लौकिकं, वैदिकं, भक्तिमार्गस्थितञ्च. तत्र इदं भक्तिमार्गस्थितम् इति ज्ञापयितुम् आह **पदारविन्दम्** इति. चरणस्य सुसेव्यतां बुद्ध्वा स्नेहेन यद् नमनं चरणारविन्दे सा भक्तिः. यद् रूपस्य नमनं तद् वैधम्. यत् तद्गतधर्माणाम् ऐश्वर्यादीनां नमनं तद् लौकिकम्. अनाविर्भूतरूपस्य नमनाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तामसे इत्यादि. अत्र आद्ये ज्ञाननिन्दा तामसत्वबोधिका. अग्रिमेषुतु ज्ञानाभावः. अत्र आद्ये बलस्य अग्रे वियुक्तासामर्थ्यस्य कथनं हेमन्तभावस्य, ततो अन्नादनगर्भाधानस्य कथनं शिशिर-भावबोधकं ज्ञेयम्. त्रयोदशस्य आहुः **मलवद्** इत्यादि. **द्विविधा** इति. परिपान-सहदानभेदेन द्विविधा. अत्र प्रार्थनावाक्यस्य अन्यत्र अन्वयः. *संसर्पन्मलत्व-बोधकम्. द्वैविध्यं चांहस्पतिसङ्ग्राहकम्. तस्य क्षयरूपत्वात् च न सङ्ख्याधिक्यम् इति ज्ञेयम्.

नमाम इत्यत्र. **प्रत्यक्षे** इति. उचिताम् इति शेषः. अत्र उक्तस्य पदार्थस्वरूपस्य स्थितिलीलारूपयोगात्. तत्र तत्र तद्बोधयितुं विवेचयन्ति **यत्र** इत्यादि. एवं नमनादिस्वरूपेऽपि बोद्धव्यम्. **सगुणत्वाद्** इत्यादिहेतुद्वयं वक्तृगतं **प्रकारद्वयेन** इत्यनेन सम्बद्ध्यते. **निरूपयति** इति. व्यासो निरूपयति. 'यति'शब्दो अत्र योगारूढः इति बोधयितुम् आहुः **भगवन्मार्गे** इत्यादि. संसारदुःखम् आरंभदशायामेव इति ज्ञापनाय आहुः **बहिः** इत्यादि. **बहिः** इति. बाहिर्मुख्ये. **हेतुः**

---

*.ससर्प...

अरविन्दम् इति एकवचनम्. सगुणत्वात्, सृष्ट्यौपयिकत्वात्; सामर्थ्ये क्लेशाभावस्य सहकारित्वात्, क्लेशनिवारकत्वं चरणारविन्दस्य प्रकारद्वयेन निरूपयति प्रपत्ति-भक्तिभेदेन. तत्राऽपि प्रपत्यधिकारिणः त्यागाऽसमर्थाः, भक्त्यधिकारिणस्तु त्यागसमर्थाः इति. अतः प्रथमं तापनिवारणरूपम् आह **प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्** इति. **प्रपन्नानां** शरणागतानां ये अन्तर्बहिः तापाः, तदुपशमार्थं निकटएव दूरीकरणार्थं, भगवच्चरणारविन्दम् **आतपत्रं** भवति. आतपात् त्रायते इति भगवच्चरणारविन्दं ध्रुवस्येव प्रपन्नस्य उपरि तिष्ठति. अनेन यत्रक्वचिदपि सः गच्छति, तत्रैव तच्चरणारविन्दं तापं दूरीकुर्वदेव गच्छति इति भक्तवश्यता चरणधर्मो निरूपितः. कालकृतो अयं तापः इति आतपत्रतैव निरूपिता. स्वभावकृतेतु अमृतत्वादि निरूपयति, कर्मकृतेतु अगदादिभावेन निरूपयति. प्रपन्नार्थं भगवान् स्वयम् आगच्छति, सह गच्छति इत्यपि उक्तम्. सर्वतो विरक्तान् भक्तान् प्रति चरणमाहात्म्यम् आह **यन्मूलकेता** इति. यस्य चरणस्य मूलम् अधोभागः. भगवच्चरणारविन्दाधएव सर्वदा तिष्ठन्ति, न गृहवृक्षाद्यधः ते मूलकेताः. निकेतनं **केतः** स्थानम् इति यावत्. यथेच्छव्यवहाराभावाद् अनुपसर्गः. तर्हि तदर्थम् अन्यद् गृहं कर्तव्यम् इति चेत्, पञ्चाग्नितपोवत्. तत्र आह **यतयः** इति. भगवन्मार्गे प्रयत्नवन्तः. तत्र पूर्वावस्थात्यागः पूर्वाङ्गं, तावन्मात्रपर्यवसिताः सालावृकभक्ष्याएव भवन्ति. त्यागासामीचीन्येतु पाषण्डित्वमेव. येतु भगवदर्थं यतयः ते **अञ्जसा** अनायासेनैव **उरु** अधिकं संसारदुःखं क्षुत्पिपासादिकृतं **बहिः उत्क्षिपन्ति**. पारलौकिकं च बहिरेव वर्तते इति मूलकेतानां तन्निवृत्तमेव. अतः सर्वपुरुषार्थरूपत्वात् चरणारविन्दस्य, तद् **नमाम** इति मुख्यो हेतुः निरूपितः. येषाम् अर्थे भगवान् समागतः ते त्रिविधाः निरूपिताः- भगवदीयाः, प्रपन्नाः, भक्ताश्च ।।३८।।

अन्यार्थम् आगतं ये भजन्ते तेषां स्वरूपं कथयन्तो मध्यभावेन आश्रयम् आहुः

धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवाः तापत्रयेणाऽभिहता न शर्म ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति नमने हेतुः. **येषाम्** इत्यादिफक्किकार्थो नवरत्ने ''**अज्ञानादथवा ज्ञानाद्**'' (नवरत्ने ४) इत्यत्र अनुसन्धेयः।।३८।।

धातः इत्यत्र. **अन्यार्थम्** इत्यस्यैव विवरणम्. **सृष्ट्यर्थम्** इति. मूलस्थस्य

आत्मंल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रिच्छायां सविद्याम् अत आश्रयेम ।।३९।।

धातः इति. अन्यार्थं सृष्ट्यर्थं समागतः इति ज्ञापितम्. **धाता** विधाता, कर्ता; पिता इति अर्थः. **अस्मिन् भवे** संसारे यदि अस्माद् हेतोः **जीवाः तापत्रयेण अभिहता** एव भवन्ति, **शर्म** क्वाऽपि **न लभन्ते**. **ईश** इति सम्बोधनं तद्दूरीकरणसामर्थ्यार्थं प्रथमतएव निरूपितम्. एकेनाऽपि तापेन अभिहतः स्वाभाविकं शर्म न प्राप्नोति, शर्मान्तरस्य च का वार्त्ता? त्रयेणतु अभिहतः सुतरामेव न शर्म प्राप्नोति. अतो [क]वयं प्रथमतएव संसारे प्रवेशम् अकृत्वैव **तव अङ्घ्रेः** छायामेव आश्रयेम. प्रार्थनायां लिङ्. **भगवन्** इति सम्बोधनं सर्वताप-निवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टसिद्धिनिरूपणार्थम्. छायया बहिः तापो गच्छति. अन्तः तापनिवारणार्थम् आह **सविद्याम्** इति. यथा सजलं छत्रं भवति. छाया प्राधान्यं भगवदभिप्रायप्राधान्यार्थम्. सूर्यादिवशात् कदाचित् छाया चरणारविन्ददेशाद् अन्यत्र पतति तदा अन्यत्र स्थितैरेव आश्रयः कर्त्तव्यः इति. अङ्घ्र्यधस्तात्तु धर्मएव भवति. निकटे न स्थातव्यम् इति भगवदिच्छायां निकटे न स्थातव्यम् इति भावः. साम्प्रतं तथात्वाद् वयम् **अतो** हेतोः छायामेव आश्रयेम. **विद्या** उपासना, ज्ञानं वा. भगवद्गुणानुसन्धानेन वा, भगवत्परिचर्यया वा क्वचित् स्थातव्यम् इति अर्थः. एवं साक्षाद् भगवत्सम्बन्धे भक्ति-प्रपत्ती निरूपिते।।३९।।

तथा अनधिकारे परोक्षे गङ्गातीरे स्थित्वा, श्रुतितात्पर्यं विचार्य, भगवच्चरणानुसन्धानं कुर्वाणेन स्थातव्यम् इति आह

मार्गन्ति यत् ते मुखपद्मनीडैः छन्दःसुपर्णैः ऋषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्ना ।।४०।।

मार्गन्ति इति. **यद्** यस्माद् **ऋषयो** मन्त्रदृष्टारः. **ते मुखपद्मनीडैः छन्दःसुपर्णैः ते पदं मार्गन्ति** विचारयन्ति. वेदाः हि गरुडप्रायाः पक्षिणः, तेषां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आत्मन् इत्यस्य विवरणं **स्वाभाविकम्** इति. आत्मनि विद्यमानम् इति अर्थः. अङ्घ्रिम् आश्रयेम इति अनुक्त्वा छायाम् आश्रयेम इति यद् उक्तं तत्तात्पर्यम् आहुः **छायाप्राधान्ये**त्याऽ**न्यभाव**(?) इत्यन्तम्. **साक्षात् सम्बन्धे** इति. उचित इति शेषः।।३९।।

क. ''अतो अस्माभिः'' इति मां१-२-३ पाठः.

मूलस्थानं भगवतो मुखपद्ममेव. यथा पद्मे मकरन्दादिपानार्थम् आगन्तुकाअपि पक्षिणः तिष्ठन्ति. एतेषान्तु तद् नीडमेव. ते हि तत्रैव लब्धजन्मानः ततएव उद्गच्छन्ति. अन्यत्र चरन्तोऽपि नीडतात्पर्याएव ते. छन्दसां सुपर्णत्वं श्रुतिसिद्धमेव. ''**छन्दांसि रथो मे भवत**''(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।१२।५/६२) इत्यत्र तेषामेव रथत्वं, ''**छन्दांसि सौपर्णेयाः**''( ) इति श्रुतेः. 'सुपर्ण'-पदेन च गरुडरूपतया भगवत्समारूढाएव ते लोके प्रचरन्ति, यज्ञरूपं भगवन्तं लोके बोधयन्ति इति. **ऋषयो** हि मन्त्रदृष्टारो भगवन्मन्त्रं जानन्ति. एवं प्रकारेण गङ्गातीरे स्थितौ भगवान् स्वपदं प्रापयिष्यति इति. अतएव एकान्ते एकाकिभिरेव स्थीयते इति अर्थः, बहूनां प्रापणाभावात्. **यस्य** इति प्रसिद्धस्य **ते तीर्थपदः** तीर्थानि पादे यस्य. प्रसिद्धत्वाद् न सन्देहः. तीर्थपदत्वात् सर्वपापक्षयहेतुत्वम् अधिकारसिद्धये. तीर्थपदत्वमेव उपपादयति **अघमर्षोदसरिद्वरायाः पदम्** इति. **अघस्य** पापस्य **मर्षो** येन तादृशम् **उदम्** उदकं यस्याः, तादृशी या **सरिद्वरा** गङ्गा, तस्याः **पदं** स्थानम् इति पदविशेषणम्. गङ्गातीरे तीरे गमने पदपर्यन्तं गच्छति. वेदानां च पुनः तात्पर्ये विचार्यमाणे भगवत्पदं जानन्ति. जलेन पापनाशनम् आनुषङ्गिकफलत्वेन उक्तम्. चरणाद् अन्यत्र गच्छन्त्यपि गङ्गा वेदवत् पुनः तत्रैव प्रवेक्ष्यति इति वेदानां दृष्टान्तार्थे निरूपितम्. माहात्म्यं च यथा गङ्गायाः पदसम्बन्धाद्, एवं वेदप्रामाण्यमपि भगवत्प्रामाण्यादेव. ''**मन्त्रायुर्वेदवच्च**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मार्गन्ति इत्यत्र. 'पद्म'पदतात्पर्यम् आहुः **यथा पद्मे** इत्यादि. छन्दसां सुपर्णत्वनिरूपणं तत्त्वानामपि उपयोगीति ज्ञापनार्थम्. तेषां प्रजापतिस्थानापन्नत्व-ज्ञापनार्थं च आहुः ''**छन्दांसि मे रथः**''(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।१२।५/६२) इत्यादि. श्रुतिस्तु तैत्तिरीयब्राह्मणे. ''**छन्दांसि मे रथो भवतेति, सो अब्रवीत् प्रजापतिः युष्माभिः अहम् एतम् अध्वानम् अनुसञ्चराणीति, तस्य गायत्री च जगती च पक्षावभूताम्, उष्णिक् च त्रिष्टुप् अनुष्टुप् च पंक्तिश्च धुर्यौ बृहत्येवेद्धिरभवत्, सएव छन्दोरथमास्थाय, एतम् अध्वानम् अनुसमचरद्**'' इति. तथाच वेदे यथा छन्दसां प्रजापतिहित उपयोगः तथा अत्र ऐषां हित इति ज्ञापनाय अत्र सुपर्णत्वकथनम् इति अर्थः. रथत्वं तेषाम् आमन्त्रणकृतं पाश्चात्यम्. नतु स्वाभाविकम् इत्यतः तस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः 'सुपर्ण'पदेन इत्यादि. **मन्त्रायुर्वेदे**ति स्मृतिस्तु पतञ्जलेः गौतमस्य

तत्प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्याद्'' (   ) इति स्मृतेः।।४०।।

अत्र मार्गणकर्तारः प्रपन्नाएव भवन्ति न अन्यैः मार्गणं कर्तुं शक्यते. अन्ये पुनः तत्राऽपि अशक्ताः केवलं ज्ञानमार्गेण चरणारविन्दम् आश्रित्य तिष्ठन्ति इति आहुः

यत् श्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या सम्मृज्यमाने हृदयेऽवधार्य ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेम तत् तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ।।४१।।

यत् श्रद्धया इति. यस्मिन् भगवति **श्रद्धा** आस्तिक्यबुद्धिः, **श्रुतवती च भक्तिः** श्रवणादिना पोषिता. ज्ञानमार्गे श्रद्धा-भक्ती अन्तःकरणशोधिके. 'च'कारात् ''**यथा यथा आत्मा परिमृज्यते असौ**'' (भाग.पुरा.११।१४।२६) इति कीर्तनरूपयाऽपि भक्त्या **सम्मृज्यमाने** सम्यक् शोध्यमाने हृदये **अङ्घ्रि-सरोजपीठम् अवधार्य** निश्चित्य तेन निश्चयात्मकेन ज्ञानेन वैराग्येण बलं यस्य तादृशेन **धीराः** भवन्ति. तादृशं **ते अङ्घ्रिसरोजपीठं व्रजेम** प्राप्नुम. वयं ततोऽपि अनधिकारिणो अतः तद् हृदये स्थितं निर्द्धारितं वयं भजेम. श्रद्धाश्रवणादिना वैराग्यसहितात्मज्ञाने जाते विदितात्मतत्त्वो ब्रह्मभूतो भवति, तदा अक्षरं भगवत्पादपीठं तत्र अभिव्यक्तं भवति. तदा तदुपदेशात्, तद् हृदये वा प्रविश्य, तत् तत्त्वभावं वा प्राप्य, तच्छरणं गतानि तत्त्वानि. अतः [क]चतुर्थी कक्षा भक्तिमार्गे हि एषा. सा द्विधा, स्वतो हृदये भजनं, भक्ताश्रयणं [ख]वा इति. ज्ञानिनां पादाभिव्यक्त्यभावात् 'पीठम्' इति उक्तम्. स्वस्वोपयोगिरूपनिरूपणाय 'अङ्घ्रि-सरोज'पदम्. धीरभवनमेव तत्र फलम्. वस्तुतः भगवान् भगवदाज्ञया वा कालादिः करोति, न अन्यथा वा. अतो भयहेत्वभावाद् व्यर्थमेव प्राणी धैर्याभावात् क्लेशान् अनुभवति. अतः पूर्वोक्तपक्षाभावे धैर्यफलको अयमेव पक्षः समीचीनः. एवं सात्विकप्रकारे पञ्चपक्षाः निरूपिताः।।४१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वा सूत्रभूता बोध्या।।४०।।

यत् सानुबन्धे इत्यत्र. **द्वितीयाम्** इति. शरणागतिरूपां कक्षाम्. प्रकारान्तरेण द्वितीयत्वं बोधयन्ति. **दोषे**त्यादि. दोषेति द्वितीयपक्षे. मूले आग्रहविषयस्य त्रिधा उक्तत्वाद् उभयत्र दोषस्य कथनात् च स्वरूपविषयभेदेन त्रैविध्यं द्विधा अभिप्रेतं, तत्र

क. 'चतुर्थकक्षा' इति मां२; 'चतुर्था कक्षा' इति मां१-३ पाठः. ख. 'चेति' इति मां१-३ पाठः.

राजसप्रकारेणापि आह. तत्र प्रथमं सकामतया शरणगतिम् आहुः

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश स्मृतिं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ।।४२।।

विश्वस्य इति. यो भगवान् विश्वस्य सृष्ट्याद्यर्थमेव अवतीर्णः, अक्षररूपविशेषेण. ''**प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा**'' (तत्त्वार्थदीप-निबन्धसर्वनि.प्र.कारि.९८) इति निबन्धोक्तप्रकारेण यो भगवान् अवतीर्णः, तस्य **पदाम्बुजं शरणं व्रजेम.** सहि अस्मद् अनुगुणः. ननु अवतारिताएव भवन्तः सम्यक्प्रकारेण, किम् अतःपरं शरणगत्या? तत्र आह **स्मृतिं प्रयच्छति** इति. **यद्** यस्मात् कारणात् **स्वपुंसा** भक्तानां सम्बन्धि, **अभयं** न विद्यते भयं यस्मात् तादृशं स्वरूपं वा प्रयच्छति, स्मृतिञ्च प्रयच्छति. स्वकीयानाम् अस्माकं वा तद् द्वयं प्रयच्छेद् इति अवतारिताअपि वयं स्मृत्यभयहीनाः चेत् तदा सर्वं व्यर्थम्. भगवदीयानां वा स्मरणं भवेत्. भगवत्स्मृतिः पूर्वसिद्धस्वरूपस्मृतिः, प्रकृतोपयोगिकार्यस्मृतिः वा. स्मृत्यभयदाता विश्वकर्ता भगवान्, तस्य चरणशरणगमने जन्मादौ सुखं भवति इति फलार्थं क्रियाव्यापृतस्य भक्तिः प्रथमा राजसी।।४२।।

द्वितीयाम् आह

यत् सानुबन्धेऽसति देहगेहे ममाऽहम् इत्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां भजेम तत् ते भगवन् पदाब्जम् ।।४३।।

यत् सानुबन्धे असति इति. जगत्कर्ता भगवान्, सर्वं सृष्ट्वा सर्वत्र प्रविष्टः सर्वेषां हृदये प्रकाशते. तथापि सः न प्रतीयते, दोषवशात्. तादृशस्यैव तम् अदृष्ट्वैव, केवलं हृदये वर्तते इति ज्ञात्वा, तच्छरणगमनं द्वितीयम्. दोषनिराकरणार्थं वा दोषकीर्त्तनम्. तत्र दोषस्य त्रैविध्यम् आह. **सानुबन्धे** पुत्रादिसहिते, **देहे गेहे** च **असति** दुष्टे **मम अहम्** इति दुष्टाग्रहः. तत्र केवलाग्रहे यथाकथञ्चिद् निर्वाहे धर्मार्थं भगवद्भजनार्थं वा आग्रहे त्रैविध्यं भवति. देह-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पूर्वं विवृण्वन्ति **केवले**त्यादि. **यथाकथञ्चिद् निर्वाहे** इति. यया कयाचिद् वृत्या सर्वथा देहगेहनिर्वाहार्थम्. तथाच फलविचारेण एवम् आग्रहस्वरूपकृतं, तत्र इति एकं त्रैविध्यं भवति इति अर्थः. द्वितीयम् आहुः **देहे**त्यादि. कल्पनाक्लेशः इति अरुच्या

गेहयोः वा असत्त्वाभावे, अन्यतरासत्त्वे, उभयासत्त्वे च त्रैविध्यं भवति. अनुवादो वा. नियमेन द्वयोः असत्त्वमेव. तत्र स्थिते रूढः च आग्रहो भवति इति तादृशानां हृदये **पदाब्जं** सुदूरम्. यद्यपि भगवान् पुर्यामेव वसति तथापि तत्र [1]चरणारविन्दौ न स्तः. केवलम् अन्तःकरणप्रेरणार्थं हस्तौ वा, इच्छामात्रं वा प्रकटीकरोति. अतो येषाम् अभिमानः तेषु भक्तिः न अस्ति इति मुख्यः पक्षः. संसाराभिमानाभावेन केवलभगवदीयाभिमाने गौणः [2]पाक्षिको भगवान् अस्ति इति अर्थः. सर्वथा अभिमानाभावे सर्वथा अस्ति इति सिद्धान्तः. तस्मात् प्रकृते तादृशप्रकारेण क्वचित् प्रकाशाप्रकाशौ कुर्वतो भगवतः **पदाब्जं** शरणं व्रजेम इति।।४३।।

एतादृशाअपि यदि भगवद्भक्तानां सेवकाः भवेयुः तदाऽपि तृतीया राजसी भक्तिः भवेद्, यथा भक्तभक्ताः तेऽपि भक्ताः भगवच्चरित्राभिज्ञाः चेत्. ननु अयं सुगमः पक्षः किमिति न आश्रीयते? तत्र आह

तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिर् अक्षिभिर् ये पराहृतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं ये ते पदन्यासविलासलक्ष्याः ।।४४।।

तान् वै हि असद्वृत्तिभिः इति. **तान्** भगवद्भक्तान् **ते न पश्यन्त्य**पि, भजनं दूरे. तत्र हेतुः **असद्वृत्तिभिः अक्षिभिः पराहृतान्तर्मनस**ः इति. असत्स्वेव वृत्तयो येषां, तानि आसुराणि इन्द्रियाणि. आसुराणि स्वभावतो असत्पदार्थानेव गृह्णन्ति, यथा मक्षिका अमेध्यं गृह्णाति, नतु चन्दनम्. अतएव तादृशैः **अक्षिभिः** इन्द्रियैः पराहृतं वशीकृतम् अन्तःकरणं मनश्च येषाम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पक्षान्तरम् आहुः **अनुवादो वा** इत्यादि. आग्रहे स्वरूपदोषस्य नियमेन सिद्धत्वात् तस्य अनुवादएव असत्त्वं देह-गेहयोरेव अभिप्रेतम्. तर्हि अनुवादस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **तत्र** इत्यादि. तथाच ऊढतैव अनुवादप्रयोजनम् इति अर्थः. **चरणारविन्दौ** इति. 'चरण'शब्दस्य पुल्लिङ्गत्वम्, उपमितसमासे पूर्वपदार्थप्राधान्यञ्च अभिप्रेत्य पुल्लिङ्गनिर्देशः. पूर्वोक्तपक्षद्वयसिद्धम् अर्थम् आहुः **अतो येषाम्** इत्यादि।।४३।।

तान् वा इत्यत्र. 'अन्तः'पदस्य कृत्यम् आहुः **मनसो रूपद्वयम्** इत्यादि. विषयैः इन्द्रियाणाम् इन्द्रियैः मनसः च आकर्षः कामिनी-कुचकुम्भ-दर्शनादर्शनादौ प्रत्यक्षेण शास्त्रेण च सिद्धः. तत्र मनसो यदि एकमेव रूपं स्यात्, तदा आकर्षकाले

१. पुस्तकेषुतुप्रायः 'चरणारविन्दे' इत्येवोपलभ्यते. २.पक्षिको वा क.मां१.मां३.

“**इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः**” इति न्यायेन इन्द्रियाणि विषयैः आकृष्यन्ते, इन्द्रियैश्च मनः आकृष्यते. मनसो रूपद्वयम् अस्ति, आन्तरं बाह्यञ्च. आन्तरं यदधीनं तद्वशो भवति पुरुषः. तद् आह **पराहृतान्तर्मनसः** इति. तर्हि तेऽपि एके स्वतन्त्राः कुशलिनः इति, किं तेषाम् एतद् अदर्शनेन इति अतः आह **परेश** इति. **परे** ब्रह्मादयः तेषामपि **ईशः** इति सम्बोधनं तान् नाशयितुं भगवान् तथाकरोति इति ज्ञापयति. **अथो** अथ, अतो हेतोः तान् न पश्यन्ति[क]. पूर्वेण सम्बन्धः. ननु दर्शनाभावः कथम् उच्यते? दृष्ट्वापि परं न भजन्ति इत्येव मन्तव्यम्. तत्र आह **उरुगाय** इति. उरुभिः गीयते इति. यदि ते तान् पश्येयुः तदा यथा भवान् सर्वैरेव गीयते तथा तैरपि गीतः स्यात्. तदभावाद् एवं लक्ष्यते, **नूनं तैः ते न दृष्टाः** इति. तान् साधारण्यव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि **ते पदन्यासविलासलक्ष्याः** इति. ते पदयोः न्यासः, तत्र यो विलासः, तेन लक्ष्याः. तेषां लक्षणं भगवत्पादन्यासविलासः. ते तदैव ज्ञायन्ते यदि भगवान् तेषां स्थाने गमनार्थं तेषु स्वविलासख्यापनार्थं च, विलासेन पदविन्यासं करोति. तेषां हृदये वा पदस्थापनार्थं विलासं प्रेमादिकं करोति तदा ते ज्ञाताः भवन्ति इति अर्थः. भगवत्पदसम्बन्धादेव [ख]येषां महत्वं, न प्रकारान्तरेण. अतः तस्य लक्ष्यार्थस्य गुप्तत्वात् तान् न जानन्ति इति उक्तम्. **विलासलक्ष्म्याः** इति पाठे विलासस्य या लक्ष्मीः शोभा तस्याः ते. ते विलास-लक्ष्मीसम्बन्धादेव प्रसिद्धा इति पूर्ववत्. अनेन तादृशभगवद्भक्तज्ञाने तद्द्वारा भगवद्भजनं तृतीयं राजसं, तेषामेव ज्ञानं वा।।४४।।

चतुर्थम् आह

पानेन ते देव! कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विषयान्तरज्ञानं न स्यात्. नच यौगपद्याभिमानएव तत्र इति न तत्काले विषयान्तर-ज्ञानम् इति वाच्यं, तथा सति ऐकाग्र्यदशायां यद् नानाविषयं ज्ञानं यच्च पुस्तकदर्शने चक्षुःसन्निकृष्टनानाक्षरविषयम् उपेक्षाज्ञानं, तद् न स्यात्. यच्च योगेन व्यापकात्म-ज्ञानं तदपि न स्यात्. तत्र वेगस्य प्रतिबद्धत्वाद् निवृत्तत्वात्. अतो रूपद्वयमेव युक्तम् इति अर्थः।।४४।।

पानेन इत्यत्र. **राजसाद्** इति. ल्यब्लोपे पञ्चमी ।।४५।।

क. ‘पश्यन्तीति’ मां१-३ पाठः. ख. ‘तेषाम्’ इति मां१-३ पाठः.

वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाऽञ्जसाऽन्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।४५।।

पानेन इति. **हे देव ते कथासुधायाः पानेन प्रवृद्धभक्त्या** कृत्वा **ये विशदाशयाः, ते वैराग्यसारं बोधं प्रतिलभ्य यथा अनायासेन ते अकुण्ठधिष्ण्यम् ईयुः** तथा परेऽपि ईयुः इति सम्बन्धः. एतेतु राजासाद् राजसेषु निकृष्टाः, ये अन्तःकरणशुद्ध्यर्थम् अन्तःकरणतापत्रयनिवारणाय भगवत्कथां पीत्वा तेन प्रक्षालितान्तःकरणाः. प्रक्षालनार्थं च मध्ये भक्तिमपि कल्पयित्वा तेनापि शुद्धान्तःकरणाएव. एवं साधन-साध्यभक्तिम् अन्तःकरणशुद्ध्यर्थमेव ये नियुञ्जते ते कर्ममार्गाइव राजसप्रथमाः. शुद्धे च अन्तःकरणे वैराग्यमेव सारभूतं यस्य. येन ज्ञानेन विषयवैतृष्ण्यं भवति तादृशं ज्ञानं प्राप्य. **अञ्जसा** सामस्त्येन ते **अकुण्ठधिष्ण्यं** कृत्रिमवैकुण्ठम् ईयुः. **देव** इति सम्बोधनाद् विष्णुलोकं गच्छन्ति इति उक्तं भवति. ध्रुवस्थानं वा. **अकुण्ठम्** इति न कदाचिदपि कुण्ठितं, तत्र सर्वदा भोगः सिद्धएव. अथवा ते अक्षरसायुज्यं प्राप्नुवन्ति।।४५।।

तथा केवलज्ञानिनोऽपि इति आह

तथा परे चाऽऽत्मसमाधियोग-बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्याद् न तु सेवया ते ।।४६।।

तथा परे च इति. फलतो भगवदीयत्वाद् भक्तत्वम्. **परे** अन्ये, इदानीं न भगवदीयाः. 'च'काराद् भगवदीयाअपि केचित्. स्वभावगुणानां बलिष्ठत्वाद् आत्मपर्यवसायी आत्मविषयको वा. "**यतो यतो निःसरति**"(भाग.पुरा.७।५।३३) इति प्रकारेण निरन्तरस्थितिरूप-समाधिपर्यन्तज्ञानेन पूर्वतामसवासनां **जित्वा त्वामेव विशन्ति. परं** पुरुषरूपम्. विराट्सायुज्यं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. एतदेव वा अकुण्ठधिष्ण्यम्. चतुर्विंशति-प्राकृतसम्बन्धाद् विमुक्ताः पुरुषं प्रकृतिभर्तारं वा ईयुः. **त्वामेव** इति पुरुषान्तरव्युदासः. साधनभक्तापेक्षया फलभक्ताः हीनाः इति आह **तेषां श्रमः स्याद्** इति. साधने भक्तेः अप्रवेशात्।।४६।।

एवं सर्वान् उक्त्वा, तामसभेदान् स्वान् मन्यमानाः, आत्मनएव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथा परे च इत्यत्र. अत्र ज्ञानिनां निरूपणात् कथं भक्तत्वम् इत्यतः आहुः **फलतः** इत्यादि. **आत्मविषयको वा** इति. समाधिः इति शेषः. **तामसवासनाम्** इति.

१.तेन. ग.

त्रिविधान् आहुः

तत् ते वयं लोकसिसृक्षायाऽद्य त्वयाऽनुसृष्टास् त्रिभिर् आत्मभिः स्म ।

सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं न शक्नुमस् तत्प्रतिहर्तवे ते ।।४७।।

तत् ते वयम् इति. **तत्** तस्मात् कारणात्, **ते वयं** त्वदीयाः तामसाः वा, **लोकसिसृक्षया त्वया अद्य सृष्टाः**. **त्रिभिः आत्मभिः** इति आत्मस्थाने स्थापितैः **त्रिभिः** गुणैः अहङ्कारैः वा. त्रिविधजीवैः इति एके. अस्मिन् पक्षे प्रत्येकं भेदत्रयम्. **अनु** पश्चात् **सृष्टाः** इति परोक्षेण सृष्टाः ज्ञानरहिताः जाताः. **अद्य** इति सृष्ट्यन्तरव्युदासः. अन्यदातु ''**एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुः ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**''(मुण्डकोप.२।१।३) इति भगवतएव साक्षात् सर्वं भवतीति तन्निवारणार्थम् **अद्य** इति उच्यते. अतएव **त्रिभिः आत्मभिः** इति उक्तम्. अतः **सर्वे वियुक्ताः**. 'च'काराद् अस्मत्सामग्र्यपि सर्वा भगवता त्रिविधा सृष्टा, अतोऽपि **वयं वियुक्ताः**. अतएव **स्वस्य**, तव **विहारतन्त्रं** विहरणसामग्रीं, **न शक्नुमः**. **ते** तुभ्यं, **प्रतिहर्तवे** प्रतिहर्तुम्. ''**तुमर्थे से सेन्..**'' (पाणि.सू.४।४।९) इत्यनेन 'तवे' प्रत्ययः. तत् प्रतिहर्तुं, यदर्थं वयं सृष्टाः तत्प्रयोजनं प्रतिहर्तुं दातुं समर्थयितुम् इति यावत्. तत् किम् इति आकाङ्क्षायां, **तत्** प्रसिद्धं **स्वविहारतन्त्रम्** इति सम्बध्यते. तत् स्वविहारतन्त्रं प्रतिहर्तुं न शक्नुमः इति अर्थः. तामसमध्यमाः एते. यदर्थं भगवता सृष्टाः ते सर्वे दुरात्मानः स्वस्वाभिमानेन नष्टाः भगवत्कार्यम् अकृत्वाऽपि स्थिताः इति एतादृशाः भक्ताः तामसमध्यमाः. भगवता भिन्नतया सृष्टाः इति तेषां मध्यमत्वम्, अन्यथा अधमाएव स्युः।।४७।।

तादृशाअपि वयं जाताः इति आहुः

यावद् बलिं तेऽज! हराम काले यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।

यथोभयेषां त इमे हि लोका बलिं हरन्तोऽन्नम् अदन्त्यनूहाः।।४८।।

यावद् बलिम् इति. **हे अज** न जायते इति सम्बोधनम्. ब्रह्माद्युत्कृष्टः, **यावत् ते बलिं हराम** तावद् **यथा वयम् अन्नम् अदाम** तथा त्वया कर्तव्यम् इति अभिप्रायः. **यावद्** इति प्रलयावसानता, नतु सृष्टिमात्रम्. **काले** स्वस्वावसरे. **यथा**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रकृतिशब्दविवरणम् इदम्. **फलभक्ताः** इति फलदशायां भक्ताः।।४६।।

तत् ते इत्यत्र. **स्वस्य** इति स्वकर्तृकम्. **अन्यथा** इति. भगवत्सृष्टत्वाभावे।।४७।।

वयं च अन्नम् अदाम, यत्रच अन्नम् अदाम यथा वा **उभयेषां** तव अस्माकञ्च **इमे** सृष्टाः **लोकाः बलिं** हरन्ति, निष्प्रत्यूहाः सन्तः स्वयम् अन्नम् अदन्ति, तथा चक्षुः परिदेहि इति अग्रेण सम्बन्धः. *अतएव एतेषां वषैम्यम्. केचन स्वार्थनिरपेक्षाः भगवदर्थमेव कार्यं कर्तुम् इच्छन्ति. केचित् स्वार्थापेक्षिणोऽपि भगवदर्थमेव कुर्वन्ति कार्यं, भगवानेव पश्चाद् दास्यति इति. केचित्तु स्वस्य, स्वसेवकानाञ्च, भगवतश्च कार्यं तुल्यतया कर्तुं वाञ्छन्ति, ते एते।।४८।।

ननु किमर्थम् एवं प्रार्थ्यते? प्रथमतो अस्मदर्थं ब्रह्माण्डं कुरुत, पश्चात् स्वार्थम् इति आशङ्क्य आहुः

त्वं नः सुराणाम् असि सान्वयानां कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविम् आदधेऽजः।।४९।।

त्वं नः सुराणाम् इति. **नो** अस्माकं **सुराणां** देवानां **सान्वयानां** सपरिकराणां त्वमेव **आद्यः** उत्पादकः. यद्यपि वयमपि स्वकार्योत्पादकाः तथापि वयं विकृताः, भवांस्तु **कूटस्थो** अविकृतः. किञ्च, **पुरुषो** भवान् स्वतन्त्रः, वयं प्राकृताः अस्वतन्त्राः. किञ्च, भवान् **पुराणः** पूर्वसर्ववृत्तान्ताभिज्ञः, वयं नूतनाः आधुनिकाः. अतः त्वयैव अस्माकं सर्वं कर्त्तव्यम्. किञ्च, पुत्ररूपाः वयं तव. अतः त्वया प्रथमतो वयं पालनीयाः इति आहुः **हे देव त्वं** देवरूपायां **शक्त्यां** मायायाम्. गुणाः कर्माणि च योनिः यस्याः. गुणकर्मात्मिका योनिः, गुणरूपाः कर्मात्मकाश्च ततो जायन्ते इति. तस्याम् **अजायां** बर्कराद्युत्पादनार्थं **रेतः आदधे**. 'अजा'शब्दो अत्र न यौगिकः, नाऽपि रूढः, किन्तु कल्पनोपदेशः. "**कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः**" (ब्रह्मसू.१।४।१०) इति अधिकरणेन अयम् अर्थः समर्थितः. अन्यथा अत्र मायायाः उत्पत्तेः उक्तत्वाद् योगो विरुध्येत.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यावद् इत्यत्र. ***अतएव** इति. चक्षुः अभावादेव।।४८।।

त्वं नः इत्यत्र. **कल्पनोपदेशः** इति. सारूप्यकल्पनाप्रयुक्तगौणीप्रयुक्तः इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **अन्यथा** इत्यादि. स्फुटम् अग्रे. एवम् अत्र भगवत्कर्तृकसर्गे भूतोत्पत्तिः निरूपिता ।।४९।।

इति श्रीगोस्वामिपुरुषोत्तजीकृत-
तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे पञ्चमाध्यायविवरणम्।।

रूढिरपि आकृत्यभावात्. सृष्टौ कामः प्रधानम् इति तन्निरूपणार्थम् 'अज'शब्दकल्पना अत्र निरूपिता. **कविं** महत्–तत्त्वम्. पूर्वावस्था **रेतः,** उत्तरावस्था **कविः** इति उभयोः साजात्याभावे कार्यम् एकविधं न भवेदिति भगवतोऽपि अजत्वं निरूपितम्. अयमेव तामसहीनभावो भक्तेः, यद् भगवतः एवंप्रकारेण निरूपणम्।।४९।।

ततः तत्सजातीयाएव वयम् उत्पन्नाः इति आह

ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे बभूविमाऽऽत्मन् करवाम किं ते ।

त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या देव! क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्।।५०।।

ततो वयम् इति. **सत्प्रमुखाः** सात्विकाहङ्कारप्रमुखाः. यस्य भगवतः कार्यार्थे **बभूविम** उत्पन्नाः. तर्हि अन्यान् उत्पादयिष्यामः इति आशङ्क्य आह **हे आत्मन्** इति. सर्वेषां त्वम् आत्मा. नहि कार्याणां स्वभावतः कश्चन गुणो दोषो वा अस्ति, त्वत्तएव जातत्वात् त्वद्रूपत्वाच्च. अतो अन्यानपि उत्पाद्य तेषु यदि शक्तिं दास्यसि, तदा तेऽपि उपयुक्ताः भविष्यन्ति. अतो लाघवाद् अस्मभ्यमेव तत्सामर्थ्यं देयम् इति भावः. ननु अनाज्ञाकारिणो भवन्तः, यतो अप्रवृत्ताएव तूष्णीं स्थिताः तत्र आह **करवाम किं ते** इति. **ते** तुभ्यं किं करवाम. आज्ञापनाभावाद्, विशेषतो अज्ञानाद् वा तूष्णीं स्थितिः. अतो वस्तुतो न दुष्टत्वम्. तर्हि इदानीं ब्रह्माण्डनिर्माणं कुरुते इति आशङ्क्य आहुः **त्वं नः** इति. **नो** अस्माकं त्वमेव [क]सर्वार्थे तत्र साधकं स्वचक्षुः परिदेहि, येन चक्षुषा वयं निष्पादिताः. तत्र क्रियाशक्तिरेव अस्मासु प्रतिष्ठिता, न ज्ञानशक्तिः इति. [१]अतः **स्वचक्षुः परिदेहि**. परितो दानं, सर्वेभ्यः क्रियाशक्त्या सह पुनः देयम्. विशकलिततया उभयप्राप्तावपि न कार्यसिद्धिः. अतः स्वशक्त्या सह स्वचक्षुः देहि इति. ननु उभयदानं सहदानं च अशक्यम्, उभयोः एकदा स्थित्यभावाद्. एकं शब्दे अपरं क्रियायाम् इति आशङ्क्य आह हे **देव** इति. यद्यपि लौकिकन्यायेन लौकिकेन वा, न एवं कर्तुं शक्यं तथापि भवान् देवः; अतो अलौकिकसामर्थ्याद् मिलितमपि दातुं शक्नोति इति. ननु नियमेन भवद्भ्यएव देयम् इति को अयं

क. 'सर्वार्थे (/र्थो) अतः तत्र साधकम्' इति मां२; 'सर्वार्थे तदर्थसाधकम्' इति मां१–३ पाठः.

१.अतस्त्वम्. ख. घ.

निर्बन्धः? तत्र आह **क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्** इति. ब्रह्माण्डकरणार्थमेव यस्य भगवतो अनुग्रहो येषाम्. येन अनुग्रहेण वयम् उत्पादिताः तेनैव अनुग्रहेण चक्षुः शक्त्या सह देयम् इति अर्थः।।५०।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीवल्लभदीक्षित विरचितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्यायविवरणम् ।।

।। षष्ठाध्यायविवरणम् ।।

एवं भगवतः सृष्टौ भूतोत्पत्तिः निरूपिता ।

[क]कालोत्पत्त्यर्थम् अधुना ब्रह्माण्डोत्पत्तिरुच्यते ।।१।।

स्वशक्तिदान[ख]भोगौ तु विषयत्वार्थम् उच्यते ।

विषयानन्त्यसिद्ध्यै हि माहात्म्यं [ग]विनिरूप्यते।।२।।

एवं भगवतो मात्राः चतुर्द्धा विनिरूपिताः ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ षष्ठाध्यायं विवरिषवो अध्यायसङ्गतिं स्फुटीकर्तुं पूर्वाध्यायार्थम् अनुवदन्तो ब्रह्माण्डोत्पत्तिमुखेन मात्राप्रयोजनं सोपपत्तिकम् आहुः **एवम्** इत्यादि. एवं वेदोक्तभूतव्यष्टितया भगवद्धर्मत्वेन रूपेण भगवत्कर्तृकसृष्टौ भूतोत्पत्तिः पूर्वाध्याये निरूपिता. अधुना अस्मिन् अध्याये भोग्या मात्रा निरूपणीया इति भोगसाधक-चेष्टारूपकालोत्पत्त्यर्थं तदाधारभूतब्रह्माण्डस्य उत्पत्तिः उच्यते, तेन अवसरः सङ्गतिः इति अर्थः.

ननु भवतु एवं, तथापि एतेषु भोग्यत्वाद् भगवद्भोगस्यैव वक्तव्यत्वाद् एतेभ्यः शक्तिदानम् एतेषां भोगः च किमिति उच्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **स्वशक्ती**त्यादि. ब्रह्माण्डोत्पत्तिः या उच्यते, सा एतेषां भगवद्विषयत्वार्थम् उच्यते. ब्रह्माण्डे च एते अवयवभूताः ; अवयवद्वारा च अवयविनो भोगः ; सच शक्तिं विना न भवति इति विषयत्वार्थमेव एतौ उच्येते इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **विषये**त्यादि. **हि** यतो हेतोः एतदर्थम् एतन्माहात्म्यं लोकपालत्वरूपम् उच्यते, ततो ज्ञायते विषयत्वार्थमेव एतौ इति.

ननु अत्र ब्रह्माण्डन्तु शरीरत्वाद् भोगायतनं, तत्र च एतान्येव तत्त्वानि प्रविष्टानि, तेषामेव भोग्यत्वं मात्रात्वार्थं वक्तव्यं, तद् अत्र कया विधया? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **एवम्** इत्यादि. एवं ब्रह्माण्डोत्पत्ति-शक्तिदानभोग-माहात्म्यप्रकारेण चतुर्धा भगवतो मात्राः विनिरूपिताः. ब्रह्माण्डे पृथिवीप्राधान्याद् गन्धमात्रा, शक्तिदाने अन्योन्यासादनस्य रसप्राधान्याद् रसमात्रा, भोगे रूपेण प्रवेशाद् रूपमात्रा, माहात्म्ये शब्दप्राधान्यात् शब्दमात्रा इति एवं विशेषेण उक्ता इति एवं

क. 'मात्रोत्पत्त्यर्थम्' इति मां१-३ पाठः. ख. 'स्वशक्तिदातृभागौ' इति मां१-३ पाठः.
ग. 'विनिरूपितम्' इति मां१-३ पाठः.

स्पर्शो भगवतो नाऽस्ति तद्‌भावाद् देहवद् भुजिः।।३।।

एवं पूर्वाऽध्यायान्ते तत्त्वानां प्रार्थनम् उक्तम्. तत्प्रार्थनम् उपसंहरति

ऋषिः उवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनाम् असमेत्य सः ।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिम् ईश्वरः।।१।।

इति इति. एतावत्येव प्रार्थना. **तासां गतिं निशाम्य** निरीक्ष्य **शक्तिं** बिभ्रद् **युगपद् आविशद्** इति सम्बन्धः. तासु भगवत्प्रवेशो न युक्तः इति आशङ्क्य आह **स्वशक्तीनाम्** इति. **तासाम्** इति. स्त्रीत्वेन तासां विज्ञापनं न दोषाय, स्वस्यैव सामर्थ्यरूपत्वात्. तासां कृत्यभावे स्वसामर्थ्याभावएव भवेत्. स्त्रीरूपाश्च ताः. भार्यासक्तं स्वयमेव करोति कारयति च. शक्तित्वादेव भिन्नतया स्थितिः न दोषाय. नहि ताः वाक्येन मिलन्ति, स्वेनैवतु मिलन्ति. पुरुषालिङ्गिताएव ताः एकीभवन्ति, न स्वभावतः. समानप्रतिपत्तेः न वैमनस्यम्. अतएव स्वभावतः **असमेत्य** अमिलित्वा, **सतीनां** विद्यमानानाम्. किञ्च, स्वप्रवेशव्यतिरेकेण तासु विद्यमानमपि रजो न प्रकटीभवति. तद् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रूपेण एतेषां भोग्यत्वम् इति अर्थः.

ननु स्पर्शो अत्र कुतो न उक्तः इत्यतः आहुः **स्पर्शः** इत्यादि. **''ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते''**(भग.गीता ५।२२) इति वाक्यात् स्पर्शस्य दुःखजनकत्वाद् भगवतः च तदभावाद् दुःखजनकस्पर्शो न अस्ति इत्यतो न उक्तः इति अर्थः. ननु द्वितीयस्कन्धे स्पर्शस्य प्रत्यासत्तित्वव्यवस्थापनात् तदभावे भोगान्तरस्य कथं सिद्धिः इत्यतः आहुः **तदभावाद्** इत्यादि. तद्‌भावात्. भावो व्याप्तिः, तस्य भगवतो ब्रह्माण्डे व्याप्तेः तथा भागवतो देहः तथा भुजिः भोगोपि तद्व्याप्तेरेव इति न तत्र प्रत्यासत्तित्वेन तदपेक्षा इति अर्थः. विदुरमैत्रेयसंवादेतु हेतु-हेतुमद्‌भावस्य स्फुटत्वात् सैव सङ्गतिः इति तां व्याख्यानावतरणमुखेन बोधयन्ति **एवम्** इत्यादि.

न युक्तः इति. प्राकृतत्वात् पुंरूपत्वाच्च न युक्तः. **स्त्रीरूपाः** इति. पूर्वं स्वकार्ये पुंरूपत्वेपि अग्रिमकार्ये शक्त्यभावेन सुद्युम्नवत् स्त्रीरूपाः. **भार्यासक्तम्** इति. भार्यायां स्थापितं कार्यम्. **भिन्नतया** इति. सपत्नीवद् इतरेतरविरुद्धतया.

प्रसुप्तलोकतन्त्राणाम् इति. प्रकर्षेण सुप्तानि लोकानां तन्त्राणि रचना यासु; तन्त्रं समूहो वा. प्रसुप्ता वा ये लोकाः. येषां जीवानां कर्म न प्रबुद्धं तदधीनाः ताः. प्राण्यदृष्टप्रेरिताएव ताः कार्याणि कुर्वन्ति. समष्टेः गृहत्वेन व्यष्टीनामेव मुख्यत्वम् इति पक्षः. *पक्षद्वयमपि अत्र भगवतः पुरुषरूपद्वयसम्पत्त्यर्थं निरूप्यते. तद् उक्तम् **असमेत्य सतीनां प्रसुप्तलोकतन्त्राणाम्** इति. तासाम् अन्योन्यमेलने ब्रह्माण्डोत्पत्तिः. कर्मप्रबोधने व्यष्टीनाम् उत्पत्तिः. एतत् सर्वं **निशाम्य** ज्ञात्वा अग्रे प्रकारभूतां गतिं च निशाम्य. [1]सर्वप्रकारकरणसामर्थ्यार्थम् आह **ईश्वरः** इति।।१।।

एवं समर्थो[2] निश्चित्य यत् कृतवान् तद् आह

कालसञ्ज्ञां तदा देवीं बिभ्रत् शक्तिम् उरुक्रमः ।

त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपद् आविशत् ।।२।।

कालसंज्ञाम् इति. 'काल' इति संज्ञा यस्याः. कालोऽपि एका भगवच्छक्तिः. अन्यथा पुरुषद्वयप्रवेशे शक्तिषु रसाभासः स्यात्. कालेन सञ्ज्ञा बोधो यस्याः सा, तां वा. मर्यादारूपा सा शक्तिः सृष्टिकाले प्रबुध्यते, अन्यास्तु भगवता प्रबोध्यन्ते. तया सह भगवद्दर्शनेन तासां मात्सर्यं मा भवतु इति **देवीम्** इति उक्तम्. सा हि देवतारूपा अतिसूक्ष्मा, तया विना कर्मप्रबोधो दुर्घटः. कर्म कालाधीनमेव, अतएव काले कर्मविधानम्. तस्याः अप्रयोजकत्वं निराकरोति **शक्तिम्** इति. **बिभ्रद्** इति प्रवेश्यरूपव्यावृत्त्यर्थम् उक्तम्. तत्र भगवतो अतिसामर्थ्यं वक्तुं, तादृशसामर्थ्यं भगवतो वर्तते इति ज्ञापयति **उरुक्रमः** इति. अद्भुतचरित्रत्वम् उरुक्रमे सिद्धं, तेनैव अद्भुतचरित्रेण **त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपद् आविशत्.** प्रकृति-पुरुषौ परित्यज्य शिष्टाः त्रयोविंशतिः भवन्ति. युगपत् प्रवेशो अद्भुतचरित्रम्. तप्तयोः सन्धिरिव न एकतरप्रवेशे कार्यसिद्धिः. गणप्रवेशो गणादेव कार्यम् इति सूचयितुम्. अत्र प्रवेशो न जलादेरिव, किन्तु तेजसइव अयोगोलादौ आवेशः यथा गणकार्यं भगवत्कार्यं भवति, अन्यथा भगवच्चरित्रता

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

***पक्षद्वयम्** इति. समष्टिमुख्यत्वं व्यष्टिमुख्यत्वञ्च इति पक्षद्वयम्।।१।।

कालसंज्ञाम् इत्यत्र. **तप्तयोः** इत्यादि. तप्तयोः कपालयोः यथा संधिः श्लेषो भवति, नतु एकतरतापे, तथा अत्र इति अर्थः।।२।।

१.सर्वप्रकारेण सामर्थ्यम् आह. ग. २. सर्वसमर्थो इति घ.

अस्य सर्गस्य न स्यात्. तद् आह **आविशद्** इति।।२।।

ततः किम्? अतः आह

सोऽनुप्रविष्टो भगवान् चेष्टारूपेण तं गणम् ।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ।।३।।

सो अनुप्रविष्टः इति. यद्यपि ताभिः क्रियया सह ज्ञानमेव प्रार्थितं, न सहप्रवेशः. तथापि भगवदेककार्यं न ताभिः सेत्स्यतीति भगवान् स्वयमेव प्रविष्टः. अतः परं प्रार्थितस्य प्रयोजनाभावाद् न प्रार्थितं दत्तम्. ननु स्वभावतएव सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपो भगवान् अस्ति, तथापि चेत् कार्यं न सिध्यति, किं प्रवेशेनाऽपि भवेत्? तत्र आह **चेष्टारूपेण** इति. **चेष्टा** प्रयत्नः. कार्योपयोगिज्ञानेच्छा-प्रयत्नरूपेण, केवलप्रयत्नरूपेण वा तत्र प्रविष्टः. प्रविश्य पुनः **तं गणं भिन्नं संयोजयामास.** सृष्टावेव कार्यजननसमर्थाः ते सृष्टाः, परं भिन्नाः इति योजनमेव कर्तव्यम्. सम्यग् योजनं यथा कार्यम् उपपद्यते. सङ्गे नीतायाः शक्तेः प्रयोजनम् आह **सुप्तं कर्म प्रबोधयन्** इति. प्राणिनां यत् सुप्तं कर्म, तत् कालशक्त्या प्रबोधयन्. प्रबोधन-प्रवेशयोः समानकालत्वे उभयविधं कार्यम् एकदा सिध्यति. प्रबोधनस्य भिन्नहेतुकत्वाद् न प्रधानक्रियासम्बन्धः।।३।।

ततो यद् जातं तद् आह

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिः मात्राभिर् अधिपूरुषम् ।।४।।

प्रबुद्धकर्मा दैवेन इति. सुप्तैः सह करणमपि अशक्यम्. प्रबुद्धे साहाय्यमपि तेन सिद्ध्यति. **दैवेन** इति देवतारूपया शक्त्या. स्त्रिया प्रबोधे स्वार्थं भवेद् इति नपुंसकनिर्देशः. तया सहितं भगवद्रूपं वा 'दैव'शब्देन उच्यते. सर्वत्र कर्मप्रबोधार्थं पुनः **त्रयोविंशतिको गणः** इति उक्तम्. पुनः भगवत्कार्यान्तरम् आह **प्रेरितः** इति. मेलनं प्रेरणञ्च भगवत्कार्यम्. भगवतः प्रवेशात् तस्य गणस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सो अनु इत्यत्र. **प्रार्थितस्य** इति. प्रार्थितस्य ज्ञानस्य. **उभयविधम्** इति. समष्टिव्यष्टिरूपम्. **प्रबोधनस्य** इत्यादि. कर्मप्रबोधनस्य कालाख्यचेष्टाहेतुकत्वाद् न मूलक्रियया तस्य कार्यस्य सम्बन्धः. तथाच उभयविधमपि कार्यं कालेनैव भगवान् कृतवान् इति अर्थः।।३।।

व्यापकता जाता. ततो गणांशैः अल्पैरेव ब्रह्माण्डनिर्माणं जातम् इति आह **स्वाभिः मात्राभिः** इति. **अधिपूरुषं** ब्रह्माण्डम्. पुरुषमधि पुरुषशरीरत्वात्. 'पुरुष'शब्दोऽपि अस्ति. पुरुषादपि अधिकं वा, आवरणानामपि जननात्. भगवत्प्रेरणा गणेन कृतत्वाद् भगवत्कृतमेव।।४।।

एवं ब्रह्माण्डसृष्टिम् उक्त्वा द्वितीयपुरुषम् उपपाद्य तृतीयम् उपपादयितुं तत्रैव पुनः कार्यम् आह

परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृड्गणः ।
चुक्षोभाऽन्योन्यम् आसाद्य यस्मिन् लोकाश् चराचराः।।५।।

परेण विशता इति. **स्वस्मिन् विशता परेण** भगवता हेतुना कृत्वा **विश्वसृड्गणः चुक्षोभ.** परं **मात्रया,** एकदेशेन अन्तःस्थितेन, अन्यथा ब्रह्माण्डभेदः स्यात्. अन्तःकार्यार्थमेव **स्वस्मिन् विशता** इति उक्तम्, अन्यथा भगवत्प्रवेशेन क्षुब्धो जातः इति वदेत्. अतः प्रवेशेन अक्षोभएव. तदा एकं ब्रह्माण्डं निष्पन्नम्. यदा पुनः सः नियामकेन रूपेण, भिन्नरूपेण वा सएव गणः स्पृष्टः तदा मध्ये सहस्रधा विदीर्णः **चुक्षोभ,** अन्यथा व्यष्टिपुराणि न सृष्टानि भवेयुः. क्षोभफलम् आह **अन्योन्यम् आसाद्य** इति. सहि विश्वसृजां गणः विश्वसृष्टिः तस्य स्वतः कार्यम्. अतः एकस्मिन्नपि व्यष्टौ सर्वतत्त्वानां कार्यसिद्ध्यर्थम् **अन्योन्यम् आसाद्य चुक्षोभ.** एकस्मिन्नपि द्वाविंशतितत्त्वानां प्रवेशः. एवं प्रस्तारे आनन्त्यं भवति आकृत्यधिकरणन्यायेन. अतः तदर्थमेव अन्योन्यासादनम्. ततो यद् जातं तद् आह **यस्मिन्** अन्योन्यासादनपूर्वक-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परेण इत्यत्र. **तृतीयम्** इति. व्यष्टि-समष्टिपुरुषाख्येषु जीवभेदेषु तृतीयम्. **अन्यथा** इत्यादि. सर्वांशेन पृथक् क्षोभे तेषां नानात्वाद् नानाब्रह्माण्डानि स्युः इति अर्थः. **तदा** इति. स्वतः एकदेशेन क्षोभे. **आकृत्यधिकरणन्यायेन** इति. इदम् अधिकरणं पूर्वतन्त्रे स्मृतिपादे अस्ति. तत्र व्यक्तीनाम् आनन्त्याद् वैलक्षण्याच्च एकत्र शब्दसम्बन्धः इतरबोधो न भवति इत्यतः सर्वत्र अविशिष्टायाम् एकस्याम् आकृतौ सम्बन्धो अङ्गीकृतः. सः यथा आकृतिद्वारा सर्वव्यक्तिषु सम्बध्यते, तथा अत्र एकैकस्मिन् द्वाविंशतिप्रवेश एकैकस्मिन् सम्बध्यमानं त्रयोविंशतित्वम् उक्तन्यायेन अनन्तव्यष्टिसम्बद्धं भवति इति अर्थः।।५।।

क्षोभयुक्ते गणे **चराचराएव लोकाः**।।५।।

एवं समष्टि-व्यष्टिदेहानाम् उत्पत्तिम् उक्त्वा तत्र सर्वत्र भगवत्प्रवेशार्थं जीवानाम् अप्रवेशः, तत्त्वान्यपि भगवत्प्रवेशार्थं सर्वसामग्रीं सम्पादयन्ति स्थितानि इति आह

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाऽप्सु सर्वसत्वोपबृंहितः ।।६।।

हिरण्मयः इति. सहि ब्रह्माण्डात्मा **हिरण्मयः** सुवर्णात्मकः. पृथिव्यप्-तेजसां समानांशतया अन्योन्याभिभवाभावेन यत् कार्यं तत् सुवर्णम् इति उच्यते. जलाधिक्ये रौप्यं, पृथिव्याधिक्येतु अन्ये धातवः, द्वयोः कारणप्रवेशे मृण्मयानि. मृदः तेजसा अतितापे सिकताः, मध्यतापे पाषाणाः, अल्पतापेतु इष्टकाः. जीवसंबन्धेन स्थावरास्थिभेदाः काष्ठादयः. तत्र सः विराट्पुरुषो **हिरण्मयः,** सुवर्णप्रतिमावत्. सएव पुरुषो देहरूपेण, पुरुषसहितो वा, सहस्र-परिवत्सरपर्यन्तं स्वयम् अण्डात् पृथग्भूतएव, नालिकेरफलवत्, तस्मिन्नेव अण्डकोशे अधस्तात् स्थितगर्भोदके, देहात् स्वतएव सृतोदके, स्वसृष्टे वा उदके, शयनं कृतवान् इति आह **उवास अप्सु** इति. व्यष्टीनामपि तदा शयनमेव इति आह **सर्वसत्त्वोपबृंहितः** इति. सर्वाणि सत्त्वानि जीववद् देहाः सदंशत्वात् सत्त्वानि इति उच्यन्ते. तैः उपबृंहितः सम्बद्धः. नारायणोदरएव सर्वाणि भूतानि स्थितानि इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे न निरात्मकः कियत्कालं स्थितः, पूर्वमेव भगवत्प्रवेशात्. सृष्ट्वा प्रवेशपक्षेतु निरात्मकस्थितिः. अतएव अत्र सपुरुषः इति उक्तम्. अत्रतु सहस्रवर्षपर्यन्तम् अन्तःकार्यं न कृतवानिति केवलं सत्त्वैः उपबृंहितः कार्यप्रकारपर्यालोचनार्थं स्थितः।।६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

हिरण्मयः इत्यत्र. **पृथिव्यप्तेजसाम्** इत्यादि. एतेन सुवर्णस्य तैजसत्वं न मूलाभिप्रेतं, मूले अन्योन्यासादनोत्तरम् उक्तत्वात्. **द्वयोः कारणप्रवेशे** इति. जल-तेजसोः कारणत्वेन रूपेण कपालवत् प्रवेशे. इदमेव **''आत्मकत्वानुभूयस्त्वाद्''** (   ) इति सूत्रेण उक्तम्. तर्हि मृदः कुतो नाना भेदाः इत्यतः आहुः **मृदः** इत्यादि. अत्र स्थूलात् सूक्ष्मोत्पत्तेः अतितापे पीलुपर्यन्त्वा(?) नतु तदुत्तरं पुनः संयोगः इति मध्यमेषु पिठरपाकएव इति बोद्धव्यम्।।६।।

ततः कार्यं कृतवान् इति आह

स वै विश्वसृजां गर्भो दैवकर्मात्मशक्तिमान् ।

विबभाजाऽऽत्मनाऽऽत्मानम् एकधा दशधा त्रिधा ।।७।।

स वै विश्वसृजां गर्भः इति. **विश्वसृजां** तत्त्वानां **गर्भो** बालकः, अन्तःसामर्थ्यरूपो वा; त्रिविधकर्मात्मको जातः. चेष्टारूपस्य भगवतः प्रवेशात् **कर्म**शक्तियुक्तो जातः. कर्मप्रेरककालशक्तिप्रवेशाद् **दैव**शक्तियुक्तो जातः. **विश्वसृजां** सहजसामर्थ्यात् कारणधर्मेण आत्मशक्तियुक्तो जातः. अतः त्रिविध–शक्तिमानात्मानमेव **विबभाज**. केचन आत्माधीनाः कृताः ते आध्यात्मिकाः. केचन दैवाधीनाः ते आधिदैविकाः, कालाधीनाः इति अर्थः. केचन क्रियाधीनाः ते आधिभौतिकाः. अतो भगवतः क्रियारूपस्य प्रवेशात् क्रियया भगवत्कार्यमेव कर्त्तव्यं, भगवत्क्रियया अन्यकरणेतु स्पष्टो दोषः. तद् आह **विबभाज** इति. अतः परं तस्य कारणान्तरं न अपेक्षितम् इति आह **आत्मना आत्मानम्** इति. तत्र त्रैविध्यम् अवान्तरभेदान् वदन् आह **एकधा** इति. प्रथमभेदे सात्त्विके दैवे एकएव भेदः, द्वितीये राजसे दश भेदाः, तृतीये तामसे त्रयो भेदाः इति ।।७।।

ननु एतावद्भिरेव भेदैः कथं सर्वं कार्यं सेत्स्यति ? इति आशङ्क्य आह

एष ह्यशेषसत्त्वानाम् आत्मांशः परमात्मनः ।

आद्योऽवतारो यत्राऽसौ भूतग्रामो विभाव्यते ।।८।।

एष हीति. **अशेषसत्त्वानाम् आत्मा. हि** युक्तः च अयम् अर्थः. बीजं यादृशमेव भवति तादृशमेव कार्यं भविष्यतीति, सर्वेषाम् आत्मत्वात् सः चेद् एवं प्रकारेण त्रिरूपो जातः तदा सर्वाण्येव सत्त्वानि तथा भविष्यन्ति इति सर्वमेव कार्यं सेत्स्यति. किञ्च, किम् अनेन एकेन ? एतादृशाः भगवतः कोटिशः सन्ति अंशाः; अतो भगवताऽपि अनेके भेदाः सेत्स्यन्ति इति अभिप्रायेण आह **परमात्मनो अंशः** इति. अयं गर्भः पुरुषोत्तमस्य **अंशः**, कोट्यंशानामपि अंशः. परम् अयम् आनन्दांशः इति आह **आद्यो अवतारः** इति. चिदंशास्तु जीवाः. सर्वेषां ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्यवताराणाम् अयम् **आद्यो अवतारः**. सहि अक्षरात् परतो विद्यमानो भगवान् प्रथमम् अस्मिन् विराजि उत्तीर्णः, पश्चाद् मध्ये. इदमेव अवतरणम्. सम्बन्धश्च वह्निवद् इति पूर्वम् उक्तम्. अस्य अवतारस्य स्वरूपत्वात् प्रच्युतिः केनाऽपि अंशेन न अस्ति इति अभिप्रायेण आह **यत्र असौ भूतग्रामो विभाव्यते**

इति. प्रपञ्चाश्रयत्वमेव भगवत्त्वम्, अतो नारायणो अयं प्रपञ्चाधारत्वाद् भगवानेव. असौ परिदृश्यमानो भूतग्रामो यस्मिन् पुरुषे विशेषेण भाव्यते, [क]शबलतया तिष्ठति इति अर्थः।।८।।

पूर्वोक्तभेदान् गणयति

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ।।९।।

साध्यात्मः इति. अन्यथा अन्यो अन्यथा वर्णयेत्. त्रैविध्यं प्रथमतो निरूपयति अस्य जगतः, तामसप्राधान्यात्. देहप्राधान्याद् इति अर्थः. तत्र एकः **साध्यात्मो** भेदः. आत्मानम् अधिकृत्य यो वर्तते सः आध्यात्मो देहः, तद्गतो वा आत्मा जीवः, भगवदंशो वा. तेन आध्यात्मेन सहितो विराड्देहांशः साध्यात्मो भवति. एवं **साधिदैवः**. देवाः अन्तर्यामिः दिगादयः, तान् अधिकृत्य यो वर्तते इन्द्रियवर्गः, तदभिमानिनो जीवाः भगवदंशाः वा, ते अधिदेवाः इन्द्रादयो वा. तैः सहितो विराड्देहांशः उपरिभागः साधिदैवः. एवम् अधिभूतश्च. अत्र **च**कारो अवान्तरभेदेषु आध्यात्मिकादिसङ्ग्रहार्थः. **साधिभूतो विराड्** अधोभागः. **इति** अमुना प्रकारेण **त्रिधा**. इदं हि गणशः त्रैविध्यम्. दशविधम् आह **विराट्प्राणो दशविधः** इति. विराजो यः प्राणः आसन्यरूपः. षष्ठ्या सम्बन्धाद् **विराड्** आसन्यावतारः इति उक्तम्. महत्–तत्त्वस्यैव क्रियाशक्त्यंशः सूत्रात्मा, सएव विराट्. प्राणादयः पञ्च, तथा नागादयः. ''**नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः**''(शिवपुरा.७।२।३७।३६) इति वाक्यात्. एतेषां देहे कार्यं नियतम् ''**कासश्छिक्का तथोद्गारो जृम्भा शोषः तथैव च**''(   ). तस्य एकः प्रकारो **हृदयेन.** हृदयम् इति वक्तव्ये तस्य करणत्वेन निर्देशः तदवान्तरभेदनिरूपणार्थः, मनो–बुद्धिः अहङ्कारः चित्तम् इति. **च**कारात् तस्य अधिभूतादिभेदाः सङ्गृहीताः इति. हृदयं, मनःप्रभृतयः तद्देवाश्च इति।।९।।

एवं तस्य विराजः तदन्तर्गतानां च एकप्रकारेण स्वरूपम् उक्त्वा, स्वप्रवेशेनैव विश्वसृजां कार्यं विधाय, ज्ञानक्रियाशक्ती अदत्वा ''**यथा वयं च अन्नम् अदाम यत्र**''(भाग.पुरा.३।५।४८) इति यद् विज्ञापितं, तदपि चेद् न दद्यात् तत्त्वानां नाशः खेदो वा भवेद् इति तेषां विज्ञापनां सत्यां कृतवान् इति आह

क. 'अर्थबलतया' इति मां१–३ पाठः.

स्मरन् विश्वसृजाम् ईशो विज्ञापितम् अधोक्षजः ।
विराजम् अतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ।।१०।।

स्मरन् विश्वसृजाम् इति. **विश्वसृजाम्** इत्यनेन तेषां महत्त्वम् उपकारश्च सूचितः. दाने हेतुः **विज्ञापितम्** इति. स्वार्थन्तु न कृतवान् इति आह **अधोक्षजः** इति. अधो अक्षजं यस्मात्. यत्किञ्चिद् इन्द्रियैः उत्पद्यते ज्ञानं क्रिया वा, तद् भगवन्तम् अप्राप्यैव परागेव निवर्त्तते. अतः स्वोपयोगाभावाद् उभयोपयोगे भक्तिविरोधाच्च तेषामेव उपकारं कृतवान्. किं कृतवान्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **विराजम् अतपद्** इति. सहि सर्वसमर्थः. सिद्धेऽपि कार्ये तेषाम् उपयोगार्थं **स्वतेजसा** पुनः तत्कार्यं सन्तप्तं कृतवान्. स्वतेजसा तप्तत्वाद् न वृथा नाशप्रकारेण तस्य भङ्गः, किन्तु एषां तत्त्वानां विविधवृत्तये स्थानसिद्धये. यथा तेषां स्थित्यर्थं मध्ये छिद्राणि स्थानानि भवन्ति, तथा तापं कृतवान् इति अर्थः।।१०।।

तेषां छिद्राणां स्वोपयोगाभावाद् भिन्नप्रक्रमेण निरूपयति

अथ तस्याऽभितप्तस्य कति चाऽऽयतनानि ह ।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ।।११।।

अथ इति. **तस्य** विराजः. भगवत्तेजसा अभितः तप्तस्य **कति आयतनानि निरभिद्यन्त?** तानि चेद् जानासि तदा न वक्तव्यम्, अथ न जानासि तदा वक्तव्यम् इति अभिप्रायेण **कति** इति उक्तम्. **च**काराद् जीवार्थं स्वार्थञ्च तत्र एवं प्रकाराः सङ्गृहीताः. भेदेन नाशशङ्कां वारयति **आयतनानि** इति. भिन्नान्यपि गृहरूपाण्येव तत्त्वानां जातानि इति. **ह** इति आश्चर्ये. देवानां स्थानत्वाद् न अङ्गविकलत्वम्. **तानि** न जानासि चेद् **मे गदतः शृणु. मे गदतः** सतः. मया त्वदर्थमेव उच्यते इति न देवानां मर्मोद्घाटनेन दोषः स्यात्, किन्तु मया कीर्त्यते देवानां स्थानस्वरूपं, त्वयाऽपि श्रोतव्यम्. आज्ञाभावे चौर्यं स्याद् इति ।।११।।

तानि आयतनानि निरूपयति

तस्याऽग्निर् आस्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत् पदम् ।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययाऽसौ प्रतिपद्यते ।।१२।।

तस्य अग्निः आस्यम् इति. **तस्य** विराजो **निर्भिन्नम् आस्यं** वक्त्रम् **अग्निः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ इत्यत्र. **स्वार्थम्** इति. विराट्पुरुषार्थम्।।११।।

आविशत्. वाचि जायमानो भोगो अग्नेः भवति. **लोकपालः** इति विशेषणम् अग्नेः, तत्त्वरूपस्य विज्ञापनासिद्ध्यर्थम्. आग्नेयदिशि ये लोकाः तेषां पालकत्वं दत्तम्, आस्ये च स्थानं दत्तं, तत् **पदम्** तस्य लोकास्तु पाल्याः रक्ष्याएव, भोगस्तु वाच्येव. **वाचा स्वांशेन** इति. वाग् इन्द्रियम् अग्नेः आध्यात्मिकं रूपम्. आसङ्गदोषसहितो अग्निः 'वाग्' इति उच्यते. अतएव अग्नेः स्वांशभूता वाक्. अनेन अग्निः इज्यरूपो निवारितः. किं तया देवतया वाचा वा? तत्र आह **यया** वाचा. **असौ** विराट्पुरुषः, **वक्तव्यं** वाग्व्यापारं, शब्दोच्चारणम् इति यावत्. तद्देवताधिष्ठितेन्द्रियेण **प्रतिपद्यते**।।१२।।

स्थानान्तरम् आह

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद् विभोः ।
जिह्वयांऽशेन च रसं ययाऽसौ प्रतिपद्यते ।।१३।।

निर्भिन्नं तालु इति. तत्रैव आस्ये यो वक्त्रसम्मित आकाशः,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य इत्यत्र. **विज्ञापनासिद्ध्यर्थम्.** इति. लोकाः बलिं हरन्ति इति विज्ञापनायाः फलसिद्ध्यर्थम्. रक्ष्याएव इति. न भोग्याः, नाऽपि आधारभूताः इति अर्थः. अत्र सर्वत्र एतद् बोध्यम्. 'यत्र अन्नम् अदाम' इति विज्ञापनायाः फलम् आस्यादिकम् आयतनम्. 'यथा अन्नम् अदाम' इत्यस्याः फलं वागादिसाहित्येन. वागादयः तेषां देवानां स्त्रीभूताः. अन्नन्तु जीवनात्मकं सर्वेषां, तच्च वाङ्गिष्पाद्यत्वदशायाम् अग्रे बोध्यम्. बलिहरणन्तु वक्तव्यादिप्रतिपादनं विराडर्थं स्तुत्यादिकरणं भगवदर्थम्. लोकानान्तु आग्नेयादिदिग्भागाः देहाः च आयतनानि. प्रकारस्तु सर्वदेवतेन्द्रियगोलकसाहित्यम्. अन्नन्तु तत्तद्देश्यं तद् अदृष्टाद् आप्तं च पूर्वोक्तमेव. बलिहरणन्तु तत्तद्देवतानां भगवतः च पूजादिकं बोध्यम्. **आसंगदोषसहितः** इति. गोलकसंसर्गरूपेण दोषेण सहितः. आसञ्जनादेव शरीरम् अधिकृत्य वर्तमानत्वाद् आध्यात्मिकत्वम्. अनासक्तस्य देवतात्वम्. राजसत्वाद् आसङ्गः, सात्त्विकत्वाद् अनासङ्गः. वस्तुतः उभयोः आहंकारिकत्वाद् अंशांशिभावः. तद् आहुः **अतएव** इत्यादि. **स्वांशभूता** इति. अभिमन्तव्यांशभूताः तथाच, यो राजसो यस्य सात्त्विकस्य अभिमन्तव्यत्वेन भगवता दत्तः, सः तस्य अंशः. **अनेन** इति. वागाभिमानित्वकथनेन।।१२।।

[1]तत्र अग्निः देवता, वाग् इन्द्रियम्. [2]तत्रैव पुनः तालुलोके 'जिह्वा'पदवाच्यं गोलकं **निर्भिन्नम्.** तद् **निर्भिन्नं तालु वरुणो** देवता **अविशत्. लोकपालः** इति पूर्ववत्. **विभोः** इति विराजः. सहि विभोः नाना रसान् उपस्थाप्य ग्राहयति. अतो वरुणस्य तत्र महाभोगः. प्रभोः भोगस्थाने विद्यमानत्वात्. **जिह्वया अंशेन** इति. जिह्वापि इन्द्रियं वरुणस्य अंशः. **यया**[3] **जिह्वया असौ** विराड् रसं प्रतिपद्यते।।१३।।

अन्यद् विवरद्वयम् आह

विनिर्भिन्नेऽश्विनौ नासे विष्णोर् आविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिः यतो भवेत् ।।१४।।

विनिर्भिन्ने अश्विनौ इति. अश्विनीकुमारौ निर्भिन्ने नासापुटे **पदम् आविशताम्.** नासापुटद्वयं गोलकम्. **विष्णोः** विराजः. **घ्राणम्** इन्द्रियम्. **गन्धस्य प्रतिपत्तिः** गन्धज्ञानं घ्राणदेवताभ्यां हेतुभ्यां भगवतो भवति. सर्वत्र विवरं गोलकं देवतायाः स्थानम्. देवता इन्द्रियप्रेरिका, इन्द्रियं च तस्य अंशः, इन्द्रिय-देवताभ्याञ्च अभिमानिनः तद्विषयानुभवः इति।।१४।।

इन्द्रियान्तरस्य चक्षुषो विषयं निरूपयति

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद् विभोः ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर् यतो भवेत् ।।१५।।

निर्भिन्ने अक्षिणी इति. **अक्षिणी** गोलके. **त्वष्टा** सूर्यः. अभिमानिनो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निर्भिन्नं तालु इत्यत्र. **पूर्ववद्** इति. अग्नेः आग्नेयदिग्लोकपालत्ववद् अस्य प्रतीचीदिक्पालत्वम् इति अर्थः।।१३।।

विनिर्भिन्ने अश्विनौ इत्यत्र. यद्यपि एतयोः लोकपालत्वम् अत्र न उक्तं, तथापि प्रायपाठसंदंशाद् विज्ञापनायाः सामुदायिकत्वात् च उत्तरदिग्लोकपालत्वं बोध्यम्, उदीच्याः शान्तत्वाद् एतयोः भिषक्त्वेन दोषशामकत्वाद् इति. इदमेव सर्वनिर्णये "**अश्विनावुत्तरतः**"(   ) इत्यनेन उक्तम्।।१४।।

निर्भिन्ने अक्षिणी इत्यत्र. **अभिमानिनः** इत्यादि. तनूकरणे असुराणां नाशकत्वेन तनूकरणे अधिकृतत्वात् तक्षोधातोः च तनूकरणार्थत्वात् 'त्वष्टृ'शब्दस्य

१.तत्राप्यग्निः. ख. २.तत्रैव च. ख. ३.तया. ख. ग. घ.

निर्देशः चक्षुषः प्रायिकासुरत्वख्यापनाय. **चक्षुः** इन्द्रियम्।।१५।।

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत्।

प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनाऽसौ प्रतिपद्यते ।।१६।।

निर्भिन्नानि अस्य चर्माणि इति. रोमकूपच्छिद्रानन्त्याद् बहुवचनम्. एषा त्वग्रूपा. 'त्वक्'शब्देन च अग्रिमः सूक्ष्मो अंशो निरूप्यते. तस्माद् अत्र इन्द्रियद्वयम्. यः चर्मोपरि सूक्ष्मो अंशः सा त्वक्, "**त्वक् चर्म**" (भाग.पुरा. २।१०।३१) इति क्रमात्. तत्र चर्मणि अनिलो देवता, प्राणः इन्द्रियं लोके 'त्वक्'शब्दवाच्यम्. प्राणस्य उपष्टम्भकत्वात् 'तच्छ'ब्देन उच्यते।।१६।।

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर् दिशः।

श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ।।१७।।

कर्णौ इति. **दिशो** देवताः. **श्रोत्रम्** इन्द्रियम्. **शब्दस्य सिद्धिः** शब्दज्ञानम्. **कर्णौ** गोलकम्।।१७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन्निष्पन्नत्वेन तथा बोध्यते इति अर्थः. एतस्य प्राचीदिग्लोपालपरिधिपरिधान-बोधकश्रुतौ सिद्धम्(?)।।१५।।

निर्भिन्नानि इत्यत्र. द्वितीयस्कन्धे "**श्रोत्रं त्वग्घ्राण-दृग्-जिह्वा-वाग्-दोर् मेंढ्राङ्घ्रि-पायवः**" (भाग.पुरा.२।५।३१) इति बाह्येषु दशेन्द्रियेषु त्वचो दर्शनाद् अत्र 'चर्म'पदेन किम् उच्यते इति आशङ्कानिराशाय आहुः **एषा त्वग्रूपा** इति. एषा 'चर्म'पदोक्ता देवता द्वितीयस्कन्धोक्त-त्वग्रूपा इति अर्थः. तस्य स्वरूपम् आहुः 'त्वक्'शब्देन इत्यादि. तस्माद् अग्रपश्चाद् भागभेदाद् अत्र त्वचि क्रमेण त्वक्चर्मात्मके द्विविधे गोलके, प्राणरोमाख्यम् इन्द्रियद्वयम् इति अर्थः. ननु अग्रे त्वचो निरूपणाद् विपरीतक्रमः कुतो न उच्यते इत्यतः आहुः **त्वक् चर्म इति क्रमाद्** इति. द्वितीयस्कन्धे "**त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः, भूम्यप्तेजोमयाः सप्त**"(भाग.पुरा.२०।१०।३१) इति उपरि(?) मादायैव क्रमकथनाद् विपरीतक्रमो न उच्यते इति अर्थः. ननु 'त्वक्'शब्दवाच्यस्य कुतः 'प्राण'शब्देन उल्लेखक(?) इत्यतः आहुः **प्राणस्य** इत्यादि. द्वितीयस्कन्धे "**प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः**" (भाग.पुरा. २।१०।३१) इत्यत्र सर्वदेहव्यापकत्वेन आप्यायकत्वेन वायुरूपत्वेन च त्रैविध्यस्य उक्तत्वात् तस्य सर्वदेहव्यापित्वम् अनया उपष्टभ्यते इत्यतः तथा इति अर्थः।।१६।।

त्वचम् अस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यम् ओषधीः।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैर् असौ प्रतिपद्यते ।।१८।।

त्वचम् इति. त्वग्गोलकम्. **ओषधीः** देवताः. **लोमानि** इन्द्रियाणि. **कण्डूः** त्वग्घर्षणसुखम्।।१८।।

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।
रेतसांशेन येनाऽसौ आनन्दं प्रतिपद्यते ।।१९।।

मेढ्रं गोलकम्. **को** देवता. **रेतः** इन्द्रियम्. **आनन्दः** स्त्रीसम्भोगसुखम् ।।१९।।

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।
पायुनांशेन येनाऽसौ विसर्गं प्रतिपद्यते ।।२०।।

गुदं गोलकम्. **मित्रो** देवता. **पायुः** इन्द्रियम्. **विसर्गो** मलत्यागः।।२०।।

हस्तावस्य विनिर्भिन्नौ इन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ।।२१।।

हस्तौ गोलकम्. **इन्द्रो** देवता. **स्वर्पतिः** इति लोकपालः. **वार्ता** कृतिः, करणसामर्थ्यं, बलम् इति यावद्, इन्द्रियम्. **वृत्तिः** हस्तव्यापारः।।२१।।

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् ।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते।।२२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवञ्च ओषधीनां वाय्वंशत्वं रोम्णां त्वगंशत्वम् इति तस्य गोलकद्वये रूपद्वयेन भोगः सिध्यति. ओषधी-रोम्णोः अतिरिक्तत्वं न वक्तुं शक्यं, गणस्य त्रयोविंशतिकत्वेनैव सिद्धत्वाद् इति।।१८।।

रेतसांशेन इत्यत्र. 'उपस्थ'शब्दवाच्यम् इन्द्रियं 'रेतः'शब्देन बोध्यम्।।१९।।

वार्त्तया अंशेन इत्यत्र. 'वार्ता'शब्दस्य वैश्यवृत्तौ वृत्तान्ते च प्रसिद्धत्वाद् अत्र तद् उभयमपि न अभिप्रेतं, किन्तु "**तयोस्तु बलवान् इन्द्रः**" (भाग.पुरा.२।१०।२४) इति पूर्वम् उक्तत्वाद् अग्रे च "**हस्तानिन्द्रो बलेनैव**" (भाग.पुरा.३।२६।६६) इति वक्ष्यमाणत्वात् च अत्र प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण बलमेव अभिप्रेतम् इति आशयेन आहुः **वार्ता कृतिः** इत्यादि. एवम् अत्र बाह्यानां दशेन्द्रियाणाम् एकादशस्थानेषु भोगादिकम् उक्तम् ।।२१।।

पादौ गोलकम्. **विष्णुः** देवता. **गतिः** इन्द्रियम्. **प्राप्यं** चरणकर्म, ग्रामादिसम्बन्धः इति यावत्।।२२।।

बुद्धिं चाऽस्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यम् आविशत्।
बोधेनांशेन बोद्धव्यप्रतिपत्तिर् यतो भवेत्।।२३।।

अन्तःकरणचतुष्टयस्य हृदयम् एकं गोलकम्. तदेव अंशभेदेन 'बुध्या'दिशब्देन उच्यते. **बुद्धिः** गोलकम्. **वागीशो** ब्रह्मा देवता. **बोध** इन्द्रियम्. **बोद्धव्यादेः** घटादेः **प्रतिपत्तिः** ज्ञानम् इन्द्रियव्यापारः।।२३।।

हृदयं चाऽस्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यम् आविशत्।
मनसांशेन येनाऽसौ विक्रियां प्रतिपद्यते।।२४।।

हृदयं गोलकम्. **चन्द्रमा** देवता. **मनः** इन्द्रियम्. **विक्रिया** विविधक्रिया सङ्कल्पविकल्परूपा इन्द्रियव्यापारः।।२४।।

आत्मानं चाऽस्य निर्भिन्नम् अभिमानोऽविशत् पदम्।
कर्मणांशेन येनाऽसौ कर्त्तव्यं प्रतिपद्यते।।२५।।

आत्मा अहङ्कारः, अन्तःकरणांशः. **अभिमानो** देवता. रुद्रात्मकः इति केचित्. नूतनसृष्टित्वात् 'तच्'छब्दवाच्याएव तथाविधाः ते. **कर्म** अभिमतिः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अतःपरं महदहङ्कारमनसां वक्तव्यम्. अत्र अनुक्तायामपि द्वितीयस्कन्धे समाधानप्रकरणे ''**बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः**''(भाग.पुरा.२।५।३१) इति अहङ्कार-भेदत्वेन उक्तयोः बुद्धि-प्राणयोः वक्तव्यम्. तद् वक्तुं ''**साध्यात्मः साधिभूतः**'' (भाग.पुरा.३।६।९) इति श्लोकोक्तत्रेधामहाविभागमध्ये ''**एकधा हृदयेन च**''(भाग. पुरा.३।६।९) इति चकारेण अधिभूतादिभेदङ्ग्रहपूर्वकं करणविभक्तावान्तर-भेदकथनपूर्वकं यः एकधाविभागः प्रतिज्ञातः तं विवृण्वन्ति **अन्तःकरणे**त्यादि. **तदेव** इत्येव राजसी बुद्धिः निवारिता. सा अग्रे 'बोधेनांशेन' इति 'बोध'पदेन उच्यते।।२३।

रुद्रात्मकः इति केचिद् इति. ''**रुद्रोऽभिमत्या हृदयम्**'' (भाग.पुरा. ३।२६।६९) इति अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् प्रकरणसाम्यात् केचिद् आहुः इति अर्थः. तत्र अस्वरसं बोधयन्ति **नूतने**त्यादि. तत्र ''**चित्तेन हृदयं चैत्यः**''(भाग.पुरा. ३।२६।७०) इति वक्ष्यते, अत्रतु ''**महान् धिष्ण्यमुपाविशत् चित्तेनांशेन**'' (भाग.पुरा. ३।६।२६)

देहादौ अहंबुद्धिः इन्द्रियम्. **कर्त्तव्यम्** अहङ्कारकार्यम्।।२५।।

सत्त्वं चाऽस्य विनिर्भिन्नं महान् धिष्ण्यम् उपाविशत् ।
चित्तेनांशेन येनाऽसौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ।।२६।।

सत्त्वं गोलकम्. **महान्** देवता. **चित्तम्** इन्द्रियम्. **विज्ञानं** चेतना, इन्द्रियव्यापारः. एवं सात्त्विकाहङ्कारकार्ये मनसि महत्तत्त्वाहङ्कारयोः बुद्धेश्च ऐक्यविवक्षया तेषामपि इन्द्रियत्वं परिकल्प्य तत्र देवतादिभेदः उक्तः।।२६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति देवताभेदः उच्यते. अतो अत्रापि तथाविधो भिन्नएव वक्तव्यः इति अर्थः. 'कर्म'शब्दं ''**रुद्रोऽभिमत्या**''(भाग.पुरा.३।२६।६९) इति वाक्यानुसारेण विवृण्वन्ति **कर्म अभिमतिः** इति।।२५।।

चेतनेति. सकलशरीरव्यापि चैतन्यम्. अत्र पूर्वापेक्षया वैलक्षण्यबोधनाय आहुः **एवं सात्त्विके**त्यादि **तेषाम्** इति. बोधाभिमतिचित्तानाम्.

अत्र एतद् बोध्यम्. बहिरिन्द्रियेषु विज्ञापनकाले इन्द्रियाण्येव मुख्यानि, देवाः गुणभूताः. अन्तरिन्द्रियेतु देवताद्वयं महदहङ्काराख्यं मुख्यं, बुद्धिस्तु तैजसस्य रूपान्तरम्. चन्द्रमास्तु अनुक्तो मनःसहभावाद् वैकारिकस्यैव कार्यम्. गोलकन्तु स्थूलतया एकम्. तत्र एतेषां चेद् ऐकमत्यं न भवेत्, तदा वासः कार्यकरणं च न उपपद्येत इति तदर्थम् एवम् अत्र उक्तम् इति अर्थः. एवञ्च वायोः वायव्यलोकपालत्वं, दिशां दक्षिणपालत्वं, कस्य अवान्तरपालत्वं, मित्रस्य नैर्ऋतपालत्वं, विष्णुचन्द्राभिमानब्रह्मणाम् अधोमध्येशानोपरिपालकत्वं बोध्यम्. प्राणस्यापि तैजसभेदत्वाद् मुख्यं हृदयमेव गोलकम्. तद्भेदानान्तु ''**हृदि प्राणो गुदेऽपानः**''( ) इत्याद्युक्तानि नानागोलकानि एवम् अत्र त्रयोदशानां स्थानादिविभागः उक्तः. अतः पञ्च मात्राः पञ्च भूतानि च अवशिष्यन्ते. तत्र मात्राणां भोग्यत्वेनैव उत्पन्नत्वाद् भोगेनैव तेषां पोषः, यथा स्त्रीणाम्. भूतानां च अधिष्ठानत्वेनैव उत्पन्नत्वाद् वासेनैव तेषां पोषः, यथा गृहाणाम्. उष्यमाणान्येव गृहाणि तिष्ठन्ति, न उज्जटानीति. उक्तं च द्वितीयस्कन्धे ''**आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः, नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये**''(भाग.पुरा.२।१०।२९) इति. वक्ष्यते ''**नाडीर्नद्यो लोहितेन**'' (भाग.पुरा.३।२६।६७) इति ''**क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुः**''(भाग.पुरा.३।२६।६८) इति च अम्भसो नदीलोहितभेदेन देवतेन्द्रियभावः, क्षुत्तृषोः तेजोरूपयोः

इदानीं मध्ये अवयवैः लोकनिर्माणम् आह

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत।

गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥२७॥

शीर्ष्णो अस्य इति. **अस्य** विराजः **शीर्ष्णः** सकाशाद् **द्यौः उदपद्यत. नाभेः खम्** अन्तरिक्षम् उदपद्यत. **पद्भ्याम्** इति पञ्चमी. **धरा** पृथ्वी. विपरीत-कथने प्रयोजनं वक्तव्यम्. ननु किमर्थम् एतन्निरूपणं? विज्ञापिते हि सन्तापः कृतः, तत्त्वानां च भोगार्थं स्थाननिर्माणम् उक्तम्. धरादिनिर्माणस्य क्व उपयोगः? इति आशङ्क्य आह **गुणानाम्** इति. पूर्वम् अहङ्कारस्य मायायाः वा गुणाः निरूपिताः. तेषां प्रत्येकवृत्ति स्थानं वक्तव्यम्. तदभिमानिदेवानां नियतभोगार्थं **वृत्तयो** विलासप्रकाराः. **येषु** द्यौरादिषु. ननु गुणानां का वृत्तयः? विलासः चेतनानां भवति इति आशङ्क्य आह **येषु प्रतीयन्ते सुरादयः** इति. येषु प्रतीयन्ते इति पुनः अनुषज्यते. **सुराः** देवाः. 'आदि'शब्देन नराः भूतानि च ॥२७॥

तदेव विभज्य स्पष्टयति

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे।

धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च तान् अनु॥२८॥

अत्यन्तिकेन इति. **अत्यन्तिकं** गुणान्तरास्पृष्टं, सत्त्वाधिक्यं वा. **देवाः** पूर्वोक्ताः अन्ये च. पूर्वमपि आधिदैविकाः निरूपिताः, अन्ये च त्रयस्त्रिंशत्. ते सर्वे अतिसात्त्विकाः इति सत्त्वविलासस्थानं **दिवं प्रपेदिरे**. विपरीतकथने हेतुं वदन् व्युत्क्रमेण निरूपयति **धराम्** इति. गुणक्रमएव अत्र क्रमः, नतु अवयवक्रमः. **रजः स्वभावेन पणयो** नराः धरां प्रतिपद्यन्ते. ते हि कर्मणा पणन्ते, कर्म दत्त्वा फलं गृह्णन्ति इति. कर्मणैव व्यवहारः इति **पणयो** नराः. **तान् अनु ये** गवादयः, तेषां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इन्द्रियत्वं जलात्मकस्य सिन्धोः देवत्वं च. एवं पृथिव्याकाशवायूनामपि बोध्यम्॥२६॥

तदेतद् अभिप्रेत्य आहुः **इदानीम्** इत्यादि. अग्न्यादिमहदन्तानां विज्ञापित-फलदानकथनानन्तरं मात्राभूतदेवानां तद्दानं वक्तुं तथा आह इति अर्थः. **शीर्ष्णः** इत्यत्र. **वक्तव्यम्** इति. अग्रिमश्लोके वक्तव्यम्. एवं त्रिर्निर्गुणानां(?) मात्राणां भूतानां व्यष्टिद्वारैव भोग्यङ्ग(?) उक्तः इति ज्ञायते॥२७॥

तामसत्वेऽपि नरोपकाराद् भूमिमेव आश्रिताः।।२८।।

तृतीयस्थाने हेतुम् आह

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिम् आश्रिताः ।
उभयोर् अन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदा गणाः ।।२९।।

तार्तीयेन इति. **तार्तीयं** तृतीयम्. प्रकृतेः गुणत्वाय **स्वभावेन** इति उक्तम्. **भगवन्नाभिम्** अन्तरिक्षम्. तामसस्य मध्ये निवेशने हेतुः उच्यते **उभयोः अन्तरं व्योम** इति. अन्तरिक्षं शून्यं तेषां स्थानम्. **रुद्राः** घातुकाः अनायतनाः. अतः तृतीयत्वेऽपि मध्यस्थानस्य शून्यत्वाद् रुद्रैः तत्स्थानं गृहीतम् इति. आधेयाधारयोः बलिष्ठत्वेन अन्तरालमेव स्थानम्. तत्र स्थितान् निर्दिशति **ये रुद्रपार्षदाः** इति. रुद्रस्य **पर्षदि** सभायां योग्याः. कदाचित् तत्र रुद्रसभायां सनकादयो देवाः वा आगच्छन्ति इति तद्व्यावृत्त्यर्थं **गणाः** इति उक्तम्. ये महादेवस्य गणाः भूत्वा पार्षदाः, ते मध्ये तिष्ठन्ति. एवं व्यष्टिसृष्टौ गुणैः स्थानभेदाः निरूपिताः।।२९।।

गुणैरेव वर्णभेदाः इति वर्णान् अवयवेभ्यः उत्पन्नान् निरूपयति भजनार्थं, मुखतो अवर्त्तत इति चतुर्भिः

मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ।
यस्तून्मूखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः।।३०।।

भगवतो मुखतो **ब्रह्म** देवतारूपं, शुद्धसत्वपरिणामभूतं यद् अधिष्ठानाद् ब्राह्मणाः भवन्ति तद् जातम्. **अवर्त्तत** इति. विद्यमानमेव मुखात् प्रकटीभूतम्. **पुरुषस्य** भगवतो नारायणस्य. **कुरूद्वह** इति विश्वासार्थम्, एतच्छ्रवणाधिकारार्थं वा. यस्तु वर्णानां मध्ये मुख्यो ब्रह्मोन्मुखत्वाद् **ब्राह्मणो अभूत्, गुरुश्च** अभूत्. 'तु'शब्देन स्वतो ब्राह्मणस्य मुखत्वं वारयति. ब्रह्मणि स्थितो ब्राह्मणः. ''**तत्र**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मुखतः इत्यत्र. मुखाद् जातस्य ब्रह्मणः स्वरूपं द्वितीयस्कन्धे उपपादितं स्मारयन्ति **देवतारूपम्** इत्यादि. **वारयति** इति. अत्र ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वे हेतुं वदन् ''**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्**''(शुक्लयजुर्वेद.३१।११) इत्यत्र श्रावितं मुखत्वं स्वतो न, किन्तु ब्रह्मणा उन्मुखत्वकृतमेव इति निश्चाययति इति अर्थः. तद् उन्मुखत्वं योगेन त्रिधा आहुः **ब्रह्मणि** इत्यादि. तत्र आद्येन वृत्ततः; द्वितीयेन संस्कारतः, तृतीयेन

भवः''(पाणि.सू.४।३।५३) वा ''**तस्येदम्**''(पाणि.सू.४।३।१२०) इति वा अण्. उन्मुखो अग्रे प्रवृत्तो मुख्यो वर्णः ऊर्ध्वमुखो भवति. ऊर्ध्वं मुखं यस्य. उपदेशाद्यर्थम् आद्यस्य ऊर्ध्वं मुखं भवति. ब्रह्माऽपि ऊर्ध्वमुखं, भगवन्मुखाद् यतः ऊर्ध्वं जातम्. ऊर्ध्वं मुखं येन इति. ब्रह्मोत्पत्त्यर्थमेव भगवतो मुखम् ऊर्ध्वं जातम् इति. अतः समष्टि-व्यष्टयोः बीजाङ्कुरभावेन ऐक्याद् उन्मुखत्वसाम्येन वर्णानां मध्ये मुख्यः, मुखे भवः प्रथमं जातश्च, ब्राह्मणो जातः. अतएव गुरुः. भगवानेव हि गुरुः. सहि मुखेन उपदिशति. ततः उपदेशनार्थमेव ब्रह्म आधिभौतिकं निर्गतम्. आध्यात्मिकं ब्रह्म वेदः, आधिदैविकन्तु अक्षरम् इति. अतो भौतिकब्रह्मा-विर्भावाद् उन्मुखत्वसाम्येन तद् ब्रह्म वर्णाद्ये प्रविशति इति ब्राह्मणएव द्वितीय-ब्रह्मणो वेदस्य आध्यात्मिकस्य तृतीयब्रह्मज्ञानार्थम् उपदेष्टा भवतीति गुरुः।।३०।

द्वितीयवर्णोत्पत्तिम् आह

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस् तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ।।३१।।

बाहुभ्यो अवर्तत इति. **क्षत्त्रं** नाम भगवतो वीर्यं लोकरक्षात्मकं किञ्चित्, तद् बाहुभ्यो निर्वृत्तम्. अन्तःस्थितं सद् बहिःनिर्गतम् इति अर्थः. वर्णानां मध्ये द्वितीयः **तदनुव्रतः**. क्षत्रम् अनुव्रतं यस्य. यथा क्षत्रं रक्षार्थमेव प्रवृत्तं तथा अयमपि इति. सहजातत्वाद् एकोपादानकत्वाच्च. क्षत्रस्य सेवकत्वात् ''**क्षत्राद् घः**'' (पाणि.सू.४।१।१३८) इति नियतधर्मवाचकत्वेन जातिवाचकत्वएव 'घ'प्रत्ययाद् अनुवृत्तत्वार्थो नियुक्तः. तदेव विशदयति **यो जातः** इति. क्षतात्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जननमात्राद् इति एवं त्रिद्ये(?)कसम्बन्धेन मुख-मध्य-जघन्यभावे प्रस्ताराद् ब्राह्मण्यम् अनेकधा भवति इति बोधितम्. एवम् उन्मुखत्वस्य ब्राह्मणत्वे हेतुता व्याख्याता. गुरुत्वे हेतुतां व्याकुर्वन्ति **मुख्यः** इत्यादि. मुख्यत्वे तां व्याकुर्वन्ति **ब्रह्माऽपि** इत्यादि. **ऊर्ध्वं जातम्** इत्यादि. सर्वस्माद् उपरि जातम्. तत्र हेतुं समासमुखेन आहुः **ऊर्ध्वं मुखं येन** इति. एवं त्रिष्वपि हेतुत्वबोधनस्य फलम् आहुः **अतः** इत्यादि. **समष्टि-व्यष्ट्योः** इति. ब्रह्म-ब्राह्मणयोः।।३०।।

बाहुभ्यः इत्यत्र. 'क्षत्त्रिय'पदस्य यौगिकार्थं विचारयन्ति **सहे**त्यादि. क्षत्त्र-सेवके इदं हेतुद्वयम्. **नियुक्तः** इति. निरूढः इतिवद् नितरां युक्तः. **तदेव** इति.

त्रायते इति क्षत्रियः, यो जातएव स्वव्यतिरिक्तान् त्रीन् वर्णान् कण्टकक्षतात् त्रायते. रोगात् त्राणव्युदासार्थं 'कण्टकाद्' इति उक्तम्. **कण्टकाः** दैत्यांशाः. ते हि भूमेः कण्टकप्रायाः गतिप्रतिबन्धकाः, धर्मप्रतिबन्धकाः इति यावद्. अन्यथा मारकत्वाद् विपरीतता स्यात्. अनेन कण्टकानां वर्णता निषिद्धा. **क्षताद्** इति सम्भावनायाम्. पौरुषो अयं क्षत्रियः. पुरुषाद् जातः पौरुषः. सामर्थ्यकथनार्थं 'पौरुषः' इति उक्तम्।।३१।।

तृतीयवर्णोत्पतिम् आह

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोः लोकवृत्तिकरीर् विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ।।३२।।

विशो अवर्तन्त इति. **विशः** इति सर्वेषामेव वर्णानां जीविकावृत्तयः उक्ताः, कृष्यादयः. शिलोञ्छादीनामपि तन्मूलकत्वं, देयमपि ततएव उत्पद्यते इति. तत्र उत्पादकं द्वयं, कृषिः गोरक्षा च. वाणिज्य-कुसीदे वृद्धिप्रापके. यद्यपि धातुभिः व्यवहारे वैश्यस्य न प्रयोजकत्वं तथापि न धातुभिः जीवनं भवति इति अन्नोत्पत्त्यर्थं रसोत्पत्त्यर्थञ्च कृषि-गोरक्षयोरेव प्रयोजकत्वम्. कण्टकादेव रक्षा क्षत्रियस्य. ततएव उत्पन्नम् उपदेशाद् ब्राह्मणो लभते, रक्षातः क्षत्रियः. आरण्यानां मूलफलादीनाञ्च यद्यपि जीवनोपयोगित्वं, तथापि न सर्वेषां सर्वदा तदुपयोगः. **तस्य** भगवतः **उर्वोः** ऊरुद्वयाद् वार्ता उत्पन्नाः. तासां प्रयोजनम् आह **लोकवृत्तिकरीः** इति. लोकानां वृत्तिं जीविकां कुर्वन्ति इति. ननु अमूर्ताः ताः पदार्थानां च नियतत्वाद्, हान्यादीनामपि दर्शनात्, कथं तासां सर्वनिर्वाहकत्वम्? अतः आह **विभोः** इति. सहि समर्थः. वृत्त्याश्रयणमात्रेणैव सर्वानपि दोषान् दूरीकृत्य तं जीवयत्येव. तासाम् अमूर्त्तानाम् आधारार्थं ताभ्यएव निर्गतो वैश्यः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आत्यन्तिकं योगमेव. **शतान् इति सम्भावनायाम्** इत्यत्र **क्षताद्** इति पाठः प्रतिभाति।।३१।।

विशः इत्यत्र. 'विश'शब्दार्थम् आहुः **विशः** इत्यादि. तथाच, जीविका-रूपाः याः देवताः ताः 'विश'शब्दस्य अर्थज्ञा(?)त्यर्थः. तद् उपपादयन्ति **शिले**त्यादि. **ततः** इति. वैश्यात्. अमूर्ताभ्यः कथं मूर्तोत्पत्तिः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे **तदुद्भवः** इत्यस्य पुरुषोद्भवः इति अर्थः।।३२।।

तृतीयो वर्णः नृणां वार्तां जीविकां **सम्यग् अवर्त्तयत्. यः** इति प्रसिद्धः. अथवा **वैश्यः तदुद्भवः** इति भिन्नम्. **यः** इति अनुवादः. **नृणाम्** इति देवादिव्युदासः. अनेन साधारणाएव पुरुषाः तद्वृत्त्या जीवन्ति, नतु अधिगतपरमार्थाः. सम्यग् वर्तनं नाम अनायासेन नित्यनिर्वाहकत्वम् ।।३२।।

चतुर्थोत्पत्तिम् आह

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्या तुष्यते हरिः।।३३।।

पद्भ्याम् इति. भगवतः सर्वात्मकस्य पदार्थचतुष्टयम् अभिप्रेतं; ज्ञानं, क्रिया रक्षारूपा, जीविका, सेवा इति. ततो **भगवतः पद्भ्यां 'शुश्रूषा'** नाम सेवारूपा काचित् भगवद्भक्तिरूपा अन्तरङ्गा काचित् शक्तिः उत्पन्ना. तस्याः प्रयोजनम् आह **धर्मसिद्धये** इति. धर्मः सेवयैव भवति, गुरुसेवा, देवतासेवा, अरण्यसेवा, आत्मसेवा इति. किं बहुना सर्वएव धर्माः पातिव्रत्यादयोऽपि सेवयामेव पर्यवसिताः. अतो धर्मसिध्यर्थं सेवा गतिदात्री [क]भगवद्गतिहेतोः उत्पन्ना. अनेन पूर्ववर्णानां पुरुषार्थान्तरहेतुत्वम् अर्थाद् उक्तम्. विशो अर्थसाधकत्वं, क्षत्रस्य कामसाधकत्वं, ब्रह्मणो मोक्षसाधकत्वम् इति. अतएव ब्राह्मणएव मुक्तिः, क्षत्रिये भोगः, वैश्ये अर्थः, धर्मः शूद्रः इति. उत्तरस्य पूर्वहेतुत्वाद् उत्तरार्थमेव पूर्वग्रहणम्. अतो मोक्षार्थमेव धर्मादीनाम् अन्यधर्माणां करणं ब्राह्मणस्य. तथा भोगार्थमेव क्षत्रियस्य धर्मादिकरणम्. तथा वैश्यस्य धनार्थमेव धर्मकरणम्. शूद्रस्यतु धर्मार्थमेव सेवाधर्मकरणम्. अतो अयं महान्, अन्यार्थं [ख]धर्माकरणात्. अतएव **यद्वृत्या तुष्यते हरिः** इति. किञ्च, हरिः सर्वेषां दुःखहर्ता, सेवया च दुःखं गच्छति. अतः स्वकर्तव्यकरणादपि तुष्यति. तादृशसेवायां जातः शूद्रः, तन्निर्वाहार्थं वा. **पुरा** कल्पादौ. इदानीन्तनानान्तु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पद्भ्याम् इत्यत्र. **सेवा** इति. कायिकव्यापाररूपा परिचर्या. **अनेन** इति. शूद्रवर्णस्य धर्मसाधनत्वकथनेन. **उत्तरस्य** इत्यादि. उत्तरस्य पुरुषार्थस्य पूर्वपुरुषार्थ-हेतुत्वाद् उत्तरस्य अर्थो निवृत्तिः यस्मात् तादृशं पूर्वपुरुषार्थग्रहणं, केवलं पूर्वार्थम् आदरः इति अर्थः. तद् विवृण्वन्ति **अतः** इत्यादि. अस्यां 'शूद्र'पदनिरुक्तौ श्रुतिसूत्र-

---

क. 'भगवद्भक्तिहेतोः' इति मां१-३ पाठः. ख.धर्मकरणात्. क.

तदुद्भवत्वम्. शुश्रूषायां भव इति शकारोकारौ मिलितौ द्विरुक्तौ एकशेषेण शू भवतः, 'सन्'प्रत्ययश्च जश्त्वेन दत्वम् आपद्यते, रेफस्य च परोक्षार्थं व्यत्ययः, "**अ प्रत्ययाद्**"(पाणि.सू.३।३।१०२) इति सन्नन्ताद् अकारो भवति, स्त्रीत्वाभावाद् न टाप्. 'अण्'प्रत्ययो वा तद्धितः, वृद्ध्यभावः परोक्षार्थः. "**शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणाद्**" (ब्रह्मसू.१।३।३४) इतितु योगेन अन्यथा 'शूद्र'शब्दो निरुक्तः, सः न जात्युपयोगी. तं वा निर्वचनं कालभेदेन स्थापयति **पुरा शूद्रः** इति. सहि यावत् पर्यन्तं [ग]सेवां न करोति, तावत् पर्यन्तं शुचैव द्रवति. तस्य अर्थाद्यभावाद् धर्मोऽपि यदि न भवेत् शोको भवेद् इति, तेन च आद्रवति इति, पुरा अयं शूद्रो भवति, पश्चात्तु वर्णमात्रम्. शोकाभावे हेतुः **यद्वृत्या तुष्यते हरिः** इति. हरितोषात् सर्वमेव सिद्धं भवति इति अर्थः।।३३।।

एवं वर्णानाम् उत्पत्तिम् उक्त्वा भगवति तेषां विनियोगम् आह

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ।।३४।।

एते वर्णाः इति. **स्वधर्मेण** वागादिव्यापारेण. सहि तेषां स्वधर्मः औत्पत्तिकः. वाग्व्यापारेण भगवद्भजनं ब्राह्मणस्य, रक्षादिना भगवद्भजनं क्षत्रियस्य, सेवोपयोगिपदार्थसमर्पणेन वैश्यस्य, सेवया शूद्रस्य इति. तत्र सेवा प्रथमकक्षा सर्वसुलभा. यदि सर्वेऽपि भगवत्तोषमेव केवलं कामयन्ते तदा सेवैव कर्त्तव्या. यदि स्वधर्मेण सेवितुम् इच्छन्ति तदा स्वधर्मसिद्ध्यर्थं सेवा कर्तव्या. तदा स्वधर्मस्य फलं वक्तुं तदुपयोगिभगवद्गुणान् आह **स्वगुरुं हरिम्** इति. स्वधर्मेण सएव उपास्यः, यस्तु आवश्यको भवति. तत्र धर्मोपदेष्टृत्वाद् भगवानेव उपास्यः. सहि स्वगुरुः, धर्मेण सह उत्पादनात्. यथार्थं ज्ञापयन् शब्दोच्चारयिता गुरुः भवति, एवमेव भगवान् वृत्तिं स्वधर्मं प्रथमतः उत्पाद्य पश्चात् तदर्थम् आत्मानम् उत्पादयति इति. किञ्च, तथैव कृते अस्य दुःखाभावो भवति इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विरोधम् आशङ्क्य परिहरन्ति. **शुगस्य** इत्यादि. तथाच प्रकरणभेदात् तदनङ्गीकारेऽपि न दोषः इति अर्थः. तत्सङ्ग्रहाय पक्षान्तरम् आहुः **तं वा** इत्यादि।।३३।।

ग. 'सेवनम् करोति' इति मां१-३ पाठः.

नियमात् तथा कर्ता हरिः भवति. **यजन्ति** इति सिद्धवद् निर्देशः. उत्पत्त्यैव धर्मप्रकारयोः ज्ञातत्वाद्, विलम्बाभावाच्च, अपर्यवसितत्वाच्च, सर्वदैव भगवद्भजने वर्तमानता. **यजन्ति** इत्यनेन तत्प्रीतिजननप्रकारेण स्वधर्मः कर्तव्यः इति सूचितम्. **श्रद्धया** इति हेतुः सर्वत्र. **आत्मविशुद्धिः** अन्तःकरणशुद्धिः. सर्वत्र अपाखण्डिनां नियतं फलम्. शुद्धेतु अन्तःकरणे सर्वत्र अधिकारी भवति. पश्चात् सर्वं सुलभम्. ननु निरन्तरसेवायां को अयं निर्बन्धः? तत्र आह **यद्** यस्मात् स्व**वृत्तिभिः सह जाताः**. अभजने कालान्तरे अवृत्तीन् उत्पादयिष्यति इति।।३४।।

एवं भगवतः समष्टिव्यष्टिरूपोत्पादनम्, सर्वदेवानां तत्र उपभोगः, स्वार्थं वर्णचतुष्टयोत्पादनं, तेषाञ्च भगवद्भजनप्रकारः इति चतुष्टयम् उक्त्वा उपसंहरति

एतत् क्षत्तर् भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्याद् उपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ।।३५।।

एतत्क्षत्तः भगवतः इति. एतत् चतुष्टयमेव अस्माभिः निरूपितं सूचनार्थम्. अधिकन्तु स्वयमेव ज्ञातव्यम् इति नैपुण्यार्थं सम्बोधनं **क्षत्तः** इति. एकस्य वीर्यस्य अंशभूतायाः क्रियाशक्तेः कोट्यंशलेशो निरूपितः, अतिरिक्तो भगवान् पूर्णएव. तद् आह **भगवतः** इति. तत्राऽपि त्रितयसंयोगम् आह **दैवकर्मात्मरूपिणः** इति. **दैवं** कालः, **कर्म** प्राणिनाम्, **आत्मा** स्वभावः. एतान्यपि स्वस्यैव रूपाणि. तानि रूपाणि वर्तन्ते यस्य. एकस्याऽपि रूपस्य यत्र आनन्त्यं तत्र को वा तं चतूरूपम् आनन्त्यचतुष्टयात्मकं निरूपयेत्. किञ्च, योगमायायाः बलस्य उदयो यत्र एतादृशं चरित्रम्. योगमाया हि क्षणमात्रेण कोटिब्रह्माण्डानि कर्तुं शक्नोति, तस्याअपि बलं भगवद्गुणैरेव इति. अथवा, योगमाया करणम्, योगमायया यो बलोदयः इति. **उपाकर्तुं** यथा वेदाः आरभ्यन्ते उपाकरणेन, समाप्यन्ते च उत्सर्गेण. तत्र भगवद्गुणानामपि मुख्यविद्यात्वात् तदुपाकरणं युक्तम्. समाप्तिः दूरे, उपाकर्तुमपि कोऽपि न शक्नोति. उपाकरणमपि दूरे, करिष्यामि इति प्रारम्भमपि कः कुर्याद्? अन्ततो गत्वा श्रद्धामपि कः कुर्याद्? अतो मया भगवतः चतुमूर्तेः आपाततो गुणाः कथिताः।।३५।।

नच एतावता अहं निवृत्तः, किन्तु गुणानाम् आनन्त्यमेव तद् आह

अद्याऽपि कीर्तयाम्यङ्ग! यथामति यथाश्रुतम् ।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरम् अन्याभिधासतीम्।।३६।।

अद्याऽपि कीर्तयामि इति. **अङ्ग!** इति कोमलसम्बोधनम् अप्रतारणाय. **अद्याऽपि** इति. यतः आरभ्य अहम् उत्पन्नः तत्प्रभृति अद्यापि मरणपर्यन्तं कीर्तयाम्येव, स्वधर्मत्वात्. परं सूक्ष्मजीवत्वाद् मयि विशेषः. **यथामति** इति. मतिम् अनतिक्रम्य. यावद् जानामि तावदेव कथयामि, नतु कल्पयित्वा. तत्रापि **यथाश्रुतम्.** गुरोः सकाशात् श्रवणम् अनतिक्रम्य. अनेन आवृत्तिः भगवद्गुणानाम् उक्ता. तत्र प्रयोजनम् आह **कीर्तिं हरेः** इति. नूतनश्रवणे सामर्थ्यम् उपायश्च न अस्ति, प्रयोजनाभावश्च; आनन्त्यात् स्वधर्माभावाच्च. अतो यावत् कीर्तयितुं शक्यते तावदेव श्रोतव्यम् इति अल्पं श्रुत्वा तदेव कीर्तयामि. तद् आह एकवचनेन. **हरेः** इति. तावतैव भगवान् दुःखं दूरीकरिष्यति इति. पुनः-पुनः कीर्तनस्यतु प्रयोजनम् अस्ति. **स्वां गिरं सत्कर्तुम्. अन्य**पदार्थानाम् **अभिधया** कथनेन इयम् अस्मद्वाणी **असती** जाता. भगवता स्वार्थमेव वयम् उत्पदिताः, वाणीञ्च स्वां समर्पितवान् स्वसेवार्थम्. तस्याः पतिः भगवान्. भगवदर्थं स्वयं प्रेरकः. तथाच स्वतो वा मत्प्रेरणया वा अन्यम् अभिधाय वाणी व्यभिचारिणी जाता. ताम् इदानीं संस्करोमि. संस्कृता सा भगवति योजनीया इति. अतः संस्कारार्थं बहुधा कीर्तयामि इति अर्थः. अनेन यस्य-यस्य साधनं भगवता स्वार्थे यद् दत्तं, तद् अन्यत्र उपयोज्य तच्छुद्ध्यर्थं भगवति तत् पुनः-पुनः उपयोज्यम् इति ।।३६।।

एवम् उपसंहृत्य सर्वेषां निर्धारितं जन्मफलम् आह

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादम् आहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायाम उपसम्प्रयोगम् ।।३७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अद्यापि इत्यत्र **आनन्त्याद्** इति. एकस्यापि गुणस्य अपरिच्छिन्नत्वात्. अयं नूतनश्रवणासामर्थ्ये हेतुः. **स्वधर्माभावाद्** इति. गुरुमुखात् श्रवणं स्वधर्मः, तच्च मतेः स्वल्पतया कर्तुं न शक्यते, शक्तितात्पर्यावधारणस्य श्रवणपदार्थत्वाद् इति. अतो मत्यभाव**एव** स्वधर्माभाव, सएव च उपायाभावे हेतुः. तदेतद् आहुः **अतः** इत्यादि. **एकवचनेन** इति. कीर्तिम् इत्यनेन. प्रयोजनाभावे हेतुम् आहुः **हरेः** इत्यादि।।३६।।

एकान्तलाभम् इति. अन्यानि इन्द्रियाणि केवलं भगवदर्थं योजयितुम् अशक्यानि, देहार्थं तदुपयोगावश्यकत्वात्. दुष्टानि च न भगवति योजनीयानि. हस्तौ नित्यम् अमङ्गलस्पर्शौ. तथा चक्षुषी. तथा अन्यान्यपि देहनिर्वाहार्थम् अवश्यम् अन्यत्र योजनीयानि चेद् भगवदर्थे किञ्चिद् रक्षणीयं, स्वतःशुद्धं, शुद्धं कृत्वा वा. तदा द्वयं रक्षयणीयं, वागिन्द्रियं श्रोत्रञ्च. अनयोः न देहोपयोगः आवश्यकः. तस्माद् एते[क] चेद् भगवत्कृपया स्वार्थं प्राप्ते[ख] भवतः, तदा भगवद्गुणाः वक्तव्याः श्रोतव्याश्च. न अन्यद् वक्तव्यं श्रोतव्यम् इति आह. **वचसो** वागिन्द्रियस्य. **एकान्तलाभः** एकएव भगवान् स्वार्थो अन्तो यस्य. **लाभो** भगवत्प्राप्त्यैव समाप्यते. सः को लाभः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **सुश्लोकमौलेः गुणवादम्** इति. सुष्ठु श्लोकाः कीर्तिप्रतिपादकाः भागवतादिरूपाः, तत्प्रतिपादिता कीर्तिः वा मौलौ यस्य. अनेन तस्य कीर्तिः मुकुटरूपा भवति इति उक्तम्. तां चेद् अयं संस्कुर्यात् ''**सर्वस्य गात्रस्य शिरः प्रधानम्**''(नीति) इति प्रधानमेव भूषितं भवेत्. तादृशस्य भगवतो गुणवादम् उत्कर्षप्रतिपादकानां धर्माणां भावपूर्वकं निरूपणं लाभम् आहुः इति सम्बन्धः. **आहुः** इति प्रमाणम्. न केवलं वचसएव अयं लाभः, किन्तु **अनु** पश्चाद् **नु** निश्चयेन वा, पुंसामपि लाभः. तदुपयोगार्थम् अन्येन्द्रियव्यापारात् स्वोपयोगेऽपि, स्वस्य तत्र उपयोगात्, कीर्तानद्वारा सर्वाण्येव इन्द्रियाणि स्वयं च सफलो भवति. श्रोत्रस्य च अयमेव लाभः. **च**कारात् तदनुवर्त्तिनां पुंसामपि. **विद्वद्भिः उपाकृतायां** भगवत्कथायाम् आरब्धायाम्. **उपसंप्रयोगम्** समीपे सम्यक् प्रकर्षेण योगो यस्य, तादृशं श्रवणम्. अमृतकथाश्रवणम् इति यावत्. तच्छ्रुतेः लाभः. श्रोत्रस्य विशेषः उच्यते. भगवत्कथैव श्रोतव्या. तत्राऽपि अमृतरूपा प्रेम्णा निरूपिता. तत्राऽपि विद्वद्भिरेव निरूपिता, अन्यथा अज्ञैः अन्यथानिरूपण-सम्भवात्. तेषां पदार्थानं वस्तुतो भगवदीयत्वाभावाद् भगवत्कथायां तच्छ्रवणे श्रोत्रस्य व्यभिचारएव भवेत्. अतो भगवदीयपदार्थश्रवणार्थं विद्वद्भिरेव निरूपितं श्रोतव्यम्. तैरपि अन्यार्थनिरूपणे प्रकृते तात्पर्याभावात्, तद् न श्रोतव्यम्. तद् आह **उपाकृतायाम्** इति. **कथा** सम्बद्धा वार्ता, सैव सुधारसजनिका मृत्युनिवर्तिका च. तदपि श्रवणं न दूरतः. अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानं भविष्यति

क-ख. 'एतौ' 'प्राप्तौ' इति मां१-३ पाठः.

इति द्रविडमण्डक–न्यायो भगवद्गुणेषु न कर्तव्यः. सम्यक्त्वञ्च स्वपर्यवसानात्. **प्रकर्षो** विस्मरणराहित्यम्. यदि एवं शृणुयात् तदा श्रोत्रं स्वयञ्च भगवदर्थं भवेद्, अन्यथा व्यर्थो भवेत्, कालार्थः काकार्थो वा।।३७।।

ननु अल्पमेव उक्त्वा कथम् उपसंहारः कृतः, कथं वा स्वार्थं निरूप्यते? इति उच्यते. भगवन्माहात्म्यं ज्ञातव्यं, ततो भक्तिः, ततो भगवत्सायुज्यम् इति. इमं क्रमं परित्यज्य वाक्शुद्ध्यर्थं गुणानुकीर्तनम्, इन्द्रियलाभार्थञ्च श्रवण–कीर्तने, इति कथम् एवम् उच्यते? इति आशङ्क्य आह

आत्मनोऽवसितो वत्स! महिमा कविनाऽऽदिना ।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया ।।३८।।

आत्मनो अवसितो वत्स! इति. **आत्मनो** भगवतो वासुदेवस्य महिमा, **आदिकविना** ब्रह्मणाऽपि संवत्सराणां सहस्रपर्यन्तं तपो योगञ्च कृत्वा, तत्परिपाके सति, **संवत्सरसहस्रान्ते योगविपक्वया**ऽपि बुद्ध्या **अवसितः** किम्? अपितु न ज्ञातएव. ब्रह्मणाऽपि, तपः कृत्वाऽपि, महताऽपि कालेन, महिमा चेद् न ज्ञातः यस्य कथा अग्रे वक्तव्या अन्यः को वा ज्ञास्यति! एतदर्थमेव तां कथां कथयिष्यामि इति भावः. अतः इन्द्रियलाभमेव. भगवद्गुणे कथिते, क्रमात् सर्वस्मिन्नपि सङ्घाते स्वाधीने जाते, सुखेन साक्षाद् वैकुण्ठे भगवत्सेवा कर्तुं शक्यते इति मैत्रेयसिद्धान्तः. इमं पक्षं निराकृत्य यो अन्यथा वक्ष्यति तम् अग्रे भ्रान्तत्वेन निराकरिष्यति. **आत्मनः** इति वस्तुप्राप्त्यभावेन दुर्लभता निराकृता. आत्मत्वेनाऽपि प्रकाशमानस्य. किमिति अध्याहारेण वा, काकुस्वरकल्पनया वा तथा वक्तव्यः. अथवा, ब्रह्मणैव अवसितः. तस्य साधनत्रयं– प्रथमं भगवान्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एकान्तलाभम् इत्यत्र. **द्रविडमण्डकन्यायः** इति. द्रविडदेशे गोधूमाभावाद् मण्डकाः न भवन्ति, इति तद्देशीयाः तं भोक्तुं कर्तुञ्च न विदन्ति. मध्यदेशादावागतो द्रविडः, 'कथं मण्डकाः भोज्याः' इति पृष्टे केनचिद् उपहसितः पदयोः मध्यात् पृष्टाच्च हस्तपरिवर्तनं विधाय पश्चाद् गर्वं(?)मुखं कृत्वा भोज्याः इति. एवं वृथाक्रमबोधको न्यायः।।३७।।

आत्मनः इत्यत्र. **इन्द्रियलाभ** इति. इन्द्रियाणाम् अन्यकाकार्यजनित-व्यभिचारनिवृया भगवदीयत्वम्. काकुरपि काल्पनिकी इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः

आत्मत्वेन प्रकटः, स्वयञ्च आदिकविः वेदगर्भः. अनेन प्रमाणं प्रमेयञ्च तस्य सिद्धम् इति उक्तम्. **संवत्सरसहस्रान्ते** इत्यादि साधनम्. तदा फलं युक्तम् इति. तदापि वा न फलम् इति चिन्त्यम्।।३८।।

ब्रह्मणः कथा यथा तथा अस्तु, अन्येतु महिम्नो ज्ञानार्थं ये यतन्ते, तद्द्वारा च भक्तिं प्रार्थयन्ते, ते केवलं भगवन्मायामोहिताः. ते यद्यपि अन्यान् मोहयितुं तथा वदन्ति, तथापि महती भगवन्माया तानपि व्यामोहयति इति आह

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।

यत् स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुताऽपरे ।।३९।।

अतो भगवतः इति. **अतः** कारणाद्, यस्मात् ते माहात्म्यं ज्ञातुं प्रवृत्ताः. इयमेव भगवन्माया ते संसारं व्यामोहयित्वा मोक्षार्थं प्रवृत्ताः, तानपि व्यामोहयति. ननु भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्ताः कथं व्यामुग्धाः भवन्ति? तत्र आह **यत् स्वयम्** इति. अयम् आत्मा भगवान् स्वस्याऽपि मार्गं स्वयं न जानाति. किमुत अपरे? सहि यावत् करोति तावत् तस्य परोक्षे भवति. नहि कश्चिद् गन्ता दूरे गतः स्वातिक्रान्तं सर्वमेव मार्गं पश्यति, तथा सति न गतएव स्यात्. अतिनिपुणोऽपि पूर्वदिवसे यादृशं कुर्यात् तादृशं पुनः कर्तुं ज्ञातुं वा न जानाति. अतः प्रतिक्षणं नूतनानन्तब्रह्माण्डनिर्माणात् पूर्वं येन मार्गेण साम्प्रतं सृष्टिसमर्थो वर्तते, तं मार्गं स्वयमपि न जानाति इति युक्तम्. **अपरे** पुनः तत्प्रेर्याः, क्वचिद् ब्रह्माण्डोदुम्बरे मशकवत् स्थिताः. स्वगतिमेव न जानन्ति, कुतो भगवद्गतिम्? उत्प्रेक्षातु अप्रमाणम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथवा इत्यादि।।३८।।

अतः इत्यत्र. **ज्ञातुम्** इति. इयद् इति ज्ञातुम्. भगवतः स्ववर्त्माज्ञाने कारणम् आहुः **सहि** इत्यादि. इदम् अत्र 'वर्त्म'पदबलाद् व्याख्यातम्. द्वितीयस्कन्धेतु **''यथा नभः स्वान्तम्''**(भाग.पुरा.३।६।३५) इत्यत्र अन्तभावादेव ज्ञानाभावः उक्तः. तेन अत्रापि वर्त्मानन्त्यमेव ज्ञानाभावएव हेतुः इति ज्ञानशक्तिकौण्ठ्यम् इति अर्थः. तद् एतद् उक्तं, **तथा सति न गतएव स्याद्** इत्यनेन. अत्र प्रकारानन्त्यस्यापि हेतुताम् आहुः **अतिनिपुणः** इति.

अस्मिन्नपि पक्षे उत्प्रेक्षेव समायाति इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः

अथवा, भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्तः[क] कथं भगवन्मायया [ख]मोह्यते, अन्यथा सन्मार्गो व्यर्थः स्यात्. अन्यत्र तस्यां मोहकत्वं सिद्धमेव. भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्तावपि यदि मोहयेत्, तदा प्रमाणानि दत्ततिलाञ्जलीनि स्युः इति आशङ्क्य ''**स्वायोग्यम् इच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः**'' इति न्यायेन मायायाः को दोषः इति वदन्, माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्तस्य स्वरूपम् आह **यत् स्वयम्** इति. स्वयं जीवः आत्माऽपि भूत्वा, को अहम् आदिकल्पे स्थितः? कथम् एतावत्पर्यन्तम् आगतम्? इति स्वगतिं न वेद. सर्वज्ञाअपि जन्मत्रयं चतुष्टयं वा जानन्ति. अन्योन्यं ज्ञास्यति इति दूरकथा. शब्दाद् ज्ञानम् अन्धपरम्परा-न्यायतुल्यमिति न अत्यन्तं प्रमाणम्. तस्माद् अस्मदुक्तमार्गएव युक्तः. वस्तुतो अयमेव अर्थः, पूर्वं यद् व्याख्यातं तत् परमतात्. विद्यमानाज्ञानम् असार्वज्ञ्यमेव सम्पादयति. वेदेतु असन्देहे सन्देहवचनं च, ''**यदि वा न वेद**''(तैत्ति.ब्राह्म.८।७।१७।७) इति, ''**को हि तद् वेद**'' ( ) इतिवत्. अतो यावत् किञ्चित् स्वकीर्तनोपयोगि तावद् आवर्तनीयम् इति।।३९।।

किञ्च, तदपि अशक्यं, सापेक्षम् इति. अतो नमनमेव कर्त्तव्यम् इति आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथवा इत्यादि. **अन्धपरम्परान्यायतुल्यम्** इति. परोक्षज्ञानत्वात् तत्तुल्यम्. **युक्तः** इति जीवाज्ञानकौण्ठ्यपरत्वाद् युक्तः. एतद् उपष्टम्भाय आहुः **वस्तुतः** इत्यादि. **परमताद्** इति. परमतम् आलम्ब्य. ननु शब्दे ज्ञानस्य तत्तुल्यत्वे महान् अनयः इति आशङ्कायाम् आहुः **वेदेतु** इत्यादि. अत्र पूर्वश्रुतिः बद्धत्वा (बह्वृचा)नां भावः वृत्तसूक्तस्था, द्वितीयातु तैत्तिरीयसंहितासु (सु)अष्टा(अष्टमा)ष्टकस्था. तत्र 'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' इति विधाय प्रत्यक्षप्रशंसार्थं ''**को हि तद्वेद यद् अमुष्मिन् लोके अस्ति वा न वा**''( ) इति उक्तम्. तथाच, तत्र यथा न देवलोकासत्वे तात्पर्यं, किन्तु प्रत्यक्षस्य प्रशंसायाम् इति न अनयः, तथा भाववृत्तफलश्रुतावपि न सृष्टिकर्तुः अज्ञाने तात्पर्यं, किन्तु अन्येषां तदज्ञाने. इति अन्येषां ज्ञानदौर्घट्यात् तद् इयत्तानां श्रमो न विधेयः इति तात्पर्याद् न अनयः इति अर्थः।।३९।।

यतः इत्यत्र. **तदपि** इत्यादि. तद् ज्ञानमपि गुरुसापेक्षत्वाद् अशक्यम् इति

क-ख. 'प्रवृत्ताः' 'मोह्यन्ते' इति मां-२ पाठः.

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।
अहं चाऽन्य इमे देवाः तस्मै भगवते नमः।।४०।।

यतो अप्राप्य इति. वाग् मनश्च यं भगवन्तम् अप्राप्यैव, अर्वागेव, निवर्तते. अहङ्कारः च देवः. अन्ये च इमे देवाः इन्द्रियाधिष्ठातारः तम् अप्राप्यैव निवृत्ताः. **वाचो** अत्र वेदरूपाः. **मनः** तेषामपि पूर्वरूपं भगवदीयम्. ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**'' (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतेरपि अयमेव अर्थः. तदनु अहङ्कारः. यस्तु श्रुतौ ''**अहम् इत्येव आत्मानं वेद भगवान्, सो 'अहं'नामा अभवद्**''(   ) इति. सोऽपि जगत्कर्ता स्वयम् आत्मानं न वेद. तेन वा जगन्निर्माणार्थे निरूपितानि इमानि तत्त्वानि देवाः न विदुः. तस्माद् माहात्म्यज्ञानं दुर्लभम् इति तदर्थं प्रयासम् अकृत्वा, केवलं भगवते नमनं कर्तव्यम्. तद् आह **तस्मै भगवते नमः** इति.

''यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नमः,
यादृशोऽस्मि हरे कृष्ण तादृशं मां हि पालय'' ।।४०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीवल्लभदीक्षित विरचितायां तृतीयस्कन्धे षष्ठाध्यायविवरणम्।।६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अर्थः. **अप्राप्य** इति. इयान् अयम् इति प्रकर्षेण अज्ञात्वा. **अयमेव अर्थः** इति. इयत्तायाः अप्राप्तिरेव अर्थः. तत्र अहङ्कारस्य अनुक्तत्वाद् एतस्य कथं तदर्थानिश्चायकत्वम् इत्यतः आहुः **यस्तु** इत्यादि. **न वेद** इति. **इयान् अहम्** इति न वेद. तथाच इतरत्र अनुवीक्षणस्य उक्त्वाद् ज्ञानशङ्का स्याद् इति तन्निवृत्त्यर्थम् एतद् उक्तम्. तेन तत्रापि सर्वस्य आत्माभिन्नत्वमेव विवक्षितं, नतु स्वरूपेयत्ता इति अर्थः।।४०।।

।। इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे षष्ठाध्यायविवरणम्।।

।। सप्तमाध्यायविवरणम् ।।

हरेर् इन्द्रियवर्गस्य मनसः सर्ग उच्यते ।
सङ्कल्पेन विकल्पेन द्विधा तद् विनिरूप्यते ।।१।।
सङ्कल्पो निश्चयः प्रोक्तः [क]स च सन्देहपूर्वकः ।
अन्यथा ज्ञानमेव स्यात् [ख]तदर्थं प्रथमो द्विधा ।।२।।
विकल्पो विविधः पक्षः ते प्रश्ना इह रूपिताः ।
अत्र सर्वाणि कार्याणि पृष्टानि भगवत्कृतिम् ।
ज्ञातुं सा मनसा भाव्या पूर्वं चाऽपि कृतौ मनः ।।३।।

+(श्रीशुकः उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत।।१।।)

एवं पूर्वाध्यायान्ते ''**उद्धृत्य पुष्पेभ्यः**'' (भाग.पुरा.३।५।१५) इति प्रश्ने स्वबुध्या यावद् उद्धृतं तावद् निरूपितम्. तत्र ''**यत् स्वयं च अत्मवर्त्मात्मा न वेद**'' (भाग.पुरा.३।६।३९) इति वचनाद् भगवतो अलौकिकं सामर्थ्यं प्रायेण अस्य अनभिप्रेतम् इति, तदभिप्रायेण जीवे भगवति च सन्दिग्धम् अर्थद्वयं पृच्छति. तत्र प्रथमं भगवति सन्देहचतुष्टयं, जीवे च द्वयं पृच्छति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ सप्तमाध्यायं विवरिषवो अवसररूपां सङ्गतिं स्मारयन्तो अर्थम् आहुः **हरेः** इत्यादि. तेन मनोद्वारा सर्वेन्द्रियनिरूपणम् अध्यायार्थः. ननु द्विधा तन्निरूपणस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सङ्कल्पः** इत्यादि. **अन्यथा** इति. सङ्कल्पस्य तादृशत्वाभावे. तथाच, यतः तत् स्वरूपं ''**यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः**''(भाग.पुरा.३।२६।२७) इति लक्षणकम् उभयघटितम्, अतः प्रथमो मनोरूपपदार्थो द्विधा निरूप्यते इति अर्थः. ननु अत्र प्रश्नकथनेन कथं विकल्पबोधः इत्यतः आहुः **विकल्पः** इत्यादि. एवं शास्त्ररीत्या अर्थम् उक्त्वा विदुरमैत्रेयसंवादे प्रश्नसङ्गतिं प्रदर्शयन्ति **अत्र** इत्यादि. तथाच उपोद्घातः सङ्गतिः इति अर्थः.

+एवं ब्रुवाणम् इति श्लोकः प्रायेण क्षेपकः इति प्रतिभाति.

ब्रह्मन् इत्यत्र. **अस्य** इति. मैत्रेयस्य. **तदभिप्रायेण** इति. मैत्रैयाभिप्रायेण.

क. 'सर्वसन्देह' इति मां१-३ पाठः. ख. 'तदर्थे' इति मां१-३ पाठः.

विदुरः उवाच

ब्रह्मन्! कथं भगवतः चिन्मात्रस्याऽविकारिणः ।
लीलया चाऽपि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ।।१।।

ब्रह्मन् इति. करणादिव्यापाराः त्वया एकविधाः निरूपिताः. ते च गुणातीताएव इति वक्तुं न शक्यन्ते. सगुणाः चेत् कार्य–कारणवैलक्षण्यम्. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं ज्ञानस्य निश्चितत्त्वएव ब्रह्मभावो भवति इति. तव निश्चितमेव, किन्तु बोधनार्थं पृच्छ्यते इति औद्धत्यसमाधानम्. **कथम्** इति प्रकारे प्रश्नः. **भगवतः चिन्मात्रस्य** इति. 'भगवच्'छब्दो न यौगिकः, किन्तु रूढ्या ब्रह्मपरः. तच्च चिन्मात्रमेव इति धर्मशक्तिविशेषस्वरूपाणाम् अभावाद्, वाच्यवाचक–सम्बन्धाद्यभावाद्, अनिरूप्यत्वाच्च कथं तादृशस्य जगत्कर्तृत्वम्. कर्तृत्वादयश्च धर्माः विकृताः विकारिणो भवन्ति. अतो अविकारिणो भगवतः प्रयोजन–सन्देहपूर्वपक्षाभावेऽपि, निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः कथं भवन्ति? इति बीजसन्देहप्रश्नः. कार्यं हि बीज–प्रयोजनाभ्यां विना न भवति. तत्र प्रयोजनं परमानन्दस्य जगति न अस्त्येव. "**लोकवत्तु लीला....**" (ब्रह्मसू.२।१।३३) इति न्यायेन प्रयोजनाभावेऽपि लीलया करिष्यति इति चेद्, लीलाऽपि न सम्भविष्यति इति अग्रे वक्ष्यते. अस्तु वा लीला, तथापि जगतो बीजं न भगवान्, विलक्षणत्वात्. जगद् अचेतनं विकारि नानारूपञ्च, भगवांस्तु चिन्मात्रम् अविकारि च. किञ्च, जगत् सगुणं, भगवान् निर्गुणः. अतः कार्य–कारणवैलक्षण्याद् न भगवत्कार्यं जगत्. यद्यपि चिन्तामणेः सकाशात् तद्विलक्षणं सकलमेव कार्यम् उत्पद्यते, तथापि पूर्वपक्षिणः पक्षे न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

करणादिव्यापाराः इत्यादि. वक्तव्यप्रतिपत्तिप्रभृतयः ते व्यापाराः सर्वेऽपि देवतेन्द्रियगोलकसाध्यत्वेन लोकतुल्याः निरूपिताः इति अर्थः. **धर्मे**त्यादि. **धर्मो** असत्त्वेनेव स्वमाननं, **शक्तिः** माया कालादिरूपा, **विशेषो** व्यावर्तको रूपादिः, **स्वरूपं** विग्रहः सन्निवेशः तेषाम् **अभावात्**. **वाच्ये**त्यादि. द्रव्यजातिगुणक्रियासम्बन्धे हि शब्दस्य बोधनार्थं प्रवृत्तिः, ब्रह्मणितु शब्दसम्बन्ध(य)घटकानां तेषाम् अभावेन **वाच्य-वाचकयोः** अर्थ-शब्दयोः परस्परसम्बन्धस्य, 'आदि'पदेन उच्चारणद्वारकस्य अभावाद् हेतोः शब्दकर्तृत्वेनाऽपि अनिरूप्यत्वात्. **बीजप्रयोजनाभ्याम्** इति. **बीजं**

चिन्तामणिमात्रात् कार्यम् उत्पद्यते, अन्यथा सर्वदैव[१] उत्पद्येत, किन्तु कामयितुः सन्निधाने यथा-यथा चिन्ता उपपद्यते, घटाकारेण पटाकारेण [२]च तथा-तथा मणिसान्निध्यात् ते पदार्थाः मनसा भाविताः [३]कायकृताइव भवन्ति. इयम् अलौकिकी तस्य शक्तिः. भगवतस्तु द्वितीयसान्निध्याभावाद् न अनेनाऽपि प्रकारेण कार्योत्पत्तिः सम्भाविता. तद् आह **चिन्मात्रस्य** इति।।१।।

एवं बीजभावं दूषयित्वा फलभावापन्नां लीलां दूषयति

क्रीडायाम् उद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः ।

स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ।।२।।

क्रीडायाम् इति. 'लीला' नाम विलासेच्छा, कार्यव्यतिरेकेणैव कृतिमात्रम्. न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते, जनितमपि कार्यं न अभिप्रेतं; नाऽपि कर्तरि प्रयासं जनयति, किन्तु अन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिद् उत्पद्यते, यथा लोके राज्ञः. सा लीला. साऽपि न उपपद्यते. तत्र प्रयोजनाभावेऽपि हेतुः अस्ति. सच हेतुः लोकसिद्धएव वक्तव्यः, लोकन्यायेन लीलानिरूपणात्. साच लीला बाले प्रसिद्धा. बालस्याऽपि कामेनैव चिक्रीडिषा भवति, अन्यथा सर्वदैव क्रीडितुम् इच्छा स्यात्. कामोऽपि सहेतुकः, अन्यथा सर्वदा स्यात्. तद् आह **अर्भस्य क्रीडायाम् उद्यमः** प्रथमतो भवति. सच अर्भस्य प्रथमं कामात्. तत्र एवं वाक्यरचना- प्रथमतो अर्भस्य कामो वासनया, "**काममयएव अयं पुरुषः**" (बृहदा.उप.४।४।५) इति श्रुतेः. तदनन्तरं **चिक्रीडिषा** क्रीडितुम् इच्छा अन्यतश्च भवति. अन्यं बालकं निमित्तम् आश्रित्य, एकस्य क्रीडा असम्भवात्, तदभावे कामेऽपि क्रीडेच्छा निवर्त्तते इति. **कामो** अत्र क्रीडाज्ञानम्. क्रीडायाः फलरूपत्वात् साधनरूपत्वाच्च काम-प्रयत्नयोः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

समवायि, **प्रयोजनं** कर्त्रभिप्रेतं फलं, ताभ्याम् इति अर्थः. **मात्रस्य** इति. एवञ्च अनेन पद्येन समवायित्वम् अलौकिकी कर्तृत्वशक्तिः च आक्षिप्ता ज्ञेया.

क्रीडायाम् इत्यत्र. **फलभावापन्नाम्** इति. लीलयैव सृष्टिप्रकरणप्रयोजनम् इति तद्भावापन्नाम्. कामस्य अभिलाषात्मकत्वेन इच्छारूपत्वात् 'चिक्रीडिषा'पदं पुनरुक्तं स्याद् इति तन्निवृत्त्यर्थम् आहुः **कामो अत्र** इत्यादि. अत्र श्रीधरमतनुवदन्ति

१.एवकारो नदृश्यते ख. ग. घ. २.वा घ. ३.कार्यकृताः क. घ. ङ.

एकविषयत्वम्. यत्र पुनः स्वर्गादौ साधन-फलयोः भेदः तत्र कामः स्वर्गे, चिकीर्षा यागे. अतो अत्र न पौनरुक्त्यम्. तदनन्तरं क्रीडायाम् उद्यमो भवति. क्रीडां कर्तुम् उद्युक्तो भवति इति अर्थः. केचित्तु, कामस्यैव विशेषणम् उद्यमं वदन्ति. उद्यमयति इति उद्यमः. कामएव पुरुषम् उद्यमयति. अन्यतः चिक्रीडिषा भवति इति. तत् चिन्त्यम्. एतादृशोऽपि पक्षो भगवति न सम्भवति. स्वतृप्तस्य कामो न सम्भवति. कामो हि अपूर्णस्यैव. अन्यथा फले जातेऽपि कामः स्यात्. स्वस्यैव सर्वफलरूपत्वात् प्राप्तत्वाच्च तृप्तस्य कामाभावो लोकसिद्धः. प्रकारभेदेनैव कामतृप्तिः चेद् अतृप्तो भगवान् स्यात्. ततः च स्वार्थमेव कुर्यात्. एतादृशी तृप्तिः अदूषणम् इति चेत्, स्वानन्दस्य परिच्छेदः स्यात्. तस्माद् युक्त्या कामो निरूपयितुम् अशक्यः इति "**सो अकामयत**" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतिः अन्यपरा भवति. नित्यः चेत् कामः स्यात्, सर्वदैव कार्यं भवेत्. कार्यपक्षेतु तज्जनकान्तराभावाद् अनुत्पत्तिः आपद्येत. कालादिना तदुद्बोधपक्षेऽपि भगवतः कालादिसम्बन्धो भवेत्. सच न अस्ति इति आह **निवृत्तस्य सदा अन्यतः** इति. अन्यसम्बन्धाभावः तस्य सर्वदा. अतो बीजप्रयोजनाभावाद् भगवतः कार्यपक्षो अनुपपन्नः।।२।।

किञ्च, मायायां स्वीकृतायां यद्यपि पूर्वोक्तसर्वदूषणनिवृत्तिः भवति, किन्तु तदेव स्वीकर्तुम् अशक्यं, भगवतो मायासम्बन्धस्य निरूपयितुम् अशक्यत्वात्. माया हि अज्ञानात्मा. सा ज्ञानाभावे भवति. भगवतस्तु ज्ञानाभावो न सम्भवति इति आह श्लोकद्वयेन

अस्राक्षीद् भगवान् विश्वं गुणमय्यात्ममायया।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

केचित्तु इत्यादि. तत्र अस्वरसं बोधयन्ति **तत् चिन्त्यम्** इति. अभिध्योपदेशसूत्रे कामो अभिध्यात्मको व्यासपादैः अङ्गीकृतः. अभिध्या च इदम् एवं कार्यम् इति अध्यवसायरूपं ज्ञानम्. तद् अत्र क्रीडाविषयकं व्याख्यातुम् उचितम्. 'उद्यम'शब्दः च प्रलये रूढः. तद् उभयं विहाय एवं योगादरणं न उचितं, व्यासाशयविरोधाद् इति अर्थः. **एतादृशोऽपि पक्षः** इति. अभिध्यारूपकामात्मकः पक्षः. **कामः** इति. उक्तविधोपि कामः. **फले** इति. क्रीडारूपे फले. **अन्यपरा** इति. जीवपरा, शबलपरा वा. **कार्यपक्षे** इति. जन्यकामपक्षे।।२।।

तया संस्थापयत्येतद् भूयः प्रत्यपिधास्यति ।।३।।

अस्राक्षीद् इति. [क]चित्सम्बन्धिनीमेव मायां मन्यमानस्य एषः प्रश्नः. **भगवान्** इदं **विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया अस्राक्षीत्**, तयैव च संस्थापयति, तयैव च **भूयः प्रत्यपिधास्यति** संहरिष्यति।।३।।

एवं मायया उत्पत्ति–स्थिति–प्रलयाः विश्वस्य भगवत्कृताः इति पक्षम् अनूद्य, मायासम्बन्धएव तस्य न घटते पूर्णज्ञानत्वाद् इति आह

देशतः कालतो योऽसौ अवस्थातः स्वतोऽन्यतः ।

अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताऽजया कथम् ?।।४।।

देशतः इति. ज्ञानस्य नाशः पञ्चधा सम्भवति. भगवांस्तु पञ्चप्रकारेणाऽपि **अविलुप्तावबोधात्मा**. न विलुप्तो **अवबोधो** ज्ञानं यस्य, तादृशः च असौ आत्मा च. बोधएव आत्मा वा. **सः कथम् अजया युज्येत ?** तत्र कस्यचिद् बोधो देशेन नश्यति, घटज्ञानं घटेन परिच्छिन्नं पटं न विषयीकरोति इति देशतः तस्य अभावः. कालतोऽपि ज्ञानस्य नाशः, कालान्तरे विस्मरणात्. अवस्थातोऽपि नाशः, स्वप्ने जाग्रदवस्थावस्तूनां ज्ञानाभावात्. स्वतोऽपि नाशः, उदासीनज्ञानानां संस्कारानाधायकत्वात्. अन्यतोऽपि नाशः, विरोधिगुण–प्रादुर्भावात्. भगवतस्तु ज्ञानं पञ्चविधैरपि दोषैः असम्बद्धम्. तत्र सर्वविषयकत्वाद् न देशतः परिच्छिन्नम्, नित्यत्वाद् न कालतः, भगवतो अवस्थाभावाद् न अवस्थातः, निर्विषयकत्वाद् न स्वतः, भगवतो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

देशतः इत्यत्र. **विरोधिगुणप्रादुर्भावाद्** इति. भिन्नविषयकेच्छाप्रलयादयः सुखदुःखादयो विरोधिगुणाः, तत्प्राकट्यात्. नित्यत्वेन सर्वविषयकत्वेन च अलोपसिद्धावपि यद् 'अवस्थातः' इत्यादिकं हेतुत्रयम् उक्तं, तत्स्वरूपपरिचायनार्थम् इति आशयेन आहुः **भगवतः** इत्यादि. **निर्विषयकत्वाद्** इति. विषयस्य मायिकत्वाद् वस्तुतो अभावेन तथात्वात्. **विरोधिगुणाभावाद्** इति. निर्गुणत्वेन नित्यसर्वविषयकत्वेन गुणाभावे च सति तदभावात्. एवं चतुर्भिः भगवद्विषयकं सन्देहचतुष्टयम् उक्तं निर्गुणत्वाद् गुणाः कथं ? अविकारित्वात् क्रियाः कथं ? स्वतः तृप्तस्य कामो अभिध्यारूपः कथं ? केवलस्य चिक्रीडिषा कथं ? चतुर्णां मूलं

क. 'विश्वसम्बन्धि' इति मां१–३ पाठः.

विरोधिगुणाभावाद् न अन्यतः. अतो **अजया** मायया प्रकृत्या वा न युज्येत. तस्मात् स्वतो वा, मायासम्बन्धेन वा, भगवतो जगत्कर्तृत्वं न उपपद्यते. किञ्च, जीवोऽपि भगवानेव त्वया निरूपितः. तथा सति तदर्थं जगत्सृष्टौ हिताकरणादिदोषः।।४।।

दोषान्तरमपि आह

भगवान् एक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा जन्मभिः कुतः ?।।५।।

भगवान् इति. **एकएव भगवान् सर्वक्षेत्रेषु** सर्वदेहेषु **अवस्थितः. सर्वदेहेषु अवस्थितः एकएव** इति वा. एतादृशस्य **दुर्भगत्वं वा, जन्मभिः क्लेशो वा** न भवेत्. अनुभवसिद्धत्वाच्च क्लेशस्य. अज्ञानतो अङ्गीकारेऽपि सएव दोषः. पुनः-पुनः जन्मानि च श्रूयन्ते. तस्माद् भगवतो जीवभावोऽपि अनुपपन्नः, जगत्कर्तृत्वञ्च अनुपपन्नम् इति।।५।।

एतस्मिन् अर्थे मे मनः खिद्यति इति आह

एतस्मिन् मे मनो विद्वन् खिद्यते ज्ञानसङ्कटे ।
तन्नः पराणुद विभो! कश्मलं मानसं महत् ।।६।।

एतस्मिन् इति. **ज्ञानसङ्कटे.** ज्ञानस्य शाब्दस्य. युक्तिरूप-विशाल-मार्गाभावाद् ज्ञानस्य प्रसरणाशक्तेः, **सङ्कटं** युक्त्यभावः. अन्यथाज्ञानं वा सङ्कटम्. तत्र निर्धारार्थं प्रवृत्तं मनः प्रसरणाभावाद् युक्त्यभावेन खिद्यति. तं खेदं **नो** अस्माकं हृदये वर्तमानं युक्तिभिः **पराणुद.** तिष्ठतु एतद् इति आशङ्क्य आह **कश्मलं मानसं महद्** इति. इदन्तु मनसो महत् कश्मलम्. तत्तु महद्भिः दूरीकर्त्तव्यमेव, अन्यथा अग्रिमं पूर्वोक्तञ्च ज्ञानं दुष्टे मनसि न तिष्ठेत्. अतो निरूप्यमाणार्थबोधार्थम् इदं **पराणुद** इति अर्थः.

ऐश्वर्यं प्रथमे त्यक्तं द्वितीये वीर्यमेव च ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मायासम्बन्धः चेत्, सएव कथम् इति पञ्चधा पर्यवस्यति. षष्ठम् आहुः **किञ्च** इत्यादि।।४।।

भगवान् इत्यत्र. **सएव** इति. अज्ञानसम्बन्धएव।।५।।

षट्सु श्लोकेषु सिद्धम् अर्थं कारिकाभिः सङ्गृह्य आहुः **ऐश्वर्यम्** इत्यादि.

यशःश्रियौ तथा द्वाभ्यां वैराग्यं ज्ञानम् अन्त्ययोः॥१॥
स्वयुक्त्या भ्रमसम्पत्या भगवत्त्वं निराकृतम्।
ततोऽत्र भगवद्वादः सर्गोऽपि विनिराकृतः॥२॥
तस्मिन् निराकृते प्रश्नो न पूरित इति स्थितम्।
अतस्तस्योत्तरं वाच्यं स्वोक्तार्थस्थापनाय हि॥३॥ ॥६॥

सहि मैत्रेयः सर्वनिरपेक्षः चित्तशुद्ध्यर्थं यथोक्तं गृहीत्वा, आवर्तनीयम् इति उक्त्वा, पूर्वपक्षे कृते किम् अग्रे वदति न वा इति सन्देहं वारयितुं, शुको वदति इति पक्षं सहेतुकम् उपपादयति

श्रीशुकः उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः॥७॥

सः इत्थम् इति. भगवदीयत्वाद् भगवदाज्ञासहकारित्वाद् विदुरस्य प्रेरकत्वं, मैत्रेयस्य कथनेच्छाजनकत्वम्. **क्षत्त्रा** इति. स्वतोऽपि प्रेरकत्वं, निपुणत्वात्. तत्राऽपि **तत्त्वजिज्ञासुना.** न उद्ग्रहणमात्रम्. अतः तत्त्वजिज्ञासुं बोधयेद् इति. किञ्च, मुनिः अयं निर्धारितं जानाति, भाव्यर्थञ्च. भगवदाज्ञा-परिपालनार्थम् आक्षेपोऽपि समाधातव्यः इति **भगवच्चित्तः**. भगवानेव तच्चित्ते निर्द्धारितं बोधयतु इति प्रार्थनार्थं वा. **स्मयन्निव** इति. किम् एतैः एतावत्कालं भारतादौ बुद्धम् इति हसन्निव. **इव** इति भगवन्मायायाः मोहकत्वात्. गतः स्मयो गर्वो यस्य. अतो अयं गूढतया निरूपयिष्यति, अनधिकारेण अज्ञाने पुनः प्रश्ने वा तूष्णीं स्थातव्यम् इति. निबन्धएव अत्र समाधानं स्पष्टतया निरूपितम्.

गुणातीतात् सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्तिमे स्वस्य ज्ञानाभावः उक्तः, सच पूर्वश्लोकोदिताद् एकात्मवादाद् ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति इति ज्ञानाक्षेपःसिध्यति. स्फुटम् अन्यत्॥६॥

सः इत्थम् इत्यस्य आभासे 'शुक'पदम् **उपपादयति** इत्यनेन सम्बध्यते. एवं शुकोक्तिव्याख्यानेन मैत्रेयतात्पर्यं निरूप्य प्रश्न-समाधानयोः दुरूहत्वात् तदर्थो निबन्धे निरूपितः इति स्मारयन्तः तत्रत्याभिरेव सप्तभिः कारिकाभिः तम् अर्थम् आहुः **गुणातीताद्** इत्यादि. अनुपपत्तौ 'कार्य-कारण-वैजात्याद् लोकहेतोः

कार्यकारणवैजात्याद् लोकहेतोर् अभावतः।।१।।
निरूपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयम् ईरितम् ।
सोपाधित्वे परीहारः तदेव न भवेद् इति ।।२।।
तृतीयो ब्रह्मणः सिद्धो जीवेऽप्येवम् अभेदतः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अभावतः' इति हेतुद्वयम्. कारणं निर्गुणं, कार्यं सगुणम् इति तयोः वैलक्षण्यात्. लोकहेतुः कामो अभिध्यारूपः सापि अनाप्तकामस्यैव भवति इति ब्रह्मणि तदभावात्. इति एवं यथायथम् उपादानकर्तृत्वविरोधि. **आद्यस्य** 'ब्रह्म जगदुपादानं, जगदात्मकत्वाद्, जगत्पूर्वरूपत्वाद् वा, यद्यद् उपादानं तत्तदात्मकं, तत्पूर्वरूपं वा; यथा मृद् घटात्मिका, घटपूर्वरूपं वा; तद्वद्' इति साधने, 'न उपादानं, कार्यविलक्षणत्वाद्, घटविलक्षणतन्तुवद् इति पक्षोन्नायकत्वात्. **द्वितीयस्य** च, 'ब्रह्म जगत्कर्तृ, तन्निरूपितक्रीडाकामत्वाद्; यो यन्निरूपितक्रीडाकामः, सः तत्कर्ता बालवद्' इति साधने, 'न तन्निरूपितक्रीडाकामम्, आप्तकामत्वाद्, वृद्धवद्' इति हेतौ स्वरूपा(दि)सिद्ध्युन्नायकत्वात्. सा गुणातीतात् सर्वथा न उपपद्यते इति एवं **निरूपाधिकरूपे सन्देहद्वयम् ईरितम्** इति अर्थः. ननु मा अस्तु गुणातीतस्य उपादानत्वं कर्तृत्वञ्च. मायोपाधिकेतु साजात्यस्य कामस्य च सम्भवात् सृष्ट्यनुपपत्तिपरिहारः सम्भवति इति उक्तौ, **तदेव** सोपाधित्वमेव ब्रह्मणो न भवेद् इति **तृतीयसन्देहो ब्रह्मणः सिद्धः.** तथाच पूर्वोक्तानुमानयोः पक्षे ब्रह्मणि सोपाधित्वेन अविशेषितवैलक्षण्या(?) कामत्वस्य च निवृत्तौ प्रतिसाधनस्य अपुनः उज्जीवनाद् उक्तहेतुकृतः तृतीयोऽपि सन्देहो ब्रह्मविषयको अपरिहार्यः इति अर्थः. एवं श्लोकचतुष्टयसिद्धो अर्थः उक्तः. अग्रिमश्लोकद्वयार्थं वदन्तः एतदेव दूषणं ब्रह्मणो जीवभावेऽपि अतिदिशन्ति **जीवेऽपि एवम् अभेदतः** इति. तथाच, पूर्वोक्तानुमानेन सोपाधित्वे निवृत्ते अनवकाशात् परिहारे दोषस्य क्रियमाणे, 'ब्रह्म न उपाधिसम्बद्धं, पूर्णज्ञानत्वाद्, यद् न एवं, तद् न एवम्' इति अनुमानेन विशेषणस्य बोधसाधन-हेतूनाम् आश्रयासिद्धत्वेन, प्रतिसाधनस्य, 'शुद्धं ब्रह्म प्रकारान्तरानर्हम्, अनुपाधित्वात्, शुद्धवसनादिवद्' इति अनुमानेन ब्रह्मणः प्रकारान्तरापत्तेरपि निवृत्तौ, 'जीवो दुर्भगः क्लिष्टो भवितुं न अर्हति, ब्रह्माभिन्नत्वाद्, यद्यद् अभिन्नं तत्तद् अविरुद्धधर्मकं, महाकाशाभिन्नघटाकाशवद्' इति अनुमानेन द्वितीयोऽपि

मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात् ।।३।।
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ।
भगवत्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।।४।।
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ।
द्वितीयस्य परीहारे विरोधात् कार्यबाधनम् ।।५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जीवविषयकः सन्देहो अपरिहार्यः इति अर्थः. एवं षण्णाम् अर्थं निरूप्य प्रश्नक्रियायाः आशयम् आहुः **माये**त्यादि. **हि**र्हेतौ. यतः एवं ब्रह्मस्वरूपे जीवस्वरूपे च सन्देहः, अतो हेतोः ब्रह्मणि **मायासम्बन्धो** जीवे तत्कार्यं च एते **परिहार्ये** इति प्रष्टुः आशयः इति अर्थः. अतः परं सिद्धान्ताशयम् आहुः **तयोः** इत्यादि. **तयोः** ब्रह्मविषयसन्देहयोः मध्ये **क्रमात् प्रथमस्य** उपादानत्वानुपपत्तिरूपस्य परिहारः ''**सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते**''(भाग.पुरा.३।७।९) इति षष्ठ्या सम्बन्धस्य नित्यतया **उदितः** उक्तः इति अर्थः. ननु सम्बन्धनित्यत्वे गुणातीतत्वरूपभगवत्त्वहानिः इति कथम् उक्तम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भगवत्त्वे**त्यादि. अत्र 'भगवत्'पदेन गुणातीतत्वा-विरोधित्वं, **प्रकृत्य**स्तुत्यैव षष्ठ्या सम्बन्धः, **असमासात् प्रधानत्वं** सूचितम्. तथाच, यथा आकाशस्थसूर्यस्य दूरतएव नानावर्ण-दर्पणजलादिसम्बन्धः, तथा ब्रह्मणो मायासम्बन्धात् 'शुद्धं ब्रह्म मायासम्बद्धस्वविलक्षणजगद् उपादानं, मायानुपहित-त्वेऽपि दूरतो मायासम्बद्धत्वाद्; यद्यद् अनुपहितत्वेऽपि यत्सम्बद्धं, तत् तत्सम्बद्ध-स्वविलक्षणकार्योपादानं, नानावर्णदर्पणसम्बद्धकिरणनानाविधप्रकाशसूर्यवद्' इति अनुमानेन अनुपहितत्वेऽपि सम्बन्धमात्रात् स्वविलक्षणकार्योपादानत्वे सिद्धे कार्य-कारणवैजात्योन्नीतस्य कार्यविलक्षणत्वरूपस्य प्रतिपक्षहेतोः साधारण्येन साधकहेतोः (त्वोः) सत्प्रतिपक्षत्वनिवृत्तौ प्रथमस्य परिहारः सिद्धः. तेनैव हेतुना कृत्वा न उपाधिसम्भवः इति तृतीयोऽपि परिहृतः इति अर्थः. तर्हि द्वितीयस्य ब्रह्मविषयकस्य कर्तृत्वसन्देहस्य, जीवविषयकस्य दुर्भगत्वादिसन्देहस्य च कः परिहारः इति आकाङ्क्षायां विकल्पमूले परिहारद्वयम् उक्तम् इति आशयेन आहुः **द्वितीयस्य** इत्यादि. द्वितीयस्य परिहारे क्रियमाणे **विरोधाद्** इत्यादिना उक्तं विकल्पद्वयं लोके कर्तृत्वनिर्वाहकस्य कामस्य ब्रह्मण्यभावेन कर्तृत्वविरोधात्, कार्यबाधनं कर्तव्यम् इति वा, कार्यस्य दृश्यमानत्वात् तस्य कर्तृपूर्वकत्वनियमेन, सिद्धे कर्तरि, तन्निर्वाहक-

विरोधमात्रम् आहोस्विद् आद्ये सेयं दृशिर् यतः ।
द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।।६।।
विरुद्धकार्यसम्बन्धस् तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कामाभावेन कर्तृत्व-कामाभावयोः सहावस्थानविरोधमात्रं वा इति. तत्र आद्ये समाधानं 'सा इयम्' इति पदद्वयेन. तस्य अर्थो **यतो दृशिः** इति. कार्यदर्शनं यतो वर्तते, अतो नियमबलात् सिद्धे कर्तरि कामाभावेऽपि यया कर्तृत्वसिद्धिः तादृशी इयम्. तथाच, पूर्वोक्तहेतोः स्वरूपासिद्धत्वेऽपि 'ब्रह्म जगन्निरूपितक्रीडाकामाभावेऽपि जगत्कर्तृ, मायानित्यसम्बन्धेन तत्क्रियावत्त्वाद्, यत् यत्सम्बन्धेन यत्क्रियावत्, तत् तन्निरूपितक्रीडाकामाभावेऽपि तत्कर्तृ, अयःकान्तसम्बन्धेन भ्रमणकर्तृलोहवद्' इति हेत्वन्तरेण गुणातीतस्य अनुपहितत्वेऽपि सम्बन्धमात्रात् कर्तृत्वे सिद्धे प्रथमविकल्परीत्या परिहारः. **द्वितीये**तु, अयं कर्तृत्व-कामाभावयोः सहावस्थान-विरोधः तस्याः भूषणं, नतु दूषणं, तत्स्वभावोत्कर्षबोधकत्वात्, तत्सामर्थ्य-विशेषबोधकत्वाद्वा; यदेवं तदेवम्. अयःकान्तसम्बन्धिलोहनिष्ठ-कर्तृत्वकामाभाव-विरोधवद् इति द्वितीयविकल्परीत्या परिहारः. अयं मूले ''**यन्नयेन विरुध्यते**''(भाग. पुरा.३।७।९) इत्यनेन उक्तः, तयोः सहावस्थानस्य सार्वदिकत्वाद् इति. एतेनैव जीवविषयकोऽपि सन्देहः परिहृतः इति आहुः **विरुद्धे**त्यादि. यतः सा विरुद्धकार्यकर्त्री, तेन हेतुना मायया विरुद्धकार्यसम्बन्धो जीवे, 'ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्' इति वर्ण्यते. तथाच, भगवतो माया(याः) स्वसम्बन्धे तत्स्वरूपविरुद्ध-कार्यकर्त्री, मायात्वात्, छिन्नशिरस्कजीवननिष्कासितान्त्रस्वाथ्यसम्पादकैन्द्रजालिक-मायावद् इति अनुमानेन तस्याः विरुद्धकार्यकर्तृत्वे साधिते; जीवो दुर्भगक्लिष्टो भवितुं न अर्हति, ब्रह्माभिन्नत्वेन तद्धर्मकत्वाद्, महाकाशाभिन्नघटाकाशवद् इति अनुमानस्यापि 'जीवस्तथा भवितुम् अर्हति, तादृशत्वेपि मायासम्बद्धत्वाद्, ऐन्द्रजालिकवद्' इति प्रतिसाधनेन सत्प्रतिपक्षत्वात् कार्यासाधकत्वे जीवविषयक-सन्देहस्यापि एतेनैव परिहारः इति अर्थः.

ननु अस्तु अयं जीवविषयकसन्देहस्य परिहारः, तथापि यथा तत्र ऐन्द्रजालिकस्य न तत्क्लेशकृतक्लेशः, तथा अत्र जीवस्यापि तदभावो अपेक्षितः, सः कुतो न इति आकाङ्क्षायां, 'यदर्थेन विना अमुष्य' इत्यादीनां तात्पर्यम् आहुः

विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनियतो बृहत् ।।७।।

इति।।७।।

अत्र पूर्वपक्षसमाधानं ब्रह्मवादे स्पष्टमेव ''**दृश्यते तु....**'' (ब्रह्मसू. २।१।६) इति अधिकरणेन निरूपितम्. अविकृतएव भगवान् सर्वं करोति तादृशमेव भगवत्स्वरूपं श्रुतिप्रामाण्याद् यादृशे अङ्गीक्रियमाणे सर्वसमाधानं भवति. तस्मात् तत्र न मायादिकल्पना. यो अनुपपत्तिपरिहारो मायया सोऽपि स्वरूपेणैव. एवं सति श्रौतार्थता भवति, अन्यथातु अप्रामाणिकं स्यात्, स्वकपोलकल्पनात्. सः पक्षो अत्रैवर्णिकाय सर्वथा न वक्तव्यः इति ''**दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः**''(   ) ''**असुर्यः शूद्रः**''(तैत्ति.ब्राह्म.१।२।६।७) इति श्रुतेः ''**मायेत्यसुरा**''(मुद्ग.उप.३।२) इति च. उपक्रमेऽपि ''**अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः**''(भाग.पुरा.३।५।२२) इति प्रतिज्ञानाद् अत्राऽपि माययैव समाधानम् आह. **सेयं भगवतो माया** इति.

मैत्रेयः उवाच

सेयं भगवतो माया यद् नयेन विरुद्ध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यम् उत बन्धनम् ।।८।।
कार्यकारणवैजात्यं माययैव समाहितम् ।
क्षणमध्ये तया सर्वम् अन्यथैवाऽन्यथा भवेत् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विरोधोऽपि इत्यादि. **यतो बृहद्** इति. यतो हेतोः जीवोऽपि ब्रह्मैव. तथाच, तादृश-स्वस्वरूपज्ञानाभावात् क्लेशः इति तदभावाय ''**स वै निवृत्तिधर्मेण**'' (भाग.पुरा. ३।७।१२) इत्यादिश्लोकत्रयं कर्तव्यम् इति समाधानग्रन्थाशयः इति अर्थः।।७।।

एवं द्वयोः आशयं निरूप्य विशेषेण व्याकरिष्यन्तो अत्रापि अन्ततो 'ब्रह्म'पदस्यैव सिद्धत्वात् सिद्धान्तरीत्या मैत्रेयेण कुतो न समाहितम् इति आकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यं वदन्तो अवतारयन्ति **अत्र** इत्यादि. **स्वरूपेणैव** इति. ब्रह्मणो अद्वितीयत्वेन मायायाअपि स्वरूपान्तःपातित्वात्, तेनैव. ननु मायायाअपि स्वरूपान्तःपातने को वा आग्रहः ? इत्यतः आहुः **एवं सति** इत्यादि.

तर्हि ब्रह्मवादेनैव कुतो न समाहितम्? इत्यतः आहुः **सः** इत्यादि. तया वैजात्यं कथं समाहितम् इति आकाङ्क्षायां समाधानप्रकारम् आहुः **क्षणे**त्यादि. यथा

तादृश्येव हि सा शक्तिः स्वीकर्तव्याऽन्यथा न सा ।।१।।
क्रीडासृष्टिस्तथा ज्ञानं ज्ञानेऽप्यज्ञानसम्भवः ।
अभेदेऽपि यथा जीवः तथा मायैव सा तथा ।।२।।

इयं भगवतो माया सैव या अस्माभिः जगत्कारणत्वेन निरूपिता. तव वाक्येऽपि सैव. अतो यद् अस्माभिः निरूपितं तदेव त्वया तस्याः विरुद्ध-धर्मनिरूपणेन निरूपितमिति न अत्र किञ्चित् समाधातव्यं, यतः सा **नयेन** न्यायशास्त्रेण **विरुद्ध्यते**. सः विरोधः त्वयैव निरूपितइति न अस्माभिः बोधनीयः, अस्यैव सिद्धान्तत्वात्. एतत्समाधानम् उच्यमानं पूर्वपक्षेणैव मन्तव्यम् इति भावः. विरोधमेव स्पष्टयति **ईश्वरस्य** इति. अयं जीवः ईश्वरएव, ''**तत् त्वम् असि**''(छान्दो.उप.६।८।७) ''**अयम् आत्मा ब्रह्म**''(बृहदा.उप.२।५।१९) ''**विज्ञानमयः**''(तत्रैव ४।४।५) इति श्रुतेः. अतएव ईश्वरस्य सर्वसमर्थस्य संसाराद् विमुक्तस्य **कार्पण्यं** दैन्यम्, अनालोचित-याचकत्वं वा,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नानावर्णदर्पणकिरणसम्बन्धे क्षणमात्रेण प्रकाशो अन्यथा भवति, तथा भगवदंशानां मायासम्बन्धेन कार्यमपि अन्यथा भवति. यथा च अप्रत्यक्षमपि दर्पणं नानाविध-प्रकाशरूपकार्यदर्शनबलात् तादृशं स्वीक्रियते, तथा अत्र मायाऽपि कार्यदर्शनबलात् तादृक्स्वभावैव स्वीकार्या, अन्यथा सा कार्यविजातीयता न उपपद्येत. अतो दर्शनबलात् तादृश्या तया दूषणं समाहितम् इति अर्थः.

निबन्धे कामाभावस्याऽपि ''**भगवतो माया**'' इत्यनेनैव समाधानाद् अत्र प्रकारान्तरेणाऽपि समाधानम् आहुः **क्रीडासृष्टिः** इत्यादि. कामाभावेऽपि अयःकान्तसन्निधानेन अयोभ्रमणं यथा, अत्र कामाभावेऽपि तथा क्रीडासृष्टिः. **तथा ज्ञानं** ''**स वा एष तदा द्रष्टा**''(भाग.पुरा.३।५।२४) इत्यनेन तथा. **ज्ञाने** अलुप्त-दृक्त्वेन सिद्धेऽपि यो **अज्ञानसम्भवः** ''**नाऽपश्यद् दृश्यमेकराड्**'' (भाग.पुरा.३।५।२४) इत्यनेन उक्तः, सोऽपि तथा. किञ्च, ब्रह्माभेदेपि यथा जीवो ब्रह्म-विरुद्धधर्मा, तथा ब्रह्माभेदेपि **सा मायैव** तद्विरुद्धधर्मवती, तद् उक्तं 'सदसदात्मिका' इति, अतः तस्याः स्वरूपस्वभावबलादेव सर्वम् उपपद्यते इति अर्थः. तद् आहुः **इयम्** इत्यादि।।८।।

ऐश्वर्यविरुद्धम्. **बन्धनं** च [1]अविमुक्तविरोधि।।८।।

ननु कथम् एवं मायायाः स्वरूपं? तथा सति प्रमाणानाम् अप्रामाण्यमेव युक्तं स्यात्, सन्मार्गश्च विरुद्ध्येत इति चेत्, सत्यम्, एवमेव. परं सा माया यथा गमिष्यति तथा उपायं वक्ष्यामि. तस्याः गमनमेव मुख्यं समाधानम् इति, तस्यां गतायां न कोऽपि विरोधः स्फुरिष्यति इति अतो विरोधसमाधानार्थं न यत्नः कर्तव्यः, किन्तु मायानिराकरणार्थमेव प्रयत्नः कर्तव्यः. तस्यां गतायां भगवत्साक्षात्कारे सर्वेऽपि सन्देहाः निवर्तन्ते इति प्रकारान्तरेण ज्ञानम् उपदिष्टं भवति, तदा स्वयमेव ब्रह्मवादं ज्ञास्यति इति. आसुरत्वे वा गते शूद्रत्वमपि गमिष्यति इति. तस्यां गतायां, स्वतो वा मया वा, बोधनीयः इति भावः. *मायादीनाम् एवं रूपतां निद्रादिदृष्टान्तेन आह

यदर्थेन विनाऽमुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।

प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः।।९।।

यद् अर्थेन इति. **यद्** यस्मात् कारणाद् **अमुष्य** जीवस्य **पुंसः, अर्थेन** बन्धकादिना विनैव **आत्मविपर्ययः** आत्मनो अन्यथाभावः **प्रतीयत**एव. प्रतीतिमात्रं, नतु वस्तुतो अस्ति. यतो अयम् **उप** समीपे **द्रष्टा,** नतु अयं दृश्यः, व्यापकः च अयं प्रत्यक्संवेद्यः, परिच्छिन्नः पराक् च अन्यत्. यथा दर्पणे सन्निहिते तद्गतत्वेन विपरीततया मुखं दृश्यते, तथा मायासन्निधानेन आत्मा पराक् परिच्छिन्नश्च दृश्यतइति अन्यथादर्शने मायैव हेतुः. तत्र यथा स्वप्ने शिरश्छेदः प्रतीयते, नहि द्रष्टुः शिरश्छेदः सम्भवति, न वा द्रष्टुं शक्यते, चक्षुषः तत्रैव विद्यमानत्वात्; प्रतीतिश्च वर्तते; विरुद्धः च अयम् अर्थः; युक्तिश्च न अस्ति; एवम् अत्राऽपि इति भावः।।९।।

ननु मायायाम् अयम् आत्मा प्रविशति इति आत्मधर्माः मायायां भवितुम् अर्हन्ति, नतु मायाधर्माः आत्मनि, आत्मनि मायायाः प्रवेशाभावात् ‘‘**तमसः परस्ताद्**’’ (श्वेता.उप.३।८) इति श्रुतेः. तस्माद् मायाधर्माः बन्धादयः कथम् आत्मनि इति आशङ्क्य आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यदर्थेन इत्यत्र. ***मायादीनाम्** इत्यत्र ‘आदि’पदेन दुर्भगत्वादिसङ्ग्रहः।।९।।

१.विमुक्ति ग.मां१-२-३.

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस् तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुः आत्मनोऽनात्मनो गुणः।।१०।।

यथा जले इति. यद्यपि आत्मनि माया न प्रविशति, आत्मैवतु प्रविशति; तथापि प्रवेशानन्तरं तद्धर्मैः सम्बध्यते, नतु अप्रविष्टः. प्रवेशोऽपि प्रतीत्यैव. यथा चन्द्रमसो जले प्रतिबिम्बितस्य जलकम्पात् तत्कम्पः, नतु स्वभावतः; तथा असन्नपि धर्मः आत्मनि मायासम्बन्धात् प्रतीयते. तद् आह **दृश्यते** इति. असत्वे हेतुः **द्रष्टुः** इति. आत्मनिरूपितं वैलक्षण्यम् इदम्. मायानिरूपितं वैलक्षण्यम् आह **अनात्मनो गुणः** इति. **अनात्मनः** प्रकृतेः देहादेः वा **गुणो** दृश्यत्वादिः।।१०।।

अतो मायायां प्रतीत्या सम्बन्धात्, तत्सम्बन्धाभावार्थम् उपायम् आह

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ।।११।।

सः वै निवृत्तिधर्मेण इति. **सः** मायासम्बन्धो धर्मत्रयेण निवर्तते. यथा त्रिदोषे पुरुषो म्रियते, तथा धर्मत्रयसम्बन्धे तस्मिन्नेव शरीरे मायासम्बन्धो गच्छति प्रतीत्यात्मा. तान् धर्मान् आह **निवृत्तिधर्मेण** इत्यादिपदैः. तत्र प्रथमं निवृत्तिधर्माः कर्तव्याः, न निवृत्तिमात्रम्. तथा सति भगवत्कृपा न स्यात्.

विधानेन परित्यागः पुनस्त्यक्त्वा परिग्रहः।
एकाकित्वं तीर्थसेवा मौनं कृष्णानुचिन्तनम् ।।
कालादिप्राप्तदुःखस्य सहनं चाऽप्रतिक्रिया ।
दयासन्तोषात्मजया मुख्या धर्मा निवृत्तितः ।।

ततो भगवदनुकम्पा सत्वाकारान्तःकरणे स्फुरितस्य भगवतः कृपावलोकनम्. ततो **भगवद्भक्तियोगः**. भगवद्विषयकत्वाद् भक्तेः साधनरूपत्वम्. **योगः** इति निरन्तरकृतिः. निरतन्तरश्रवणादिकं भगवत्कृपा-व्यतिरेकेण न भवति इति भगवद्भक्तियोगः पश्चाद् उक्तः. एवं त्रिभिः गुणैः मायासम्बन्धः **शनैः** अस्मिन्नेव जन्मनि **तिरोधत्ते**. **शनैः** इति साधन-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवत्पदतात्पर्यम् आहुः **भगवदि**त्यादि. तथाच, रूपान्तरभक्तेः तथात्वव्युदासाय **भगवदि**ति अर्थः।।११।।

बलानुसारेण।।११।।

सहसा सर्वक्लेशनाशार्थम् उपायम् आह

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टात्मनि परे हरौ ।

विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ।।१२।।

यदा इन्द्रियोपरामो अथ इति. यदैव सर्वेषाम् इन्द्रियाणां स्वतएव स्वविषयेभ्यो निवृत्तिः. **अथ** तदा भिन्नप्रकारेण **आत्मनि दृष्टा** भवति, द्रष्टृत्वेन आत्मा स्फुरति; प्रकृत्यादिनियामकत्वञ्च स्फुरति, स्वस्य हरित्वं च. तदा विलीयन्ते सर्वे **क्लेशाः** अविद्यादयः. ते पञ्चमस्कन्धे वक्तव्याः भवाटव्याम्. निवृत्तेः असम्भावितत्वनिराकरणाय दृष्टान्तम् आह **संसुप्तस्य** इति. [1]**संसुप्तस्य** आत्मना सह ऐक्यं प्राप्तस्य. ''**यथा स्त्रिया संपरिष्वक्तः एवमेव अयं शारीर**[2] **आत्मा प्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तः शेते**''(बृहदा.उप.४।३।२१) इति श्रुतेः. **यदा** इति वचनाद् न अस्य साधनस्य सिद्धिकालो नियतः।।१२।।

अतो नियतं हेतुम् आह

अशेष–सङ्क्लेश–शमं विधत्ते गुणानुवाद–श्रवणं मुरारेः ।

कुतः पुनस् तच्चरणारविन्द–परागसेवा–रतिरात्मलब्धा ।।१३।।

अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते इति. भगवतो माहात्म्यज्ञापकधर्मानु–कीर्त्तनपूर्वकं श्रवणम् **अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते**. गुणानुवादश्रवणस्य सङ्क्लेशशमस्य च कार्यकारणभावः *कारणविद्यमानदशायामेव. तेन यावत् संक्लेशनाशं गुणानुवादश्रवणं कर्तव्यम्. अतो न एकेन श्रवणेन सर्वसङ्क्लेशाभावो जातइति विरोधो न मन्तव्यः, परं नियतकारणत्वम् अत्र उच्यते. **मुरारेः** इति विघ्नाभावः तत्र स्वतः सिद्धः. यदा श्रवणमेव एतद् विधत्ते, तत्र भगवच्चरणारविन्दरतिः विधत्ते इति किं वक्तव्यम्! तद् आह **कुतः** इति. किं पुनः इति वक्तव्ये 'कुतः' इति वचनं रतिसाधकश्रवणदशायामेव क्लेशाः निवृत्ताः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अशेषेत्यत्र. ***कारणविद्यमानदशायाम्** इति. तथाच, सर्वक्लेशनाश–भगवच्छ्रवणयोः दाहवह्निवत् कार्य-कारणभावः, नतु घटदण्डवद् इति अर्थः. **अतः** इति. क्लेशबाहुल्येन नाशबाहुल्यस्य आवश्यकत्वाद् अमानने हेतुम् आहुः **परम्**

१.सुषुप्तस्य ख. ग. घ. च. २.शारीरात्मा क. ख. ग.

इति रतिः कुतो निवर्त्तयिष्यति इति ज्ञापितम्. **चरणारविन्दे**ति भक्तिमार्गानुसारः. चरणारविन्दस्य परागाः पूर्वं निरूपिताः गङ्गायां भगवदीयशरीरे च सन्ति इति तत्र सेवायां रतिः. परागएव वा मथुरादिस्थितः सेव्यः इति. चरणसेवा मकरन्दः. भजनानन्दः स्वतः पुरुषार्थरूपः. तत्सम्बन्धिनी सेवा. तस्यां **रतिः** प्रीतिः. साऽपि आत्मनैव लब्धा, अकस्मात् प्राप्ता आत्मनि वा लब्धा. स्वतः पुरुषार्थसेवायां स्वभावतो या रुचिः सा सर्वमेव क्लेशं दूरीकरोति इति. एवं साधनत्रयम् उपदिष्टं कर्ममार्गानुसारेण, ज्ञानमार्गानुसारेण, भक्तिमार्गानुसारेण च ।।१३।।

एवं मायापगमएव सर्वसन्देहनिवृत्तिः इति मैत्रेयोक्तं श्रुत्वा, साधनं भगवद्रतिं साधनवाक्येन स्मृत्वा, तस्याम् उद्‌गतायां स्वतएव संशयो गतः इति, तदुक्तं फलं जातम् इति, स्वहृदये जातसंशयाभावः तस्य अग्रे अनुवदति

विदुरः उवाच

संच्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो! ।
उभयत्राऽपि भगवन् मनो मे सम्प्रधावति ।।१४।।

संच्छिन्नः इति. अन्यथा अस्य सन्देहाभावस्य गुरुशास्त्रप्रतिपाद्यता न स्यात्. **मह्यं** मदर्थं प्रयुक्तो यः तव **सूक्तासिः** उत्तमवाक्यखड्‌गः, तेन **संशयः छिन्नः**, नतु युक्त्या मोचितः. वचनं च खड्‌गरूपं, साधनप्रदर्शनरूपत्वात्. अतःपरं च युक्तिः न वक्तव्या. भगवन्मायां शम्बलत्वेन स्वीकृत्य, तया सह यत्रैव बुद्धिः प्रेर्यते, तत्रैव बुद्धिः अप्रतिहता गच्छति, धनुषि योजितः शरइव. तद् आह **उभयत्रापि** इति. भगवतः स्वातन्त्र्ये जीवपारतन्त्र्ये वा, जगतो बीज-प्रयोजनयोः वा, ज्ञानमायासम्बन्धयोः वा, संशयः छिन्नः इति उभयत्राऽपि मे मनः सम्यक् **प्रधावति**. **भगवन्** इति सम्बोधनं स्वस्मिन् तादृशज्ञानजनन-सामर्थ्यबोधाय. प्रकर्षेण धावनं युक्त्यपेक्षारहितं निष्प्रत्यूहम्. सम्यक्त्वं च प्रयासाभावः।।१४।।

न केवलं पूर्वप्रश्नेष्वेव मम सन्देहो गतः, किन्तु अन्यत्र सर्वत्रैव कार्यसन्देहो गतः इति आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. **तत्र सेवायाम्** इति. गङ्गायां भगवदीये च सेवायाम्।।१३।।

संछिन्नः इत्यत्र. **अन्यथा** इति. रतिफलकत्वाभावे ।।१४।।

साध्वेतद् व्याहृतं विद्वन् आत्ममायायनं हरेः ।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद् बहिः ।।१५।।

साधु एतद् इति. एतद् मायानिरूपणवचनं यद् भवता व्याहृतं तत् साध्वेव व्याहृतम्. **विद्वन्** इति. तव अत्र अनुभवो अस्ति इति विज्ञापितं, नतु शास्त्रदृष्टिमात्रेण. किं निरूपितम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **आत्ममायायनं हरेः** इति. हरेः सम्बन्धिनो ये आत्मानो जीवाः, तेषां या माया व्यामोहिका पूर्वं चतुःश्लोक्यां निरूपिता, तस्याः मायायाः **अयनं** स्थानं विषयाकारो ब्रह्म, जडत्वेन आत्मानात्मत्वेन यत् स्फुरति तद् अपार्थमेव स्फुरति. मायैव वा अयनं यस्य इति. मायाकृतो यो अन्तरासर्गः सतु अपार्थमेव आभाति. वस्तु दूरीकृत्य निर्विषयकमेव ज्ञानं मायावृतं[क] यत्किञ्चिद् विषयत्वेन भाति. तर्हि सर्वदैव भायात्! ततः च अनिर्मोक्षप्रसङ्गः इति आशङ्क्य आह **निर्मूलम्** इति. मायातिरिक्तमूलाभावाद्, अन्तराभानात्, तलस्पर्शे ब्रह्मावभानात् तदैव गच्छतीति निर्मूलत्वम्. एवमेव हि शुक्तिकायां रजतप्रतीतिः अन्तरा भासते, तलस्पर्शे च निवर्त्तते इति. अयमेव अर्थो मन्त्रेऽपि निरूपितः "**न तं विदाथ य इदं**[1] **जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरं भवाति**"(ऋग्वेद १०।८२।७) इति. जगद् भगवान्, कर्तृत्वञ्च श्रुतिसिद्धं सत्यमेव. सृष्टस्य ब्रह्मस्वरूपस्य जगतः तथात्वप्रतीतौ व्यामोहिकया मायया मध्ये अन्यथैव प्रत्याय्यते. अविकृतं कार्यं, कारणं, कृतिश्च. 'युष्माकम्' इति वचनाद् न सर्वेषाम् अयम् अनुभवः. यत् पुनः प्रमेयाध्याये अविरोधे विलक्षणत्वं समर्थितं पूर्वपक्षे "**न विलक्षणत्वाद् अस्य**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

साध्वेतद् इत्यत्र. **निर्विषयकम्** इति. सत्सम्प्रयोगेऽपि विषयाग्राहकं प्रमेयाश्रयम् इदं ज्ञानम् इति. तत्स्थलं मायावृतम् इति मायाश्रितम् इति अर्थः. **अन्यथैव प्रत्याय्यते** इति. विषयतारूपं विकृतं जगत्कृत्वा ब्रह्मरूपे जगति जडमोहात्मकत्वं तुच्छत्वं प्रत्याय्यते, आत्मरूपे अनात्मत्वं च प्रत्याय्यते इति अर्थः. ननु जडत्वादिप्रत्ययस्य सार्वजनीनत्वेन भ्रमत्वस्य अशक्यवचनत्वात् कथम् अस्य निर्मूलत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् एतस्य असार्वजनीनत्वमेव श्रुतिसिद्धम् इति आहुः **युष्माकम्** इत्यादि. ननु भेदवादिभिः साङ्ख्यादिभिरपि "**विज्ञानं चाऽविज्ञानं**

क. 'मायाश्रितम्' इति मां१-२-३ पाठः. १.इमा.

तथात्वं च शब्दात्''(ब्रह्मसू.२।१।४) इति ''**विज्ञातं च अविज्ञातं च**''(तैत्ति. उप.२।६) इति. तत्सिद्धान्ते वादिबुद्धिम् अनुसृत्य ब्रह्मवादस्य वक्तुम् अयुक्तत्वात् परोक्षतया ''**दृश्यते तु**''(ब्रह्मसू.२।१।६) इत्यनेन परिहृतम्. विलक्षणं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

च''(तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतिबलाद् जगद्ब्रह्मवैलक्षण्यं प्रतिपाद्यते, तच्च तत्त्वसूत्रेषु अनूद्यते इति कथं कार्यस्य अविकृतत्वं निश्चेयम् इत्यतः आहुः **यदि**त्यादि. सूत्रार्थस्तु- अस्य जगतो विलक्षणत्वाद् अचेतनत्वात् चेतनम् अस्य उपादानं न युक्तं, लोके कार्य-कारणयोः सालक्षण्यस्य घटपटादिषु दर्शनाद्, युक्तिबाधितस्यापि अस्य वेदेनाऽपि वक्तुम् अयुक्तत्वाद्, वचने च प्रतारकवाक्यवद् अप्रामाण्यप्रसङ्गात्. ननु युक्तेः प्रत्यक्षमूलत्वाद् भ्रमत्वस्याऽपि दर्शनाद् इयं युक्तिः न अस्माभिः अङ्गीकार्या इत्यतो हेत्वन्तरम् आहुः ''**अस्य तथात्वं च शब्दाद्**'' इति. 'अस्य' इति पदं देहलीदीपवद् उभयत्र सम्बध्यते. **चो** अवधारणे. तथात्वं चेतनत्वं चेतनविलक्षणत्वं ''**विज्ञानं च अविज्ञानं च**'' इति **शब्दादेव** सिद्धम्, अतो न चेतनं जगद् उपादानम् इति. सिद्धान्तसूत्रार्थम् आहुः **विलक्षणम्** इत्यादि. चेतनविलक्षणं जगत् तलस्पर्शरहितानाम् अन्तरासृष्टिपर्यवसितमतीनां मायादोषेण **दृश्यते,** नतु विलक्षणम् इति अर्थः. ननु अग्रे बाधाभावाद् दर्शनस्य प्रामाण्ये वैलक्षण्यस्यापि प्रमितत्वाद् न बाधते इत्यतः आहुः **तु** इति. **तुः** शङ्कानिरासे. प्रमितमपि वैलक्षण्यं न चेतनस्य उपादानताविघटकं, कार्य-कारणवैलक्षण्यस्यापि लोके दृष्टत्वात्. चेतनात् पुरुषदेहाद् अचेतनस्य केशनखादेः, अचेतनाद् गोमयादेः वृश्चिकानां च उत्पत्तिदर्शनात्. नच तत्र अचेतनाद् देहादेः अचेतनानामेव केशादीनां वृश्चिकादिदेहानाम् उत्पत्तिः इति न वैलक्षण्यम् इति वाच्यम्. तथा सति ब्रह्मणः सदंशाद् जगतः सतः उत्पत्तिः इति तुल्यत्वात्, कार्य-कारणयोः सर्वांशसालक्षण्यस्य लोकेऽपि अदर्शनाद्, घटादौ पिण्डत्वादेः अभावात्. अथ येन धर्मेण कारणं वस्त्वन्तराद् व्यावर्तते, तेन धर्मेण सादृश्यं विवक्षितम् इति इतरवैलक्षण्यं न दोषाय इति उच्यते. तद् असङ्गतम्. देह-गोमयादीनां देहत्व-गोमयत्वादिनैव इतरवस्तुव्यावृत्तत्वेन केशवृश्चिकदेहादिषु[1] तदभावेन तत्सादृश्य-स्याऽपि अभावात्. अतो विलक्षणत्वस्य हेतोः प्रमितत्वेऽपि साधारणत्वाद् न तेन

१.केशवृश्चिकदेहादिति तद्भावेन.

दृश्यते, नतु वस्तुतः इति अर्थः. श्रुतिस्तु पूर्वकाण्डइव लोकसिद्धम् अनुवदति तलज्ञानार्थं, यथा "**दहरं वै सा पराभ्याम्**"(   ) इति लौकिकदोहानुवादः. [1]अतएव "**सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्**"(तैत्ति.उप.२।६) इति उभयथा प्रतीयमानं सत्यमेव वस्तुतो जातम् इति बोधयति. तदपि एतस्य भगवद्ध्यानात् तथा स्फुरितमिति तस्य अनुवादः. मध्यस्थमात्रानुवादो वा, मायावादिवत्. किञ्च, विश्वस्य यद् मूलं तद् बहिर्विषयेषु न अस्ति, भगवतो मायातीतत्वात्, किन्तु बुद्धेः सकाशाद् उद्गता मध्यएव स्फुरति[2]. तस्माद् अस्मिन् शास्त्रे उभावेव सुखिनौ अज्ञानसङ्कटरहितौ।।१५।।

तौ निर्दिशति

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ।।१६।।

यः च मूढतमः इति. यस्तु ज्ञानार्थं सर्वथा न प्रवृत्तः, सः लोकन्यायेन वर्तमानो मायापगमार्थमेव यत्नं कुर्वन्, भगवत्कृपया तदपगमे पश्चात् सर्वमेव निःसन्दिग्धं जानाति. अथवा, सद्गुरुणा कृत्वा, भगवत्कृपया सहितो [3]अव्यामोहितां बुद्धिं त्यक्त्वा, **बुद्धेः परं गतः** स्वरूपे स्थितः, पूर्वमेव निवृत्तानर्थत्वात् सुखम् अवतिष्ठते. **अन्तरितो** मध्ये स्थितस्तु अल्पज्ञानाल्प-

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ब्रह्मकारणताविघटनम् इति. वस्तुतस्तु यत् त्वया चेतनवैलक्षण्यं दृश्यते, तद्भ्रान्तिरेव इति अर्थः. ननु यदि चेतनवैलक्षण्यं प्रपञ्चे न स्याद्, "**विज्ञानं च अविज्ञानं च**" इति श्रुतिः किमिति विभजति इत्यतः आहुः **श्रुतिस्तु** इत्यादि. **तलज्ञानार्थम्** इति. सदंशाद् जडानां, चिदंशाद् जीवानाम् इत्यादिज्ञानार्थम्. दृष्टान्तं व्याकुर्वते **यथा** इत्यादि. श्रुतिस्तु (तद् आहुः) "**या चैत्ररेकस्याह्न उपसीदन्ति, दहरं वै सा पराभ्यां देहाभ्यां दुह(?)**"(   ) इति तैत्तिरीयाणां सप्तमाष्टक-प्रथमप्रपाठक-तृतीयानुवाकस्था(?) अतएव इति. यतः प्रतीतवैलक्षण्येऽपि कारणत्वं ब्रह्मणएव अभिप्रेतम्. **एतस्य** इति. विदुरस्य. प्रकरणानुरोधेन पक्षान्तरम् आहुः **मध्यस्थे**त्यादि. **उद्गता** इति. मायारूपा विषयता उद्गता।।१५।।

१.देहानुवादः क. देशानुवादः ख. २.स्फुरन्ति क. ग.

३.व्यामोहिकाम् क.मां१-३; 'व्यामोहिताम्' इति मां२.

भक्तिः निर्द्धाराभावाद्, एकतरज्ञानाश्रयाभावाच्च नौकाद्वयारूढवत् क्लिश्यति. लौकिकमूढपक्षे उभयोः समानसुखकथनं विरुद्धम् आपद्येत, न वा मूढानां सुखम् अस्ति।।१६।।

एवं शास्त्रार्थं निरूप्य, स्वस्य किञ्चिद् जातं किञ्चित् च न इति तद् उभयम् अनुवदति

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्याऽप्यनात्मनः ।
तां चाऽपि युष्मच्चरण–सेवयाऽहं पराणुदे ।।१७।।

अर्थाभावम् इति. शास्त्रतः प्रतीयमानस्य अर्थस्वरूपं न अस्ति इति सूचितम्. ''**आत्मैव इदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.७।२५।२) इति श्रुतेः अनात्मनो अर्थाभावः सिद्धः. अतःपरं प्रतीतिः अस्ति, विषयबाधा निवृत्ताः **तामपि** प्रतीतिं **युष्मच्चरणसेवया** गुरुचरणसेवया **अहं पराणुदे**. यद्यपि स्वभावतो गुरुः न उपदिशति तथापि सेवायां क्रियमाणायां तद्धर्मेण तदुपदेशेन वा तलस्पर्शो भविष्यति इति तामपि अपनुदे दूरीकरिष्यामि. ज्ञानमार्गानुसारेणैव अर्धस्य निवृत्तत्वाद्; अन्यथा भगवच्चरणसेवयैव तां दूरीकुर्यात्. **अहम्** इति स्वाधिकारः, तथैव भगवदाज्ञापनाद्; अन्यथा भक्तिमार्गानुसारेणैव दूरीकुर्यात्. अधिकारश्च पुनः प्राप्तव्यः।।१७।।

किञ्च, भगवन्मार्गेऽपि गुरुसेवा भक्त्युपयोगिनी. तद् आह

यत् सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवेत् तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ।।१८।।

यत् सेवया भगवतः इति. मार्गत्रयाविरोधाय भगवतो विशेषणत्रयम्, अन्यथा गुरुसेवाभावे मार्गान्तरविरोधे न भगवति भक्तिः स्यात्. तत्र **भगवतः** इति भक्तिमार्गानुसारी भगवान्, **कूटस्थस्य** इति ज्ञानमार्गानुसारी, **मधुद्विषः** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अर्थाभावम् इत्यत्र. **शास्त्रतः** इत्यादि. लोकदृष्ट्या प्रतीयमानस्य अर्थस्वरूपं न अस्ति इति शास्त्रतः सूचितम् इति अन्वयः. **अर्थाभावः** इति. अर्थत्वाभावः. **तथैव** इति. गुरुद्वारैव अधिकारप्राप्तेः आज्ञापनाद् इति अर्थः।।१७।।

यत्सेवया इत्यत्र. **विशेषणत्रयम्** इति. 'भगवत्'पदस्य योगारूढत्वेन योगांशे तस्य विशेषणरूपत्वात् तथा इति अर्थः।।१८।।

दैत्यद्वेषी. सर्वेषामेव सुमनसां, देवानां पुष्पाणां वा, मधु गृहीत्वा, स्वमुखेन तद् वमित्वा, निष्पादितं मधु भवति; तथा सर्वदेवानां बलं गृहीत्वा, दैत्यैः स्वभावं तत्र सम्पाद्य, सर्वधर्मप्रतिपक्षतया ब्रह्मघातको निर्मितो मधुः. कैटभस्तु ज्ञानांशबाधकः. अतएव कपिलेन '**कैटभार्दनः**' इति उक्तम्. तादृशस्य भगवतः. **रतिरासो भवेद्** रतिविलासो भवेत्. 'विलास'पदेन चरणस्य वशीकरणं सूचितम्. रतीनां वा बहुविधानां सर्वेन्द्रियविषयाणां रासो रससमूहः. **पादयोः** इति अवताराभिप्रायेण. लौकिकोऽपि व्यामोहो गच्छति इति **तीव्रः** इति. शीघ्रमेव तलं स्पर्शयति. अवान्तरखेदास्तु तस्य आनुषङ्गिकाः इति आह **व्यसनार्दनः** इति. व्यसनानि लौकिकानि विचित्राणि अर्दयतीति तस्य विशेषणम्. अतो व्यसननिवृत्तिः रासस्य आनुषङ्गिकी. अतो मार्गद्वयसाधकत्वाद् गुरुसेवा सर्वेषामेव हितकरी।।१८।।

तर्हि कथं न सर्वे कुर्वन्ति? इति आशङ्क्य आह

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः।।१९।।

दुरापा इति. अल्पं तपो येषां, तेषां वैकुण्ठवर्त्मसु सेवा **दुरापा** दुःखेन प्राप्तुं शक्या. दुर्लभत्वाय एकवचनम्. भगवद्भक्तानां माहात्म्यप्रतिपादनाय **वैकुण्ठवर्त्मसु** इति उक्तम्. वैकुण्ठस्य मार्गभूतेषु, व्यापिवैकुण्ठस्य भगवतो वा. तन्मार्गे गतः तत्र गच्छति इति तेषां वैकुण्ठमार्गत्वं स्थापयति **यत्र उपगीयते नित्यम्** इति. **यत्र** भगवद्भक्तेषु भगवान् नित्यमेव उपगीयते. अनेन क्रमात् तत्र गमनं सूचितम्. भगवद्गुणाः पुष्पाणां गन्धाइव भगवन्मार्गे समायान्ति. अतएव तेषाम् उपगानं, हृदये स्थितानां तत्रैव उल्लसितानां गानम्. उल्लासाधिक्येन मार्गनैकट्यम्. नित्यम् उल्लासाद् वायुनेव श्रुत्या दूरे नयनं निराकृतम्. किञ्च, सहि देवानां देवो देवोपरि वर्तते. अतो देवमार्गापेक्षया यज्ञापेक्षयाऽपि अयं मार्गः समीचीनः. किञ्च, **जनार्दनो** अयं, जनाम् अर्दयति इति ज्ञानकार्यकर्ता. अतो अचेतननिवर्त्तकापेक्षया ज्ञानमार्गापेक्षयाऽपि भगवद्गुणगातॄणां सेवनम् उत्तमम् इति अर्थः।।१९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दुरापा इत्यत्र. 'नित्य'पदतात्पर्यम् आहुः **अनेन** इत्यादि।।१९।।

एवं पूर्वपक्ष-सिद्धान्तपक्षौ निरूप्य अन्यान् विशेषान् ज्ञातुं पृच्छति

सृष्ट्वाऽग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।
तेभ्यो विराजम् उद्धृत्य तमनु प्राविशद् विभुः ।।२०।।
यम् आहुर् आद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् ।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं समासते ।।२१।।

सृष्ट्वा अग्रे महदादीनि इति. तत्र आदौ श्लोकद्वयेन सार्द्धेन साधिकेन पूर्वोक्तम् अनुवदति, अन्यथा उक्तार्थविस्मरणाद् अग्रे न वक्तव्यं स्यात्. निर्द्धारितं च अल्पेन उच्यते. **महदादीनि** त्रयोविंशतितत्त्वानि. तेषां विकारास्तु अवान्तरभेदाः सात्त्विकादिविभेदाः आध्यात्मिकादिभेदाः वा. आनुपूर्व्येण च तेषां सृष्टिः. तेभ्यो विराज उद्धरणं च पुरुषस्य सारांशत्वाय. **तम् अनु प्राविशद्** इति. अर्थाद् निरूपितम् अनुवादेन स्पष्टितम्. तत्प्रवेशव्यतिरेकेण ब्रह्माण्ड-मध्यकार्याणि न भवेयुः. **विभुः** इति सामर्थ्यरूपेण।।२०।।

भगवत्सहितस्य 'विराजो' नाम **आद्यं पुरुषम्** इति. अस्मदाद्यपेक्षया आद्यत्वम्. **सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम्** इति. यद्यपि [1]प्रचरद्रूपेण पूर्वाध्याये न अस्ति, तथापि पुरुषस्य तथारूपत्वात् तद्धर्मत्वेन अनुवादः. स्वस्य सविशेषं परिज्ञानार्थं भगवत्कृपया वा धर्मान्तरस्फुरणं, तदपि गुरूक्तत्वेनैव ज्ञापयितुम् अनुवादः क्रियते. यत्र च पुनः पुरुषे, **इमे विश्वे लोकाः** सर्वे प्राणिनः **सविकाशम्** अतिविशालभूमौ सुखम् आसते ।।२१।।

किञ्च,

यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।
[2]त्वयेरिता यतो वर्णाः तद्विभूतीर्वदस्व नः ।।२२।।

यस्मिन् पुरुषे **दशविधः प्राणो** निरूपितः. इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थाश्च निरूपिताः. इन्द्रियाणाम् इन्द्रियार्थानां प्राणानाञ्च त्रैविध्यं निरूपितं, यतो वर्णाअपि त्वया निरूपिताः. एवम् अनूद्य विशेषं पृच्छति. इदं भगवच्चरित्रं भगवद्रूपञ्च तदैव स्यात् यदि अस्य विभूतिः भवेत्. भगवतो असाधारणगुणेषु विभूतिरपि एका. कथापक्षेऽपि अग्रे वक्ष्यमाणानां ब्रह्मादीनां न विसर्गत्वं विवक्षितं, किन्तु विभूतित्वमेव. तेन सविभूतिः सर्गो निरूपितो भवति. विसर्गस्तु

१.प्रचरद्रूपे ख. ग. घ. ङ. च.मां१-२-३. २.विषय क. २.त्वयेरितो पा.मां२.

धर्माद्युक्तो अग्रे वक्ष्यते. व्यष्टिष्वपि समष्टि-व्यष्टिभेदः परिकल्प्यते. तत्र ब्रह्मा समष्टिः प्रजाः व्यष्टयः।।२२।।

प्रजानां कर्तृत्वं कदाचिद् न भविष्यतीति तदर्थं प्रथमतः ताः पृच्छति

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः ।

प्रजा विचित्राकृतयः आसन् याभिः इदं ततम् ।।२३।।

यत्र इति. सर्वत्र चत्वारो भेदाः विभूत्यर्थं वक्तव्याः. **नप्तारः** प्रपौत्राः, कन्यापुत्राः वा. 'पुत्र'शब्दे पुत्र्या एकवद्भावः, पौत्रे च पौत्र्याः. एतद् उभयं नप्ता सूचयति. **गोत्रजाः** [क]दूरज्ञातयः।।२३।।

प्रजापतीनां स पतिः चक्लृपे कान् प्रजापतीन् ।

सर्गांश्चैवाऽनुसर्गांश्च मनून् मन्वन्तराणि च।।२४।।

प्रजापतीनाम् इति. **सर्गाः** कारणपदार्थानाम् उत्पत्तयः. **अनुसर्गाः** कार्याणाम्. **मनवः** चतुर्दश. **मन्वन्तराणि** षड्विधानि।।२४।।

एतेषामपि वंशांश्च वंश्यानुचरितानि च ।

उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजाऽऽसते ।।२५।।

एतेषाम् इति. **एतेषां** मनूनाम्. **वंशानुचरितं** तत्र उत्पन्नानां वंशवृद्धि-हेतुचरित्रम्. **च**काराद् अन्यान्यपि चरित्राणि. **भूमेः उपरि** स्वर्गादयो लोकाः कियन्तः? अधश्च कियन्तः? इति. **आसते** इति स्थिराः औत्पत्तिकाः. **मित्रात्मजा** इति बहुप्रश्नेऽपि क्षोभाभावः सूचितः।।२५।।

तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ।

तिर्यङ्-मानुष-देवानां सरीसृब्-मृग-पक्षिणाम् ।।

वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदाण्डजोद्भिदाम् ।।२६।।

तेषाम् इति. **तेषां** लोकानां **संस्थां** मर्यादां, केषु लोकेषु के व्यवहाराः इति. **प्रमाणं** परिमाणम्. **च**कारात् तत्रत्यानामपि व्यवस्थाम्, उपर्यधोलोकानामेव पृष्टत्वात्. प्रधानभूतं भूर्लोकं पृच्छति **भूर्लोकस्य** इति. भूर्लोकस्य संस्थां प्रमाणञ्च इति अर्थः. **च**काराद् अवान्तरभेदानाम्. जीवानां योनिभेदान् पृच्छति **तिर्यग्** इति. **तिर्यङ्-मानुषदेवाः** तामस-राजस-सात्त्विकाः. **सरीसृप-मृग-**

क. 'दूरजातयः' इति मां१-३.

पक्षिणोऽपि द्वितीयकक्षायां तामसादयः. तेषां सर्गाणां सम्यग् व्यूहः समूहः के कियन्तः कुतः उत्पन्नाः इति. चतुर्विधाअपि भूतभेदाः वक्तव्याः इति आह **गार्भे**ति. गर्भे भवाः गार्भाः जरायुजाः. 'जरायु'शब्देन वा गर्भः उच्यते. **स्वेदजाः** मशकादयः, **अण्डजाः** पतङ्गादयः, **उद्भिज्जाः** वृक्षादयः. स्वेदजादीनां स्वेदत्वं मन्यमानः 'स्वेदादि'शब्दैरेव तज्जान् पृच्छति।।२६।।

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् ।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ।।२७।।
वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः ।
ऋषीणां जन्मकर्माणि वेदस्य च विकर्षणम् ।।२८।।

गुणावतारैः इति. ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरैः **विश्वस्य सर्गः** उत्पत्तिः, **स्थितिः, अप्ययो** नाशः. उत्पत्त्यादीनाम् **आश्रयं,** कृतिं भावं वा. ब्रह्माण्डरूपम् आधारम् इति केचित्. **सृजतः श्रीनिवासस्य** इति. मूलकारणं विष्णुः उक्तः. **श्रीनिवासस्य** इति ब्रह्मानन्दपूर्णः उक्तः. तस्य उदारविक्रमा अवतारचरित्राणि. प्रकीर्णकानाम् एतेषां प्रश्नानां भगवद्विभूतिभेदार्थं कीर्त्तनम्. वर्णानां विभागः चतुर्द्धा, आश्रमाणाञ्च. अष्टानामपि रूप-शील-स्वभावाः भिन्नतया वक्तव्याः. **रूपम्** आकृतिः, **शीलम्** आचारः, **स्वभावो** अन्तःकरणधर्मः. **ऋषीणां** भृग्वादीनां **जन्म** उत्पत्तिप्रकारः, **कर्म** मन्त्रद्रष्टृत्वादि. **वेदस्य विकर्षणं** शाखाभेदेन विभागः।।२७-२८।।

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं भागवतं स्मृतम्।।२९।।

यज्ञस्य सप्तदशस्य **वितानानि** संस्थाभेदाः. **च**कारात् क्रतुसत्राणाम्. **योगस्य पथः** योगमार्गान्. **च**काराद् अङ्गानाम्. **प्रभो** इति सम्बोधनं ज्ञानार्थम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यज्ञस्य इत्यत्र. **सप्तदशस्य** इति. **''आश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषड् इति चतुरक्षरं, यजेति व्यक्षरं, ये यजामहे इति पञ्चाक्षरं, व्यक्षरो वषट्कारः, एष वै सप्तदशः''**(   ) इति उक्तस्य तावद् अक्षरसाध्यस्य. **स्मृतिषु** इत्यादि. तन्त्ररूपासु स्मृतिषु सर्वांशेन इदं प्रमाणम् इति सूचितम् इति अर्थः।।२९।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे सप्तमाध्यायविवरणम्।।

नैष्कर्म्यं निवृत्तिमार्गः. **साङ्ख्यस्य तन्त्रं** साङ्ख्यशास्त्रम्. भागवततन्त्रं वैष्णवशास्त्रम्. **स्मृतम्** इति स्मृतिषु इदमेव प्रमाणम् इति सूचितम्।।२९।।

पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।

जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः।।३०।।

सर्वेष्वपि शास्त्रेषु **पाषण्डपथवैषम्यं** पाषण्डमार्गवैषम्यं वक्तव्यम्. **प्रतिलोमानां** चण्डालादीनां **निवेशनं** शास्त्रोपयोगम् उत्पत्तिं वा. **जीवस्य गतयः** संसरणप्रकाराः स्वरूपतः प्रकारतश्च, गुणतः कर्मतश्च वक्तव्याः।।३०।।

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।

वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ।।३१।।

चतुर्विधपुरुषार्थानाम् अन्याविरोधतो निमित्तानि च वक्तव्यानि. **वार्तायाः** जीविकायाः अधिकारिभेदेन नव प्रकाराः वक्तव्याः. एवं **दण्डनीतेश्च**. राजधर्माणां विधिः प्रकारो वक्तव्यश्च. **श्रुतस्य** वेदाध्ययनस्य. **च**काराद् अङ्गानाम्, अर्थज्ञानस्य वा. **पृथग्** अधिकारिभेदेन।।३१।।[1]

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितॄणां सर्गमेव च ।

ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ।।३२।।

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् ।

प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उताऽऽपदि।।३३।।

श्राद्धस्य विधिः[2] प्रकारो वक्तव्यः. **पितॄणा**मपि **सर्गो** वक्तव्यः. **ग्रह–नक्षत्र–ताराणां** बुधाद्यश्विन्याद्यन्यनक्षत्राणाम्. **कालावयवे** ज्योतिश्चक्रे सम्यक् स्थितिः वक्तव्या. दानादीनां फलं वक्तव्यं, विधानञ्च. **वापि** इति अनादरे. यएव भेदाः तव अभिप्रेताः तएव वक्तव्याः इति. **इष्टं** यागाद्यग्निसाध्यम्. खातादि मृज्जलसाध्यं **पूर्त्तम्. प्रवासस्थस्य** परदेशगतस्य **यो धर्मः** इति, पूर्वोक्तो वा सङ्कोचः इति. **पुंसः आपदि यो धर्मः**।।३३।।

येन वा भगवांस्तुष्येद् धर्मयोनिः जनार्दनः।

संप्रसीदति वा येषाम् एतद् आख्याहि [3]मेऽनघ!।।३४।।

१.अग्रे ''शास्त्रस्याऽपि प्रकारो वक्तव्यः'' इति क. ख. घ. च.मां१–२–३

२.श्राद्धस्याऽपि ख. ग. ङ. च. ३. चानघ क.

किञ्च, **येन** वा प्रकारेण **भगवान् तुष्येद्**, धर्मकर्ता ज्ञानदश्च. **तोषः** तस्य स्वभावतः परितोषः. **प्रसीदति** इति वरदानाद्यर्थं सन्तोषेण अभिमुखो भवति. येषां वा अधिकारिणां भगवान् संतुष्यति इति वक्तव्यम्. **अनघ** इति सम्बोधनं भगवदभिप्रायज्ञानार्थम्।।३४।।

अपृष्टमपि वक्तव्यम् इति आह

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम! ।

अनापृष्टमपि ब्रूयुः गुरवो दीनवत्सलाः।।३५।।

अनुव्रतानाम् इति. नहि गुह्यं बालाः प्रष्टुं जानन्ति. अनु व्रतं येषां, गुरोः इच्छानुवर्तिनाम्. **शिष्याणां** शेषभावं प्राप्तानां, ज्ञानार्थिनां वा. **पुत्राणां च** इति दृष्टान्तार्थम्. **द्विजोत्तम** इति सम्बोधनं तव पित्रादिभिः यथा भवान् शिक्षितः एवं मां शिक्षय इति ज्ञापनार्थम्. **अनापृष्टमपि ब्रूयुः** इति वचने सदाचारः प्रमाणम्. तदपि न बलात्, किन्तु दयया. तद् आह **दीनवत्सलाः** इति।।३५।।

प्रलयं भिन्नतया पृच्छति

तत्त्वानां भगवन् एषां कतिधा प्रतिसंक्रमः।

तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विद् अनुशेरते ।।३६।।

तत्त्वानाम् एषां कतिधा प्रतिसंक्रमः प्रलयः. चतुर्विधादिभेदाः शास्त्रेषु बहुधा सिद्धाः इति. किञ्च, **तत्र** प्रलये **इमं** भगवन्तं **के उपासीरन्? के वा अनुशेरते** लीनाः भवन्ति?।।३६।।

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वाऽपरस्य च ।

ज्ञानं च नैगमं यत्तद् गरुशिष्यप्रयोजनम् ।।३७।।

जीवदेहतत्त्वानां मध्ये **पुरुषस्य** विराजः. **च**काराद् अन्येषाम्. **संस्थानं** नाशः **स्वरूप**ञ्च वक्तव्यम्. **च**कारात् संस्थानविशेषोऽपि. [1]एते त्रयोऽपि भेदाः **अपरस्य च,** व्यष्टीनां च ज्ञानञ्च वक्तव्यम्. **च**काराद् वैराग्यञ्च. **नैगमं** वेदोक्तम्. गुरुशिष्याणाञ्च आवश्यकत्वे प्रयोजनं वक्तव्यम्।।३७।।

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ[2] सूरिभिः ।

स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव च ।।३८।।

---

१. 'एतेऽपि' इति मां१-२-३. २.वचनेन क.

निमित्तानि[१] **च** वक्तव्यानि. **तस्य** ज्ञानस्य. **इह** अस्मिन् देहे, एवंप्रकारे वा. **च**काराद् बाधकानि च. **सूरिभिः प्रोक्तानि** इति परम्परया सिद्धानि. अन्येषान्तु पाक्षिकत्वम्. गुर्वाद्यभावे स्वतो वा ज्ञानं कथं भवति? सः उपायो वक्तव्यः. तथा स्वतो भक्तिवैराग्यञ्च।।३८।।

ननु एते पदार्थाः अनुपयुक्ताः किमिति पृच्छ्यन्ते इति आशङ्क्य आह

एतान् मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविधित्सया।

ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वाद् अजया नष्टचक्षुषः ।।३९।।

एतान् मे इति. **एतान्** प्रश्नान् **मे** मह्यं **ब्रूहि**. वचने हेतुः **हरेः कर्मविधित्सया पृच्छतः**. भगवतः कर्माणि मनसा विधातव्यानि चिन्तनीयानि; विशेषेण धातव्यानि वा हृदये स्थापनीयानि. **मे अज्ञस्य मित्रत्वाद्** इति भिन्नं वाक्यम्. त्वं यद्यपि सर्वेषां मित्रं, तथापि त्वद् मैत्री तेषां न उपयुज्यतइति मे मदर्थमेव मित्रं भव इति आह **अजया नष्टचक्षुषो मे अज्ञस्य मित्रत्वाद् ब्रूहि** इति सम्बन्धः. मोहिन्या मायया मम ज्ञानं नष्टम् इति दैन्यम्।।३९।।

सर्वदानापेक्षया ज्ञानदानम् उत्तमम् इति वक्तुं ज्ञानेन जीवस्य भयं गच्छति इति फलतो ज्ञानं स्तौति

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चाऽनघ!।

जीवाभयप्रदानस्य [क] **न कुर्वीरन् कलामपि ।।४०।।**

सर्वे वेदाः इति. **सर्वे वेदाः** अधीताः अध्यापिताश्च, **यज्ञाः** कृताः कारिताश्च, **तपोदानानि. च**काराद् यम-नियमादीनि. **अनघ** इति सम्बोधनं वाच्यार्थसम्मत्यर्थम्. **जीवाभयदानस्य** ज्ञानस्य कलयाऽपि यत् फलं भवति, तत् सर्वेऽपि मिलित्वा कर्तुं न शक्नुवन्ति इति अर्थः।।४०।।

एवम् अनेकविधप्रश्ने मैत्रेयस्य उत्तरदानार्थं सम्मतिः अस्ति न वा इति सन्देहे, सर्वेषां प्रश्नानां भगवच्चरित्रपरत्वं वर्ततइति महानेव हर्षः तस्य जातः इति आह

श्रीशुकः उवाच

स इत्थम् आपृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः।

१.'निमित्तानीति' इति क्वचित्. क. ''कलां नार्हन्ति शोडषीम्'' इति मां१-३.

प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितः तं प्रहसन्निवाऽऽह ।।४१।।

सः इत्थम् इति. आ समन्तात् पृष्टः पुराणकल्पो येन. पुराणं कल्पयति इति एतेषाम् उत्तरार्थे एकं पुराणं वक्तव्यं, नतु कथामात्रेण प्रकरणमात्रेण वा एतेषाम् उत्तराणि निरूपितानि भवन्ति इति अर्थः. वक्तृ-श्रोत्रोः उत्कर्षम् आह **कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः सञ्चोदितः** इति. **प्रवृद्धहर्षो** भगवत्कथायाः वक्तव्यत्वात्. तदेव आह **भगवत्कथायाम्** इति. सम्यक् प्रेरणं सपरिकरप्रश्नात्. **प्रहसन्निव** इति मुखप्रसादः. पुराणकथनप्रसङ्गप्राप्त्या वा. अभिनन्दनपूर्वकम् आह इति अर्थः. एवं भगवतः सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनो निरूपितम्।।४१।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां तृतीयस्कन्धे सप्तमाध्यायविवरणम् ।।

॥अष्टमाध्यायविवरणम् ॥

अष्टमे भगवद्बुद्धिः यादृशी साऽत्र वर्ण्यते।
आधाराधेयरूपाणां तदीयानां तथोद्गमः ॥१॥
षड्विधा भगवद्बुद्धिः स्वरूपे रतिरूपिणी।
जगद्विषयिणी चैव कृतियुक्तेति वै त्रिधा ॥२॥
हरेरेव तथाऽन्यापि भगवद्विषया त्रिधा।
लौकिकोपायजनिता प्रथमा सा द्विधा पुनः ॥३॥
तर्कक्रियाविभेदेन द्वितीया वैदिकी स्मृता।
साक्षात्कारस्तृतीयस्तु षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥४॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ अष्टमाध्यायं विवरिषवो मैत्रेयोक्तौ उत्तरत्वरूपायाः सङ्गतेः स्फुटत्वेन, निबन्धे विचारितत्वेन च ताम् अनुक्त्वा, शास्त्रीयामेव अवसररूपां सङ्गतिं **स्मारयितुम्** अध्यायार्थम् आहुः **अष्टमे** इत्यादि. ''**बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी**'' (भाग.पुरा.२।१०।३२) इति वाक्याद् विशिष्टज्ञानसमानाकारत्वं तस्याः स्वरूपलक्षणं, ''**ज्ञानशक्तिः**''(भाग.पुरा.२।५।३) इति वाक्याद् ज्ञानजनकत्वं च तस्याः कार्यलक्षणम् इति सा **यादृशी** सर्गलीलायां विवक्षिता **सा अत्र** अष्टमे अध्याये विशिष्टज्ञानरूपकार्यनिरूपणेन वर्ण्यते. तस्य ज्ञानस्य विषयाव्यभिचाराय **तदीयानाम् आधाराधेयरूपाणां विषयाणाम् उद्गमः** प्राकट्यं च उपवर्ण्यते इति अर्थः.

समुदायार्थम् उक्त्वा अवयवार्थम् आहुः **षड्विधा** इत्यादि. अत्र ''**कृतक्षणः स्वात्मरतावनूहः**''(भाग.पुरा.३।८।१०) इत्यनेन उक्ता **प्रथमा विधा,** ''**लोकान् अपीतान् ददृशे स्वदेहे**''(भाग.पुरा.३।८।१२) इति **द्वितीया,** ''**तस्याऽर्थसूक्ष्म...**'' (   ) इत्यादिभिः उक्ता **तृतीया,** एवं त्रिधा भगवन्निष्ठा. तथा अन्या त्रिधा भगवद्विषया तत्र ''**तस्यां स च**''(   ) इत्यनेन उक्ता **प्रथमा,** ततः ''**क एषः**''(भाग.पुरा.३।८।१८) इत्यादिश्लोकैः उक्ता द्विप्रकारा **पञ्चमी.** ततः ''**अपश्यताऽपश्यत यन्न पूर्वम्**''(भाग.पुरा.३।८।२२) इत्यादिः उक्ता **षष्ठी.** एषा यद्यपि चतुर्मुखस्य, तथापि ''**तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता**''(भाग.पुरा.३।८।१५) इति कथनात् साऽपि हरेरेव. तथाच पूर्वोक्तत्रिविधबुद्धेः सारभूतः तदाधिदैविको ब्रह्माऽपि बुद्धावेव अन्तर्भवति इति तद्बुद्धिरपि भगवद्बुद्धिरेव इति **षट्सु** जगत्प्रतिष्ठितम् इति अर्थः.

सामान्यतो ग्रन्थरूपा भगवद्बुद्धिरीर्यते ।
सर्गोपयोगिनी यस्मात् तामसाद् उद्गता हि सा ।।५ ।।
अनेकधा भागवत–प्रवृत्तिरुपयुज्यते ।
दशलीलायुताः सर्वाः कल्पभेदैः व्यवस्थिताः ।।
भगवद्बुद्धिरेषेति सैव लीलाद्वये तता ।।६ ।।

एवं पूर्वाध्याये भगवच्चरित्रज्ञानार्थं बहवः प्रश्नाः कृताः. तत्र भगवत्क्रियाज्ञानार्थं महान् अस्य उद्यमः इति तं प्रोत्साहयितुं स्तौति

मैत्रेयः उवाच

सत्सेवनीयो बत! पूरुवंशो यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।
बभूविथेहाऽजितकीर्तिमालां पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ।।१ ।।

सत्सेवनीयः इति. **बत** इति हर्षे. **सद्भिः** महद्भिरपि **पूरुवंशः** सेव्यः उत्पत्त्यर्थं स्थानार्थं ज्ञानार्थञ्च. **यद्** यस्माद् यस्मिन् वंशे उत्पन्नो **लोकपालो** यमोऽपि भगवद्धर्मविरोधि–धर्मयुक्तोऽपि **भगवत्प्रधानो** जातः. भगवानेव प्रधानं यस्य तादृशः त्वं **बभूविथ.** यतो **अजितकीर्तिमालां पदे–पदे** क्षणे–क्षणे **नूतनयसि. अभीक्ष्णं** सर्वदा. सन्तो हि स्वभावजयार्थं महान्तं यत्नं कुर्वन्ति. तत् चेत् पूर्वं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ननु एषान्तु ‘‘**उदाप्लुतं विश्वम्**’’(भाग.पुरा.३।८।१०) इत्यारभ्य उच्यते, नतु पूर्वम्. अतः तेषां किं निरूपकत्वम् इत्यतः आहुः **सामान्यतः** इत्यादि. **ग्रन्थरूपा** इति. श्रीभागवतपुराणरूपा. **तामसाद्** इति. सङ्कर्षणात्. तथाच तेषामपि बुद्धिनिरूपकत्वमेव इति सर्वोऽपि अध्यायः तथा इति अर्थः. ननु भगवत्प्रोक्तत्वं भागवतलक्षणं, तच्च सङ्कर्षणोक्तत्वे विरुध्यते. किञ्च, सङ्कर्षणः प्रलायकः इति ततः उद्गतायाः कथं सर्गोपयोगित्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अनेकधा** इत्यादि. कदाचित् स्वतः, कदाचित् केनचिद् द्वारेण इति एवम् अनेकधा कथने सर्गादिकरणे च प्रवृत्तिः अतो भागवतत्वं सर्गोपयोगित्वं च उपपद्यते इति अर्थः. तासां प्रवृत्तीनाम् आपाततो अन्यथा प्रतीयमानत्वेऽपि भगवदीयत्वे गमकम् आहुः **दशे**त्यादि. एतेन महापुराणान्तरोक्ताअपि सङ्गृहीताः ज्ञेयाः. ब्रह्मबुद्धेः अग्रेऽपि उपयोगाय आहुः **भगवदि**त्यादि. **लीलाद्वये** इति. द्विविधायां सर्गलीलायाम्.

सत्सेवनीयः इत्यत्र. **अभीक्ष्णं सर्वदा** इति. **पदे-पदे** इति वीप्सया पौनःपुन्यस्य प्राप्तत्वात् पुनरुक्तिपरिहाराय एवं व्याख्यातम्. प्रमेयबलाधिक्यमेव

सम्बन्धमात्रेण भवति तदा प्रयत्नान्तरं परित्यज्य सद्भिः पूरुवंशएव सेव्यो भवति. **बत** इति [1]अत्याश्चर्यदर्शनात् प्रमेयबलाधिक्यख्यापनार्थम्. अधिकारे हि सर्वथा भगवद्बुद्धिः नश्यति, सुतरां लोकपालाधिकारे. यदपि उक्तं "**द्वादशैते विजानीमः**"(भाग.पुरा.६।३।२१) इति, तद्दण्डपरिवर्जनार्थम् अधिकारिणा ज्ञातव्यम् इति ज्ञायते, नतु भक्तिमार्गानुसारेण. तत्राऽपि प्रकृते विशेषं वक्तुं **वभूविथ** इति मध्यमपुरुषः प्रयुक्तः. तेन यमो अतिक्रूरः सर्वघातकः इति सूचितम्. तादृशस्याऽपि यदि भगवत्परत्वं, तद्वंशसम्बन्धात्, सोऽपि सम्बन्धः आभिमानिकएव, अविवाहितायां व्यासाद् उत्पत्तेः. **अजिते**ति. न केनापि जितः इति भगवदुत्कर्षः तस्य हृदये रोचते इति ज्ञापितम्. तेन सर्वथा मात्सर्याभावः सूचितः. **कीर्तिः** इति. यमः कर्मप्रधानो न प्रसिद्धिमात्रं मन्यते. साऽपि अस्य हृदये समागता इति ज्ञापितम्. किञ्च, **माले**ति. कण्ठभूषणम्. कीर्तिं कण्ठे स्थापितवानिति भक्तेभ्योऽपि आधिक्यम्. नूतनकरणेन अतिसामर्थ्यम्. पदे-पदे नूतनकरणं प्रेम्णा. एवं माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहो अस्य वर्तते इति सूचितम्. **अभीक्ष्णम्** इत्यनेन प्रेम्णो अकुण्ठत्वं सर्वतो अधिकत्वम्।।१।।

एवं सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वक-भगवद्विषयकसर्वगुणाः उत्पन्नाइति महान् अयं वंशः, पाण्डवादीनां भक्तानां स्वस्य च अवज्ञागर्वाभावार्थं तथा निरूपितः. इदानीं सर्वे प्रश्नाः विशकलिततया पृष्टाः भगवच्चरित्रज्ञापकाः न भवन्ति इति तथाविधत्वज्ञापनार्थम् अपृष्टकथनार्थञ्च पुराणमेव मूलतः किञ्चित् कथयिष्यामि इति आह

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं महद्गतानां विरमाय तुभ्यम्।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं यदाह साक्षाद्भगवान् ऋषिभ्यः।।२।।

सो अहम् इति. त्वया ये पूर्वं प्रश्नाः कृताः "**सुखाय कर्माणि करोति लोकः**" (भाग.पुरा.३।५।२) इत्यादिना, तेऽपि अनेन परिहृताः भविष्यन्ति इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्फुटीकुर्वन्ति **अधिकारे** इत्यादि. **सापि** इति. प्रसिद्धिरपि. **भक्तेभ्योऽपि आधिक्यम्** इति. भक्ताः हि अन्तरेव स्थापयन्ति अयन्तु बहिरपि इत्यतः तथा इति अर्थः।।१।।

सो अहम् इत्यत्र. **इदानीम्** इत्यस्य **पुराणम्** इत्यनेनाऽपि अन्वयः.

---

१. अन्यार्थ. घ.

तत्र प्रथमं प्रश्नं फलत्वेन निर्दिशन् आह **नृणां क्षुल्लसुखाय महद्दुःखं गतानां तद्विरमाय** इति. अनेन पृष्टानां सर्वेषामेव पदार्थानां भगवत्कर्मपरत्वं सामान्यतो निरूपितम्. स्वभावतः कर्मणाम् अल्पसुखेच्छया कृतानां महद्दुःखजनकत्वम्. तान्येव च कर्माणि भगवत्सम्बद्धानि चेद्, भगवदीयत्वेन कृतानि दुःखाभाव-पूर्वक-महत्सुखफलानि भवन्ति इति. [१]अत्र श्रवणे भवानेव अधिकारी इति **तुभ्यम्** उक्तम्. **भागवतम्** इति भगवता हि प्रतिपादिताः स्वकृताः स्वफलाएव. परम्परायामपि भगवदुक्तपदार्थानां दोषसम्बन्धाभावाय, वक्तुः श्रोतुः स्वरूपतो अवस्थातश्च परमां शुद्धिं निरूपयितुं शुद्धपरम्पराम् आह **यद् आह साक्षाद् भगवान् ऋषिभ्यः** इति. यद् भागवतं भगवता न परम्परया उक्तं, किन्तु साक्षादेव. भगवत्त्वं वा साक्षात्. भगवत्कृपया जातभगवत्त्वव्युदासार्थम् **ऋषिभ्यः** इति. ज्ञाननिष्ठाः ऋषयः परमपात्रत्वेन निरूपिताः. येषां बुद्धौ मन्त्राः स्वतः स्फुरन्ति सा बुद्धिः उत्तमैव भवति ।।२ ।।

भगवानपि न क्रीडां कुर्वन्, लक्ष्मीसहितो वा, भागवतम् उक्तवान् किन्तु आत्मध्यानारूढः एकाग्रचित्तः तथा उक्तवानिति भगवन्तम् उपदेष्टारं वर्णयति

आसीनम् उर्व्यां भगवन्तम् आद्यं सङ्कर्षणं देवम् अकुण्ठसत्त्वम् ।
विवित्सवस्तत्त्वम् अतः परस्य कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ।।३ ।।

आसीनम् उर्व्याम् इति. **आसीनम्** इति क्रियान्तराभावेन लौकिक-रीत्याऽपि वैजात्याभावः[२] सूचितः. **उर्व्याम्** इति भूमौ स्थित्वा यज्ञियत्वं सूचितम्, अन्यथा भगवान् कथं भूमौ आसीत्. इयम् उर्वी न उद्धृता, किन्तु मूलभूतैव यतः पातालाधोविद्यमानत्वं स्थानलक्षणाभिः नागकन्यापूजनया च निरूप्यते. **आद्यम्** इति पित्रादिजन्मदोषः परिहृतः. **सङ्कर्षणम्** इति भगवतः चतुर्मूर्तेः या मूर्तिः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवत्कर्मपरत्वम् इति. भगवत्कर्मोपयोगित्वम्. तद् व्युत्पादयन्ति **स्वभावतः** इत्यादि।।२।।

आसीनम् इत्यत्र. **वैजात्याभावः** इति. उपदेष्टृधर्मविजातीयं वैयग्र्यम् इति तदभावः. **वैयग्र्याभावः** इति पाठो वा. **मूलभूता** इति. अण्डात्मिका. **स्थानलक्षणाभिः** इति. **''किरीटसाहस्र...''**(भाग.पुरा.३।८।३०) इत्यनेन

१.'अत्र च' इति ख. २.'वैयग्र्याभावः' इति क. ख. ग. ङ. च.मां१. २.पूजया ख. च.

संहारकर्त्री, सा निरूपयति इति उक्तम्. तेन भगवता पदार्थनिरूपणे दृष्टान्तार्थमपि यदि अन्ये पदार्थाः निर्दिष्टाः भवन्ति, तेऽपि सङ्कर्षणं प्राप्य दग्धपूर्वावस्था भगवदीयाएव नूतना भवन्ति इति सूचितम्. तामसत्वेन समागतं दूषणं परिहरति **देवम्** इति. ननु देवानामपि नानाविधत्वात् तामसत्वम् अपरिहृतमेव. अतः आह **अकुण्ठसत्त्वम्** इति. न कुण्ठं कुण्ठितं सत्त्वं सत्त्वगुणो अक्षरात्मकं वा, आसनत्वेन यस्य. सतु गुणतएव तामसः, संहारकर्तृत्वात्; तदपि प्रलयकाले. इदानीन्तु देवः सर्वोपास्यएव. सङ्कर्षणत्वं च द्रष्टृ-दृश्ययोः सम्यक् कर्षणाद्, अतः सएव संसारं प्रयच्छतीति आद्यत्वम्. तेन भजनावश्यकत्वं पितृत्वाद् उपदेष्टृत्वञ्च सङ्गच्छते. इदन्तु ज्ञानिनएव जानन्ति इति श्रोतृत्वं सनकादीनाम्. मोक्षार्थमपि अयमेव सेव्यः. सम्यक् कर्षणं ततएव यतो निवर्तते. अस्य च रूपम् अग्रे निरूपयिष्यते. ननु सनकादीनां ज्ञानस्य विद्यमानत्वात् सङ्कर्षणस्थाने किमर्थं गताः इति आह **विवित्सवः** इति. **अतः** सङ्कर्षणात् **परस्य** वासुदेवस्य **तत्त्वं** स्वरूपं **विवित्सवो** ज्ञातुम् इच्छवः **कुमारमुख्याः** सनकादयः. सनत्कुमारो मुख्यो येषाम्. **मुनयः** इति सङ्कर्षणएव जानाति तम् अनन्तरो वासुदेवं ज्ञातुं न अन्य इति ज्ञानयुक्ताः. **अनु** इति ब्रह्मणा सएव प्रष्टव्यः इति उक्ते **तम् अन्वपृच्छन्.** यद्यपि ब्रह्मा जानाति, तथापि सः भक्तिमार्गप्रधानः सनकादीन् तथा न मन्यते, अतः सङ्कर्षणमपि ज्ञानप्रधानं मन्यमानः तथा आह ।।३ ।।

सः सङ्कर्षणः, अभिमानाधिदैवत्वाद् न तम् अभिमानो व्याप्नोति अतः स्वस्याऽपि परं वासुदेवं ध्यायन्नेव सर्वदा तिष्ठति. यदा वा ध्यायति तदा ते गताः इति तस्य ध्यानावस्थां निरूपयति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उक्ताभिः फणाभिः. **सूचितम्** इति. तेनास्थितिकालेपि दोषनाशकत्वेन प्रलायकत्वं सूचितम् इति अर्थः. **अक्षरात्मकम्** इति. सदंशरूपम्. 'सङ्कर्षण'पदस्य यौगिकत्वे नामत्वं न स्याद् इति योगस्य सार्वदिकत्वं तदर्थं स्फुटीकुर्वन्ति **सङ्कर्षणत्वम्** इत्यादि. तथाच एवं सर्वस्य स्वरूपावस्थात्व-बहिर्निर्गमनयोः सम्पादनेन प्रवृत्तत्वात् तथात्वं सार्वदिकम् अतो नाम इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अग्रे** इति. पञ्चमस्कन्धे. **तथा न मन्यते** इति. अधिकारिणो न मन्यते।।३।।

स्वमेव इत्यत्र. **सः सङ्कर्षणः** इत्यस्य **वासुदेवं ध्यायन्** इत्यादिना

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं यं वासुदेवाभिधम् आमनन्ति।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीषद् उन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥४॥

स्वमेव धिष्ण्यम् इति. **धिष्ण्यं** स्थानम् आश्रयं, नतु आसनम्. वासुदेवाख्यं तं **बहु मानयन्तम्.** तस्य ध्याने क्रियमाणे ध्याता स्वयं ध्येयं बहुमानयत्येव. तस्य ध्येयस्य स्वरूपम् आह यं ध्येयत्वेन निरूपितं लोकाः 'वासुदेव'इति वदन्ति. यो ध्येयत्वेन निरूपितः तम् इति अर्थः. 'वासुदेव' इति अभिधा यस्य. वस्तुतस्तु, स्वस्यैव आश्रयभूतः आत्मा, लोकाः परं शब्दान्तरेण व्यपदिशन्ति. ननु ध्यानारूढो बहिः संवेदनाभावात् कथम् उपदेष्टा भवति? इत्यतः आह **प्रत्यग्धृते**ति. प्रत्यगात्मस्वरूपे धृतम् अक्षि येन. ''**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुः**''(कठोप.२।१।१) इति श्रुतेः. यद्यपि अन्तर्नीतं तेन चक्षुः, तथापि भगवान् कमलनयन इति तदम्बुजं जलाद् बहिः दृश्यतएव, तथा भगवानपि ध्यानारूढोऽपि बहिः पश्यति इति ज्ञातव्यम्. किञ्च, तद् अक्षि कमलस्य कोशरूपम्. कोशो हि मुकुलितपत्रात्मको भवति, तथा अयमपि निमीलिताक्षः. तथापि विबुधानाम् आगतानां सनकादीनाम् **उदयाय** अभ्युदयाय, तान् अभ्युदितान् कर्तुम्, ईषद् विकचय्य[१] पश्यन्तम्. कोशे हि अद्र्धविकासः सम्भवति॥४॥

तेऽपि बाह्यतोऽपि शुद्धाः भूत्वा समागताः इति आह

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापैः उपस्पृशन्तश्चरणोपधानम्।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः सप्रेम नानाबलिभिर् वरार्थाः॥५॥

स्वर्धुन्युदार्द्रैः इति. अथवा, भगवदीयशरीरसिद्ध्यर्थं **स्वर्धुन्युदार्द्रैः** इति. यावद् गङ्गाजलेन आर्द्रं शरीरं तिष्ठति तावद् दैत्याक्रमणं न भवति इति पाताले दैत्याधिक्यात् तत्स्पर्शाभावार्थम् आर्द्राइव जटाः कृताः, न शोषिताश्च. गङ्गाद्वारमार्गेण गताः इति केचित्. तथा सति ते सर्वार्द्राएव वक्तव्याः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्वयः॥४॥

स्वर्धुनीत्यत्र. **केचिद्** इति. श्रीधरस्वामिनः. **सर्वार्द्रा** इत्यादि. तथाच 'जटा'पदवैयर्थ्यम् इति अर्थः.

---

१. 'विकच इव' इति क.ख.घ.ङ.च.छ. मां.१-२-३

''योगेश्वराणां गतिम् आहुः'' इति न्यायेन येन केनाऽपि मार्गेण ते गन्तुं शक्ताः, 'स्वर्धुनी'पदे लक्षणा च स्यात्. अस्तु वा तथैव अतिपावित्र्यार्थम्. **जटाः** असंस्कृतकेशाः तेषां **कलापैः** समूहैः **सङ्कर्षणचरणोपधानं** पीठम् उपस्पृशन्तो अपृच्छन् इति सम्बन्धः. पूर्वं कृतनमस्काराअपि वासुदेवस्वरूपज्ञानार्थं पुनः साष्टाङ्गनमस्कारं कृतवन्तः इति अर्थः. ननु स्वार्द्रजटाकलापैः तदुपस्पर्शे को हेतुः? तत्र आह **पद्मं यद् अर्चन्ति** इति. **अहिराजकन्याः** वासुकिकन्याः, **सप्रेम** यथा भवति तथा, **वरार्थाः** सत्यो **नानाबलिभिः** नानापूजाप्रकारैः **यत् पद्मम् अर्चन्ति.** तेषां स्पर्शादोषाय इति केचिद्, गङ्गापेक्षयापि तच्चरणस्यैव प्रकृष्टत्वात्. किन्तु तदुपस्पर्शने इष्टकामना सिद्ध्ययति इति तदुपस्पर्शने हेतुः **अर्चन्ति** इति. महतामपि फलदातेति स्वेष्टसिद्धिः सूचिता. कन्यात्वादेव न विकारान्तर-सम्भावना. कामितान्तरकथनाद् न काम्यत्वम्. अतः सर्वप्रकारेण निर्दुष्टं सर्वकामनापूरकं भगवन्तं तमेव ध्यायन् तत्स्वरूपं सम्यग् वक्षयति इति सूचितम्।।५।।

तेषां सङ्कर्षणज्ञानपर्यन्तं ज्ञानं सिद्धम् इति ज्ञापयितुं, वासुदेवज्ञानस्य अत्यभीष्टत्वं विज्ञापयितुं ते स्तुवन्ति इति आह

मुहुर्गृणन्तो वचसाऽनुरागस्खलत्पदेनाऽस्य कृतानि तज्ज्ञाः।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक-प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम्।।६।।

मुहुः गृणन्तः इति. भक्त्युद्रेकाद् मुहुः गृणनम्. ज्ञाननिष्ठानां मनसा गृणनं सम्भवति इति प्रेमोल्लासख्यापनार्थं **वचसा** इति उक्तम्. ततोऽपि आधिक्याय **स्खलत्पदेन** इति. **''यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः''**(श्वेता.उप.६।२३) इति वाक्याद् वासुदेवइव अस्मिन्नपि प्रेम

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

येन केनापि इति. तथाच गमकाभावः इति अर्थः. अजहत्स्वार्थायाः अदुष्टत्वाद् मार्गत्वस्यापि शक्यवचनत्वाद् 'जटा'पदसार्थक्यस्यापि अतिपावित्र्यार्थ-तया कथञ्चित् साधयितुं शक्यत्वात् तमपि पक्षम् अङ्गीकुर्वन्ति **अस्तु वा** इत्यादि. **तेषाम्** इति. अहिजातीयानां, सामान्ये नपुंसकम्. अस्वरसे बीजम् आहुः **गङ्गे**त्यादि।।५।।

मुहुः इत्यत्र. **वाक्याद्** इति. श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्यात्. **तदोक्तम्** इति.

आह. अनुरागेण स्खलन्ति पदानि यस्मिन् इति. कविवद् नूतनकल्पनया स्तोत्रं वारयति **अस्य कृतानि** इति. **अस्य** सङ्कर्षणस्य **कृतानि** चरित्राणि तत्प्रतिपादक**वचसा गृणन्तः** इति सम्बन्धः. नूतनपरिचयं व्यावर्तयन् सङ्कर्षणैकतानतां तेषाम् आह **तज्ज्ञाः** इति. सङ्कर्षणस्य कृतं जानन्ति इति तथा. अन्यस्मै पूर्वोक्तलक्षणरहिताय भागवतं न वक्तव्यम् इति [क]तदा उक्तम्. तस्य सङ्कर्षणस्य अवतारइव रूपान्तरेण स्थितिं वारयति आनुषङ्गिकदोषाभावाय **किरीटसाहस्र**ेति. किरीटानां यत् साहस्रं सहस्रसमूहः, तत्र ये **मणिप्रवेकाः** मण्युत्तमाः तैः प्रद्योतिता ये उद्दामाः फणाः, तेषां सहस्रं यस्य. किरीटानाम् अनादरार्थे 'साहस्र'पदप्रयोगः. तेन नित्यनूतनानि किरीटानि भवन्ति इति ज्ञापितम्. मण्युत्तमैः प्रद्योतितत्वेन सहस्रफणदर्शनं स्पष्टं ज्ञापितम्. अनेन दर्शनेनाऽपि भयं निवारितम्. गुणातीतत्वज्ञापनाय **उद्दाम**ेति प्रलयसाधकत्वात्. कालान्तरे तेषां दाम्नेव सङ्कोचः सम्भवति, तदपि निषिध्यते. तथाकरणं तत्रत्यानां स्त्र्यादीनां नैकट्याभावाय. 'फणा'शब्दो विकसितफणवाची, फणानाम् आसहस्रम् अभिव्याप्य यस्य इति वा ।।६ ।।

एवं श्रोतृवक्तृस्वरूपं निरूप्य प्रस्तुतम् आह

प्रोक्तं किलैतद् भगवत्तमेन निवृत्तिधर्माभिरताय तेन ।
सनत्कुमाराय स चाऽऽह पृष्टः सांख्यायनायाऽङ्ग! धृतव्रताय ।।७ ।।

प्रोक्तं किल एतद् इति. ननु [ख]स्ववक्ष्यमाणस्य भागवतस्य माहात्म्य-ज्ञापनार्थं किमिति एतावद् उच्यते? इति आशङ्क्य आह **किल** इति. **भगवत्तमेन** इति निरुपाधिकभगवत्त्वं व्यावर्तयति, अन्येभ्यः च उत्कर्षं च आह. अनेन तेनाऽपि वासुदेवाद् ज्ञातम् इति ज्ञापितम्. अस्य श्रवणे अधिकारम् आह **निवृत्तिधर्माभिरताय** इति. **निवृत्तिधर्मे** पारमहंस्यधर्मे अभिरतिः यस्य. तेन पूर्वोक्तेन सहस्रफणरूपेणैव उपदेशं कृतवान् इति ज्ञापनार्थं पुनः निर्देशः कृतः. **सनत्कुमाराय** इति दुर्लभाधिकारित्वेन सनत्कुमारएव उपदिष्टः, अन्येतु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्मिन् समये तज्ज्ञातृत्वम् उक्तम् इति अर्थः ।।६।।

प्रोक्तम् इत्यत्र (**दुर्लभाधिकारित्वेन** इति) **किल** इतीति. तथाच न

क. 'तथोक्तम्' इति मां१-२-३ पाठः. ख. स्वार्थम्. घ.

आनुषङ्गिकाः. तत्र हेतुः **निवृत्तिधर्माभिरताय** इति पूर्वम् उक्तः. ततः परम्पराम् आह **सच आह** इति. सांख्यायनाय सः उक्तवान्. योगनिष्ठः सनत्कुमारः सांख्यनिष्ठाय उक्तवान्. सांख्ये व्यवहारो अन्यथा भाति इति तदर्थम् आह **धृतव्रताय** इति. धृतानि व्रतानि येन. **अङ्ग** इति सम्बोधनं तथा अधिकारएव सिद्ध्यति इति विदूरस्याऽपि तथात्वाय ।।७।।

साङ्ख्यायनस्तु पराशरं भक्तं मत्वा तस्मै प्रसङ्गाद् उक्तवान् इति स्वगुरोः आधिक्यकथनार्थम् आह

साङ्ख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेन्विताय पराशरायाऽथ बृहस्पतेश्च ।।८।।

सांख्यायनः इति. सहि पारमहंस्यधर्मे मुख्यः. परमहंसानां श्रवणकीर्त्तनम् आवश्यकम्. अतो **भगवद्विभूतीः विवक्षमाणो** वक्तुम् इच्छन्, **अन्विताय** मिलिताय **अस्मद्गुरवे पराशराय जगाद**. **अन्वितो** योग्यो वा. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण. **बृहस्पतेः** स्थाने गत्वा तस्मै च उक्तवान्. बृहस्पतेः अत्र निरूपणं देवलोके भागवतप्रचारार्थम्. ब्रह्मा सनकादयश्च उपरितनलोकेषु सन्त्येव; ध्रुवपर्यन्तं बृहस्पतिः, भूमौ पराशरः, पाताले सङ्कर्षणएव अस्ति. अतः चतुर्दशसु भुवनेषु भगवच्चरित्रं भागवतं व्याप्तम् अस्ति इति उक्तम् ।।८।।

पराशराद् भूमौ प्रचारम् आह

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो मुनिः पुलस्त्येन पुराणम् आद्यम्।
सोऽहं तवैतत् कथयामि वत्स! श्रद्धालवे नित्यम् अनुव्रताय ।।९।।

प्रोवाच इति. **मह्यं** मैत्रेयाय. **दयालुः** इति स्वस्य तथा अधिकाराभावः उक्तः. **मुनिः** इति अग्रे प्रचरणज्ञानम्. **सः** इति प्रसिद्धः पराशरः, यः सप्तवार्षिकोऽपि मार्कण्डेयापेक्षयाऽपि वयसा वृद्धो, गर्भे च वेदाध्येता, पूर्णज्ञानः. **पुलस्त्येन उक्तः** पुराणं वक्तव्यम् इति आज्ञप्तः. पराशरः स्वपितरं शक्तिं राक्षसभक्षितं श्रुत्वा राक्षससत्रे सर्वाण्येव रक्षांसि हतवान्; अतः स्ववंशरक्षार्थं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रद्धाजाड्येन इदं स्तोभमात्रं, किन्तु वास्तवमेव माहात्म्यम् इति अर्थः. **दुर्लभाधिकारित्वेन** इति. छान्दोग्ये तस्य ज्ञानपूर्णतायाः उक्तत्वात् तथात्वेन।।७।।

पुलस्त्यः समागत्य राक्षससत्रनिवृत्त्यर्थं प्रार्थयत्. ततो निवृत्ताय पराशराय वरो दत्तः ''पुराणाचार्यो भव'' इति. अन्यथा अनधिकृतः पुराणं वक्तुं न शक्नुयात्. ततः उक्तं **पुलस्त्येन उक्तः** इति. **आद्यं** भागवतं, पुराणप्रवृत्तौ प्रथमोत्पन्नाय ब्रह्मणे भगवता प्रथमतएव उक्तम्. विष्णुपुराणन्तु भागवत–सम्बद्धप्रमेयमेव, व्यासे शाखाभेदवत्. विष्णुपुराणे मैत्रेयपराशरकथा[1] निरूपिता, तद्व्यावृत्त्यर्थम् **आद्यम्** इति उक्तम्; अन्यथा विष्णुपराणे न इयं परम्परा निरूपिता. **सो अहं** गुरुकृपानुगृहीतः तव श्रोतृसम्बन्धित्वेन **एतद्** भागवतं **कथयामि**. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रयोगः. **वत्स** इति स्नेहः कथने हेतुः. भगवदाज्ञातु तावन्मात्रएव. मर्यादारक्षार्थम् अधिकारे विशेषणद्वयम् आह **श्रद्धालवे नित्यम् अनुव्रताय** इति. श्रद्धा मुख्याधिकारः, नित्यं च अनुव्रतत्वम् इच्छानुरूपनिरन्तरं सेवा. अन्तर्बहिः अधिकारहेतू श्रद्धा–सेवे ।।९ ।।

एवं परम्परां प्रतिज्ञाञ्च उक्त्वा पुराणम् आरभते

उदप्लुतं विश्वम् इदं तदाऽऽसीद् यन्निद्रया मीलितदृङ्न्यमीलयत् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रोवाच इत्यत्र. **प्रार्थयद्** इति. विशिष्टद्वारा साक्षाद्द्वारा पुराणान्तरे प्रार्थयत्. **व्यासे** इति. वेदविभागे. विष्णुपुराणस्य एतच्छाखाभेदत्वे किं गमकम् इति अपेक्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. एतस्यैव विवरणं **न इयं परम्परा निरूपिता** इति. तथाच एतत्परम्परायाः अभावात् प्रमेयाभेदाच्च शाखान्तरन्यायेन तस्य पुराणान्तरत्वम् इति अर्थः. **तावन्मात्रे** इति. यावद् इतः पूर्वम् उक्तं तावन्मात्रे।।९।।

उदप्लुतम् इत्यत्र. **पुराणम् आरभते** इति. अत्र शुकाशयस्तु एवं बोध्यः. द्वितीयस्कन्धस्य अष्टमाध्याये ''**आसीद्यदुदरात्पद्मम्**''(भाग.पुरा.२।८।८) इत्यादिना हिरण्यगर्भजनकस्य सर्वात्मकत्वादिकं यद् आक्षिप्तं, तद् नवमे चतुःश्लोकीप्रसङ्गेन समाहितम्. तत्र ब्रह्मकल्पम् उक्तम्. ततो नवमसमाप्तौ ''**यदुताऽहं त्वया पृष्टो वैराजात्पुरुषादिदम्, यथासीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः**''(भाग.पुरा. २।९।४९) इति प्रतिज्ञाय दशमे महापुराणीयानि दशलक्षणानि उक्त्वा वैराजात् पुरुषात् सृष्टिकथने ब्रह्मकल्पस्य विकल्पः उपक्षिप्तः, तेन सामान्यतः सर्वे प्रश्नाः

---

१. संकथा. ख. ग.ङ.च.मां१–२–३; संवादकथा घ.

अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ।।१०।।

उदलुप्तम् इति. पुराणं हि दशलीलायुक्तम्. तत्र आदौ सर्गो वक्तव्यः. सच भागवतत्वात् भगवत्कृतः. तत्र तत्पृष्टानाम् अर्थानां ब्रह्मकल्पे अभावात् कल्पान्तरानुसारेण वक्तव्यम्. यद् भगवतैव कृतं, तत् चरित्रं पद्मकल्पे वर्त्ततइति तन्निरूपणार्थं पूर्वकल्पस्य प्रलयानन्तरस्थितिम् अनुवदति. **उदकेन प्लुतं सर्वमेव विश्वम् आसीद्** इति. बहुविधाः हि प्रलयाः. तामसेषु कल्पेषु तामसानि भूतानि दह्यन्ते अग्रिमसृष्ट्यर्थम्. राजसेषुतु प्रलयजलेन निमग्नानि भवन्ति. सात्त्विकेषुतु स्थिताएव पदार्थाः एकदेशेन निवृत्ताः अवशिष्यन्तएव, यदि अग्रेऽपि सात्त्विकएव कल्पो भवति. तत्र पद्मकल्पात् पूर्वकल्पो राजसः इति **उदप्लुतम्** इति उक्तम्. इदं विश्वं पूर्वम् उदप्लुतम् आसीत्. **इदम्** इति सर्वदा विश्वम् एकविधमेव इति वृक्षवत् प्रवाहानादित्वं निरूपितम्. **तदा** इति पूर्वप्रलये. तस्य प्रलयस्य निमित्तम् आह **यद् निद्रया** इति. **यद्** यदा **निद्रया** भगवच्छक्त्या अलुप्तज्ञानशक्तिरेव **अमीलितदृग् न्यमीलयद्** अक्षनिमीलनं कृतवान्, निमीलिताक्षो जागर्ति इति अर्थः.

ननु एवं स्थितौ को गुणः? इति आशङ्क्य आह **स्वात्मरतौ कृतक्षणः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उत्तरिताः, तथापि विशेषतो न समाहिताः इति तथा समाधातुं दशमान्ते "**पाद्मं कल्पमथो शृणु**"(भाग.पुरा.२।१०।४७) इति प्रतिज्ञाय तृतीयस्कन्धारम्भे "**एवम् एतत्पुरा पृष्टः**"(भाग.पुरा.३।१।१) इत्यनेन विदुरमैत्रेयसंवादम् उपक्षिप्य आद्यं पुराणं तन्मुखेन वक्तुम् आरब्धम्. तेन ते प्रश्नाः एवं युक्तिपूर्वकम् आप्तसम्मतिपूर्वकं पद्मकल्पीयसृष्ट्युक्ताः समाहिताः भविष्यन्ति इति तद् इदं प्रपञ्चयन्ति **पुराणम्** इत्यादि. **पुराणम् आरभते** इति. **पुराणम्** इति महापुराणम्. अनुवादप्रयोजनम् आहुः **बहुविधाः** इत्यादि. तत्र पूर्वं "**स चापि यत्र**"(भाग.पुरा.२।८।१०) इत्यनेन अवस्थासाम्येन जीवतौल्याद् ईश्वरत्वं यद् आक्षिप्तं, तद् अत्र प्रथमं विशेषतः समाधेयं, तदर्थं प्रथमं भगवत्सुषुप्तेः जीवसुषुप्तितो वैलक्षण्यम् अत्र बोधयति इति आशयेन आहुः **तस्य** इत्यादि. तथाच "**सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपम् एति**"(कैवल्योप.१।१३) इति श्रुतेः जीवस्य तदानीं तमसा अभिभवः, इहतु न इति एकं वैलक्षण्यम्. **स्वात्मरतौ** इत्यादि.

इति. ''**कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुखम्**'' (तत्त्व.निब.शास्त्रा.प्र. ६८) इति सृष्टिप्रलयकरणे निमित्तम् उक्तम्. **आत्मरतौ** आत्मनि क्रीडायां स्वरूपानन्दरमणे. स्वरूपानन्दः पूर्णानन्दः, अक्षरानन्दस्तु लक्ष्मीरूपः पूर्वं निरूपितः. सच भगवान् व्यापिवैकुण्ठेऽपि कदाचिद् लक्ष्म्या सह क्रीडति, कदाचित् स्वानन्दमेव अनुभवति. बीजधर्मएव सर्वत्र कार्यपरम्परायाम् आतृणस्तम्बपर्यन्तं; तथापि अंशकार्येषु यादृशमेव बहीरमणं तादृशमेव अन्तारमणम्. क्रिया बहीरमणे अभिवृद्धिकरी, ज्ञानन्तु अन्तः, अन्योन्यबाधकत्वञ्च. सर्वेहा उपरतिरेव आत्मानन्दानुभवे अङ्गम्. तद् आह **निरीहः** इति. सर्वचेष्टारहितः. यथा पुरुषत्वे तुल्येऽपि रङ्क-महाराजयोः बहिः भोगातिशयः तथा आत्मन्यपि इति. यावदेव आत्मत्वेन जानाति तावदेव आत्मसुखं वद्र्धते. यथा-यथा परिच्छिनत्ति, तथा-तथा अल्पो भवति. इदमेव भगवान् सृष्टि-प्रलयाभ्यां बोधयति. **एकः** इति तत् सुखम् अखण्डम् एकेनैव अनुभूयते. क्रियायां प्रयत्नव्यावृत्त्यर्थम् **अधिशयानो** जातः. तल्पकृतपीडा-निवृत्त्यर्थम् **अहीन्द्रतल्पे** शेषपर्यङ्के. सहि भगवच्छ्वासोत्थवायुपानेन प्रतिक्षणं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथाच [1]स्वप्रतिष्ठिततेव गुणः इति अर्थः. अत्र **कृतक्षणः** इत्यस्य कृतेच्छ इति अर्थबोधयानाऽऽहुः **कदाचिद्** इत्यादि. **आत्मनि** इत्यादि. ''**सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति**''(छान्दो.उप.६।९।२) इति श्रुतेः जीवस्य सत्सम्पत्त्या तदानीं सुखं, नतु स्वतः; तदपि न पूर्णम् अनित्यं च. इहतु स्वतः पूर्णं च इति अपरं वैलक्षण्यम्. एवं ब्रह्माण्डान्तरेव भविष्यति, नतु मूलधाम्न्यपि इति शङ्कानिवृत्त्यर्थम् आहुः **अक्षरे**त्यादि. ''**निरस्तसाम्यातिशयेन**''(भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यादिवाक्यैः तथा इति अर्थः. एवं वैलक्षण्यं बोधयित्वा प्रतीयमानावस्थासाम्ये हेतुम् आहुः **बीजे**त्यादि. तर्हि एतदंशे किं वैलक्षण्यम् इति आकाङ्क्षायां तद्दृष्टान्तेन तत् स्फुटीकर्तुं तान् धर्मान् आहुः **तथापि** इत्यादि. तथाच अत्रापि महत्त्वकृतं वैलक्षण्यम् इति अर्थः. प्रयोजनतोऽपि आहुः **इदम्** इत्यादि. ननु भवतु एवं, तथापि निद्रायाः अबाधकत्वे शयनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **क्रियायाम्** इत्यादि. परिकरतोऽपि वैलक्षण्यं बोधयन्ति **सहि** इत्यादि. एतेन

१.सप्रतिष्ठितैव.पा.

तुङ्गः कोमलश्च भवति. अतएव बहुकालं शयानो भवति ।।१० ।।

तर्हि अग्रे सृष्टिः न स्याद् इति आशङ्क्य आह

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिम् उदीरयाणः ।

उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे यथाऽनलो दारुणि रुद्धवीर्यः ।।११।।

सो अन्तः इति. शरीरन्तु आनन्दमयम् इति पूर्वं निरूपितं, सदानन्दमयं वा. सच्चिदान्दरूपम् इति वस्तुस्थितिः. पुरुषस्य सद् बाह्यं, मध्ये ज्ञानम्, आनन्दस्तु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शेषस्य वेदात्मकत्वेऽपि युक्तिः उक्ता।।१०।।

सो अन्तः इत्यत्र. **तर्हि** इत्यादि. एवम् आत्मरतत्वेन निर्विघ्न-महासुखानुभवे अग्रे सृष्टिप्रयोजनाभावात् सा न स्याद् इति आशङ्क्य, स्वापकारणं तत्परिकरं प्रकारं प्रयोजनञ्च आह इति अर्थः. अत्र मूले **सः** इत्यनेन पूर्वश्लोकोक्तस्य शयानस्य परामर्शात् तस्य च इच्छाविशिष्टस्यैव सृष्ट्यादिकर्तृत्वाद् इच्छाविशेषो अर्थबलादेव रमणकारणत्वेन लभ्यते इत्यतः 'सः' इति पदं न व्याख्यातम्. तत्र कारणीभूतायाः इच्छायाः प्रकारं बोधयितुम् अन्यानि पदानि व्याकरिष्यन्ते. ''**आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति**''(मुण्डकोप.२।२।७) इति श्रुत्या भगवतः केवलानन्दघनत्वेन तत्र बाह्याभ्यन्तरभावाभावात् किं तत्र **अन्तःशरीरम्** इति आकाङ्क्षायां तद्वक्तुं पूर्वं स्वरूपस्थितिम् आहुः **शरीरम्** इत्यादि. **पूर्वम्** इति ब्रह्मकल्पे. सदानन्दमयं तद्विकल्पे. **वस्तुस्थितिः** इति. ''**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**''(तैत्ति.उप. २।१) इति स्वरूपलक्षणात् तथा. तथाच यदा यथा इच्छति तदा तथा प्रकटीभवति इति तस्य इच्छयैव सदादीनाम् अन्तर्भावो बोधयितुं, सृष्टौ ''**स आत्मानमेव द्वेधा अपातयत् ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्**''(बृहदा.उप.१।४।३) इति श्रुत्या शरीरद्वैविध्यात् प्रकृते च योगमायोपबृंहितलीलानां वाच्यत्वाद् योगमायायाः स्त्रीत्वाच्च शरीरद्वयेऽपि सच्चिदानन्दस्थितिव्यवस्थाम् आहुः **पुरुषस्य** इत्यादि. पञ्चकोशविचारश्रुत्या पुरुषदेहे तथैव सिद्धत्वात्. [1]स्त्रीदेहे सामान्यतः तथा प्राप्तावपि ''**विलोक्यैकान्तभूतानि**''(भाग.पुरा.६।१८।३०) इति वाक्ये पुंमतिहरणार्थमेव स्त्रीकरणस्मरणाद्, मतिहरणस्य प्रीतिं विना अभावात्, प्रियत्वस्य च आनन्दधर्मत्वेन

१.स्त्रीदेहसामान्यतः. पा.

अन्तः. स्त्रियास्तु विपरीतम्. तस्याः सत्येव रतिः नतु आनन्दे कदाचिदपि. अन्तः साङ्ख्ययोगज्ञानाधिकारएव तस्याः, बहिः भक्तेश्च. पुरुषस्यतु विपरीतम्. आनन्दानुभवः तस्य आन्तरएव युक्तो न बाह्ये, भेदकरणप्रसङ्गाद् आनन्दस्य स्वस्थानत्यगाच्च. न तादृशानन्दो अनुभवयोग्यः. भगवत्यपि तथा बीजत्वात्. सहि भावः त्रिषु परिवर्त्ततइति सच्चिदानन्देषु न एकत्रैव स्थितिः, अन्यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदात्मकत्वात् स्त्रिया विपरीतधर्मत्वम् इति अर्थः. तेन रतावपि वैपरीत्यम् आहुः **तस्याः** इत्यादि **सत्येव रतिः** इति. स्त्रियाः सदंशो अन्तः इति तस्मिन्नेव रतिः. तस्याम् आन्तरधर्मत्वेन तत्रैव तदुत्पत्तेः इति. **कदाचिद्** इति. कस्यामपि बुद्ध्यवस्थायाम्. तथाच पुरुषस्य जाग्रति [१]स्त्रीशरीरीयानन्दे बहीरतिः. सुषुप्तौ सत्सम्पत्त्या अन्तः आनन्दे रतिः. स्वप्नेऽपि [२]बाह्यत्वाभिमानाद् आनन्दएव. स्त्रियास्तु जाग्रति स्वप्ने च [३]पुंशरीरीये सति. सुषुप्तौ च प्राज्ञे सति इति अर्थः. एवं [४]बन्धावस्था-व्यवस्थाम् उक्त्वा मुक्त्यवस्थायामपि अनुभववैजात्याय साधनव्यवस्थाम् आहुः **अन्तः साङ्ख्ये**त्यादि. एतत्प्रयोजनम् अग्रे अत्रैव वक्तव्यम्. एवं व्यवस्थाम् उक्त्वा स्वरतेः उत्कर्षाय आहुः **आनन्दे**त्यादि. पुरुषस्य हि आनन्दः आन्तरो रतिः च तस्यैव धर्मः इति रतेः तत्सम्बन्धे उभयोः आन्तरत्वेन एकाधिकरण्याद् आनन्दानुभवो भूयान् भवति इति तत्रैव युक्तः इति अर्थः. ननु बाह्येऽपि तदनुभवस्य तुल्यत्वेन तत्र कुतो न युक्तः इत्यतः आहुः **न बाह्ये** इत्यादि. इति आनन्दयोः धर्म-धर्मिभावेन रतेः बहिःआनयने आनन्दविदरण-प्रसङ्गाद् आनन्दस्यापि आनयने स्वस्थानत्यागात् च न युक्तः इति अर्थः. अत्र अनुभवं प्रमाणयन्ति **न** इत्यादि. तद् ''**यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्**'' (बृहदा.उप.४।३।२१) इति. तत्र स्थितो ''**न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति**''(बृहदा.उप.४।३।१९) इति श्रुत्या यादृशः आनन्दो अन्तः उक्तः तादृशानन्दो न बहिः अनुभवयोग्यः इति प्रत्यक्षतएव सिद्धम् इति अर्थः. एवं स्वरतेः उत्कर्षं साधयित्वा सालक्षण्याय प्रकृते अतिदिशन्ति **भगवति** इत्यादि. तथाच यथा पुरुषे सच्चिदानन्दानां बाह्याभ्यन्तरभावः, यथाच स्वरतिः उत्कृष्टा, तथा भगवत्यपि इति अर्थः. एवं स्वरतिबीजम् उक्त्वा तत्त्यागम् आहुः **सहि** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः

१.स्त्रीशरीरयानन्दे. पा. २.बाह्यत्वाभिनादानन्दएव. पा. ३.पुंशरीरेये. पा. ४.विधावस्था. पा.

तादृग्रूपवैयर्थ्यापत्तेः. अनुस्यूतस्तु तदात्मकएव नित्यसिद्धः. अतः सति रमणे अक्षरानन्दं पृथक्कृत्य लक्ष्म्या सह रमते. चिति रमणे सदानन्दौ तस्य अन्तर्बहिर्निधाय बाह्याभ्यन्तरभेदेन रमते. तत्र प्रपञ्चो वेदाश्च रमणसाधनम्. स्वकृतप्रपञ्चेऽपि एतद् उभयं करोति, ते कल्पप्रलयाः इति उच्यन्ते. तत्र अधिकारिणः कालस्य नियामकत्वाद्, भगवदेकसम्भोग-सम्पादकत्वाच्च, अंशानां भोगो मा भवतु इति तद्विषयान् अन्तःप्रवेश्य शेते. तद् आह **अन्तःशरीरे** अर्पितानि भूतसूक्ष्माणि येन इति. चिदंशान् सर्वानेव यथायथं स्थापयित्वा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः भावो रमणकर्तृत्वरूपः त्रिषु अवस्थाविशेषेषु परिवर्तते इति हेतोः सच्चिदानन्देषु एकत्र न रतेः स्थितिः, किन्तु यत्रैव कर्तूरतीच्छा तत्रैव स्थितिः इति इच्छाविशेषएव तत्त्यागबीजम् इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तथाच, यदि कर्तृत्वपरिवर्त्तनेच्छा न स्यात्, तदा निद्रायाः ज्ञानाभिभावकत्वाद् न शयीत. यस्माद् एवं तस्माद् जाग्रति सतः, स्वप्ने चितः, सुषुप्तौ आनन्दस्य रमणकर्तृत्वम् इति रतेरपि परिवृत्तिः इति भावः. ननु एवं सति रमणकर्तृभावः तस्मिन् न नित्यः स्याद् इति लीलाअपि अनित्याः स्युः इत्यतः आहुः **अनुस्यूतः** इत्यादि. **तदात्मकः** इति. आनन्दात्मकः. तथात्वपरिवर्तनेऽपि नित्यः इति लीलाअपि स्वरूपतः प्रवाहतश्च नित्या इति अर्थः. तत्र सिद्धं परिकरं जीववैलक्षण्याय आहुः **अतः** इत्यादि. **सति रमणे** इति. जाग्रद्रमणे. **चिति रमणे** इति. स्वाप्ने रमणे. **तस्य अन्तर्बहिः निधाय** इति. चिदंशस्य अन्तर्बहिः सदानन्दनिधानेन तां स्त्रियमिव कृत्वा. अनेन तदानीं योगमायया सह रमणम् उक्तम्. **तत्र** इति. चिति रमणे. **वेदाः** इति. निःश्वसितरूपाः. एवं सामान्यतः सर्गप्रलयव्यवस्था उक्ता. स्वकृत-प्रपञ्चेतु विशेषम् आहुः **स्वकृते**त्यादि. **एतद् उभयम्** इति. वेद-प्रपञ्चाभ्याम् अन्तर्बहीरमणम्. तद् वक्ष्यति **''वेदमयो विधाता''**(भाग.पुरा.३।८।१५) इति. **ते** इति. द्विधा रमणोपयुक्ताः पदार्थाः. एवं दिनमध्यव्यस्थामुखेन एकः परिकरः उक्तः. परिकरान्तरम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **भोगः** इति. सुखदुःखानुभवः. तथाच अंशानां तुल्यसुखातिदुःखदर्शन उद्वेगात् सुष्वापो न स्याद् इति तदर्थं विषयाणाम् अन्तःस्थापनं स्वात्मरतिपरिकरः इति अर्थः. परिकरान्तरम् आहुः **चिदंशान्** इत्यादि. **यथायथम्** इति. ये यद्देशाद् उत्पन्नाः तान्

स्वात्मानुभवं करोति इति. तेषाम् अतिक्रमनिवृत्त्यर्थं **कालात्मिकां शक्तिं** संहारिकाम् **उदीरयाणः,** अलीनां कुर्वाणः प्रेर्यमाणः. **तस्मिन् सलिले स्वे पदे** नारायणस्य स्थानभूते. तस्मिन् पूर्वोक्ते **उवास** स्थितः. अयम् अंशः पूर्वोक्ताद् विशेषः. अवान्तरकल्पत्वाद् अल्पप्रयत्नव्यापाराद् नामनिर्वर्तकत्वाच्च सलिलानुग्रहः. अतो अस्मदादिः स्वसच्चिदानन्दांशेषु रमणे शीघ्रं परमपुरुषार्थ-पर्यवसानाभावात् कारणे सति रतिं कुर्वीत. ननु बहिःस्थितानां पदार्थानाम् अन्तःस्थापितत्वात् कालस्य च विद्यमानत्वात् सर्वं जगद् बहिः आगच्छेत्. तत्र आह **यथा अनलो दारुणि रुद्धवीर्यः** इति. कारणे तादृशं रूपम् अस्ति इति ज्ञापयितुं कार्ये तादृशं रूपं दृष्टान्तीकृतम्. यथा तस्य दाहकशक्तिः निरुद्धा तथा कालादीनामपि स्वस्याऽपि शक्तिः निरुद्धा ।।११ ।।

एवं कियत् कालं स्थितः ? इति आह

चतुर्युगानां च सहस्रम् अप्सु स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।

कालाख्ययाऽऽसादितलोकतन्त्रो[1] लोकान् अपीतान् ददृशे स्वदेहे ।।१२।।

चतुर्युगानाम् इति. चतुर्युगानां स्वरूपम् अग्रे निरूपणीयम्. तेषां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद्देशे. **अतिक्रमनिवृत्त्यर्थम्** इति. तेषां विषयराहित्येन भोगाभावाद् भगवद्-भोगदर्शने तेषां वासनया क्षोभे अतिक्रमः स्याद् इति तन्निवृत्त्यर्थम्. **अयम् अंशः** इत्यादि. काले प्रेरणात्मको अंशः पूर्वश्लोकोक्ताद् निरीहत्वाद् विलक्षणः तेन इतरः सर्वोऽपि तुल्यः इति अर्थः. **नामनिर्वर्तकत्वाद्** इति. नारायणनाम-निर्वचनोप-युक्तत्वात्. एवं [2]परिकरे प्रकारः उक्तः. प्रयोजनम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अस्मदादिः** इति. पुंशरीरः स्त्रीशरीरश्च यथाधिकारम् अन्तर्बहिः साधनैः रतिं कुर्वीत इति शिक्षार्थं प्रकारः सूचितः, जीवसुखार्थं च स्वापः इति अर्थः. **तादृशम्** इति. शक्तिनिरोधकम्. शेषम् उत्तानार्थम्. एवं सुष्वापस्य उत्तरावस्था उक्ता. तेनाऽपि जीववैलक्षण्यं बोधितम्. जीवस्य अवस्था कालकृता परस्थानभूत-पुरीतन्नाडीसम्बन्धेन, अत्रतु इच्छया कालं प्रेरयतः स्वस्थानभूतजलसम्बन्धेन इति. एवं द्वाभ्यां द्विविधा सुषुप्तिः उक्ता।।११।।

१.कर्मतन्त्रो. पा.मां१-२-३. २.परिकरो. पा.

सहस्रावृत्तौ ब्रह्मणो दिनं भवति, तावत्येव निशा इति तावत् कालं शयनम्. **च**कारात् सन्ध्यांशयोः ग्रहणम्, अन्यथासङ्ख्यानिवृत्त्यर्थञ्च. कालशक्त्याः पर्वद्वयस्य विद्यमानत्वात् प्रथमपर्वातिक्रम्य, यदैव सा द्वितीये पर्वणि समायाति तदैव आनन्दतिरोधानार्थं ज्ञानशक्तिम् उद्भावयति. अतिक्रमणज्ञापनार्थं वा. अतएव अस्मिन् कल्पे जीवद्वारैव भोगः. अतो भगवान् स्वपन्नेव **स्वकीयया** प्रामाणिकया **स्वेनैव उदीरितया** स्वेच्छारूपया स्वशक्त्या, नतु भिन्नतया स्थितकालेन. कदाचिद् भगवदिच्छया सोऽपि अन्तःप्रविश्य तथा कुर्यात्, ततश्च तस्य अनियतत्वात् कालातिक्रमो भवेत्. कालाधीनसृष्टिश्च इयं न भवेत्. शक्त्यन्तराणामपि उद्बोधप्रसङ्गात्. अतो भगवदिच्छानुसारेण स्वशक्त्यैव कालाख्यया **आसादितम्** उपस्थापितं लोकानां तन्त्रं करणसाधनं यस्य. चिति आगमनमात्रेणैव विषयं करणसाधनञ्च उपस्थापितवती इति अर्थः. तदा **अपीतान्** अमुक्तान् **लोकान्** जनान् **स्वदेहे ददृशे.** वासनया विषये सम्बद्धान्, स्वांशेन भगवति चिति प्रविष्टान्, स्वस्मिन् विद्यमानम् अंशं तत्र प्रवेशयितुं ददृशे. तदा सदंशमध्ये सर्वोऽपि चिदंशः पिण्डीभूतः ।।१२ ।।

तस्य उद्गमम् आह

तस्याऽर्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेः अन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यन् तदाऽभिद्यत नाभिदेशात् ।।१३ ।।

तस्य अर्थेति. **तस्य** भगवतो **अर्थसूक्ष्मे** जीवानाम् उपभोग्यरूपे **अभिनिविष्टदृष्टेः** सतः तस्य **अन्तर्गतो अर्थः** चिज्जडात्मको अभूत्. तदा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

चतुर्युगेत्यत्र. **सन्ध्यांशयोः** इति. सन्ध्यारूपयोः अंशयोः. **अन्यथासङ्ख्या-निवृत्त्यर्थम्** इति. ''**ब्राह्मसंवत्सरशतादेकाहः शैव उच्यते, शैववर्षशतादेकं निमिषं वैष्णवं विदुः**''( ) इति मात्स्याद्युक्तसङ्ख्यानिवृत्त्यर्थम्. **प्रथमपर्वे**ति. अर्धरात्रम्. द्वितीयपक्षे गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. ज्ञानशक्त्युद्भावनादेव. **अंशम्** इति. सदंशम्. अनेन श्लोकेन स्वप्नावस्था उक्ता. अत्रापि स्वदेहे सतामेव सच्चिदंशानां स्वनोदित-कालोपस्थापितानां दर्शनं, जीवस्यतु कालकर्माधीनस्य मायिकानां भगवदभेदेन दर्शनम् इति भेदः।।१२।।

तस्य अर्थेत्यत्र. अत्र जागरस्य पूर्वावस्था उच्यते **तस्य** इत्यादि. **तस्य**

तनीयान् सूक्ष्मरूपो जातः. अरूपस्य सूक्ष्मरूपं महान् विशेषः. तदपि रजोगुणेनैव, नतु भगवता; अन्यथा पुरुषइव भगवद्रूपता स्यात्. तदनन्तरं ततः तेनैव रजसा **कालानुगतेन विद्धः** सन् **सूष्यन्** प्रसवं प्राप्नुवन् **तदा नाभिदेशाद् अभिद्यत.** नाभिदेशं भित्वा न निर्गतः, किन्तु अतिसूक्ष्मत्वाद्, आकाशशरीरत्वाच्च, तस्माद् देशात् सजीवपदार्थत्वात् प्रसवप्रकारेण निर्गतः इति अर्थः ।।१३।।

निर्गतस्य स्वरूपम् आह

स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधितेन[१] ।
स्वरोचिषा तत् सलिलं विशालं विद्योतयन् अर्क इवाऽऽत्मयोनिः ।।१४।।

सः पद्मकोशः इति. नारायणस्तु जलात्मकः इति जलकार्येषु [क]उत्तमः पद्मकोशएव ततः उदतिष्ठत्. **सहसा** इति विकासम् अन्तरेणैव. तदा तस्मिन् बहिः स्थितः कालः कर्म च प्राणिनां सम्बद्धम्. कोशोत्पत्त्या प्रबुद्धं कर्म बहिःस्थितं कालम् अन्तःप्रवेशितवद्[ख] इति कालनैव केवलेन अग्रिमकार्यं [ग]कृतवान् इति आह **कालेन** इति. **स्वरोचिषा** [घ]स्वयमेव तेजोरूपेण. कालस्य त्रिरूपत्वात् प्रकाशकं रूपं तस्य गृहीतम्. **विशालमेव तत्सलिलं विद्योतयन्नेव**. जनन-प्रकाशनयोः विलम्बाभावाद् [ङ]**अर्क** इति तथा सामर्थ्याय. **आत्मा** भगवानेव **योनिः** कारणं यस्य, **सः उदतिष्ठद्** इति सम्बन्धः ।।१४।।

सहसा निर्गतत्वात् तद्विकासार्थं सएव भगवान् तत्र प्रविष्टः इति आह

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवतो **अन्तर्गतः** पिण्डीभूतः **सदंशो** अर्थरूपो अभूत् **अर्थः** इत्यस्य विवरणं **चिज्जडात्मकः** इति. विकुर्वाणो जातः इति अर्थः. **सूक्ष्मरूपः** इति. अङ्कुरपूर्वावस्थारूपः. तस्य स्वरूपम् आहुः **अरूपस्य** इति. तादृशस्य सदंशस्य. **महान् विशेषः** इति. महत्तत्त्वात्मक-पृथिवीरूपः. **भित्त्वा** इति. विभज्य।।१३।।

सः पद्मेत्यत्र. **त्रिरूपत्वाद्** इति. उपादानत्वेन तेजोबन्नात्मकत्वात्।।१४।।

क. 'उत्तमम्' इति मां१-२-३ पाठः. ख.-ग. 'प्रवेशितइति'-'कृतमिति' इति मां१-२-३ पाठः.
घ. 'स्वस्यतेजोरूपेण' इति मां१-२ पाठः. ङ. 'अर्कइव. तथासामर्थ्याय' इति मां१-२-३ पाठः.
(कर्मप्रतिबोधनेन. पा.)

तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ।।१५ ।।

तल्लोकपद्मम् इति. कारणप्रवेशनव्यतिरेकेण पुरातनस्य निःसारस्य कार्योपयोगो न भविष्यतीति नारायणप्रवेशः. **उ** इति कोमलसम्बोधने. पूर्वं नारायणोऽपि तत्र प्रवेशाद् विष्णुः जातः. विष्णुः व्याप्तौ इति वा. पूर्वमेव तत्र स्थितः तत्र अभिव्यक्तो जातः इति अर्थः. तत्र हेतुः **सर्वगुणानाम् अवभासो** यत्र. भगवद्गुणानां सर्वेषाम् अभिव्यञ्जककार्यरूपाभिव्यक्तिस्थानत्वाद् भगवत्-सहिताएव सर्वे गुणाः भासन्ताम् इत्येतदर्थं भगवत्प्रवेशः इति अर्थः. अयं पद्मकल्पे विशेषः. तत्र सर्वे जीवाः एकीभूताः समष्ट्यात्मकाः सन्तः एकरूपेण प्रादुर्भूताः इति आह **तस्मिन् स्वयम्** इति. **स्वयं** भगवान्, अत्र चितो भेदाभावात्. तत्रापि उभयक्रीडार्थं **वेदमयो विधाता** इति उक्तम्. वेदमयत्वाद् आत्मरमणं, विधातृत्वाद् बहीरमणम् इति. तस्य उद्गतस्य नाम आह **स्वयम्भुवम्** इति. तत्रत्याः लोकाः तस्य पितरम् अदृष्ट्वा स्वयमेव ब्रह्मा जातः इति स्वयम्भुवम् आहुः. एवं लोकैः स्वयम्भूत्वेन निरुक्तो अभूत् ।।१५ ।।

ततो यद् जातं तद् आह

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायाम् अवस्थितो लोकम् अपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रः चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ।।१६ ।।

तस्याम् इति. पूर्वोक्तकमलएव, स्वयमपि पूर्वोक्तएव, भगवत्प्रवेशेन विकसिते कमले **कर्णिकायाम् अवस्थितः** स्वातिरिक्तं **लोकम् अपश्यमानः**. जनात्मकाः स्वस्मिन्नेव, लोकात्मकास्तु कमले; तद् उभयविमर्शाभावाद् लोकादर्शनम्. ततो अन्यथा दर्शनं कृतवान् इति आह **परिक्रमन्** इति. परितः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद् इत्यत्र. **तत्र प्रवेशाद्** इति. विशति इति विष्णुः इति निरुक्त्या इति अर्थः. इयं निरुक्तिः शैवपुराणस्था इत्यतो निरुक्त्यन्तरम् आहुः **विष्णुः** इत्यादि. **विशेषः** इति. ब्रह्मकल्पे प्राक् सिद्धमेव सर्वात्मकत्वं, तद्विकल्पेषु वीर्यद्वारा, अत्रतु एवम् इति ब्रह्मकल्पाद् विशेषः इति अर्थः. एतेन नानाप्रकारैः सर्वात्मकत्वम् इति राज्ञे बोधितम्. **चित्तो भेदाभावाद्** इति. आनन्देन सह अविभागाबाधात्. ब्रह्म-विष्णु-महेशानाम् अस्मिन् कल्पे चैतन्यभेदाभावाद् इति वा अर्थः. **वेदमये**त्यादि अनेन स्वकृत-प्रपञ्चेत्यादिना उक्तं निर्णीतं ज्ञेयम्।।१५।।

आक्रमन् शिरः प्रसारयन्. **व्योम्नि** इति उपरिभागे. पूर्वमेव पिण्डस्य उत्पन्नत्वाद् **विवृत्तनेत्रः** प्रसारितनयनो भूत्वा यमेव भागं न पश्यति तत्रैव लोको भविष्यति इति बुध्या सर्वत्र मुखेच्छायां सर्वगुणावभासस्य प्रतिष्ठिततत्वाद् **अनुदिशं चत्वारि मुखानि लेभे.** तदा चतुर्मुखो ब्रह्मा जातः इति अर्थः ।।१६ ।।

एवं मुखचतुष्टयेनाऽपि सर्वाएव दिशः पश्यन् यदा लोकं न दृष्टवान् तदा भयं चिन्ता च जाता इति अभिप्रायेण आह

तस्माद् युगान्तश्वसनावघूर्ण–जलोर्मिचक्रात् सलिलाद् विरूढम् ।
अपाश्रितः कञ्जमु लोकतन्त्रं नाऽऽत्मानम् अद्धाऽविदद् आदिदेवः ।।१७ ।।

तस्माद् इति. **युगान्ते** यः **श्वसनो** वायुः तेन अव**घूर्णितं यद् जलम्,** ततः उत्पन्नाः ये **ऊर्मयः,** तेषां **चक्रं** यस्मिन्, तादृशात् सलिलाद् विशेषेण रूढं कमलम् **अपाश्रितः** इति भयकारणम्. सलिलम् अत्र नित्यं, जलं कृत्रिमम्. वायुना च जलमेव दोलायितम्. अतः तस्य चक्रं सलिले वर्ततइति न पौनरुक्त्यम्. **विरूढम्** इति नित्यसलिलाद् उत्पन्नत्वाद् न मज्जनं, नापि नालभङ्गः. **अपाश्रितः** इति अस्थिरासनः. अतएव कमलविचारे आत्मविचारे वा बुद्धिः न प्रसृता. लोकानां तन्त्रं देहादिसर्वसामग्री यत्र, एतादृशं कमलम् आत्मा च. उभयमपि **अद्धा** साक्षाद् **आदिदेवो**ऽपि भूत्वा पूर्वज्ञानादिसम्पन्नोऽपि **न अविदद्** न ज्ञातवान् ।।१७ ।।

तदा पूर्ववासनया तत्र जिज्ञासा उत्पन्ना इति आह

क एष योऽसावहम् अब्जपृष्ठे एतत् कुतो वाऽब्जम् अनन्यद् अप्सु ।
अस्ति ह्यधस्ताद् इह किञ्चनैतद् अधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ।।१८ ।।
स इत्थम् उद्वीक्ष्य तदब्जनाल–नाडीभिरन्तर्जलम् आविवेश ।
नाऽर्वाग्गतस् तत् खरनालनालनाभिं विचिन्वन् तद् अविन्दताऽजः ।।१९ ।।

कः एषः इति. **यो अहम् एषः कः ?** जिज्ञासायाम् आत्मविचारे प्रवृत्तः इति पूर्वं विचारप्रारम्भे यो विचारकत्वेन प्रतिभातः सएव विचारदशायां भिन्नतया प्रतीतइति **एषः** इति उक्तम्. स्वस्य स्वरूपाज्ञानात् **कः** इति प्रश्नः[१]. यत्र च **अब्जपृष्ठे अहम् एतद् वा कुतो जातम्** इति. ननु जले कमलं भवत्येव, किम् आश्चर्यम्? इत्यतः आह **अनन्यद्** इति. **अप्सु** इति बहुजलसम्बन्धः. तादृशे च

---

१. प्रयोगः.

कमलं न भवति[क]. किञ्च, अधस्ताद् एतद् निर्मूलं न भवति. अतो **यत्र एतद् अधिष्ठतम्** अधिष्ठाय स्थितं तेन **सता भाव्यम्,** असतो अधिष्ठानाभावात्. अतो अस्य कमलस्य अधस्तात् किञ्चिद् अस्ति. **किञ्चन** इति किञ्चिद् अर्थे. एतत् कमलम् अधिष्ठितं यत्र. एवम् अनुमानेन नैयायिकवद् एतावज्ज्ञानं जातम्. ततः तेन ज्ञानेन तर्कसहकृतेन पदार्थं विनिश्चित्य ''पुरुषो अहं, मम च जननाधारात्मकं कमलं, न केवलम् अचेतनाद् उत्पत्तिम् अर्हतीति कश्चिद् मत्पिता वर्त्तते, अधस्तात् तम् अन्वेषयिष्यामि'' इति निश्चित्य, सूक्ष्मं रूपं कृत्वा, तस्य अब्जस्य नाडीरन्ध्रेषु प्रविष्टो **अन्तःजलम् आविवेश.** तथापि अधोभागं न प्राप्तवान् इति आह **न अर्वाग्गतः** इति. तस्य **खरनालस्य** कमलस्य **यद् नालम्,** तेन तन्मूलभूतां **नाभिं विचिन्वन्न**पि, **तत्** तदा **अजो**ऽपि ब्रह्माऽपि सन् **अविन्दत.** अथवा, तन्नालमेव अविन्दत यतो अयम् **अजः** बहिर्मुखः ।।१८।।१९।।

ततो[ख] यद् जातं तद् आह **तमसि अपारे** इति.

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं विचिन्वतोऽभूत् सुमहान् त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ।।२०।।

विदुर इति सम्बोधनं महतामपि अज्ञानम् इति सूचयति. **अपारे तमसि** इति आलोकाभावाद् दूराद् अज्ञानम्. **आत्मसर्गं** स्वपितरं **विचिन्वतो** महान् कालो जातः इति आह **त्रिणेमिः** इति. चक्रत्वात् तस्य परावृत्तिः शीघ्रमेव भवति. शीतातप-वर्षाकालाः नेमयो यस्य सः. कियान् कालो जातः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **यो देहभाजाम्** इति. शतसंवत्सरात्मकः सः कालः ''**शतायुर्वै पुरुषः**''(शतप.ब्राह्म.१३।२।६।८) इति श्रुतेः. शतवर्षानन्तरं देहभाजाम् अवश्यं भयं भवति, तस्य कालस्य मरणजनकत्वात्. तत्र हेतुम् आह **अजस्यापि आयुः हेतिः** कालचक्रं यतः **परिक्षिणोति.** तस्य अन्येषां देहभाजां भयजनने कः सन्देहः? इति अर्थः ।।२०।।

अतः स्वस्याऽपि वृथा मरणम् आशङ्क्य ततो निवृत्तः इति आह

ततो [ग]निवृत्त्याऽप्रतिलब्धकामः स्वधिष्ण्यम् आसाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो न्यषीदद् आरूढसमाधियोगः ।।२१।।

क. २.सम्भवति. क.मां१-२ ख.तदा क.मां१-२-३. ग.निवृत्तो. पा.

ततः इति. **अप्रतिलब्धकाम**एव ततो **निवृत्त्य पुनः स्वधिष्ण्यम्** आस्थाय ज्ञानसहितो भूत्वा **देवो** जातः. ततः **शनैः जितश्वासेन निवृत्तचित्तो** भूत्वा **न्यषीदत्,** स्थिरतया उपविष्टः. ततः आरूढः समाधिपर्यन्तं योगो येन. योगेन चित्तैकाग्र्यं विधाय तमेव अर्थम् अचिन्तयद् इति अर्थः ।।२१ ।।

एतादृशो योगोऽपि बहुकालं कृतः इति आह

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाऽभि–प्रवृद्धयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातम् अपश्यताऽपश्यत यन्न पूर्वम् ।।२२ ।।

कालेन इति. पुरुषायुषा अभिप्रवृद्धो योगो यस्मिन्, तेन कालेन **विरूढबोधो** जातः. विशेषेण रूढः स्थिरो बोधो यस्य. तदा स्वयमेव भगवन्तम् अपश्यद् इति आह **स्वयम्** इति. पूर्वं प्रयत्नेनाऽपि न दृष्टः, इदानीं चित्ते शुद्धे भगवान् स्वयमेव मायाजवनिकां दूरीकृत्य ब्रह्मणो हृदये भातः. पूर्वं मानसपरिकल्पितमूर्तिवैलक्षण्यम् आह **यद् न पूर्वम्.** कदाचिदपि न अपश्यत्. यद्यपि हृदये ब्रह्मकल्पे भगवान् दृष्टो वैकुण्ठस्थितः, प्रतिकल्पं च पश्यति, अन्यथा सृष्टिसामर्थ्यं न भवेत्, तथापि न एवंविधः कदापि दृष्टः. नहि स्वमनसि भाते भगवति तद् नाभिकमले स्वयं स्थातुम् अर्हति. न वा नाले अधस्ताद् विद्यमाने अच्छिन्ननालो अन्तःप्रविशति, न वा कदाचित् स्वस्य अन्तःहृदये प्रसन्नो भूत्वा समागतः शेषे शेते. अतो यद् न पूर्वं कदाचिदपि दृष्टम् इति यद् उक्तं तद् युक्तमेव ।।२२ ।।

अपूर्वं रूपं तद् अनुवर्णयति सृष्ट्युपयोगित्वाद् नवभिः.

अवस्थाम् उपमानं च स्वरूपं च त्रिभिः क्रमात् ।
शास्त्रप्रत्यक्षभेदेन फलसाधनमेव च ।।१ ।।
सर्वतत्त्वाश्रयेणाऽपि सर्वसौन्दर्यमेव च ।
एवं षड्गुणमाहात्म्यम् एकरूपेण वर्णितम् ।।२ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कालेन इत्यत्र. **तद् युक्तमेव** इति. अनेन दर्शनविषयस्य अपूर्वताविवरणेन ऐश्वर्यसन्देहस्य तस्याम् अवस्थायां वारणाद् जीववैलक्षण्यं तदापि बोधितम्।।२२।।

मृणालेत्यत्र. **कारिकाभिः** एकादशानां तात्पर्यम् आहुः **अवस्थे**त्यादि. चतुर्थ-पञ्चमयोः आहुः **शास्त्रे**त्यादि. शास्त्रेण भजतां फलसाधने एकेन, प्रत्यक्षेण

पुनर्गुणानां प्राधान्याद् उपमारूपतत्त्वभिः।

तस्य ब्रह्मत्वसंसिद्ध्यै तज्ज्ञाने सर्वबोधनम्।

ततो युक्तं यदेवात्र तदन्त्येन निरूप्यते ।।३ ।।

तत्र भगवन्तं प्रथमम् अवस्थावत्त्वेन दृष्टम् अनुवर्णयति

मृणालगौरायतशेषभोग–पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम्।

फणातपत्रायुतमूर्धरत्न–द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ।।२३ ।।

मृणालेति. मृणालवद् गौर आयतो यः **शेषभोगः** शेषस्य शरीरं, तदेव **पर्यङ्कः,** तस्मिन् एकएव पुरुषः शेते. महद् एतद् आश्चर्यं यत् सर्पशय्यायां शेते! इति. किञ्च, **फणातपत्राणां यद् अयुतम्** अमेलनं, तत्सहितो यो **मूर्द्धा,** तत्र यानि **रत्नानि,** तेषां **द्युभिः हतं ध्वान्तं** यत्र. एतादृशे **युगान्ततोये** प्रलयसमुद्रे शेषपर्यङ्के. तस्यैव शेषस्य ये फणाः तएव विकसिताः सन्तः आतपत्रप्रायाः भवन्ति. ते च पुनः कमलपत्रवद् न पौर्वापर्येण मिलिताः. तत्र फणस्य अधोभागे देवतात्वसिद्धये सर्वत्रैव मूर्द्धा वर्तते, फणास्तु शाभोर्थाः. ते वा मुर्द्धानो अयुताः. तत्र सर्वत्रैव मण्युत्तमाः सन्ति, तैरेव तत्रत्यो अन्धकारः सर्वएव गच्छति. अतः स्पष्टो भगवान् दृश्यते. ब्रह्मणो हि बुद्धिः बहिः प्रकटा, नतु अन्तः. अतो भगवानपि बहिरेव प्रकटो, बुद्धिनिरूपकत्वाद् अध्यासस्य[1]. भगवतो अलौकिकप्रभावाज्ञानाद् भगवत्तेजसा न अन्धकारनिवृत्तिः, किन्तु प्रमाणतो ज्ञानात् शेषशिरोमणिभिरेव ।।२३ ।।

तस्य बुद्धौ लोकवत् प्रतिभातम् इति लौकिकोपमा भगवति वर्ण्यते[2]

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भजतां ते अपरेण इति अर्थः. सप्तमादित्रयस्य आहुः **पुनः** इत्यादि. **गुणानाम्** इति. उत्थितावस्थाधर्माणाम्. **तत्त्वभिः** इति. 'ऐसा'देशाभावः छान्दसः. दशमस्य आहुः **तस्य** इत्यादि. तस्य दृष्टस्य स्वरूपस्य ब्रह्मज्ञापनार्थं सर्वबोधनं ''**यस्मिन्** [3]**विदिते सर्वम् इदं** [3]**विदितं भवति**''(शाण्डिल्योप.२।२) इति श्रुतेः. सर्वबोधजनकं तज्ज्ञानं निरूप्यते इति अर्थः. एकादशस्य आहुः **ततः** इत्यादि. **अन्त्येन** इति. एकादशेन श्लोकेन. **विवृतौ.** ननु पूर्वं हृदये च भातम् इति उक्तम्, इदानीं समुद्रे किमिति उच्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **ब्रह्मणः** इत्यादि।।२३।।

१.अध्यायस्य. क. ख. ग. घ. ङ.मां१–२–३. २.प्रतिवर्ण्यते. ग. च. ३.'विज्ञाते'

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः।

रत्नोदधारौषधिसौमनस्यवनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ।।२४।।

प्रेक्षाम् इति. कीदृशं ददर्श? इति सर्वत्र आकाङ्क्षा. **हरितोपलाद्रेः प्रेक्षां क्षिपन्तम्.** हरिन्मणिपर्वतः कश्चित् क्षीरसमुद्रे वर्तते, तथा शेषपर्यङ्के भगवान्. अतएव शेषस्य मृणालतुल्यता; शैत्यचिक्कणकान्तीनां शुक्लरूपाश्रितानां तत्रैव सत्त्वात्. **प्रेक्षा** दृष्टिः तुल्यो हि तुल्यविषयिकां दृष्टिं दूरीकरोति, नतु भगवत्त्वेन. तत्र वक्तव्यं सर्वप्रेक्षामेव क्षिपति इति. हरितोपलानाम् अद्रिः. ननु युक्तमेव तत्प्रेक्षाक्षेपणम्. अनलङ्कृतः सः भगवान् अलङ्कृतः इति. तत्र आह **सन्ध्याभ्रनीवेः** इति. सन्ध्याकालीनानि अभ्राणि मेघाः पीतरक्ताः ते नीवी कटिवस्त्रं पीताम्बरं यस्य. उरूणि रुक्माणि सुवर्णानि मुकुटरूपाणि मुर्द्धसु यस्य. किञ्च, **रत्नानि** पद्मरागादीनि, **उदधारा** जलप्रवाहाः, **ओषध्यो** वनस्थाः रात्रौ तेजस्वत्यः, **सौमनस्यं** सुमनसां समूहः, वनानि च; तेषां माला यस्य. पञ्चवर्णा हि भगवन्माला, यथा इन्द्रधनुषो मध्ये वर्णाः भवन्ति. रत्नानाम् एका माला आरक्ता रत्नमालेव उदधाराणां माला मुक्ताहारइव; ओषधीनां माला अलौकिकदिव्य-रत्नकान्तिमालेव, दीपसदृशमणिमालेव वा; पुष्पमाला पुष्पमालेव; वनमाला तुलसीमालेव. किञ्च, **वेणव**एव भुजाः, **अङ्घ्रिपा**एव अङ्घ्रयो यस्य; वेणुभुजश्च असौ अङ्घ्रिपाङ्घ्रिश्च ।।२४।।

स्वरूपम् आह

आयामतो विस्तरतः स्वमान–देहेन लोकत्रयसङ्ग्रहेण।

विचित्रदिव्याभरणांशुकानां कृतश्रियाऽपाश्रितवेषदेहम् ।।२५।।

आयामतः इति. **आयामो** दैर्घ्यम्. **विस्तारो** विशालता. **लोकत्रयाणां**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रेक्षाम् इत्यत्र. **सर्वत्र** इति. नवस्वपि श्लोकेषु. ननु भगवत्त्वेन न क्षिपति इत्यत्र किं गमकम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तत्र** इत्यादि. भगवत्त्वेन प्रेक्षाक्षेपे विवक्षितेन ''**न तत्समः**''(श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः तथा वक्तव्यं स्यात्, तच्च न उक्तम् अतः तदेव गमकम् इति अर्थः. **तत्र आह** इति. तादृशाकाङ्क्षायां पर्वतस्याऽपि अलङ्कृतत्वम् आह।।२४।।

आयामतः इत्यत्र. ननु अत्र ब्रह्मत्वबोधनाय विशेषणानां कथनाद्

सङ्ग्रहो यत्र, एतादृशं स्वस्य शरीरस्य मानम्. यावता विस्तारेण दैर्ध्येण च परिकल्पमाने लोकत्रयं तत्र तिष्ठति तादृशेन देहेन उपलक्षितं भगवन्तम् इति अर्थः. किञ्च, **विचित्राणि** दिव्यानि **आभरणानि अंशुकानि** च यस्य. तेषां सम्बन्धिन्या तैरेव कृतया श्रिया **अपाश्रितः** सर्वत्र तेजःपुञ्जवत् परिवर्तमानो **वेषः** आकृतिविशेषो यस्य. तादृशो **देहो** यस्य इति. भगवतो रूपं सच्चिदानन्दरूपम् इति ज्ञापकं त्रैलोक्याश्रयत्वम्. आभरणादिभिः क्रियमाणा शोभा भगवद्वेषमेव आश्रयते, नतु आभरणैः भगवद्वेषे शोभा भवति. आभरणानाम् आभरणत्वं च भगवद्धर्म ।।२५ ।।

परोक्षतया मार्गानुसारेण भजतां फलदानं स्वोपयोगाभावाद् ब्रह्मधर्मएवेति तम् आह

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गैः अभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु–मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ।।२६ ।।

पुंसाम् इति. **स्वकामाय** [१]स्वाभिलाषसिद्ध्यर्थम्. **विविक्तमार्गैः** अन्योन्यश्लेषरहितैः लोकातीतैः वा, एकान्तप्रकारैः वा, ये अभ्यर्चन्ति तेषां **कामदुघं यद् अङ्घ्रिपद्मम्** तत् तेषाम् अर्थे **प्रदर्शयन्तम्.** पुनः कथम्भूतम् अङ्घ्रिपद्मम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम्** इति. नखान्येव इन्दवः तेषां मयूखैः भिन्नाः सर्वदेहविलक्षणा या अङ्गुलयः ताएव चारूणि पत्राणि यस्य. स्वभावतः पादपद्मं विकसितम्. नखानाम् इन्दुत्वेन पत्राणि प्रत्येकं सङ्कुचितानि परितः इन्दुरक्षार्थं, नतु अग्रतः. कमलपत्राणि चन्द्रकिरणैः सङ्कुचितानि भवन्ति, तिर्यक् सङ्कुचितानि च. तेन अलौकिकत्वाद् हृदयान्धकारम् अलौकिकमपि नाशयति. चरणस्य पद्मतायां हेतुरपि उक्तो भवति. सर्वदेहवैलक्षण्याद् भक्तिमार्गः सर्वेभ्यः उत्तमः इति उक्तं भवति. भक्तिरेव स्वतन्त्रफलेति स्वयं फलम् अदत्त्वा तेषां कामनापूर्तये दुःखाभावाय च तद् उपास्यं चरणमेव प्रदर्शयति ।।२६ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विचित्रदिव्येति विशेषणस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **आभरणानाम्** इत्यादि।।२५।।

---

१. स्वाभिलषित...क.मां१–३

एवं मार्गेण भजतां फलम् उक्त्वा प्रत्यक्षेण भजतां फलम् आह

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत् कुण्डलमण्डितेन।

शोणायितेनाऽधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन [1]सुभ्र्वा ॥२७॥

मुखेन इति. **मुखेन प्रत्यर्हयन्तं,** ये पूजां कुर्वन्ति तान् प्रतिपूजयन्तं, ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**''(भग.गीता.४।११) इति वाक्यात्. ननु ते स्वकीयेन सर्वस्वेनापि भगवन्तं पूजयन्ति, भगवांस्तु कथं तान् पूजयति? इति आशङ्क्य, भगवति षड् गुणाः सन्ति तैः युक्तेन मुखेन तान् पूजयति, तेषु मुखधर्मान् सर्वानेव योजयति. तत्र मुखे षड् धर्मान् षड्भिः विशेषणैः सम्पादयति **लोकार्तिहरस्मितेन** इत्यादिभिः. भगवतो मुखस्य गुणद्वयं सर्वोपकारि, चतुष्टयं भक्तानामेव. लोकानाम् आर्तिं हरति इति तादृशं स्मितं यत्र. **स्मितं** मन्दहासः ''**हासो जनोन्मादकरी च माया**'' (भाग.पुरा.२।१।३१). भगवान् सृष्टिलीलाकर्ता ब्रह्माण्डस्थितजीवान् स्वेच्छया सर्वथा विनियोक्ष्यति. तत्र ते प्रमाणबलम् आश्रित्य अन्यथाकर्तुं यतन्ते, तदा व्यामोहयति, वृथा क्लेशं प्राप्स्यन्ति इति. अतः तेषां क्लेशाभावायैव हासः, मन्दत्वं च सर्वथा व्यामुग्धाः उत्पथप्रवृत्ताः पारलौकिकदुःखं प्राप्स्यन्ति इति. 'लोक'शब्देन सज्जीवाः. किञ्च, **परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन** इति. परितः स्फुरन्ती ये कुण्डले, ताभ्यां मण्डितेन. साङ्ख्य-योगौ कुण्डले, तयोः परितः स्फुरणम् ऐहिकामुष्मिककार्यसिद्धये. तेन वैदिकमार्गेणाऽपि यः क्लेशः सः योगेन निवार्यते. साङ्ख्येन स्वरूपानन्दम् अनुभाव्यते. एतद्वा विपरीतम्, उभयम् उभयत्र वा. अतो अनिष्टनिवारकेष्ट-प्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपूजनं करोति इति उक्तम्. इदं भक्तानां न अतीव-पुरुषार्थरूपम्. **शोणायितेन** इति. शोणः ईषद् गौरः पीताम्बरतुल्यः. अनेन तेभ्यो भक्तिं प्रयच्छति इति उक्तम्. किञ्च, **अधरबिम्बभासा.** अधरबिम्बस्य **भाः** कान्तिः यत्र. अधरो लोभात्मकः. तत्र यद् बिम्बं बिम्बसदृशम् इति अर्थवशात् *शब्दबलेन भगवत्स्वरूपं, तल्लोभे स्थापितं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मुखेन इत्यत्र. 'बिम्ब'पदस्य तात्पर्यम् आहुः ***शब्दबलेन** इत्यादि. अत्र परोक्षवादः सर्वत्र इति लक्षणा न दोषाय. तथाच, यथा सूर्यादिस्वरूपमेव 'बिम्ब'पदेन उच्यते, तथा अत्र भगवत्स्वरूपम् इति न लक्षणाऽपि इति अर्थः।।२७।।

---

१. सुभ्रुवा. पा.

भगवद्भक्तेभ्यः प्रयच्छति इति प्रतिपूजनसाधने तत्कान्तिः तत्साक्षात्कारः समायाति. एवं भक्तिं दत्त्वा सर्वदुर्लभं तेभ्यः स्वरूपं प्रदर्शयति इति उक्तम्. किञ्च, **सुनसेन सुभ्र्वा** इति. शोभने नासिके यस्मिन्, शोभने भ्रुवौ यस्मिन् इति. अश्विनीकुमारौ नासिके, भ्रूः कालः. रोगकालयोः निवृत्तिं करोति इति अर्थः. एवं प्रत्यक्षभजने सर्वपुरुषार्थदाता निरूपितः ।।२७।।

सर्वतत्त्वाश्रयेणाऽपि भगवतः सर्वसौन्दर्यं निरूपयति

कदम्ब–किञ्जल्क–पिशङ्गवाससा स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चाऽनन्तधनेन वत्स–श्रीवत्सवक्षस्थलवल्लभेन ।।२८।।

कदम्बेति. कदम्बस्य यथा किञ्जल्काः, तथा[1] ते रेखाकाराः मुक्तायुक्ताश्च पीताम्बरे प्रतीयन्ते. तेन सर्वतत्त्वैः मुक्तैः सहितया भक्त्या भगवान् आच्छन्नः इति भगवति गोप्यं रूपम् उक्तम्. तेनैव तत्र शोभा, नतु रूपेण. अतएव पीताम्बरेण सुष्ठु अलङ्कृतम्. तच्च छन्दोमयं, तेन आच्छादनं स्पष्टमेव. किञ्च, **मेखलया नितम्बे स्वलङ्कृतम्** इति. मेखला भूमौ भगवत्कीर्तिः भगवद्गुणानुवर्णनं, गुणमयी च सा. तया भगवत्कार्यकरणात् कार्यार्थमपि भगवान् न अन्वेष्टव्यः. एवं क्वचिद् भगवद्रूपम् अप्रत्यक्षमपि सर्वसौन्दर्यम् इति उक्त्वा प्रकटं ततोऽपि इति आह **हारेण** इति. हारः सर्वरत्नानाम्. अतएव **अनन्तधनेन.** वत्सरूपः चिह्नरूपो यो अयं **श्रीवत्सो** दक्षिणावर्त्तरोमरेखा, तद् युक्तं यद् वक्षः, तदेव **स्थलं** सर्वसौन्दर्याणाम् आश्रयभूतं, सर्वेषां भूतानां वा, आश्रयभूतं वा[2]. तत्र **वल्लभेन** तेन च स्वलङ्कृतम्. नवभिः गुणैः एकदेशस्थितैः हाराणां वा समूहेन, मुक्तजीववृन्देन भृग्वादिसमूहेन. **अनन्त**एव धनं यस्य. अधिकारानन्तरमेव तेषां स्वरूपप्राप्तिः. **अनन्तः** कालः. श्रीवत्सस्य चिह्नत्वं लक्षणतया ज्ञापकं, तेन ब्रह्मता निरूपिता. श्रीवत्सस्य यद्यपि चिह्नत्वं स्वभावएव तथापि प्रियत्वाय तथोक्तिः. नाम्नितु श्रियः प्रियत्वं प्रतीयते. ततोऽपि हारस्य प्रियत्वं ख्यापयितुम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कदम्बेत्यत्र. **ततोऽपि** इति सौन्दर्ययुक्तम् इति शेषः **नवभिः गुणैः** इति. हारीयैः नवभिः सूत्रैः. **तथोक्तिः** इति. सत्सत्त्वोक्तिः. **उभयविधैः** इति. वैदिकैः भक्तिमार्गीयैः च इति अर्थः।।२८।।

---

१. तथेति क. ख. घ. ङ. च. २. वेति नास्ति ग.

वल्लभेति. एवम् उभयविधैरपि तत्त्वैः भगवत्सौन्दर्यं निरूपितम् ।।२८ ।।

पुनः भगवन्तं सर्वपुरुषार्थोपयोगित्वेन सर्वाश्रयणीयत्वेन च निरूपयति. तत्र भगवन्तं कल्पवृक्षत्वेन वर्णयति

परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेक–पर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रम् अहीन्द्रभोगैर् अधिवीतवल्शम् ।।२९ ।।

परार्ध्येति. **परार्ध्याः** अमूल्याः **केयूरे** ये मणिप्रवेकाः, तैः पर्यस्ताः ये दोर्दण्डाः, तैः कृत्वा **सहस्रं शाखा** यस्य. पूर्वं तेदव रूपं शयानम् उपलभ्य, पुनः परिदृश्यमाने ताम् अवस्थां परित्यज्य, रूपान्तरेण प्रदर्शितवान्. ‘‘**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति एकः तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्**’’(श्वेता.उप.३।९) इति श्रुतेः तादृशं रूपं ब्रह्मत्वज्ञापनाय प्रदर्शितम् इति तद् अनुवर्ण्यते. वृक्षत्वेऽपि अलौकिको अयं वृक्षः. **केयूरं** कङ्कणोपरि हस्ताभरणं, तेन अलङ्कृताः [1]हस्ताः. तत्रत्यानां मणीनां प्राधान्येन कीर्त्तनं, तत्तेजः सर्वमेव हस्तं व्याप्नोति इति. [2]शतबल्शाः सर्वे वृक्षाः इति तद् व्यावृत्त्यर्थं **सहस्रशाखाम्** इति उक्तम्. अनेन प्रमाणात्मकता च निरूपिता. उत्थितो अयं भगवान्, नतु शयानः, वृक्षतुल्यत्वात्. **पर्यस्ता** इति नानाविधकार्यकर्तृत्वम्. अतो अस्य सृष्टौ उपयोगः. बाहूनां दण्डत्वं मर्यादा–रूपत्वाद् नियामकख्यापनार्थम्. अत्र आभरणानि कर्माणि, तेषां **प्रवेको** नित्योत्कृष्टत्वम् अमूल्यता च; स्वतएव ध्यानप्राप्तत्वाद्, अन्यथा दानप्राप्त्यपेक्षया क्रयप्राप्तम् उत्तममेव. एवं तस्य बाहूनां शाखात्वेन वृक्षत्वं निरूप्य मूलतो वृक्षत्वं निरूपयति **अव्यक्तमूलम्** इति. इतोऽपि अग्रे अन्वेषणं न कर्त्तव्यं, यतः तस्य मूलम् अव्यक्तम्, अनाविर्भूतएव आविर्भूतः इति. प्रकृतिं केचिद् आहुः. तदापि अव्यक्तस्य मूलम् इति व्याख्येयम्. अतः परं न इति अर्थः. **भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रम्** इति. अङ्घ्रिपाणाम् इन्द्रो वृक्षश्रेष्ठः. भुवनान्येव अङ्घ्रिपेन्द्रः, अतएव प्रत्यब्दं कल्पाः भिन्नाः भवन्ति. इयम् उत्तरकाण्डे मर्यादा. **अव्यक्तमूलम्**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परार्घ्येत्यत्र. **रूपान्तरेण** इति. उत्थितेन उपविष्टेन वा रूपेण. **अतएव** इति. अस्मादेव पुरुषात्. **तृतीयम्** इति. अहीन्द्रेत्यादिविशेषणोक्तम्. अत्र शाखादिप्रमाण-

१. एवेत्याधिकम् क. घ.मां१-२-३.

२. सर्वेषु लिखितपुस्तकेषु तु ‘शतबलिशाः’ इत्येव पाठ उपलभ्यते. एवमग्रेऽपि.

इति प्रमाणं, द्वितीयं प्रमेयं, तृतीयं फलम् इति कल्पवृक्षत्वं, जगत्कर्तृत्वं, दुर्ज्ञेयत्वञ्च निरूपितम्. **अहीन्द्रभोगैः** शेषफणैः **अधिवीतो** वल्शो यस्य. चन्दनवृक्षे सर्पाः तिष्ठन्ति तथा अत्रापि शाखास्कन्धेष्वेव, नतु ब्रह्मणि ।।२९ ।।

एवम् उत्थितं भगवन्तं निरूप्य उपविष्टं निरूपयति

चराचरौको भगवन्महीध्रम् अहीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।

किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गम् आविर्भवत् कौस्तुभरत्नगर्भम् ।।३० ।।

चराचरौकः इति. उपविष्टेषु पर्वतः स्थिरः. सच स्थावरजङ्गमानाम् आश्रयो भवति. भगवानेव **महीध्रः**. भूमिधारणसाम्याच्च अहीन्द्रस्य बन्धुः, अहीन्द्रएव वा बन्धुः बन्धनरूपो यस्य मन्दरस्य. **सलिलेन** सामुद्रेण उपगूढो भवति मैनाकादिः. एवम् उपविष्टे भगवति चतूरूपता निरूपिता. सर्वाश्रयो जीवनहेतुः; सर्वोद्धारकः संसाराद्; अलौकिकभक्तिरसपाययिता; भीतानां शरणभूतश्च, सुसेव्यो वा. किञ्च, उपरिभागे शिखरोपरिस्थितसुवर्णैः किरीटयुक्तइव. किरीटानां साहस्ररूपाणि हिरण्यशृङ्गाणि यस्य. **आविर्भवत् कौस्तुभरत्नं गर्भे** यस्य. मध्योपरिभागौ वर्णितौ. महाराजत्वाय रत्ननिधित्वाय च ऐश्वर्यं लक्ष्मीश्च वर्णिता ।।३० ।

एवं बहिः स्थाने शयानम् उत्थितम् उपविष्टम् उक्त्वा, मार्गत्रयरूपाणि च निरूप्य, अन्तःस्थितं रूपं निरूपयन् मूलरूपं निरूपयति

निवीतम् आम्नायमधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालयाहरिम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भूतशेषसम्बन्धात् फलत्वं बोध्यम्. **दुर्ज्ञेयत्वम्** इति. प्रतिकल्पं नानाविधब्रह्माण्ड-वृक्षकरणात् तेन रूपेणाऽपि दुर्ज्ञेयत्वम् इति अर्थः।।२९।।

चराचरेत्यत्र. **जीवनहेतुः** इति. अन्नादिदानेन जीवयिता. **सर्वोद्धारकः** इति. वाराहावतारवदपि सर्वोद्धारयिता, सर्वेषां वा तथा. भीतानां शरणभूतः समुद्रो भवति, नतु तदुपगूढः इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः **सुसेव्यो वा** इति. **किरीटसाहस्रे**त्यनेन. ''**सहस्रशीर्षा पुरुषः**''(शुक्लयजुर्वेद.३१।१) इति श्रुत्युक्तं रूपं बोधितम्. **ऐश्वर्ये**त्यादिकथनेन पूर्वविशेषणेषु यथायथं यशो-वीर्य-वैराग्य-ज्ञानानि **सर्वाश्रयः** इत्यादिना व्याख्यातानि ज्ञेयानि।।३०।।

निवीतम् इत्यत्र. **निरूप्य** इति. ''**पुंसां किलैकान्त...**'' (भाग.पुरा.६।

सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः परिक्रमत् प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥३१॥

निवीतम् इति. तथा-तथा दर्शनात् तथा-तथा निरूपणम्. **आम्नाय-मधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालया निवीतम्.** मूलभूतं भगवतः पुरुषरूपं निवीतम् इति मनुष्यधर्मत्वाद् **निवीतं** कण्ठलम्बितम्. **आम्नाय** आवर्त्त्यमानो वेदः. तएव मधुव्रताः तेषां श्रीः यत्र. ते नीलाः तामसाइव; स्वकीर्तिः शुक्ला सात्त्विकी वा; ''**आपादलम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता, तुलसीपुष्परचिता नवरत्नैर् विराजिता**'' ( ) रूपेण राजसीव. माया एषा प्रवाहहेतुः. कीर्तिमयी इति भक्तिहेतुः मर्यादाहेतुश्च आद्या, मर्यादा-पुष्ट्योः धर्मत्वं प्रवाहाश्रयत्वात्. मूलम् एतादृशम् इति ज्ञाते तदन्तरङ्गैः भजनं सेत्स्यति इति. न एते तस्य सहजाः धर्माः, किन्तु प्रमाणबलकल्पिताएव. सहजन्तु सर्वेषां दुःखहर्तृत्वम्. तद् आह **हरिम्** इति. सङ्घाते स्थितस्य तत्र आगमनार्थं हेतुरूपम् आह **सूर्येन्दुवा-य्वग्न्यगमम्** इति. एते सूर्यादयः कर्णिकायाम् आवरणभूताः. एतैः विद्यमाने भगवत्प्राप्तिः न भवति इति दिनरात्रिव्यवस्थया कालातिक्रमार्थम्. अवस्थात्रयेण योगेन कर्मणा वा भगवान् न प्राप्यते इति. तथा तत्त्वैरपि साङ्ख्येन. तद् आह **परिक्रमत् प्राधानिकैः दुरासदम्** इति. परितः क्रमन्ति इति तेषामपि आवरणत्वं निरूपितम्. प्रधने उपयुक्तानि प्राधानिकानि चक्रादीनि, तैः दुरासदम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

११।२२) इति श्लोकद्वये निरूप्य. अत्र नानाप्रकारेण यन्निरूपणं तत्तात्पर्यम् आहुः **तथा तथा** इत्यादि. तथाच, पूर्वं जगदुपादानत्वादिना, इदानीं च मूलरूपत्वेन दर्शनात् तथा निरूपणम् इति अर्थः. **पुरुषरूपम्** इति. मनुष्याकारम्. तत्र गमकम् आहुः **निवीतम्** इत्यादि. **एषा** इति. मालारूपता. **मूलम् एतादृशम्** इत्यादि. वनमाला-स्वरूपं त्रिविधप्रवाहजनकम् इति **ज्ञाते, तदन्तः** प्रवाहान्तः, **अङ्गैः** मर्यादापुष्टिधर्मैः भजनं सेत्स्यति इति हेतोः तादृश्यत्र उक्ता इति अर्थः. **एते** इति. निवीतत्वान्ताः. **सङ्घाते स्थितस्य तत्र आगमनार्थम्** इति. सङ्घाते स्थितस्य जीवस्य भगवत्प्रवेशार्थम्. **कालातिक्रमार्थम्** इति. कालक्षेपार्थम्, **आवरणभूताः** इति सम्बन्धः. अत्र सूर्ये दिन-रात्रिपक्षान्तरम् आहुः(?). चतुर्णां कथनस्य प्रयोजनम् आहुः **अवस्थे**त्यादि. प्राधानिकपक्षे आकारलोपस्य छान्दसतायाः आश्रयणीयत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **प्रधने** इत्यादि.

कालातिक्रमो ज्ञानेन, अवस्थातिक्रमश्च; योगेन वाय्वतिक्रमः; कर्मणा च अग्न्यतिक्रमः. पृथिवीजलातिक्रमस्तु उक्तएव ज्ञानभक्तिभ्याम्. तत्त्वातिक्रमस्तु साङ्ख्येन. एवं पञ्चपर्वया विद्यया सर्वातिक्रमः. एतैरेव अप्राप्तिः इति एके. तदा पञ्चाऽपि एतानि त्यक्तव्यानि, स्वरूपे गत्वा भगवान् पश्चात् प्राप्तव्यः ।।३१ ।।

एवं भगवति ज्ञाते अन्यत् सर्वं स्वतएव ज्ञातम् इति आह

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोजम् आत्मानम् अम्भः श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता नाऽतः परं लोकविसर्गदृष्टिः ।।३२ ।।

तर्ह्येव इति. तस्मिन्नेव क्षणे, तस्य नाभौ सरोवररूपे, उद्गतं सरोजं पद्मं, तत्र स्थितम् आत्मानं, बहिःस्थितम् अम्भः श्वसनं च, **वियद्** आकाशञ्च. पृथिवी पद्ममेव, तेजो भगवानेव स्वस्मिन् विद्यमानः. तदा [१]पञ्चभूतानि दृष्टानि तान्यपि स्वदेहएव. एवं देहे सर्वं दृष्ट्वा **जगतो विधाता** जातः, अतः परं ब्रह्मभूतो न जातः इति अर्थः. उभयोरपि एतद्रूपं हेतुभूतं, यतो अयं लोकविसर्गे दृष्टिः यस्य तादृशः ।।३२ ।।

ततः किं कृतवान् इति आह

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः प्रजाः सिसृक्षन् इयदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्यम् अव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ।।३३ ।।

सः कर्मबीजम् इति. **कर्मबीजम् इयदेव दृष्ट्वा अस्तौद्** इति सम्बन्धः. कर्मणि कार्ये जगत्करणे एतदेव बीजं; भगवान् पञ्चमहाभूतानि च, षण्णां वापे जगद् भवति. ननु चेतननिर्माणेच्छया प्रवृत्तः इति न बीजमात्रेण कार्यं, किन्तु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उक्तएव ज्ञानभक्तिभ्याम् इति. ज्ञान-भक्त्योः कथनमुखेनैव उक्तः इति अर्थः. **एके** इति. इदं टीकाकारान्तरमतं, न श्रीधरस्य।।३१।।

तर्हि इत्यत्र. **उभयोः** इति. सर्वदर्शनब्रह्मभावाभावयोः. मैत्रेयोक्तौ अस्मिन् अध्याये ‘‘**पुरुषस्य च संस्थानम्**’’(भाग.पुरा.३।७।३८) इत्यस्य उत्तरं दत्तं ज्ञेयम्. अग्रिमाध्यायेतु ‘‘**स्वरूपं वा परस्य च**’’(भाग.पुरा.३।७।३८) इत्यादिपादोनश्लोकेन यत् पृष्टं तस्य उत्तरं ज्ञेयम्।।३२।।

।। इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे अष्टमाध्यायविवरणं समाप्तम्।।

---

१. महाभूतानि क.

रजोऽपि अपेक्ष्यते इति आशङ्क्य आह **रजसा उपरक्तः** इति. रजोगुणेन उप समीपे रक्तः. स्वयमपि रजोगुणभूतो जातः इति अर्थः. **इयदेव दृष्ट्वा** इति. क्रियाज्ञानं तस्य न जातम्. नहि रजोबीजाभ्यामेव किञ्चिद् भवति. वपनं कर्षणं पूर्वाङ्गम् अव्यक्ततया विकृतं वद्र्धनं जीवदानञ्च यावद् न ज्ञायते तावत् कार्यं न सेत्स्यति इति चत्वारो अर्थाः प्रार्थनीयाः. तद्दाने च स्तोत्रं हेतुभूतम् इति **अस्तौत्.** मोक्षार्थतां व्यावर्तयति. **विसर्गाभिमुखः** इति. भगवता सः विसर्गसम्मुखः कृतः, विसर्गमेव करिष्यामि इति अध्यवसाययुक्तः. अतएव **तम्,** येनैव अयम् एवं कृतः इति. तर्हि स्तोत्रं किमर्थम्? इति आशङ्क्य आह **ईड्यम्** इति. सः सर्वैः स्तुत्यः, स्तोत्रानन्तरं प्रसन्नो जातएव प्रार्थनीयः. ननु अन्यत् स्वयं जानातु, वेदाश्च साधनोपदेष्टारः सन्ति, किं भगवता? इति आशङ्क्य आह **अव्यक्तवर्त्मनि अभिवेशितात्मा** इति. अव्यक्तमार्गएव अभिनिवेशितान्तःकरणः. नहि कुम्भकारवत् स्पष्टतया जगत् कर्तुम् इच्छति, किन्तु योनौ बीजं स्थापयित्वा तत्र सर्वं कर्तुं वाञ्छति. नहि एतद् भगवत्कृपाव्यतिरेकेण सम्भवति. चित्तं च तत्रैव प्रविष्टं, न प्रकारान्तरेण कर्तुं वाञ्छति इति अर्थः ।।३३ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे अष्टमाध्यायविवरणम्।

नवमाध्यायविवरणम्

जीवसर्गे भूतसृष्टौ ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ।
पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वरूपस्य च बोधतः ।।१ ।।
अतोऽत्र नवमेऽध्याये स्तुतिसम्प्रार्थने पुरा ।
ततः सर्वोपदेशश्च भगवत्कृत ईर्यते ।।२ ।।
ज्ञानमार्गस्य निर्द्धारः स्तोत्रेऽस्मिन् क्रियते स्फुटः ।
विषयः साधनं रूपं बाधाभावस्तथैव च ।।
प्रकीर्णकं च स्तोत्रेऽस्मिन् ज्ञानार्थं विनिरूप्यते ।।३ ।।

पूर्वाध्यायान्ते 'ददर्श' इति यद् उक्तं, तद् भगवत्स्वरूपं सृष्टौ कुत्र उपयुज्यते इति निरूपणीयम्. यदि इदं ब्रह्म भवेत्, तदा मूलकारणत्वेन उपयुज्यते. कर्ता च न भवति, स्वस्य तत्र विनियोगात्. अतः प्रथमम् अयमेव भगवान् ब्रह्म इति. ब्रह्मज्ञानस्य जगत्कारणत्वाद् ज्ञाननिरूपणार्थं, स्वस्य जातएव साक्षात्कारो ज्ञानम् इति निरूपयति

ब्रह्मा उवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ नवमाध्यायं विवरिषवः पूर्वप्रकरणसमाप्तिं, द्वितीयस्य आरम्भं, तयोः पूर्वापरभावबीजं, सङ्गतिं च स्फुटीकुर्वन्तो अध्यायार्थम् आहुः **जीवसर्गे** इत्यादि. **जीवसर्गे.** जीवार्थे सर्गे इदानीं **भूतसृष्टौ** वक्तव्यायां **पञ्चविंशतितत्त्वानां** भगवत्स्वरूपस्य च बोधकं यद् ब्रह्मज्ञानं, तद् भूतजन्यत्वेन उच्यते. तथाच, समष्टिज्ञानाभावे व्यष्टिज्ञानं दुर्घटम्, अतः पूर्वम् उपजीव्यत्वात् पुरुषप्रकरणं, ततः उपजीवकत्वाद् जीवप्रकरणम् उपजीव्योपजीवकभावः च सङ्गतिः इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **अतः** इत्यादि. एवं शास्त्रसङ्गतिम् उक्त्वा विदुर-मैत्रेयसंवादसङ्गतिम् आहुः **ज्ञानमार्गे**ति सार्द्धेन. **विषयः**, ज्ञानस्य सप्तभिः, **साधनं** तस्य षड्भिः, **रूपं** भगवदीयम् अष्टाभिः, **बाधाभावः** चतुर्भिः; **प्रकीर्णकं** तदुपयोगि, तदपि तेष्वेव चतुर्षु; एवं शेष-शेषिभावः सङ्गतिः इति अर्थः.

ज्ञातो असि इत्यत्र. **स्वस्य** इति. चतुर्मुखस्य. **जगत्कारणत्वाद्** इति. उपादानगोचरापरोक्षज्ञानत्वेन रूपेण तथात्वात्. गत्यज्ञानस्य महादोषत्वे श्रुतिं

नाऽन्यत् त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ।।१ ।।

ज्ञातो असि इति. हे **भगवन्! अद्यैव मे** मया **त्वं** ज्ञातः परं **सुचिरात्.** महताऽपि कालेन ज्ञातएव जन्मसाफल्यं न अन्यथेति अज्ञानं निन्दति **ननु** इति. अत्र उभयत्र भगवानेव सम्मतिहेतुः. **ननु** इति कोमलसम्बोधनम्. देहभाजां भगवतो गतिः न ज्ञायते इति **महद् अवद्यं** महान् दोषः, **''न एतम् ऋषिं विदित्वा नगरं प्रविशेद्''** ( ) इति श्रुतिनिषेधात्. भगवांस्तु केनचित् प्रकारेण ज्ञायतएव, गतिः परं न ज्ञायते; सः केन प्रकारेण, कदा, कुत्र, कथं, केन गच्छति इति. एतस्यां ज्ञातायां ज्ञातव्यं न अवशिष्यते. ननु गतिमात्रज्ञाने कथं कृतार्थता? विवक्षित–स्वरूपाज्ञानाद् इति आशङ्क्य आह **न अन्यत् त्वद् अस्ति** इति. त्वत्तो अन्यद् न अस्त्येव यद् ज्ञातव्यं स्यात्. त्वमेव परं तथा भवसि. अतः तव गतिः ज्ञातव्या. **भगवन्** इति सम्बोधनम्. तव षड् धर्मेषु [क]त्वयिच सर्वं प्रतिष्ठितम् इति ज्ञापितम्. ननु मध्ये मायया बुद्धिभ्रामिकया अन्यत् क्रियत इति निरूपितं, तत् कथम् उच्यते?[१] **न अन्यद्** इति. तत्र आह **अपि तद् न शुद्धम्** इति. मुख्यज्ञाने ब्रह्मवादे तद् न अस्त्येव, तथापि दैवब्रह्मवादे तद् भवेत्. तत्र भगवच्छक्तेः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रमाणयन्ति **न एतम्** इत्यादि. इयं श्रुतिर्हि तैत्तिरीयाणाम् आरण्यके **''चयने पवित्रमन्तः परिवाजमासत''**(तैत्ति.आ.) इति अनुवाके अस्ति. तत्रच **''अन्धो मणिमविन्दद्''**( ) इत्यादिषु महता प्रपञ्चेन भगवतो गतिमेव प्रतिपाद्य, ततो अनेन नगरप्रवेशो निषिध्यते. श्रुत्यर्थस्तु **एतम् ऋषिं** पूर्वोक्तविवेक-प्रतिपादकमन्त्रसङ्घप्रतिपाद्यं परमार्थतत्त्वं **विदित्वा** अवगत्य **नगरं** शरीरं **न प्रविशेद्,** देहात्मभ्रमं न कुर्याद् इति. इदञ्च ब्राह्मणभूतं वाक्यम् इति सायणीय उक्तम्. तथाच, गतिवेदनेन कैवल्यस्य सम्भवात् तद् अज्ञानेनैव तदभावः इति सएव महान् दोषः इति अर्थः. 'गति'शब्दो अत्र क्रियाप्रकारवाची. **ज्ञापितम्** इति. अनेन सम्बोधनेन ज्ञापितम्. **तद्** इति. मायया अन्यकरणं, विषयतारूपजगत्करणम् इति यावत्. **दैवब्रह्मवादे** इति. **''देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्''**(श्वेताश्वतरोप.१।३) इत्यादिश्वेताश्वतर मन्त्रोक्ते नृसिंहोत्तरतापनीयाद्युक्ते च वादे.

क. मुद्रितपाठस्तु 'त्वमिव' इति. १.भवति क. ग.

माहात्म्यनिरूपणार्थं "**न तं विदाथ**"(ऋग्वेद १०।८२।७) इत्यादिमन्त्रेषु सूचितं तद् न मुख्यब्रह्मवादो भवति. नच "**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**"(बृहदा.उप.२।५।१९) इति माध्यन्दिने सवने माहेन्द्रग्रहे महेन्द्रस्तोत्रपरत्वाद् इन्द्रस्यैव मायाः ताः शक्तयः, अन्यथा बहुवचनं न उपपद्येत. उपनिषत्सु च तत्कीर्तनं सर्वसामर्थ्यं भगवतएव इति ज्ञापानार्थम्. इन्द्रेणाऽपि यत् क्रियते तद् भगवत्कृतमेव इति. देवताब्रह्मवादसङ्ग्रहार्थम् इति एके. तस्माद् वेदे न अस्त्येव मायया सृष्टिः. स्वप्नातिरिक्त इति केचित्. तथापि भागवतसिद्धान्तेऽपि यदि अन्तरा माया कल्पयति, तद् न शुद्धं, भ्रमस्य दोषस्य जनकत्वात्. ननु एकस्य कथम् अनेकता? नहि कारणे एकत्वविरोधाद् अनेकसङ्ख्या सम्भवति. तत्र आह **मायागुण–व्यतिकराद्** इति. **मायागुणानां** सत्त्वरजस्तमोगुणानां **व्यतिकराद्** अन्योन्य–सम्बन्धात् ते परिच्छिन्नाः सन्तो, गृहाइव आतपे नानात्वं सम्पादयन्ति तदा त्वम् **उरुः विभासि**. अतः त्वयि ज्ञाते न किञ्चिद् ज्ञातव्यम्।।१।।

ननु ब्रह्मणि ज्ञाते न किञ्चिद् ज्ञातव्यम् इति युक्तं, नतु मयि ज्ञाते इति आशङ्क्य "त्वमेव ब्रह्म" इति प्रमाण–तर्काभ्याम् उपपादयति श्लोकत्रयेण. तत्र प्रमाणं द्वयेन, प्रकृतसमर्थनार्थम् अतिरिक्तनिराकरणार्थञ्च. तत्र प्रकृतं समर्थयते

रूपं यदेतद् अवबोधरसोदयेन शश्वन् निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतम् अवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आविरासम्।।२।।

रूपं यद् एतद्इति. यद् एतत् त्वया रूपं गृहीतं तद् ब्रह्मैव, यतो **अवबोधरसोदयेन** तद् जातम्. केवलानुभवेन, तत्रापि [क]परमरूपेण निर्विषयेण,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सूचितम् इति. अन्यकरणं सूचितम्. श्रुत्यन्तरस्य तन्निरूपकत्वम् आशङ्क्य तस्य अर्थम् आहुः **नच** इत्यादि. **उपनिषत्सु** इति. बृहदारण्यके मधुब्राह्मणे अन्य(?)त्यत्र. निबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणीयावरणभङ्गे एतन्मन्त्रार्थो मधुब्राह्मणार्थ-विचारपूर्वकं सम्यग् उपपादि(त इ)ति न अत्र उच्यते. **एके** इति. उपनिषद्-व्याख्यातारः, एवं **केचिद्** इत्यनेनाऽपि तएव बोध्याः. **न अस्ति** इति. तात्पर्यगोचरा न अस्ति. **तद्** इति. तन्मतम्. **अतः** इति. तवैव सर्वरूपत्वात्।।१।।

रूपम् इत्यत्र. **प्रमाणम्** इति. अनुमानरूपं प्रत्यक्षरूपञ्च. **सच्चिदानन्द-**

क. 'रससरूपेण' इति मां१-२-३.

तत्रापि तस्य उदयेन. सच्चिदानन्दरूपताऽपि उक्ता भवति. ननु अज्ञानमपि स्थास्यति देहग्रहणहेतुभूतम्. तत्र आह **शश्वद् निवृत्ततमसः** इति. **शश्वत्** सर्वदा निवृत्तं तमो यस्य, तस्य तव एतद् रूपम्. **अवबोधरसोदयेन निवृत्ततमसः** इति ज्ञानाज्ञानाभावयोः कार्य–कारणभावम् आहुः. तन्निवृत्त्यर्थं **शश्वद्** इति उक्तम्. (नहि) नित्यनिवृत्तानर्थस्य हेतुः अपेक्ष्यते. साधननित्यत्वेनैव तथात्वम् इति चेद्, न, कादाचित्कत्वेनैव साध्यसाधनभावस्य व्याप्तत्वात्. ननु एवं ग्रहणे किं निमित्तम्? तत्र आह **सदनुग्रहाय** इति. अनेनाऽपि ब्रह्मातिरिक्तता निषिद्धा. नहि सताम् अब्रह्मणा किञ्चित् कार्यं सिध्यति. किञ्च, आदौ गृहीतम् एतद् रूपम्. आदौ शुद्धं ब्रह्मैव अस्ति, न ततो अतिरिक्तं कारणं किञ्चिद्, ब्रह्मैव तथाप्रादुर्भूतम् इति अर्थः. किञ्च, **अवतारशतैकबीजम्** इति. अवताराणां शतस्य एतदेव एकं बीजम्. अस्यैव अंशाः अन्ये अवताराः इति. अवताराश्च ब्रह्मरूपाः इति अग्रे वक्ष्यते. उक्ताः च. अस्य कारणं ब्रह्म, कार्यं च मध्ये इदमेव कथं न ब्रह्म भवेत्? किञ्च, ''जगत्कारणं ब्रह्म'' इति ब्रह्मलक्षणं, तद् अत्रैव दृश्यते इति आह **यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आविरासम्** इति. 'भवन'शब्देन पद्मस्य विशालता निरूपिता. **अहम्** इति सगुणकर्ता. **आविरासम्** इति ममापि अलौकिकं जन्म. अतः सर्वप्रकारेण इदं ब्रह्मैव ।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रूपता इति. अस्मिन् पक्षे 'उदय'पदेन सद्रूपता बोध्या. श्रीधरमत आहुः **अवबोधे**त्यादि. **आहुः** इति. केचिद् आहुः. तस्य व्याख्येयविरुद्धत्वं बोधयन्ति **तद्** इत्यादि. तथाच, 'शश्वत्'पदविरुद्धं तद् व्याख्यानम् इति अर्थः. 'नहि' इति पाठाभावे अपेक्ष्यते इत्यत्र काकुः बोध्या. **कादाचित्के**त्यादि. ''यत् साध्यं तत् कादाचित्कं, घटादि, यद् न एवं तद् न एवं, यथा तत्तन्मतप्रतिपन्नं नित्यवस्तु'' इति व्याप्तिः बोध्या. **अनेन** इति. सदनुग्रहजनकत्वेन. एवञ्च अस्मिन् श्लोके ब्रह्मत्वसाधकाः षड् हेतवो बोध्याः. **प्रयोगस्तु** ''एतद् ब्रह्मणा दृष्टं रूपं ब्रह्मैव, अभिव्यक्तसच्चिदानन्द-रूपत्वाद्, नित्यनिवृत्ताज्ञानकत्वात्, सदनुग्रहजनकत्वाद्, आदौ आविर्भूतत्वाद्, अविकृतकार्यकरणत्वाद्, जगज्जनकत्वाद् यद् न एवं तद् न एवम्'' इति. एवम् अत्र अनुमानरूपं प्रमाणं बोधितम्।।२।।

ब्रह्मान्तरपक्षं निराकरोति

नाऽतःपरं परम! यद् भवतः स्वरूपम् आनन्दमात्रम् अविकल्पम् अविद्धवर्चः।
पश्यामि विश्वसृजम् एकम् अविश्वम् आत्मन्
भूतेन्द्रियात्मकम् अदस्त उपाश्रितोऽस्मि॥३॥

न अतः परम् इति. **अतः परम्** अस्माद् रूपात् **परं** भिन्नम् एतद्रूप-नियामकं वा **भवतः स्वरूपं न**. "**आनन्दशरीरं ब्रह्म**"( ) इति श्रुतेः ब्रह्मणः आनन्दरूपम्. तदेव एतद्; नतु इतो अन्यद् आनन्द-मात्रादिगुणकं रूपम् अस्ति. आनन्दः तत्र उपादानम् अन्यत् च सहकारि भविष्यति इति आशङ्क्य निवारयति. तर्हि तदेव विकृतं भविष्यति? तत्र आह **अविकल्पम्**. तर्हि तिरोहिततेजो भविष्यति! तत्र आह **अविद्धवर्चः** इति. न विद्धं वर्चः केनापि यस्य. अतिरिक्ताभावे प्रमाणम् आह **पश्यामि** इति. ब्रह्मणो अनुभवः प्रमाणम्. अस्य ब्रह्मत्वेतु सर्वएव ब्रह्मधर्माः सन्ति. तान् आह **विश्वसृजम् एकम् अविश्वम्** इति. विश्वकर्तृ ब्रह्म, "**यतो वा इमानि**" (तैत्ति.उप. ३।१) इति श्रुतेः. **एकं** ब्रह्म, "**एकमेवाद्वितीयम्**"(छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतेः. **अविश्वं** ब्रह्म, विश्वस्माद् व्यतिरिक्तं, "**यो अस्मात् परस्माच्च परः**"( ) इति श्रुतेः. एवं ब्रह्मधर्माणां बहूनां विद्यमानत्वाद् ब्रह्मैव इदम्. **आत्मन्** इति सम्बोधनम्. ब्रह्मादिभिः आत्मत्वेन उपास्य इति केचित्. "**अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**" (बृहदा.उप. २।५।१९) इति श्रुतेः अनात्मत्वे ब्रह्मत्वं न स्याद् इति. ननु अत्र चक्षुःश्रोत्रादीनां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न अतः इत्यत्र. ननु नञैव इतरनिषेधसम्भवाद् 'मात्र'पदस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **आनन्दः तत्र** इत्यादि. **निवारयति** इति. 'मात्र'पदेन निवारयति. **विद्धम्** इति. आवृतम्. 'आत्म'पदव्याख्याने मतान्तरम् उक्त्वा श्रुत्या 'आत्म'शब्दार्थं वदन्तः तद् दूषयन्ति **अयम्** इत्यादि. तथाच, मतान्तरीयव्याख्याने पूर्वश्लोकसाधितं तस्य रूपस्य ब्रह्मत्वं विरुद्ध्येत इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे यद्यपि प्रत्यक्षमेव प्रमाणत्वेन उक्तं, शब्दविरोधेन अत्र अनुमानमपि सिध्यति. तेन आनन्दमात्रत्वाद्, अविकृतत्वाद्, [1]अनावृततेजस्त्वाद्, भूतेन्द्रियरहितत्वाद्,

---

१.अनावृते तेजस्त्वात्. पा.

प्रतीयमानत्वाद् इन्द्रियवत्त्वेन कथं ब्रह्मत्वम्? अतः आह **भूतेन्द्रियात्मकम्** इति. भूतानाम् इन्द्रियाणाम् आत्मा अयं ''**चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्**''(बृहदा.उप. ४।४।१८) इत्यादिश्रुतेः. भूतेन्द्रियाणाम् आत्मत्वाद् भूतेन्द्रियत्वेन ज्ञायते, नतु तत्र भूतेन्द्रियाणि सन्ति इति अर्थः. ननु अप्रत्यक्षं ब्रह्म? तत्र आह **अदः** इति. इदं प्रतीयमानमपि त्वदिच्छया प्रतीतत्वाद् **अद**एव, परोक्षमेव इति अर्थः. **ते अदः उपाश्रितो अस्मि** इति सम्बन्धः. **पश्यामि** इति भिन्नं वाक्यम्. अतो **भवतः ते** इति न पौनरुक्त्यम्।।३।।

तर्कम् आह **तद्वा इदम्** इति.

तद् वा इदं भुवनमङ्गल! मङ्गलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं योऽनादृतो नरकभाग्भिर् असत्प्रसङ्गैः।।४।।

हे **भुवनमङ्गल!** त्रैलोक्यस्यैव मङ्गलरूप, **तदेव इदम्. वै** निश्चयेन. तत्र हेतुः **नो ध्याने मङ्गलाय दर्शितम्.** किम् अतः? **ते उपासकानाम्** इति. वयं ब्रह्मसाक्षात्कारार्थे ध्यानं कृतवन्तः, यतः ते उपासकाः. नहि परमब्रह्मोपासकाः परब्रह्मव्यतिरेकेण अन्यद् ध्यायन्ति, न वा तादृशानां कल्पनार्थे भगवान् अन्यत् प्रदर्शयति, नहि तादृशानाम् अन्येन पुरुषार्थो भवति, तस्मात् कारणाद् युक्त्याऽपि इदं ब्रह्मैव. एवं तस्य ब्रह्मत्वं विनिश्चित्य तद् नमस्करोति **तस्मै नमः** इति. तद्रूपं भगवानेव इति **भगवते** इति उक्तम्. नमनमात्रम् उदासीनेनाऽपि क्रियते इति स्वस्य मुख्यसेवकत्वख्यापनाय **तुभ्यम् अनुविधेम** इति आह. त्वत्प्राप्त्यर्थम् अनुविधानं कुर्मः इति अर्थः. **नमो अनुविधेम** इति पक्षे छान्दसत्वाद् उपपदविभक्तिरेव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''**अविज्ञातं विजानाति**''(केनोप.२।३) श्रुत्युक्तधर्मकत्वाद् इति पञ्चहेतवो व्यतिरेकव्याप्तिः च बोध्या।।३।।

तद्वा इत्यत्र. **अनुविधानं कुर्मः** इति. अनु त्वां लक्षीकृत्य नमो विदध्मः इति अर्थः. अत्र हि **नहि** इत्यादिना तर्कत्रयं व्याख्यातम्. तेषाम् एवं प्रयोगः ''इदं रूपं यदि परं ब्रह्म न स्यात्, तदुपासकाः अन्यदेव ध्यायेरन्, यदि अन्यद् ध्यायेरन्, अन्यदेव ध्यानगोचरः स्याद्, यतो न एवम् अतो न एवम्'' इति एकः. ''यदि परं ब्रह्म न स्याद्, अन्यदेव प्रदर्शयेद्; यदि कल्पनार्थम् अन्यत् प्रदर्शयेद् ''**यमेव**''(मुण्डकोप.३।२।३) इति श्रुतिः ''**विवृणुते तनुं स्वाम्**''(मुण्डकोप.३।२।३) इति न वेदयेद्, यतो न एवम्

बलीयसी ''नमस्कुर्मो नृसिंहाय'' इतिवत्. ननु एवं सति वादिनः कथम् अत्र सन्देहं कुर्वन्ति, कथं वा न भजन्ते? इत्यतः आह **यो अनादृतः** इति. येषां नरकपातो अवश्यम्भावी दैत्यानां, तैः अयं न आदृतः. ननु अनादरणमात्रेण कथं नरकपातः? निषिद्धाचरणाभावाद् इति अतः आह **असत्प्रसङ्गैः** इति. असद्भिः सह प्रकृष्टाः सङ्गाः तैः. नहि स्वभावतएव कश्चिद् भगवन्तं न मन्यते, आत्मत्वाद् आनन्दमूर्तित्वाच्च, किन्तु असतां सङ्गेन बुद्धिः अन्यथा जाता, अतः तत्संसर्गिदोषात् सोऽपि पञ्चमो महापातकी. सः चेद् भगवन्तं मन्येत, पूर्वपुण्यवशाद्, अन्यथा वा, तदा नरको न भवेत्. अतो नरकस्य अवश्यम्भावात् तादृशैः भगवान् न आदृतः ।।४।।

एवं प्रमाण-तर्काभ्याम् इदमेव ब्रह्मस्वरूपम् इति अवधृत्य एतत्साक्षात्कारएव ब्रह्मसाक्षात्कारः इति, ''**भक्त्या माम् अभिजानाति**''(भग. गीता.१८।५५) इति वाक्यात् तत्साक्षात्कारार्थं भक्तिम् आह. साधनमुखतयाऽपि ब्रह्मत्वं साधयति

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां नाऽपैषि नाथ! हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम्।।५।।

येतु इति. 'तु'शब्देन चरणोपासनारहितान् पुरुषार्थविमुखान् व्यावर्तयति. **ये त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं कर्णविवरैः जिघ्रन्ति तेषां हृदयात् त्वं न अपैषि** इति सम्बन्धः. तत्र हेतुः **भक्त्या गृहीतचरणः** इति. त्वदीयानां चरणेषु भगवतइव रेणवो न [१]सन्ति, किन्तु, स्वभक्तरक्षकत्वात् कोशत्वं, तद्धर्मो गन्धश्च वर्तते.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अतो न एवम्' इति अपरः. 'यदि परं ब्रह्म न स्यात्' तादृशोपासकानां पुरुषार्थरूपं न स्याद्, यदि तथा न स्याद्, न उपासीरन् यतो न एवम् अतो न एवम्, इति तृतीयो बोध्यः।।४।।

येतु इत्यत्र. **भक्तिम् आह** इति. मुख्यभक्तिव्यतिरिक्तानां ताम् आह इति अर्थः. अत्र चरणाब्जपरागादिकम् अनुक्त्वा यद् एवम् उक्तं तत्तात्पर्यम् आहुः **त्वदीयानाम्** इत्यादि. **न सन्ति** इति. सन्तोऽपि भगवदीयत्वसम्पादकशरीरभूताः न सन्ति. भगवच्चरणस्यैव अत्र विवक्षितत्वपक्षे परागाद्यनुक्तिबीजम् आहुः

---

१. 'इति'इत्यधिकम्. क. घ. च.

त्वदीयमेव वा चरणाम्बुजम्. भगवदीयत्वसम्पादक-शरीरहेतुभूतानि संस्कृतानि भूतानि चेत् ते प्राप्नुयुः तदा अस्मिन् जन्मनि त्वदीयाएव भवेयुः. अथ इदानीं तादृशशरीराभावेऽपि शरीरान्तरेऽपि श्रुत्यादिपर्यालोचनया माहात्म्ये ज्ञाते भक्तिः भवति. तत्र इन्द्रियाणां भगवदीयविषयग्रहणार्थम् अन्यथात्वं जायते. गन्धो हि चित्तक्षोभकः, अन्तःप्रवेशसमर्थत्वात्. शब्दस्तु न तथा. ततः श्रवणेऽपि गन्धानुभवत्वम् उच्यते, अन्तःप्रविश्य क्षोभार्थम्. भगवदीयानां पदार्थानां सर्वधर्मवत्त्वं, श्रुतीनाञ्च गन्धवाहकत्वम्, ईषत् स्पर्शात्. अत्र यशोवाची 'गन्ध'शब्दः, पुण्यस्य कर्मणो गन्धइव. भगवन्माहात्म्यश्रोतॄणां श्रवणं देवतारूपम् इति गन्धोऽपि अस्ति. एवं माहात्म्यप्रतिपादनार्थम् एवं कथा. **कर्णविवरैः** इति [क]तूष्णीम्भूतानां गुणानां प्रवेशः. घ्राणेनैव भक्तिः प्रेमलक्षणा. **च**कारात् साधनरूपा च. तदा ते स्वपुमांसो भवन्ति. तदा हृदयाद् भगवान् न अपगच्छति. तदा नियतः साक्षात्कारः प्रवेशश्च भवति इति अर्थः. इदं ब्रह्मणएव कार्यं न अन्यस्य इति कार्यद्वारापि ब्रह्मत्वं समर्थितम्।।५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवदीयत्वेत्यादि. तथाच अधिकाराभावाद् अप्राप्तिरेव तदनुक्तिबीजम् इति अर्थः. तादृशां भक्तिप्राप्तौ हेतुं व्युत्पादयन्ति **अथ** इत्यादि. **तत्र** इति. भक्तौ. **अन्यथात्वम्** इति. पूर्वविलक्षणसामर्थ्यवत्त्वम्. तद् विशदीकर्तुं 'जिघ्रन्ति' इति पदतात्पर्यम् आहुः **गन्धो हि** इत्यादि. **ततः** इति. अत्र अन्तःक्षोभकत्वात्. ननु शब्दस्य तादृक्कार्य-जनकत्वं न क्वापि दृष्टम् इति तद्ग्रहणे कथं तथात्वम् इत्यतः आहुः **अन्तः** इत्यादि. **पदार्थानाम्** इति. श्रवणादीनाम्. अत्र फक्किकाद्वयेऽपि **उच्यते** इति क्रियान्वयो बोध्यम्(?). **ईषत्स्पर्शाद्** इति. यत्किञ्चिद् माहात्म्यबोधकत्वात्. अत्र 'गन्ध'पदार्थः को वा इति अपेक्षायाम् आहुः **अत्र** इत्यादि. तथाच, श्रुतौ तथा अङ्गीकाराद् अत्र परोक्षतया तथा कथनं न दोषाय इति अर्थः. किम् अत्र पारोक्ष्यम् इति अपेक्षायाम् आहुः **भगवदि**त्यादि. ''**सर्वं सर्वमयम्**''(नृसिं.उ.ता.उप.९) इति श्रुतेः तथा इति प्राकट्यमात्रं विशेषः इति वस्तु, न लक्षणाऽपि इति अर्थः. अनया भङ्ग्या कथनस्य तात्पर्यम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **घ्राणेन** इति. 'जिघ्रन्ति' इति पदोक्तेन. प्रकृत एतन्निरूपणप्रयोजनम् आहुः **इदम्** इत्यादि. **इदम्** इति. भक्त्या ग्राह्यत्वम्।।५।।

क. 'मूर्तीभूतानाम्' इति मां१-२-३ पाठः.

धर्मान्तरेणापि समर्थयते **तावद् भयम्** इति.

तावद् भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन् ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ।।६ ।।

''**अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि**'' (बृहदा.उप.४।२।४) इति श्रुतेः ब्रह्म-प्राप्त्यनन्तरमेव अभयमिति भगवदीयत्वेन अभयत्वं निरूपयन्, ब्रह्मत्वं निरूपयति. **यावत् ते अभयम् अङ्घ्रिं लोको न वृणीत, तावद् भयम्** इति सम्बन्धः. न विद्यते भयं यस्माद् इति. उभयथाऽपि तस्माद् न भयम् आत्मत्वाद्, ''**द्वितीयाद् वै भयं भवति**'' (बृहदा.उप.१।४।२) इति श्रुतेः. अन्यदपि भयं निवर्त्तते, समर्थत्वात्. तत्सामर्थ्यम् अलौकिकम् इति भयविशेषाद् निर्दिशति. द्रविणनिमित्तं मुख्यं भयं, सर्वस्यैव तदाकाङ्क्षित्वात्. ततो देहनिमित्तं, 'देहो गमिष्यति' इति. ततः पुत्रादिनिमित्तम्. भार्यापुत्रौ देहत्वेन गृहीत्वा पश्चाद् अन्ये सुहृदो गृहीताः. विद्यमाने भयं, गते शोकः. देहैकदेशो वा देहत्वेन ग्राह्यः, अन्यथा शोको न स्यात्. पुत्रादिः वा. **गेह** इति पाठे स्पष्टमेव. पुनः प्राप्तव्यम् इति स्पृहा. ततो जनानुधावने तैरेव परिभवः. अथ दैवगत्या कथञ्चित् प्राप्तौ विपुलो लोभः. **तावद्** इति सर्वत्र सम्बन्धः. किञ्च, ''अहं-मम'' इति देहादौ **असदवग्रहो** मिथ्याग्रहः तावदेव. इदमपि एकं ब्रह्मत्वसाधकं, ब्रह्मात्मभावएव तन्निवृत्तेः. असदवग्रहस्य लौकिकप्रतीत्या सुखहेतुत्वम् आशङ्क्य तस्य दुःखहेतुम् आह **आर्तिमूलम्** इति. मूलम् इति नियतलिङ्गम्. ''**तद् विष्णोः परमं पदम्**''(कठोप.१।३।९) इति श्रुतेः 'भगवत्'पदमेव ब्रह्म. अतो न ब्रह्मज्ञानेन व्यभिचारः. **वृणीत** इति, यथा कन्या वरं वृणीते, स्वेष्टपूरकत्वेऽपि स्वयमेव तदीया भवति, नतु सः स्वकीयः. **लोकः** इति विशिष्टाधिकारी ।।६ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तावद् इत्यत्र. **इदमपि** इति. सर्वक्लेशनाशनमपि. ननु एवं सर्वक्लेशक्षयो ब्रह्मज्ञानादपि जायते इति व्यतिरेकव्यभिचाराद् 'यावत्तावत्'पदबोधितो हेतुहेतुमद्-भावः कथं सङ्गच्छते इत्यतः आहुः **तद्** इत्यादि. ''**सो अध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्**''(कठोप.१।३।९) इति काठकश्रुतौ यद् उक्तं, तदेव अक्षरं ब्रह्म अत्र 'अङ्घ्रि'पदेन भगवच्चरणत्वेन उच्यते इति **न व्यभिचारो** नामभेदाद् इति अर्थः. **विशिष्टाधिकारी** इति. एवं ज्ञात्वा शरणम् उपगतः, नतु यथाकथञ्चिद् इति अर्थः ।।६।।

ननु एवं सति [क]सर्वे कथं न भजन्ते? इति आशङ्क्य, पूर्वं [ख]रूपविशेषेण असत्प्रसङ्गैः इति परिहृत्याऽपि, पुनः सामान्यतः परिहरति

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात् सर्वाशुभोपशमनाद् विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्॥७॥

दैवेन इति. **ते दैवेन** प्राचीनकर्मणैव हता धीः येषां, **भवतः प्रसङ्गाद् ये विमुखेन्द्रियाः**. विषयस्य सर्वोत्तमत्वेऽपि प्रमातुः सर्वेष्टदातृत्वेऽपि आत्मत्वेऽपि ये न भजन्ते, तत्र इन्द्रियबुध्योरेव ग्राहक-प्रेरकयोः दोषो अवसीयते अग्रहणे. तत्र प्रेरिका बुद्धिः दैवेन हता. दैवं तस्याएव बुद्धेः आधिदैविकं भगवदिच्छारूपम् इति केचित्. प्रवाहनियामकस्य कर्मणएव तथात्वम् इति ब्रह्मवादे. अधिकृतः कालः स्वाधिकारे पतितं तं जीवं भगवत्प्रसङ्गेन अन्यथा मा भवतु इति तद् बुद्धिं नाशयति. कालएव इति अपरे. पक्षत्रयेऽपि तेषां स्वतो दोषाभावः. पूर्वन्तु तेषां दोषः उक्तः. इमं हेतुत्वेन निर्दिश्य अग्रे स्वदयाम् उपपाद्य, तेषु भगवत्कृपां प्रार्थयिष्यति अर्थात्. **प्रसङ्गो** वार्ता. प्रासङ्गिकीं कथां सर्वेऽपि बह्वीं शृणवन्ति. ततोऽपि विमुखाः अन्यकथायां भगवत्कथा प्रसङ्गात् चेत् समायाति, ततो गच्छन्ति; निद्राणा वा, अन्यचित्ता वा भवन्ति इति अर्थः. तेषां बुद्धेः दैवहतत्वोपपादनार्थं भगवत्प्रसङ्गस्य गुणान् आह **सर्वाशुभोपशमनाद्** इति. ते खलु अन्यप्रसङ्गाद् बह्वेव पापं कृतवन्तः, प्रसङ्गात् तत् सर्वं गच्छेत्; प्रारब्धकर्मणोऽपि अशुभं जायमानम् उपशाम्यति, अविद्या च आत्मनि विद्यमाना महाग्रावार्द्रकाष्टमिव आत्मन्येव शान्ता भवति. **इन्द्रिय**पदात् तेषां निर्दुष्टत्वम्. इन्द्रियाणामपि [ग]सम्मुखीभावो न स्वाभाविकः. तस्माद् एते प्रवाहपतिताः काम-लोभव्याप्ताः इति आह **कुर्वन्ति** इति. कामितस्य सुखस्य लेशस्य लवार्थं दीनाः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दैवेन इत्यत्र. **रूपविशेषेण** इति. असत्संसर्गित्वेन. **प्रमातुः** इति. प्रमात्रे, सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी. **भगवत्कथा प्रसङ्गाद्** इत्यत्र 'भगवत्कथा' इति भिन्नं पदम्. **प्रसङ्गाद्** इति. कथादिप्रसङ्गाद् इति. **न स्वाभाविकः** इति. किन्तु ''**पराञ्चि खानि**''(कठोप.२।१।१) इति श्रुतेः कृतकः॥७॥

क. ''सर्वे न कथम्'' इति मां१-२-३ पाठः. ख. 'विशेषे' इति मां१-२-३ पाठः.
ग. 'सम्मुखावाभो' इति मां१-२-३ पाठः.

सन्तो अकुशलानि कुर्वन्ति. पञ्चेन्द्रियाणाम् उपभोग्यं कामसुखं पूर्णं, तस्य लेशः एकेन्द्रियसुखं, तस्य लवो अत्यल्पो भागः[1] क्षणमात्रभोग्यः. यथा कामिनीप्रसादार्थं भूयानेव अनर्थः क्रियते. ननु सुखार्थं तथाकरणं युक्तम् इति आशङ्क्य आह **दीनाः** इति. दैन्यं भोक्तृविशेषणम्. अतो दैन्ये विद्यमाने भोगे स्वातन्त्र्याभावात्, तस्मिन्नपि क्षणे दुःखं सिद्धमिति न भोगः सिध्यति. ननु तथापि आभिमानिको भोगः सिद्ध्येत्. तत्र आह **लोभाभिभूतमनसः** इति. लोभेन मनसो अभिभवाद् वृथैव द्रव्यं व्ययितमिति पश्चात्तापाद् न आभिमानिकसिद्धिः. 'अकुशल'पदेन, न विद्यते कुशलं यस्माद् इति योगेन, विद्यमानमपि कुशलं गच्छति इति सूचितम् ।।७।।

तादृशेषु कृपां प्रार्थयितुं स्वस्य दयाम् आह

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिर् इमा मुहुर् अर्द्यमानाः शीतोष्णवातवर्षैर् इतरेतराच्च ।
कामाग्निनाऽच्युत! रुषा च सुदुर्भरेण सम्पश्यतो मन उरुक्रम! सीदते मे ।।८।।

क्षुत्तृड् इति. **इमाः** प्रजाः अस्वतन्त्राः मत्सृज्यत्वेन उपस्थिताः, तासां स्वरूपं सम्यक् पश्यतः, हे **उरुक्रम मे मनः सीदते.** परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितं भवति इति अर्थः. सम्बोधनेन तन्निवारणसामर्थ्यं सूचितम्. इयमेव प्रार्थना. द्वादशविधः पुरुषो द्वादशधा रोगैः व्याप्तः, न केनापि अंशेन सुखी भवति. तान् द्वादशदोषान् अनिवार्यान् आह 'क्षुधादि'पदैः. क्षुत्तृषोः असह्यत्वं स्वानुभव-सिद्धम्. **त्रिधातवो** वातपित्तश्लेष्माणः, तेऽपि तथा. **मुहुः अर्द्यमानाः** इति बुहुधाकृतप्रतीकाराअपि. शीतादयोऽपि चत्वारः तथा. अन्योन्यतोऽपि क्लेशः. 'इतरेतरादि'शब्दाः निपाताः, अतो न एकशेषः, नाऽपि सर्वनामता. **च**कारात् तत्सम्बन्धिशस्त्रादिभिरपि. कामस्य अनलत्वेन अग्नित्वम्. अग्निना स्वरूपनाशएव भविष्यति इति आशङ्क्य **अच्युत** इति सम्बोधनं स्वरूपरक्षार्थम्. अच्युतो रोषः इति केचित्. न कदाचिदपि च्युतो भवति यो रोषः. **च**काराद् लोभादिभिः. **सुदुर्भरेण** इति क्षणमात्रमपि तत्सहनम् अशक्यं, सर्वदा प्रतीकारश्च अशक्यः, अतो दुःखित्वम्. **सीदते** इति अर्थस्य अलौकिकत्वाद् आत्मनेपदं छान्दसम् ।।८।।

तर्हि ज्ञानोपदेशेन ताः प्रजाः कथं न कृतार्थाः क्रियन्ते? तत्र आह

१. भोगः. क. ग. ङ.

यावत् पृथक्त्वम् इदमात्मन इन्द्रियार्थ–मायाबलं भगवतो जन ईश! पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसङ्क्रमेत व्यर्थाऽपि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था।।९।।

यावद् इति. यावद् आत्मनः पृथक्त्वं पश्येत् तावद् उपदिष्टेऽपि ज्ञाने संसृतिः न प्रतिसङ्क्रमेत. **यावद्** इति अवधिः उक्तः. मध्ये दुःखनिवृत्त्यर्थं प्रार्थना. आत्मनः पृथक्त्वं निरूपयति **इदम्** इति. यावद् इदम् इति मन्यते यत्किञ्चित्, तावत् पृथक्त्वम्. अस्य अवधिः भगवत्सायुज्यमेव. ब्रह्मभावोऽपि सएव. अन्यस्तु पक्षो देहग्रहणाग्रहणाभ्यां सर्वथा अनुपपन्नः. इदमः आत्मभेदकत्वं निरूपयति **इन्द्रियार्थमायाबलम्** इति. भगवतः इन्द्रियार्थरूपायाः मायायाः बलं यत्र. अन्तरोत्पन्नाः पदार्थाः मायिकाएव, इन्द्रियाणामेव अर्थे निष्पादिताः. भगवतइव इन्द्रियाणि यदा लोकहितार्थं प्रवृत्तानि अहङ्कारेण, तदा भगवदाज्ञया भगवन्मायया स्वरूपभूताः पदार्थाः निष्पादिताः, अतो विशेषणमपि भगवदीयमिति सविशेषेण भगवत्सम्बन्धः उक्तः. साहि अधिष्ठानज्ञानेन निवर्तते, परं तद् यथा न भवति तथा बुद्धिशास्त्रादिव्यामोहेन महदेव बलं करोति. तस्याः बलस्य इदमेव निदर्शनं यदि इदं[1] प्रतीयते, तदा अस्ति बलम् इति. भगवदीयत्वाद् भगवत्कृपयैव निवर्तते इति ज्ञापितम्. दर्शने हेतुः **जनः** इति. यदा जायते शरीरं गृह्णाति तदा इदं पश्यति इति नियमएव. ननु किमिति जायते? तत्र आह **ईश** इति. यदा भगवतः ‘‘ईशो अहम्’’ इति इच्छा तदा ईशितव्यस्य अपेक्षणाद् जननम् इति अर्थः. **संसृतिः** संसरणं, बहुधा देहत्यागग्रहणे. **असौ** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यावद् इत्यत्र. **सएव** इति. सायुज्यविशेषएव. ननु एकजीववादे देहग्रहणाग्रहणएव पृथक्त्वज्ञानस्य पूर्वोत्तरावधी इति कथं सायुज्यस्यैव अवधित्वम् इत्यतः आहुः **अन्यः** इत्यादि. **सर्वथा अनुपपन्नः** इति. उत्क्रान्तिचरणविचारे जीव-नानात्वस्य सिद्धत्वात् श्रुतिसूत्रादिविरोधाद् अनुपपन्नः इति अर्थः. निष्पादन-प्रयोजनम्[2] आहुः **भगवतः** इत्यादि. **भगवतइव** इति. भगवत्सम्ब(न्धी)न्धिनीव. **अतो विशेषणमपि भगवदीयम् इति** इति. भगवदाज्ञप्तत्वाद् इन्द्रियार्थत्वरूपं माया-विशेषणमपि भगवदीयम् अतो हेतोः इति अर्थः. एवं कथनस्य प्रयोजनम् आहुः **भगवदीयत्वाद्** इत्यादि।।९।।

१.‘यदिदम्’ इति ख. घ. ङ. च.मां२ . २.‘प्रयोजनम् इति आहुः’ पा. ‘प्रयोजनमिमाहुः’ पा.

परिदृश्यमाना[क]. **प्रतिसङ्क्रमो** विपरीतप्रवाहः. सः भगवत्सायुज्यं प्रापयिष्यति, “**अन्ने प्रलीयते मर्त्यः**”(भाग.पुरा.११।२४।२२) इत्यादिना. सः तावद् न भवति. ननु संसृतेः किं मूलं, किं वा प्रयोजनं, कथं वा न प्रतिसङ्क्रमते? तत्र आह संसृतेः कर्म मूलम्. तद् आह **क्रियार्था** इति. प्रयोजनन्तु न अस्त्येव. तद् आह **व्यर्थापि** इति. विः कालः, सः वा अर्थः. कालार्था संसृतिः मध्ये दुःखनिवहं वहती दुःखप्रवाहसिध्यर्थमेव स्थिता, कुतोऽपि न निवर्तते. अतो बीजप्रयोजना-वान्तरप्रयोजनानां विद्यमानत्वात् कदापि न निवर्तते इति अर्थः ॥९॥

ननु ब्रह्मात्मभावे अधिकारिणो गुरुकृपया, वाक्यसहकृतमनसा भाते, कथम् इदं न निवर्तते? सर्वत्रैव अहंबुद्धेः गतत्वात्[ख] “**आत्मैव इदं सर्वं**” (छान्दो. उप.७।२५।२) “**ब्रह्मैव इदं सर्वम्**”(नृसिंहो.उप.७।३) इति. तत्र आह **अह्नि आपृतार्तकरणा** इति.

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव! युष्मत्प्रसादविमुखा इह संसरन्ति ॥१०॥

ये पूर्वजन्मनि **ऋषयो** ब्रह्मात्मभाव-चिन्तनपराः तथाचिन्तनेनैव प्राप्त-देहावसानाः तेऽपि **युष्मत्प्रसादविमुखाः इहैव संसरन्ति**. संसारेऽपि तेषां विशेषः **अह्नि** दिवसे **आपृतानि** व्यापृतानि, अतएव **आर्तानि करणानि** इन्द्रियाणि येषाम्. **निशि** रात्रौ च नितरां शयानाः महामोहग्रस्ताः भवन्ति. एवं व्यर्थकालाः. निद्रया जनितम् आनुषङ्गिकं सुखमपि न अस्ति इति आह **क्षणभग्ननिद्राः** इति. क्षणमात्रेणैव भग्ना निद्रा येषाम्. भङ्गे हेतुः **नानामनोरथधिया** इति. नाना मनोरथविषयिणी या बुद्धिः मनोरथानुसारेण स्वप्नं पश्यति, तस्मिन् स्वप्ने भयादिदर्शनाद् इष्टवियोगाद् वा स्वाप्निकस्य अस्थिरत्वाद् व्याकुलस्य निद्राभङ्गः स्पष्टः. दैवेनैव आहता अर्थरचना येषां तेषां क्रियाऽपि व्यर्था इति सूचितम्. यदि ते भोगार्थं गृहादिकमपि कुर्वन्ति तदपि कालेन व्यर्थं नश्यति इति अर्थः. **ऋषयो** मन्त्रद्रष्टारः. भगवान् तादृशेभ्यः प्रसन्नो भूत्वा सत्यादिलोकेषु इह वा किञ्चित्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अह्नीत्यत्र. **अधिकारिणः** इति षष्ठी. ननु ऋषीणां कुतः ईदृशी दशा इति अपेक्षायाम् आहुः **भगवान्** इत्यादि अयम् अर्थो मूले कस्मात् पदात् सिध्यति इति

क. ‘परिदृश्यमानः’ इति मां१-३ पाठः. ख.‘गतत्वाद्’इति नास्ति ख. ग. ङ. च.

प्रसादं प्रयच्छति, स्वोक्तनिवृत्ति-मार्गकरणात्. तदा न इदम् अस्माकम् अपेक्षितम् इति यदि ततो विमुखाः, तदा इह संसरन्ति[क]. ते हि बालाः वाक्यार्थमेव विचारयन्ति, न तस्य उपपत्त्यादिकं, कथम् अस्य जीवस्य ब्रह्मभावो भवति इति, वाक्यानां तात्पर्यज्ञानात्. अत्र ब्रह्माण्डे तेषाम् आनन्दांशः प्रकटो न भवत्येव, सर्वार्थे मायाजवनिकायाः प्रसारितत्वात्. तथा भगवत्सायुज्यमपि भगवत्प्राकट्याभावाद्, ज्ञानमार्गस्य भगवतो वश्यत्वापादकत्वाभावात्. याऽपि सद्योमुक्तिः उक्ता, "**इहैव समवनीयन्ते प्राणाः**"(नृसिंहो.उप.५) "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्म आप्येति**."(बृहदा.उप.४।४।६) तदपि स्वतन्त्रभक्त्या भगवत्सायुज्ये. अतएव वेदव्यासः सकलवेदार्थाभिज्ञो ज्ञानफलत्वेन सद्योमुक्तिं न उक्तवान्, किन्तु ब्रह्मविदो अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोके स्थितिरेव फलत्वेन उक्ता, अपनुरावृत्तिश्च. तदेव फलं भगवद्दत्तम्. तद् अनङ्गीकारे मनसा योगेन वा संसृतिरेव भवति. अतो ब्रह्मभावनायामपि न संसारनिवृत्तिः ।।१० ।।

ननु एवं सति भक्तानामपि संसारो न निवर्तेत; उत्तमानामपि विष्णुलोकप्राप्तिः, कृत्रिमवैकुण्ठगमनं वा भवेद्; मायाजवनिकायाः सिद्धत्वात्. योगेन[ख] ब्रह्माण्डभेदस्तु फलप्रकारो अयं निरूपितः. नतु तत्र अधिकारी कश्चित् सम्भवति. ब्रह्मणा सहतु ब्रह्माण्डनाशे. तस्माद् मुख्यभक्तिमार्गोऽपि न शीघ्रं पुरुषार्थसाधकः इति आशङ्क्य आह **त्वं भावयोगे**ति.

त्वं भावयोग-परिभावित-हृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ! पुंसाम्।
यद्-यद्धिया त उरुगाय! विभावयन्ति तत्-तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।।११।।

भावः प्रेमलक्षणा भक्तिः, "**रतिः देवादिविषयिणी भावः**"(   )

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अपेक्षायाम् 'ऋषि'पदविचारादेव सिध्यति इति आशयेन आहुः **ते हि** इत्यादि. ननु वाक्यार्थविचाराणां भगवत्सायुज्याद्यभावे सद्योमुक्तिबोधकश्रुतिविरोधः इत्यतः आहुः **याऽपि** इत्यादि. अत्र गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. **तदेव** इति. क्रममुक्तौ अवान्तरफलभूतं 'प्रसाद'पदेन अत्र परामृश्यते इति अर्थः।।१०।।

त्वम् इत्यत्र. **विष्णुलोकप्राप्तिः** इति. सत्त्वाभिमानलोकप्राप्तिः. **ब्रह्मणा सह** इति. मुक्तिः इति शेषः. **तत्र** इति. कामादिजनितस्याऽपि उपायत्वे.

क. सञ्चरन्ति ख. ग. घ. च.मां२.   ख. योगे. ग.

इति समुदायार्थत्वात्. प्रीतिस्तु माहात्म्यज्ञानादेव. सएव **योगो** विहितः उपायरूपो भवति. अन्यस्तु अनुपायः कामादिना जातः. तत्र प्रमेयबलम् इति वक्ष्यते. प्रमाणबलेतु एषैव व्यवस्था. अतो भावयोगेन परिभावितं परितः शोधितं भगवद्विषयकमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो यदि हृदये सहजो धर्मो भवति, तदा तद् हृदयं सरोजं भवति. प्रेमजले तदेव उद्गतं भवदासनौपयिकं कमलं भवति. तस्य च निदर्शनं, यदि वैषयिकाः केऽपि न स्फुरन्ति. तदपि चेत् प्रेम्णा पूर्ववत् पुनः भावितं भवति तदा भगवान् तत्र तिष्ठति. **श्रुतेन** गुणश्रवणेन, श्रवणसहितेन्द्रियेण वा, ईक्षितो मार्गो येन. यदैव श्रवणं रिक्तं भविष्यति तदा भगवता निर्गमनार्थं मार्गो दृष्टएव. **ननु** इति कोमलसम्बोधनं निश्चयार्थम्. **नाथ** इति युक्तिः. भगवान् तेषां पतिः, सतु भार्यागृहे तिष्ठत्येव. परम् एतावान् विशेषः. पुंसाम् अयं पतिः. ननु तेषां ब्रह्मसायुज्ये आक्षिप्ते हृदये भगवत्स्थितिः कुत्र उपयुज्यते? तत्र आह **यद्-यद्धिया** इति. हे **उरुगाय,** उरुभिः गीयते इति अनेकप्रकारेण निरूपितानन्तमूर्ते! **ते** तव **यद्-यद्** रूपं भक्ताः **विभावयन्ति, तत्-तद्वपुः** ब्रह्मरूपं, वैकुण्ठरूपम्, अवताररूपं वा; तदेव प्रकटीकरोषि. तत्र हेतुः **सदनुग्रहाय** इति. सन् च असौ अनुग्रहश्च. ज्ञानिषु अनुग्रहमात्रं, अत्र सन् अनुग्रहो अबाधितो अनुग्रहः तदा अत्रैव भगवति सायुज्यादिकं सर्वमेव उपपद्यते भक्तेच्छानुसारेण।।११।।

एवं ज्ञान-भक्तिमार्गौ निरूप्य साधननिरूपणे भक्तिसाधनापेक्षया ज्ञानमार्गसाधनं भगवत्तोषहेतुः उत्तमम् इति आह

नाऽतिप्रसीदति तथोपचितोपचारैः आराधितः सुरगणैर् हृदि बद्धकामैः।
यत् सर्वभूतदयया सदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा।।१२।।

न अतिप्रसीदति इति. साधनभक्तौ देवाः मुख्याधिकारिणः, दिव्यानि च पुष्पादीनि साधनानि, तैः न प्रसीदति. प्रसन्नोऽपि, तेभ्यः कामितं फलं प्रयच्छन्नपि, अत्यन्तं न प्रसीदति. तत्र हेतुः **हृदि बद्धकामैः** इति. प्रसादस्तु, यदि भगवान् तद् हृदये समागत्य तिष्ठति, तान् च स्वकीयान् मन्यते, तदा भवति. तत्र तैः हृदये भगवत्स्थाने कामएव बलाद् बद्धो वर्त्तते. सहजः चेत् कामो भवेद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वक्ष्यते इति. हेतुत्वेन वक्ष्यते. **शोधितम्** इत्यस्य **तद्धृदयम्** इत्यनेन सम्बन्धः. **श्रवण-सहितेन्द्रियेण** इति. श्रवणसहितमनसा, श्रोत्रेण वा।।११।।

अन्ततो भगवानपि दूरीकुर्यात्. सच बद्धः कामः कस्यचिद् नाशं कृत्वा निवर्त्तते, बद्धो हि स्वकीयं सर्वस्वं प्रयच्छति. अतो दैत्यानां वधेच्छया पूजितो भगवान् दैत्यवधं कृत्वाऽपि न प्रसन्नो भवति. तत्र हेतुः **नानाजनेषु अवहितः सुहृदन्तरात्मा** इति. तर्हि केन प्रसीदति? इति आशङ्क्य आह **यत् सर्वभूतदयया** इति. यद् यथा सर्वभूतदयया भगवान् परितुष्यति. सर्वभूतेषु साधारणी दया, नतु विशिष्टा; अशक्यत्वात्. स्वचित्ते तेषां हितभावनं, भगवत्कृपाप्रार्थना, अनिषिद्धो वा दैहिकः; यदेव एकं कार्यं सर्वेषामेव हितं भवति तद् भगवत्तोषहेतुः. तर्हि सर्वे तदेव कथं न कुर्वन्ति, सुलभत्वात् च? इति आशङ्क्य आह **असदलभ्यया** इति. इयं सर्वभूतदया असताम् अलभ्यैव, न कदाचिदपि तेषां हृदये दया उत्पद्यते इति अर्थः. एतदेव असल्लक्षणम्. उभयत्र हेतुत्रयम्. यतो अयं भगवान् **नानाजनेषु** सात्त्विकादि-नानाभेदभिन्नेषु **अवहितः** सावधानो भूत्वा तत्र स्थितः. सः भगवान् चेत् क्वचिदेव तिष्ठेत् तदा क्वचित् पूजया संतुष्टो भवेत्, क्वचिद् अपराधे क्वचित् पूजायान्तु न सन्तुष्यति. नहि पादे ताडितः शिरसि पूजितः तुष्यति. किञ्च, अयं सर्वेषां सुहृद्, अतः क्वचिद् अपराधेऽपि न सन्तुष्यति. किञ्च, **अन्तरात्मा** च अयम्. अन्तःकरणकृतैरेव पूजासाधनैः सन्तुष्यति, न बहिःकरणैः. अतो येनैव प्रकारेण भगवान् परितुष्यति तदेव साधनम्; अन्यत्तु परम्परया. अपरितोषहेतुस्तु असाधनमेव इति निश्चयः ।।१२।।

एतदेव वदन् पूर्वोक्तनिरूपणम् उपसंहरति

पुंसाम् अतो विविधकर्मभिर् अध्वराद्यैः दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद् ध्रियते न यत्र ।।१३।।

पुंसाम् इति. **अतो** हेतोः **पुंसाम्** अयमेव **सत्क्रियार्थो, यद् भगवतः तव आराधनम्. विविधकर्मभिः** लौकिकैः वैदिकैः. **अध्वराद्यैः** यागपूर्त्तादिभिः. देवताप्रीतिहेतूनि निरूपितानि. **दानेन** इति मनुष्यप्रीतिहेतुः, **उग्रतपः** स्वस्यैव प्रीतिहेतुः देहस्य वा, **व्रतचर्या** अन्तःकरणस्य. एवं लौकिकालौकिकभेदेन सर्वाण्येव कर्माणि तव आराधनरूपाणि, तद्धेतवो वा भवन्ति, तदा **सत्क्रियार्थो**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न अतिप्रसीदति इत्यत्र. दयात्मकनिषिद्धं दैहिकं धर्मं स्फुटीकुर्वन्ति **यदेव एकम्** इत्यादि. **उभयत्र** इति. सन्तोषे असन्तोषे च।।१२।।

भवति, विहितक्रियाणां फलरूपं भवति. ननु धर्मः स्वतन्त्रं फलं, पुरुषार्थत्वाद् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वाद् वा. तत् कथम् उच्यते सर्वैः भगवदाराधनं चेत् तदा फलम् इति. तत्र आह **धर्मो अर्पितः** इति. **यत्र** भगवति **अर्पितः** समर्पितो धर्मः, कदाचिदपि न **द्रियते** न विदीर्णो भवति. फलार्थं कृतो धर्मः, स्वतन्त्रो वा ''**धर्मः क्षरति कीर्तनात्**''( ) ''**हन्ति पुण्यं पुराकृतम्**''( ) ''**अब्दपुण्यं विनश्यति**''(सौरपुरा.६८।१५) इत्यादिवाक्यैः तस्य नाशः श्रूयते. तेन चेद् भगवान् आराधितो भवति तदा भगवत्कार्ये निरूपितो भगवत्सम्बन्धेन नित्यतां प्राप्तो अक्षयफलदानार्थं तस्य अपेक्षितत्वात् कदापि **न द्रियते** ।।१३ ।।

एवं सर्वशास्त्रार्थं निरूप्य भवगन्तं नमस्यति षड्भिः

शश्वत् स्वरूपमहसैव निपीतभेद–मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला–रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ।।१४ ।।

शश्वद् इति. भगवतो नमस्यरूपाणि षड् भवन्ति, अस्माद् ब्रह्मणः पूर्वतराणि. तत्र एतदेव एकं रूपं शेषशायी नारायणः, पुरुषो द्वितीयः, सर्वतत्त्वसहितः प्रकृतिभर्ता पुरुषः तृतीयः, कालः चतुर्थः, यज्ञः पञ्चमः, पुरुषोत्तमः षष्ठः. [1]तत्र एतद् हृदये परिदृश्यमानं तद् आवश्यकधर्मकीर्तनेन नमस्यति. कदाचिद् इदं शयानं रूपं मोहात्मकं भवेद् इति आशङ्क्य तस्य मोहाद्यभावं निरूपयति. अथवा एतद् अक्षररूपम्. शयानन्तु श्लोकद्वयेन अग्रे वक्ष्यति. **शश्वत्** सर्वदा **स्वरूपमहसैव** निरन्तरं स्फुरता स्वप्रकाशेनैव नितरां पीतौ भेदमोहौ येन. द्वयमेव जीवत्वसाधकं, भेदो मोहश्च. भिन्नश्च जीवो भवति, मुग्धश्च. अतो जीववैलक्षण्यं दोषाभावेन. गुणेन वैलक्षण्यम् आह **बोधधिषणाय** इति. बोधएव **धिषणा** बुद्धिः यस्य. जीवानान्तु जडरूपा बुद्धिः. अतएव **परस्मै** सर्वनियामकाय. नियामकत्वम् अत्र नमने हेतुः. एवं स्वरूपम् उक्त्वा कार्यम् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पुंसाम् इत्यत्र. **तद्धेतवः** इति. आराधनहेतवः।।१३।।

शश्वद् इत्यत्र. **अस्माद् ब्रह्मणः** इति. चतुर्मुखात्, प्रस्तुतत्वात्. शयानरूपम् आदौ निरूप्यते इति अङ्गीकृत्य लक्षणबलात् पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अत्र शयानस्य द्वैरूप्ये पञ्चैव रूपाणि इत्यपि।।१४।।

---

१. तत्रैतम् ग. तत्रैनम् ख. घ. ङ. च.मां२.

विश्वस्य उद्भव-स्थिति-लयेषु निमित्तायमाना या लीला, तया **रासः** क्रीडा यस्य; तस्यां वा रससमूहो यस्य. सो अक्षरात्मको भवानेव, न अन्यः इति वदन् नमस्यति **ते इदं नमः चकृम** इति. नमस्कारं साष्टांङ्ग कुर्वन् इदमा निर्दिशति **इदम्** इति. **चकृम** इति स्वान्तर्गतैः सर्वैरैव जीवैः सहितो नमस्करोमि इति ज्ञापयति. शिक्षार्थञ्च एतद् नमनम् इति ज्ञापयितुम् आह **ईश्वराय** इति. सएव सर्वसमर्थः, अन्यथा तत्कृपाव्यतिरेकेण जीवः तत्कार्यं कथं कुर्यात्? ।।१४।।

पुरुषं नमस्यन् पुरुषावतारान् सर्वानेव नमस्यति. अथवा, पूर्वश्लोके सामन्यभगवद्रूपकीर्तनेन नमनं, विशेषास्तु षट्. तत्र प्रथमम् अवताराः पुरुषादयः. ते जाताः इति कस्यचिद् भ्रमो भवेत्. तन्निवृत्त्यर्थं तस्य दोषान् परिहरन् नमस्यति

यस्याऽवतार-गुणकर्म-विडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतम् ऋतं तमजं प्रपद्ये।।१५।।

यस्य इति. अवताराः गुणाः कर्माणि च विडम्बयन्ति अनुकुर्वन्ति इति, देवकीनन्दन! दयालो! गोवर्द्धनोद्धरणधीर! इति यानि नामानि, ये प्राणिनो **असु विगमे** प्राणोक्रमणसमये[1] **विवशा**अपि भूत्वा **गृणन्ति ते** पूर्वोपार्जितानेकशमलमपि तत्क्षणमेव **हित्वा, अपावृतम्** उद्घाटितकपाटम्, **ऋतं** [2]ब्रह्मरूपं संयान्ति. एवं सर्वेषां सर्वपुरुषार्थहेतुकर्तारं नमामि इति आह **तम्** इति. **अजम्** इति जन्माभावः. **तम्** इति गुणकर्माभावः. सजातीयाः सजातीयं मन्यन्ते, अतः उत्पन्नानां सगुणानां कर्मकतॄणां स्वसदृशएव रोचते इति तादृशानि जन्मगुणकर्माणि प्रदर्श्य तान् मोचयति, नतु तस्य तादृशं जन्म गुणाः कर्माणि वा. अतो निर्दोषपूर्णगुणविग्रहं तं **प्रपद्ये** शरणं [3]गच्छामि इति. नमन-प्रपत्त्योः एकार्थता ।।१५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यस्य इत्यत्र. पूर्वश्लोके 'परस्मै' इति पदस्य असङ्गोदासीन एक इति अर्थं स्वीकृत्य पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे रूपबोधकाः सप्त श्लोकाः. **सर्वपुरुषार्थहेतुकर्तारम्** इति. पुरुषार्थहेतुभूतानि यानि गुणकर्माणि, तत्कर्तारम्. **गुणकर्माभावः** इति. तद्रूपेण स्वयमेव प्रकटम् इति विडम्बनमात्रत्वात् तदभावः इति अर्थः. तदेव व्युत्पादयन्ति **सजातीयाः** इत्यादि।।१५।।

१.'समयएव' क.मां१-३. २.'ब्रह्मस्वरूपम्' ख.ग.च. ३.'गच्छामि वा'ख,मां. 'इति' नास्ति.ग,च.

एवं पुरुषं नत्वा सर्वतत्त्वसहितं प्रथमपुरुषं नमस्यति **यो वा अहम्** इति.

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च स्थित्युद्भव–प्रलय–हेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहः तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ।।१६ ।।

यो भगवान् **त्रिपाद्ववृधे तस्मै भुवनद्रुमाय नमः** इति सम्बन्धः. पादत्रयम् आह **अहं** ब्रह्मा. **च**कारात् तपःप्रभृतयः. **गिरिशो** महादेवः. **च**काराद् [१]अधर्मादयः. **विभुः** समर्थः. **स्वयं** पालको विष्णुः. एतेषां कार्यम् आह **स्थित्युद्भवप्रलय–हेतवः** इति. एते त्रयः. **वै** निश्चयेन. यः पुरुषएव **त्रिपाद् आत्मनो मूलं** प्रकृतिं भित्त्वा **ववृधे** महदादिरूपेण मरीच्यादिरूपेण वा. **उरवो** अधिकाः[२] प्ररोहाः यस्य. अधश्च ऊर्द्ध्वं तस्य प्ररोहाः. अधो ब्रह्माण्डमध्ये पृथिव्यादयः, कश्यपादयश्च. उपरि आवरणानि. एवं भुवनद्रुमात्मकः 'सर्व'शब्दवाच्यो भगवान् कल्पवृक्षः. **तस्मै नमः** ।।१६ ।।

कालात्मकं नमस्यति **लोको विकर्मनिरतः** इति.

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावद् अस्य बलवान् इह जीविताशां
सद्यः छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ।।१७।।

विकर्म निन्दितं कर्म. तत्र **निरतः** स्थितः[३], तदेकप्रवणः इति अर्थः. **कुशले** धर्मे **प्रमत्तो** असावधानः. सुतरां **त्वदुदिते कर्मणि** "**मन्मना भव मद्भक्तः**" (भग.गीता.९।३४) इत्यादौ. **भवदर्चने** तव पूजारूपे. **स्वे** स्वधर्मरूपे सर्वथा **प्रमत्तः**. तस्य **यो जीविताशाम**पि **छिनत्ति. तावद्** इति नरकाद् अर्वाक्. पश्चाद् नरकमपि प्रयच्छति इति अर्थः. **इह** इति नैकट्ये. भगवदपराधं कृत्वा यो महानपि भवति तमपि मारयति इति एतदर्थम् आह **बलवान्** इति. तथा उपायं करोति यो जीवन्नेव जीविताशं त्यजति. एवम् अलौकिककालात्मने **नमः** ।।१७ ।।

यज्ञरूपं नमस्यति **यस्माद्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यो वा इत्यत्र. **पुरुषं नत्वा** इति. अक्षरात्मकं द्वितीयपुरुषं नत्वा. **पालको विष्णुः** इति. अत्रापि मूले 'स्वयं च' इति चकारो धर्मादिसङ्ग्राहको ज्ञेयः ।।१६।।

१.'धर्मादयः' इति मां–३ पाठः. २.'अधिकप्ररोहाः' क.ख.घ.च.मां१–२–३; 'अधिकम्'ग. ३.'स्थिरः' ख.ग.मां२; इदं नास्ति ङ.च.

यस्माद् बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्यम् अध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत्।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समानः तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम्॥१८॥

कालो द्विविधः यज्ञादिप्रवर्तको यज्ञात्मा, लौकिकश्च. तत्र लौकिकः पूर्वम् उक्तः. यज्ञात्मकः इदानीम् उच्यते. "**स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरञ्चिताम् एति ततः परं हि माम्**" (भाग.पुरा.४।२४।२९) इति वाक्याद्, येनैव यज्ञात्मकेन सहस्राश्वमेधरूपेण 'ब्रह्म'पदे अहं निवेशितः, इदानीमपि बहुभिः यागैः तपोभिश्च तमेव आरोढुम् इच्छामि, तत् सायुज्यमेव वाञ्छामि. एवं यद्यपि मम अभीष्टकर्ता, तथापि तस्माद् **अहं बिभेमि**, मारयिष्यति इति. यद्यपि **द्विपराद्र्धधिष्ण्यम्** आस्थितः. द्वे परार्द्धे तस्य आसनस्य स्थितौ काल-परिच्छेदके. यस्य आसनस्यापि नियतकालत्वम्, अहमपि नियतकालः तादृशः. तथापि ईश्वरगतिः ज्ञातुम् अशक्या इति बिभेम्येव. यद्यपि मम आसनस्य महत्त्वं, सर्वलोकनमस्कृतत्वात्, तथापि महान् इति न त्यक्ष्यति इति भयम्. स्वभावतएव अहं **बहुसवो** बहुयज्ञकर्ता, तथापि तपः तेपे. एवम् अतिदुर्धर्षाय मखाधिष्ठातृदेवाय **तुभ्यं** नमः इति॥१८॥

पुरुषोत्तमं नमस्यति **तिर्यग्** इति.

तिर्यङ्-मनुष्य-विबुधादिषु जीवयोनिष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेहः तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय॥१९॥

तिर्यङ्मनुष्यविबुधाः तामस-राजस-सात्त्विकाः देहाः. तदादयो अन्येऽपि त्रिविधाः. **जीवयोनिषु** जीवस्य उत्पत्तिस्थानेषु. **आत्मेच्छया** स्वेच्छयैव अवरुद्धदेहः सन्, स्वीकृतलीलाविग्रहो भूत्वा, **आत्मकृतसेतु-परीप्सया** स्वकृतमर्यादारक्षार्थम् **यो रेमे.** मनुष्यादीन् स्वतुल्यान् विधाय स्वकृतधर्मरक्षार्थमेव कृष्णरूपो भूत्वा, तिर्यगादिषु कुत्रचिदपि निरस्तरतिरपि रेमे, एतादृशाय. अक्षरादपि उत्तमः, लोकप्रतीत्या बोधानार्थम् एवं देहग्रहणकथा. अवरुद्धाः निरुद्धाः वा देहाः येन. इच्छापि न अस्ति, देहोऽपि न अस्ति, तथापि स्वरूपानन्दभूतएव रेमे॥१९॥

नारायणं नमस्यति, [१]कारणकार्यावस्थारूपद्वयनिरूपणेन श्लोकद्वयेन

योऽविद्यया-ऽनुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या निद्राम् उवाह जठरीकृत-लोकयात्रः।

१. कारणकार्यवस्थरूप ग.

अन्तर्जले–ऽहिकशिपु–स्पर्शानुकूलां

भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्।।२०।।

यो अविद्यया इति. **यो दशादर्धवृत्त्या** पञ्चवृत्त्या **अविद्यया अनुपहतो–ऽपि निद्राम् उवाह**. नहि कश्चित् स्वात्मविस्मरणव्यतिरेकेण निद्रितुम् अर्हति. 'पञ्चवृत्त्या' इति वक्तव्ये दशादर्धवृत्त्या इति वचनं विद्याविद्ययोः समभागार्थम्. यथा विद्यया अनुपकृतोऽपि जागर्ति, एवम् अविद्यया अनुपहतोऽपि **निद्राम् उवाह** इति विद्याविद्याकार्यं भगवति न अस्ति, किन्तु तत्सदृशी लीला वर्तते इति ज्ञापनार्थम्. किञ्च, **जठरीकृता लोकयात्रा** येन. सर्वानेव लोकान् स्वोदरे निवेश्य शेते. यथा लोकस्य स्वप्नः तथा अस्मिन् इदानीं लोकाः. अयमेव स्वप्नकर्ता निद्रासहितः. अतः स्वप्ने कार्यं कुर्वन्नपि मायिकमेव कार्यं करोति. यदि इदानीमपि निद्रितएव कार्यं करिष्यति तदा अग्रे उत्पत्स्यमानमपि कार्यम् असदेव स्याद्, मुलस्य तथात्वाद्, निर्बीजफलवृक्षवत्. किञ्च, **अन्तर्जले भीमोर्मि–मालिनि अहिकशिपुस्पर्शानुकूलां निद्राम् उवाह**. नहि कश्चिद् जलमध्ये शेते, तत्रापि तरङ्गाकुले, तत्रापि सर्पभोगे शयनं तामसी अवस्था. जलमध्ये शयनं सर्वथा अनुपपन्नं,[1] व्याकुलाधिकरणशयनम् अतिश्रमसूचकम्. सर्पे च शयनं मृत्युहेतूनपि अविगणय्य शयनसूचकम्. एवं शयनं किमर्थं करोति? इति आशङ्क्य आह **जनस्य सुखं विवृण्वन्** इति. **जनस्य** जायमानस्य एवम् अवस्था चेत् तदा सुखं भवति इति लोके **विवृण्वन्** ज्ञापयन्. अतः एवमेव स्थिते यदि सृष्टिः भवेत्, तदा उत्पन्नानां मोक्षादिवार्ता न भवेदिति एतद् अवस्थापरिहारं[2] प्रार्थयिष्यन् इमाम् अवस्थाम् एवं वर्णितवान्।।२०।।

सृष्ट्यादौ तस्य कार्यावस्थाम् आह **यन्नाभिपद्मभवनाद्** इति.

यद् नाभिपद्म–भवनाद् अहम् आसम् ईड्य! लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग–निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय।।२१।।

यस्य नाभिपद्मभवनाद् **अहं** ब्रह्मा **आसं, तस्मै नमः** इति सम्बन्धः. ननु पितृत्वाद् नमनमेव कर्तव्यं, स्तुत्या किम्? इति आशङ्क्य आह हे **ईड्य!** इति. स्तुत्यो यः, तं स्तुत्वैव किञ्चित् कर्तव्यम्. लोकत्रयम् उपकरणं यस्य, यथा पुरुषस्य घटपटादयः. एतादृशत्वं तत्कृपयैव जातम् इति आह **यदनुग्रहेण** इति.

---

१. अनुपपत्तिः क. घ. च.   २. परित्यागम् ग.

यदनुग्रहेण लोकत्रयोपकरण इति सम्बन्धः. **तस्मै** ते तुभ्यं **नमः**. नमने प्रयोजनम् आह **उदरस्थभवाय** इति. विश्वमेव तदुदरे स्थितं, तत् चेत् प्रयच्छेत् तदा सृष्टिः भवेद् इति. तर्हि निद्रिताय नमस्कारो अनुचितः इति आशङ्क्य आह **योगनिद्रा–वसानविकसन्नलिनेक्षणाय** इति. योगनिद्रायाः अवसाने विकसन्नलिनवद् ईक्षणे[क] यस्य. योगनिद्रा काचित् शक्तिः, यथा सृष्टिः. उभे भगिन्यौ तुल्यकाले. सा भगवति प्रलयकाले. आदिक्षणे तस्याः प्रथमो अंशः सम्बध्यते प्रलयान्तेतु अन्तिमो अंशः. इदमेव तस्य अवसानम्. अतो निद्रावसानक्षणो अयम् अतो नमनम् उचितम् इति अर्थः. एवं नत्वा स्वाभीष्टान् पदार्थान् प्रार्थयते **यन्नाभिपद्मभवनाद्** इति चतुर्भिः।।२१।।

सृष्ट्यर्थं भगवता उत्पादितः इति न अन्यत्र तस्य अधिकारः. सृष्टौ च[ख] पदार्थज्ञानम् अपेक्ष्यते. ज्ञानबुद्धिसंयोगो अन्यथा कर्तुमेव न शक्यते. ज्ञात्वा च कर्तव्यं चित्तस्य भगवच्चरित्रपरता च आवश्यकी, भगवदुपयोगिसृष्टिकरणात्. वेदाविस्मरणं च अपेक्ष्यते. तथा सति पातकिकृतं कार्यं पुरुषार्थोपयोगि न स्यात्. सन्तोषपूर्वकं विषाददूरीकरणञ्च अपेक्ष्यते, कार्योपयोगाय. अतो वरचतुष्टय–प्रार्थना. तत्र प्रथमं सृष्टिसामर्थ्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वेऽपि, बुद्धेः उद्वेगात् तदस्फूर्तिः विषमकरणं च स्याद्, अतो भगवतो ज्ञानसम्बन्धं प्रार्थयते **सो अयम्** इति.

सो अयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा सत्त्वेन यन् मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशम् अनुस्पृशताद् यथाहं स्रक्ष्यामि पूर्ववद् इदं प्रणतप्रियोऽसौ।।२२।।

सो अयं भगवान् येन **सत्त्वेन जगद् मृडयते, तेनैव मे दृशम् अनुस्पृशताद्** इति सम्बन्धः. सर्वेषां हितकारित्वाद्, औदासीन्याभावाद्, आवश्यकत्वाच्च भगवतो ज्ञानं सृष्टौ अपेक्षितम्. तदर्थं विशेषणत्रयम् आह **समस्तजगतां सुहृद्,**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यन्नाभीत्यत्र. **भगिन्यौ तुल्यकाले** इति. समानस्वभावे समानसङ्ख्याकाले सेवां कुर्वाणे।।२१।।

सो अयम् इत्यत्र. यं यं पदार्थसमुदायम् अपेक्षते, तं तं स्फुटीकुर्वन्तः क्रमेण आहुः **ज्ञाने**त्यादिना. **ज्ञानबुद्धिसंयोगः** इति. ज्ञानं भगवदीयं सत्त्वात्मकं, तस्य

क. 'ईक्षणम्' इति मां१–३.   ख. पदार्थमपेक्षते. ख. ग. घ. ङ. च.मां२.

एकः, आत्मा इति. एकत्वात् सर्वत्र तुल्यः एकस्वभावः इति अर्थः. **आत्मत्वाद्** आवश्यकः. **सत्त्वेन** इति ज्ञानसुखकारणभूतसत्त्वगुणेन[क]. **यद्** यस्मात् कारणाद् **मृडयते** सुखयति. **यद्** इति प्रसिद्धं वा. जगत्कर्मणः स्पष्टत्वाद् अवचनं वा. **भगेन** इति तत्सत्त्वं भगात्मकम्, ऐश्वर्यादिषड्गुणरूपम्. **तेन मे दृशम् अनुस्पृशताद्** इति षड् गुणाः ऐश्वर्यादयः प्रार्थिताः भवन्ति. ततः किम्? अतः आह **यथा अहं स्रक्ष्यामि पूर्ववद्** इति. उद्वेगाज्ञानवैषम्यानि यदा गमिष्यन्ति तदा पूर्ववदेव करिष्यामि. ननु एतावत् कथं दास्यति? इति आशङ्क्य आह **प्रणतप्रियो असौ** इति. असौ प्रणतप्रियः. प्रणतः प्रियो यस्य इति. प्रियाय हि सर्वमेव दीयते. असावेव एतादृशो न अन्यः इति अर्थः ।।२२ ।।

चित्तस्य भगवच्चरित्रपरतां प्रार्थयते **एषः प्रपन्नवरदः** इति.

एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या यद्-यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रमम् इदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम्।।२३।।

यदि चित्तं भगवच्चरित्रपरं न स्यात् तदा अहङ्कर्तृत्वाद् गर्वः स्यात्, प्रमादाद् विषमकृतिजनितदोषो[ख] नाशश्च. चरित्रं सत्त्वांशेन कृतं, चित्सहितेन वा विशिष्टेन वा भेदेन, तादृशम् आनन्दं न जनयति. अतो ब्रह्मानन्दरूपया **रमया** लक्ष्म्या, भेदाभावाय आत्मशक्त्या, प्रपन्ननां वरदानार्थं **यद् यत् करिष्यति.** तत्राऽपि स्वाधिकारानुसारेण ग्रहणार्थं **गृहीतगुणावतारः**. गृहीताः गुणावताराः येन. गुणानां धर्माणाम् अवताराः पूर्वम् उक्ताः "**यत्रोद्यतः**"(भाग.पुरा.२।७।१) इत्यादिना. अथवा, गुणाः भगवदीयाः सर्वे पुरुषस्थिताः अभिव्यक्ताः जाताः, ते गुणावताराः. तान् आदाय यद्-यत् करिष्यति इति बहवएव पादार्थाः भगवदीयाः भवन्ति काल-कर्म-स्वभाव-कृतातिरिक्ताः. सामान्यतो अधिकृतत्वात् तत्रापि अहमेव कर्त्ता. अतः तस्मिन् तव चरित्रे इदं तव पराक्रमरूपं जगद् भगवदीयं **सृजतोऽपि** मे यथा **युञ्जीत,** त्वच्चरित्रएव चित्तं सर्वदा युक्तं भवेत्. यद्यपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बुद्धिसंयोगो जडरूपिण्यां स्वबुद्धौ सङ्क्रामणं भगवदीयसर्वपदार्थानां भगवत्स्वरूपस्य च परिस्फूर्तिः इति यावत्. **जगत्कर्मणः** इति. जगतः [ग]कर्मकारकभूतस्य।।२२।।

क. "...भूतस्य सत्त्वेन" इति मां१-३ पाठः. ख.दोषा ग. ग.कर्मकारभूतस्य. पा.

कालादिकृतसृष्टौ चरित्रपरता चित्ते युक्ता, गर्वाभावार्थं भगवत्स्मरणार्थञ्च; भगवदीयसृष्टौतु न उपयुज्यते, पूर्वोक्तदोषासम्भवाद् इति आशङ्क्य, अत्रापि दोषद्वयं सम्भवतीति तन्निरा-करणार्थं चरित्रपरता युक्तैव. अत्र [1]सृज्यानां भगवदीयत्वाद् अणुमात्रेणाऽपि भगवदिच्छावैपरीत्येन कृतिः भवेत्, तदा भगवद्द्रोहः स्यात्, सृज्यानां च आक्रोशः. तद् उभयनिराकरणार्थं **स्वविक्रमम् इदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत.** किञ्च, कर्मणा जायते सर्वथा शमलं, सृज्यानां सर्वथा हिताकरणात्. तच्च **शमलं यथा विजह्याम्** ।।२३ ।।

वेदविस्मरणं यथा न स्यात्, रूपसृष्टेः नामाधीनत्वात् कर्मबोधानार्थं च वेदो अपेक्ष्यते इति आह **नाभिद्धदाद्** इति.

नाभिह्रदाद् इह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो विज्ञानशक्तिरहम् आसम् अनन्तशक्तेः।
रूपं विचित्रम् इदमस्य विवृण्वतो मे मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ।।२४।।

इह अम्भसि **सतो यस्य पुंसो नाभिह्रदाद् अहम् आसं,** तस्यैव **अनन्तशक्तेः विचित्रं रूपं विवृण्वतो मे गिरां विसर्गो वेदो मा रीरिषीष्ट** नाशं मा अपगच्छतु. **इह सतः** इति अग्रे तिरोभावात् प्रश्नानुपपत्तिः. त्वत्तएव उत्पन्नत्वाद् अन्यो अपृष्टः[2]. **विज्ञानशक्ति**त्वाद् विस्मरणानौचित्यम्. **विचित्रं रूपम्** इति विस्मरणे हेतुः. **नाभिह्रदाद्** इति अन्वेषणक्लेशसूचनम्. **अनन्तशक्तेः** इति अविस्मरणदानसामर्थ्यम्. **अहम्** इति. यत् कृपया एतावत्त्वं सा कृपा हि अग्रेऽपि निर्वाह्या इति सूचितम्. **अस्य रूपम्** इति वचनाद् ''हलान्तं ब्रह्मवर्चसम्'' इति न्यायेन [3]वेदस्फुरणहेतुधर्मनाशः सूचितः. **च**कराद् भगवदपराधश्च[4] विशेषेण परित्यागः सवासनं, न प्रायश्चित्तवत्. ''**रिष हिंसायाम्**'' (धातु.पा.तुदादि.१२९)

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नाभिह्रदाद् इत्यत्र. **अस्य रूपम् इति वचनाद्** इति. ''**अस्य रूपं विवृण्वतः**'' इति वचनात्. अत्र मूले **अस्य** प्रपञ्चस्य आकारं **विवृण्वतो** विशेषेण अङ्गीकुर्वत इति अर्थो बोध्यः. **विचित्रम्** इत्यत्र 'च चित्रम्' इति पाठम् अङ्गीकृत्य आहुः **च**काराद् इत्यादि. तद्रूपाङ्गीकारेण सिद्धं दोषम् आहुः **विशेषेण** इत्यादि. सवासनगिरां त्यागो जातः इति दोषो अभूद् इति अर्थः.

---

१. सृज्यादीनाम् क. २. अन्याप्रश्नः क.मां१-३. ३. वेदास्फुरण. क. ४. भगवदपराधं च. क.

इति धातोः सन्नन्ताद् लुङ्, ([1]अडभावश्च माङ्योगात्) “**ऋ गतौ**” (धातु.पा. जुहोत्यादि.१६) इत्यस्य आशीर्लिङि रीङादेशे कृते वा रूपम्. सर्वथा छान्दसाश्रयणं केनाऽपि अंशेन[2] “**श्नाभ्यस्तयोः**” (पाणि.सू.६।४।११२) इति ह्रस्वेऽपि छान्दसः ईकारादेशः “**झलो झलि**” (पाणि.सू.८।२।२६) इति ‘ष’लोपः. विविधः सर्गो वेदे, ब्रह्मणः सर्वमेव वाक्यं वेदरूपम् इति वा. **निगमस्य** वेदस्य **गिराम्** इति [3]‘देवता’शब्दान्तरव्यावृत्त्यर्थम् उक्तम्. मा वेदो विस्मृतो भवतु इति वक्तव्ये, यत् प्रकारान्तरेण कथनं, वरेण स्मरणमात्रव्यावृत्त्यर्थं, यथा अन्यदीयमपि स्मरति. अतएव मा लुप्यताम् इति प्रश्नः ।।२४।।

[4]संतोषपूर्वकं विषाददूरीकरणं प्रार्थयते **सो असौ** इति.

सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्ध–प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं माध्व्या गिराऽपनयतात् पुरुषः पुराणः।२५।

असौ उत्थाय मे विषादं माध्व्या गिरा अपनयताद् इति सम्बन्धः. प्रार्थितदानसामर्थ्यनिरूपणार्थं **सः** इति पूर्वोक्तनिर्देशः. अदभ्रा करुणा यस्य. दयैव प्रार्थितदाने हेतुः. **भगवान्** इति प्रार्थनीयत्वम्. **विवृद्धप्रेमस्मितेन.** भक्तक्लेश–स्मरणेन भक्ते विवृद्धा भगवतः प्रीतिः भवति. क्लेशाभावार्थं [5]शास्त्राग्रह–व्यावृत्तये किञ्चिद् मोहनमपि करोति. तदा भगवतो ज्ञानशक्तिः रूक्षत्वाभावाय अम्बुनि शीतले विषयसुखे संयुक्ता इति जीवोऽपि विषयसुखस्पृष्टो भवति. तद् आह **नयन**मेव **अम्बुरुहम्** इति. तस्य विजृम्भा विशिष्टो विकाशः. ज्ञानशक्तिः अतिविलसिता सर्ववस्तुयाथात्म्यं बोधयन्ती क्लेशं सर्वथैव दूरीकरोति. विशिष्टश्च विकाशः कार्येऽपि तथा उद्गमपरः. उत्थिता जगत्सृष्टिः अनलसा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रश्नः इत्यत्र ‘प्रार्थना’ इति पाठः प्रतिभाति।।२४।।

सो असौ इत्यत्र. **कार्येऽपि तथोद्गमपरः** इति. व्यष्टिवर्गेऽपि ज्ञानोद्गमपरः. **विश्वस्मिन्नेव** इति. सर्वेष्वेव. **परम् एकम्** इत्यादि. एकं नयनाम्बुरुहविजृम्भणम्. **कर्तृप्रविष्टं,** चतुर्मुखे समागतं, **भयकर्तृ** उभयोः

१.() एतच्चिहान्तर्गतः पाठोऽत्र नास्ति किन्तु केनाप्यंशेनेत्येतदनन्तरमस्ति.क.ख.घ.ङ.च. २.‘‘केनापि अंशेन अडभावश्च माङ्योगात्’’ इति मां१–२–३ पाठः. ३.वदता क. ४. ‘असन्तोष’ इति मां१–३ पाठः. ५.शास्त्रार्थग्रह क. घ.मां१–३.

भवति इति **उत्थाय** इति उक्तम्. **विश्वविजयाय च** इति. विश्वस्मिन् विजयः स्वभावादिव्युदासेन स्वाभिप्रेतविधित्सा, तद् विश्वस्मिन्नेव. **च**काराद् विश्वस्य स्वानुगुणतायै. **नो विषादं** पूर्वोक्तम् अस्मद्विषादम्. **नः** इति स्वान्तस्थित-भूतसहिताभिप्रायम्. **माध्व्या गिरा** इति स्नेहप्रतिपादकेन वचनेन ईश्वराज्ञायाः कठिनत्वशङ्कया उक्तम्. **पुराणः पुरुषः** इति पितामहत्वेन समत्वाय. नयनाम्बुरुहविजृम्भणं विश्वविजयरूपेष्टसिद्धौ विषादनिराकरणे च हेतुः, वाणी च. परम् एकं कर्तृप्रविष्टम् अलौकिकद्वारा तदुभयकर्तृ, एकन्तु लौकिकद्वारा. एतत् सर्वं कार्याभिनिविष्टः करिष्यति न वा? इति सन्दिह्य पुरुषोत्तमभावं तत्र निरूपयति **पुराणः** इति ।।२५ ।।

स्वार्थं सर्वं प्रार्थितम् इति ब्रह्मकल्पवद् भक्तिप्रह्वीभावाद्, बहुकालभोगेन मध्ये अपराधसम्भवाद् गुणत्रयस्य व्यवधायकं बोधयन् चिरकालेन उत्तरं दत्तवान् इति आह त्रिभिः

मैत्रेयः उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपो-विद्या-समाधिभिः ।
यावन् मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ।।२६ ।।

स्वसम्भवम् इति. यावद् ज्ञानं ब्रह्मणो भगवद्विषकं जातं; तपसा, उपासनया, समाधिपर्यन्तयोगेन च. **स्वसम्भवं** स्वपितरम्. **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण **निशाम्य** ज्ञात्वा. स्वस्य **यावद् मनः** सामर्थ्यं तावत् कल्पयित्वा, यावद् वाचा वक्तुं शक्यं तावत् **स्तुत्वा**, तूष्णीं स्थिते भगवति अनवसरो अयं वा इति संदिह्य स्वयमपि तूष्णीं स्थितः. भगवन्तं प्रसन्नवदनं दृष्ट्वा पूर्वखेदस्याऽपि अनुवृत्तत्वात् **खिन्नवद्** इति उक्तम्. यथा-यथा स्तूयते तथा-तथा [1]ज्ञातः इति ज्ञानमपि अन्ते निरूपितम् ।।२६ ।।

मध्ये भगवद्विचारोऽपि कालविलम्बहेतुः जातः इति आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इष्टप्राप्त्यनिष्टनिवृत्त्योः कर्तृ इति अर्थः. **एकन्तु** इति. वाणीतु।।२५।।

स्वसम्भवम् इत्यत्र. **निरूपितम्** इति. 'निशाम्य' इति पदेन निरूपितम्।।२६।।

---

१. ज्ञायते ग.

अथाऽभिप्रेतम् अन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः ।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ।।२७ ।।

अथ इति. आनन्तर्यं कालविलम्बात्. **अभिप्रेतं** स्वसमानज्ञानैश्वर्यं प्रार्थयते इति. **अन्वीक्षणं** निश्चयः. तस्मिन् दत्ते वा कालान्तरे अपकारो न भवेद् इति **अन्वीक्षा. ब्रह्मणः** इति अधिकारित्वं, तेन तथा प्रार्थनायामपि न अपराधः. **मधुसूदनः** इति तद्धिताचरणं भगवतः स्वाभाविकम्. यथा अनिष्टं निवर्तयति तथा इष्टं सम्पादयति इति अर्थः. **विषण्णचेतसम्** इति दया. अधिकारित्वात्, तस्य शक्यत्वाच्च साधनोपदेशएव. **तेन** इति पूर्वोक्तेन भगवद्रहितेन. भगवदीयत्वेतु तस्य उद्वेगो न स्याद्, भगवदीयकार्ये च आनुगुण्यं स्यात्. अभगवदीयत्वार्थम् आह **कल्पव्यतिकराम्भसा** इति. कल्पस्य **व्यतिकरो** नाशः, तत्साधकेन अम्भसा. तस्माद् अग्रिमभगवच्चरित्रं तस्य दुःखनिवारकमपि इति एतद् उक्तम् ।।२७ ।।

स्वार्थं च एतद् दुःखम्. भगवत्कार्यार्थन्तु यद् दुःखं तत् साक्षादेव निवारयति इति आह

लोक–संस्थान–विज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।
तम् आहाऽगाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ।।२८ ।।

लोकसंस्थानविज्ञान इति. लोकानां सम्यक् स्थानं यथोपयोगं देहादौ स्थितिः, तद्विषयकज्ञानार्थं **परिखिद्यतः** परितः खेदं प्राप्नुवतो ब्रह्मणः. **आत्मन**एव हेतोः, ज्ञायतएव साधनेन साध्यम् इति. साधनम् अकृत्वैव साध्यप्रेप्सुः खिन्नो भवत्येव. तपोऽपि शीघ्रमेव निवर्तितम् इति भगवतो विलम्बः. तदर्थमेव शयानएव भगवान् आविर्भूतः. सतु तद् अकृत्वैव उत्तालो भूत्वा, स्तोत्रं प्रार्थनाञ्च कृत्वा, तूष्णीं स्थितः. एतादृशमपि तं भगवान् आह. **अगाधा** वाणी भगवतः, अभिप्रायाज्ञानात्. **कश्मलम्** उभयविधं, **शमयन्निव** इति साधनोपदेशात् ।।२८ ।।

तत्र प्रथमं ज्ञानबुद्धिसंयोगे उत्तरम् आह **मा वेदे**ति दशभिः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

लोकेत्यत्र. **तद् अकृत्वा** इति. तपः अकृत्वा ।।२८।।

मा वेदगर्भ इत्यत्र. ननु अत्र उत्तरे पञ्चदशश्लोकाः इति कथं दशभिः इति

वाक्यैरेव चतुर्थोत्तरं भवति, द्विवतीयन्तु वरदानादेव, तृतीयेतु अल्पः प्रयासः. अतः सपरिकरं प्रथममेव उत्पादयति

आलस्याभावतपसी भगवज्ज्ञानसाधने।
सर्वत्राऽन्वीक्षणं चैव ज्ञानेनैव मलक्षतिः ।।१ ।।
चरित्रपरता हेतुः मलाभावे विचारितः।
स ज्ञानेनैव संसिद्धो ह्यतस्तत्फलम् ईर्यते ।।२ ।।
सुखे हेतुश्च तज्ज्ञानं स्वसम्बन्धविशेषणात्।
गर्वाभावे[1] वरदानाद् नाऽन्यथेति निरूपितम् ।।३ ।।
स्वाभाविकस्य दोषस्य निवृत्तिश्चाप्यनुग्रहात्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उच्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **वाक्यैः** इत्यादि. **चतुर्थोत्तरम्** इति. विषाद-दूरीकरणस्य उत्तरम्. **द्वितीयम्** इति. चित्तस्य भगवच्चरित्रपरत्वम्. **तृतीये** इति. वेदाविस्मरणे. **प्रथमम्** इति. ज्ञानबुद्धिसंयोगम्. अतो दशोक्ता इति अर्थः.

पञ्चदशानामपि अर्थं कारिकाभिः विचारयन्ति. तत्र प्रथमया चतुर्णाम् अर्थः उक्तः. तत्र सर्गसाधने आलस्य अभावोपदेशः प्रथमार्थः, भगवज्ज्ञानार्थं तपसः उपदेशो द्वितीयार्थः, सर्वत्र अन्वीक्षणं सर्वत्र युक्त्या परीक्ष्य भगवदीक्षणं तृतीयस्य अर्थः, भगवदीक्षणेन मलक्षतिः चतुर्थस्य इति.

पञ्चमस्य आहुः **चरित्रे**त्यादि. चरित्रपरताहेतुः दर्शनप्रकारविशेषः. सः मलाभावे सति भगवता विचारितः. **हि** यतो हेतोः, **सः** मलाभावः ज्ञानेन सम्यक् प्रकारेण सिद्धः. अतो हेतोः ज्ञानफलं स्वाराज्यं पञ्चम ईर्यते. तथाच तदपि ज्ञानबुद्धिसंयोगस्यैव परिकरः इति अर्थः.

षष्ठस्य आहुः **सुखे हेतुः** इत्यादि. **तत्** पूर्वोक्तं मलनिवर्तकं ज्ञानमेव. **चो** अवधारणे. **स्वसम्बन्धविशेषणात्.** भगवत्सम्बन्धविशेषणात्[2]. **सुखे हेतुः** सुखजनकम्. तत्र हेतुः ब्रह्मकल्पे **गर्वाभावार्थं** वरदानात्. सः वरः इदानीमपि अनुवर्तमानो **न अन्यथा** न कुण्ठितः इति **निरूपितम्** अनुग्रहस्य वर्षीयस्त्वकथनेन बोधितम् इति अर्थः.

सप्तमस्य आहुः **स्वाभाविकस्य** इत्यादि. स्वाभाविको दोषो रजोगुणः. अष्टमस्य आहुः **मदि**त्यादि.

---

१. गर्वाभावो ख.ग.घ.ङ.मां२; 'गर्वाभावेश्वरदानाद्' इति मां१-३. २.विशिष्यात्. पा. विशिष्याव.

मत्स्वरूपस्य विज्ञानं जातमेव तदेव तत् ।।४ ।।
मया तथैव च कृतम् आविष्कारः स्तुतौ कृतः ।
ममैवाऽनुग्रहात् सर्वम् इत्येषा ह्युपसंहृतिः ।।५ ।।
द्वितीयस्योत्तरं वेदैः चतुर्थोऽप्युक्त एव हि ।
भवेद् इति कृतं स्तोत्रं चरित्रं भक्तिहेतुकम् ।।६ ।।
नाऽन्यत्र विनियोक्तव्यं भक्तिर्नित्या न साधनम् ।
वेदाविस्मरणे हतुः देह एव कृतः पुरा ।
तदाहैकेन तेनैते कला श्लोका निरूपिताः ।।७ ।।

तत्र प्रथमम् आलस्य अभावम् आह

श्रीभगवान् उवाच

मा वेदगर्भ! गास्तन्द्रीं सर्गे चोद्यम् अमावह ।
तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन् मां प्रार्थयते भवान् ।।२९ ।।

हे वेदगर्भ! तन्द्रीं मा गाः आलस्यं मा कुरु इति अर्थः. **सर्गे उद्यमं च आवह** सर्गकरणार्थम् उद्युक्तो भव. **च**कारात् साधने मतिः कर्त्तव्या. साधनमेव न जानामि! इति चेत्, तत्र आह **तद् मया आपादितम्** इति. **यद् मां** त्वं साधनं प्रार्थयसे, तद् मया पूर्वमेव आपादितम्. **हि** युक्तो अयम् अर्थः. अन्यथा एतावद्दूरे साधनपरम्परा न भवेद्. अतः साधनस्य सिद्धत्वाद् आलस्यं त्यक्तव्यम् इति भावः ।।२९।।

ज्ञानार्थं च तपः कुरु इति आह **भूयस्त्वम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदेव तद् इति. बुद्धौ संयोजनार्थं यद् ज्ञानं त्वया प्रार्थितं, तदेव यत् तव जातं, तन्मया संयोजितम् इति अर्थः.

तत्र गमकं नवमे उक्तम् इति आहुः **मया** इत्यादि. दशमस्य आहुः **मम** इत्यादि. **इति एषा हि उपसंहृतिः** इति. एषः ज्ञानबुद्धिसङ्क्रान्त्युपसंहारः.

अग्रिमाणां चतुर्णाम् आहुः **द्वितीयस्य** इत्यादि. **उक्तः** इति. आश्वासनस्य सर्वेष्वेव उक्तत्वाद् उक्तएव भवेद् इति अर्थः. कथं भवेद्? इति आकाङ्क्षायां प्रकारत्वेन चतुर्णां तात्पर्यम् आहुः **कृतम्** इत्यादि. **एतावद्दूरे** इति. दर्शनपर्यन्तम्।।२९।।

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्।
ताभ्याम् अन्तर्हृदि ब्रह्मन्! लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्।।३०।।

यथा पूर्वं तपः कृतं, तथैव ततोऽपि **भूयः तपः** कर्त्तव्यम्. 'पुनः'पदादि-परित्यागेन 'भूयः'पदप्रयोगेण अर्थद्वयम् अभिप्रेतम् इति ज्ञायते. तपसि आस्था कर्त्तव्या, विद्या मदुपासनायै कर्त्तव्या. साच उपासना मद्विषयैव. **ताभ्याम्** उपासना-तपोभ्यां हृदयमध्यएव **अपावृतान् लोकान् द्रक्ष्यसि. ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं तदधिकारद्योतनार्थम्. नहि ब्रह्मभावव्यतिरेकेण कश्चित् तस्मिन् लोकान् दृष्टुम् अर्हति. **अपावृतान्** मदीयान्, अन्येतु त्रिविधाः जीवाः कालादिभिः आवृताएव भवन्ति. सर्वेषामेव जीवानाम् अपावृतत्वेतु त्रैविध्यं न स्याद् इति केचित्. परमार्थतो वा अपावृताः सर्वएव।।३०।।

ततः आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः।
द्रष्टाऽसि मां ततं ब्रह्मन्! मयि लोकांस्त्वम् आत्मनः।।३१।।

ततो भवान् आत्मानं प्रजावद् अन्तरतमान् लोकांश्च दृष्ट्वा. आत्मत्वेन ज्ञानात् स्वस्मिन् लोके च भक्तिः भविष्यति. स्वस्मिन्[क] स्नेहांशो अस्त्येव, माहात्म्यस्य दृष्टत्वात्. स्नेहो माहात्म्यञ्च मिलितं भक्तिः भवति. लोके च अपावृतत्वदर्शनाद् माहात्म्यज्ञानं, स्वान्तरत्वात् स्नेहः, एवम् उभयत्र भक्तियुक्तः. तत्र एको दोषः सम्भवति, भगवतः तुल्यता. तदभावार्थं समाहितो भवेत्. एतद् उभयात्मज्ञानं भक्तिश्च न स्वतन्त्रा, किन्तु भगवज्ज्ञानार्थम् इति. तज्ज्ञानं कदा भविष्यति इति सावधानः तदा मां द्रक्ष्यसि. स्वमध्ये लोकान् लोकमध्ये च माम् इति यत्रैव भक्तिः तन्मध्ये स्थिताः प्रकाशन्ते. अतः ''तत्त्वमस्या''द्यपि बोधनं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भूयः इत्यत्र. **तदधिकारद्योतनार्थम्** इति. ब्रह्मभावाधिकारद्योतनार्थम्. **केचिद्** इति. इदं न श्रीधरमतम्।।३०।।

ततः इत्यादि. इतः आरभ्य अग्रिमश्लोकव्याख्यानम्. ननु लोकानां स्वावयवत्वज्ञानेन तेषु स्नेहसत्त्वेऽपि माहात्म्यास्फुरणात् तत्र कथं भक्तिः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **लोके च** इत्यादि. समाहितत्वस्वरूपम् आहुः **एतद्** इत्यादि. **प्रकाशन्ते** इति. लोकाः प्रकाशन्ते. एतस्य वाक्यस्य 'तत्त्वमस्या'दिवाक्योपबृंहणत्वाय

क. 'स्वस्मिन्' इति मुद्रिते नास्ति.

स्वरूपे ब्रह्मणि भक्त्यर्थम्. ततः स्वस्मिन्नेव स्थितं भगवन्तं द्रक्ष्यति इति. ननु स्वस्मिन् लोके च भक्तौ कथं भगवत्साक्षात्कारः? तत्र आह **ततम्** इति. सर्वत्र व्याप्तम्. पुनः **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं प्रकृतोपयोग्यधिकारसूचकम्. तदा मयि भक्तिः अस्त्येव. तदा तानेव मद्गतानपि द्रक्ष्यसि इति आह **आत्मसम्बन्धिनि मयि लोकान्** इति ।।३१ ।।

ननु एवं ज्ञानस्य किं प्रयोजनम्? इति आशङ्क्य खण्डशो ज्ञानप्रयोजनानि आह. तत्र लोके विततं भगवज्ज्ञानं सर्वदोषनिवर्तकं, भगवदधिष्ठानत्वेनैव सर्वस्य ज्ञातत्वाद् न कोऽपि अग्रे दोषः सम्भवति. ''**यो माम् अजम् अनादिं च**'' (भग.गीता.१०।३) इति वाक्याद् भगवज्ज्ञाने सर्वपापक्षयः सिद्धः. अतो विततज्ञानं यादृशम् अपेक्ष्यते, कश्मलनिरसने, तादृशं रूपम् आह

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम् ।।३२।।

यदातु इति. सर्वभूतेषु यथा दारुषु अग्निः तथा चेद् आत्मानं विततं पश्यति, नतु आकाशवत्. सहि लोकैः आवृतः तदपगममात्रेण प्रकाशते, नतु मथनेन अग्निरिव. घर्षणेन च अयम् अभिव्यक्तो भवति. तथा योगेन, निरन्तर-भावनया वा मनसा आत्मघर्षणेन बहिः आर्द्रतानिराकरणार्थं तपसा च तद् अभिव्यक्तं भवति. **स्थितं** प्रथमतएव. सर्वेष्वपि दारुषु एकस्मिन्नपि सर्वावयवे निर्गतो अग्निः तुल्यएव. एकः च सः, भेदकप्रमाणाभावात्. एवं सर्वत्र विचारं कृत्वा योगेन भगवन्तं पश्यति. **प्रतिचक्षणं** परीक्ष्य दर्शनम्. तदैव सर्वेषां लोकानां सर्वकश्मलनिरसनं भवति. अतो लोकेऽपि अयम् अर्थः सिद्धः इति तव कश्मलनिरसने कः सन्देहः इति अर्थः. **तर्ह्येव** इति मध्ये कश्मलनिरसनं बाधितम् ।।३२ ।।

अन्यद् यद् ज्ञानद्वयम् अस्ति, स्वस्य ब्रह्मत्वेन ज्ञानं, स्वस्मिन्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **अतः** इत्यादि।।३१।।

यदातु इत्यत्र. **खण्डशः** इत्यादि. नानाविधानि यानि सखण्डब्रह्मज्ञानानि, तेषां फलं श्लोकद्वयेन आह इति अर्थः. **सहि** इति. आकाशो हि. **अयम्** इति. आत्मा. **तद्** इति. ब्रह्म. **एकस्मिन्** इत्यादि. एकस्मिन्नपि निर्गतो अग्निः सर्वावयवे तुल्यः इति योजना।।३२।।

प्रजाज्ञानञ्च. भगवति प्रजाज्ञानं सर्वेषामेव अस्ति इति न तद् अत्र निर्दिश्यते, अन्ययोः फलं स्वाराज्यम्. तद् आह **यदा रहितम्** इति.

यदा रहितम् आत्मानं भूतेन्द्रिय-गुणाशयैः।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यम् ऋच्छति ।।३३ ।।

भूतेन्द्रियगुणाशयैः रहितम् आत्मानं स्वरूपेण चिद्रूपेण औडुलौमिमतवद् **मया उपेतम् आत्मानं पश्यन्. स्वाराज्यं** स्वरूपानन्दा-नुभवं, स्वस्मिन् विद्यमानेषु वा आधिपत्यं, प्राप्नोति ।।३३ ।।

स्वस्मिन् विद्यमानान् लोकान् पुत्रानिव चेद् स्रक्ष्यसि, तदा त्वद् हृदये न कोऽपि दोषः आलस्यादिः उद्गमिष्यति इति आह

नाना-कर्म-वितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः।
नात्माऽवसीद् अत्यस्मिन् ते वर्षीयान् मदनुग्रहः ।।३४ ।।

नानाकर्मवितानेन इति. यथा बहुकार्यकर्ता बहूनि काष्ठादीनि प्रसार्य यथोपयोगं सर्वं करोति, तथा देव-तिर्यङ्-मनुष्यादिभावजनकं कर्म प्रसार्य यथायोग्यं चेत् **प्रजाः स्रक्ष्यसि**, तदा कर्मानुसारेण करणात् **ते आत्मा** अन्तःकरणं **न अवसीदति** न खिन्नं भविष्यति. इदं ज्ञानमात्रेण न भविष्यति इति सहकार्यन्तरम् आह **अस्मिन्** कार्ये **ते** तुभ्यं **वर्षीयानेव** मम अनुग्रहो वर्तते इति अर्थः ।।३४ ।।

तस्य अनुग्रहस्य स्वरूपं वदन् तत्कार्यमपि विशदयति **ऋषिमाद्यम्** इति.

ऋषिम् आद्यं न बध्नाति पापीयान् त्वां रजोगुणः।
यन् मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ।।३५ ।।

आद्यम् ऋषिं ब्रह्माणं **त्वां पापीयान् रजोगुणो** गर्वजनकः, उत्पत्त्यादि-विक्षेपकर्ता वा **न बध्नाति** इति अनुग्रहः. तत्र हेतुः **यद्** यस्मात् कारणात् तत्र **मयि मनो** निर्बद्धम्. भगवति निर्बद्धं मनः, गुणातीते शुद्धसत्त्वे वा, रजसा व्याप्तं न भवति. कर्म निर्दिशति **प्रजाः संसृजतः** इति. सम्यग् अभिप्रायपूर्वकं प्रजाः सृजतो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यदा रहितम् इत्यत्र. **पश्यन्** इति. भवति इति शेषः ।।३३।।

नाना इत्यत्र. **वर्तते** इति. ब्रह्मकल्पीयवरादिदानमपि अनुवर्तते ।।३४।।

ऋषिम् इत्यत्र. **कर्म निर्दिशति** इति. रजोव्याप्तिजनकं कर्म निर्दिशति इति अर्थः ।।३५।।

मनो रजोगुणव्याप्तं भवत्येव, कर्मस्वभावात्. कूपाद् बहिःस्थितस्य स्थिरस्य कूपे लम्बमानः पादः कदाचिदपि न पतति, तथा मयि निर्बद्धं मनः कदाचिदपि रजोव्याप्तं न भवति इति अर्थः ।।३५ ।।

ननु एतद् ज्ञाने भवति, ममतु यत् त्वद्विषयकं ज्ञानं जातं तत् [क]प्रतीकज्ञानम् आहोस्वित् स्वरूपज्ञानम् इति सन्देहे निराकरणार्थम् आह

ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।

यन् मां त्वं मन्यसे युक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ।।३६ ।।

ज्ञातो अहम् इति. 'तु'शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. **अद्य** इति पूर्वज्ञानं व्यावर्तयति[ख] पूर्वं हि बहिःस्थितं भगवन्तं ज्ञात्वा क्रियया प्राप्तव्यः इति ज्ञातवान्. तद् **अद्य** इति व्यावर्त्त्यते. अन्तःस्थितो भगवान् तपसा भक्त्या च आविर्भूतं भगवन्तं दृष्ट्वा, विचारपूर्वकं यद् ज्ञातवान्, एतद् ज्ञानम्. तद् आह **ज्ञातो अहम्** इति. ननु किम् आश्चर्यं, बहवएव ब्रह्मविदः त्वां जानन्ति. तत्र आह **दुर्विज्ञेयः** इति. देहिनाम् अहं दुर्विज्ञेयएव. देहाभिमानिनः स्वदेहं पश्यन्तो मामपि पश्यन्तः कदाचिदपि न मां ब्रह्मत्वेन ज्ञातुं शक्ष्यन्ति. नहि अन्तःकामे स्थिते कामिनीस्पर्शः कामोद्बोधको न भवति, तदभावेतु कामिन्यपि पुरुषान्तरवत् प्रतिभाति. एवं भगवानपि सच्चिदानन्दविग्रहः प्राकृते विग्रहे विद्यमाने, तदभिमानवता अन्यत्र विनियोगाद् न आत्मत्वेन दृश्यते. स्वविनियोगाद् भगवन्तमपि परं देहिनमेव मन्यन्ते, अतो देहिनां दुर्विज्ञेयः. किञ्च, यस्मात् कारणात् **त्वमेव** पूर्वं मां **भूतेन्द्रियगुणात्मभिः युक्तं मन्यसे**. **भूतानि** पृथिव्यादीनि देहारम्भकाणि, **इन्द्रियाणि** उभयविधानि, **गुणाः** विषयाः, **आत्मा** अन्तःकरणचतुष्टयम्. सर्वैरेव तत्त्वांशैः युक्तम्, अन्यथा बहिः अन्वेषणं न सम्भवति ।।३६ ।।

अतएव मया तुभ्यं मत्स्वरूपं न प्रदर्शितम् इति आह **तुभ्यम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञातः इत्यत्र. **ननु एतद्** इति. ननु रजसा अबन्धनम्. 'एतद्' इति भिन्नं पदम्. **प्रतीकज्ञानम्** इति. अतस्मिन् तद् इति ज्ञानं प्रतीकज्ञानम्. **प्रतीपज्ञानम्** इति पाठेऽपि अयमेव अर्थः फलति. **पक्षम्** इति. प्रतीकपक्षम्. **अन्यत्र विनियोगाद्** इति. देहादिसुखाद्यर्थं विनियोगात्।।३६।।

क. 'प्रतीप' इति मां१-२-३. ख. 'व्यावर्तते' इति मां१-२-३.

तुभ्यं मद्विचिकित्सायां नात्मा मे दर्शितो बहिः ।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ।।३७।।

मद्विचिकित्सायां मत्स्वरूपज्ञानेच्छायां **मे आत्मा** मया **बहिः न प्रदर्शितः,** अन्यथा तव उत्पन्नम् अन्यथाज्ञानं त्वद् बुद्ध्या संवादि जातमिति तव स्वरूपज्ञानमेव न स्यात्. अतो अन्तर्बहिःस्थितोऽपि अहं तव ज्ञानं मा भवतु इति बहिः स्वात्मानं न प्रदर्शितवान्. नच वक्तव्यं, मया न भ्रान्तम् इति; अन्यथा जले अन्वेषणार्थं न गच्छेः. तद् आह **नालेन** इति. नालद्वारा सलिलस्य मध्ये **पुष्करस्य मूलं विचिन्वतः ते** तुभ्यम् इति सम्बन्धः ।।३७।।

तर्हि इदानीं मया ज्ञातम् इति किं प्रमाणं? तत्र आह

यत् चकर्थाऽङ्ग! मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ।।३८।।

यत् चकर्थ अङ्ग इति. **यद्** यस्मात् कारणात् हे **अङ्ग!** मत्स्तोत्रं **चकर्थ.** ननु स्तोत्रमात्रेण कथं स्वरूपज्ञानं? तत्र आह **मत्कथाभ्युदयाङ्कितम्** इति. मम कथा, अभ्युदयश्च उभाभ्याम् अङ्कितम्. स्तोत्रेण भवता स्वज्ञानं सर्वं प्रकटितम्. तत्स्तोत्रं मत्कथया सम्बन्धं, मदीयैव वार्त्ता तत्र कथिता. **मत्कथा** इति वचनाद् अन्यकथा तस्मिन् समारोप्य न कथिता इति सूचितं, किन्तु या कथा सा मदीयैव. विशेषतोऽपि तव ज्ञानं जातं, यतो मदभ्युदयेनाऽपि अङ्कितम्. 'अभ्युदयो' नाम सर्वोत्तमरूपं चरित्रम्. ननु कथं पूर्वं मम ज्ञानं न जातं, पश्चाद्वा जातम्? इति. तत्र आह **यद्वा तपसि ते निष्ठा** इति. **यद्वा** इति वचनात् पूर्वार्द्धं पुनरपि [क]अनुषज्जते. यत् त्वया एतादृशं स्तोत्रं कृतं, यद्वा ते तपसि एवं निष्ठा, एषः सर्वोऽपि मम अनुग्रहएव. अतः पूर्वम् अनुग्रहाभावाद् अदर्शनं, पश्चाद् अनुग्रहाद् दर्शनम् इति. नतु तपसा दर्शनं, तपस्तु अनुग्रहसूचकम् ।।३८।।

एवं तस्य ज्ञानबुद्धिसंयोगः पूर्वं जातएव इति उक्त्वा तद् उपपादितम्. इदानीं चित्तस्य भगवच्चरित्रपरता या प्रार्थिता, तत्र आह **प्रीतोऽहम्** इति चतुर्भिः

प्रीतोऽहम् अस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया ।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं माऽनुवर्णयन् ।।३९।।

चित्तं भगवच्चरित्रपरं तदैव भवति यदि भगवान् प्रीतो भवति. प्रीतः केन

क. 'अनुषज्यते' इति मां१-२-३ पाठः.

जायते? इति सन्दिग्धम्. तत्र भगवान् आह **अस्तु** इति. भगवान् चेत् शुभाशंसनं करोति, तदा प्रीतो भवति. शुभाशंसनं परमेष्टः करोति. अतः सर्वथा आराधितः परमेष्टः चेद् भवति, तदा कृत्या प्रीत्यनुसारेण व्यापारे क्रियमाणेऽपि तस्य कालादिवशात् केनाऽपि अंशेन तदानुगुण्यं चेद् न भवेत्, ततोऽपि भजने, पुनः एवं करणे, पुनः भजने, अशक्यमिव भगवान् मन्यमानः सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः तस्य इष्टम् आशंसते. तदा तस्य सत्यवाक्त्वात् सर्वप्रतिबन्धकनिवृत्त्या भगवत्प्रसादौपयिकमेव तस्य सर्वं सिद्ध्यति. तदा प्रसन्नो भवति इति [1]न अत्र अन्योन्याश्रयः. **ते भद्रम् अस्तु** इति योजनायामपि अयेमव अर्थो अपेक्ष्यते. अनुवादेतु अस्तु इति प्रार्थना न उपपद्यते. प्राप्तकालेऽपि लोटो अनुवादएव स्यात्. अतः **ते भद्रमेव,** त्वद्बुद्धेः चरित्रपरता भविष्यति इति अर्थः. लोकानां स्वाधीनकरणं त्वदभिलषितं सेत्स्यति इति. ननु चरित्रपरतैव मम अभीष्टा, नतु लोकानां विजयः इति चेत्, तत्र आह **यद् अस्तौषीः** इति. यदि लोकविजयेच्छा न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रीतः इत्यत्र. ननु आशंसनेन प्रीतिः, **प्रीत्या** चा(?)मित्यारभ्य **न अन्योन्याश्रय** इत्यन्तम्. **प्रसन्नो भवति** इति. कृतकार्यत्वात् स्वतएव प्रसन्नो भवति. तथाच अनुग्रहेण आराधनं, तेन इष्टत्वम्, इष्टत्वेन शुभाशंसनं, तेन प्रीतिः इति न अन्योन्याश्रयः इति अर्थः. ननु योजनान्तरे को दोषः इत्यतः आहुः **ते** इत्यादि. [2]**अयमेव अर्थो अपेक्ष्यते** इति. चित्तस्य चरित्रपरतारूपवरस्य प्रार्थितत्वात् तदा(द्दा)-नव्याख्यानस्य अत्र आवश्यकत्वात् तस्य च प्रीत्येकसाध्यत्वेन तदाशंशायाएव आवश्यकत्वाद् उक्तएव अर्थो अपेक्ष्यते अतो अनावश्यकत्वमेव दोषः इति अर्थः. ननु **''प्रैषानुवाद प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु''**(पाणि.सू.३।३।१६३) इति सूत्रे चकारेण लोटोऽपि अनुवृत्तिः अस्ति इति प्रकृते भद्रानुवादएव लोडर्थो अस्तु, न आशंसा इत्यतः आहुः **अनुवाद** इत्यादि. **प्रार्थना** इति. चरित्रपरताप्रार्थना. तर्हि प्राप्तकालएव लोडस्तु इति चेत् तत्र आहुः **प्राप्ते**त्यादि. तथाच भद्रस्यैव प्राप्तकालत्वं वक्तव्यं, तत्तु भगवद्-दर्शनादिना प्रत्यक्षतएव सिद्धम् इति कस्यचिद् विषयस्य अभावाद् लोटो अनर्थकएव अनुवादः स्याद् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः ते भद्रमेव** इत्यादि. तथाच आनुपूर्वीम् अनुरुध्य एवं व्याख्याने अयमेव अर्थः सिध्यति इति अर्थः।।३९।।

---

१. मुद्रित पाठस्तु 'नान्योन्याश्रयः' इति. २.अयम् अर्थो. पा.

स्यात्, तदा एतावत्स्तोत्रं न कृतं स्याद्, एवं प्रकारेण च न कृतं स्यात्. **गुणमयम्** अनन्तगुणपरिपूर्णम्. **निर्गुणं** सत्त्वादिभिः प्राकृतैः गुणैः अतीतम्. निर्दोषपूर्ण-गुणविग्रहप्रकारेण माम् अनुवर्णयन् **यद् अस्तौषीः**, अतो ज्ञायते साभिलाषः तादृशेषु गुणेषु इति ।।३९ ।।

तर्हि स्तोत्रमात्रेण कथम् एतावत्फलं भविष्यति? नहि स्वाभिलषित-कीर्तनमात्रेण अभिलषितं प्राप्यते. तत्र आह

य एतेन पुमान् नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।
तस्याऽऽशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ।।४० ।।

यः एतेन इति. अनेन स्तोत्रेण यदि अन्योऽपि स्तोत्रं कुर्यात् तस्याऽपि अहं प्रसन्नः, किमुत तुभ्यम्. **एतेन** स्तोत्रेण **पुमान्** स्वतन्त्रः **नित्यं** नियमेन **मां भजेत्.** भगवत्परिचर्यायां पूजायां वा. इदं स्तोत्रं स्वयं कुर्वन्निव अर्थानुसन्धानपूर्वकं, त्वमिव, यः स्तूयात्; स्तुत्वा च परिचर्यां कुर्यात्; तस्य शीघ्रम् अहं प्रसन्नो भवामि. स्तोत्रं न परिचर्याङ्गम्. प्रसादः परिचर्याफलम्, शैघ्र्यं स्तोत्रफलम्. कालकृतदोषनिवर्त्तकम् इति फलितम्. तेन किं भवेद्? इति आशङ्क्य आह **सर्वकामवरेश्वरः** इति. सर्वे ये कामवराः अभिलषित-पदार्थसिद्धयः, तेषाम् ईश्वरः इति. अतो मयि प्रसन्ने सर्वे कामाः तस्य स्वतः सिद्धाः इति अर्थः.

ननु किं परम्परया स्तोत्रेण कामाएव फलिताः भवन्ति इति कुतो न उच्यते? तत्र आह

पूर्तेन तपसा यज्ञैः दानैर्योगैः समाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ।।४१ ।।

पूर्तेन इति. **पूर्तं** खातादि, **तपः** कृच्छ्रादि, **यज्ञाः** अग्निष्टोमादयः साधनत्वेन कृताः, **दानानि** तुलापुरुषादीनि, **योगाः** आत्मसंयमादयः, **समाधिः** चित्तैकाग्र्यम्. एवं बाह्यधर्मेण केवलं भोगनिरोधेन क्रियाभावरूपशारीरेण, वैदिककायवाङ्मनःकृतेन, लोकोपकाररूपेण इन्द्रियान्तःकरणनिरोधेन च सर्वप्रकारेणाऽपि धर्मेण यत् फलं सिध्यति. नितरां च श्रेयोरूपं मोक्षरूपमपि. तत्र

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पूर्तेन इत्यत्र. **एवम्** इत्यादिभिः तृतीयान्तैः पूर्तादीनां स्वरूपं विवृतं ज्ञेयम्.

विचारे क्रियमाणे किं फलम् इति, तदेव फलं यत् फलमेव, न साधनं, नाऽपि अफलम्. तत्र मोक्षस्याऽपि सर्वाभिलषितत्वाभावाद् वैषयिकसुखनिवर्त्तकत्वेन न तत्फलमेव. यथा वैषयिकाणां गाथा "**अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति, नतु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम्!**"(   ) इति. अतः सर्वसाधारणम् एकं निर्णेतव्यं, यत् सर्वेषामेव सर्वफलरूपं भवति. तत्र सताम् अयं निर्द्धारः **मत्प्रीतिः** इति. तस्याएव तथात्वात्. ते हि खलु तत्त्वविदः सर्ववस्तूनां याथात्म्यं जानन्ति अतः तेषां सम्मतम् ।।४१ ।।

ननु बहूनां प्रीतिहेतूनाम् उक्तत्वाद् मुख्यं तवप्रीतिसाधनं किम्? इति आकाङ्क्षायां, स्वयं हेतुपूर्वकं जीवसम्मत्यर्थम् आह

अहम् आत्माऽऽत्मनां धातः! प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।

अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर् यत्कृते प्रियः ।।४२ ।।

अहम् आत्मा इति. सर्वेषाम् आत्मनाम् अहम् आत्मा. यथा सर्वस्यैव गङ्गाजलस्य गङ्गा, यथा वा सर्वस्याअपि मृदः पृथिवी स्थूला, यथा वा पत्रशाखादीनां वृक्षः; एवम् अहं सर्वेषाम् आत्मनाम् आत्मा. **धातः** इति सावधानतया करणार्थं सम्बोधनम्. ननु आत्मत्वनिरूपणे किं फलं? तवतु तदात्मत्वे हानिरेव; पूर्णत्वात्, तेषाञ्च क्लिष्टत्वात्. तेषामपि न उपकारः, स्वतएव दुःखितत्वात्. यद् वस्तुतो न भवति हितकर्तृ, स्वयं चेतनरूपं, स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपं सत् तत् किं ज्ञानं भवेद्? यथा लोके स्वतो अदाता ज्ञातोऽपि न दाता भवति. तस्माद् अनुवादार्थएव सर्वोऽपि भगवद्वादः इति आशङ्क्य आह **प्रेष्ठः सन् प्रेयसाम्** इति. प्रेयसामपि अहं प्रियः. **अतः** प्रीतिविषयत्वाद् **मयि रतिं कुर्यात्**. देहादौ च रतिं न कुर्याद्, देहादिस्तु आत्मसम्बन्धात् प्रियः. करोम्येव अहं सर्वमेव हितं, परं मयि स्नेहाभावाद् जीवाः तत् सुखं न गृह्णन्ति. अतो यदि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विचारे क्रियमाणे किं फलम् इतीति. किं फलम् इति विचारे क्रियमाणे इति योजना।।४१।।

अहम् इत्यत्र. **यथा गङ्गे**त्यादिदृष्टान्तत्रयेण जीव-परमात्मनोः अवयवावयविभावेन अंशांशित्वं, नतु प्रकारान्तरेण इति बोधितम्. **करणार्थम्** इति. इति करणार्थम्. **अनुवादार्थः** इति. कर्मणा जायमानस्य अनुवादार्थः. **मयि रतिं कुर्याद्** इति.

मयि रतिं कुर्यात्, तदा स्नेहाद् गृह्णीयात्, पश्चात् कृतार्थएव भवेत्. ज्ञानमपि एतदर्थमेव, मत्कृतं गृह्णीयाद् इति. भिन्नतयाऽपि भजने भजनफलत्वेन गृह्णीयात्. तत् तस्य अज्ञानात्. तद्विचारेण इष्टमपि मद्विचारेण न भवति इति न उच्यते. ज्ञानापेक्षयापि प्रीत्या शीघ्रं गृह्णाती इति प्रीतिरेव उच्यते. तेभ्यः स्वकीयं सर्वमेव दीयतइति स्वातन्त्र्यमपि दत्तम् इति **कुर्याद्** इति बोध्यते. अतः प्रीत्यादिकमपि प्ररोचनार्थमेव उच्यते, वस्तुतस्तु मयि रतिमेव कुर्याद्, मत्कृतग्रहणार्थम्. प्रीतस्तु अहं सर्वदा स्वभावतः; अग्रहणाद् अप्रीतएव[क] यथा स्वयम् आत्मानमेव आक्रोशति. तद् निवृत्त्यर्थं रतिः उच्यमाना नित्यप्रीतिपरत्वेन उच्यते. अनयैव भगवच्चरित्रपरता भवति. भगवत्कृतमेव चरित्रम्।।४२।।

एवं द्वितीयं प्रश्नम् उपपाद्य वेदादिविस्मरणलक्षणं तृतीयम् उपपादयति

सर्ववेदमयेनेदम् आत्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना।

प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते।।४३।।

सर्ववेदमयेन इति. अयं तव देहो वेदमयएव, तेन देहाविरोधेन देहेनैव करणेन सर्वं कुरु. तावतैव वेदाः स्थास्यन्ति इति भावः. ननु केवलवेदरूपस्य कथं करणत्वं? नहि देहमात्रं करणं, किन्तु प्रयत्नाविष्टम्. अतः स्वप्रयत्नम् अन्यत्र व्यापारयित्वा करणत्वेन दण्डादिः व्यपदिश्यते. वस्तुतस्तु आत्मैव करणम्. तत्र आह **आत्मना** इति. आत्मसहितेन देहेन एकभावापन्नेन उभयेन. **आत्मा** त्वम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथाच, रतिविधानार्थो भगवद्वादो न अनुवादार्थः इति अर्थः. ननु हितकरणाभावे कथं प्रियत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **करोमि** इत्यादि. **न गृह्णन्ति** इति. विरुद्धत्वभ्रमाद् न आद्रियन्ते, प्रत्युत द्विषन्ति. ननु कृतार्थत्वं ज्ञानादपि भवति इति किं रत्या इत्यतः आहुः **ज्ञानम्** इत्यादि. **एतदर्थम्** इति. एतस्यैव विवरणं **मत्कृतम्** इत्यादि. रतेः अत्र विधेयत्वम् उक्तम् इति फलाकाङ्क्षायाम् इदम् उक्तम्. ननु आत्मत्वेन ज्ञाने रतिरेव फलम् इति कथम् एवम् उच्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भिन्नतया** इत्यादि. **तद्** इति. अत्र ग्रहणम्. तर्हि तद्ग्रहणम् अत्र फलत्वेन कुतः उच्यते इत्यतः आहुः **तद्विचारेण** इत्यादि. **उच्यते** इति. विधेयत्वेन इष्टतया उच्यते. **तेभ्यः** इति. प्रियेभ्यः. **इति बोध्यते** इति. अनेन कर्त्रर्थप्रयोगेण अर्थाद् बोध्यते।।४२।।

क. 'इव' इति मां१-२-३.

अनेन मद्गतमपि सामर्थ्यं तत्रैव दत्तम् इति सर्वं त्वया कर्तुं शक्यम् इति उक्तम्. ननु जीवाः यथा आत्मानः तथा अहमपि इति कथं मम सामर्थ्यं भवेत्? तत्र आह **आत्मयोनिना** इति. आत्मा योनिः कारणं यस्य, मदुत्पन्नत्वात् तव सर्वसामर्थ्यं सिद्धम् इति भावः. अतो **यथापूर्वं प्रजाः सृज. याः च** प्रजाः **मयि अनुशेरते** इति. भगवदीयानामपि सृष्ट्याज्ञा. एवं चतुर्विधाअपि जीवाः त्वया स्रष्टव्या इति.

एतावद् उपदिश्य भगवान् अन्तर्हितः इति आह **तस्मै** इति.

मैत्रेयः उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ।।४४।।

जगत्स्रष्टृत्वादेव तस्मै न अधिकं किञ्चिद् देयम्. ननु तत्साधनानि चेत् तदनुगुणानि न भवेयुः तदा किं कर्त्तव्यम्? इति आशङ्क्य आह **प्रधानपुरुषेश्वरः** इति. प्रधानं पुरुषश्च, तयोः ईश्वरः. भगवदाज्ञया तावपि ससामग्रीकौ तदनुगुणौ भवतः. तावताऽपि तस्य अज्ञानम् आशङ्क्य एकवारं सर्वमेव जगत् प्रदर्शयामास ''एवं कुरु'' इति ज्ञापनार्थम्. तद् आह **व्यज्य इदम्** इति. इदं जगत् प्रकटं कृत्वा. स्वेनैव रूपेण अभिव्यक्तिकरणे न हेत्वन्तरम् उत्पत्त्यादिकम् अपेक्ष्यते, किन्तु स्वस्मिन्नेव शरीरे विद्यमानं जगत् [क]साधारं प्रकाशितवान्. **स्वेन रूपेण** इति अग्रेऽपि सम्बध्यते. नतु तद्रूपं स्थापयित्वा गतः, किन्तु तेनैव रूपेण तिरोहितवान्. **कञ्जनाभः** इति तद् अतिरोधाने जगत्कर्तुं न शक्यते इति सूचितं. नहि कश्चिद् भगवदीयो भगवता उपरि सृष्टिं कर्तुं शक्नोति इति ।।४४।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे नवमाध्यायविवरणम् ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्मा इत्यत्र. **अभिव्यक्तिकरणे न** इति. अत्र 'न' इति भिन्नं पदं बोध्यम्. विशेषप्रश्नोत्तरविचारे अयम् अध्यायो जीवतुल्यतापरिहारमुखेन ईश्वरत्वसाधनस्यैव विशेषः इति बोध्यम्।।४४।।

।। इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे नवमाध्यायविवरणं समाप्तम्।।

क. मुद्रितपाठस्तु 'साधारणम्' इति.

।। दशमाध्यायविवरणम् ।।

जगतो भूतसर्गस्तु ब्रह्मा सोऽत्र निरूपितः ।
भगवत्कृपया युक्तः तादृशाऽस्य निदानता ।।१ ।।
मात्राणि सर्वरूपाणि दश सृज्यान्यतोऽत्र वै ।
दशमे विनिरूप्यन्ते [१]मात्रात्वं चापि कालतः ।।२ ।।
कालेनैव गृहीतास्ते भोग्याः भोक्ताऽन्यथा तु सः ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ दशमाध्यायं विवरिषवो अत्र अवसररूपां सङ्गतिं स्फुटीकर्तुं पूर्वाध्यायम् अनुवदन्ति **जगतः** इत्यादि. ननु पूर्वं स्तुति-प्रसादयोः भूतत्वम् उक्तं, ततो ब्रह्मज्ञानस्य भूतत्वम् उक्तं, किञ्च, पूर्वं ब्रह्मणः पुरुषबुद्धिरूपत्वम्, इदानीं च भूतरूपत्वम् उच्यते इति परस्परविरुद्धं कथम् एतत् सङ्गच्छते? इति आकाङ्क्षायां तत्समाधानाय आहुः **सो अत्र निरूपितः भगवत्कृपया युक्तः** इति. तथाच ''सविशेषणे हि...'' इति न्यायेन भूतत्वं कृपायां पर्यवस्यति. साच प्रसादरूपाऽपि स्तुत्या अभिव्यक्ता इति पूर्वं तयोः तथात्वम् उक्तम्. कृपा च ''**व्यज्येदम्**'' (भाग. पुरा.३।९।४४) इति कथनाद् अन्ततो ज्ञाने पर्यवस्यति. तेन पूर्वाध्याये तथा उक्तम्. ज्ञानं च न केवलं भूतत्वाय अलं, किन्तु आधारसहितम् इति दैहिकमानससृष्टिभ्याम् अवगम्यते. तथा सति कृपायुक्तो ब्रह्मैव भूतत्वेन पर्यवस्यति इति तेषाम् अत्र अन्तर्भावाद् अत्र तथा उक्तम्. बुद्धिरूपत्वन्तु तदाधिदैविकत्वाद् इति पूर्वोत्तर-विरोधाभावात् सर्वं सङ्गतमेव इति अर्थः. एतम् अर्थं स्फुटम् आहुः **तादृशा अस्य निदानता** इति. **अस्य** ब्रह्मणो **निदानता** कार्यजातं प्रति आदिकारणता **तादृशा** उक्तप्रकारकरूपकृता, नतु केवलेन केनापि रूपेण इति अर्थः. यद्वा, बुद्धिरूपत्वम् अनेन बोध्यते. अतो न किमपि अनुपपन्नम् इति अर्थः.

प्रकृतार्थम् आहुः **मात्राणि** इत्यादि. यतो अस्य निदानता कृपाज्ञानादियोगेन, अतो अत्र दशमे नानारूध्य(प)वन्ति दशसृजा(ज्या)नि निरूप्यन्ते इति. तथाच कार्यतागर्भो अवसरः सङ्गतिः इति अर्थः. ननु मात्रानिरूपणे कालकथनस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **मात्रात्वम्** इत्यादि.

तत्कथम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **कालेन** इत्यादि. सृज्याः **कालेन**

१. 'मात्रत्वम्' इति मां१-२-३ पाठः. २. सम्बन्धरूपणार्थं. ख. ग. घ.

भूतानाम् अत्र सम्बन्धो[1] रूपणार्थं कृतिः पुरा ।।

ब्रह्मणा निर्मिता प्राह द्वयं मात्रेति रूप्यते ।।३ ।।

प्रथमतो ब्रह्मनिर्मितमात्रानिरूपणार्थं भगवदाज्ञया ब्रह्मा कथं कृतवान्? इति भगवत्सेवकधर्मज्ञानार्थं विदुरः स्वयम् उल्लासेन पृच्छति

विदुरः उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।

प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ।।१ ।।

अन्तर्हिते भगवति इति. **भगवति** धर्मिणि **अन्तर्हिते** तद्धर्माणामपि अन्तर्भावः आवश्यकः इति, ब्रह्मणा कथं जगत्स्रष्टुं शक्यते इति प्रश्नः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गृहीताः परिच्छिन्नाएव सन्तो **भोग्याः, अन्यथातु** अपरिच्छिन्नत्वेतु **सः** सृज्यवर्गो ब्रह्माभिन्नत्वाद् भोक्ता. तथाच भोग्यत्वं मात्रात्वम् इति तस्य कालकृतत्वात् ततो मात्रात्वम् इति तदर्थं कालनिरूपणम् इति अर्थः.

अत्र एवंभावस्य विवक्षितत्वे गमकम् आहुः **भूतानाम्** इत्यादि. अत्र सृज्यवर्गे **रूपणार्थं** समज्ञानार्थं ब्रह्मणा पुरा प्रथममेव भूतानां सम्बन्धः कृत(तिः) निर्मिता. 'स्वरूपेण आकृतिः' इति पाठे भूतसम्बन्धरूपा आकृतिः देहविन्यासरूपा निर्मिता. **प्राह.** मैत्रेयोऽपि मात्रासर्गे वक्तव्ये ''**तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्**'' (भाग.पुरा.३।१०।१५) इति मात्रद्रव्यजनकशक्तिमत्त्वं च इति द्वयं प्राह. तादृश-शक्तिमत्त्वं च भोक्तृत्वं विना अनुपपन्नम् अतो भोक्तृत्वं च इति समुदितं द्वयं **मात्रे**ति रूप्यते. तथाच ''**भूतसर्गः तृतीयस्तु**''(भाग.पुरा.३।१०।१५) इति अर्धश्लोकः तद्गमकः इति अर्थः.

एवम् अध्यायार्थं निरूप्य अत्र विदुरप्रश्नोपक्षेपप्रयोजनं वदन्तो व्याख्यातुम् आरभन्ते **प्रथमतः** इत्यादि. तथाच, भगवच्चरित्रादिश्रवणेन भक्तानाम् अत्युत्साहो भवति इति एतज्ज्ञापनं प्रयोजनम् इति अर्थः. एतेन उपोद्घातप्रसङ्गौ एतस्य सङ्गतीअपि बोधिते. विदुरमैत्रेयसंवादेतु ''**पश्चादप्येतदीदृशम्**'' (भाग.पुरा. ३।१०।१३) इत्यन्तं विशेषप्रश्नद्वयस्य उत्तरं, तदग्रेतु ''**वद नः सर्गसंव्यूहम्**'' (भाग.पुरा. ३।७।२७) इत्यस्य ''**कतिधा प्रतिसङ्क्रमः**'' (भाग.पुरा.३।७।३७) इत्यस्य च विशेषतः प्रश्नस्य प्रयोजनन्तु [2]उक्र(क्त)मे(व). **इति प्रश्नः** इति. इति हेतोः प्रश्नः

१. सम्बन्धरूपणार्थं. ख. ग. घ. २.तूपक्रमे.पा.

लोकपितामहत्वाद् जनकस्याऽपि जनकत्वात् तज्जनितकार्यदर्शनेन सः प्रपञ्चो जातएव इति सन्देहः. उत्पादने करणद्वयं, देहो मनश्च. वाक्तु वैदिकसृष्टौ प्रविशति, अतः करणद्वयमेव. **कतिधा प्रजाः ससर्ज** इति. प्रकारभेदे भगवदीयं ज्ञानम् अपेक्ष्यते इति तथा उक्तम्. ननु देहेनैव करणम् उचितम्, अतो मानस्यः कथं पृच्छ्यन्ते? तत्र आह **विभुः** इति. सर्वप्रकारेण करणसमर्थः ।।१ ।।

अग्रे निरूप्यमाणस्याऽपि जगतो भगवदीयत्वबोधार्थं पूर्वोक्तानपि प्रश्नान् स्मारयति

ये च मे भगवन्! पृष्टाः त्वय्यर्था बहुवित्तम! ।
तान् वदस्वाऽऽनुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ।।२ ।।

ये च मे भगवन् पृष्टाः इति. **भगवन्** इति सम्बोधनम् अविस्मरणे हेतुः. **त्वयि** इति त्वत्समीपे. **अर्थाः** इति ते प्रश्नाः प्रयोजनरूपाः, अतः सर्वथा ज्ञातव्याः. **बहुवित्तम!** इति सम्बोधनम् उत्तरदाने हेतुः. तेषाम् **आनुपूर्व्येण** कथनप्रार्थनं स्वबुद्ध्या ग्रहणार्थम्. उत्तरं च यथा निःसन्दिग्धं भवति, तथा वक्तव्यम्. तद् आह **छिन्धिः नः सर्वसंशयान्** इति. नतु अयं पृथक् प्रश्नः ।।२ ।।

पृष्टं द्वयमपि आदरेण आह इति आह

सूतः उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः ।
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थान् अथ भार्गव! ।।३ ।।

एवं सञ्चोदितः इति. **प्रीतः प्रत्याह** इति प्रथमप्रश्नोत्तरम्. पूर्वोक्तान् प्रश्नांस्तु अविस्मृतान् हृदिस्थानेव. **अथ** इति भिन्नक्रमेण, नतु प्रथमप्रश्नशेषतया. **भार्गव!** इति सम्बोधनं भगवच्छेषतया सर्वनिरूपणम् इति[1] ज्ञानार्थम्. बहुधा व्याख्यातानितु पदानि पुनः न व्याख्यायन्ते विशेषार्थाभावे ।।३ ।।

तत्र प्रथमप्रश्ने अन्तर्हितोऽपि भगवान्, स्वकीयान् षड्गुणान् ब्रह्मणि स्थापयित्वा गतः इति, ब्रह्मकृतान् अर्थान् षड्भिः श्लोकैः आह. तत्राऽपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति अर्थः. **सन्देहः** इति. प्रकारविषयः सन्देहः. तथा कार्यदर्शनं कारणधर्मतिरोभावः च इति उभयम् अत्र सन्देहबीजम् इति अर्थः ।।१ ।।

---

१. ज्ञापानार्थ्म् क.

निर्दुष्टेन कर्त्तव्यम् इति दोषाभावार्थं श्लोकत्रयम्.

तपो ज्ञानं कृतिश्चैव दोषाभावश्च वर्ण्यते।
आलोचनं कृतिश्चैतद् उपपादनमेव च ॥१॥

प्रथमं भगवदाज्ञा यथा जाता तथा ब्रह्मा कृतवान् इति. धर्मम् आह

मैत्रेयः उवाच

विरञ्च्योऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
आत्मन्यात्मानम् आवेश्य यद् आह भगवान् अजः ॥४॥

विरञ्च्योऽपि इति. भगवान् अन्तर्हितः. विरञ्च्योऽपि तथा [क]भूत्वा तत्र अन्तर्हितः सन्, यथा भगवदाज्ञा जाता तथा कृतवान् अन्तःतथावस्था-तिरोधानाभावे बहिःजगत्कर्तृत्वं न सम्भवतीति तद् उक्तम् **अपि** इति. **दिव्यं वर्षशतम्** इति. सन्ध्यांशे कृतयुगस्य चतुर्थो भागो निरूपितः, पूर्वं च चतुर्थः, तपसि अन्वेषणे च. चतुर्थे भागेतु सर्वपदार्थनिर्माणं भविष्यति. ततः उत्पन्नेषु सर्वेषु युगप्रवृत्तिः. एतत् सर्वं सूचयितुं **दिव्यं वर्षशतम्** इति उक्तवान्. केवलं तपोधर्मो भगवदीयो न भवति इति तपसि विशेषम् आह **आत्मनि आत्मानम् आवेश्य** इति. भगवति अन्तःकरणम् आवेश्य तपःकरणं भगवदुक्तम् इत्येव कृतवान्. तद् आह **यद् आह भगवान् अजः** इति ॥४॥

ततो यद् जातं तद् आह

तद् विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यद् अधिष्ठितः।
पद्मम् अम्भश्च तत्काल-कृतवीर्येण कम्पितम् ॥५॥

तद्विलोक्येति. तपसा तस्य ज्ञानं जातम्. तज्ज्ञानविषयम् आह **अब्जसम्भूतो** ब्रह्मा **यद् अधिष्ठितः** यत् पद्मम् अधिष्ठाय स्थितः. तत् पद्मं दृष्टवान्. तस्य विलोकनं विशेषप्रकारेण, अतः तद्गतं सर्वमेव ज्ञातवान् इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विरञ्च्यः इत्यत्र. **तत्र**(प्रथम)**प्रश्ने** इति. प्रथमदैहिकीनां सृष्टिप्रश्ने. **कारिकायाम्.** कृतिदोषाभावौ तृतीयश्लोकस्य अर्थः. **भगवान् अन्तर्हितः** इति. यथा अन्तर्हितः. **अपि**शब्दार्थम् आहुः **अन्तः** इत्यादि. **तथावस्थातिरोधानाद्** इति (?). प्रस्तुतावस्थातिरोधानात् ॥४॥

क. ''तथा बहिर्भूत्वा'' इति मां१-३ पाठः.

अर्थः. **तत्कालकृतवीर्येण वायुना पद्मम् अम्भश्च कम्पितम्.** वायुना कम्पितत्वज्ञानं वायोश्च प्रलयकालीनत्वम्. दैत्यांशित्वेन वायोः परिज्ञानं, तस्मिन् अनुपसंहृते कार्यं कारणञ्च न स्वस्थं भवेत्. कालेनाऽपि दैत्येभ्यो बलं दीयते ।।५ ।।

ततो धर्म-ज्ञानाभ्यां यत् कृतं तद् आह

तपसा ह्येधमानेन विद्यया चाऽऽत्मसंस्थया ।

विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाऽम्भसा ।।६ ।।

तपसा इति. **एधमानेन तपसा विद्यया च विवृद्धं विज्ञानस्य बलं** यस्य, तादृशो **अम्भसा सह वायुं** पीतवान्. ननु उपासना पूर्वमेव निवृत्ता इति कथम् अस्याः ज्ञानबलजनकत्वं? तत्र आह **आत्मसंस्थया** इति. अन्तःकरणे सा नित्यतया स्थिता मनसा ब्रह्मा नित्यमेव भगवत्परिचर्यां करोति इति उक्तम् ।।६।।

एवं दोषाभावं निरूप्य भयकम्पादिहेतौ वायौ अम्भसि च निवृत्ते, ततो यत् कृतवान् तद् आह श्लोकत्रयेण. तत्र प्रथमं पूर्वज्ञानं तस्य प्रबुद्धम् इति आह

तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यद् अधिष्ठितम् ।

अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ।।७ ।।

तद्विलोक्य इति. **यत्** स्वेन **अधिष्ठितं पुष्करं वियद्व्यापि विलोक्य, प्राक्** पूर्वदिवसे, **अनेनैव** प्रकारेण **अनेनैव** च पद्मेन **लोकान् कल्पितास्मि** कल्पयितास्मि **इति अचिन्तयत्.** [क]'कल्पितास्मि' इति लुट्. अत्र चिन्तनं विमर्शः. ब्रह्मणः शतवर्षे शतं कल्पाः भवन्ति इति कल्प्यते.[ख]''**प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पाः**'' (तत्त्वार्थ.नि.सर्वनि.५८) इति वृक्षसाम्यात् तस्य वर्षान्तरएव अन्यथात्वं स्पष्टम्. तेन एकैकः कल्पः संवत्सराहोरात्रसङ्ख्यापरिमितः. मध्येतु अतिसूक्ष्मभेदः आकलयितुं न शक्यतइति न नामान्तरापादकत्वम्. तथा सति पद्मकल्पाअपि षष्ट्युत्तरशतत्रयपरिमिताः भवन्ति. तदा पूर्वकल्पेऽपि पद्मेनैव जगन्निर्माणं कृतम् इति ''**अनेन लोकान् प्राग्लीनान्**'' इति विमर्शः सङ्गच्छते ।।७ ।।

तदा पूर्ववदेव कृतवान् इति आह

पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।

एकं व्यभाङ्क्षीद् उरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ।।८ ।।

क. 'कल्पयितास्मि' इति मां१-२-३ पाठः. ख. 'कथ्यते' इति क. मां१-३ पाठः.

पद्मकोशम् इति. **तदा** ज्ञानानन्तरम्. **तदेव** पद्मकोशम् **आविश्य एकं** पद्मकोशम् **उरुधा व्यभाङ्क्षीत्.** ननु भगवन्नाभिकमलं कथम् एवं भङ्क्तुम् अर्हति? इति आशङ्क्य आह **भगवत्कर्मचोदितः** इति. भगवदीयसृष्टौ भगवतः एकं कर्म अत्र सङ्क्रान्तम् अस्ति, तेन प्रेरितः. तदा भगवत्कर्मणा प्रेरितस्य भगत्कर्मरूपत्वात् न तस्य अपराधः क्वापि. तत् तस्य खण्डान् आह **एकं व्यभाङ्क्षीद् उरुधा** इति. एकमेव उरुधा **व्यभाङ्क्षीद्,** अवान्तरलोकभेदेन सहस्रशः खण्डान् कृतवान्. जातिभेदेन विभागे क्रियमाणे सत्त्वादिभिः कृत्वा **त्रिधैव भाव्यम्.** प्रसिद्धलोकव्यवहारेण भेदे क्रियमाणे **द्विसप्तधा** अभाङ्क्षीत्, चतुर्दशलोकभेदेन विभागं कृतवान्।।८।।

ननु सर्वेषामेव लोकानां जीवाधिष्ठानानां क्रियमाणत्वात् कथं चतुर्दशलोकेष्वेव कोटिशो जीवसङ्घाः स्थास्यन्ति इति आशङ्क्य आह

एतावान् जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहितः।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ।।९।।

एतावान् जीवेति. जीवानां स्थानभूतस्य लोकस्य संस्थया सम्यग् मर्यादया **भेदो** विभागः **एतावाने**व चतुर्दशधैव. त्रिविधाएव हि सर्वे जीवाः. मध्ये त्रयो राजसाः, अहङ्कारस्य त्रिविधत्वात्. तामसाः सप्त, पञ्चमहाभूतानि मात्राः कार्यञ्च इति. चत्वारः सात्त्विकाः, अन्तःकरणस्य चतुर्विधत्वात्. अत्रैव हि सर्वे जीवाः समाहिताः भवन्ति. सम्यग् **आहितः**. स्थानविभेदेन सम्यक् स्थापितो भेदः. ननु एवं कथं सामर्थ्यं ब्रह्मणः? भगवदाज्ञायामपि स्वतः सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वाद् इति आशङ्क्य आह **धर्मस्य हि अनिमित्तस्य** इति. **अनिमित्तस्य** निष्कामस्य **धर्मस्य** दशशताश्वमेधस्य शतजन्मसाधितस्य **विपाकः** फलम् अयं **परमेष्ठी**. बहुजन्मसाधितधर्मफलत्वात् ब्रह्मणः तथाकरणं युक्तम् इति अर्थः. एवम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतावान् इत्यत्र. **जीवानाम्** इत्यादि. एतेन लोकानां चतुर्दशत्वे तत्प्रकारेषु च उपपत्तिविवरणेन "**पुरुषावयवैर्लोकाः**"(भाग.पुरा.२।८।११) इत्यनेन लोककल्पनायाः काल्पनिकतया पुरुषावयवत्वं पातालादीनाम् असङ्गतम् इति यद् आक्षिप्तं, तत्समाहितं ज्ञेयम्. विभागस्य गुणविभागार्थत्वेन त्रिविधजीवस्थिति-सङ्ख्यार्थत्वेन प्रतिकल्पं क्रियमाणतया लोककल्पनाः, तन्मूलतया पुरुषावयवत्वा-

आधारभूतं जगद् लोकानां मात्रात्वेन निरूपितम्।।९।।

आधेयभूतस्य लोकत्वाद् मात्रात्वं न भविष्यति इति आशङ्क्य, कालवशाद् जीवस्यापि विषयत्वम् इति कालप्रस्तावना. भगवतः उत्पत्त्यादि-कर्तृत्वं श्रुतवतः कालविभेदेन, कालमेव सर्वहेतुं मन्यमानस्य, काले जिज्ञासा उत्पन्ना. तदा पृच्छति विदुरः

विदुरः उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेर् अद्भुतकर्मणः।

कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन्! [1]यथा वर्णय नः प्रभो!।।१०।।

यदात्थ इति. **बहुरूपस्य हरेः अद्भुतकर्मणो लक्षणं यद् आत्थ, तद् यथावद् वर्णय** इति सम्बन्धः. कालो हि भगवतो **लक्षणम्** असाधारणो धर्मः. जगत्कर्तृत्वं नाम जगतः उत्पत्तिकालः इति अर्थः. तल्लक्षणसहितो यः आत्मा सः भगवान्. अतएव बहिरपि भगवान् गरुडध्वजः. भगवतो अतिसूक्ष्मत्वाद् लक्षणमपि अतिसूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम्. कलयति इति कालः, कलनं वा. सर्वस्याऽपि वस्तुनः आकलनं ग्रहणं ज्ञानं वा भगवद्धर्मो भवत्येव. अतएव 'कालः' इति आख्या यस्य लक्षणस्य तस्य कलनं न साधारणम्, अद्भुतकर्मत्वात्. यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बाधकत्वाद् इति. एतेषां श्लोकानां निर्गलितम् अर्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **मात्रात्वेन** इति. सूक्ष्मरूपत्वेन।।९।।

यदात्थ इत्यत्र. राज्ञा कालक्षणस्य अपृष्टत्वात् शुकोक्तौ कालप्रस्तावनायाः किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यम् आहुः **आधेये**त्यादि. सृज्यवर्गस्य भोक्तृत्वाद् भोग्यत्वाभावेन मात्रात्वं न उपपद्यते इति आशङ्क्य कालतो देहसम्बन्धाद् जीवस्यापि भोग्यत्वम् इति तेषां मात्रात्वाय कालप्रस्तावना इति अर्थः. एतेन शास्त्रसङ्गत्यर्थम् इयं प्रस्तावना इति सैव अस्याः प्रयोजनं, न राजप्रश्नपूर्तिः इति बोधितम्. विदुरप्रश्ने बीजम् आहुः **भगवतः** इत्यादि. **कालविभेदेन उत्पत्त्यादिकर्तृत्वं श्रुतवतः** इति अन्वयः. **तल्लक्षणसहितः** इति. कालाख्यलक्षणसहितः. **कलयति इति कालः** इति. कलवली(?) कामधेनू. तथाच कलयति[2] उपादत्त इति अर्थः. **तस्य कलनम्** इति. भगवत्कृतं कलनम्. **यथा आकलने** इत्यादिना **अद्भुतकर्मणः**,

---

१. यथावद्वर्णय प्रभो! पा. यथा तद्वर्णय प्रभो! पा. २.उपादत्तम् इति अर्थः. पा.

आकलने जाते भगवान् अद्भुतं कर्म करोति, यथा वा आकलय्य एकः सन् बहुधा भवति, यथा वा आकलय्य सर्वेषां दुःखं स्वयं दूरीकरोति; मार्गत्रयं वा प्रकाशयति; तादृशस्य लक्षणभूतस्य कालस्य स्वरूपम् अवश्यं ज्ञातव्यम्. अतो अस्माकं तज्ज्ञानार्थं त्वं वर्णय, समर्थत्वात्. तद् आह **प्रभो** इति ।।१०।।

एवं कालस्य अवश्यं निरूपणीयत्वे असाधारणधर्मत्वात् कालं लक्षयति **गुणव्यतिकराकारः** इति.

मैत्रेयः उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः ।
पुरुषस् तदुपादानम् आत्मानं लीलयाऽसृजत् ।।११ ।।

कालो हि अमूर्तो धर्मः अतएव न प्रत्यक्षः, किन्तु कार्यवशाद् अनुमेयः. अतः तस्य लक्षणं न इदमित्थतया वक्तुं शक्यम्. कालः तदैव लक्षणं भवेद् यदि धर्मिणो धर्मेभ्यः कार्याच्च विलक्षणः स्यात्, तदैव आसाधारण्यं भवेत्. तत्र त्रितयवैलक्षण्यार्थं लक्षणे विशेषणत्रयम्. तत्र प्रथमं **गुणव्यतिकराकारः** कालः. गुणानां **व्यतिकरो** अन्योन्यसंश्लेषः आकारो यस्य. अमूर्त्तत्वात् कार्यद्वारैव लक्षणम्. कार्यं पुनः प्रकृतेः गुणसाम्यावस्थारूपायाः. येन भगवद्गुणेन गुणानां व्यतिकरो भवति, प्रथमतः सत्त्वादिरूपेण विभिन्नाः भवन्ति, ततः क्षुब्धाः अन्योन्यञ्च मिलिताः भवन्ति, सः गुणः कालः इति अर्थः. इदमेव च भगवतः आकलनम्. क्रियाशक्तिरूपः प्रथमो गुणो मुख्यः, यो अग्रे प्रकटो जातः. तत्र क्रियाशक्तिभेदाः अन्येऽपि सन्ति. तेषां विशेषनामानि वर्तन्ते. "**स**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बहुरूपस्य, हरेः इति पदत्रयम् एवं क्रमेण व्याख्यातं ज्ञेयम्. **मार्गत्रयम्** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे मूलोक्तक्रमेण कर्मज्ञानभक्तिप्रकाशत्वं बोध्यम्. **तादृशस्य** इति. उक्तरूपस्य भगवतः।।१०।।

गुणव्यतीत्यत्र. **तदैव** इति. उक्तत्रितयवैलक्षण्यएव. व्यतिकरस्वरूपम् आहुः **प्रथम**(तः) इत्यादि. तथाच गुणाः कार्पासत्तन्तवइव प्रकृतेः पृथग्भूय पुनः अन्योन्यमिलिताः पटावस्थामिव प्राप्नुवन्ति, सा गुणावस्था **व्यतिकरः**. सः येन जायते सः **कालः** इति अर्थः. **इदम्** इति. गुणमेलकम्. तस्य मुख्यत्वे हेतुम् आहुः **यो अग्रे** इत्यादि. 'निर्विशेष'पदं व्याकुर्वन्ति **तत्र** इत्यादि. **तत्र** इति. भगवति. **तस्य** इति.

ऐक्षत''(बृहदा.उप.१।२।५) इति इच्छा, ''**सो अकामयत**''(तैत्ति.उप.२।६) इति कामः. तथा तस्य लोकप्रसिद्धकार्यधर्मवत्त्वेन कार्याधेयतया न विशेषणं सिद्धम्. यथा मनोधर्माः इच्छा-कामादयः, तथा न कस्यचित् कालो धर्मः. परं सर्वाधारत्वेनैव प्रतीयते 'इह' 'इदानीम्' इत्यादिशब्दैः. अतो अयं **निर्विशेषः**. कस्यचिद् धर्मत्वे तत्र प्रतीयेत ''घटे कालः'' इति ''भूमौ कालः'' इति. प्रतीयतेतु इह घटे इति, तस्मात् सर्वविशेषरहितो गुणक्षोभहेतुः कालः इति लक्षणम्. किञ्च, बहवएव धर्माः आकाशादीनां व्यावर्तकाः विशेषाः स्वतो विशेषरहिताः भगवद्धर्माः सन्ति. अन्यथा नित्यानां परमाणूनाम् अतीन्द्रियाणां व्यावृत्तिः न स्यात्. तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **अप्रतिष्ठितः** इति. **प्रतिष्ठा** सामाप्तिः, पर्यवसानम्. तद्रहितः इति अर्थः. विशेषास्तु प्रतिष्ठिताः, अन्यथा परमाणूनां परिच्छेदो न स्यात्. अतो असंस्थितो अप्रतिष्ठितः कालः. सर्वएव पदार्थः सन्तिष्ठते, कालस्तु न सन्तिष्ठते. एवं कालस्य लक्षणम् उक्त्वा, सः गुणो भगवता किमर्थं गृहीतः? इति जिज्ञासायां, तस्य प्रासङ्गिकं कार्यं गुणक्षोभरूपं, जगदाधारत्वं वा तस्य मुख्यप्रयोजनं न भवति इति मुख्यं प्रयोजनम् आह **पुरुषः तदुपादानम्** इति. **पुरुषो** भगवान् कारणरूपः, सः स्वगुणानेव कर्तृत्वादि-भावापन्नान् कृत्वा जगत् करोति. तत्र कर्तृत्वं स्वरूपधर्मएव भवति, क्रियाशक्तिः तस्य निर्वाहिका. समवायिकारणन्तु किं भवेद्? अविकृतैव सा भवति. सर्वत्र साक्षात् कार्येषु अविकृतमेव समवायिकारणं भवति, यथा घटे मृद्रूपा पृथ्वी. सा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कालस्य. **कार्यधर्मवत्त्वेन** इति. कार्यधर्मतुल्यत्वेन. अत्र 'वतिः' नतु 'मतुप्'. एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति **यथा** इत्यादि. **अतः** इति. अव्याकृततया कार्यधर्मतुल्यत्वाभावेन, सर्वाधारतया कार्याधेयत्वाभावेन च उभयविधविशेषणरहितत्वात्. एवं 'निर्विशेष'-पदं व्याख्याय पदद्वयसिद्धं लक्षणम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. अत्र भगवतो विशेषाणां च वारणाय **गुणक्षोभहेतुः** इति, भगवदिच्छादीनां वारणाय **सर्वविशेषरहितः** इति ज्ञेयम्. ननु एवं लक्षणसिद्धौ तृतीयविशेषणस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तद् व्याकुर्वन्ति **किञ्च** इत्यादि **सन्तिष्ठते** इत्यन्तम्. तथाच, कालगतविशेषस्य उभयधर्मवत्त्वेन लक्षणदूषकत्वात् तद् व्यावृत्त्यर्थं तद् इति अर्थः. एतेन कार्यस्याऽपि व्यावृत्तिः. **सा** इति. क्रियाशक्तिः. तथाच, यथा रसएव जिह्वा भगवतः, तथा

खननादिना परिच्छिन्ना कर्तृक्रियया व्याप्ता उपादानत्वम् आपद्यते. एवं भगवानपि आत्मानं सृजति, कालम् उपादानं कृत्वा. एकैव पृथिवी कुलाल-चक्र-चीवर-दण्ड-मृद्रूपा स्वधर्मैरेव स्वयं घटरूपा भवति. तत्र अन्ये सर्वे धर्माः कुलालादयो जीवसम्बन्धं प्राप्यैव कर्तृत्वादिभावम् आपद्यन्ते. कुलालशरीरे देवदत्तो जीवः, दण्डे स्थावरः चीवरेऽपि कार्पासः स्थावरएव, चक्रेऽपि पर्वतः, विकारेतु विकारएव. एवं सर्वत्र. तस्माद् यस्मिन् अंशे न कोऽपि विकारः प्रविशति, स कर्तृधर्मव्यतिरिक्तो भगवद्धर्मः कालः. ''**स आत्मानं स्वयम् अकुरुत**''(तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः. **लीलया** इति विशेषप्रयोजनाभावः. **तदुपादानम्** अतिसमीचीनं कर्तुः प्रयासाजनकम् इति ।।११ ।।

ननु एतस्य कालस्य भगवतः का अपेक्षा? उपादानं स्वरूपं प्रकृतिः वा भवतु. तत्र आह

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाऽव्यक्तमूर्तिना ।।१२ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवतः क्रियाशक्तिरेव जगतः समवायिकारणं भवति इति अर्थः. ननु अविकृतायां कथं तथात्वम् इति अपेक्षायाम् आहुः (सर्वत्र इत्यादि). ननु एवं सति अविकृतं ब्रह्मैव उपादानम् अस्तु, किं क्रियाशक्त्या इत्यतः आहुः **सा खननादिना** इत्यादि. **उपादानं कृत्वा** इति. स्वक्रियापरिच्छिन्नं स्वक्रियाव्याप्तञ्च कृत्वा. एकस्यैव कथम् उपादानत्वं निमित्तत्वं, कार्य-कारणयोश्च कथम् ऐक्यम् इति आकाङ्क्षायाम् अंशभेदेन तत्साधयितुं तद्दृष्टान्तम् आहुः **एकैव** इत्यादि. **विकारएव** इति. कार्य-कारणयोः अभेदाद् आकृतिविशेषएव रूपः(?). तथाच यथा अत्र मूलविचारे एकस्याः पृथिव्याएव अंशभेदेन धर्मभेदात् कर्तृकरणकार्यभावः, तथा ब्रह्मणोऽपि इति अर्थः. तेन सिद्धं स्वरूपं कालस्य आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तत्र प्रमाणमेव गमकम् आहुः **सः आत्मानम्** इत्यादि. अस्यां श्रुतौ कर्तृकर्मक्रियाः प्रतीयन्ते, तत्र कर्तृत्वं भगवन्निष्ठं, कर्मत्वं जगन्निष्ठं, अतः तद्धर्मद्वयरहितः, 'अकुरुत' इति पदोक्तक्रियारूपो यः सिध्यति, सः **कालः** इति अर्थः. तेन इच्छया परिच्छिद्यमाना या अनेन व्याप्यमाना बाह्या भगवतः चेष्टारूपा क्रिया (सा) **कालः** इति फलति. एवञ्च उप आदीयते अनेन इति उपादानं, तस्य उपादानं **तदुपादानम्** इत्यपि मूलार्थो बोध्यः।।११।।

विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम् इति. **विश्वं** कार्यं, **ब्रह्म तन्मात्रं** यस्य. यथा महाभूतेषु शब्दादीनां तन्मात्रता, सूक्ष्मावस्थारूपत्वात्. एवं विश्वस्याऽपि ब्रह्मैव सूक्ष्मावस्थारूपम्. पूर्वावस्था ब्रह्म, उत्तरावस्था जगद् इति, तस्य उपसंहारः तिरोभावो **विष्णोः** भगवतो मायया. विष्णू रक्षकः, उपसंहत्री तस्यैव माया. **सम्यक् स्थितं** वा **विष्णुमायया**. अलौकिकसामर्थ्येन स्थितम् उपसंहृतञ्च भवति इति अर्थः. तत्र कश्चित् परिच्छेदको अपेक्ष्यते, अन्यथा एकस्मिन्नपि कार्ये कृत्स्नप्रसक्तिः निरवयवत्वशब्दकोपो वा भवेत्. तस्माद् भगवतएव कश्चिद् धर्मो अस्ति असाधारणरूपः, येन उत्पाद्यमानं[१] कार्यं परिच्छिन्नं भवति. तद् एकं भगवतो रूपम् इति आह **ईश्वरेण परिच्छिन्नम्** इति. ऐश्वर्यमपि गुणः, तत्रैव भगवता स्थापितः. अन्यथाकरणसामर्थ्यं हि तस्य. अतएव कलयति इति कालः. तस्य च[२] रूपम् अव्यक्त एव तिष्ठति. अतः परिच्छेदार्थं कालो अपेक्ष्यते इति अर्थः ।।१२।।

तस्य उपादानत्वं कार्ये प्रदर्शयति

यथेदानीं तथाऽग्रे च पश्चाद् अप्येतदीदृशम् ।

[३]विश्वमेतद् असंक्षिप्तं मायया दृश्यतेऽन्यथा ।।१३।।

यथा इदानीम् इति. कालस्य नित्यत्वात् तदुपादानकं जगद् नित्यमेव, परं यथोपादानत्वम् उपदिश्यते. भूतादिव्यपदेशाः कालकृताः. कालो हि निरन्तरं वर्तमानो जलप्रवाहवत् पूर्वंपूर्वम् उत्तरो बाधते. तदा तदाधारेण जातविकारं जगद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विश्वम् इत्यत्र. **तत्र** इति. भगवद्रूपे जगति. **तद्** इति. परिच्छेदकम्. **कलयति** इति. एकमपि वस्तु परिच्छेदेन भिनत्ति. ननु परिच्छेदकस्य कथम् उपादानत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तस्य** इत्यादि।।१२।।

प्रदर्शयति इति. अन्वयेन प्रदर्शयति. उपदेशं व्युत्पादयति **भूतादी**त्यादि. **पूर्व पूर्वम्** इति. पूर्वपूर्वम् उपाधिं; तथाच, बाधनेन कृत्वा पूर्व उपाधिः भूतत्वेन व्यपदिश्यते इति अर्थः. **तदा** इत्यादि. **तदाधारेण** इति. पूर्वकालोपाध्याधारेण. तथाच, कालगतं भूतत्वं तदाधेये जगति व्यपदिश्यते, यथा पृथिवीगतः आकारो घटे, तथा इति अर्थः. एवं भावित्वमपि. ननु वर्तमानं जगति प्रतीयते, अतो न एवम् इत्यतः

---

१. मुद्रितपाठस्तु 'उत्पद्यमानम्' इति. २. स्वरूपमव्यक्तमेव तिष्ठति. ग. ३. अधिकमेतत्.

भूतत्वेन व्यपदिश्यते. वर्तमानोऽपि कालएव. देशापेक्षाभावाद् न आपेक्षिकं वर्तमानत्वम्. जलादौतु देशापेक्षायाः विद्यमानत्वाद् आपेक्षिकैव वर्तमानता भवति. अतो यादृशः कालः, तादृशं जगत्. कालाधीनेतु एषैव व्यवस्था. अवान्तरकालानां मूलभूतः कालो नियामको जीवानाम् आत्मा भगवानिव. अतः स्वभावतः तुल्यत्वाद् अवान्तरभेदो विवक्षया उच्यते. **इदानीं यथा** जगद्, अग्रेऽपि तथैव भविष्यति इति, **पश्चादपि एतद् ईदृशमेव**. अतो अस्य जगतः कालनियामकत्वाद् न मायिकत्वम्. तस्मात् कार्त्स्न्येन अभिव्यक्तस्वरूपत्वाद् ब्रह्मरूपं जगत् ।।१३ ।।

एवं कालोपादानत्वं जगतो निरूप्य, कालस्य आधिदैविकं स्वरूपम् उक्त्वा, आधिभौतिकं स्वरूपं निरूपयति **सर्गो नवविधः** इत्यादिना यावद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **वर्तमानोऽपि** इत्यादि. **जलादौ** इति. जलादौ आधारान्तर उपदिष्टे. तथाच, वर्तमानं जगद् इति उक्त्वा आधारान्तरनैरपेक्ष्येण वर्तमानकालाधारं जगद् इति प्रत्ययाद् आधारत्वेन प्रतीयमानो यः, सः वर्तमानपदार्थोऽपि कालएव इति तद्गतमेव वर्तमानत्वम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतो यादृशः** इत्यादि. तथाच, कालधर्मस्य भूतत्वादेः जगति दर्शनेन कालान्वयात् कालस्य उपादानत्वम् इति अर्थः. ननु कालोपाधीनां जगत्त्वं [1]कालस्य वा आद्ये भूतत्वादीनां तद्धर्मत्वेऽपि जगद्धर्मत्वं, द्वितीयेतु नित्यत्वाद् बाधाभावेन भूतत्वाद्ययोगः इति कालस्य उपादानत्वं दुर्घटम् इत्यतः आहुः **अवान्तरे**त्यादि. **विवक्षया** इति. अंशांशिभावविवक्षया. तथाच, कालत्वेऽपि एवं नियम्यत्वाद् भूतत्वादियोगेन उपाधिद्वारोपादानत्वं न दुर्घटम् इति अर्थः. एतेन ब्रह्मतन्मात्रत्वमपि जगतः सिद्धम् इति आहुः **इदानीम्** इत्यादि. **अतः** इति. सदा एकरूपत्वात्. **कालनियामकत्वाद्** इति. व्यवहारविषयताद्वारा तन्नियामकत्वात्. सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. सदा एकरूपत्वात् कालनियामकत्वाच्च कार्त्स्न्येन अभिव्यक्तस्वरूपत्वात् तथा इति अर्थः. एतेन "**मात्रात्वं चापि कालतः**" (   ) इति पादो अनया कारिकया यद् उक्तं तत् साधितम् ।।१३।

सर्गः इत्यादीनाम् आभासे. अध्यायद्वयेन कालनिरूपणे बीजम् आहुः

१.काल.पा.

अध्यायपरिसमाप्तिः. आध्यात्मिकभेदान् अग्रिमाध्याये वक्ष्यति. तावता साधारणानां मात्रेन्द्रियाणां कालएव नियामकः. तेषां बुद्धिस्तु वेदाद् ब्रह्मादिभिश्च. अतो भगवदधीनाः ते भगवदाज्ञया संसारे प्रवृत्ताः. भगवान् भगवदाज्ञा च तेषां मूलं, महाभूतवत्. विषयेन्द्रियाणितु कालधीनान्येव कालरूपाणि. ताः मात्राः त्रिविधाः इति आध्यात्मिकान् आधिभौतिकांश्च निर्दिशति

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ।

कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः ।।१४।।

सर्गो नवविधः इति. **प्राकृतः** आधिभौतिकः षड्विधः. **वैकृतः** आध्यात्मिकः त्रिविधः. उभये नवविधाः. 'तु'शब्दो वैकृते भेदान्तरम् अस्ति इति ज्ञापकः. वैकृतोऽपि आध्यात्मिकाद् वैकृताद् भिन्नः आधिदैविकः. अतएव **यः** प्रसिद्धः. उत्पत्तिः नवविधा, त्रिविधानामपि गुणानाम् उत्पादकत्वात्. **प्रतिसङ्क्रमस्तु त्रिविधः,** तामसानामेव नियामकत्वात्. तत्र अधिकारिणः त्रयः, कालो द्रव्यं गुणाश्च इति. **कालेन** पदार्थाः प्रकृतौ प्राप्यन्ते. **द्रव्यैः** वायुदण्डादिभिः गुणैः विरोधिभिः विरुद्धाः गुणाः प्रादुर्भूताः. कर्मणा विहितप्रकारेण देवादिभावे प्राप्ते मानुषादिभावाः निवर्तन्ते इति सत्त्वादिभिरेव पूर्वस्य प्रलयः. नियतस्तु कालकृतः प्रलयः, अनियतौ इतरौ ।।१४।।

सर्गाणां नवविधत्वम् उपपादयति **आद्यस्तु** इति.

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यम् आत्मनः ।

द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।।१५।।

सर्गा अत्र विभेदेन कालतः क्रियया तथा ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तावता इत्यादि. **साधारणानाम्** इति. व्यष्टिसम्बन्धिनाम्. तथाच, कालस्य उभयनियामकत्वबोधनाय अध्यायद्वयेन निरूपणम् इति अर्थः. **मूलम्** इति. तन्मात्रारूपम्. गुणानां प्रलायकत्वम् उपपादयन्ति **कर्मणा** इत्यादि. अत्र गुणानां तामसत्वं देहरूपत्वाद्; द्रव्यस्यतु स्फुटमेव; कालस्यतु गुणानुरोधाद् बोध्यम्।।१४।।

आद्यः इत्यत्र. **कारिकासु.** प्रकृतसर्गस्य कुतः षड्विधत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सर्गाः** इत्यादि. **अत्र** इति. प्राकृतसर्गे. **तत्त्वेऽपि** इति.

अतस्तत्त्वेऽपि षड्भेदाः पारम्पर्यं न दूषणम् ।।१ ।।
महत्त्वेन प्रकारेण जगत् सर्वं तथोद्गतम् ।
अतो जगत एवाऽत्र सर्गो हेतुर्महान् पुनः ।।२ ।।
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
तच्चतुष्टयम् अत्राऽस्ति तेन सर्गत्वम् अस्य हि ।।३ ।।

'तु'शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. महत्तत्त्वस्य न केवलं जन्ममात्रं, किन्तु **महतो** जन्म **सर्गः**. तत्रापि **आद्यः** सर्गान्तरापेक्षया. अयं सर्गः सर्वोपकारी. महत्त्वाद् बुद्धिः उक्ता. तस्य महत्तत्त्वस्य योनेः सकाशाद् उद्गमइव सर्गो अत्र न विवक्षितः. किन्तु आत्महेतुको गुणानां विषमो भावः. तत्र सत्त्वं धीनिमित्तं, भगवतो धीनिमित्तत्वे सत्त्वं मनोनिमित्तं, विषयाः राजसाः, भूतानि तामसानि. [१]वैषम्याभावे तु स्थित्यादिहेतुत्वम्. आत्मनः सकाशाद् गुणानां वैषम्यम् एतदेव महत्तत्त्वसर्गः इति अर्थः. द्वितीयम् आह **द्वितीयस्तु** इति. अत्राऽपि जन्ममात्रं व्यावर्त्त्यते. **अहमो** अहङ्कारस्य सर्गो द्वितीयः. अत्राऽपि चतुर्विधत्वम् आह. यथा सर्गे गुणवैषम्यम् अपेक्षितम्, एवं द्रव्यज्ञानक्रियाणामपि उदयो अपेक्षितः. द्रव्यम् अधिभूतं, ज्ञानम् अधिदैवं, क्रिया आध्यात्मिकी. आद्यो भावो वैषम्यं, द्वितीयो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्राकृतत्वेऽपि. नच एवं सति काल-क्रिययोः विद्यमानत्वाद् युगपदेव षडपि स्युः इत्यतः आहुः **पारम्पर्यं न दूषणम्** इति. श्रुतावपि सर्वसमर्थब्रह्मणः साक्षात् सृष्टिवत् क्रमसृष्टेरपि कथनाद् इच्छाविशेषस्यैव नियामकत्वात् तद् न दूषणम् इति अर्थः. ननु भवतु एवं, तथापि प्रथमं महतएव कुतः सर्गः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **महत्त्वेन** इत्यादि. स्फुटो अर्थः. उत्पत्त्यादिशब्दानुक्तौ बीजम् आहुः **भूते**त्यादि. **पक्षं व्यावर्तयति** इति. पूर्वोक्तानुवादपक्षं व्यावर्तयति. पूर्वस्माद् भेदं बोधयितुं तदेव व्याकुर्वन्ति **महत्तत्वस्य** इत्यादि. **बुद्धिः उक्ता** इति. बुद्धिरूपता उक्ता. **अत्र न विवक्षितः** इति. ''**वीर्यमाधत्त**''(भाग.पुरा.३।५।२६) ''**साऽसूत महत्तत्वं हिरण्मयम्**''(   ) इतिवद् अकथनाद् अस्मिन् कल्पे तथा न विवक्षितः. वैषम्यप्रकारम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **मनोनिमित्तम्** इति. उपलक्षणम् एतद्, इन्द्रियनिमित्तम् इति अर्थः. **स्थित्यादिहेतुत्वम्** इति. गुणानाम् इति शेषः।।१५।।

---

१. वैषम्यादिभावे क. ग.मां१-३

भावः त्रैविध्यम्. **यत्र** इति अधिकरणं, कारणरूपं महत्तत्वं बुद्धिः ।।१५ ।।

तृतीयम् आह

भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ।
चतुर्थः ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ।।१६ ।।

भूतसर्गः इति. अत्राऽपि 'तु'शब्दः पूर्ववत्. यथा क्षोभापेक्षा, यथा वा ज्ञानक्रियाविषयाणां, तथा परिणामहेतुरूपस्याऽपि. तच्च रूपं भोक्तृभोग्य-भावापन्नं वक्तव्यम् इति भोग्यं तन्मात्रत्वेन विवक्ष्यते, भोक्ता शरीरसाधक-भूतत्वेन. तद् उभयम् आह **तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्** इति. **तन्मात्रः** पञ्चतन्मात्रारूपः. **द्रव्यशक्तिः** परिणामः, तत्सहितः तृतीयसर्गः इति अर्थः. एवं त्रिभिः सर्गैः कार्यं निष्पद्यते, त्रिभिश्च ज्ञायते. तत्र प्रथमं **चतुर्थः ऐन्द्रियः सर्गः** इन्द्रियसम्बन्धी सर्गः. इन्द्रियाणां स्वरूपोत्पत्तिः न सर्गः किन्तु कार्योपयोगित्वेन. अतो अनुवादे 'तु'शब्दः. कार्ये भिन्नतया उत्पत्तिव्यावृत्त्यर्थं सर्गः पूर्वत्रैव योजितः. **यस्तु** इति अनुवादः स्वरूपकार्ययोः भेदनिरूपणार्थः. ज्ञानात्मकः क्रियात्मकश्च, उभयं हि इन्द्रियकार्यम्. क्रियात्मकत्वेन भूतानि इन्द्रियाणि च उक्तानि.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आह इति. 'सर्ग'शब्दानुषङ्गेण मैत्रेयः आह. तस्य सर्गस्य स्वरूपं कारणञ्च आहुः **भूतसर्गः** इत्यादि. **पूर्ववद्** इति. जन्ममात्रत्वव्यावृत्त्यर्थः. **यथा** इति. निमित्तभेदं विना कार्य-कारणयोः वैजात्याभावात् तदर्थं यथा इति अर्थः. **तच्च** इति. परिणामहेतुभूतम्. **द्रव्यशक्तिः** इति. द्रव्यात्मिका शक्तिः द्रव्यशक्तिः इति अर्थः. तथा मूले भूतसर्गो नाम भूतरूपपरिणामसहितो मात्रासर्गो भूतसर्गः इति अर्थो भवति. द्वैरूप्यबोधनप्रयोजनम् आहुः **एवम्** इत्यादि. तथाच माध्यमिकस्य अस्य द्वैरूप्यकथनेन एकैकस्य त्रिकस्य तथात्वबोधनं (प्र)योजनम् इति अर्थः. **तत्र** इति. ज्ञापकत्रिकसर्गे. **कार्योपयोगित्वेन** इति. उत्पत्तिः इति शेषः. अत्र गमकम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति. कार्यजननानुकूल्यस्यापि विवक्षितत्वात्. 'सर्ग'पदं पुरोवादे यद् उक्तं, तस्य आशयम् आहुः **कार्ये** इत्यादि. **भिन्नतया** इति. भूतमात्रादिघटितशरीरवत्त्वेन अभेदनिरूपणार्थः इति स्वरूपं भूतादिघटितं, तच्च कार्याकरणदशायां केवलम् इति स्वरूपवैलक्षण्य-निरूपणार्थः. **ज्ञाने**त्यादि. अनेन तत्कार्यकरणेबीजम् उक्तं, तत्तदात्मकत्वात् तत्र जनक इति. अत्र प्रयोजनान्तरमपि सङ्गृह्यते इति आहुः **क्रिये**त्यादि।।१६।।

ज्ञानात्मकत्वेन तन्मात्राणि धियश्च उक्ताः ।।१६ ।।

पञ्चमम् आह

वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ।

षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतो विभोः ।।१७ ।।

वैकारिकः इति. **वैकारिकः** सात्त्विको देवानां सर्गः. अत्र देवानां सर्गे स्वरूपतः उत्पत्तिः. अतीन्द्रियत्वेन अव्यवहार्यत्वेन च द्वैविध्याभावाद् न पक्षव्यावृत्तिः. यथा ज्ञानेन्द्रियाणि अपेक्ष्यन्ते क्रियायाञ्च, तथैव देवताप्रेरणं, तदभावे ग्रहणानुपपत्तेः. **वैकारिकत्वेन** त्रिरूपता, देवत्वाद् बुद्धिरूपत्वम्. ननु एतेषां देवानां किं कार्यं? प्रेरणन्तु अन्तर्यामि–जीवाभ्यामेव उपपद्यते इति आशङ्क्य आह **यन्मयं मनः** इति. पञ्चमसर्गप्रचुरं मनः. यथा इन्द्रियाणां सद्भावेऽपि मनोव्यतिरेकेण न ज्ञानक्रियोदयः, **''न अश्रौषम् अमनाः''**(   ) इत्याद्यभिलापात्. नहि सजातीयनियमनव्यतिरेकेण केवलं चेतनेन, राज्ञेव, सर्वथा नियमनं कर्तुं शक्यते. अतः सामान्यतो मनो यथा नियामकं, तथा इन्द्रियदेवताअपि. वैकारिकत्वेन च ऐक्यम्. वैकारिकत्वं पूर्वरूपं, प्रेरकत्वम् उत्तररूपम् इति. षष्ठम् आह **षष्ठस्तु** इति. इन्द्रियग्राह्यत्वं भगवतो न सम्भवति इति अन्तरा निष्पत्तिरूपाम् अविद्यां मन्यते. सा केवलं तामसी. अविद्या–

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वैकारिकः इत्यत्र. 'तु'शब्दस्य पूर्वम् अग्रे च उक्तत्वाद् अत्र तदनुक्ति-तात्पर्यम् आहुः **अतीन्द्रिये**त्यादि. **द्वैविध्याभावाद्** इति. कार्यजननार्थं स्वरूप-वैलक्षण्यस्य अनपेक्षितत्वेन तद्द्वैविध्याभावाद् ननु देवसर्गस्य किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यथा** इत्यादि. कर्मेन्द्रियैः कर्मकरणेऽपि तदनुग्राहकत्वेन यथा ज्ञानेन्द्रियाणि क्रियायाम् अपेक्ष्यन्ते, तथा ज्ञानेन्द्रियैः ज्ञानजननेऽपि अनुग्राहकत्वेन देवताप्रेरणम् अपेक्षितसमानन्यायेन क्रियायामपि अपेक्षितम् इति अर्थः. अत्र सर्गत्वप्रयोजकं रूपम् आहुः **वैकारिके**त्यादि. **त्रिरूपता** इति. भूतमात्रेन्द्रियरूपता. **किं कार्यम्** इति. किं प्रयोजनम्. ननु **''यन्मयं मनः''** इत्यस्य देवसर्ग-प्रयोजनोपपादकतया कथनेन मनसः सर्गो अनुक्तएव स्याद् इति आशङ्कानिरासाय आहुः **वैकारिकत्वेन ऐक्यम्** इत्यादि. तथाच एवं मनसो देवतासाम्याद् वैकारिकः इति विशेषणबलात् तस्यापि सङ्ग्रहः इति न अनुक्तिः इति अर्थः.

प्रकृतिमायानां मध्ये, प्रथमायाः प्राकृतविषयत्वात्, प्राकृतैः सा वा, तत्कार्यं वा, गृह्यते. अतो ग्रहणार्थं तामसः षष्ठः सर्गो विषयः. तामसत्वमात्रेण विषयत्वे भूतसर्गोऽपि तथा स्याद्. अतः तद्व्ययावृत्त्यर्थं **यः** इति अनूद्य 'तु'शब्दः. **अबुद्धिकृतो** अज्ञानकृतः. ननु अज्ञानेन शुक्तिका-रजतवद् मिथ्याभूतमेव किञ्चिद् उत्पद्यते तस्य कथं सर्गत्वं? सृज्याभावात्. इति आशङ्क्य आह **विभोः** इति. समर्थस्य. सहि अज्ञानप्रकारेणाऽपि सदभिव्यक्तिं कर्तुं शक्नोति, अतो अस्य गृह्यमाणविषयस्य अविद्याकृतत्वेऽपि सर्गत्वम् ।।१७।।

एवम् आधिभौतिकप्रकारेण निरूपितान् षट् सर्गान् उपसंहरति

षड् इमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ।।१८।।

षड् इमे प्राकृताः सर्गाः इति. एवं विभागं चेद् न कुर्यात् सप्तमादि-प्रयोगात् सर्वेऽपि एकविधाः भवेयुः. एवं प्राकृतान् उपसंहृत्य वैकृतेषु सावधानतया भेदाः ज्ञातव्याः इति आह **वैकृतानपि** इति. प्राकृतकार्यं वैकृतं प्राकृते निरूपिते निरूपितं भवति इति वैकृतानां न भेदो, न स्वरूपं वा सिद्ध्येत्. अतो **मे शृणु** इति आह. मत्तएव एते भेदाः श्रोतुं योग्याः, नतु अन्यो जानाति इति भावः. अतो व्यासङ्गव्युदासार्थं **शृणु** इति उक्तम्. ननु एते प्राकृतवैकृताः लौकिकाः भगवद्भक्तैः कथं श्रोतव्याः? इति आशङ्क्य आह **रजोभाजो भगवतः** इति. यदा भगवान् रजोगुणम् उत्पत्त्यर्थं, क्षेत्ररजो वा कामार्थं भजते, तदा एवं लीलां करोति. अतो भगवल्लीलात्वात् श्रोतव्याएव सर्गाः. ननु न सर्वाः भगवल्लीलाः श्रोतव्याः "**यावानर्थ उदपाने**"(भग.गीता.२।४६) इति न्यायेन स्वोपयोगिन्येव लीला सेव्या इति आशङ्क्य आह **हरिमेधसः** इति. हरिः सर्वदुःखहर्त्री मेधा यस्य. भगवद्विषयिणी या काचिद् मतिः, सैव सर्वदुःखहर्त्री. तस्माद् या कापि भगवल्लीला श्रोतव्यैव. किञ्च, नियता विषयबुद्धिः भगवत्सम्बन्धित्वेन अत्र बोध्यते. अतो लीलान्तरापेक्षया मात्रारूपाः लीलाः कालसम्बन्धित्वात् सहजनाशिकाः तद्दोषनिवृत्त्यर्थं च अवश्यं भगवदीयत्वेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सर्गत्वम् इति. भगवत्सामर्थ्यादिव सर्गत्वं, नतु स्वरूपबलाद् इति अर्थः. अत्र अस्य प्राकृतसर्गस्य आवरणतत्त्वत्वं मध्यतत्त्वत्वं, महाभूतन्यायेन बोध्यम्।।१७।।

ज्ञातव्याः. एतदेव अभिसन्धाय 'मेधः'पदम्. यथा मेधा शब्दो बुद्धिवचनः, एवं 'मेधस्'शब्दोऽपि 'अस्'प्रत्ययान्तः ।।१८।।

तस्मात् श्रोतव्यम् इति उपपाद्य वैकृतेषु प्रथमम् उपपादयति

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः।

वनस्पत्योषधिलताः त्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।।१९।।

सप्तमः इति. वैकृतेषु, मुखे भवो मुख्यः. **अन्नं प्रथमतः सृज्यम् अन्नादाः तदनन्तरम्, अन्यथा बाधकं त्वग्रे वक्ष्यते प्रक्रियान्तरे।।१।।** अतो मुखे भवो भक्ष्यत्वेनैव परिकल्पितः, सर्वजीवनोपयोगी प्राथम्येन उपकल्पितः. मनसा सह कर्मेन्द्रियाणां षड्विधत्वाद् आद्यः **षड्विधः**. ते यथा भक्ष्यमाणाअपि न अपसरन्ति, ततः **तस्थुषां यः** इति उक्तम्. स्थावराणामेव यः षड्विधः सर्गः, सएव अत्र ग्राह्यः इति 'यच्छ'ब्देन निर्दिष्टः, नतु जङ्गमत्वेन जातः स्थावरताम् आपद्यमानः, तस्य भगवल्लीलात्वाभावात्. **च**कारात् तेऽपि शास्त्रतो निरूपिताः परिगृहीताः दुग्धादयो वा **च**कारेण परिगृहीताः. **वनस्पतयो** अश्वत्थादयः. प्रथमतो वनस्पतीनां ग्रहणं, पालने विष्णोः प्राधान्याद् वैष्णवत्वेन, "**वैष्णवा वै वनस्पतयः**"(   ) इति श्रुतेः. पुष्परहिताः सफलाः वनस्पतयः, रजोरहिताः सफलाः वैष्णवाः. **ओषध्यो** व्रीहियवादयः फलपाकान्ताः, ते हि मुख्यम् अन्नं भवन्ति. **लताः** कूष्माण्डादयः, मेदोरूपाः व्यञ्जनात्मकाः. **त्वक्साराः** वेणवः अन्नस्थित्यात्मकाः, वेणुयवाः अन्नं, वेणवश्च बहूपयोगिनः. **वीरुधः** सोमादयः, तृणादयश्च. तेषामपि उभयरूपत्वम्. **द्रुमाः** सफलपुष्पाः आम्रादयः. एतैः षड्विधैः अद्यमानैः अत्तारः सुप्रतिष्ठिताः भवन्ति।।१९।।

ननु एतेषां षड्विधानां केन धर्मेण एकसर्गत्वम्? इति आशङ्क्य तान् धर्मान् निर्दिशति

उत्स्रोतसः तमःप्राया अन्तःस्पर्शाविशेषिणः ।।२०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सप्तमः इत्यत्र. **तेऽपि** इति. जङ्गमत्वेऽपि स्थावरत्वम् आपद्यमानाः पशवोऽपि. **परिगृहीताः** इति. मुख्यसर्गत्वेन परिगृहीताः. बर्हिषदुपाख्याने हिंस्रयज्ञस्य जघन्यत्वकथनात् पक्षान्तरं श्रौतम् आहुः **दुग्धा**दीत्यादि. **उभयरूपत्वम्** इति. अन्नरूपत्वम् अन्नस्थापकरूपत्वञ्च।।१९।।

उत्स्रोतसः इति. एते हि सर्गरूपाः भूतादिभावरूपाः वक्तव्याः. तेऽपि चतुर्भिः विशेषणैः निरूप्यन्ते. ऊद्ध्र्वं स्रोतः आहारसंचारो येषां, तेषां भक्षितं जलादिकम् ऊद्ध्र्वमेव गच्छति. अनेन भूतत्वं निरूपितं, विपरीतं वा. बुद्धिर्हि क्रिया बोध्या, ते पादपाः इति तेषां बुद्धिः निरूपिता. **तमःप्रायाः** इति ज्ञानाभावः. अज्ञानं तत्रैव पर्यवसितम्. 'प्रायः'पदव्यावर्त्यार्थं वदन् विषयत्वं निरूपयति **अन्तःस्पर्शाः** इति. अन्तः स्पर्शमात्रं गृह्णन्ति, नतु अन्यविषयकं ज्ञानम् अस्ति इति अर्थः. यत्तु भारते वृक्षाणां सर्वेन्द्रियत्वं साधितं, सर्वज्ञानञ्च तद् अधिष्ठातृदेवतापरम्, अभिमानिनान्तु स्पर्शएव. **अविशेषिणः** च हस्तवित-स्त्यादिपरिमाणे नियमरहिताः विशेषसञ्ज्ञारहिताः वा ।।२० ।।

एवं सप्तमं निरूप्य अष्टमं निरूपयति

तिरश्चाम् अष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ।।२१ ।।

तिरश्चाम् इति. तिर्यग् आहारसंचारो येषां ते तिर्यञ्चः. तिर्यग् अञ्चति इति गोभिः भक्षितं तिर्यग्भागेनैव गच्छति इति. तेषां **सर्गो अष्टमः**, अन्नस्य भक्षकोपयोगित्वात्. **सो अष्टाविंशद्विधः,** तत्त्वानां तथात्वात्, तत्त्वैरेव भक्षितस्य प्रार्थितत्वात्. यद्यपि बहवो भेदाः सन्ति तथापि भेदकप्राधान्याद् अष्टाविंशद्विधएव मतः. अन्येषाम् अत्रैव अन्तर्भावो वक्ष्यते, वैकृतत्वं वा निराकरिष्यते. एतेषामपि पूर्ववत् चतुर्द्धा लक्षणम् आह **अविदः** इति. वेदनं वित्, स्वस्य कर्त्तव्याकर्त्तव्यानुसन्धानं, पारलौकिकज्ञानं वा, तद्रहिताः अविदः. **भूरि** अधिकं **तमो** येषाम्, अतः तमसा अभिभूताः सत्सङ्गे जातेऽपि न ज्ञानयुक्ताः. येतु देवपशवो वैकुण्ठादिस्थिताः वृक्षाः वा ते कालाधिभूताः न भवन्ति इति न तैः लक्षणाव्याप्तिः. तेषां सर्वेन्द्रियसद्भावेऽपि घ्राणेनैव विशेषतः पदार्थान् जानन्ति, चक्षुरादिभिस्तु न निर्द्धारः, तमोभूयस्त्वात्. **हृद्यवेदिनः** इति. पूर्वानुभूतस्मृति-शून्याः चिन्तारहिताः वा, वेदनं वेदः इति. अज्ञानं तेषां भूतस्थानं, मोहो विषयः, इन्द्रियाणि घ्राणमात्रपर्यवसितानि, बुद्धिस्तु अनुभवरूपैव ।।२१ ।।

ते त्रिविधाः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तिरश्चाम् इत्यत्र. **अन्येषाम्** इति. अनुक्तानां खड्गमूषकादीनाम्।।२१।।

सात्त्विका द्विशफाः प्रोक्ता राजसास्तु चतुःशफाः।
तामसा इतरे प्रोक्ता गुणानां हीनता परा ।।१ ।।
गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ।।२२ ।।

नव **द्विशफाः** गवादयः. **कृष्णः** कृष्णमृगः, **गवयो** गोसदृशः, **रुरुः** बहुशृङ्गमृगः. एते द्विशफाः. एते पुनः यज्ञपशवः. 'तिर्यक्'शब्दवाच्याः द्विशफाः पशवश्च. यत्र पशवो निर्दिश्यन्ते तत्र एते ग्राह्याः. **अविः** मेषः उष्ट्रश्च. **सत्तम** इति सम्बोधनं पशुगणनायां भगवत्कृतसृष्टौ अन्यथाज्ञान-निवारणार्थम् ।।२२ ।।

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षत्तः! शृणु पञ्चनखान् पशून् ।।२३ ।।

षड् **एकशफाः** खरादयः. **गौरो** गौरमृगः आरण्यः. **शरभो** अष्टापदः. **चमरी** गोसदृशो मृगः, **च**काराद् अन्येऽपि अप्रसिद्धाः आरण्याः. ग्राम्यचमरीणां द्विशफत्वं, ताः न भगवत्सृष्टाः. **क्षत्तः** इति सम्बोधनं नैपुण्यार्थम्. एतएव बहुविधाः विश्वामित्रादिभिः योगबलेन सृष्टाः भवन्ति. तद् व्यावृत्त्यर्थं **शृणु** इति निर्देशनं पञ्चनखेषु बहुसन्देहसूचकम्. पञ्चनखाः मनुष्याअपि, तद् व्यावृत्त्यर्थं **पशून्** इति उक्तवान्. मनुष्याणामपि यद्यपि पशुत्वं श्रुतिसिद्धं, तथापि विवक्षितं न भवति इति तद्व्युदासः।।२३।।

श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ।।२४ ।।

त्रयोदश **श्वा**दयः. तत्र मकरादयः सर्वे अभूचराः एकविधाः अण्डजाः. **कूर्मो** जलचरोऽपि अण्डजत्वाभावात् पृथग् गणितः. **मकरादयः** इति. 'आदि'शब्देन सर्पादयोऽपि परिगृहीताः, अण्डजत्वसाम्यात् ।।२४ ।।

तत्राऽपि प्रधानभूतान् निर्दिशति

कङ्क-गृध्र-बक-श्येन-भास-भल्लूक-बर्हिणः।
हंस-सारस-चक्राह्व-काकोलूकादयः खगाः ।।२५ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कङ्केत्यस्य आभासे. **तत्रापि** इति. अण्डजेष्वपि।।२५।।

कङ्केति. **भल्लूको**ऽपि पक्षिविशेषः, नतु ऋक्षः. तं विश्वामित्रसृष्टं केचिद् आहुः, पद्मकल्पे तदभावो वा. 'आदि'शब्देन सूक्ष्माअपि सर्वे परिगृहीताः ।।२५।।

एवं भोग्यभोक्तॄन् निर्दिश्य तदुभयनियामकान् निर्दिशति

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।

रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ।।२६ ।।

अर्वाक्स्रोतः इति. 'तु'शब्दो अत्र पूर्ववद् जननं व्यावर्तयति. अर्वागेव **स्रोतः** आहारसञ्चारो यस्य, सः **नृणां** सर्गः **एकविध**एव. सर्वे पञ्चनखाः, जलचराअपि तथा. एकपादाः जलचराश्च तस्मिन् कल्पे न सन्ति इति वा. तेषां पूर्ववद् लक्षणम् आह **रजो अधिकाः** इति. रजोगुणएव तेषाम् अधिकः, न सात्त्विकाः, नाऽपि तामसाः इति. ये पुनः भगवदीयाः ते गुणातीताः देवाएव, न नराः, ब्रह्मसृष्टाः वा न भवन्ति, पद्मकल्पे वा तदभावः. भूतस्थानीयं रजः. सर्वदा **कर्मपराः** कुर्वन्तएव तिष्ठन्ति. ज्ञानेन्द्रियाणि तेषां गौणानि, अनेन विषयेन्द्रिय-निरूपणम्. **दुःखे च सुखमानिनः** इति बुद्धिः. **च**कारात् सुखे, दुःखसाधने च. एवम् आधिभौतिकादिभेदेन स्थावरजङ्गमाः मनुष्याश्च निरूपिताः त्रयएव ।।२६ ।।

अन्ये स्थानरूपभिन्नाअपि न सर्गत्वं प्राप्नुवन्ति. तद् आह

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम! ।

वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ।।२७ ।।

वैकृताः त्रयएव एते इति. **देवसर्गः च सत्तम** इति. मनुष्याएव पुण्यपरिपाकवशाद् देवाः भवन्ति इति केचित्. अतो नवैव सर्गाः, गुणानां भेदान्तरासम्भवात्. उत्पत्त्या नवविधोऽपि उपपत्त्योपसंहाराच्च दशविधः. अतः चकारः **देवसर्गः च** इति. **सत्तम** इति सम्बोधनं देवानां फलरूपत्वज्ञापनार्थम्. सः देवसर्गो द्विविधः, एको वैकारिकः सात्त्विकः, अपरो वैकारिको विकाराद् जातः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सिद्धान्तम् आहुः **उत्पत्त्या** इत्यादि. **उपपत्त्या** इति. सत्त्ववृत्तित्व-साधारण्यरूपया उपपत्त्या. असुरादौ साङ्कर्यम् इति अरुच्या हेत्वन्तरम् आहुः **उपसंहाराच्च** इति।।२७।।

सः दशमः. तत्र प्रथमे निर्णयम् आह **वैकारिकः** इति. 'तु'शब्दो अस्माद् वैकारिकाद् भेदम् आह. यः सात्त्विको वैकारिकः, सः प्रोक्तः पञ्चमः. **कौमारस्तु** देवोऽपि भवति, मनुष्योऽपि भवति इति उभयनिरूपणेनैव निरूपितः, अतः पृथक्तया सः न वक्तव्यः इति 'तु'शब्दः ।।२७ ।।

देवसर्गस्तु एकविधोऽपि अवान्तरभेदेन अष्टविधः. तान् गणयति

देवसर्गश्चाऽष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।

गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ।।२८ ।।

विबुधाः देवाः इन्द्रादयः एके. **पितरो असुराः** एके. **गन्धर्वाप्सरसः** एके. **सिद्धाः** एके. **यक्षरक्षांसि** एके. **चारणा**अपि यक्षेष्वेव इति केचित् ।।२८ ।।

भूत–प्रेत–पिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।

दशैते विदुराऽऽख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ।।२९ ।।

भूतप्रेतपिशाचाः एके. **विद्याधराः** भिन्नाः इति केचित्. **किन्नरः** किंपुरुषादयः. एवं सर्वान् उपपाद्य उपसंहरति **दशैते विदुः आख्याताः** इति. सम्बोधनं स्नेहसूचकम्. तेन अन्यथाकथनं व्यावर्तितम्. **विश्वसृजाः** ब्रह्मणाः **कृताः** एते सर्गाः ।।२९ ।।

एतावद् उक्त्वा तूष्णींस्थिते पूर्ववत् पुनः प्रक्ष्यति इति वक्तव्यान्तरं निर्दिशति

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान् मन्वन्तराणि च ।

एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।।

सृजत्यमोघसंकल्प आत्मैवाऽऽत्मानम् आत्मना ।।३० ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि इति. अनुपदं न. एतत् शेषनिरूपणानन्तरं कालान्तरे प्रवक्ष्यामि इति अर्थः. अवशिष्टं रूपद्वयम् अस्ति, इन्द्रियाणि बुद्धिश्च इति. तद् उभयं निर्दिशति **वंशान् मन्वन्तराणि च** इति. वंशः इन्द्रियरूपः. **च**कारात् तत्सम्बन्धिनोऽपि तत्त्वेनैव वक्तव्याः प्रतिज्ञाताः. ननु एवं भगवान् अनेकविधान् किमर्थं कदा वा करोति? इति आशङ्क्य आह **एवं रजःप्लुतः** इति. रजसा व्याप्तो भगवान् सृष्टौ प्रवृत्तः सर्वेष्वेव कल्पादिषु आत्मनः सकाशात् स्वयमेव आविर्भूतः. सर्वेषां दुःखनिवारणार्थम् अमोघसङ्कल्पमात्रेण कर्तृकर्मकरणरूपः

स्वयमेव सृजति. ब्रह्माऽपि रजःप्लुतो भगवानेव इति उक्तं भवति. **कल्पादिषु** इति बहुवचनं सतत्त्वानि ब्रह्माण्डानि बहुधा सृजति इति ज्ञापयति. रजोऽपि स्वयमेव इति स्वस्यैव करणत्वम्. तथा कर्मकालादयोऽपि स्वयमेव. जगदपि स्वयमेव इति स्वस्यैव कर्मत्वम्. पुरुषादयोऽपि स्वयमेव इति स्वस्यैव कर्तृत्वम्. तस्मात् सर्वं हरिः इति सिद्धम् ।।३० ।।

([1]गुणव्यत्यय एतस्मिन् मायावित्वादधीशितुः ।
न पौर्वापर्यमिच्छन्ति नद्यां भ्राम्यन् भ्रमेर्यथा ।।
देवासुरादयः क्षत्तः! कल्पेऽस्मिन् ये प्रकीर्तिताः ।
त एव नामरूपाभ्यामासन्मन्वन्तरान्तरे ।।)

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे दशमाध्यायविवरणम्.

१. नेदं श्लोकद्वयं लिखितपुस्तकेषूपलभ्यते.

।।अथ एकादशाध्यायविवरणम् ।।

एकादशे तु कालस्य सर्वेषाम् इन्द्रियाणि यत् ।
आध्यात्मिकं तु यद् रूपं त्रेधा तद् विनिरूप्यते ।।१ ।।
सर्वो हि भगवान् कालः तदर्थम् उपचर्यते ।
धर्मप्रयुक्तो यः कालः स हि ब्रह्माणमेयिवान् ।।२ ।।
सूर्यात्मकस्तु यः कालः सर्वेषां सोऽपि च त्रिधा ।
[क]कार्ये प्रवेशाप्रवेशाद् दर्शनादर्शनात् तथा ।।३ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ एकादशाध्यायं व्याख्यातुं सङ्गतिं स्मारयन्तः तस्य अर्थं सङ्गृह्णन्ति **एकादशेतु** इत्यादि. **तुः** सङ्गतिशङ्कानिरासे, विशेषावधारणे वा. **कालस्य यत् सर्वेषाम् इन्द्रियाणि** नरादिब्रह्मान्तानां स्वस्वदेह-जीवनासक्तिजनने मारकतया इन्द्रियात्मकम् 'आयुः'शब्दवाच्यं रूपं, **तु** पुनः **यद् आध्यात्मिकं** ब्रह्मायुः परिच्छेदकं, **तत् त्रेधा;** परपरार्धकल्पाख्यप्रकारत्रयेण विशेषपूर्वकं निरूप्यते. तेन शास्त्रविचारे अवसरः सङ्गतिः. प्रश्नविचारेतु राज्ञा ''**यावान् कल्पो विकल्पो वा**''(भाग.पुरा. २।८।१२) इति सार्द्धश्लोकेन प्रश्ने, शुकेन ''**परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षण-विग्रहम्, यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु**''.(भाग.पुरा. २।१०।४७) इति प्रतिज्ञानात् पद्म ल्पकथनो(त्त)रम् अवसरः. मैत्रेयोक्तौतु ''**कालावयव-संस्थितिम्**''(भाग.पुरा.३।७।३३) इति प्रश्नस्य सर्गशेषत्वेन उत्तरम् इति प्रसङ्गः सङ्गतिः इति अर्थः.

ननु अत्र आयूरूपस्य कालस्य एवम् इन्द्रियत्वे किं गमकम् इत्यतः आहुः **सर्वो हि** इत्यादि. यतः **सर्वो** ब्रह्मायूरूपः, **तदर्थम्** अक्षरापरिच्छेदार्थं तन्निमेषतया उपचर्यते, स्वरूपतस्तु **भगवान्;** अतः परिच्छिन्नस्य आयूरूपस्य इन्द्रियत्वे उपचारोक्तिरेव गमकम् इति अर्थः.

ननु कालस्य कथं ब्रह्मायुः परिच्छेदके(कते)त्यतः आहुः **धर्मे**त्यादि. **धर्मप्रयुक्तः** इति. गतिरूपेण धर्मेण अत्यन्तं युक्तः. इदं ''**कालगत्योपलक्षितैः**'' (भाग.पुरा.३।११।३२) इत्यत्र स्फुटीभविष्यति. तथाच गत्या परिच्छेदकत्वे(ते)ति अर्थः. गतिं स्फुटीकर्तुम् आहुः **सूर्ये**त्यादि. **सर्वेषाम्** इति. देव-पितृ-मनुष्याणाम्.

क. 'काय' इति मुद्रितपाठः.

भचक्रस्थानभागाभ्याम् अत्राऽप्युच्चावचं सदा ।।४ ।।

एवं पूर्वाध्याये कालस्य स्वरूपं कार्यञ्च उक्त्वा, तस्य अवान्तरभेदान् निरूपयति.

सूर्यगत्या तु तद् भेदाः सूर्यस्तस्याऽऽधिदैविकम् ।
आध्यात्मिकं तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका ।।१ ।।
पृथिवी च जलं तेजो देवास्तु पितृमानुषाः ।
उपाधित्रितयं प्राहुः ततः कालस्त्रिधा मतः ।।२ ।।

प्रथमं मनुष्याणाम् अहोरात्रं निर्णेतुं पार्थिवे लोके पृथिवी–व्यवधानाव्यवधानाभ्यां सूर्यदर्शनादर्शनकृतं कालस्य दिनरात्रिरूपत्वम् इति निरूपयितुं, पार्थिवैरेव परमाण्वादिभिः कालभेदान् आह. तत्र उपाधिभूतस्य परमाणोः लक्षणम् आह

मैत्रेयः उवाच

चरमः सद्विशेषाणाम् अनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः ।।१ ।।

चरमः इति. सतः कार्यस्य घटादेः, **विशेषाणाम्** अवयवानां मध्ये यः **चरमः**, यस्य पुनः अवयवो न अस्ति, अतिसूक्ष्मत्वाद् विभाजकाघातं न सहते, सः **चरमः**. सोऽपि सजातीयैः समुदायावस्थां न प्राप्तः. तद् आह **अनेकः** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कार्यप्रवेशाप्रवेशाद् इति. **कार्यं** जलम्. **तद्भेदाः** इति आध्यात्मिक-कालभेदाः. **तस्य** इति आध्यात्मिकस्य. तेन **''सूर्यस्तस्याऽधिभौतिकम्''** (सर्वनिर्णयप्रकरण का.१०९) इति निबन्धे यद् उक्तं तद् मूलभूतकालापेक्षयेति न विरोधः. **क्वचिद्** इति. उपरितनलोके, प्रलयादिषु च. **इच्छा** इति. भगवदिच्छा. 'अपि'शब्दाद् ब्रह्मणः आयुः खण्डाः.

चरमः इत्यत्र. **श्रीधरीये** **'अनेकः** कार्यावस्थाम् अप्राप्तः, **असंयुतः** समुदायावस्थाञ्च अप्राप्तः, अतएव सदा' इति व्याख्यातम्. एतन्मते 'सदा'पदम् अवस्थाद्वयराहित्येन वर्तमानतामात्रबोधकम्. तत्र दोषं बोधयितुं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **सोऽपि** इत्यादि. 'सजातीय'पदम् आकाश-परमाणुसंयोगस्य सर्वदा सत्त्वाद् असम्भववारणाय.

कार्यावस्थां च न प्राप्तः **असंयुतः** इति. **सदा** इति. कदाचित् संयोगं प्राप्तो भवत्येव इति लक्षणम् असम्भव्येव स्यात्. अनेकत्वञ्च न एकसङ्ख्याभावः, यत्र तिष्ठति तत्र तत्सजातीयाः बहवएव तिष्ठन्ति इति अनेकत्वम्. ''भौतिकत्वे सति नित्यो गतिमान् परमाणुः'' इति परमाणुलक्षणे क्रियमाणे परमाणुभ्यः कार्योत्पत्तिः इति मतं स्यात्. सिद्धान्तेतु स्थूलादेव सूक्ष्मोत्पत्तिः, स्वसमानावयवस्थूलांशः कार्यजनकः इति. यद् अनेकावयवैः योजनं पटादौ, तत्कार्पासादेः स्थूलस्यैव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

'सदा'पदप्रयोजनम् आहुः **कदाचिद्** इत्यादि. **कदाचिद्** इति. कार्यावस्थायाम्. तथाच 'सदा'पद(स्य) उभयत्र अन्वये मूले सजातीयपदाभावाद् आकाशसंयोगस्य सर्वदा सत्त्वेन लक्षणम् असम्भवग्रस्तं स्यात्. कार्यावस्थानिषेधमात्रेतु आकाशसंयोगेऽपि अनेकत्वस्य अबाधाद् 'अनेक'पदेनैव सजातीयसंयोगावस्था-वारणेऽपि सार्थक्यम्, अतः तद् व्याख्यानम् असङ्गतम् इति अर्थः. ननु 'एक'पदेन कथं समुदायावस्थानिषेधः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अनेकत्वं च** इत्यादि. **यत्र** इति. तथाच एवं वारणम् इति अर्थः. ननु सदा कार्यावस्थानिषेधस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **भौतिके**त्यादि. तथाच, पूर्वाध्याये कालस्य उपादानत्वप्रतिपादनेन तस्य च परममहत्त्वेन स्थूलात् सूक्ष्मोत्पत्तिः अङ्गीकृता, श्रुतौ च ''**असतः सद्येततक्षुः(?)**'' इति विभागाद् अङ्गीकृता. परमाणुभ्यः कार्योत्पत्त्यङ्गीकारे तद् उभयं विरुध्येत इति तदभावः प्रयोजनम् इति अर्थः. ननु सूक्ष्मात् स्थूलोत्पत्तौ स्पर्शवत्त्वेन आरम्भकता इति कारणतानुगमं, स्थूलात् सूक्ष्मोत्पत्तौतु कालप्रकृत्यादिषु तदभावेन अन्येषु च तत्सत्त्वेन कारणतानिर्वाहरूपस्य अननुगमाद् गौरवप्रसङ्गः इत्यतः आहुः **स्वसमाने**त्यादि. **स्वं** कार्यं, **तत्समानाः** तज्जननयोग्याः ये अवयवाः, तद्रूपो यः स्थूलांशः, सः कार्यजनकः. तथाच, जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति स्वयोग्यावयव-स्थूलांशत्वेन अनुगता कारणता. साच 'स्व'शब्देन प्रत्यक्षादिगोचरं प्रतिनियतं घटा(दि)रूपं परामृशतां तत्राऽपि उपयुज्यते. तद्रीत्या कारणतानुगमाङ्गीकारेतु स्पर्शवत्त्वस्य साधारणत्वेन घटादिकं प्रति मृदादिरूपेण प्रतिनियता अन्यापि कल्पनीया इति कल्पनाद्वयेन तवैव गौरवप्रसङ्गो न अस्माकम् इति अर्थः. ननु स्थूलाद् एकस्मात् सूक्ष्मोत्पत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा, पटादौ सूक्ष्मैः अनेकैरेव तन्त्वादिभिः पटाद्युत्पत्तिदर्शनाद् इत्यतः आहुः **यद्** इत्यादि **योजनं** संयोगद्वारा एकीकरणम्. **खण्डशो योजनम्** अवयवपुञ्जीकरणम्.

दीर्घावस्थां प्राप्तस्य आकृतिविशेषसम्पादनार्थं खण्डशो योजनम्. समुदायस्य चैव उपादानत्वम्. एवं कुण्डलप्रतिमादावपि तावत्समुदायस्यैव उपादानत्वम्, अन्यथा अनेकं कार्यं स्यात्. एकस्य एकमेव उपादानम् इति निश्चयः. कार्यस्य पाञ्चभौतिकत्वाद् जलादयः संयुक्ताः भवन्ति इति तेऽपि ततः पृथग्भूताः परमाणुत्वम् आपद्येरन्. भगवांश्च सर्वत्र उपादानम् इति चरमत्वं च तस्य उपपद्यते इति तद् व्यावृत्त्यर्थम् **अनेकः** इति. सतु एकएव. असम्भव–व्यावृत्त्यर्थमेव **सदा.**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथाच, तत्राऽपि स्थूलांश-समुदायस्य एकस्यैव कारणत्वाद्, यन्त्रास्थितोत्तारणेन, तदपेक्षया न्यूनस्य समानस्य वा पटोत्पत्तिः, नतु तत्सूक्ष्मात् स्थूलस्य, नापि बहुभ्यः इति न प्रत्यक्षविरोधः इति अर्थः. इमं प्रकारम् अन्यत्राऽपि अतिदिशन्ति **एवम्** इत्यादि. **तावत्समुदायस्य** इति. सुवर्णमण्यादिसमुदायस्य. तथा (च) न क्वापि कारणता-व्यभिचारः इति अर्थः. ननु समुदायस्थले बहूनां न कारणता, किन्तु समुदा(य)स्यैव इत्यत्र किं गमकम् इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तव मते कारणगुणानां कार्यगुणारम्भकत्वनियमात् कारणगतैकत्वैः प्रत्येकम् एकत्वारम्भे कार्ये अनेकैकत्वप्रतीतिः, अनारम्भेऽपि तद्गतैकत्वानामेव प्रतीतिः आपद्येत इति उभयथाऽपि कार्यं स्वनिष्ठैकत्वशून्यमेव स्यात्. अतः तादृशस्थले कार्य एकत्व-प्रतीतिरेव समुदायस्य कारणतागमिका इति अर्थः. एवञ्च व्यासज्यवृत्तिकारणतायां बहूनां कारणता, समुदायपक्षेतु एकत्र पर्यवसिता इति लाघवमपि बोध्यम्. एवं जरायुजेषु बीजरजोंशसमुदायस्यैव उपादानता. मान्धात्रादावपि पुंसवनजलादिकमेव रजः स्था(प)नीयम्. एतेनैव अण्डजोद्भिज्जाअपि व्याख्याताः. स्वेदजाअपि स्थूलांशादेव स्वेदात् सूक्ष्माः उत्पद्यन्ते, वृद्धिस्तु पश्चाद् आहारादिना तद् एतत् सर्वं हृदिकृत्य आहुः **एकस्य** इत्यादि. ननु तर्हि परमाणुपुञ्जादेव कार्योत्पत्तिः अस्तु. तस्य सदा असंयुतत्वेन कार्यावस्थानङ्गीकारे किं बीजम् अतः आहुः **कार्यस्य** इत्यादि. संयोगाद् उत्पत्तौ हि विभागाद् नाशः. कारणावस्थया अवस्थानं च प्रत्यक्षसिद्धम्. अतो यदि परमाणुपुञ्जाद् उत्पत्तिः कार्यस्य स्यात्, तदा नाशदशायां कार्यं तथा स्यात्. तत्तु न दृश्यते, न वा श्रूयते; अतः प्रमाणानुरोधएव तदनङ्गीकारे बीजम् इति अर्थः. एवम् असंयुतत्वं परीक्ष्य अनेकत्वं परीक्षन्ते **भगवान्** इत्यादि. 'सदा'पदन्तु परीक्षितमेव इति आहुः **असम्भवे**त्यादि. एवं लक्षणं विचार्य, विज्ञेयत्वप्रयोजनं

स परमाणुः विज्ञेयः, विशेषेण तत्र ज्ञानमपि विधीयते. कुयुक्त्या सो अन्यथा न मन्तव्यः इति अर्थः. तस्य परमाणोः स्वरूपम् उक्त्वा कार्यम् आह **नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः** इति. **नृणां** जीवानां, यैः परमाणुभिः कृत्वा, आत्मना सह देहस्य ऐक्यभ्रमो भवति. ऐक्यभ्रमहेतवः परमाणवएव. ते हि अतिसूक्ष्माः धर्माधर्माभ्यां संस्कृताः जीवे सम्बध्यन्ते, तदा देहभावम् आपद्यन्ते. अतएव ते दुष्टाः कालस्य उपाधिभूताः. तत्सम्बन्धे जीवस्य नाशएव. अतएव तेषां भ्रमजनकत्वम्. पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिपक्षम् आश्रित्य भ्रमात् केचिद् आहुः. तत् सोढव्यम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विचारयन्ति **विशेषेण** इत्यादि. **कुयुक्त्या** इति. नैयायिकादिप्रसिद्ध(त)या तन्नित्यत्वसंयुक्तत्वादिसाधिकया. ननु परमाणुभ्यः कार्यानङ्गीकारे तेषां प्रयोजनान्तराभावात् तदुपगमवैयर्थ्यम् इत्यतः आहुः **तस्य** इत्यादि. **ऐक्यभ्रमः** इति. देहाध्यासः. तेषां तादृशभ्रमहेतुत्वम् उपपादयन्ति **ते हि** इत्यादि. ''**स्त्रियः प्रविष्टः उदरं पुंसो रेतः कणाश्रयः**''(भाग.पुरा.३।३१।१) इति वाक्याद् यदा जीवो गर्भे प्रविशति तदा, अन्यदा वा, स्वस्य पित्रादेश्च धर्माधर्माभ्यां संस्कृताः तेऽपि तत्र आहारादिभिः प्रविश्य जीवे स्वरूपेण सम्बध्यन्ते, रजस्वलमिव तं कुर्वन्ति, तदा जीवाः देहम् आपद्यन्ते, देहम् अध्यस्यन्ति; तेन तेषां तथात्वम् इति अर्थः. **अतएव** इति. देहाध्यासापादकत्वादेव. **नाशः** इति. स्वरूपाद्यज्ञानेन मोक्षप्रतिबन्धः. **अतएव** इति. धर्माधर्मसंस्कारेण दुष्टत्वादेव. श्रीधरीये ऐक्यभ्रमः=अवयविबुद्धिः, ''**येषां समूहेन कृतो विशेषः**''(भाग.पुरा.५।१२।९) इति पञ्चमस्कन्धवाक्याद् इति व्याख्यातम्. तद् अनुवदन्ति **पुञ्जाद्** इत्यादि. **भ्रमात् केचिद् आहुः** इति. राशौ अवयविभ्रमाद् ऐक्यभ्रमजनकत्वं केचिद् आहुः इति अर्थः. तद् दूषयन्ति **तत्सोढव्यम्** इति. मूलवाक्योपन्यासात् तदनुकरणीयम्. अयम् अर्थः. मूले हि ''**एवं निरुक्तं क्षितिशब्द-वृत्तम् असन्निधानात् परमाणवो ये, अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः**''(भाग.पुरा.५।१२।९) इति यद् उक्तं, तद् रहूगणेन उपालम्भे जडेन स्वस्य भाराभावं बोधयितुम्. भारः कस्य इति जिज्ञासायाम् ''**अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां यः पार्थिवः**''(भाग.पुरा.५।१२।५) इत्यनेन चलनक्रियाप्रयुक्तः पार्थिवे जनव्यवहारः, नो चेत् पाषाणतुल्यता इति बोधयित्वा, ततः प्रत्येकम् अवयवान् उपर्युपरिष्टाद् निरूप्य, तेषाम् उत्पत्तिनाशौ क्षितिनिष्ठौ इति क्षितेरेव

एतदर्थमेव कालावयवत्वेन निरूपणम् इति 'भ्रम'पदप्रयोगः. मनस्तु परमाणुपरिमाणमेव, नतु परमाणुः. परमाणवस्तु चतुर्विधाएव, अन्यथा पञ्चविधाः परमाणवः स्युः. कार्यं च ततः स्यात्, परमाणुत्वात्. अतो नित्यगतिमत्त्वं न लक्षणम्. ''**तद् एजति तद् न एजति**''(इॅशा.उप.५) इति श्रुत्या नित्यो भगवान् परमाणुः स्यात्. भौतिकत्वं च तेषां साधनीयम्. स्मृतिश्च श्रुत्या

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

संस्थानविशेषात् तत्तद्व्यवहारकारण(त्व)म् इति निरूप्य, ''**एवं निरुक्तम्**'' (भाग. पुरा.५।१२।९) इति श्लोकेन पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिः आश्रिता इति अववयवि-भ्रमजनकत्वं यद्यपि आपाततः आयाति, ''**पीवेति राशौ न विदां प्रवादः**'' (भाग.पुरा.५।१०।९) इति कथनात्, तथापि तत्र तस्य न तात्पर्यं, परमाणूनामपि अविद्याकल्पिततोक्त्या भ्रमविषयत्वाङ्गीकारेण विशेषभ्रमस्य अत्र विवक्षितत्वात्. किन्तु स्वस्य अध्यासाभावेन भाराभावे तात्पर्याद् देहाध्यासस्यैव भ्रमत्वं विवक्षितम् इति सिध्यति. तद् आहुः **एतदर्थम्** इत्यादि. कालो हि नित्ये प्रपञ्चे भूतत्वादिभिः स्वकृतैः धर्मैः नश्वरत्वभ्रमं जनयति इति भ्रमजनकः. अतः तेषाम् उक्तभ्रमजननयोग्यत्व-ज्ञापनायैव 'भ्रम'पदप्रयोगः. नतु तेषाम् अवयविभ्रमजनकत्वज्ञापनाय, सदा असंयुतत्वकथनेन तद्व्याख्यानेऽपि समूहावस्थानङ्गीकाराद् इति. अतो भ्रान्तत्वेन उपेक्ष्यतया सोढव्यम् इति भावः. ननु परमाणुभ्यः कार्योत्पत्त्यनङ्गीकारे मानसप्रजासृष्टिः बाधिता स्यात्, तस्याऽपि परमाणुत्वात्. नच कारणताननुगमः, स्पर्शवत्त्वम् अनादृत्य मूर्तत्वेनैव तदङ्गीकाराद् इत्यतः आहुः **मनः** इत्यादि. मनसो या सृष्टिः, सा चिन्तामण्यादिभ्यइव सामर्थ्यविशेषात्. नतु सजातीयसंयोगेन; अतो न दूषणम् इति अर्थः. ननु किम् अत्र गमकम् इत्यतः आहुः **परमाणवः** इत्यादि. **स्याद्** इति. सजातीयसंयोगेन स्यात्. तथा (च) भौतिकत्वाभावः, कारणताप्रकारवैलक्षण्यं च मनसि परमाणुभेद-गमकम् इति अर्थः. ननु मा अस्तु ततः कार्यं, तथापि तल्लक्षणानङ्गीकारे किं बीजम् अतः आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति. मनसि व्यभिचारात्. दूषणान्तरम् आहुः **तदेजति** इत्यादि. तथाच इदं दूषणद्वयम् अनङ्गीकारबीजम् इति अर्थः. ननु भौतिकत्वे सति इति विशेषणाद् न इमौ दोषौ इत्यतः आहुः **भौतिकत्वम्** इत्यादि. तथाच वैशेषिकमते सृष्ट्यादौ नित्यानां परमाणूनामेव सत्त्वेन तदतिरिक्तभूताभावात् केनचित् सम्बन्धेन तेषु भौतिकत्वं साधनीयम्. तच्च भूतत्वेन बाधितं सन्दिग्धं वा. अतः तत्सिद्ध्यभावाद् विशेषणमेव असङ्गतम् इति दूरनिरस्तः तेन दोषाभावः इति अर्थः. ननु कणादस्मृतिरूपात्

बाधिताइति वैशेषिकादीनां लक्षणं बाधितमेव. प्रकृते च अनुपयोगः ।।१ ।।

एवं परमाणुलक्षणम् उक्त्वा परममहतो लक्षणम् आह

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।

कैवल्यं परममहान् अविशेषो निरन्तरः ।।२ ।।

सतएव इति. **सतः** कार्यमात्रस्य सम्पूर्णस्य ब्रह्माण्डस्य, **स्वरूपावस्थितस्य,** नतु प्राकट्येन अवस्थितस्य, **कैवल्यम्** एकता, तत् **परममहान्** इति लक्ष्यम्. पृथिवीमात्रं परममहान् इति पक्षं निषेधति **अविशेषः** इति. न अस्ति अयं पृथिवी जलम् इति वा विशेषः, विशेषबुद्ध्यविषयः. **निरन्तरो** भेदशून्यश्च. **सतएव** इति स्वाप्निकव्युदासः. **पदार्थस्य** इति वेदव्युदासः. **स्वरूपावस्थितः** इति कार्यव्युदासः. ब्रह्माण्डस्थितो भगवान् परममहान् इति उक्तं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शब्दादेव तत्सिद्धिः इत्यतः आहुः **स्मृतिः** इत्यादि. **श्रुत्या** इति. ''**एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**'' (मुण्डकोप.२।१।३) इत्यादिरूपया. हेत्वन्तरमपि आहुः **प्रकृते** इत्यादि. **प्रकृते** इति. कालज्ञाने।।१।।

सतएव इत्यत्र. **प्राकट्येन** इति. लोकादिरूपेण परिणामेन. **एकता** इति. एकत्वसङ्ख्या. **अयम्** इति. परममहान्. **सतएव** इत्यादि. स्वाप्निकस्याऽपि जात्याकृतिव्यक्तिरूपत्वाभिमानेन पदार्थत्वाद् अन्यानधिष्ठितेन, स्वरूपावस्थित-त्वाच्च तत्र अतिव्याप्तिवारणाय 'सत्'पदम् इति अर्थः. **पदार्थस्य** इत्यादि. वेदस्याऽपि भगवदात्मकत्वेन स्वरूपावस्थिततत्वात् सत्त्वाच्च तत्र अतिव्याप्तिः इति तद् वारणाय 'पदार्थ'पदं, वेदस्य पदत्वेन पदार्थत्वाभावाद् वारणम् इति अर्थः. **स्वरूपावस्थितस्य** इत्यादि. प्रापञ्चिकपदार्थे सत्त्वपदार्थत्वयोः विद्यमानत्वेऽपि स्वकारणाधिष्ठितत्वेन स्वरूपावस्थिततत्वात् सत्त्वाच्च तद्वारणम् इति अर्थः. ननु ब्रह्माण्डस्याऽपि कार्यत्वेन स्वरूपावस्थिततत्वाभावाद् लक्षणम(यम)सम्भवीत्यतः आहुः **ब्रह्माण्डे**त्यादि. तथाच ''**यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीम् अन्तरः**''(बृहदा. उप.३।७।३) इति ''**महतो महीयान्**''(श्वेताश्वतरोप.३।२०) इति श्रुत्युक्तो भगवानेव **परममहान्.** तन्निष्ठैकत्वस्यैव परमहत्त्वेन, तस्य च अन्यत्र अभावेन इदं तस्यैव लक्षणं, न ब्रह्माण्डस्य. एतज्ज्ञापनायैव ''अविशेषो निरन्तरः'' इति

भवति. सर्वोऽपि पदार्थः सर्वत्र न एकबुद्ध्यारूढो विशेषकल्पनाशून्यः प्रमात्रपेक्षभेदशून्योऽपि. यावान् सूर्येण प्रकाश्यते, सः सर्वो मिलितः परममहान् ।।२ ।।

एवं पूर्वोत्तरावधी निरूप्य उपहितं कालं लक्षयति

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम!।

संस्थानभुक्त्या भगवान् अव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ।।३ ।।

एवं कालोऽपि अनुमितः इति. यथा परमाणुपरममहान्तौ अनुमितौ, कार्यचरमविशेषेण–कार्यसमुदायेन च, एवं कालोऽपि तद्भोक्ता. तादृशपरिच्छेदकर्ता अनुमेयः, **सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च**. **सत्तम!** इति सम्बोधनम् अनुमानज्ञानार्थम्[1]. ननु कालस्य असङ्गस्य भगवतइव कथं पदार्थसम्बन्धः, कथं वा अनुमानम्? अन्यथा भगवतोऽपि अनुमानं स्यात्. तत्र आह **संस्थानभुक्त्या** इति. **संस्थानं** तदवस्था, परमाणुत्वं परममहत्त्वम् इति. भगवतो वस्तुस्वरूपत्वेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्वरूपबोधकं पदद्वयम् उक्तम्, अन्यथा न वदेत्, प्रयोजनाभावाद् इति अर्थः. तथाच, वस्तुतः परमाणुत्वस्याऽपि ब्रह्मण्येव पर्यवसानबोधनाय अत्र एवं बोधितम् इति भावः. ननु अस्य प्रकृते कथम् उपयोगः इति आकाङ्क्षायाम् अग्रिमस्वारस्येन अस्य तात्पर्यम् आहुः **सर्वोऽपि** इत्यादि. अत्र **शून्योऽपि** इत्यन्तं व्याख्येयवाक्यस्थपद्यतात्पर्यविवरणं, भगवल्लीलात्वबोधनाय आहुः ''**अथ ते भगवल्लीलाः**''(भाग.पुरा.३।५।२२) इत्येव प्रतिज्ञानात्. तथाच ''**सर्वं सर्वमयम्**''(नृसिंहो.ता.उप.९) इति श्रुत्या सर्वोऽपि सन् पदार्थः सर्वत्र तथापि स्वरूपे अवस्थितत्वाद् न एकबुद्ध्यारूढः, अविशेषत्वाद् विशेषकल्पनाशून्यः, निरन्तरत्वात् प्रमात्रपेक्षभेदशून्यः इति वस्तुस्थितिः. एवं वस्तुस्थितौ सत्यामपि अग्रिमस्वारस्येन यावत्स्थितावच्छिन्नः सूर्यप्रकाशः परममहत्त्वेन ग्राह्यः इति अर्थः. एतेन श्रीधरीयस्य असङ्गतत्वम् अर्थादेव बोधितं ज्ञेयम्।।२।।

एवं कालः इत्यत्र. **यथा** इत्यादि. यद्यपि एतौ न अस्मदाद्यध्यक्षौ, तथापि यद् अध्यक्षौ ते अस्मान् एताभ्यां हेतुभ्यां बोधयन्ति इति यथा (व...)तौ अनुमेयौ, तथा तादृशः कालोपि तत्परिच्छेदकत्वेन अनुमेयः इति अर्थः. **तदवस्था** इति.

१. ज्ञापनार्थम् क. घ.मां१–२ .

तुल्यत्वेऽपि यः संस्थानविशेषः तस्य च यो भोगः सः कालकृतएव इति कार्यसौक्ष्म्य-स्थौल्यात् कालस्य सौक्ष्म्यं स्थौल्यञ्च. ननु एवं कथं करोति स्वरूपस्य अन्यथात्वं, तस्य च भोगम्, ततो भोगम्? इति आशङ्क्य आह **भगवान्** इति. एवं सामर्थ्यरूपो भगवान्. यथा केचन तादृशीं मायामपि, विद्यां वा, कल्पयन्ति, अस्मिन् शास्त्रे सः कालः. तर्हि एवं सर्वपदार्थभोक्तारं कथं सर्वे न पश्यन्ति? इति आशङ्क्य आह **अव्यक्तः** इति. तस्य कालस्य ग्रासनिवृत्ति-परिज्ञानार्थं कार्यम् आह **व्यक्तभुग्** इति. ननु स्वयम् अव्यक्तो व्यक्तं कथं भुङ्क्ते? तत्र आह **विभुः** इति. सर्वप्रकारेण भोक्तुं शक्तः इति अर्थः ।।३ ।।

अनुमितं कालं शब्दतः आह

स कालः परमाणुर् वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतो विशेषभुग् यस्तु स कालः परमो महान् ।।४ ।।

सः कालः इति. **यः परमाणुतां भुङ्क्ते** परमाणुं व्याप्नोति. ततः स्वस्याऽपि परमाणुत्वम् अनुभवति, सः परमाणुः कालः इति अर्थः. एवं **सतो विशेषभुग्यः** सन्मात्रस्यैव विशेषतां यो भुङ्क्ते तद् भोगेन स्वयं वा विशेषत्वं प्राप्नोति, सः परममहान् कालः. 'तु'शब्दो महत्तत्वस्य आयुः परिच्छिनत्ति ।।४ ।।

एवम् आद्यन्तकालं निरूप्य मध्यकालं निरूपयति **अणुः द्वौ परमाणू स्याद्** इति.

अणुर् द्वौ परमाणू स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवाऽनुपतन् न गाम् ।।५ ।।

येन मार्गेण सूर्यरथचक्रं गच्छति तस्मिन् मार्गे परमाणुदेशं यावता कालेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सूर्यगन्तव्यदेशावस्था. एतस्यैव विवरणं **परमाणुत्वम्** इत्यादि. **सौक्ष्म्यं स्थौल्यञ्च** इति. अनुमेयम् इति अर्थः. **ततो भोगम्** इति. आध्यात्मिक-कालद्वारा भोगम्. **भगवान्** इति. तथाच, "**यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं च**"(कठोप.१।२।२५) इति श्रुत्युक्तत्वादत्तृत्वात् करोति इति अर्थः, एतेन चेतः (न) त्वं बोधितम्. **ग्रासनिवृत्तिपरिज्ञानार्थम्** इति. यं न ग्रसति, तं(?) परिज्ञानार्थम्. तथाच अव्यक्तं न ग्रसति इति अर्थः।।३।।

अणुः इत्यत्र. **संवत्सरात्मकः** इति. मानुषसंवत्सरात्मकः. **अणुः द्वौ त्रसरेणुः त्रयः** इत्यादौ न द्वित्रियोगः, "**सदा असंयुतः**"(   ) इत्यनेन तन्निवारणात्,

अतिक्रामति सः परमाणुकालः. यावता परमाणुद्वयदेशम् अतिक्रामति सो अणुकालः. एवम् अग्रेऽपि. यावता कालेन सर्वमेव नभोवलयं द्वादशराश्यात्मकम् अतिक्रामति सः परममहान् संवत्सरात्मकः. अणुत्रयेण **त्रसरेणुः स्मृतः** इति तत्र प्रमाणं महतां स्मरणम्. सतु प्रत्यक्षः इति आह **जालार्करश्म्यवगतः** इति. गवाक्षमार्गेण अन्तःप्रविष्ट–सूर्यरश्मिषु अवगतो भवति. अवगतेः व्यञ्जकद्वयम् आह **खमेव अनुपतन् न गाम्** इति. न ते त्रसरेणवो भूमौ पतन्ति, किन्तु तस्मिन्नेव रश्मौ आकाशं प्रति उड्डीयमानाः गच्छन्ति. एकवचनम् अवान्तरभेदव्युदासार्थम् ।।५ ।।

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।
शतभागस्तु वेधः स्यात् तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ।।६ ।।
निमेषस्त्रिलवो ज्ञेयः आम्नातस्ते[1] त्रयः क्षणः ।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ।।७ ।।
लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ।।८ ।।

त्रसरेणु इति. त्रसरेणुत्रितयस्य यावान् कालः सः 'त्रुटि'सञ्ज्ञको भवति. सएव त्रुटिः **शतभागो वेधः,** शतांशो भागः. 'शत'शब्दो अत्र न अपरिमितवाची इति आह 'तु'शब्दः. शतं त्रुटयः एको वेधः इति अर्थः. वेधत्रयं **लवः**.

निमेषः त्रिलवः. निमेषत्रयं **क्षणः**. पञ्च क्षणाः काष्ठा. पञ्चदश काष्ठा **लघु**.

पञ्चदशलघूनि **नाडिका**. नाडिकाद्वयं **मुहूर्त्तः**. नाडिकाषट्कं **प्रहरः** सप्त वा. **नृणां** मनुष्याणाम्. यद् नाडिका घटिकापेक्षया स्थूला, तेन कथमपि वृद्धा रात्रिः दिनं वा, तस्य चतुर्थो भागः सप्तनाड्यात्मकः, ह्रासेतु षड् नाड्यात्मकः. एवम् अहोरात्रे द्विपञ्चाशद् नाडिका भवन्ति. षष्टिनाडिकाएव एवंप्रकारेण अत्र गणिताः. येतु सन्ध्याद्वयपरित्यागेन आहुः तैः ''**यामाः चत्वारः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

किन्तु तावद्-विभाजकाघातसहिष्णुत्वे (म)न अविभक्तत्वं बोध्यम्।।५।।

ते द्वे मुहूर्तः इत्यत्र. **येतु** इत्यादिना श्रीधरव्याख्यानम् अनूद्य तत्र अस्वरसम्

---

१. स्तैस्त्रिभिः पा.

चत्वारः'' (भाग.पुरा.३।११।१०) इति वाक्यम् अनुसन्धेयम्. अथ यदि प्रातः-सन्ध्या-दिवसे, सायं-सन्ध्या-रात्रौ इति तत्र उभयत्र घटिकाचतुष्टयं न गणितम् इति. तथा गणनायां प्रयोजनाभावात्. सन्ध्यासन्ध्यांशव्यतिरेकेण मध्ये धर्मार्थम् इति चेद्? एवमपि आयुः निरूपकत्वेन तत्त्यागे प्रयोजनाभावात्. तत्र धर्मकरणे आयुः वर्द्धते इति चेद्? अन्यदा धर्मकरणे आयुः वृद्धिः न स्यात्. ''**उद्यन्नस्तमयन्नसौ**''(भाग.पुरा.२।३।१७) इति विरोधश्च. नच **नृणाम्** इति वाक्यात् ''**पूर्वसन्ध्याकालो देवानां, पश्चात्तनो असुराणाम्**'' (   )इति. एवमपि आयुः परिमाणार्थं न गणितव्यम्[२]. धर्मार्थमेव तथाकथनं न युक्तम्. किञ्च, यदि वक्ष्यमाणं प्रमाणं साम्प्रतं नाडीपरिमाणमेव स्यात्, तदा एवं कल्पनम् उचितं, वर्द्धतेतु इदं परिमाणम्।।६ -८।।

तदर्थं मानम् आह **द्वादशार्धपलोन्मानम्** इति.

द्वादशार्ध-पलोन्मानं चतुर्भिः चतुरङ्गुलैः।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत् प्रस्थजलप्लुतम्।।९।।

द्वादशार्धं षट्. उभयज्ञाने न्यूनाधिकभावो बुध्यते इति तुल्यज्ञानार्थं द्वादशार्धता उक्ता. **पलं** सुवर्णाः चत्वारः. **सुवर्णं** षोडशमाषम्. पञ्चगुञ्जा-परिमितो **माषः**. **गुञ्जा** च त्रियवा. द्वादशार्धपलेन ताम्रेण पात्रं विधाय,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **तैः** इत्यादि.

अनुसन्धेयम् इति. तथा गणनायां ''**चत्वारो या(मा)मुहूर्तद्वयं चाऽहनी**'' (   ) इति वाक्यं स्याद्, नतु तावन्मात्रम्, अतः तैः अनुसन्धेयम् इति अर्थः. **एवमपि** इत्यादि. धर्मार्थत्वेपि ''**संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्**'' (भाग.पुरा.३।११।१२) इति अग्रे वाक्याद् अस्याः गणनायाः तादर्थ्यात् तन्निरूपक-त्वेन घटिकाचतुष्टयत्यागे आयुःपरिमाणं न भवेद् इति तत्त्यागे प्रयोजनाभावाद् इति अर्थः. **तत्र** इति. दिन-रात्र्योः. **अन्यदा** इति सन्ध्याद्वये. दूषणान्तरम् आहुः **उद्यन्** इत्यादि. तथाच अस्मिन् वाक्ये सन्ध्यां गृहीत्वैव आयुः हरणोक्तेः सन्ध्ययोरपि आयुः मानान्तरगतत्वम् अवधार्यते, तयोः अनन्तरगतत्त्वेतु उक्तवाक्यविरोधः इति अर्थः. उक्तपक्षान्तराभ्युपगमेऽपि न उक्तदूषणोद्धारः इति आहुः **एवम्** इत्यादि. वक्ष्यमाण-

२. सगन्तव्यम् घ. गन्तव्यम् ख. ग. ङ. च. 'न गन्तव्यम्' इति मां१-२-३

स्वर्णशलाकाचतुष्टयेन मिलितेन मध्ये छिद्रं कर्त्तव्यम्. ते च स्वर्णमाषाः चतुरङ्गुलाः चतुस्त्रिंशत् तिलानां चतुर्गुणदीर्घाः. तद् आह **स्वर्णमाषैः चतुर्भिः चतुरङ्गुलैः** इति. यावत् प्रस्थं जलं तत्र माति, तावति प्रविष्टे प्लुतं भवति ।।९।।

एवं नाडिकापरिमाणम् उक्त्वा ततः ऊर्ध्वं कालपरिमाणम् आह

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानाम् अहनी उभे ।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ।।१० ।।

यामाः चत्वारः इति. चत्वारो यामाः अहः, पुनः चत्वारो यामाः रात्रिः इति ज्ञापयितुं द्विरुक्तिः. **अहनी** रात्रिन्दिवम्. **उभे** इति आवृत्तिव्युदासार्थम्. एवम् उभयं मिलित्वा एकम् अहः. **पञ्चदशाहानि पक्षः**. सः पक्षो द्विविधः– शुक्लः कृष्णश्च इति. रात्रिमुखे चन्द्रदर्शनयुक्तः **शुक्लः** रात्रिमुखे एतद् द्वीपे चन्द्राभावयुक्तः **कृष्णः**. **मानद** इति सम्बोधनं श्रुत्वैव [क]वचनानि अवगच्छति इति गुरोः मानदाता. **पञ्चदशाहानि** इति कलाभिप्रायम् ।।१० ।।

तयोः समुञ्चयो मासः पितॄणां तद् अहर्निशम् ।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ।।११ ।।
अयने चाऽहनी प्राहुः वत्सरो द्वादश स्मृतः ।
संवत्सरशतं नृणां परमायुः निरूपितम् ।।१२ ।।

तयोः समुच्चयः इति. **तयोः समुच्चयो** मेलनं **मासः**. सः उभयविधो भवति इति द्वयमपि अस्य अभिप्रेतम्. **पितॄणां तद् अहर्निशम्** इति. चन्द्रस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वाक्यविरोधेन पूर्वोक्तकल्पनस्य असङ्गतत्वम् आहुः **किञ्च** इत्यादि।।८।।

यामाः इत्यत्र. **कलाभिप्रायम्** इति. गणितेन तिथिह्रासवृद्धौ पञ्चदशाहपक्षस्य बाधम् आशङ्क्य तत्समाधानाय इदम् उक्तम्. तथाच, सूर्यस्य पृथ्वीकृतव्यवधानादिना आधिक्यन्यूनभावेपि कलाविचारेण सर्वदा ऐकरूप्येण पञ्चदशाहानि इति अर्थः।।१०।।

तयोः समुच्चयः इत्यत्र. **सः उभयविधः** इत्यादि. ''**अमावास्या हि मासान् संपश्यन्ती, पौर्णमास्या हि मासान् संपश्यन्ती**''(   ) इति श्रुतेः. शुक्लादिकृष्णादिभेदेन उभयविधो अत्र न अभिप्रेतः, किन्तु पञ्चमस्कन्धे सूर्यं प्रक्रम्य

क. 'वचनान्यागच्छति' इति मां२; 'वचनान्नगच्छति' इति मां१-३.

पञ्चदशकलासु यदा प्रविशति तदा रात्रिः, चन्द्रेण व्यवधानात्. यदा ततो अपगच्छति तदा दिनम्. पितरो हि जलकृतमेव व्यवधानं सूर्यस्य मन्यन्ते, नतु पृथिवीकृतम्. यथा अस्माकं चन्द्रे विद्यमाने अविद्यमाने वा सूर्योदयास्त-मयाभ्यामेव रात्रिदिनव्यवस्था; तथा तेषां सूर्यस्थितिः अप्रयोजिका, चन्द्रकलासु प्रवेशनिर्गमावेव प्रयोजकौ. प्रवेशएव कलोत्पत्तिः, निर्गमएव कलाक्षयः. निर्गमो दिनम् इति अमावास्यायाम् [क]अहर्दिनं तेषां भोजनकालो भवति. पौर्णमास्यान्तु तृप्ताः शेरते इति तेषां दिनरात्रिव्यवस्था. एवं मासद्वयम् **ऋतुः** षण्मासास्तु **अयनम्**, ''**द्वादशमासाः संवत्सरः**''( ) इति अयनद्वयं **वत्सरः** तयोः नाम **दक्षिणं च उत्तरम्** इति. दक्षिणायनम् उत्तरायणञ्च इति अर्थः. तद् अयनद्वयं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''**दाद्वश मासान् भुङ्क्ते राशिसंज्ञान् संवत्सरावयवान्, मासः पक्षद्वयं, दिवा नक्तं च इति सपादर्क्षद्वयम् उपदिशन्ति**''( ) इत्यनेन पक्षद्वयं मासः चान्द्रमानेन, तदेव पक्षद्वयं पितॄणां दिवा नक्तञ्च. सौरविचारेणतु सपादर्क्षद्वयं मासः इति उक्तम्. अग्रे चन्द्रं प्रक्रम्य ''**आपूर्यमाणाभिश्च कलाभिः अमराणाम् अपक्षीयमाणाभिः च कलाभिः पितॄणाम् अहोरात्राणि पूर्वापरपक्षाभ्यां वितन्वानः**''( ) इति कथनात् सूर्यकृतः चन्द्रकृतश्च मासो अङ्गीकृतः. तेन उभयविधः सः भवति इति एतद्द्वयं पितॄणां कृतां पैत्राम् अहोरात्रां(?) पञ्चदशाहपक्षाङ्गीकारेण, देवानाम् अहोरात्रं सूर्यकृतायनाङ्गीकारेण वदतो मैत्रेयस्य अभिप्रेतम् इति अर्थः. युगपद् उभ(या)हो(रा)त्र व्यवस्थां विचारयन्ति **चन्द्रस्य** इत्यादि. **प्रविशति** इति. ''**अद्भ्यो वा एषः उदेति, पुनः अपः प्रविशति**''( ) इति श्रुतेः जलात्मिकासु तासु सूर्यः प्रविशति. ननु उपरिष्टा(स्था)नां तेषां पृथिव्याऽपि व्यवधानसम्भवात् कथम् एवम् इति आकाङ्क्षायाम् उपपादयन्ति **पितरो हि** इत्यादि. **जलकृतम्** इति. ''**चन्द्रमा वा अपाम् आयतनम्**''(तैत्ति.आर.१।२२।४) इति श्रुतेः जलमयत्वात् तत्कृतम्. **इतीति**. मूले शुक्लकृष्ण-समुच्चयरूप-चान्द्रमासस्य पित्र्याहोरात्रत्वेन कथनाद् न अन्येति अर्थः. अत्र एवं भाति. सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्यैः

''**विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति,**
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वे दर्शे यतोऽस्माद्विदलं हि तेषाम्,

---

क. 'महद्दिनम्' इति मां१-२-३ पाठः.

दिवि स्वर्गे **अहनी प्राहुः**. दक्षिणायनं रात्रिः, उत्तरायणम् अहः. स्वर्गस्थाः तेजःकृतमेव व्यवधानं सूर्यस्य मन्यन्ते, न चन्द्रकृतं, नाऽपि पृथिवीकृतम्. तत्र नक्षत्राणि 'तेजः'शब्देन उच्यन्ते. तत्र उत्तराषाढा उत्तरायणदिवसस्य अरुणोदयः. तस्य पादे उपभुक्ते सूर्योदयो भवति, तदा भवति मकरः. पुनर्वसुपादत्रयपर्यन्तं दिनम्. एतानि नक्षत्राणि मालाकारेण वर्तन्ते अन्योन्यसन्मुखानि. तेषु परभागे पूर्वभागे वा स्थिताः अर्द्धं पश्यन्ति अर्द्धं न. यथा द्विगुणे वस्त्रे चित्रार्द्धमेव एकत्र स्थिताः पश्यन्ति तथा देवानामपि पुनर्वसुपादम् आरभ्य उत्तराषाढपर्यन्तं[ख] नक्षत्राणि व्यवधायकानि. सर्वाणि एतानि उपरिमुखानि मालारूपेण च वर्तन्ते. अतो दक्षिणायन-नक्षत्राणि यदा सूर्यसहितानि भवन्ति तदा उभयनक्षत्राण्यपि अधोमुखानि भवन्तीति सूर्यः तैः न दृश्यतएव. **प्राहुः** इति प्रमाणम्. द्वादशमासा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भार्द्धान्तरत्वान्न विधोरधःस्थं तस्मान्निशीथः खलु पौर्णमास्याम्,
कृष्णे रविः पक्षदलेऽभ्युदेति शुक्लेऽस्तमेत्यर्थतएव सिद्धम्''.

(सिद्धान्तशि.गोलाध्या.श्लो.१३) इति पितृलोकं चन्द्रकक्षातः उपरि अङ्गीकृत्य सूर्याचन्द्रमसोः ऐकराश्ये अमावास्यायां मध्याह्नः. भं राशिचक्रं द्वादश-राश्यात्मकं, तदर्धं षड्राश्यात्मकं, तावद् अन्तरत्वाद् नीचस्थे चन्द्रे सति तेन व्यवहितं सूर्यं न पश्यति. सर्वनिशीथः तदा भवति. यदा चन्द्रो अग्रे निःसरति तदा नीचैः खण्डितं पश्यन्तीति सूर्यसत्त्वेऽपि रात्रिः. यदा नव-राश्यन्तरं तदा सूर्यः तल्लोकसमानदेशे समायाति तदा दिनोदयः, एवं सायमपि. तद् अत्रापि अभिप्रेतम्. पञ्चमस्कन्धीय-गोलाद् अस्य भिन्नत्वे चन्द्रस्थितेरपि नीचैः सत्त्वेन सर्वम् उपपन्नम्. एतावान् परं विशेषः. तैः अन्तरायमात्रम् अङ्गीकृते अत्र(?)तु किरणद्वारा तत्र स्थितिः इति. ''**अयने च अहनी**'' इत्यत्र. **तेजःकृतम्** इति. यथा प्राच्यां दिशि प्रातः दावाग्नौ प्रज्वलति प्रतीचीस्थेन प्राङ्मुखेनाऽपि सूर्योदयो न उपलभ्यते दूरस्थसूर्यस्य निकटेन आग्नेयतेजसा व्यवधानात्, तद्वद् इति अर्थः. **मन्यन्ते** इति. रात्रिव्यवस्थापकत्वेन मन्यन्ते. उक्तं प्रकारं नक्षत्रस्थितिप्रकारबोधनेन उपपादयन्ति **एतानि** इत्यादि. **यथा** इत्यादि. पश्चाद् भागस्थिता अग्रभागम्, अग्रस्थिताश्च पश्चाद्भागम् इति अर्थः. **व्यवधायकानि** इति. सूर्यव्यवधायकानि. **उपरिमुखानि**

ख. 'उत्तराषाढपादपर्यन्तम्' इति मां१-२-३ पाठः.

वत्सरः अत्रापि **स्मृतः** इति प्रमाणम्. **संवत्सरशतन्तु नृणां परमायुः** अवृद्धिक्षये. एकेन संवत्सरेण एकम् आयुः कालेन उपभुक्तं भवति, ''**शतायुर्वै पुरुषः**'' (शतप.ब्राह्म.१३।२।६।८) इति श्रुतेः. धर्मेतु क्रियमाणे कालेन आयुः भोगः प्रतिबध्यते, तदा शतसंवत्सरादपि अधिकं जीवति. पापेतु क्रियमाणे पापमपि आयुरूपभुङ्क्ते, कालोऽपि, तत् चेत् पापं कालसमानं भवति. उत्कृष्टं चेद् भूयसः आयुसः क्षयः. उत्कृष्टपापे बहुजन्मजनके बीजपातक्षणम् आरभ्य पञ्चविंशतिवर्षपर्यन्तं नानाविधाः योनयः प्राप्यन्ते, न तेन शतायुः श्रुतिभङ्गः. **निरूपितम्** इति प्रमाणम् ।।१२ ।।

एवं कालं निरूप्य उपसंहरति

ग्रहर्क्षतारा–चक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति. रहोघटीवद् न उपरिमुखानि, किन्तु वृक्षवत्. **अधोमुखानि** इति. नीचैःस्थानि. अत्र इदं प्रतिभाति. ''**देवगृहा वै नक्षत्राणि**''(   ) इति श्रुत्या नक्षत्राणां देवगृहत्वम् उक्तम्. तानि च शिशुमारे स्थिराण्यपि तद्भ्रमणेन भ्रमन्ति दृश्यन्ते इति तद्वासिनो देवाअपि तथा. अतएव पञ्चमस्कन्धे ध्रुवक्षितिप्रशंसायाम्

''**यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिः अग्निना इन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाणः**''(भाग.पुरा.५।२३।१)

इति उक्तम्. तत्र उत्तरायणनक्षत्रेषु देवानां स्थितिः इति तत्र सूर्यस्थितौ नैकट्याद् नीचैः सूर्यो दृश्यते, सूर्यकक्षायाः नक्षत्रकक्षातो नीचैः विद्यमानत्वात्. दक्षिणायन-नक्षत्रेषु सूर्यस्थितौतु उभयविधनक्षत्रेभ्यो नीचैःस्थो अतिदूरः सूर्यो न दृश्यतएव. दिवसेतु प्रात्यहिक-शिशुमार-भ्रमणचन्द्र-भ्रमणयोः वशाद् यद्यपि मेघेष्विव किञ्चित् किञ्चित् कालं पिधीयते, तथापि तं व्यवधानं ते रात्रिव्यवस्थापकतया न मन्यन्ते, सूर्यनैकट्येन प्रकाशस्य विद्यमानत्वाद् इति. इदञ्च पुराणमतीयदैवाहोरात्रविभागस्य युक्तिरहितेन आज्ञामात्रतां ये मन्वते ज्योतिर्विदः तन्मतनिराकरणार्थं निरूपितम् इति. ननु कृतादिषु अधिकायुःस्मरणाद् इदानीमपि क्वचिद् दर्शनाच्च कथं संवत्सरशतस्य परमायुष्ट्वं, येन श्रुत्यविरोधः इत्यतः तद् उपपादयन्ति **एकेन** इत्यादि. **कालेन आयुः भोगः प्रतिबध्यते** इति. कालेन क्रियमाण

संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥१३॥

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः इति. **ग्रहाः** बुधादयः, [क]**ऋक्षाणि** अश्विन्यादीनि, **ताराः** अन्याः, तेषां चक्रं भचक्रम्. तत्र विद्यमानः सूर्यः, तत्रस्थपरमाणुदेशम् आरभ्य संवत्सरावसानपर्यन्तं, **पर्येति** पुनः-पुनः मण्डलाकारेण परिभ्रमति. **अनिमिषः** परग्रसने सावधानः. **विभुः** समर्थः. **जगत्पर्येति** उपभुङ्क्ते ॥१३॥

तस्य संवत्सरात्मकस्य केनचिद् निमित्तेन पञ्च नामानि सन्ति. तानि उपासनार्थम् आह

संवत्सरः परिवत्सरः इडावत्सर एव च ।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥१४॥

संवत्सरः इति. मासाः पञ्चविधाः संवत्सरसमाप्तिसूचकाः. ''**द्वादश मासाः संवत्सरः**''(शत.ब्राह्म.८।४।१।१६) ''**त्रयोदश मासाः संवत्सरः**''(शत.ब्राह्म. ८।४।१।१७) इति ब्राह्मणम्. त्रयोदश मासाः संवत्सरः इति नाक्षत्रे नियतं, चान्द्रे कादाचित्कम्. द्वादश मासाः संवत्सरः इति सौरे नियतं, चान्द्रे कादाचित्कम्. बार्हस्पत्येतु प्रभवादयः ते नियताः. वैष्णवोऽपि नियतः. सावनस्तु न नियतः, प्रतिदिनपर्यवसायित्वात्. अतः संवत्सरप्रयुक्त्या प्रभवादिनामसिद्ध्यर्थं बार्हस्पत्यमानमपि अपेक्ष्यते. व्रतादिसिद्ध्यर्थम् एकादश्यादिरपि मासो वैष्णवः,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आयुः भोगो धर्मेण प्रतिबध्यते॥११-१२॥

संवत्सरः इत्यत्र. संवत्सरादिनाम्नां निमित्तं विचारयन्ति **मासाः पञ्चविधाः** इत्यादि. **प्रभवादयः** इति. संवत्सराः, नतु मासाः इति अर्थः. **व्रतादिसिद्ध्यर्थम्** इति. चातुर्मास्यव्रतादिसिद्ध्यर्थम्. एकादश्यादिः वैष्णवो मासः सावनातिरिक्तः इत्यत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. आषाढशुक्लैकादश्यां मैत्राद्यपादे भगवच्छयनम् उक्तम्. कार्तिकशुक्लैकादश्यां रेवत्यन्त्यपादे प्रबोधश्च. तेन मासाः चत्वारो भवन्ति. तत्र नाक्षत्रग्रहणे पञ्चदिनाधिक-पञ्चमासाः भवन्ति इति मास-सङ्ख्याविरोधः. सौरचान्द्रग्रहणे तिथिविरोधः. बार्हस्पत्यस्तु असम्बद्धः. अतः परं सावनो अवशिष्यते. सतु ''**इनोदयद्वयान्तरं तदर्कसावनं दिनम्**''(सिद्धा.शिरो.ग्रहगणिते२०) इतिलक्षणको[१] यद्दिनम् आरभ्य प्रवृत्तः ततः त्रिंशे निवर्तते, यथा बुधे प्रवृत्तः त्रिंशद्दिवसे गुरौ

क. 'ऋक्षा अश्विन्यादयः' इति मां१-३, जु,अ. पाठः. १.कोऽयं दिन पा.

अन्यथा भगवतः शयनं रात्रौ भागद्वयेन स्यात्. सावनस्तु व्यवहारसिद्धः, न श्रुतिपदवीम् आरोढुम् अर्हति. अतः पञ्चैव संवत्सराः. तत्र चान्द्रः संवत्सरः, परिवत्सरो वैष्णवः, इडावत्सरः सौरः, अनुवत्सरो नाक्षत्रः, वत्सरो दैवः. **विदुर** इति सम्बोधनं स्नेहेन परिज्ञानार्थम्. यद्यपि एकएव कालः सर्वेषां, न संवत्सरभेदेन आवृत्त्या; तथापि नामान्येव पञ्च इति एवं **परिभाष्यते** इति उक्तम्. केचित्तु षष्टिसंवत्सराः मासत्वेन परिवृत्ताः द्वादशधाः परिवर्तमानाः पञ्चवत्सरात्मकाः भवन्ति इति आहुः. प्रभवादिबहुधान्यान्ताः 'संवत्सर'शब्दवाच्याः, प्रमाथ्यादयो द्वादश द्वादशोत्तर-शब्दवाच्याः इति. तत्र मासादीनां नियामकत्वाभावात् चिन्त्यम् ।।१४।।

एवं कालस्य *भेदत्रयम् उपपाद्य तत्र उपासनम् आह फलार्थं **यः सृज्ये**ति.

यः सृज्यशक्तिम् उरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः।।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वन् तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ।।१५ ।।

कालस्य प्रयोजनं वदन् भजनम् उपपादयितुं माहात्म्यम् आह **यः सृज्येषु** अङ्कुरादिषु, बीजादिस्थितां **शक्तिम् उरुधा उच्छ्वसयन्,** पत्रकाण्डादिभेदेन बीजसामर्थ्यं प्रकटयन्, **स्वस्य शक्त्या** किरणादिस्थितसामर्थ्येन, प्रतिक्षणं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निवर्तते. अतः तद् ग्रहणे अत्र क्रियमाणे तिथिः विरुध्येत. ''**प्रसुप्तं बोधयेद् रात्रौ**'' (   ) विधानात् शयनमपि रात्रौ स्यात्. एवं सावनस्य अश्रौतत्वसाधनेन सावनम् आदाय श्रीधरकृता संवत्सरव्यवस्था निरस्ता. **दैवः** इति. बार्हस्पत्यः. प्रतितिथिकृतो मासाग्निहोत्रमासिकश्राद्धाद्युपयुक्तो वा दैवः. ज्योतिर्विदां मतम् आहुः **केचिद्** इत्यादि. तस्य पक्षस्य अनभिप्रेतत्वम् आहुः **तत्र** इत्यादि. श्रीधरीयेतु 'यदा शुक्लपक्षप्रतिपदि सङ्क्रान्तिः भवति, तदा सौर-चान्द्रमासयोः युगपद् उपक्रमो भवति, सः संवत्सरः. ततः सौरमानेन षड् दिनानि वर्धन्ते, चान्द्रमानेन षड् हसन्ति'. एवं द्वादशदिनव्यवधानाद् उभयोः अग्र-पश्चाद्भावो भवति. एवं व्यवधान-तारतम्येन पञ्च वर्षाणि गच्छन्ति, तन्मध्ये द्वौ मलमासौ भवतः, तेषु परि(वरि)वत्सरादिनामता, ततः पुनः षष्ठे संवत्सरत्वम्, इति कस्यचिद् मतम् उक्तम्. तत्राऽपि उक्तएव दोषो बोध्यः।।१४।।

प्रकारभेदजनकेन, बीजशक्तिं प्रकटीकुर्वन् **पुंसो** अधिकारिणो **अभ्रमाय** वैराग्यार्थं **दिवि** स्वर्गे **धावति** परिभ्रमति. **धावति** इत्यनेन क्षणमात्रमपि पारलौकिकयत्नं विना न स्थातव्यम् इति ज्ञापयति. ननु धावनेन कथम् एवं भवति? इति आशङ्क्य आह **भूतभेदः** इति. भूतानां भेदो यत्र. सहि कालः सर्वाणि भूतानि भिनत्ति, अतः स्वस्याऽपि भेदशङ्कया वैराग्यजनकत्वम्. **स्वशक्त्या** इत्यत्र "**यदादित्यगतं तेजः**"(भग.गीता १५।१२) इति वाक्याद् भगवच्छक्तिः भविष्यति इति आशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थम् आह **कालाख्यया** इति. कलयति आकलयति इति 'कालः' आख्या यस्य. तत्र प्रकाशकत्वेनैव भगवत्तेजः प्रविष्टमिति कालद्वारैव इयं भगवच्छक्तिः. एवं साधने सामर्थ्यम् उपपाद्य फले सामर्थ्यम् उपपादयति **गुणमयं क्रतुभिः वितन्वन्** इति. **गुणमयम्** आनन्दमयं [क]स्वर्गादि "**आनन्दादयः प्रधानस्य**" (ब्रह्मसू.३।३।१२)इति न्यायाद् आनन्दादयएव गुणाः, तन्मयाः स्वर्गादयः, क्रतवोऽपि कालभेदाएव. अतः क्रतुभिः स्वर्गादिकं वितन्वन्. नहि अधिष्ठातृव्यतिरेकेण यागादयः प्रकटीभवितुम् अर्हन्ति, स्वर्गो वा प्रकटीभवितुम् अर्हति. सोऽपि भगवदंशः चेतनः, "**देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकः तिरोभवद्**" (तैत्ति.ब्राह्म.३।१२।४।१५) इत्यत्र निर्णीतः. एवं फलसाधकः प्रवर्तको भगवान् वत्सरपञ्चक-प्रवर्तकः. तादृशाय कालात्मने सूर्याय **बलिं हरत**, तदुपार्जितान्नभोक्तारः तदुपार्जितस्वर्गभोक्तारश्च, अन्यथा कृतघ्नता स्याद्, भोगश्च न सिद्ध्येत्. येनैव उपायेन भोगः सिद्ध्यति, कालो वा न ग्रसति, सच प्रीतो भवेत् तथोपायः कर्तव्यः. अहरहः उपासनं कर्तव्यम् इति सिद्धम्।।१५।।

एवं त्रिविधकालं निरूप्य, तूष्णीं भावे, आयुःप्रतिपादकत्वेन तदुपपादितं निरूप्य विशेषं प्रष्टुम् आह **पितृदेवमनुष्याणाम्** इति.

विदुरः उवाच

पितृ-देव-मनुष्याणाम् आयुः परम् इदं स्मृतम्।
परेषां गतिम् आचक्ष्व ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः।।१६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यः सृज्येत्यत्र. *__भेदत्रयम्__ इति. मानुष-दैव-पितृभेदेन प्रकारत्रयम्।।१५।।

पितृदेवेत्यत्र. 'निरूप्यविशेषम्' इति एकं पदम्. मूले 'इदं' पदस्य संवत्सर-

क. 'स्वर्गे हि' इति मां२, 'स्वर्गेऽपि' इति मां१-३, जु पाठः.

आयुः आयुःपरिमाणम्. **परं** पर्यवसितम्. **परेषां** कल्पवासिनाम्. ये कल्पान्तरेऽपि उत्पन्नाः कल्पसमाप्तावपि अनुवर्तन्ते तेषां **गतिं** दिनरात्रिव्यवस्थां, तत्र तेषां कृतिं वा **आचक्ष्व**. केचन कल्पान्तमेव तिष्ठन्ति, तेषां कल्पस्यैव आयुष्ट्वम्. ततोऽपि ये कल्पाद् बहिः जीवन्ति. जीवने हेतुः **विदः** इति. ज्ञानिनएव बहुकल्पजीविनः ।।१६ ।।

तत्र कथनार्थं मैत्रेयस्य ज्ञानम् उपपादयति

भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ।।१७ ।।

भगवान् इति. भवान् **भगवान्,** भगवत्कृपया तथात्वाद्, भगवति श्रद्धावत्त्वाच्च. अतएव **भगवतः कालस्य गतिं वेद.** सहि स्वात्मानं वेद इति. किञ्च, **धीराः** संसारखेदसहिष्णवो योगसिद्धाः. **विश्वं** सर्वमेव **योगसिद्धेन चक्षुषा विचक्षते.** अतो योगजधर्मेण ज्ञानेन च विचक्षते. **चक्षुषा** इति निःसन्दिग्धार्थम्. योगसिद्धत्वाद् न भ्रमजनकत्वम् ।।१७ ।।

यथा क्षणादिभिः दिनगणना तथा युगैः तेषां दिनगणना इति कृतादीनां स्वरूपम् आह **कृतम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ।।१८ ।।

कालविशेषस्य नाम किञ्चित्. **कृतम्** इति. तस्मिन् काले कालेन यत् कर्तव्यं तत् प्रतीकारो वा; तत्कृतमेव. तस्मिन् युगे उत्पन्नानां न किञ्चित् कर्तव्यम् अवशिष्यते. **त्रेता** नाम तृतीयांशकर्तव्यता, द्वापरम् अंशद्वयकर्तव्यता **कलिः** कलहः, सर्वमेव विवादास्पदं, न किञ्चिद् निर्द्धारितम् इति अर्थः. अतएव श्रुतौ ''**ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तद्**''(जैमि. ब्राह्म.३।२७३) ''**अथ ये पञ्च कलिः सः**'' (   ) इति स्तोमानां पञ्चपक्षो निन्दितः. त्रिवृत्,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गणनागणितम् इति अर्थः. **तत्र** इति कल्पात्मके अहोरात्रे।।१६।।

कृतम् इत्यत्र. **कालेन यत्कृतम्** इति. कालहेतुकं यत्कर्म, तद् अनश्वरम्

१.कर्त्तव्येति. पा.

पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंशः इति चत्वारएव स्तोमाः, चत्वारो वर्णाः, त[1] एव उत्पादिताः. अतः तेषु न कोऽपि विवादः. पञ्चस्तोमपक्षस्तु निन्दितः 'कलि'पदेन. षट्स्तोमपक्षस्तु अनिन्दितः ''**यस्य त्रिणवमन्तर्यन्ति**'' (   ) इत्यादिना निरूपितः. अतो निन्दितपर्यायः कलिः. तेषां कल्पवासिनां यस्मिन् काले सर्वमेव कर्तुं शक्यते, सफलञ्च भवति. सः कालो अमृतघटिकारूपः 'कृत'शब्देन उच्यते. यस्तु निन्दितो विषघटिकात्मकः सः कलिः, यत्र कलहएव, नतु अर्थपर्यवसानम्. एतत् चतुष्टयं मिलित्वा 'चतुर्युगम्' इति उच्यते. तेषां कालम् आह **दिव्यैः** इति. **द्वादशभिः वर्षैः** इति. सहस्रैः इति उक्तं भवति अर्थात्. दिव्याः हि वर्षाः न अल्पसङ्ख्यया गणयितुं योग्याः. सहस्रसङ्ख्या [2]परमकाष्ठा अतः सहस्रसङ्ख्या प्राप्यते. 'दिव्य'पदेनैव शतसङ्ख्याऽपि प्राप्यते. तथापि ''सन्दिग्धेषु वाक्य-शेषात्'' इति न्यायेन ''**सङ्ख्यातानि सहस्राणि**''(भाग.पुरा.३।११।।१९) इति अग्रिमवाक्यात् सहस्रसङ्ख्यैव प्राप्यते. द्वादशभिः दिव्यसहस्रवर्षैः सावधानं चतुर्युगं निरूपितं भवति. **अवधानं** व्यवधानम्. सन्धौ भवा सन्ध्या, व्यवधानानन्तरं यद् जायते सा सन्ध्या. सन्ध्यांशो अल्पकरणं, यथा घण्टानादे अनुरणनम्. तन्मध्ये युगम् ।।१८।।

सन्ध्या-सन्ध्यांशौ युगेन सम्बद्धौ इति उभयसम्बन्धाद् युगत्वं समुदाययोगशक्तिभ्याम् अवसीयते. तेषाम् अवान्तरकालान् आह **चत्वारि** इति.

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
सङ्ख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानिच ।।१९ ।।

चत्वारि सहस्राणि कृतयुगं, त्रीणि त्रेता, द्वे द्वापरम्, एकं कलिः इति यथाक्रमं सहस्राणि सङ्ख्यातानि. युगदशमांशः सन्ध्या, तावानेव अंशः. अतः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति अर्थः. [1]**कर्तव्यता** इति. कार्यशेषः. प्रश्नानुरोधेन इदं निरूपणं, न सर्वसाधारणम् इति आशयेन आहुः **तेषाम्** इत्यादि. अर्थात् कथम् **उक्तं भवति** इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **दिव्याः हि** इत्यादि. **अतः** इति. काष्ठातः. [3]प्राप्यते इति. 'दिव्य'पदेन मानुष-पित्र्ययोः निवृत्त्या प्राप्यते।।१८।।

चत्वारि इत्यत्र. **समुदाययोगशक्तिभ्याम्** इति. 'योग'शब्दरूढ्या

---

१. तत एव ग. २ . 'परमा काष्ठा' इति मां२ पाठः. ३.प्राप्येति. पा.

तावन्ति शतानि प्रत्येकम् समुदायेन द्विगुणानि. **च**कारात् अतिरिक्तोऽपि कश्चन कालो लभ्यते यदि भगवत्कार्ये किञ्चिद् व्यवधानं भवेत् ।।१९ ।।

सर्वस्य युगत्वम् आशङ्क्य तन्निराकरणाय मध्यकालएव 'युग'शब्देन उच्यते इति आह

सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसङ्ख्ययोः ।
तमेवाऽऽहुः युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ।।२० ।।

सन्ध्यांशयोः इति. सन्ध्या अंशश्च, तयोः अन्तरेण यः कालः. **शतसङ्ख्ययो**ः इति सन्ध्यांशयोरपि कालविशेषत्वमेव, नतु देवतात्वम्. **तमेव** कालं **युगम्** आहुः. **तज्ज्ञा**ः इति प्रमाणम्. ननु अनन्तस्य कालस्य स्वतः परिच्छेदरहितस्य केन उपाधिना कृतत्वम्? इति आशङ्क्य तम् उपाधिम् आह **यत्र धर्मो विधीयते** इति. यत्र कालविशेषे धर्मो विधीयते, न अनूद्यते. सन्ध्यायां पूर्वधर्मस्य भवति लोपः तदा युगप्रवृत्तौ ऋषिभिः पारम्पर्यज्ञानाभावाद् अपूर्वो धर्मो विधीयते. सतु युगसमाप्तिपर्यन्तं विधिः प्राणिनः प्रवर्तयन् अनुवर्तते. अतो 'युग'शब्दवाच्यो भवति, धर्मोपाधिकत्वात् ।।२० ।।

ननु अवान्तरभेदः किं निबन्धनः? इति आशङ्क्य आह

धर्मश्चतुष्पान् मनुजान् कृते समनुवर्तते ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सन्ध्येत्यादिना उक्तेन योगेन च इति अर्थः. **तेषाम्** इति. युगानाम्. **तावानेव अंशः** इति. सन्ध्यातिरिक्तो दशमांशएव 'अंश'पदवाच्यः, तथाच, युगारम्भस्य पूर्वकालः 'सन्ध्या'पदवाच्यः, युगसमाप्तेः अनन्तरस्तु 'अंश'पदवाच्यः इति अर्थः. **यदि** इत्यादि. यथा माण्डव्योपाख्याने पतिव्रताप्रतिबद्धः सूर्यः सप्तदिनपर्यन्तं न उदियाय, तादृशव्यवधानरूपः इति अर्थः ।।१९।।

सन्ध्यांशयोः इत्यत्र. श्रुतिप्रणिहितस्य धर्मस्य विद्यमानत्वाद् विधानोक्तिः कथं सङ्गच्छते इति आहुः **सन्ध्ये**त्यादि. बहुकालव्यवधानेन युगप्रवृत्तौ प्रथमपर्यायस्य कृतयुगसम्बन्धिपुरुषाभावेन पारम्पर्यं भाविपुरुषैः न ज्ञायते इति तदभावाद् बहुकाल-जीविभिः तैः तैः ऋषिभिः धर्मो ज्ञाप्यते इत्यतो अपूर्वत्वाद् विधानोक्तिसङ्गतिः इति अर्थः. **भवति** इति. कालो भवति।।२०।।

धर्मः चतुष्पाद् इत्यत्र. **अवान्तरभेद**ः इति. कृतादिभेदः. **इति उक्तम्** इति.

स एवाऽन्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ।।२१ ।।

धर्मः चतुष्पाद् इति. धर्मावान्तरभेदएव युगावान्तरभेदहेतुः. तम् आह **चतुष्पाद् धर्मः कृते मनुजान् समनुवर्तते** कालेनैव प्रेरितो धर्मो मनुजान् अनुवर्तते. तत्रापि मनुजाएव हेतवः. चत्वारो वर्णाः कृतएव. त्रेतायां ब्राह्मणाभावः, द्वापरे क्षत्रियाभवः, कलौ शूद्रएव. अतः चतुष्पाद् धर्मो मनुजान् समनुवर्तते. सएव धर्मो अन्येषु युगेषु **पादेन व्येति,** पादेन वद्र्धता अधर्मेण कृत्वा. अनेन त्यक्तधर्मो वर्णो अधर्मेण व्याप्रियते इति उक्तम् ।।२१ ।।

एवं युगानां स्वरूपम् उक्त्वा तैः दिनव्यवस्थाम् आह

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिरा ब्रह्मणो दिनम् ।

तावत्येव निशा तात! यन्निमीलति विश्वसृक्।। २२ ।।

त्रिलोक्या इति. **त्रिलोक्या बहिः** ब्रह्मलोकपर्यन्तं **युगानां साहस्रं** सहस्रसङ्ख्यासमुदायो **दिनं,** महर्लोकम् आरभ्य उपरितनेषु लोकेषु एतावद्दिनम् इति अर्थः. **आ ब्रह्मणः** इति वचनं पातालादिव्युदासार्थं, तत्र दिनरात्रिव्यवस्थैव न अस्ति. यावद् दिनं तावत्येव निशा. युगाद्यभावे[क] ब्रह्मणः आयुः खण्डाएव नियामकाः, भगवदिच्छा वा. तत्र निमित्तान्तरम् आह **यद् निमीलति विश्वसृग्** इति. यस्मिन् काले **विश्वसृग्** ब्रह्मा भगवान्, ब्रह्मोदरो वा भगवान् शेते. निद्राभावाद् निमीलनमेव तस्य. निमीलनमेव योगनिद्रा. **तात** इति सम्बोधनम् अप्रतारकत्वज्ञापनाय ।।२२ ।।

यथा युगप्रवृत्तिः दिनख्यापिका तथा शयनप्रवृती रात्रीख्यापिका इति नियामकान्तरम् आह, प्रतियुगं सृष्टिव्यावृत्त्यर्थं

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते ।

यावद् दिनं भगवतो मनून् भुङ्क्ते चतुर्दश ।।२३ ।।

निशावसाने इति. रात्र्यवसाने अरुणोदये भगवता प्रारब्धो **लोककल्पो**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति हेतोः, त्रेतादिषु ब्राह्मणाद्यभावकथनेन अब्राह्मणत्वादिकम् उक्तम् इति अर्थः ।२१।

निशावसाने इत्यत्र. **ब्रह्मविदामपि भगवत्त्वाद्** इति. तेषामपि तदेव दिनम्

क. 'युगाद्यभावेऽपि' इति मां१–२–३,जु पाठः.

यावद् दिनं दिवसावसानपर्यन्तम् **अनुवर्तते**. प्रवाहरूपेण लोकाः कल्प्यन्ते उत्पाद्यन्ते अनया परम्परया, अस्यां वा; तत् पारम्पर्यं **लोककल्पः**. तच्च दिनं भगवतः, ब्रह्मविदामपि भगवत्त्वात्. तत्र धर्मप्रवृत्तेः हेतुम् आह **मनून् भुङ्क्ते चतुर्दश.** अयं लोककल्पः चतुर्दश मनून् **भुङ्क्ते** अनुभवति, धर्मपालकत्वेन गृह्णाति इति अर्थः ।।२३ ।।

मनूनां धर्मपरिपालनरूपं[1] वक्तुं तत् परिच्छिन्नं कालम् आह **स्वं स्वं कालम्** इति.

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साऽधिकां ह्येकसप्ततिम् ।
मन्वन्तरेषु मनवः तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैव युगपत् सुरेशाश्चाऽनु ये च तान् ।।२४ ।।

एकसप्ततिचतुर्युगानि च सार्धैकपञ्चाशद्-दिव्यवर्षाधिकं मन्वन्तरम्. 'मन्वन्तर'शब्दो रूढः षडङ्गधर्मसाधनपरः, नतु मनोः अन्तरं तेन उपभुज्यमानः कालः. तथा सति मनुपुत्रादीनाम् उपभोगकालो अन्यः स्यात्. नापि सर्वस्याऽपि वंशस्य वाचको 'मनु'शब्दः, प्रियव्रतपुत्रेषु उत्तम-तामस-रैवतेषु भिन्नं मन्वन्तरं न स्यात्. "**स एव स्वान्तरं निन्ये**" (   ) इतितु प्रक्रियान्तरत्वाद् न अन्यैः मन्वन्तरैः विरोधः. अतो 'मन्वन्तर'शब्दो रूढएव. "**मन्वन्तराणि सद्धर्मः**" (भाग.पुरा.२।१०।१४) इति वाक्याच्च षण्णां समुदायो मन्वन्तरम्. तान् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति अर्थाद् बोध्यम्. इदञ्च "**ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः**"(भाग.पुरा. ३।११।१६) इत्यस्य उत्तरत्वेन उक्तम्।।२३।।

मन्वन्तरेषु इत्यत्र. "**मन्वन्तराणि सद्धर्मः**"(भाग.पुरा. २।१०।४) इत्यत्र धर्मस्य मन्वन्तरत्वम् उक्तम्. तद्विमर्शे "**मन्वन्तरं मनुर्देवाः**"(भाग. पुरा.१२।७।१५) इत्यत्र षट्सु प्रकारेषु उक्तम्, अत्रतु मनुभोग्यकाल उक्तम् इति किं वा 'मन्वन्तर'पदे प्रवृत्तिनिमित्तं योगो वा इति आकाङ्क्षायाम् आहुः 'मन्वन्तर'शब्दः इत्यादि. **प्रक्रियान्तरत्वाद्** इति. भगवत्कृपाप्रकरणत्वात्.

ननु मनुपुत्राणां पाश्चात्त्यत्वात् कथं मनुना यौगपद(द्य)म् इत्यतः आहुः **सपुत्रः** इत्यादि. तथाच अधिकारैक्याद् यौगपद्यम् इति अर्थः. अंशावतारानुक्त्या

१. धर्मपालन ख. ग.त.जु.

मन्वन्तरेषु इति. सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु मनुः, मनुपुत्राः, ऋषयः, देवाः, इन्द्रः, अंशावतारश्च एते युगपदेव भवन्ति. सपुत्रएव मनुः अधिकारे अभिषिच्यते. **सुरेशाः च** इन्द्राः. आद्यन्तयोः बहुवचनं समुदायाभिप्रायेण. अंशावतारस्तु युगपद् न जायतइति पञ्चैव उक्ताः ।।२४।।

उक्तानि मन्वन्तराणि यदर्थं तम् उपसंहरति

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः।

तिर्यङ्–नृ–पितृ–देवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ।।२५।।

एषः दैनन्दिनः इति. दिने–दिने जायमानो **दैनन्दिनः**. संवत्सरात्मकः कल्पो भिन्नः. अयन्तु दैनन्दिनः. अस्य विशेषम् आह **त्रैलोक्यवर्तनः** इति. त्रैलोक्यं वर्त्तयति आवर्तयति इति. देव–तिर्यङ्–मनुष्याणां पुनः–पुनः जन्म इति कृत्वा त्रैलोक्यवर्तनत्वम्[क]. तदेव आह **तिर्यङ्–नृ–पितृ–देवानाम्** इति. नृपितरः एके, जीवन्मृतभेदेन विवक्षया. दैनन्दिने पुनः–पुनः उत्पत्तौ कर्मणो नियामकत्वम् ।।२५।।

एवं दिनम् उपसंहृत्य तत्र नियामके धर्मे कः प्रवर्त्तकः? इति आकाङ्क्षायां धर्मस्य भगवानेव प्रवर्तकः इति आह

मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत् सत्त्वं स्वमूर्त्तिभिः।

मन्वादिभिरिदं विश्वम् अवत्युदितपौरुषः ।।२६।।

मन्वन्तरेषु इति. सर्वेष्वेव **मन्वन्तरेषु** स्वस्य शुद्धं **सत्त्वं बिभ्रद् भगवान् स्वस्य मूर्तिभिः** ज्ञानकर्मयोगादिप्रवर्तकैः अवतारैः **मन्वादिभिः** सहितैः **इदं विश्वम् अवति.** उदितं पौरुषं यस्य. यद्यपि स्वयमेव धर्मं पालयन् जगत् पालयति, तथापि स्वस्यैव पौरुषस्य एते अंशाः, मन्वादयो अवताराश्च ।।२६।।

एवं दैनन्दिनसृष्टिम् उपपाद्य तत्रत्यं प्रलयम् उपपादयति

तमोमात्राम् उपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः।

कालेनाऽनुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ।।२७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न्यूनत्वम् इति तत्परिहाराय आहुः **अंशावतारः** इत्यादि।।२४।।

विकारैः इत्यत्र. भूतानां विकारत्वेन विशेषतन्मात्राणाम् आधिक्यात् कथं

क. 'वर्तमानत्वम्' इति मां१–३,जु पाठः.

तमेवाऽन्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायाम् अनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम् ।।२८ ।।
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाग्निना ।
याक्त्यूष्मणा महर्लोकाद् जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ।।२९ ।।

तमोमात्राम् उपादाय इति. **तमसोमात्रा** सत्त्वरजःसम्बन्धरहिता, केवलं तमः इति अर्थः. ताम् उपादाय प्रतिसंरुद्धो विक्रमो यस्य. तमसा विक्रमे प्रतिसंहृते विक्रमद्वारा विक्रमकार्यमपि जगत् कालेन कृत्वा भगवत्येव अनुगतं भवति. तद् आह **कालेन** इति. सर्वमेव अनुगतं भवति. 'अशेष'पदेन शेषव्यतिरिक्तं जगद् इति योगात् सूचितम्. तदा भगवान् कार्योन्मुखतां परित्यज्य **तूष्णीम् आस्ते. दिनात्यये** सन्ध्याकाले. भगवत्तूष्णीम्भावे प्रवाहस्तम्भकाभावात् कालेन प्रेरिताः भूरादयो लोकाः **अन्वपिधीयन्ते** अव्यक्ते प्रविशन्ति. तदा तेषु अव्यक्ते लीनेषु **निर्मुक्तशशिभास्करं** यथा भवति तथा **निशायाम् अनुवृत्तायां** सम्यक् प्रवृत्तायाम्, तदनन्तरं **त्रिलोक्यां सङ्कर्षणाग्निना दह्यमानायाम् ऊष्मणा** पीडिता महर्लोके स्थिताः भृग्वादयो महर्लोकं परित्यज्य **जनलोकं यान्ति** इति सम्बन्धः.

अत्र अयं क्रमः. यदा भगवान् शिशयिषुः भवति. तदा तमो गृह्णाति, पश्चात् च शेते. एतावानेव व्यापारः. अन्यत् सर्वं स्वयमेव भवति. विक्रमोप-संहारश्च तमोग्रहणाद् आलस्येन. ततो रक्षकाभावात् कालस्य भक्षकत्वात् स्वयमेव जगद् लीयते. कालस्य अत्र न भक्षकत्वं किन्तु भयजनकत्वाद् लये निमित्तत्वम्. जगति स्वस्मिन् प्रविष्टेऽपि भगवान् न परिपालनार्थं यत्नं करोति किन्तु तूष्णीमेव तिष्ठति. तस्य तूष्णींभावम् अनु भुवनात्मकाः भूरादयः उज्जटग्रामभित्तयइव तिरोहिताः भवन्ति. तदा आधारभूतानां लोकानाम् अभावाद् ज्योतिश्चक्रं ध्रुवाद् विगलितं पतति. तदा मुख्यौ शशिभास्करौ कीलाद् विगलितौ निर्मुक्तौ भवतः. तदा अन्धकारे प्रवृत्ते रात्रिः सुतरां प्रवृत्ता भवति. तदा सङ्कर्षणमुखाद् उत्थितो अनलः त्रिलोकीं दहति. जनाः अभिमानिन्यो देवताश्च पूर्वमेव गताः, शिष्टम् अचेतनम् अग्निः दहति. मृदादीन् कथम् अग्निः दहेद् ? इति आशङ्क्य सो अग्निः **शक्ति**रूपः इति उक्तम्. तस्य अग्नेः प्राकृतवैलक्षण्याय माहात्म्यम् आह **भृग्वादयः** पीडिताः भवन्ति ।।२७-२९ ।।

तदनन्तरं भगवद्वशाः घनाः वर्षन्ति इति आह

तावत् त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोप–चण्डवातेरितोर्मयः ॥३०॥

तावद् इति. **तावत् सिन्धवः कल्पान्तेन** कालेन **एधिताः** मेघद्वारा वडवानलशान्तिद्वारा वा. **सिन्धवः त्रिभुवनं प्लावयन्ति. उत्कटो** यो अयम् **आटोपः,** तत् सहितो यो अयं **चण्डो वातः** तेन जनिता **ऊर्मयो** येषु ॥३०॥

अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥३१॥

तदा तस्मिन् सलिले 'शेषा'परनामाऽनन्तः, अन्तःस्थितसर्वलोकानां दुःखहर्ता, योगनिद्रया निमीलिताक्षः. योगनिद्रया कृत्वा निमीलनं निमीलः तद्युक्ते अक्षिणी यस्य. **जनालयैः** भृग्वादिभिः **स्तूयमानः** हिन्दोलायां गायकैः गीयमानइव, **निमीलिताक्षः आस्ते,** शेते इति अर्थः. एवं ब्रह्मणो रात्रिदिनव्यवस्था निरूपिता ॥३१॥

तदनन्तरं तादृशेन अहोरात्रेण ब्रह्मणः आयुः आह

एवंविधैर् अहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपेक्षितमिवाऽस्यापि परमायुर्वयःशतम् ॥३२॥

एवंविधैः इति. ननु द्विवतीयदिवसस्य कथं प्रवृत्तिः? कर्मसूर्य–गत्यादीनाम् अभावाद्, इति आशङ्क्य आह **कालगत्योपलक्षितैः** इति. कालप्रवाहस्य विद्यमानत्वाद् "**निर्विशेषं न सामान्यम्**" इति न्यायेन सामान्येन उपलक्षिताः विशेषाः भवन्तीति पुनः अहोरात्रप्रवृत्तिः. एवम् अहोरात्रावृत्त्या पक्ष–मास–वर्षावृत्तिः. तदा ब्रह्मणो वर्षशतं भवति. तावद्भिरपि वर्षैः ब्रह्मणः आयुः अपेक्षितमिव भवति. तस्याऽपि मम आयुः बहु इति न बुद्धिः, किन्तु अन्यदपि चेद् भवेत् तदा समीचीनं भवेद् इति इच्छैव तिष्ठति ॥३२॥

इदानीं तस्मिन् आयुषि स्थूलान् कल्पान् निरूपयितुं तस्य आयुषो विभागम् आह

यदर्धम् आयुषस्तस्य 'परार्धम्' अभिधीयते।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥३३॥

यद् अर्धम् आयुषः तस्य इति. **तस्य** ब्रह्मणः आयुषो यद् अर्धं, तत्

‘परार्धम्’ इति अभिधीयते. ब्रह्मायुषः ‘पर’शब्दवाच्यत्वात् परस्य अर्धम् इति. तत्र पूर्वपरादूर्धस्य आद्यन्तौ ज्ञापयितुं पूर्वस्य समाप्तिम् आह **पूर्वः परार्धो अपक्रान्तः** इति. **अद्य** इदानीम् **अपरः प्रवर्तते** इति. ब्रह्मणोऽपि आयुः गतप्रायम् इति सूचयन् वैराग्यम् उपदिष्टं, साधारणानाम् इन्द्रियाध्यासत्वात् ।।३३।।

तत्र मुख्यकल्पानां मध्ये आद्यो ब्रह्मकल्पः इति आह

पूर्वस्याऽऽदौ परार्धस्य ‘ब्राह्मो’ नाम महान् अभूत् ।
कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ।।३४।।

पूर्वस्य इति. तस्य कल्पस्य ब्राह्मत्वम् उपपादयति. सतु **महान्** कल्पः आसीत्, संवत्सरात्मको नतु दैनन्दिनः. यत्र कल्पे ब्रह्मा स्वयम् **अभूद्** उत्पन्नः इति अर्थः. तस्मिन् कल्पे भगवानेव ब्रह्मा इति. तस्य सर्वकल्पेषु साधारण्यं मन्यमानः, कल्पप्रयोजकं ब्रह्मणो रूपम् आह **शब्दब्रह्मेति यं विदुः** इति. तस्मिन् कल्पे शब्दब्रह्मणः सकाशादेव सर्वोत्पत्तिः. तस्य शब्दब्रह्मणः स्वरूपं बुद्ध्यध्याये अग्रे वक्ष्यते ।।३४।।

तस्य अन्तिमवर्षकल्पम् आह **तस्यैव च अन्ते** इति.

तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूद् यं ‘पाद्मम्’ अभिचक्षते ।
यद् धरेर्नाभिसरस आसीद् लोकसरोरुहम् ।।३५।।

यं पाद्मम् अभिचक्षते इति. सः पद्मकल्पः पूर्वम् उक्तः. तस्य पद्मकल्पत्वनिमित्तम् आह **यद्धरेः नाभिसरसः** इति. पद्मेन कल्पते[1], इति व्युत्पत्त्या तस्य पद्मकल्पत्वसिद्धेः पद्मोद्भवएव वक्तव्यः. तदर्थं **नाभिसरोरुहम्** इति उक्तम् ।।३५।।

द्वितीयपरार्धस्य आद्यं संवत्सरकल्पम् आह

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्याऽपि भारत! ।
‘वाराह’ इति विख्यातो यत्राऽऽसीत् सूकरो हरिः ।।३६।।

‘तु’शब्दो दैनन्दिनं व्यावर्तयति. **वाराहः** इति. आद्यस्य आद्यो ब्राह्मो वेदात्मकः. द्वितीयस्य आद्यः शब्दार्थात्मको ‘वाराहः’ इति लोके विख्यातः. तस्य वाराहत्वम् उपपादयति **यत्र आसीद्** इति. वराहः **सूकरः. हरिः** इति. ब्रह्मादीनां दुःखनिवारणं तथावतारे हेतुः. तत्र आदिवराहकल्पः प्रथमः, वाराहो

१. ‘कल्प’ इति ख. ग. च.मां१-३

द्वितीयः, तृतीयः श्वेतवाराहः. सो अयं वर्तमानः ।।३६ ।।

एवं ब्रह्मणः आयुः निरूप्य अक्षरस्याऽपि आयुः वक्तव्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आह

कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्याऽनन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः ।।३७ ।।

कालो अयम् इति. अयं द्विपरार्धाख्यः कालो अक्षरायुषो निमेषो भवति. अयं **निमेषः** उन्मेषनिमेषात्मकः. तेनाऽपि प्रकारेण गणना न उचिता, परिच्छेदसम्भवात्. सर्वथा हि अपरिच्छिन्नं हि अक्षरं ब्रह्म. अतः आह **उपचर्यते** इति. ब्रह्मायुः निमेषः उपचारादेव उक्तः, नतु वस्तुतः. तत्र हेतुम् आह **अव्याकृतस्य** इति. न केनाऽपि व्याकरणम् आविर्भावो यस्य. आविर्भाव-तिरोभावयोः मध्यवर्ती कालः 'आयुः' इति उच्यते. तत्र आविर्भावाभावे तिरोभावोऽपि न अस्तीति तस्य आयुरेव न अस्ति, कस्य गणना स्यात्? किञ्च, परिच्छिन्ने हि गणना. तद् आह **अनन्तस्य** इति. अन्तरहितस्य. तस्माद् उत्तरावध्यभावाद् न कालगणना. आरम्भोऽपि न अस्ति इति आह **अनादेः** इति. अनादित्वं निरूपयति **जगदात्मनः** इति. जगताम् आत्मा, येऽपि परिच्छेदकाः कालदयः तेषामपि अयम् आत्मा. यथा देहस्यैव आयुः, न आत्मनः तथा अस्य अक्षरस्य जगताम् आत्मानो देहस्थानीयाः. अतो देहस्थानीयानामपि नित्यत्वाद् न अक्षरस्य आयुः केनाऽपि प्रकारेण सिद्ध्यति ।।३७ ।।

कालोऽयं परमाण्वादिः द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ।।३८ ।।

किञ्च **अयं कालः. परमाण्वादिद्विपराद्र्धान्तः.** मनुष्यायुः परिच्छेदकसूक्ष्मोपाधिम् आरभ्य ब्रह्मणः परमायुश्छेदकपर्यन्तम्. कालः सर्वेषां **धाममानिनां** देहाभिमानिनाम् **ईश्वरो**ऽपि सन्, नियन्तापि सन्, **भूम्नो** अक्षरस्य प्रभुः न भवति. तत्राऽपि **ईशितुं प्रभुः न** भवति. भगवन्तम् ईशितव्यं कर्तुं न समर्थो भवेद् इति अर्थः. **ईश्वरो धाममानिनाम्** इति भिन्नं वाक्यम्. तेन 'ईश्वर'पदे न पौनरुक्त्यम्. पुनः 'ईश्वर'-ग्रहणं तस्य ऐश्वर्यं स्थापयितुम्, अन्यथा मूले अनीश्वरः सर्वत्र अनीश्वरः स्यात् ।।३८ ।।

एवं कालपरिच्छेदाभावम् उक्त्वा स्वरूपम् आह **विकारैः** इति.

विकारैः सहितो युक्तैः विशेषादिभिरावृतः।

आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्-कोटिविस्तृतः ॥३९॥

विकारैः षोडशविकारैः, एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राश्च. आवरणे महाभूतानां विनियोगाद् महाभूतानि वा. उत्पत्तौ तन्मात्राणां प्राधान्यात्. **युक्तैः** मिलितैः. अयुक्तैः विशेषादिभिः पृथिव्यादिभिः **आवृतो** अयम् **आण्डकोशः**. बहिः आवृतस्य मध्ये स्वरूपं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतं, बहिरेव वा पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः. अयं गोलः पञ्चमस्कन्धोक्ततिर्यग्गोलाद् अन्यः. सएव वा उद्ध्र्वगोलः ज्योतिःशास्त्रे गोलषट्कस्य प्रसिद्धत्वात्. पद्मकल्पे पञ्चाशत्कोटिविस्तृतं कमलं, वाराहे भूम्येव तावती; अतो [1]नाना-प्रकारनिरूपणं न दोषाय, नाऽपि अन्योन्यविरुद्धम् ॥३९॥

तस्य ब्रह्माण्डस्य प्रकृते निरूप्यमाणस्य देशावच्छेदकत्वाभावाय स्थूलताम् आह

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।

लक्ष्यतेऽन्तर्गतश्चाऽन्ये[2] कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥४०॥

दशोत्तराधिकैः इति. अण्डात् परतः पृथिवी पञ्चाशत्कोटिदशगुणा. विशेषादिभिः इति अजहत्स्वार्थबहुब्रीहिः. गोलएव वा पृथिवी, जलादयएव दशगुणाः इति केचित्. तदा तैः आवरकैः दृष्टैः घटमध्ये प्रविष्टः परमाणुरिव **लक्ष्यते**. तैः सहितो वा रोमकूपे प्रविष्टः परमाणुरिव दृश्यते. तस्य च कूपस्य मध्ये **अन्ये**ऽपि एतादृशाः अण्डकोशाः कोटिशो लक्ष्यन्ते ॥४०॥

एवम् अनन्तब्रह्माण्डावृतरोमकूपो भगवान् 'अक्षर'शब्देन उच्यते इति आह

तदाहुर् अक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

षोडशत्वम् इत्यतः आहुः **उत्पत्तौ** इत्यादि. तथाच, प्राधान्येन अविवक्षितत्वात् प्रधानानां षोडशत्वम् इति अर्थः. **गोल(क)षट्कस्य** इति. भूगोल-खगोल-दृग्गोल-नक्षत्रगोलावरण-गोलाण्डगोलाख्यस्य इति अर्थः ॥३९॥

अथ अत्र एतद् बोध्यम्. अवान्तरेषु दैनन्दिन-कल्पेषु भृग्वादीनां ज्ञानिनाम्

---

१. प्रकारेण ग. २. अन्तर्गताश्चान्ये पा.मां२-३

विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः ।।४१ ।।

तद् आहुः इति. अक्षरस्य च ब्रह्मत्वं समन्वये स्थापितम्, ''**अक्षरम् अम्बरान्तधृतेः**'' (ब्रह्मसूत्र १।३।१०) ''**सा च प्रशासनात्**'' (ब्रह्मसूत्र १।३।११) इति अधिकरणे. सर्वकारणानां पुरुषादीनामपि यतः कारणम्. तदेव अक्षरं मायाफलरूपेण द्विधा यदा समभवत्, तत्र एको भागः पुरुषः, अपरा च प्रकृतिः. अतः **कारणकारणम्**. तादृशमपि तद् अक्षरं पुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणो धाम भवति, देहस्थानीयं गृहस्थानीयं वा. यथा जगदात्मानो अक्षरस्य देहस्थानीयाः, तथा अक्षरमपि भगवतः. अनेन भगवतः आयुःपरिमाणादिशङ्कैव निवारिता. ततोऽपि अन्यद् भगवतो धाम भविष्यति इति आशङ्क्य आह **परम्** इति. यथा अस्मदादीनां प्राणान्तःकरणव्यवहितानामेव देहः स्थानं भवति, न तथा अक्षरं भगवतः, किन्तु **साक्षात्**. मूलभूतस्य साकारत्वाय आह **पुरुषस्य** इति. उत्कर्षम् अपकर्षहेतुञ्च श्रुत्वा सन्दिहानं प्रत्याह **महात्मनः** इति. महान् च असौ आत्मा इति. आत्मभूतः पुरुषो व्यापकः इति अर्थः. समुदायेनाऽपि महानुभावः सर्वभवनसमर्थः इति अर्थः ।।४१ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे एकादशाध्यायविवरणम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अवस्थानाद् **आहुः** इति प्रमाणस्य न अव्यवस्था. महाकल्पे वर्षात्मकेऽपि अण्डस्य सत्त्वात् पुरुषेन्द्रियाणां सत्त्वेन इन्द्रादीनामपि सत्त्वाद् बाह्वादीनामपि न अव्यवस्था. दिशोऽपि देवतारूपाएव विवक्षिताः, नतु सूर्यविभाज्याः इति कर्णस्यापि अवस्था. एवम् आयुषो नियतत्वे अनियतत्वे वा आयुर्वेदस्य सुखार्थत्वेन तत्प्रवर्तकतया देवतारूपयोः अश्विनोः सत्त्वाद् न अनिरूप्यत्वम् इति नाशे(से)अपि व्यवस्थिते. एवं गन्धाग्नि-द्युसूर्यप्रभृतयोऽपि बोध्याः. पक्ष्माण्यपि तथा इति न ईश्वरविग्रहे अव्यवस्था, शङ्का निवर्त्तिता इति.

।। इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे एकादशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम् ।।

।। द्वादशाध्यायविवरणम् ।।

साधारणानां बुद्धिधर्या द्वादशे सा निरूप्यते ।
अष्टधा सा सर्गरूपा श्रेष्ठा चोत्तरतः परा ।।१।।
तामिस्रादिप्रकारेण प्रथमा प्राकृती मतिः ।
ज्ञाननिष्ठा द्वितीया स्यात् सदोषा सा प्रकीर्तिता ।।२।।
दोषोऽप्यत्र हरेः सङ्गात् ज्ञानादप्यधिका मता ।
यथा हरस्ततः श्रेष्ठा कृष्णस्याऽऽज्ञानुपालिनी ।।३।।
सदोषा साऽपि तस्यास्तु [क]दोषे न प्रविशेद् हरिः ।
ततो हीनैव सा मध्ये लोके व्यामोहिका परा ।।४ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ द्वादशाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिबोधनाय आहुः **साधारणानाम्** इत्यादि. तथाच अवसरः शास्त्रसङ्गतिः इति अर्थः. प्रश्नविचारेतु शुकोक्तौ **''यस्मिन् कर्मसमावायः''**(भाग.पुरा.२।८।१४) इति श्लोकस्य उत्तरं, मैत्रेयोक्तौतु विभूति-प्रश्नस्य उत्तरम् इति तद् बोधयितुं विभागमुखेन आहुः **अष्टधा** इत्यादि. अत्र ब्रह्मकृतत्वं सर्गरूपत्वञ्च उभयोः यथायथम् उत्तरम्. तस्मात् **परा** अतिरिक्ता, शास्त्रसङ्गतिसम्पादकत्वात् श्रेष्ठा च. तत्र द्वितीयं निबन्धे स्फुटम्. अतः तत्सङ्गतिः अर्थादिव अवगन्तव्या इति अर्थः.

अत्र बुद्धयः सदेवताः उत्पन्नाः इति बोधनाय तासां स्वरूपम् आहुः **तामिस्रे**त्यादि. **ज्ञाननिष्ठा** इति. सनकादिसृष्टिः आज्ञाभङ्गकरणेन सदोषा इति तद्देवताका साहङ्कारा या ज्ञाननिष्ठा, सा द्वितीया बुद्धिः. एवम् अग्रेऽपि ज्ञातव्यम्.

अत्र ब्रह्मणि. **ज्ञानादपि अधिका** बुद्धिः तृतीया **मता** यथा हरः. तेन हरदेवताका भगवत्सेवाद्यभिमानरूपा तृतीया. **ततः** तदनन्तरं **कृष्णस्य आज्ञानुपालिनी** दशप्रजापत्यादिदेवताका चतुर्थी. सापि सदोषा.

तस्यास्तु दोषे कामरूपे **हरिः न प्रविशेद्;** अर्थाद् हृदि. **ततो हीनैव सा** तथाच आशिषो हृदि सङ्कल्प्य भगवदाज्ञानुपालिनी नानाप्रकारा बुद्धिः चतुर्थी इति अर्थः. **परा** पञ्चमी **लोके व्यामोहिका.** मध्ये लौकिक-गद्यपद्यादि-सरस्वतीविषया तद्देवताका पञ्चमी इति अर्थः.

क. 'दोषण' इति जु १-३ पाठौ.

[ख]ततो वेदे विनिष्णाता तदर्थे कर्मणि स्थिता।
ततः श्रेष्ठा वेदएव योगोपासनया युता ।।५।।
सर्वतोऽप्युत्तमा या तु क्रीडेच्छापूरिका हरेः।
एवम् अष्टविधा बुद्धिः सर्वेषां सर्गयोगिनी ।।६।।

एवं कालकृतं निरूप्य, ब्रह्मकृतं जगद् अष्टधा निरूपयिष्यन्, पूर्वोक्तम् उपसंहरति तच्छेषत्वाभावाय

मैत्रेयः उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः! कालाख्यः परमात्मनः।
महिमा वेदगर्भोऽथ [१]यथाऽस्राक्षीन्निबोध मे ।।१।।

इति ते वर्णितः इति. यथा ब्रह्मा भगवतो गुणावतारः, एवं कालोऽपि भगवतो **महिमा** गुणविशेषः. तत्र लोकप्रसिद्धिः गौणी, वस्तुयाथात्म्यमेव मुख्यम् इति ज्ञापयितुं **कालाख्यो** इति उक्तम्. अक्षरादेः धर्मत्वं वारयति **परमात्मनः** इति. पुरुषोत्तमस्य. **अथ** भिन्नप्रकारेण कालसृष्टदशधासृष्टेः. **वेदगर्भः** इति वैलक्षण्ये हेतुः. वेदानुसारिणी सृष्टिः ब्रह्मणैव विनिर्मिता. कालानुसारिणी कालात् पुष्ट्या सा भगवत्कृता. तत्राऽपि सृष्टिप्रकारः कठिनइति भिन्नप्रकारत्वाद् विवेकार्थं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ततो वेदे विनिष्णाता वेदाभ्यासपरा वेददेवताका षष्ठी. ततः श्रेष्ठा वेदार्थभूते स्थिता तत्तत्कर्मदेवताका सप्तमी. तस्याः स्वरूपम् आहुः **वेदएव** इत्यादि. योगेन उपासनया च युता वेदार्थविषया इति. यातु हरेः क्रीडेच्छापूरिका मनुदेवताका सा **सर्वतोऽपि उत्तमा** उत्तरावधिरूपा अष्टमी. एवम् अनेन देवतोत्पत्तिरूपेण सर्वेषां व्यष्टीनाम् अस्मदादीनां **सर्गयोगिनी ''तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च''** (बृहदा.उप.४।४।२) इति श्रुतेः भूतमात्रेन्द्रियधी-जन्मोपयोगिनी समष्टिरूपेण अष्ट-विधा बुद्धिः उत्पन्ना इति अर्थः. एवम् अध्यायार्थं सङ्गृह्य व्याकुर्वते **एवम्** इत्यादि.

एतेन भगवल्लीलात्वं विभूतिरूपत्वञ्च उक्त-वक्ष्यमाणयोः सूचयति इति आशयेन आहुः **यथा** इत्यादि. ननु लोके कालो द्रव्यत्वेन प्रसिद्धः कथं गुणः इत्यतः आहुः **तत्र** इत्यादि. **पुष्ट्या सा भगवत्कृता** इति. सा उभयविधाऽपि पुष्ट्या अनुग्रहेण भगवत्कृता. तथाच, परम्परालीलारूपा इति अर्थः।।१।।

ख. 'वेदविनिष्णाता' इति जु १-३,मां पाठः. १.यदस्राक्षीत् पा.

सावधानतया श्रोतव्यम् इति आह **निबोध** इति ।।१।।

तत्र प्रथमं पञ्चपर्वाऽविद्याधिष्ठातृदेवतानां सृष्टिम् आह

ससर्जाऽग्रेऽन्धतामिस्रम् अथ तामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाऽज्ञानवृत्तयः ।।२ ।।

ससर्ज अग्रे इति. तत्राऽपि जातिहीना तामसी वृत्तिः, तदधिष्ठातृदेवता वा; सा प्रथमा. ताम् आह **ससर्ज अग्रे** इति. **अन्धतामिस्रम् अग्रे ससर्ज**.

विषयः पुरुषश्चेति ज्ञाने कोटिद्वयं मतम्,
पुरुषे बोधकं चक्षुः विषये व्यापिका प्रभा,
अग्रे तदुभयाभावः तेनाऽन्धत्वं तमस्तथा।।

तदनन्तरं **तामिस्रं,** विषयेष्वेव मोहो, नतु स्वात्मनि. **आदिकृद्** इति प्रथमतएव जगत्कर्ता. स चेद् एवं न सृजेत् तदा जगदेव न स्यात्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ससर्ज इत्यत्र. **जातिहीना** इति. अभावरूपत्वाद् जातिहीना निकृष्टस्वभावा च इति अर्थः. प्रायपाठम् आलम्ब्य पक्षान्तरम् आहुः **देवता वा** इति. अन्धतामिस्र-योगप्रयोजकं रूपम् आहुः **विषयः** इत्यादिसार्धेन. तत्र **वैष्णवे**

''तमोऽविवेको मोहः स्याद् अन्तःकरणविभ्रमः,
महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा.
मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते'' (   ) इति

उक्तम्. पातञ्जलदर्शने च **''अविद्या-ऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः''**(योगसू.२।३) इति उक्तम्. तदेव व्यासपादैः 'तामिस्रादि'शब्दप्रयोगेण विवृतम्. विष्णुस्वामिनातु **''स्वादृगुत्थ-विपर्यासभवभेदजभीशुचः, यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं भजे''**(   ) इति श्लोके अज्ञानविपर्यासभेदभयशोकाः उक्ताः. अत्रतु वैष्णवात् क्रमभेदः. कारिकार्थस्तु **ज्ञाने.** लौकिके विषये. **पुरुषः च** इति. प्रमेय-प्रमातृभेदेन कोटिद्वयं मतम्. तत्रापि **पुरुषे बोधकं** करणभूतं **चक्षुः** अपेक्षितम्. **विषये व्यापिका** स्वसंयोगेन सहकारिणी **प्रभा** आलोकरूपा अपेक्षिता. **अग्रे** तयोः करण-सहकारिणोः अभावात् **तेन** अभावेन पुरुषे **अन्धत्वं** विषये **तमः तथा.** अभावप्रकारेण इदं द्वयम् 'अन्धन्तमः'शब्दप्रयोजकम् इति अर्थः. तथाच करणालोकाभावे भावहेतुका यावद्बाह्यविषय-ज्ञानाभावाकारा वृत्तिः अन्धन्तम इति

आत्मानं वस्तुरूपं च यदि जानाति सर्वथा,
अत्युत्कटश्चेत् कामः स्यात् तदा सृष्टिर्न चाऽन्यथा,
न तच्छक्यं ब्रह्मणः स्याद् हरेरेव तथा भवेत् ।।

तदनन्तरं **महामोहः**. वस्तुयाथात्म्यं पश्यन्नपि तस्मिन् विषये स्वात्मैक्यबुद्धिः. यथा ''देहो अहम्'' इति. **मोह**स्तु 'मम' इति. तमस्तु अज्ञानं, ''को अहम्'' इति न वेद. पञ्चाऽपि एताः अज्ञानस्यैव वृत्तयः.

अज्ञानं भगवच्छक्तिः मायाकार्यम् इहोच्यते,
चतुर्मुखे प्रविष्टा सा पञ्चधा निर्गता बहिः **।।२।।**

ताः पञ्चविधाअपि देवताः सृष्टाः दृष्ट्वा जगत्कर्तृत्वेन ताः न विनियुक्ताः, किन्तु मयाऽपि एतत् साधु न कृतम् इति स्वात्मानमेव निन्दितवान् इति आह

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नाऽऽत्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यान् ततोऽसृजत् ।।३ ।।

दृष्ट्वा पापीयसीम् इति. पापेनैव एतादृशी सृष्टिः उत्पद्यते. ततो भगवद्ध्यानम् अपराधनिवृत्यर्थं कृतवान्. तदपि ध्यानं तावद् जातं, यावता मनः सर्वदा शुद्धं भवेद्, यथा अग्रे सृज्यमानेषु [क]पूर्वसृष्टिः न प्रविशति. तद् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

योगतः तत्स्वरूपं सिध्यति. इयं वैष्णवे 'अविवेक'पदेन उक्ता.(?) तमस्त्वेन. तामिस्रत्वं विषयमोहस्य कथम् इत्यतः तद् विवृण्वन्तः तत्कर(णा)वश्यकत्वे हेतुम् आहुः **आत्मानम्** इत्यादि. तथाच, स्वस्वरूप-विषयस्वरूप-याथात्म्यज्ञाने सत्यपि या तद् उभय-याथात्म्यमात्राय एका अत्युत्कटकामाकारा वृत्तिः सा तामिस्रम् इति अर्थः. ननु भगवानिव चेत् कुर्यात् कुतो न स्यात्? तत्र आहुः **न** इत्यादि. **एताः** इति. आवरणविक्षेपरूपाः. 'अमित्र'शब्दवद् 'अज्ञान'पदं ज्ञानविरुद्ध-तत्सदृश-भावपदार्थ-वाचकम् इति अभिप्रेत्य तत्स्वरूपम् आहुः **अज्ञानम्** इत्यादि. तथाच, आवरण-विक्षेप-शक्त्यात्मिका अविद्यापरनामिका **''विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्, मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते''**(भाग.पुरा.११।११।३) इति वाक्यसिद्धा सा तथा इति अर्थः।।२।।

क. 'पूर्वसृष्टम्' इति मां पाठः.

भगवद्ध्यानपूतेन इति. **अन्यान्** पूर्वस्माद् विलक्षणान् ।।३ ।।

एते चत्वारो जाताः.

सनकं च सनन्दं च सनातनम् अथाऽऽत्मभूः ।

सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियान् ऊर्ध्वरेतसः ।।४ ।।

अनेन एते कृतयुगस्थानीयाः, पूर्वे कलिस्थानीयाः इति. **अथ आत्मभूः** इति. तेषामपि चतुर्णां मध्ये सनत्कुमारो महान्, भगवत्पौत्रः. अस्य सृष्टौ भगवत्पौत्रभावो मुख्यः इति **आत्मभूः** इति उक्तम्. **आत्मा** भगवान्. सर्वेषां गुणत्रयम् आह **मुनीन् निष्क्रियान् ऊद्ध्वरेतसः** इति. तेषां कर्तव्यत्वेन मननमेव एकं सिद्धम्. उत्तरकाण्डार्थएव तेषां कर्तव्यः, न पूर्वकाण्डार्थ इति आह **निष्क्रियान्** इति. वेदम् अधीत्य, वेदार्थं बुद्ध्वाऽपि, बहिः अध्यासशून्याः मानसप्रधानाः. केवलमनसैव यत् सिध्यति तदेव कुर्वन्ति इति अर्थः. ननु सृष्टिमपि कुतो न मनसा कुर्वन्ति? तत्र आह **ऊद्ध्वरेतसः** इति. [क]न मनसाऽपि रेतोद्वारा सृष्टिः. परं तद्रेतो मानसं, तदपि ऊद्ध्वं भगवद्गामि, नतु अधो हीनजनकम् ।।४।।

आपाततः पुत्रान् उत्तमान् दृष्ट्वा लोके ख्यातपौरुषः पुत्रान् आह

तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः! ।

तन्नैच्छन् मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ।।५ ।।

तान् बभाषे इति. **प्रजाः सृजत** इति. अत्र ब्रह्मणो न अज्ञानं, किन्तु भगवदुपयोगिसृष्टिमेव मनसा कुर्वन्तु इति **सृजत** इति नियोगः, अन्यथा तस्मात् क्रोधाद् महादेवो न उत्पद्येत. **स्वभूः** इति पदन्तु न भगवदाज्ञापनपर्यन्तं स्थितः, किन्तु स्वयमेव आज्ञापितवान् इत्यत्र उपक्षीणम्. **पुत्रकाः!** इति. सम्बोधनम् आज्ञायाः अवश्यकर्तृत्वाय. स्वार्थे 'क'प्रत्ययः सन्देहाभावाय. अतएव तदाज्ञाकरणे भगवत्कार्यस्य अकृतत्वाद् भगवद्द्वारि क्रोधोद्गमः. तद् आह **तद्**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तान् इत्यत्र. **अत्र** इति. सनकाद्याज्ञापने. ननु 'स्वभू'पदाद् ब्रह्ममहिम्नैव महादेवमाहात्म्यस्य शक्यवचनतया तदुत्पत्तिः न ज्ञानस्य ज्ञापिका इति शङ्कायाम् आहुः **स्वभूः** इत्यादि. तथाच, 'तत्'पदं 'बभाषे' इत्यस्य समभिव्याहाराद्

क. 'न' इति मां१-३ जु. पाठे नास्ति.

न ऐच्छन् इति. ननु भगवदीयमपि कार्यं कुतो न ऐच्छद्? तत्र आह **मोक्षधर्माणः** इति. मोक्षे ये धर्माः निवृत्तिमार्गसिद्धाः. अथवा मोक्षएव धर्मो येषां ते मोक्षार्थमेव धर्मान् कुर्वन्ति. ननु भगवत्कार्यकरणमपि मोक्षहेतुः, तत् कुतो न कृतवन्तः? तत्र आह **वासुदेवपरायणाः** इति. वासुदेवो ज्ञानं दत्त्वा मोक्षदाता, न तस्य कार्यं सृष्ट्यादिकमपि अपेक्ष्यते. तादृशस्य न कैवल्याख्यो मोक्षः फलं, किन्तु भगवत्संतोषः. अतएव तद् ब्रह्मणो वाक्यं न ऐच्छद्, इच्छामेव न कृतवन्तः, नतु "**न करिष्यामः**" (   ) इति वचनमपि ।।५ ।।

अतएव तूष्णीम्भावे, पूर्वम् अविद्यासृष्ट्या खिन्नः, तच्छान्त्यर्थम् एते सृष्टाः, तेऽपि चेद् अनुपयुक्ताः तदा क्रोधो जातः सच न अल्पः कार्यव्यापाराविष्टत्वात्.

सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः ।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुम् उपचक्रमे ।।६।।

अभिमानं कार्यं च [क]नाशयति इति दुर्विषहः. ततः क्रोधोत्पत्त्यनन्तरं मध्ये भगवदिच्छाविषयिणी बुद्धिः जाता. को अभिप्रायो भगवतः? कथम् एते सृष्टिं न कुर्वन्ति? इति पश्चाद् ज्ञातो भगवदभिप्रायः. तामससृष्ट्यनन्तरम् एते सृष्टाः आसुरीमेव सृष्टिं भगवदुपयोगिनीं करिष्यन्ति, मानुषभावाः च एते अहन्ताधिकारिणः इति अभिप्रायं ज्ञात्वा क्रोधं नियन्तुम् उपक्रमं कृतवान् ।।६ ।

तदा उत्पन्नः क्रोधो भगवदभीष्टकार्ये भगवदंशानुप्रवेशात् तस्मिन् कार्ये आधिदैविको जातः इति आह

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात् प्रजापतेः ।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ।।७।।

धिया निगृह्यमाणः इति. मनसो व्यापारद्वयं : क्रिया ज्ञानञ्च. तत्र

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अङ्हकारबोधनएव उपक्षीणम् इति न महादेवमाहात्म्यपर्यन्त-बोधनक्षमम् अतः तथा इति अर्थः. **भगवद्द्वारि** इति. वरणायां भ्रूमध्ये इति यावत्।।५।।

अतएव तूष्णीम् इत्यादि. **सो अवध्यातः** इत्यस्य आभासो अयम्. **अतएव** इति अवध्यानादेव. **अभिमानं कार्यञ्च** इति. पुत्रत्वाभिमानं तच्छरीरञ्च।।६।।

क. 'नाशयन्ति' इति मां१-२-३, जु पाठः.

ज्ञानेन नियमनं कृतं, न क्रियया. अतः क्रियायाः अनिवर्तितत्वात्, स्वस्मिंश्च अप्रभवाद् उभयरक्षार्थं, भ्रूमध्ये भगवदाज्ञाचक्रस्थानत्वाद्, भगवदाज्ञाकारी भगवदंशः तद्द्वारा निर्गतः इति आह **भ्रुवोः मध्याद्** इति. **सद्यः** इति तत्क्षणं, क्षणान्तरे क्रिययाऽपि नियमनं स्यात्. **मन्युः** इति क्रोधएव. **नीललोहितः** इति कर्बुरवर्णः. क्रोधस्य आरक्तो वर्णः, भगवतो नीलः, उभयम् एकीभूतं नीललोहितं भवति. कुत्सितो मारो यस्य इति स्वाभाविक-सृष्ट्युपयोगि-कन्दर्पनाशकः. दैतेयकन्दर्पजनकश्च ।।७ ।।

ततः तस्य नामनिरुक्त्यर्थं लीलया बहिः, अन्तस्तु दुःखितान् सर्वानेव दृष्ट्वा, रोदनं कृतवान् इति आह

स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः ।

नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो! ।।८ ।।

सः वै रुरोद इति. सतु देवानां मध्ये **पूर्वजः** यावन्तो हि आधिदैविकाः जाताः इति अर्थः. सतु **भगवान्** न जीवांशः. **भवः** इति सएव भवति सर्वत्र, नहि अहंकारव्यतिरेकेण कश्चिद् जायते, नाऽपि अलिङ्गः, अतो जनने हेतुभूतो भवो भवति[क]. उपादानं हरिः रजो ब्रह्मा इति. अतो अंशद्वयं सूक्ष्मम्, उपष्टम्भकाः सर्वे वैष्णवाः. अतः त्रिमूर्तिः देहः. रोदनकारणे पृष्टे उत्तरम् आह **नामानि** इति. **नामानि स्थानानि.** जगत्कर्तृत्वात् स्थानजननं, जगद्गुरुत्वाद् नामकरणम्. नामव्यतिरेकेण अव्यक्ततया भोगः प्रसज्येत, ततो नामप्रार्थना ।।८।।

तावतैव संतुष्टो ब्रह्मा अधिकमपि कृतवान् इति आह

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन् ।

अभ्यधाद् भद्रया वाचा मा रोदीस् तत्करोमि ते ।।९ ।।

इतीति. **तस्य** वाक्यपरिपालनं कुर्वन् नामानि कृतवान्. अभिप्रायस्तु अव्यक्ततयैव भोगः कर्तव्यः इति. बालकरोदने **भद्रया वाचा** सान्त्वनं भवति इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

धिया इत्यत्र. **उभयरक्षार्थम्** इति. नियमनस्य उत्पत्तेश्च रक्षार्थम्।।७।।

स वै रुरोद इत्यत्र. कार्यमात्रे त्त(भ)वस्य व्यापकतया वर्त्तमानत्वम् उपपादयन्ति **नहि** इत्यादि।।८।।

क. 'भवो भव इति' इति मां१-३ पाठः.

सान्त्वयन् आह **अभ्यधाद्** इति. **मा रोदीः** इति निषेधः. त्वद् अभीप्सितमेव सेत्स्यति इति **तत् करोमि ते** इति गूढो अभिप्रायः. दास्यामि च भार्याः, ततः तान् सर्वान् स्वयमेव उत्पाद्य स्वसमानान् करिष्यसि इति. अतएव भार्यादानम्. प्रार्थितं द्वयम्, अभीष्टं च एकमिति न प्रार्थिताधिकदानम् ।।९।।

स्वभावतो गुप्तत्वात् क्रिययैव त्वद् नाम इति आह

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ! सोद्वेग इव बालकः ।

ततस्त्वाम् अभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ।।१०।।

यद् अरोदीः इति. **यद्** यस्मात् कारणात् त्वम् **अरोदीः** अतो **रुद्रः**. ''**यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्**'' (कृष्णयजुर्वेद १।५।१।१) इति श्रुतेः. 'रक्'प्रत्ययो अत्र औणादिकः कर्त्तरि. **सुरश्रेष्ठ!** इति सम्बोधनाद् न गणरुद्रत्वं, ते हि सुराएव, न श्रेष्ठाः. ननु प्रार्थनायां कृतायामपि यथा प्रार्थक[क] इति नाम न कृतं तथा रुद्रेत्यपि न कर्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **सोद्वेगइव** इति. उद्वेगसहितः सोद्वेगः. चित्तव्याकुलता उद्वेगः, रोदने कायवाङ्मनोव्यापारः सम्पन्नः, तेन नामजनकत्वम्. अश्रुविमोकः कायिकः, शब्दो वाचनिकः, उद्वेगो मानसः इति. यद्यपि अभिप्रायो अन्यः तथापि अनुकरणं तादृशमिति लोके तथैव नाम. तद् आह **इव** इति. अहं सर्वात्मकः इति मद्गोपनार्थं कृतं रूपं सर्वजगत्प्रसिद्धं भवतु इति, **'रुद्र' इति नाम्ना** सर्वे लोकाः **अभिधास्यन्ति,** त्वत्क्रियाकरणेन अभिनयेन च अभिधानं प्राप्तम्. तथा च सति पुनः अप्रकटएव स्याद् अतः आह **नाम्ना** इति ।।१०।।

तस्य स्थानानि एकादश निर्दिशति नामसाम्याद् **हृद् इन्द्रियाणि** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यद् अरोदीः इत्यत्र. ननु यदि रोदनाभिप्रायो अन्यः, तदा नामादिप्रार्थनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **अहम्** इत्यादि. तथाच, स्वस्वरूपगोपनमेव प्रयोजनम् इति अर्थः. **तथा च सति** इत्यादि. अभिनयेन नाम्नि सति स्वरूपतो अप्रकटः इति त्वदभिमतसिद्धिरेव भविष्यति इति अर्थः ।।१०।।

हृद् इत्यत्र. कारिकायाम्. **चः** तपःसमुच्चायकः. **सिद्ध्यर्थम्** इति. सृष्टिकार्यसिद्ध्यर्थम्. तेन गणरुद्राणां मूलरुद्रव्यूहत्वं बोधितम्, अतएव पञ्चमस्कन्धे

क. 'प्रार्थ' इति मां१-२-३, जु. पाठः.

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।

सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे ।।११ ।।

मन्युर्मनुर्महेशानो[1] महान् शिवः [2]क्रतुध्वजः।

उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः।१२ ।।

धीर्वृत्तिरुशनोमा च नियुत्सर्पिरिलाऽम्बिका।

इरावती सुधा[3] दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र! ते स्त्रियः ।।१३ ।।

गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः।

आभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानाम् असि यत् पतिः ।।१४ ।।

हृद् हृदयम् **इन्द्रियाणि** च; **असुः** प्राणः, **व्योम** आकाशः, **तपः** कृच्छ्रादि. जीवानां मध्ये त्रितयं, बहिः महाभूतानि, अहोरात्रप्रकाशकौ बहिः अन्तस्ततपः इति.

प्रकाशकम् उपादानं करणं च [4]हरासनम्,

नामानि भार्याः सिद्ध्यर्थं रुद्राणां गणभेदतः ।।१ ।।

मन्युः इति नामानि. [5]**महिनसः** इति एके. [क]**ध्याद्याः** स्त्रियः. **धीवृत्तिः असहोमा च** इति वा पाठः. **रुद्राण्यः** इति तव सहजाः स्त्रियः एताः. नाम्नां ग्रहणं रूपद्वारा भवति इति एकादशभावग्रहणम्; एकादशरूपग्रहणं[6] वा विधीयते. **सयोषणः** सभार्यः. सयोषणः इति छान्दसः. **आभिः** कृत्वा **बह्वीः प्रजाः सृज,** यस्मात् त्वं प्रजापतिः, प्रजासृष्टौ अधिकारितया आविर्भूतः ।।११ -१४ ।।

स्वाभिलषितमेव ब्रह्मणा उक्तमिति तथैव कृतवान् इति आह

इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान् नीललोहितः।

सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जाऽऽत्मसमाः प्रजाः ।।१५।।

इति आदिष्टः इति. स्त्रीभिः सह तथाकरणं न अभिलषितम् इति ज्ञापयति. **गुरुणा** इति. ''आज्ञा गुरूणां हि अविचारणीया'' इति. **भगवान्** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''साङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहः''(भाग.पुरा.५।२५।३) इति उक्तम्।।११।।

---

१. 'महीनसो' पा. २. 'ऋतुध्वजः' पा. ३. 'शुभा' पा. ४. 'हदासनम्' क. 'बहिरासनम्' इति मां१-३, जु पाठः. ५.'महेशान इत्येकः' इति घ, मां.१-३, जु. . 'महिनस इत्येकः' ख, मां-२. ६. 'रुपं ग्रहणं' क. **क.** 'धीराद्या' मां.१-२-३, जु पाठः.

तादृशानामेव उत्पादनसामर्थ्यं सूचयति. **नीललोहितः** इति रुद्रस्य असाधारणः शब्दः. **सत्त्वाकृतिस्वभावेन** इति. **सत्त्वं** बलम्, **आकृतिः** नीललोहितत्वं, **स्वभावः** तामसः. एवं त्रिभिः कृत्वा **आत्मसमाः प्रजाः ससर्ज** ।।१५।।

ततः किं जातम् इत्यतः आह

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत् ।

निशम्याऽसङ्ख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत ।।१६ ।।

रुद्राणाम् इति. रुद्र एकएव मारणोपयोग्युत्पादने नियुक्तः स्वकार्यप्रतिबन्धं ज्ञात्वा स्वकार्येण मारणं कृतवान्. तदा कार्याणां बहुत्वात् कालेन सृष्टाः सर्वाएव सृष्टयः तैः भक्ष्यन्ते सर्वानेव आत्मप्रवेशनेन मुक्तान् कुर्वन्ति, अचेतनानपि भूरादीन् परितो ग्रसन्ति. एवं **रुद्रसृष्टानां रुद्राणां समन्ताद् जगद् ग्रसताम्** असङ्ख्यशो **यूथान्** ज्ञात्वा, **प्रजापतिः** स्वात्मानमपि भक्षयिष्यन्ति इति शङ्कां कृतवान् ।।१६ ।।

''अलं प्रजाभिः'' इत्यादीनि वाक्यानि ''एवम् आत्मभुवादिष्टः'' इत्यत्र सम्बध्यन्ते. आत्मभक्षणशङ्कया प्रजापतिः आह

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिः ईदृशीभिः सुरोत्तम! ।

मया सह दहन्तीभिः दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ।।१७ ।।

अलं प्रजाभिः इति. **ईदृशीभिः प्रजाभिः अलम्,** अतःपरम् एतादृश्यः प्रजाः न स्रष्टव्याः इति अर्थः. **सुरोत्तम!** इति जीवभावम् आह. देवोत्तमो भूत्वा देहभावेन सृष्टिकरणं न युक्तम् इति भावः. तासां को दोषः? इति आशङ्क्य दोषम् आह **मया सह दहन्तीभिः** इति. दश दिशो दहन्ति. नापि दाहे तासाम् अग्न्यपेक्षा, किन्तु चक्षुर्भिरेव. **उल्बणैः** इति क्रूरत्वेन भयजनकैः. अनेन साम्मुख्याभावेऽपि अन्यस्यापि तद्दर्शने भयेनाऽपि मरणं सूचयति ।।१७ ।।

तर्हि किं कर्तव्यम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।

तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वम् इदं भवान् ।।१८ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रुद्राणाम् इत्यत्र. **कालेन सृष्टाः** इत्यादि. ब्रह्मकृतानां तदानीम् अनुत्पन्नत्वाद् दशमाध्यायोक्तानामेव तदानीं सत्त्वाद् एवम् उक्तम् ।।१६।।

तपः आतिष्ठ इति. तपसि क्रियमाणेऽपि न तव खेदो भविष्यति इति आह **भद्रं ते** इति. **सर्वभूतसुखावहम्** इति. तपोऽपि सृष्टिवद् लोकोपद्रवहेतुभूतं न कर्तव्यं किन्तु **सर्वेषां भूतानां सुखमेव आवहति** तादृशं सात्त्विकं कर्त्तव्यम् इति अर्थः. ततः किं स्याद्? अतः आह **तपसैव यथापूर्वम्** इति. **पूर्वं** तामसकल्पे शिवः प्रजाजनकः. ताः प्रजाः तामस्यो भवन्ति, परं लोकानुसारिण्यः. तादृश्योऽपि प्रजाः अस्मिन् कल्पे उपयुज्यन्तइति तथा उक्तम्।।१८।।

किञ्च, मा अस्तु प्रजासर्गः, तथापि सात्त्विके तपसि क्रियमाणे भगवान् परितुष्यति इति आह

तपसैव परं ज्योतिः भगवन्तम् अधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासम् अञ्जसा विन्दते पुमान्।।१९।।

तपसैव इति. ब्रह्मा हि स्वानुभवप्रकारेण शास्त्रार्थं निरूपयति. **परं ज्योतिः** इति. ज्योतिषामपि प्रकाशकम्. अतः तस्मिन् दृष्टे सर्ववस्तुयाथात्म्यं स्फुरति. सहि सर्वथा सर्ववस्तुयाथात्म्यप्रकाशकः. **भगवन्तम्** इति न ततो अन्यद् ज्ञातव्यम् अस्ति इति ज्ञापितम्. **अधोक्षजम्** इति साधनान्तरं निराकृतम्. **सर्वभूतगुहावासम्** इति सुलभत्वम् आवश्यकत्वं दुर्ज्ञेयत्वञ्च. एतादृशस्य प्राप्तिः तपसा भवति इति तपसो माहात्म्यम्. **अञ्जसा** अनायासेन. **पुमान्** इति दोषराशित्वम्।।१९।।

एवं ब्रह्मणा उपदेशे कृते रुद्रो यत् कृतवान् तद् आह

मैत्रेयः उवाच

एवम् आत्मभुवाऽऽदिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम्।
बाढम् इत्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम्।।२०।।

एवम् इति. **आत्मभुवा** ब्रह्मणा. **गिरां पतिम्** इति. गुरुम् प्रमाणम्. **बाढम्** इति. अतः परं ममाऽपि सम्मतम् इति भावः. तथा अस्तु इति अर्थः. **अमुं** ब्रह्माणम्. तपःकरणार्थं तपोवनं प्रविवेश इति अर्थः. एवम् आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकसृष्टयः तामस्यो निरूपिताः।।२०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् आत्मभुवा इत्यत्र **एवम् आधिभौतिके**त्यादि. आधिभौतिकाः रुद्रसृष्टाः रुद्राः, आध्यात्मिकाः गणरुद्राः, आधिदैविको नीलरुद्रो ज्ञातव्यः।।२०।।

अथ राजस्यः प्रकारान्तरेण सृष्टयः कृताः, ताः निरूपयितुम् उपक्रमते

अथाऽभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।

भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ।।२१ ।।

अथ अभिध्यायतः इति. पूर्वं कर्तृत्वाभिमानेन सृष्टौ प्रवृत्तः. अहङ्कारस्य त्रैविध्यात् त्रिविधा सृष्टिः उत्पन्ना. तामसी पञ्चपर्वा, ततो अङ्कारे भगवद्ध्याने शुद्धे चित्ते राजसी सृष्टिः, तदुभयनिर्वाहार्थं सात्त्विकी च इति. इदानीं सृष्टिमेव ध्यायति, कथम् इयं सृष्टिः भवति? इति. [१]तदा सृष्टेः भगवद्रूपत्वाद् दशविधा सा सृष्टिः उत्पन्ना इति निरूप्यते. नव त्रिगुणाः, एको गुणातीतः उद्देशे पश्चाद् निरूप्यते, विमर्शे प्रथमम्. तेषां चिन्तापरिहारकत्वेन दुःखनिवारकत्वात् पुत्रत्वम्. ननु ध्यानमात्रेण कथम् एते पुत्राः उत्पन्नाः? तत्र आह **भगवच्छक्तियुक्तस्य** इति. या भगवतः सृज्या शक्तिः, सैव पुत्रत्वेन प्रकटीभूता इति अर्थः. स्रष्टृशक्तिः वा. तदा तयैव शक्त्या ते उत्पादिताः. भगवच्छक्त्या उत्पादिते यो विशेषः तम् आह **लोकसन्तानहेतवः** इति. लोकस्य जनस्य [२]आसंसारम् अनुवृत्तिः कल्पान्तपर्यन्तं सन्ततिप्रवाहः नहि प्रवाहो भगवच्छक्तिव्यतिरेकेण अन्येन कर्तुं शक्यते ।।२१ ।।

तान् उद्देशतो गणयति

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमः तत्र नारदः ।।२२ ।।

मरीचिः इति. आद्याः त्रयः सात्त्विकाः, मध्यमाः तामसाः, भृग्वादयः त्रयो राजसाः. **दशमः तत्र** इति भिन्नतया निरूपणं गुणातीतत्व-ख्यापनार्थम् ।।२२।।

अवयवेभ्यः तेषाम् उत्पत्तिम् आह

उत्सङ्गाद् नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः ।

प्राणाद् वसिष्ठः संजातो भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः ।।२३ ।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ इत्यत्र. **राजसी सृष्टिः** इति. सनकादिसृष्टिः, मनुष्यभावाद् राजसी. **सात्त्विकी** इति. रुद्रः. देवरूपत्वात् सात्त्विकी इति अर्थः ।।२१।।

१.तत्सृष्टेः क. घ. २.सन्तानम् क. ख. घ.मां१-२-३,जु, संसार ङ. च.

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिः मरीचिर्मनसोऽभवत्॥२४॥

उत्सङ्गाद् इति. प्रीतिविषयत्वेन **उत्सङ्गाद् नारदः** उत्पादितो लाल्यमानः, भगवदीयत्वाद्. **अङ्गुठाद् दक्षः,** स्वसमानत्वाय. **स्वयम्भुवः** इति. तस्याऽपि ब्रह्मणइव अभिमानः. अन्ये यथायथम् उत्पन्नाः बाह्याभ्यन्तरभेदेन. ज्ञाननिष्ठास्तु आन्तराः, मध्यस्थाः राजसाः, बाह्याः तामसाः इति. **प्राणाद्** दशविधाद् **वसिष्ठः**. **सम्यग् जातः** इति [1]अन्तपर्यन्तम् उत्तमाएव तद् वंश्याः निरूपिताः. **भृगुः** बाह्यः, **क्रतु**रपि, **पुलहोऽपि**. पुलस्त्यस्य उभयवंशजनकत्वात् **कर्णयोः** इति उक्तम्. **ऋषिः** इति वेदसहभावाद् दैत्यत्वव्यावृत्त्यर्थम्, अन्यथा मधुकैटभाविव कश्चिद् जायेत. **अङ्गिरा** वक्त्रमध्यात्. अक्षिमध्याद् **अत्रिः,** तस्याऽपि उभयरूप-सृष्टिजनकत्वम्. ज्ञानिनो योगिनः पुत्ररुपाश्च. मनसो द्वैरूप्यं, **मरीचे**रपि उभयसृष्टिजनकत्वाद् "**ययोः आपूरितं जगद्**" (भाग.पुरा.४।१।३) इति वाक्यात् ॥२३-२४॥

एवं दशपुत्रान् निरूप्य तेषु अधिष्ठितरूपेण नव अन्यान् सगुणान् उत्पादितवान् इति आह. तत्र अग्रपश्चाद् भेदेन धर्माधर्मौ. तयोश्च कार्यं मुक्तिः संसारः इति. धर्माधर्मौ निरूपयति

धर्मः स्तनाद् दक्षिणतो यत्र[1] नारायणः स्वयम्।
अधर्मः पृष्ठतो यस्माद् मृत्युर्लोकभयंकरः॥२५॥

धर्मः स्तनाद् इति. **यत्र** धर्मे **नारायणः** आविर्भूतः सः **दक्षिणस्तनात्**. स्वभावतो हृदयाद् धर्मः. तत्र प्रवृत्तिस्वभावो वामाद् हृदयाद् ज्ञानात्मा भगवदात्मकस्तु दक्षिणस्तनात्. **स्वयम्** इति आत्मत्वाद् मोक्षरूपत्वम्. अधर्मे वैलक्षण्याभावात् सामान्यतः **पृष्ठतः** इति उक्तम्. तत्र आविर्भूतो भगवदंशको नाशको **मृत्युः. लोकभयंकरः** इति तस्य अवान्तरकार्यम्. अनेन भयहेतुरेव अधर्मः इति भयेन अधर्मपरिज्ञानम्॥२५॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

धर्मः इत्यत्र. **यतो? नारायणः** इति कार्यकथनम्. "**हृदयं यस्य धर्मः**" (   ) इति वाक्यं विचार्य विभजन्ते **स्वभावतः** इत्यादि॥२५॥

१.आन्तपर्यन्तम्. ख. घ. ङ, मां१-३,जु. १.यतो पा.

षड् अन्ये **हृदि कामः** इत्यादि.

हृदि कामो [1]भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।
आस्याद् वाक् सिन्धवो मेढ्राद् निर्ऋति पाय्वपाश्रयः ।।२६ ।।

काम–क्रोध–लोभाः, वाक्–समुद्र–निर्ऋतयश्च. तत्र निर्ऋतिः **पाय्वपाश्रयः**. सविसर्गात्मा न स्थिरस्वभावः, अतः तस्य आश्रयाभावः. कामादयः सृष्टिप्रलयात्मकाः, मर्यादात्मकास्तु वाक्–समुद्र–निर्ऋतयः ।।२६।।

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ।।२७ ।।

छायायाअपि प्रतिसृष्टिरूपत्वात् पुष्ट्युपयोगिसृष्टिजनकत्वम्, अतो अग्रिमप्रकरणे विस्तरेण वक्ष्यते.

स्वप्नश्छाया तमश्चैव मायाऽविद्या भ्रमास्तथा,
तिरोभूतेन हरिणा सृज्यन्ते प्रतिसर्गजाः ।।१ ।।

कर्दमस्य प्रसिद्धिः अतएव भार्यया, तत्र स्त्रियाः प्राधान्यम्. तपो भगवदाराधनं च तत्र स्त्र्यर्थमेव, स्त्रियाश्च मुक्तिः, प्रकरणञ्च स्त्रियाः. एतत् सूचयितुम् आह **देवहूत्याः पतिः** इति. देवानां हूतिः यया. ''**यथा यजिर्देवमार्गे तथा स्त्री दैत्यपक्षके**'' (   ). **प्रभुः** इति. देवसृष्टौ उत्पन्नत्वात् पश्चात् स्वातन्त्र्यं, तां त्यक्ष्यति इति अर्थः. एवं सृष्टिम् उक्त्वा उपसंहरति **मनसः** इति. **च**कारात् छायातोऽपि. **विश्वकृद्** इति पश्चात् पूर्ववद् अभिमानः उत्पन्नः इति अर्थः. कारणदशायां यो अभिमानः, तदपेक्षया कार्यान्तरम् अभिमानो अनर्थहेतुः इति ।।२७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

छायायाः इत्यत्र. **प्रतिसृष्टिरूपत्वाद्** इत्यनेन देहसम्बन्ध?भावाद् रजःसम्बन्धः तत्र स्वल्पः इति पुष्ट्युपयोगि-सृष्टिजनने हेतुः प्रतिभाति. प्रतिसर्गान्तरे एवं रूपत्वं वारयितु सङ्गृह्टणन्ति **स्वप्नः** इत्यादि. प्रतिसर्गे जायन्ते इति **प्रतिसर्गजाः.** अतएव इति. भूतत्वेन सृष्टत्वादेव. 'देवहूति'पदनिरुक्तिप्रयोजनम् आहुः **यथा** इत्यादि. तथाच, दैत्यपक्षत्ववारणाय पदनिरुक्तिः इति अर्थः. एतेन पदकथन-प्रयोजनमेव सूचितम्।।२७।।

१.भ्रुवोः पा.मां १–३,जु

अस्याः सृष्टेः प्रतिच्छायारूपां सृष्टिम् अन्यां निरूपयितुम् उपाख्यानान्तरम् आरभते **वाचं दुहितरम्** इति.

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः! सकाम इति नः श्रुतम् ।।२८।।

अविद्या प्रथमं सृष्टा अभिमानस्तथोद्गतः ।
सृष्टौ च सर्वे पुरुषाः वागेका स्त्री सरस्वती ।।१।।
लौकिकी साऽत्र विज्ञेया सा वेदेऽपि तिरोहिता ।
तिरोधानप्रवृत्त्यर्थं चरित्रम् इदम् उच्यते ।।२।।
सत्यसृष्टौ प्रवेशे हि तिरोभूता न सा भवेत् ।
यज्ञात्मकोऽयं ब्रह्माऽत्र, सृष्ट्याधिक्येच्छया पुनः ।।३।।
लौकिकीमपि वाणीं स गृह्णामीति मनो दधे ।
ततो लौकिकभूयिष्ठं जगद् जायेत निश्चितम् ।।४।।
तन्नैच्छन् वैदिकाः सृष्टाः त्यागो भेदेन रूपितः ।
दैत्यसृष्टौ ततः सर्वे यज्ञाः वेदाश्च लौकिकाः ।।५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वाचम् इत्यत्र. **अन्याम्** इति. नीहाररूपाम्. एतस्य उपाख्यानस्य प्रयोजनं बोधयितुं सार्धाष्टभिः तात्पर्यम् आहुः **अविद्या** इत्यादि. **लौकिकी** इति. नूतन-गद्यपद्याद्यधिष्ठात्री. **सा अत्र** उपाख्याने सृष्टा विशेषेण ज्ञेया. **सा वेदे ''सारस्वतीं मेषीमालभेत''**(मानवश्रौ.सू.३।६।१५) इत्यादिरूपेऽपि तिरोहिता, **''य ईश्वरो वाचो वदितोः सन्वाचं न वदेद्''**(तैत्ति.संहि.३।४।३) इति यागाधिकारि-स्वरूपकथनेन अ(न)वस्थायिनी बोधिता. अतः तस्याः गद्यपद्यरूपलौकिकवाचः चिरकालानव-स्थित्यादिरूप**तिरोधानप्रवृत्त्यर्थम् इदं चरित्रम् उच्यते.**

ननु सा अत्र प्रतिसृष्टिरूपा लौकिक्येव इत्यत्र किं गमकम् अतः आहुः **सत्ये**त्यादि. **तिरोभूता** इति **''रोहिद्भूताम्...''**(भाग.पुरा.३।३१।३६) इत्यनेन तिरोभावस्य कापिलेये वक्ष्यमाणत्वात् तिरोभूता. एतेन तत्कर्तुरपि तत्र ऋक्षरूपत्वकथनात् तादृशत्वं बोध्यम् इति ज्ञापितम्. ननु भवतु सा, तथापि ब्रह्मणः कथम् एवं मनः इत्यतः आहुः **यज्ञे**त्यादि.

तर्हि प्रतिबोधनं यद् ऋषिभिः कृतं, तत्कुतः इत्यतः आहुः **ततः** इत्यादि.

‘न तं विदाथ’ वाक्येन ते निन्द्यन्ते सदा श्रुतौ।
लौकिकी लौकिकेष्वेव सकामा न तु वैदिके॥६॥
उत्तमस्य तु हीनत्वं जायते शीघ्रमेव हि।
नाऽधमस्योत्तमत्वं हि कदाचिदपि जायते॥७॥
दयासृष्टिः द्विवतीयेति[क] दुहितृत्वं न चाऽन्यथा।
अधर्मोऽप्ययमेवाऽत्र हीनकार्येषु या रतिः।
भ्रातॄणां च विवाहोऽग्रे सृष्टिभेदे निरूप्यते॥८॥

वाचं सरस्वतीं लौकिकीम्. **तन्वीं** कोमलाङ्गीं सुन्दरीम्. **गद्यपद्याभिरूपा हि लौकिक्येव सरस्वती. स्वयंभूः** इति कुलादिमर्यादाभावः सूचितः. **मनो**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथाच निर्मर्यादजगदकरणार्थं बोधः इति अर्थः. त्यागप्रकारतात्पर्यम् आहुः **त्यागः** इत्यादि. यतो भेदेन प्रकारान्तरेण तद्भावत्यागः उक्तः, ततो हेतोः दैत्यसृष्टौ तथा इति अर्थः. तेन तेषां लज्जामात्रेण अधर्मत्यागो यज्ञादिकरणञ्च सूचितम्. बलिप्रभृतयस्तु आवेशिनो न सहजाः इति अदोषः.

दैत्यपक्षीय-यज्ञादेः लौकिकत्वे गमकम् आहुः **न तम्** इत्यादि. अकामात्व-व्रीडितत्वयोः तात्पर्यम् आहुः **लौकिकी**त्यादिसार्धेन. तथाच एतत् त्रयं ज्ञापयितुम् इदं द्वयम् उक्तम् इति अर्थः. ननु मात्स्ये शतरूपा प्रजापतेः उत्पन्ना सा भुक्ता, ततः स्वायंभुवमनोः उत्पत्तिः उक्ता, शतरूपायाः च प्रजापत्यविनाभावः उक्तः, दोषः च निवारितः.

अत्रतु वाचो दुहितृत्वम् उक्तं, नतु मात्स्यवद् इति कुतो विशेषः इत्यतः आहुः **दया** इत्यादि. यथा इयं वाग् लौकिकी, तथा दयासृष्टिः जैनमतीय-दयासृष्टिः, **द्वितीया** इतो भिन्ना लौकिकी इति ज्ञापनाय अस्याः वाचो **दुहितृत्वं** **‘‘दयाया भगिनी मूर्तिः’’**(भाग.पुरा.६।७।३०) इति वाक्याद् अन्येषां भगिनीत्वेन दयारूपत्वाय, **च** पुनः **अन्यथा** प्रकारान्तरेण वास्तवरूपेण न, ब्रह्मणो वागीशत्वस्य प्रागेव उक्तत्वात्. तद् एतत् स्फुटीकुर्वन्ति **अधर्मोऽपि** इत्यादि. तथाच अस्याः स्वरूपम् अन्यद्, अतो अत्र अधर्मत्वं, मात्स्योक्तायास्तु रूपं भिन्नम् अतो न तत्र दोषः इति अर्थः. एतेन बुद्धावतारे या वेदयज्ञादिनिन्दा भगवता कृता, सापि लौकिक-वेदादिविषया. या च भूतदया स्थापिता, सापि एतादृशी, **‘‘वेदैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्’’**

क. ‘द्वितीयेतु’ इति मां१-२-३,जु पाठः.

हरन्तीम् इति कामनायां हेतुः. अहङ्काराविष्टत्वाद् मनसः तदधीनत्वम् ।।२८।।

तम् अधर्मे इति.

तम् अधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।

मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन् ।।२९।।

पितरं ब्रह्माणम्. **सुताः**. **मरीचिः मुख्यो** येषाम्. **मुनयः** इति मननेन साक्षाद् अधर्महेतुत्वम् अस्याः सृष्टेः न अस्ति इति ज्ञातवन्तः. **विश्रम्भाद्** विश्वासाद् धाष्ट्र्येन[1]. **प्रत्यबोधयन्** इति. यथा ब्रह्मणा पूर्वम् एते बोधिताः, तमेव बोधं ब्रह्माणं प्रति बोधितवन्तः. वाचि प्रवृत्तिः न कर्तव्या, शिष्टैः पूर्वजैः अकृतत्वाद्, अपकीर्तिजनकत्वाद्, जगन्नाशहेतुत्वाच्च ।।२९।।

तत्र प्रथमं हेतुं साधयति **न एतत् पूर्वैः कृतम्** इति.

नैतत्पूर्वैः कृतं त्वत्र न करिष्यन्ति चाऽपरे ।

यत् त्वं दुहितरं गच्छेः अनिगृह्याऽङ्गजं प्रभो! ।।३०।।

अत्र जगति, **एतद्** एतादृशं कर्म, **पूर्वैः** सृष्ट्यादिप्रवर्तकैः कदापि पूर्वं न **कृतम्**. ननु एतादृशएव आचारो अतःपरं प्रवर्तनीयः इति आशङ्क्य आहुः **न करिष्यन्ति च अपरे** इति. तस्माद् अयम् अनाचारः.[क] तं त्वमेव करोषि इति आह **यत् त्वम्** इति. **गच्छेः** इति अभीष्टे लिङ्. यत् त्वं स्वेच्छया तां गच्छसि इति अर्थः. ननु मनः तया हृतं, तां तज्जः कामो हरति, मम को दोषः इति चेत् तत्र आह **अनिगृह्य अङ्गजम्** इति. अङ्गजः कामः स्वकीयः सएव निगृह्यो नतु प्रवर्तनीयः, तथा सति अधर्मः स्याद् इति भावः. **प्रभो!** इति सम्बोधनं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

(   ) इति वाक्यात्. अतः तत्रापि **''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः''** (भग.गीता ४।७) इति वाक्यस्य न विरोधः इति ज्ञापितम्. अयमेव अधर्मो अत्र न अन्यविधः इत्यत्र गमकम् आहुः **भ्रातॄणां च** इत्यादि. अन्यथा कर्दमपुत्रीणां मरीच्यादिभ्यो दानमपि न आज्ञापयेत्. अतः सृष्टिभेदेन दोषाभावेऽपि लौकिकसंजिघृक्षारूपएव अत्र अधर्मः न अन्यः इति न कोऽपि क्वापि सन्देहः इति अर्थः.

एवम् उपाख्यानतात्पर्यं सङ्गृह्य व्याख्यातुम् आरभन्ते **वाचम्** इत्यादि. **तदधीनत्वम्** इति. कामाधीनत्वम्।।२८।।

१.'कात्स्न्र्येन' इति क.ङ.च. क. 'आचारः' इति मां१-३,जु पाठः.

तथासामर्थ्यं सूचयति. अनेन अधर्मजनकत्वमपि सूचितम् ।।३०।।

द्वितीयं हेतुं विशदयति

तेजीयसामपि ह्येतद् न सुश्लोक्यं जगद्गुरो! ।

यद् वृत्तम् अनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ।।३१।।

तेजीयसाम् इति. स्वतन्त्रेणैव एतत् कर्तुं शक्यं, न परतन्त्रेण. नहि तेजस्वित्वमात्रेण[ख] स्वातन्त्र्यं भवति, यमादिदण्डः परं निवार्यते; तथापि अपकीर्तिः भवत्येव ततोऽपि, तेजस्वित्वेऽपि[ख] कीर्तिः न भवत्येव. तद् आह **न सुश्लोक्यम्** इति. किञ्च, त्वं **जगद्गुरुः** सर्वोपदेष्टा, त्वद्वाक्याद् ज्ञानम् अन्यस्य. तत्र वाक्ये जनकं ज्ञानं तव स्वाभाविकं चेद् न भवेत्, काव्यवद् अप्रामाण्यमेव स्याद्, उत्प्रेक्षाजनितत्वात्. सत्यज्ञानस्य जनकत्वे, एवं तव आचारो न स्याद् इति. किञ्च. यथा त्वद् वाक्यं प्रमाणं तथा तव आचारोऽपि. ततः त्वद् आचारानुसारेण प्रवर्तमानाः अधर्मेण नष्टाएव भवेयुः. अतः तेषामपि रक्षार्थं न एवं कर्तव्यम् इति आह **यद् वृत्तम्** इति. वरदानवत् क्षेमदानेऽपि सर्वदानं निर्वहेद् इति. यथा तएव क्षेमे स्वयमेव समर्थाः भवन्ति तथा उपायः कर्त्तव्यः ।।३१ ।।

एवं स्वतः सामर्थ्यतश्च न कर्तव्यम् इति ब्रह्माणं बोधयित्वा, भगवत्प्रेरणया क्रियते इति आशङ्क्य भगवन्तं प्रार्थयन्ते

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।

आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुम् अर्हति ।।३२ ।।

तस्मै नमः इति. यदि अन्तर्यामी भगवान् प्रेरयेत्, तदैव अयं निवर्तेत. तेनापि प्रेरणम् अवश्यं कर्त्तव्यम्. इदं हि जगद् भगवता स्वस्मिन् स्थितं प्रकाशितम्. तदपि तेजसा, नतु तमसा दैत्यवत्. तस्य स्थितिः धर्मेणैव, तस्य अधर्मेण नाशएव. तथा सति ''उत्पतन्नेव यो हतः'' इतिवद् उत्पन्नमात्रमेव जगद् नष्टं भवेत्, ततो अनुत्पादएव श्रेष्ठः स्यात्. अथ यदि सत्यसङ्कल्पो जगत्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तेजीयसाम् इत्यत्र. **तत्र वाक्ये** इत्यस्य **अप्रामाण्यम्** इत्यनेन अन्वयः।।३१।।

ख . 'तेजोवत्वमात्रेण' 'तेजोवत्वेपि' इति मां१-३,जु पाठः.

कृतार्थतायै कृतवान्, तदा सएव जगत्कर्ता **धर्ममपि पातुम् अर्हति** ।।३२।।

एवं प्रकारत्रयेण ब्रह्माणं स्तुत्वा, क्रिययाऽपि प्रतिबन्धकाइव पुरः स्थिताः. ततो वाचा क्रियया च रुद्धो मानसभावः तेन त्यक्तः इति आह

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ।।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद् विदुस्तमः ।।३३।।

सः इत्थम् इति. **गृणतः** इति निवृत्तिपर्यन्तं स्तोत्रं कृतवन्तः इति अर्थः. सृष्टौ चिन्ता न कर्तव्या इति ज्ञापयितुम् आह **प्रजापतीन्** इति. **प्रजापतिपतिः** इति तेषामपि पालनम् आवश्यकम्. **तन्वम्** इति तनोः सकाशाद् जातं रूपम्. लज्जया निवृत्तिः लोक इति सूचयितुं **व्रीडितः** इति उक्तम्. सा त्यक्ता तनुः प्रतिसर्ग-रूपत्वाद् नीहाररूपा जाता, तां दिशः श्रोत्राभिमानिन्यो देवताः गृहीतवत्यः. वाग्बोधिकाः ताः सर्वत्र वाचा सह तां योजयिष्यन्ति, अतएव ''**न तं विदाथ**''(ऋग्वेद १०।८२।७) इति श्रुतिः. अतएव श्रुत्यर्थविदः तामेव तनुं **नीहारम्** इति **विदुः** ।३३।

एवं सृष्टिप्रसङ्गेन प्रतिसृष्टिम् उक्त्वा, राजसे भेदद्वयं निरूप्य, सात्त्विके भेदत्रयं निरूपयति **कदाचिद्** इत्यादि यावद् अध्यायसमाप्ति.

आध्यात्मिकास्तु श्रुतयः शब्दब्रह्म तु दैविकम्,
धर्मप्रवर्तकाः सर्वे भूतानि स्मरणात् पुनः ।।१।।

तत्र प्रथमम् आध्यात्मिकान् वेदान् जगज्जननार्थं ध्यानेन दृष्टवान्, तदा ते सृष्ट्यर्थं भगवदिच्छया प्रकटीभूताः. तद् आह

कदाचिद् ध्यायतः स्त्रष्टुः वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।
कथं स्त्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा ।।३४।।

कदाचिद् इति. **स्त्रष्टुः** विधातुः. **ध्यायतः** इति प्रथमतो ध्याने प्रकटीभूताः, पश्चाद् मुखात्. **कदाचिद्** इति न सर्वकल्पेषु वेदोद्गमः. **कथं**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तां दिशः इत्यत्र. दिग्भिः नीहारग्रहणस्य तात्पर्यम् आहुः **वाग्बोधिकाः** इत्यादि. **ताम्** इति. अधर्मबुद्धिम्।।३३।।

कदाचिद् इत्यत्र. **राजसे** इत्यादि. ''**अथाऽभिध्यायतः**'' (भाग.पुरा.३।१२।२१) इत्यादिना उक्ते राजसे सर्गे सर्ग-प्रतिसर्गाभ्यां भेदद्वयं निरूप्य ''**कदाचिद्**''

स्त्रक्ष्यामि इति ब्रह्मणः चिन्ता वेदोद्गमे हेतुः. ध्यानमेव आह **कथं स्त्रक्ष्यामि** इति. **समवेतान्** मिलितान्. मिलितानां विवेचनम् असाधारणलक्षणैरेव भवति. यथा स्थाण्वादयः पुरुषादिभ्यो वक्रकोटरादिभिः विविच्यन्ते, तथा श्रुत्युक्तलक्षणैः समवेताः विविच्यन्ते इति वेदोद्गमः ।।३४।।

वेदार्थमपि चिन्तया अङ्गादिभिः सह उत्पादितवान् इति आह

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रम् उपवेदनयैः सह ।

धर्मस्य पादाश्चत्वारः तथैवाऽऽश्रमवृत्तयः ।।३५ ।।

चातुर्होत्रम् इति. चत्वारो होतारो यत्र. ब्रह्मा, होता, अध्वर्युः, उद्गाता एते चत्वारो होमसाधनम्. अनुज्ञा-शास्त्र-होम-स्तोत्रैः तत् कर्म **चातुर्होत्रम्. तन्त्रम्** इति. विस्तारः. **उपवेदाः** आयुर्वेदादयः. **नयाः** नीतिशास्त्राणि, पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राणि वा. **धर्मस्यः चत्वारः पादाः** सत्यं तपो दया दानम् इति. **आश्रमाणां** ब्रह्मचर्यादीनां प्रत्येकं चतस्रो **वृत्तयः. चतुर्मुखाद् आसन्** इति सर्वत्र अनुषङ्गः ।।३५ ।।

प्रमादाद् वेदनिर्गमने नियमेन इष्टं न सिद्ध्यति इति अवश्यं ब्रह्मणैव[1] हृदये प्रकटाः वेदाः, मुखेन निर्मिताः इति वक्तव्यम्. तत्रापि पूर्वादिक्रमेण अन्येन वा वेदाः सृष्टाः इति वक्तव्यम्. तथा सति वेदादीनां क्रमः सिद्ध्येद्, अन्यथा कर्मापेक्षया क्रमकल्पनायां यजुर्वेदः प्रथमो भवेत्, प्रधानपरे वा ब्रह्मणो वेदो अथर्वाङ्गिरसात्मकः प्रथमः स्यात्. अतः क्रमाध्ययनम् अन्यथा स्यात्. तथा उपवेदादीनाम्. अतो विदुरः क्रमं पृच्छति

विदुरः उवाच

स वै विश्वसृजाम् ईशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत् ।

यद्यद्येनाऽसृजद् देवः तद् मे ब्रूहि तपोधन! ।।३६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

(भाग.पुरा.१०।६९।२९) इत्यादिना वक्ष्यमाणे सात्त्विके सर्गे आध्यात्मिकादिभेदत्रयं निरूपयति इति अर्थः. **भूतानि स्मरणात् पुनः** इति. धर्मप्रवर्तकाः ऋषयः पुनः वेदार्थस्मरणाद् आधिभौतिकवेदरूपाः इति अर्थः ।।३४।।

स वा इत्यत्र. **प्रधानपरे वा** इत्यादि. तादृशे क्रमे ब्रह्मणः ऋत्विजः

१.ब्रह्मण एव. क.

सः वै विश्वसृजाम् ईशः इति. **मुखतो असृजद्** इत्यन्तम् अनुवादः. तत्र हेतुः उक्तः. **यद्–यद्** इति प्रश्नविषयः. देवत्वात् तत्प्रतिपादनत्वात् श्रुतेः स्वार्थं तत्सर्गः इति प्रयोजनं दोषाभावश्च निरूपितौ. स्वात्मानं प्रति तदुपदेशाभावम् आशङ्क्य आह **मे** इति. **तपोधन!** इति सम्बोधनं जन्मकर्मादिपरिज्ञापकं, ततः सर्वज्ञत्वाद् मां प्रत्यपि वक्ष्यति इति ।।३६ ।।

वेदानां क्रमं मुखक्रमञ्च आह

मैत्रेयः उवाच

ऋग्–यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शस्त्रम् इज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात् ।।३७ ।।

देवता[1]–द्रव्यसम्बन्धः, देवतास्तोत्रं, यागाभ्यनुज्ञा च इति यागानाम् अर्थतः क्रमः. पूर्वादिमुखक्रमस्तु पाठार्थम् उपयुज्यते. तेषां चतुर्णां विनियोगम् आह **शस्त्रम्** इति. शस्त्रं होतुः, **इज्या** यजिः अध्वर्योः, यजुर्वेदकृत्यम्; **स्तुतिः** देवतायाः उद्गातुः; सामवेदकृत्यम्. **प्रायश्चितं** ब्रह्मणः इति, ''**प्रायश्चिते ब्रह्माणम्**'' (आश्व.श्रौ.सू.१५) इति आश्वलायनसूत्राद्. एवं सप्रयोजनान् वेदान् पूर्वादिमुखैः सृष्टवान् इति अर्थः ।।३७।।

वेदोपयोगिपदार्थान्[2] वक्तुं पुराणानि सृष्टवान् इति आह **इतिहासपुराणानि** इति.

[3]इतिहास–पुराणानि पञ्चमं वेदम् ईश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ।।३८।।

सर्वोपयोगित्वाद् न अत्र क्रमो विवक्षितः. अतः **सर्वेभ्यएव वक्त्रेभ्यो**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्राधान्यात् तद्वेदः प्रथमः स्याद् इति अर्थः. **तत्र हेतुः उक्तः** इति. प्रश्नविषये प्रष्टव्यांशे हेतुत्वेन उक्तः इति अर्थः. **तत्प्रतिपादनत्वात् श्रुतेः स्वार्थम्** इति. श्रुतेः देवप्रतिपादकत्वाद् देवार्थम्. **दोषाभावः** इति. विदुरस्याऽपि देवत्वात् तं प्रति कथने दोषाभावः इति अर्थः ।।३६।।

१.''देवतां, द्रव्यसम्बन्धं, देवतास्तोत्रम्, यागाभ्यनुज्ञां चेति'' ख. ग. घ. ङ. च.मां१–३.जु.
२.''वेदोपयोगिपदार्थान् आधिभौतिकान् वक्तुं'' इति मां१–२–३,जु पाठः. ३.इतः पूर्वं ''आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः, स्थापत्यं चाऽसृजद्वेदं क्रमात् पूर्वादिभिर्मुखैः'' इति श्लोकोऽधिकः कुत्रचित्. मां.१–२–३,जु.

निर्ममे. **सर्वदर्शनः** इति सर्वेषामेव वर्णानाम् अवर्णानां स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनाम् उपयोगं पश्यन् पुराणं सृष्टवान्. चिन्त्यम् एतत्।।३८।।

चातुर्होत्रादीनामपि उद्देशात् तेषामपि उत्पत्तिक्रमम् आह

षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात् पुरीष्यग्निष्टुतावथ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम्।।३९।।

षोडश्युक्थौ इति. "**अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयाद्**" (आप.श्रौ.सू. १४।१०) इति श्रुतेः "**न वै षोडशी नाम यज्ञो अस्ति**" (तैत्ति.संहि.६।) इति च सर्वोपयोगित्वात् षोडशी प्रथमतो गृहीतः. तथा उभयस्यापि सर्वोपयोगित्वम्. तौ उभौ **पूर्ववक्त्रात् ससृजे. अग्निष्टुद्** अग्निष्टोमः पुरीष्या अग्नयः चयनात्मकाः, पुरीषम् अस्य अस्ति इति **पुरीषी,** पुरीषी च अग्निष्टुत् च पुरीष्यग्निष्टुतौ, सः समासान्तः(?) **आप्तोर्यामो** अतिरात्रस्यैव भूमा, सविशेषो अतिरात्रः इति अर्थः. **वाजपेयो**ऽपि स्वतन्त्रो महाफलः. **गोसवश्च** गोसत्रम्. तयोरपि सहभावः।।३९।।

धर्मस्य एते चत्वारः पादाः विद्यादयः इति

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।
आश्रमांश्च यथासङ्ख्यम् असृजत् सह वृत्तिभिः।।४०।।

विद्या ज्ञानम्. **दानं** तुलापुरुषादि. **तपः** कृच्छ्रादि. **सत्यं** सत्यभाषणम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इतिहासेत्यत्र. **चिन्त्यम् एतद्** इति. सर्वदर्शनपदतात्पर्यम् इदम्।।३८।।

षोडशीत्यत्र. षोडशिनः प्रथमतः उक्तौ हेतुः सर्वोपयोगित्वम् इति बोधयितुं प्रमाणम् आहुः **अपि** इत्यादि. ननु यज्ञविशेषत्वस्य हेतुत्वे किं बोधकम् इति आशङ्कायां श्रुत्यन्तरम् आहुः "**न वै...**" इत्यादि. तथाच, यज्ञविशेषत्वे प्रथमतः उक्तौ प्रथमसंस्थारूपम् अग्निष्टोममेव वदेत्. "**एतेनेष्टाः**"( ) इति श्रुतौ तस्यैव प्राथम्यात्. अतः सर्वोपयोगित्वमेव तथा इति अर्थः. इदं श्रुतिद्वयं तैत्तिरीयाणां षष्ठाष्टक-समाप्त्यनुवाके "**प्रजापतिः देवेभ्यो यज्ञान्**"( ) इत्यत्र अस्ति. तत्र च 'षोडश'पदनिरुक्तिपूर्वकं सर्वोपयोगित्वं स्फुटम् अस्ति इति ततो अवगन्तव्यम्।।३९।।

विद्या इत्यत्र. श्रीधरीये **विद्या** इति शौचं, "**क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद् विशुद्धिः परमा मता**"( ) इति स्मृतेः दानं दया, "**भूताभयप्रदानस्य कलां**

पदानि इति 'पद'शब्दः. **च**काराद् अन्येऽपि धर्मपादाः भगवद्रूपत्वाद् धर्मस्य सन्ति इति ज्ञापितम्. **आश्रमान् च असृजत् सह वृत्तिभिः** इति. वृत्तिचतुष्टय-सहितः एकाश्रमः एकस्माद् मुखाद् जातः इति ज्ञापितम् ।।४०।।

तत्र ब्रह्मचारिणो वृत्तिचतुष्टयम् आह

सावित्र्यं प्राजापत्यं च ब्राह्म्यं चाऽथ[1] बृहत् तथा ।

वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ।।४१।।

सावित्र्यम् इति. **सावित्र्यम्** उपनीतस्य गायत्रीशिक्षाकालो मौनादि-सहितः त्रिरात्रात्मकः. ततः संवत्सरपर्यन्तं **प्राजापत्यं** वेदव्रतात्मकम्. [2]**ब्राह्म्यं** वेदग्रहणात्मकम्. **बृहद्** नैष्ठिकम्.

गृहस्थस्य वृत्तिचतुष्टयम् आह **वार्ता** इति. **वार्ता** कृष्यादिचतुष्टयम्. **सञ्चयो** अध्यापनादिना प्राप्तधनस्य सङ्ग्रहः. **शालीनम्** अल्पधान्ययाचनं, यायावरः इति अर्थः. **शिलोञ्छ** इति. **शिला** खले धान्यानां हस्तेन एकैकशः उद्धारः. **उञ्छनं** गृहस्थानां गृहे कण्डनादिस्थाने पतितधान्यादीनां ग्रहणम् ।।४१।।

वनस्थानां वृत्तिचतुष्टयम् आह

वैखानसा वालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने ।

न्यासे कुटीचरः पूर्वं बह्वोदो हंस-निष्क्रियौ ।।४२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नार्हन्ति षोडशीम्''(   ) इति वचनात्. एवञ्च ''**तपः शौचं दया सत्यम् इति पादाः कृते कृताः**''(भाग.पुरा.१।१७।२४) इति प्रथमस्कन्धोक्तेः अविरोधः इति व्याख्यातम्. तत्सङ्ग्रहार्थम् आहुः **च**काराद् इत्यादि. **आश्रमान्** इत्यत्र. **वृत्तिचतुष्टयम्** इति. वर्तनप्रकारचतुष्टयं जीविकाचतुष्टयञ्च. श्रीधरीये ''**शालीनम् अयाचितवृत्तिः**''इति व्याख्यातं, ''**शिलोञ्छनं कणिशकणवृत्तिः**'' इति च।।४०।।

वैखानसा इत्यत्र. श्रीधरीये **वैखानसा** अकृष्टपच्यवृत्तयः. **वालखिल्या** नवान्ने लब्धे पूर्वसञ्चितान्नत्यागिनः. **औदुम्बराः** प्रातः उत्थाय यां दिशां प्रथमं पश्यन्ति, ततः आहृतैः फलादिभिः जीविनः. **फेनपाः** स्वयं पतितैः फलादिभिः जीविनः इति व्याख्यातम्.

न्यासेत्यत्र. ननु ''**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्**''(जाबालोप. ४) इति

१.वाऽथ पा. २.ब्राह्मम् ग.

वैखानसाः इति. विखनसा ब्रह्मणा यानि भगवद्भजनादीनि वैखानससूत्रे उपदिष्टानि, वने स्थित्वा, तत्कर्मकर्तारो वैखानसाः, दैवाद् आगतवृत्तिजीविनः. **वालखिल्याः** तपस्विनः पञ्चाग्न्यादिसाधकाः सूर्यपक्वान्नभक्षकाः वनस्थाः वन्यान्नाश्च. **औदुम्बराः** नखलोमादिस्थापकाः मलधारिणो वृक्षफलोप-जीविनश्च. नियतारण्याः **फेनपाः** वायुजलभक्षाः. तपोवनादिवासः पूर्वसिद्धो अनुवर्ततएव इति.

न्यासिनां वृत्तिचतुष्टयम् आह **न्यासे** इति. **न्यासे** सन्न्यासे, **कुटीचरः पूर्वं** निरूप्यः. पञ्चसप्तत्यूदूर्ध्वं सन्न्यासे आयुर्भागक्रमेण आश्रमचतुष्टयपक्षे नित्यसन्न्यासो भवति. तत्र ब्राह्मण्यं, वयः, पूर्वाश्रमानन्तर्यं च प्रयोजकं, न ज्ञानादि. षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यम् इति वेदाध्ययनकालपक्षोऽपि विकल्प्यते. ''**चतुर्थम् आयुषो भागम उषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः, द्वितीयम् आयुषो भागं कृतदारो गृहे वसेद्**'' (मनुस्मृ.४।१) इति मनुवाक्यात् प्रत्येक-समुदायपक्षौ निर्णीतौ. तत्र समुदायपक्षो नित्यः. आश्रमचतुष्टयमपि क्रमेण ब्राह्मणेन कर्तव्यमिति तदेव अत्र ब्रह्मणा निष्पादितम् इति उच्यते. प्रत्येकपक्षः काम्यः.

केचिद् अधिकारभेदेन आहुः **साधारणानां चतुष्टयम्** इति. ऊर्ध्वरेतसां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रुतेः जाते वैराग्ये संन्या(सा)द्धंसादिरूपतैव तत्र इति वृत्तिचतुष्टयं कथम् इति आकाङ्क्षायां कुटीचरस्य पूर्वं निरूप्यत्वे हेतुम् आहुः **पञ्चे**त्यादि. 'ज्ञानादि'इत्यादि-पदेन वैराग्यसङ्ग्रहः. तथाच नित्यपक्षे वैराग्यज्ञानादेः अङ्गत्वाभावात् स्वाश्रमकर्म-प्रधानस्य कुटीचरस्य युक्ता पूर्वं निरूप्यतेति अर्थः. ननु ''षट्त्रिंशदाब्दिकम् इति वा'' ब्रह्मचर्यस्य बहुकालम् उक्तत्वाद् आश्रमक्रमपक्षो न युक्तः इत्यतः आहुः **षडि**त्यादि. तथाच, ''**यद् वै किञ्च**''(छान्दो.उप.३४।७।१३) इति श्रुतेः मनोः अत्यादरणीयत्वेन आश्रमक्रमपक्षे अस्यैव मुख्यत्वात् पक्षान्तरप्रायिकत्वेन युक्तं तस्य पूर्वनिरूप्यत्वम् इति अर्थः. ननु प्रायिकत्वे तस्य पक्षस्य अनावश्यकतायां श्रुतिव्याकोपः इत्यतः आहुः **प्रत्येके**त्यादि. **निर्णीतौ** इति. नित्य-काम्यभेदेन निर्णीतौ. तथाच, व्यवस्था भेदेन सार्थक्याद् न श्रुतिव्याकोपः इति अर्थः. तमेव निर्णयं स्फुटीकुर्वन्ति **तत्र** इत्यादि **काम्यः** इत्यन्तम्. **प्रत्येकपक्षः** इति. यावद् जीवं यथोचितम् एकाश्रमपक्षः.

व्यवस्थायां मतान्तरम् आहुः **केचिद्** इत्यादि. इदं च न श्रीधरमतम्.

भक्तानां ब्रह्मचर्यं नैष्ठिकम् एकएव आश्रमः तेषाम्. तथा सर्वथा वैराग्यरहितस्य उत्कटकामस्य गार्हस्थ्यमेव उपकुर्वाणो भूत्वा यथाशक्ति वेदान् अधीत्य, विहितप्रकारेण कृतदारो भूत्वा, यावद् जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्. किं बहुना, शरीरसंस्थापर्यन्तं धृताग्निहोत्रमपि तस्य विहितम्. अतएव आपस्तम्बकारेण सर्वे आश्रमाः तुल्याः निरूपिताः, सर्वत्रैव अव्यग्रः सिद्ध्यति इति. प्रजानिन्दा-वाक्यानि च ऊद्ध्र्वरेतसां प्रशंसापराणि योजितानि, अन्यथा श्रुतीनाम् अन्योन्य-विरोधः स्यात्. एकदेशेनाऽपि श्रुतीनां बाधो ब्राह्मणानां न कर्तव्यः. तथा वानप्रस्थे यथाशक्ति ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनं विधाय देहपातपर्यन्तं वने वासं तपश्च कुर्यात्. न्यासेऽपि पूर्वजन्मनि आयुर्भागक्रमेण कृतन्यासः प्राप्तज्ञानश्च दृढवैराग्यो निरन्तरम् आत्मचिन्तकः, भगवत्प्रेमाभावात् सतां गृहे पुनः उत्पद्यते. तस्य उत्पत्तिसम्बन्धात् पूर्वज्ञानं तिरोहितमिव भवति, तदा उत्तरत्र जन्मनि उपनीतः. वेदाध्ययने क्रियमाणे, पूर्वज्ञानम् उद्बुद्धं भवति तदा ''**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्**'' (जाबा.उप.४) इति श्रुत्यर्थः कर्तव्यो भवति. तदा देहपातपर्यन्तं सएव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कुटीचरः स्वाश्रमकर्मप्रधानः, **बह्वोदः** कर्मोपसर्जनीकृत्वा(?) ज्ञानप्रधानः **हंसो** ज्ञानाभ्यासनिष्ठः, **निष्क्रियः** प्राप्ततत्त्वः. एते च सर्वे यथोत्तरं श्रेष्ठाः भवन्ति इति एतावन्मात्रव्याख्यानाद्(?) अतो अन्येषाम् ऋषीणामेव तन्मतं बोध्यम्. तन्मत-व्यवस्थां प्रदर्शयन्ति **साधारणानाम्** इत्यादि. **साधारणानाम्** इति. पूर्णैकैकाधिकार-रहितानाम्. असाधारणं तत्तदधिकारं स्फुटीकुर्वन्ति **ऊर्ध्वे**त्यादि. नैष्ठिकगृहस्था-धिकारं स्फुटीकुर्वन्ति **तथा** इत्यादि. अतएव इति. प्रत्येकपक्षस्याऽपि साधकत्वादेव. **आपस्तम्बकारेण** इति. आपस्तम्बाख्येन स्मृतिकारेण. **प्रजानिन्दावाक्यानि** इति. ''**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**'' (महाना.उप.१०।५) इति; ''**तद्धैक आहुः ऋषयः कावषेयाः**''(   ) ''**किं प्रजया करिष्यामो येषां न अयम् आत्मा न अयं लोकः**''(बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादीनि. **अन्यथा** इति. एवम् एकाश्रमपक्षानङ्गीकारे. तथाच, सर्वथा वैराग्यराहित्ये नैष्ठिक-गार्हस्थ्यपक्ष इति अर्थः. नैष्ठिकवानप्रस्थपक्षं स्फुटीकुर्वन्ति **तथा वानप्रस्थे** इत्यादि. नैष्ठिक-सन्न्यासपक्षम् आहुः **न्यासे**त्यादि.

अत्रैव पक्षान्तरम् आहुः **ततोऽपि** इत्यादि. **सः** इति. अनाश्रमिपक्षः.

आश्रमः परिपालनीयो भवति, अन्यथा पतितः स्यात्. ततोऽपि उपनयनात् पूर्वमेव पूर्वज्ञानवैराग्याणाम् उद्बोधे अनाश्रमी भवति, यथा सनकादिः शुकादिः वा. सः वेदे निन्दितो भगवच्छास्त्रे च. अतएव ब्रह्मणः सनकादिषु क्रोधः. ब्रह्मपुत्राअपि भूत्वा मानुषभावम् आपन्नाः, ततोऽपि दैत्यत्वम्. प्रह्लादरूपाः जाताः, तत्रापि क्लेशः. शुकस्तु इमं बाधकम् अवगत्य पूर्वजन्मनि ज्ञानादिसिद्धावपि रूपद्वयं विधाय एकेन रूपेण [1]ब्रह्मचर्ये वेदान् अधीत्य, गार्हस्थ्ये पुत्रान् उत्पाद्य, पुनः ऐक्यं प्राप्तः, देहपातपर्यन्तं भगवत्परो जातः. सो अत्र मर्यादायां वैदिकमार्गे न गण्यते. तत्र यः आयुर्भागक्रमेण चतुष्टयं करोति, सः वनवासानन्तरं पुत्रादिनिर्मितकुट्यां पुत्रादिभिरेव परिपाल्यमानः आत्मचिन्तकः '**कुटीचरो**' भवति. वनस्थो भूत्वा पुत्राद्यपेक्षां परित्यज्य स्वतन्त्रतया यदि सन्न्यासं कुर्यात्, तदा सः '**बह्वोदो**' भवेत्. क्वचित् तीर्थविशेषे सर्वनिरपेक्षः तीर्थवासी भवेत्. तत्र वने पक्षद्वयं यदि सभार्यः साग्निः वनं गच्छेत्, तदा अग्रे पुत्रेषु भार्यां स्थापयित्वा स्वयं कुटीचरो भवेत्. यदि पूर्वमेव भार्यादिः त्यक्तो भवेद् वनवासार्थमेव, तदा तावत् तपः कृत्वा अग्रे संन्यस्य बहूदको भवेत्. यदि ब्रह्मचर्यानन्तरमेव पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानादिसम्पन्नो भवेत्, तदा सन्न्यासे '**हंसो**' भवेत्. सर्वत्र तीर्थेषु एकरात्रविधिना निरपेक्षः परिभ्रमेत्. तस्य मौनानीहानिलायामाः दण्डाः नित्याः. ततोऽपि पूर्वजन्मन्येव सिद्धज्ञानादिः हंसो भूत्वा यो म्रियते, सः उत्तरत्र योगभ्रष्टो महतां गृहे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रह्लादरूपाजाताः इति. पुराणान्तरस्थम् इदं प्रमेयम्. **तत्रापि** इति. प्रह्लादरूपत्वेऽपि. **रूपद्वयं विधाय** इति. इदमपि पुराणान्तरं ज्ञेयम्. **न गण्यते** इति. शुकेतरस्य तथा सामर्थ्याभावाद् न गण्यते. एवं नित्यकाम्यपक्षद्वयम् उपपाद्य प्रकृते कुटीचरादिस्वरूपं व्याकुर्वन्ति **तत्र** इत्यादि. **आत्मचिन्तकः** इति. ''**अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्**''(याज्ञ.स्मृ.१।८) इति वाक्याद् आश्रमधर्मभूतात्मचिन्तनपरः. **तीर्थवासी भवेद्** इति. तीर्थस्य जलप्रधानत्वेन 'बह्वोद'पदयोगसामञ्जस्यात् तथा भवेद् इति अर्थः. **दण्डाः नित्याः** इति. तेन हंसः त्रिदण्डी इति अर्थः. परमहंसाधिकारम् आहुः **ततोऽपि** इत्यादि.

मुक्तम् इति. पथि स्थितं चीरादि. **तस्य सिद्धिः** इति. तथैव तस्य सिद्धिः. **न**

१.ब्रह्मचर्येण क.

उत्पन्नः प्राप्तद्विजातिसंस्कारो जडभरतवत् तिष्ठेत्, सः **'निष्क्रियः'**. तस्यतु मुक्तम् आच्छादनं न लिङ्गं प्रकटं, तस्यैव ऋषभवत् चर्या. तस्य लोकसम्बन्धे पातित्यं, यथैव अलौकिकः. तस्य सिद्धिः, सः सर्वोत्तमः. तस्य धर्मं न हीनः कुर्यात्. तस्माद् अधिकारव्यवस्थयैव वृत्तिचतुष्टयम् आहुः. यदि उत्तमं कर्तुं न शक्नुयात्, तदा प्रथमोऽपि प्रथमं कुटीचरो भूत्वा क्रमेण निष्क्रियो भवेद् इति सिद्धान्तः. तथा पूर्वाश्रमेष्वपि पूर्वम् उत्तमां गतिं व्रजेद्; आश्रमान्तरेषु वा उत्तमां गतिं व्रजेद् इति ।।४२।।

एवम् आश्रमान् निरूप्य 'उपवेदनयैः सह' इति निरूपणाद् नीतिभेदान् निरूपयति

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिः तथैव च ।

एवं व्याहृतयश्चाऽऽसन् प्रणवो ह्यस्य हृद्गतः ।।४३ ।।

आन्वीक्षिकी इति. अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा, तत्सम्बन्धिनी नीतिः मर्यादा, **आन्वीक्षिकी** इति उच्यते. एषा नीतिः ब्राह्मणानामेव, तत्रापि आश्रमश्रेष्ठानाम्. **त्रयी** वेदत्रयी, वेदानुसारव्यवहारः कर्तव्यः, यज्ञाः कर्तव्याः याजनादि च वृत्तिः. क्षत्रियाणां मुख्या एषा वृत्तिः. **वार्ता** चतुर्विधा, कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-कुसीदात्मिका, वैश्यानां मुख्या. **दण्डनीतिः** दण्डप्रकारः, दण्डनार्थं वा नीतिः. यद्यपि अयं राजधर्मः तथापि शूद्रेष्वेव दण्डः सर्वथा कर्तुं शक्यते इति तेषु[1] प्रतिष्ठितः. एवं चतुर्विधा नीतिः. यद्यपि आन्वीक्षिकी आत्मविद्या; त्रयी च [क]वेदत्रयं, यज्ञाश्च तदर्थाः; ते पुनः नीतिमध्ये न वक्तव्याः; तथापि तेषां लौकिकेऽपि ब्राह्मणादीनां परमहंसादीनां वा अन्वीक्षणादिरेव कर्तव्यः, नतु सर्वथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

हीनः कुर्याद् इति. तेन इदानीन्तनाः परमहंसाः आश्रमविडम्बकाः धर्मध्वजाएव इति बोधितम्. **आहुः** इति. प्रामाणिकाः आहुः. **उत्तमम्** इति. **''चतुर्थाश्रमं व्रजेद्''** (   ) इति क्रमेण व्रजेत्।।४२।।

आन्वीक्षिकी इत्यत्र. **अन्वीक्षणम्** इति मननम्. **एवे(षे)**ति. द्रव्ययज्ञ-करणरूपा. **तदर्थाः** इति. आत्मविद्यार्थाः.

एवं व्याहृतयः इत्यत्र. व्याहृत्युत्पत्तौ तासां मकरा (प्रकार) भेदं वदन्ति.

१.प्रतिष्ठिता क. ख. घ. ङ. मां १-२-३,जु. क. 'वेदत्रयः' इति मां.१-३ पाठः.

लौकिकइति एतदर्थं नीतिशास्त्रेऽपि तयोः उपनिबन्धनम्. **तथैव च** इति पूर्ववत्, पूर्वादिमुखैरेव उत्पन्ना इति अर्थः. एवं सात्त्विकबुद्धौ आध्यात्मिकत्वेन वेदाद्युत्पत्तिम् उक्त्वा, आधिदैविकं शब्दब्रह्मस्वरूपं निरूपयितुं प्रथमतो व्याहृतीनाम् उत्पत्तिम् आह **एवं व्याहृतयः** इति. यद्यपि वेदएव गायत्री, व्याहृतयः, प्रणवश्च निरूपिताः. समष्टि-व्यष्टिभेदेन चतुष्टयम्. सप्तव्याहृतिपक्षेऽपि अष्टमः त्रयाणां समष्टिः. **च**कारादु अग्रे प्रणवोऽपि. तस्य चतुर्विधत्वाभावात् केवलं सः हृद्गतो हृदयादेव प्रकटीभूतः. अतएव ब्रह्मणा न प्रणवः [1]उच्चारितः, किन्तु ''**ॐकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा, कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ**'' (   ) इति वाक्यात् प्रणवः स्वयमेव निर्गतः ।।४३।।

सप्तच्छन्दसाम् उत्पत्तिम् आह **तस्योष्णिगासीद्** इति सार्द्धेन

तस्योष्णिगासीद् लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ।

त्रिष्टुम्मांसात् स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ।।

मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् ।।४४।।

लोमभ्यः चर्मभ्यः **उष्णिग् आसीत्**. एतानि सप्तच्छन्दांसि न्यूनाधिकभावम् आपन्नानि. तत्र उत्पत्त्युपपत्तिभ्यां गायत्री बृहती च श्रेष्ठे. तत्र चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिग्, द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप्, षट्त्रिंशदक्षरा बृहती, चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुब्,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

समष्टीत्यादि. ''भूर्भवः सुवः'' इति व्यस्ताः तिस्रो व्यष्टिः, समस्ताः समष्टिः, इति एवं पूर्वादिमुखैः उच्चारणात् चतुष्टयम् इति अर्थः, ''**एवं व्याहृतयः प्रोक्ता व्यस्ताः समस्ताः**''(   ) इति आश्वलायन-वाक्यात्. श्रीधरीयेतु ''**भूर्भुवः सुवरिति वा एताः तिस्रो व्याहृतयः, तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम् अस्य प्रवेदयते मह इति**'' (तैत्ति.उप.१।५।१) इति तैत्तिरीयोपनिषदुक्तोऽपि प्रकारः चतुर्थत्वस्य उक्तः, तमपि सङ्गृह्णन्ति **सप्ते**त्यादि. तथाच, तैत्तिरीयोक्ताम् अष्टमं च पूर्वादिमुखैः प्रकटितवान् इति अर्थः. **चतुर्विधत्वाभावाद्** इति. अमात्र(?) पक्षे तथात्वाद् इति अर्थः ।।४३।।

तस्य इत्यत्र. **न्यूनाधिकभावम्** इति. अक्षरकृतं महि(म)कृतञ्च न्यूनाधिकभावम्. **चतुष्पदाः** इति. यद्यपि पङ्क्तिः(?) पदोच्यते, तथापि निरुक्ते

१.उत्पादितः क.

अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती. तत्र गायत्री त्रिपदा, अन्याः चतुष्पदाः. तत्र उष्णिक् सप्ताक्षरपादाः भवति, अतः प्रथमं निर्दिष्टा. अथवा, उत्पत्त्या अत्र विचारः कर्तव्यः. तत्र ब्रह्मणः शरीरे धातूनां स्थूलसूक्ष्मभेदेन छन्दसां स्थूलसूक्ष्मभेदौ. क्रमश्च उत्पत्तौ धातुक्रमेणैव. उत्पत्तिविचारे सोमाहरणाद् गायत्री प्रतिष्ठिता. उपपत्तिविचारे अल्पाक्षरापि बृहती सर्वेभ्यः छन्दोभ्यो महत्त्वाद् 'बृहती' इति नाम प्राप्तवती, ''**स बृहतीमेव अस्पृशद्**'' (छन्दःशास्त्रम् पृ.३४) इत्यादिश्रुतौ बृहत्या माहात्म्यप्रतिपादनात्. प्राणतः तस्याः उत्पत्तिः उच्यते, सर्वोपरि च. अस्थ्नां बाहुल्याद् जगत्या उत्पत्तिः. तदपेक्षया मांसस्य हीनत्वात् ततः त्रिष्टुबुत्पत्तिः. ततो मज्जा हीनाइति ततो हीनायाः पङ्क्तेः उत्पत्तिः. मध्ये बृहती निरूपितैव. स्नुतः स्नायुतो अनुष्टुबुत्पत्तिः. त्वगपेक्षया चर्मणाम् आधिक्याद् लोम्नां स्पष्टमेव आधिक्यदर्शनाद् बहिःस्थिततत्वेन उष्णिक् प्रथमतो निरूपिता. मज्जापेक्षयापि प्राणानाम् अन्तःस्थिततत्वात् पश्चाद् निरूपणम् ।।४४।।

एवं सामग्रीं विनिरूप्य शब्दब्रह्मणो देहं विनिरूपयति **स्पर्शस्तस्याऽभवद्** इति सार्द्धेन

स्पर्शस्तस्याऽभवद् जीवः स्वरो देह उदाहृतः ।
ऊष्माणम् इन्द्रियाण्याहुः अन्तस्था बलम् आत्मनः ।।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ।।४५।।

स्पर्शाः पञ्चविंशतिः. ते सर्वे एकीभूताः शब्दब्रह्मणो जीवो अभिमानी,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पङ्क्तिः पञ्चपदा त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा. यत्त्रिरस्तोभत् तत्त्रिष्टुभः त्रिष्टुप्त्वम् इति विज्ञायते इति ब्राह्मणोपन्यासेन 'पञ्चम'पदस्य स्तोभमात्रत्वात् चतुष्पदा. गायत्रीतु गृहस्थानां त्रिपदाऽपि सन्न्यासिनां चतुष्पदा इति बृहदारण्यके सिद्धम्. तस्मात् सर्वाः चतुष्पदाः इति अर्थः. **सप्ताक्षरपादे**ति सर्वापेक्षा(क्ष) या स्वल्पा. **सोमाहरणाद्** इति. ''**तृतीयस्यामितो दिवं सोम आसीत्तं गायत्र्याहरद्**''( ) इति श्रुतेः तथा इति अर्थः. **अल्पाक्षरे**ति. पङ्क्त्याद्यपेक्षया अल्पाक्षरा. **जगत्या** इत्यादि. जगत्यां बह्वक्षरत्वं, त्रिष्टुभि पङ्क्तौ अनुष्टुभि च ततो न्यूनाक्षरत्वं हेतुः यथायथं बोध्यः. नच अक्षरविचार उष्णिहो अधिकापि गायत्री पादविचारे न्यूना इति सा पूर्वं कुतो न उक्ता इत्यतः आहुः **त्वगित्यादि. प्रथमतः** इति. गायत्र्याः पूर्वम् ।।४४।।

यो अहम् इति मन्यते. स्वराः अकारादयः षोडश, सः **देहः**. **उदाहृतः** इति प्रमाणम्. शषसहा **ऊष्माणः**, ते चत्वारः इन्द्रियाणि. **आहुः** इत्यपि प्रमाणम्. **अन्तस्थाः** यरलवाः, तस्य देहस्य बलम्. एवं चतुर्मूर्तेः स्वरूपम् उक्तम्. बाह्यक्रियाम् उदात्तादिरूपां वदन् विहारेण तेषाम् उत्पत्तिमपि आह कार्य-कारणयोः अभेदत्वाय. **स्वराः सप्तविहारेण** इति. **स्वराः** षड्जादयः सप्त. **विहारेण** गतिलीलया. **प्रजापतेः** इति. शब्दब्रह्मणो अस्य च अभेदो निरूपितः ।।४५।।

शब्दब्रह्मभावत्वेन वा जगज्जनकत्वं, तदेव उपपादयन् उपसंहरति

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परम् ।
विभाति ब्रह्म विततं नानाशक्त्युपबृंहितम् ।।४६ ।।

शब्दब्रह्मात्मनः इति. ननु शब्दब्रह्मणः कथं जगज्जनकत्वं? शब्दार्थयोः द्वैरूप्याद्, ब्रह्मणैव अर्थात्मकस्य जगतः उत्पादितत्वात्. तत्र आह **विभाति ब्रह्म** इति. अर्थात्मकं जगद् उत्पादितमपि, नामव्यतिरेकेण न प्रकाशते इति **विभाति** इति उक्तम्. इदं सर्वं जगद् **विततं** ब्रह्मैव विभाति. बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मणः. बृहत्त्वाद् विततं, बृंहणत्वाद् **नानाशक्त्युपबृंहितम्**. शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शब्देत्यत्र. **द्वैरूप्याद्** इति. वैजात्यात्. **उत्पादितत्वाद्** इति. सिद्धत्वाद् इति. तथाच, स्वस्य वैजात्यम् उपादानत्वबाधकं, कार्यस्य अन्यथासिद्धत्वं च निमित्तत्व-बाधकं; कथं तस्य जनकत्वम् इति अर्थः. उभयदोषसमाधानपूर्वकं शब्दब्रह्मणः कर्तृत्वम् उपपादयन्ति **अर्थे**त्यादि. तथाच, "**विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रम्**"(भाग.पुरा. ३।१०।१२) इति पूर्वम् उक्तत्वेन अत्रत्यायाः प्रक्रियायाः श्रौतसमानाधिकरणत्वाद् अस्यां प्रकाशनस्यैव जननपदार्थत्वात्, तस्य च रूप-नामभेदेन द्वैविध्याद्, यथा रूपेण प्रकाशनं प्रजापत्यात्मना, तथा नाम्ना प्रकाशनं वेदात्मना इति विभानकर्तृत्वमुखेन तस्याऽपि जगज्जनकत्वम् उक्तम् इति अर्थः. ननु प्रकाशकत्वेनैव जनकत्वम् अत्र विवक्षितम् इत्यत्र किं गमकम् इत्यतः आहुः **इदम्** इत्यादि. तथाच, विततत्व-विविधशक्ति-युक्तत्वरूपब्रह्मवत्तया अस्य ब्रह्मत्वेनाऽपि प्रकाशनं क्रियते, नतु नाममात्रेण; अतः तथैव विवक्षितम् इति अर्थः.

ननु रूपेणेव नाम्नाऽपि एवं प्रकाशनं ब्रह्मणाऽपि सम्भवति इति किं

प्रकाशनं न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमपि. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम्. ''अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्'' इति न्यायात्. ''**पराञ्चि खानि**'' (कठोप.२।१।१) इत्यादिवाक्याद् अनुपलब्धत्वम्. स्वप्रकाशमपि सौरं तेजः दिवाभीतेन न दृश्यते. नच व्यवधानं किञ्चिद् अपेक्ष्यते, इन्द्रियाणामेव अग्राहकत्वात्. नहि आकाशाग्रहणे, चक्षुषा रसाग्रहणे वा, व्यवधायकम् अस्ति. यदपि ''**अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव**'' (ऋग्वेद१०।८२।७) इति व्यवधानम् उक्तं,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शब्दब्रह्मात्मकतया इत्यतः आहुः **शब्दब्रह्म**ेत्यादि. ननु शब्दब्रह्मणो नाम्ना जगत्प्रकाशकत्वमेव युक्तं, नतु परब्रह्मप्रकाशकत्वमपि, तस्य स्वप्रकाशत्वाद् इत्यतः आहुः **स्वप्रकाशत्वम्** इत्यादि. ननु तावता ब्रह्मधर्मप्रकाशत्मेव वेदस्य सिद्धं, नतु धर्मिप्रकाशकत्वमपि इत्यतः आहुः **अनुपलब्धे** इत्यादि. तथा(च) जैमिनिना औत्पत्तिकसूत्रे वेदात्मकस्य शब्दस्य अनुपलब्धे अर्थे प्रामाण्यम् उक्तम्. यदि ब्रह्म स्वतएव उपलब्धं स्यात् तद्बोधकवेदस्य प्रामाण्यमेव हीयेत, अतो धर्मिप्रकाशकत्वमपि तस्य मन्तव्यम् इति अर्थः. ननु स्वप्रकाशकत्वश्रुतिविरोधे जैमिनीयस्य ''गुणे त्वन्यायकल्पना'' इति न्यायेन धर्ममात्रबोधकश्रुतिपरत्वं कल्पनीयं, नतु धर्मिपरत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **पराञ्चि** इत्यादि. तथाच, तदपि श्रुत्यनुरोध्येव इति अन्यथाकल्पनं न युक्तम् इति अर्थः. ननु एवम् अनुपलब्धत्वे स्वप्रकाशत्वहानिः तद्बोधकश्रुतिविरोधः च इत्यतः आहुः **स्वप्रकाशम्** इत्यादि. **अपेक्ष्यते** इति. अदर्शनार्थम् अपेक्ष्यते. तथाच अस्मान् प्रति अप्रकाशत्वेऽपि तस्य स्वप्रकाशत्वहान्यभावाद् न श्रुतिविरोधः इति अर्थः. दिवाभीतानां दिवा तिमिरोपजननाद् अस्ति व्यवधानम् इत्या(दि)शङ्क्य उदाहरणान्तरम् आहुः **नहि** इत्यादि. आकाशस्याऽपि प्रमेयबलाद् ग्रहाणां कारे(?)...उदाहरणसङ्गतिम् आशङ्क्य ततोऽपि अन्यद् आहुः **रसाग्रहणे** इति. तथाच, व्यवधानाभावेऽपि ग्राहकासामर्थ्याद् अप्रकाशनम् एतेषु प्रकाशमानस्याऽपि दृष्टम्, अतः उभयमपि समञ्जसम् इति अर्थः. ननु ''**न तं विदाथ**''(ऋग्वेद १०।८२।७) इति मन्त्रानुरोधेन व्यवधानादेव अग्रहणम् उररीकार्यं, तावताऽपि स्वप्रकाशत्वानुपल(ब्ध)त्वयोः सिद्धेः. अतः प्रकाशनात् च व्यवधानाभावार्थमेव यतनीयं, नतु शब्दब्रह्म प्रकाशनं करिष्यति इति, तूष्णीं स्थेयम्. अतः किं तस्य प्रकाश(क)त्वसाधनेन इत्यतः आहुः **यदपि** इत्यादि.

तदपि स्वप्रकाशस्य सर्वात्मकस्य मनसि चक्षुसि च घटे प्रकाशमानस्य व्यवधायकं न भवति. अथ यदि संयुक्तेऽपि तद् व्यवधायकम् इति मन्यते, तदा चक्षुषाम् अग्रहणमेव श्रौतम् अस्तु, किं व्यवधानेन. ''अन्यद् युष्माकम्'' इतितु भोगेच्छादिकं जातमवे निन्दार्थम् अनूद्यते, नतु भित्यादिवद् व्यवधायकम्. यदपि मायिकं पूर्वम् उक्तं, तदपि अग्रहणादेव. हेतुत्वेन व्यपदेशोऽपि आत्मव्यतिरिक्तस्य सृष्टिपक्षे उपयुज्यते, सृष्टिभेदानां निरूपणात्. अतः शब्देनैव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदपि इति. वाक्योक्तं व्यवधानमपि. तथाच, तस्मिन् मन्त्रे **''य इमा जजान''**(ऋग्वेद १०।८२।७) इति लिङ्गाद् जगत्कर्तृरूपस्यैव तद् व्ययवधायकं, नतु उपादानरूपस्याऽपि; अतः तद्ग्रहणाय शब्दब्रह्मणः प्रकाशकत्वसाधनम् आवश्यकम् इति अर्थः. ननु तस्य अस्य च वस्तुतो भेदाभावाद् अत्रापि व्यवधायकं तद् अस्तु, तथा सति व्यर्थः तत्साधनप्रयासः इत्यतः आहुः **अथ** इत्यादि. **संयुक्ते** इति. चक्षुरादिसंयुक्ते. **अग्रहणम्** इति. **''पराञ्चि खानि''**(कठोप.२।१।१) इति उक्तम् अग्रहणम्. तथाच अत्रापि व्यवधानाङ्गीकारे व्यवधानाग्रहणयोः बाधकयोः उभयत्र आपाते न अन्यतरवैयर्थ्यम् अतः तदभावाय उक्तव्यवस्थैव आदरणीया इति अर्थः. ननु **''पराञ्चि''** इति मन्त्रेऽपि 'अन्तरात्मा' इति पदाद् इन्दियाणां प्रत्यग्ग्रहणासामर्थ्यमेव बोध्यते, नतु संयुक्तग्रहणासामर्थ्यम् इति न व्यवस्था वक्तुं शक्या इत्यतः आहुः **अन्यद्** इत्यादि. इतितु **''ससर्जाऽग्रे''**(भाग.पुरा.३।१२।२) इत्यत्र जातं जीवाज्ञानभेदरूपं भोगेच्छादिकम् अन्यत्र सिद्धं निन्दार्थम् अनूद्यते, 'बभूव' इति पदाद्, नतु भित्त्यादिवद् व्यवधायकत्वेन विधीयते. अतः तस्याऽपि इन्द्रियसामर्थ्यकौण्ठ्यएव उपक्षयाद् व्यर्थं व्यवधायकत्वकल्पनम् इति अर्थः. ननु एवं सति सप्तमाध्याये एतच्छ्रुतिविचारे मायिकं सृष्ट्यन्तरं व्यवधायकं यद् उक्तं, तस्य कथं सङ्गतिः इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यदपि** इत्यादि. **अग्रहणादेव** इति. व्यवधायकम् इति शेषः. तथाच, पार्थक्येन व्यवधायकत्वाकल्पनात् सामर्थ्यकौण्ठ्यएव उपक्षयाद् अनुवादकत्वादेव सङ्गतिः इति अर्थः. ननु 'बभूव' इतिवद् 'व्यतृणद्' इति भूतार्थप्रयोगस्य उभयत्रापि तौल्याद् व्यवधायकस्येव इन्द्रियपराक्त्वस्याऽपि अनुवादएव इति हेतुता कस्याऽपि न स्यात्, तथा सति यद् इति हेतुत्वेन यो व्यपदेशः सः विरुध्येते(ति) चेत् तत्र आहुः **हेतुत्वेन** इत्यादि. **उपयुज्यते** इति. सामर्थ्याभावएव उपयुज्यते. तथाच, पृथग्घेतुत्वपक्षे

ब्रह्मणो भानम्. ‘‘**यतो वाचो निवर्तन्ते**’’ (तैत्ति.उप.२।४) इतितु इन्द्रियरूपा वाग्, लौकिकश्च शब्दः, लौकिकं च मनः, अन्यथा ‘‘**तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**’’ (बृहदा.उप.३।१२।६) ‘‘**मनसैव एतद् आप्तव्यम्**’’ (कठोप. २।१।११) इति विरुद्धम् आपद्येत. माहात्म्यार्थं वा द्वयम्. उभयमपि शब्दब्रह्मणएव ज्ञायते. एतदेव अभिसन्धाय आह **व्यक्ताव्यक्तात्मनः** इति. तस्य शब्दब्रह्मणो हृदयं क्वचिद् व्यक्तं, क्वचिद् अव्यक्तम्, अन्यथा ब्रह्म स्पष्टतया ज्ञातं स्यात्. तथात्वे भगवतएव नियामकत्वम्. तद् आह **परम्** इति. तत्र हेतुः **नानाशक्त्युपबृंहितम्** इति. अनेकाः शक्तयो भगवति वर्त्तन्ते इति तत्तदनुरोधेन तथा-तथा वचनम्, अन्यथा तासां गुप्तशक्तीनां प्रकाशो न स्यात्. अतः प्रकाशनिषेधं न वदति, किन्तु गुप्तानां स्वरूपम् आह. अतो ब्रह्मप्रकाशार्थं प्रवृत्तं शब्दब्रह्म तत्कार्यमपि प्रकाशयति इति. क्रियया प्रकाश्यते ब्रह्मणा, ज्ञानेन प्रकाश्यते वेदेन इति ।।४६।।

एवम् आधिदैविकसृष्टिम् उक्त्वा सात्त्विकीम् आधिभौतिकीं सृष्टिम् आह

ततोऽपराम् उपादाय स सर्गाय मनो दधे ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्यतरवैयर्थ्यात् परस्परोपकारकत्वम् उभयोः वक्तव्यम्. तत्रापि सूक्ष्मेक्षिकायां व्यवधानं प्रति असामर्थ्यस्य न उपकारकत्वम्, अपितु असामर्थ्यं प्रत्येव तस्य उपकारकत्वम्. अतः आत्मसृष्टिपक्षे अग्रहणादेव अज्ञानं, व्यतिरिक्तसृष्टिपक्षेतु तदपि एतद् उपकारकम् इति उभयथाऽपि शब्दब्रह्मणैव तन्निवृत्तिः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. शब्दब्रह्मणः परप्रकाशकत्वे ‘‘**यतो वाचः**’’(तैत्ति.उप. ३४।२।४) इत्यस्य वाक्यस्य विरोधः इत्यतः आहुः **यतः** इत्यादि. तथाच, तत्र अर्थस्य भिन्नत्वाद् न विरोधः इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे ‘शब्दोऽपि बोधकनिषेधतया आत्ममूलम् अर्थोक्तम् आह’ इति वाक्यविरोध(क) इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **माहात्म्यार्थं वा द्वयम्** इति. तथाच, वेदेनाऽपि स्वसामर्थ्यानुसारेण बोध्यते, नतु इदम् इत्थम् इति कात्स्र्येन बोधयितुं शक्यते इति माहात्म्यबोधनार्थं विरुद्धधर्माश्रयत्वरूप-माहात्म्यबोधनार्थं च विरुद्धं वाक्यद्वयम् इति न तस्याऽपि विरोधः इति अर्थः. **त(था)त्त्वे** इति. व्यक्ताव्यक्तहृदयत्वे. स्फुटम् अग्रिमम्।।४६।।

।।इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वादशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गम् अविस्तृतम् ।।४७।।

ततो अपराम् उपादाय इति. **अपरां** तनुम् **उपादाय** अन्यादृशीं सृष्टिं कर्तुं **मनो दधे.** ननु एतावतैव मरीच्यादिद्वारा सृष्टिः भविष्यति इति किं प्रकारान्तर–सृष्ट्या? इति आशङ्क्य आह **ऋषीणाम्** इति. यद्यपि भूरिवीर्याणि येषां नहि मदपेक्षया ते वीर्यवन्तः, उत्पादिताः वा पञ्चषाः, तैः किं? तावता सर्गस्य विस्तारस्तु न भविष्यत्येव, प्रकारस्य अनुत्पादितत्वात्. अतः प्रकारकरणार्थं शरीरान्तरेण कार्यं कर्तुं मनो दधे इति अर्थः।।४७।।

''अशक्ये हरिरेव अस्ति'' इति न्यायम् आश्रित्य पूर्वं तपसि अल्पीयसि कृते प्रसन्नोऽपि भगवान् पुनः तपः आदिष्टवान्. तथा अत्रापि, यद्यपि प्रकारः कर्त्तव्यः इति निश्चितं, तथापि कः प्रकारः कर्तव्यः इति भूयः चिन्तयामास इति आह

ज्ञात्वा तद्धृदये भूयः चिन्तयामास कौरव! ।
अहो! अद्भुतम् एतद् मे व्यापृतस्याऽपि नित्यदा ।।
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवम् अत्र विघातकम् ।।४८।।

ज्ञात्वा इति. यस्मिन् स्वरूपे चिन्तिते उपायः कर्तव्यः इति ज्ञातं, पुनः तदेव हृदये चिन्तयामास. **कौरव** इति आपाततो न कार्याद् निवृत्तिः कर्तव्या, किन्तु आदेहपातपर्यन्तं कार्यं कर्तव्यम् इति; यथा कुरुणा कृतम् इति इमम् अर्थं ज्ञापयति. तस्य चिन्तामेव आह **अहो** इति. कृतोऽपि प्रकारः भगवदानुगुण्याभावे न सेत्स्यति, अन्यथा उत्पादितैरेव सर्वैः सर्वकरणे जगत्पूरितमेव स्यात्. अहम् एकएव यथा कृतवान् तथा एतेऽपि मरीच्यादयो बीजरूपाः कुर्युः, तदा एतावता सर्वमेव पूरितं भवेद्, अतः किञ्चिद् अस्ति प्रतिबन्धकम्. तत् चिन्तनेन ज्ञात्वा आश्चर्येण आह [क]**अद्भुतम्** इति. यएव भगवान् सृष्ट्यर्थम् आज्ञापितवान्, सएव प्रतिबध्नाति इति. नच सहकार्यभावः शङ्कनीयः इति आह **व्यापृतस्याऽपि नित्यदा** इति. सर्वदा व्यापृतस्याऽपि **मे प्रजाः, हि** निश्चयेन, **न एधन्ते** वृद्धिं न प्राप्नुवन्ति. अतो दृष्टस्य प्रतिबन्धकस्य अभावाद् दैवमेव विघातकम् ।।४८।।

एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ।
कस्य रूपम् अभूद् द्वेधा यत् कायम् अभिचक्षते ।।४९।।

क. 'अत्यद्भुतम्' इति मां.१–३,जु. पाठः.

एवं निश्चित्य भगवदाज्ञां युक्तप्रकारेण कुर्वन् स्थितो भगवच्चिन्तनमेव कृतवान्. **तदा तस्य एवं** प्रकारेण **युक्तकृतः** कदा भगवान् प्रसन्नो भविष्यति? इति **दैवं च अवेक्षतः,** तस्य अशक्तिं ज्ञात्वा, भगवानेव **कस्य** ब्रह्मणः, रूपं द्विधा कृतवान्. तदा तस्य रूपं **द्वेधा अभूत्.** तदा तच्छकलद्वयं **कायम् अभिचक्षते** लोकाः. का इयम्? को अयम्? इति वक्तव्ये, एकस्य विशेष्यम्, अपरस्य विशेषणं लोपयित्वा द्वयम् एकीकर्तुं **कायम्** इति आहुः. अनेन स्त्री स्वतो विशेष्यरहिता, पुरुषश्च विशेषणरहितः. अतः उभयं मिलितं 'काय'शब्दवाच्यं भवति ।।४९।।

ततः किं जातम् इत्यतः आह

ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ।
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभूद् मनुः स्वायंभुवः स्वराट् ।।५०।।
स्त्री याऽऽसीत् शतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ।
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे ।।५१।।

ताभ्याम् इति. रूपस्य विभागाभ्यां शकलाभ्याम्. **ताभ्याम्** इति भगवत्कृताभ्याम्, अन्यथा कार्यनाशे शकलाभ्यां न किञ्चिद् उत्पद्येत. अतो भगवत्कृताभ्यां शकलाभ्याम् एकं **मिथुनं समपद्यत.** मिथुनम् एकं कार्यम्, अन्यथा पुरुषो अद्र्धखण्डएव, "**अद्र्धवृगलम्**" (   ) इति श्रुतेः. **समपद्यत** इति. भगवत्कृतम् अनायासेनैव जातम् इति, ततोऽपि अग्रे कार्यं भविष्यति इति ज्ञापितम्. तद् वृगलद्वयं नाम्ना निर्दिशति **यस्तु** इति. तयोः मध्ये **यः पुमान् सः मनुः** मननाद् जातः इति. या सृष्टिप्रकाररूपा, सा स्त्री. '**शतरूपा**' इति **आख्या** नाम यस्याः सा आसीद् इति. 'मनु'शब्दो यौगिकः इति **स्वायंभुवः** इति उक्तम्. **स्वराड्** इति भगवदंशाद् जायते इति ज्ञापयति, ऐश्वर्यादिगुणवत्त्वात्. अतः तेनापि सृष्टिः सेत्स्यति इति भावः. शतानि रूपाणि यस्याः इति नित्यनूतनत्वेन मनोः भोगाधिक्यं सृष्ट्याधिक्यञ्च सूच्यते. **महिषी** सर्वकामदोग्ध्री. निरूपणसमये भगवदीयत्वेन भगवति प्रविष्टत्वाद्, यत्र-यत्र भगवान् तत्र-तत्र सः इति, **अस्य** इति उक्तम्. इममेव अर्थं ज्ञापयति **महात्मनः** इति. महान् भगवान् आत्मा यस्य. तस्य मिथुनस्य बीजत्वं ख्यापयति **तदा** इति. **मिथुनं** मिथुनीभावः, सएव **धर्मः** उपायः. तदा आनन्दे निविष्टाः प्रजाः **एधाम्बभूविरे.** इममेव अर्थम्,

‘‘**आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते**’’ (तैत्ति.उप.२।४) इति ‘हि’शब्दः सूचयति. अत्रापि ‘हि’शब्दः तमेव अर्थम् आह. स्वतएव एधाम्बभूविरे, न आज्ञादिकमपि तत्र अपेक्षितम् ।।५०-५१।।

एवं मैथुनस्य प्रकारत्वम् उपपाद्य प्रथमे तं प्रकारं योजयति

स चाऽपि शतरूपायां पञ्चाऽपत्यान्यजीजनत् ।
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत! ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम! ।।५२।।

सः चाऽपि इति. **सः** बीजभूतोऽपि, **च**काराद् भगवानपि. अतः तत्पुत्रयोः द्विरूपत्वम्. मनुप्राधान्ये उत्तानपान्मुख्यः, सः विसर्गोपयोगी. भगवत्प्राधान्ये प्रियव्रतः, सः स्थानोपयोगी. कन्या च एका. भगवदीया द्वितीया, अतः तस्याः प्राधान्यं, परं सर्गोपयोगित्वाद् अत्रैव कथनम्. तृतीया कन्या स्त्रीप्रार्थनया. एवं समुदायेन पञ्चाऽपत्यानि. **शतरूपायाम्** इति तस्याः अधिकरणत्वमेव, नतु जनकत्वम्. तेन पञ्चाऽपत्यान्यपि न प्राकृतानि इति ज्ञापितम्. **प्रियव्रतोत्तानपादौ** [१]पुत्रौ. पुरुषैः सह स्त्रीणां नाम न ग्राह्यम् इति **तिस्रः कन्याः** इति उक्तम्. **भारत** इति. मोहाभावाय. स्त्रीप्रसङ्गोऽपि मोहहेतुः. तासां नामानि निर्दिशति **आकूतिः** इति. ‘इति’शब्दो नामान्तरव्युदासार्थः. **सत्तम** इति पुनः सम्बोधनं पूर्ववत् पुरुषसम्बन्धकथनात् ।।५२ ।।

तासां विनियोगम् आह

आकूतिं रुचये प्रादात् कर्दमाय तु मध्यमाम् ।
दक्षायाऽदात् प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ।।५३ ।।

आकूतिम् इति. **रुचिः** ब्रह्मपुत्रः कल्पान्तरोत्पन्नः. **कर्दमायतु** इति ‘तु’शब्दः स्वापत्यतां वारयति. कर्दमोऽपि छायया जातः, छायायां कालएव उत्पादको भगवद्रूपः. अतो न अधर्मसम्बन्धः केनापि अंशेन. **मध्यमाम्** इति महत्या नाम पुनः-पुनः न ग्राह्यम् इति सूचयति. **प्रसूतिः** इति नाम्ना स्त्रीप्राधान्याद् उत्पन्ना देयैव इति. गुणान्तराभावेऽपि चातुर्यमेव दक्षे अस्ति. अङ्गुष्ठाद् जातः इति भगवज्जातत्वम् ‘‘**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः**’’(महाना.उप.१६।३) इति श्रुतेः. अतः **प्रसूतिं दक्षाय अदाद्** इति.

१.पुरुषौ. क.मां१-३,जु.

प्रसूतिं च अदाद् इति **च**कारसम्बन्धः, नतु दक्षाय प्रसूतिं च इति. ततो यद् जातं तद् आह **यतः आपूरितं जगद्** इति. महाभूतानां विस्तारेण यथा जगत् पूर्यते तथा पञ्चभिरेव जगत् पूरितम् इति ।।५३।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे द्वादशाध्यायविवरणम् ।।

।। त्रयोदशाध्यायविवरणम् ।।

एवं द्वादशधा सर्गः त्रिविधो ह्युपपादितः।
तस्य कारणरूपं हि यादृशं तद् इहोच्यते।।१।।
सर्ववेदार्थरूपो हि वराह इति विश्रुतः।
सएव कारणं सृष्टौ वैदिक्याम् इति निश्चयः।।२।।
अन्यथा प्राकृती सृष्टिः स्वप्नतुल्यैव सा भवेत्।
अतो वैदिकसृष्टित्व–ज्ञापनाय वराहता।।३।।
भूमिस्तु देवयजनं रोमभिर् बर्हिषो भवः।
पात्राणि सर्वावयवैः तेन यज्ञः त्रयोदशे।।४।।
सृष्ट्यर्थं तस्य भवनम् इत्यर्थं सङ्गतिस्तथा।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ त्रयोदशाध्यायं विवरिषवः सङ्गतिं वक्तुं पूर्वेषाम् अर्थम् अनुवदन्तः प्रस्तुताध्यायार्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि. तथाच, हेतुता अत्र सङ्गतिः इति अर्थः.

ननु वराहरूपस्य कथं सर्गकारणता? इत्यतः आहुः **सर्वे**त्यादि. तथाच, सर्ववेदार्थरूपत्वेन कारणता इति अर्थः.

ननु एवं रूपेण कुतः कारणता? इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **अन्यथा** इति. यदि उपादानत्वेन रूपेण भगवान् सर्ववेदार्थरूपो न प्रविशेत्. **प्राकृती** इति हेतुगर्भं विशेषणम्.

ननु वराहस्य कथं सर्ववेदार्थरूपता? इत्यतः आहुः **भूमिः** इत्यादि. तथाच, यज्ञरूपत्वाद् वेदार्थरूपता इति अर्थः.

ननु भवतु एवं, तथापि वराहप्राकट्यकथनस्य किं प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः **सृष्ट्यर्थम्** इत्यादि. **सृष्ट्यर्थम्** इति. यज्ञोत्पत्त्यर्थम्. तथाच, यदि वराहरूपेण भगवान् न प्रकटो भवेत्, तदा यज्ञप्रवृत्तिः न स्याद्, अतः **इत्यर्थम्** एतदर्थं तस्य भवनं, यतः सङ्गतिः कार्येण कार्यस्य सम्बन्धः तथा अन्तःप्रवेशरूपः. अतः इदं प्राकट्य-प्रयोजनम् इति अर्थः.

ननु अस्तु एवं शास्त्रसङ्गतिः, तथा कथासन्दर्भस्तु न सङ्गच्छते. तथाहि, एकादशाध्यायान्ते “**पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो द्वितीयोऽद्य प्रवर्तते**”(भाग.पुरा. ३।११। ३३) इत्यत्र ‘अद्य’ इति पदाद् द्वितीयपरार्धस्य प्रथमदिवसो अयं महाकल्पः इति

ब्रह्मणा सह संवादो मनोः कल्पान्तरे पुनः।।५।।
रसातलान्तपर्यन्तं पृथिवी पूर्वमुद्धृता।
पञ्चाङ्गुल्या पञ्च लोका ह्युद्धृता अतलादयः।।६।।
यज्ञभूमित्वसिद्ध्यर्थं पुष्करे प्रथनं ततः।
एषा स्थितिः पूर्वकल्पे रसातलगता ततः।।७।।
प्रजापतेरुद्धृतत्वाद् निराधारा जलं विशेत्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञायते. सच वराहकल्पात्मा, ''**अयंतु कल्पः**''(भाग.पुरा. ३।११।३६) इत्यत्र तथा कथनात्. अत्र च चतुर्दशलोकसृष्टिः वक्तव्या, सातु न उक्ता; ''**एवं व्यभाङ्क्षीद् उरुधा**''(   ) इतितु पद्मकल्पीयम्; अतो द्वादशाध्यायीया सृष्टिः किम् आधारा? अथ तदर्थापत्त्या आधाराः कल्प्याः, तदा तेषां विद्यमानत्वाद् भूमज्जनबोधको मनुब्रह्मसंवादो अनुपपन्नः. किञ्च, हिरण्याक्षयुद्धमपि तथा. सहि मनुपुत्रीवंशे उत्पन्नः. मनुस्तु इदानीम् आज्ञया अपत्यानि उत्पादयिष्यति इति तदाद्युत्पत्तेरेव अभावेन युद्धस्य दूरनिरस्तत्वात्. इति आशङ्काद्वयं निराकुर्वन्ति **ब्रह्मणा** इत्यादि. पूर्वकल्पे उत्पन्नस्य तस्यां पञ्च अपत्यानि उत्पाद्य, स्वाधिकारं सर्वं निर्वर्त्त्य, रात्रौ सत्यलोके स्थितस्य सभार्यस्य सापत्यस्य **मनोः पुनः कल्पान्तरे** प्रातः **ब्रह्मणा संवादः**, द्वितीयकल्पे त्वत् शुश्रूषा किं पूर्ववदेव कार्या, उत अन्यथा इति आशयेन विज्ञापनं, ब्रह्मणः च पूर्ववदेव इति आज्ञापनम् इति एतद्रूपः, श्रुतार्थापत्त्यैव प्रमातव्य इति अर्थः. नच अपत्योत्पादनाज्ञाविरोधः इति वाच्यं, ''**सदृशान्यात्मनो गुणैः**''(भाग.पुरा.३।१३।११) इति अपत्यविशेषणेन उत्तमादिभिः त्रिभिः मन्वन्तराधिपैः तत्सिद्ध्या विरोधाभावात्. मार्कण्डेयरौचस्य(?)तिरिक्तस्य कण्ठतः उक्तत्वेन तद्वदेव तस्मिन् कल्पेऽपि मन्वन्तरान्तरस्य अर्थापत्त्यैव शक्यकल्पनत्वाद् इति.

अर्थापत्त्यैव पूर्वकल्पीयलोकादिव्यवस्था सिध्यति इति तां व्युत्पादयन्ति **रसातले**त्यादिपदोनाभ्याम्. अत्र पञ्चलोकोद्धारः पुराणान्तरात् श्रुत्यन्तराद् वा बोध्यः. पुष्करपर्णे प्रथनन्तु तैत्तिरीये श्रावितम्. ''**स वराहो रूपं कृत्वोपन्न(?)मज्जत्, तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयद्, यद् अप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्**''(तैत्ति.ब्राह्म. १।१।३।६) इति. कल्परात्रिव्यवस्थाम् आहुः **रसातले**त्यादि. ततः तस्य कल्पस्य प्रलये **प्रजापतेः** प्रजापतिना यस्य पर्णे प्रथिता तेन पुष्करेण पूर्वकल्पे लोककरणे

वराहकल्पे प्रथमे सर्वोत्पत्तिः विनिश्चिता।।८।।
ततः तद्भेदकल्पेषु नष्टोत्पत्तिः न सर्वतः।
प्रक्रियान्तरभावेन ततः सृष्टिः इहोच्यते।।९।।
हिरण्याक्षादिदैत्यानां रसातलगता स्थितिः।
अपेक्षितानाम् अर्थानां भिन्नकल्पेऽपि सम्भवे।।१०।।
लीलाकथनसिद्ध्यर्थम् एकरूपेण वर्ण्यते।
अतो नाऽत्र विरोधोऽस्ति केनाप्यंशेन निश्चितम्।।११।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्सारस्य उद्धृतत्वात्, तस्य निःसारत्वेन स्थापनाशक्त्या, **निराधारा** सती जलं विशेत्. हेतुमति लिङ्. अविशद् इति अर्थात्.

तेन यत् सिद्धं तद् आहुः **वराहे**त्यादि. तथाच ''**प्लाव्यमाना रसां गता**'' (भाग.पुरा.३।१३।१७) इति वाक्यार्थापत्त्या सर्वोत्पत्तिः विशेषेण निश्चिता. **ततः** तदनन्तरं **तद्भेदकल्पेषु** तदीयावान्तरकल्पेषु एवम् उच्यते इत्यादि.

अत्र एवम् अर्थः सम्पद्यते पद्मकल्पप्रलये सर्वनाशे जाते, वराहकल्पारम्भे, पातालं, रसातलं, सत्यलोकञ्च सारवता कमलपर्णेन निर्माय, शीर्णकमलांशजातां मृदं पञ्चाङ्गुलिभिः उद्धृत्य, तया अतलादीन् निर्माय, शिष्टां च मृदं यज्ञभूमित्वार्थं वराहरूपेण पुष्करपर्णे प्रथयित्वा स्वयं सत्यलोकस्थितो अन्यान् स्वरादिलोकान् कृत्वा, ततो अविद्यादिमन्वन्तान् गृहीत्वा तत्र सुप्तः. तदा तस्य कल्पस्य प्रलये मनु-कश्यपादीनां यथायोग्यम् उपरिस्थितिः, दित्यादीनां रसायाम्, अन्येषान्तु नाशः. ततः आदिवराहकल्पीयरात्रिनिवृत्तौ वराहकल्पप्रातःकालभूमिमज्जनाज्ञानाद् आज्ञापनं, मनुषु स्वायम्भुवाधिकारस्यैव प्राथम्यम् इति नियमस्य ''**चाक्षुषोदधि-संप्लवे**'' (भाग.पुरा. १।३।१५) इत्य(त्र) निरस्तत्वेन मनोस्तु सायं समागमाद् मज्जनज्ञानम् अस्ति इति तद् विज्ञापनं, ततः चिन्ता, आदिवराहप्राकट्यं, ततो रसायाः भूम्यानयने तत्र वर्तमानेन हिरण्याक्षेण युद्धम् इति विरोधो न कोऽपि. एवं भिन्नकल्पीयानाम् एकभावेन कथनं पुराणत्वात्, ''**श्रुतौ स्मृतौ पुराणे च कालत्रयम् उदीर्यते, भूतं भव्यं भवच्चैव संशयं मा वृथा कृथाः**''(   ) इति उमां प्रति काशीखण्डे शिववाक्यात्. तस्य अत्र कथने प्रयोजनम् आहुः **अपेक्षितानाम्** इत्यादिसार्धेन.

एवं पूर्वाध्यायान्ते सृष्टिनिरूपणार्थं मनुः उक्तः. तस्य कथं सृष्टिहेतुत्वम्? इति विचारः कर्तव्यः.

यद्याधिदैविको देवः तदर्थं सम्भविष्यति।
कामादयश्चेत् प्रबलास्तस्मात् सृष्टिः तदा भवेत्।।१।।
तत्रापि कामजनितो दोषश्चेद् न भविष्यति।
अतो द्वितीयसृष्ट्यर्थम् उपोद्घातद्वयं स्मृतम्।।२।।
प्रथमेऽप्यत्र भावेन बीजमेतद् द्वयं मतम्।
कारणद्वितयं लोके भगवान् जीव एव च।।३।।

अतो मनोः सृष्टिहेतुत्वसिद्ध्यर्थं सर्गद्वयमध्ये तस्य स्वरूपं निरूप्यते. इदं चरित्रं भगवदीयम् इति ज्ञापयितुं स्वस्य दोषपरिहाराय विदुरमुखेन निर्णयं वदन् तत् प्रसङ्गमेव निरूपयति **निशम्य** इति.

श्रीशुकः उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप!।
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः।।१।।

वदतो मुनेः वाचं निशम्य. मुनिः मननेन यद् अबाधितं, भगवदाज्ञया प्रकटीकरणार्थम् आगतं, तदेव वदति इति तद्विस्तारः तेन अवश्यं [क]कर्तव्यः इति अभिप्रेत्य **भूयः पप्रच्छ.** किञ्च, **पुण्यतमां वाचं** स्वाधिकार-प्रवृत्तिक्रियारूपाम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवं मैत्रेयोक्तं सङ्गमय्य शुकोक्तौ मनुकथासङ्गतिम् आहुः **एवम्** इत्यादि. **विचारः** चिन्तोपोद्धातरूपा.

तस्य आकारम् आहुः **यदीया**(त्या)दित्रयेण. **द्वयम्** इति. भगवत्प्रादुर्भावो निर्दोषकामादिप्राबल्यं च इति द्वयम्. तत्रापि द्वितीये हेतुद्वयम्. भगवत्प्रादुर्भावे सेवार्थं सेवकावश्यकत्वं, फलतः कर्मादिनाशस्य सेवकोत्पत्त्यानुकूल्यं च इति. **अत्र** इति. सर्गे. **भावेन** इति. कारणत्वेन. तदेव स्फुटीकुर्वन्ति **कारणे**त्यादि. **अतः** इति. भगवत्प्रादुर्भावानुकूलत्वाद् जीवत्वाच्च.

निशम्य इत्यत्र. **इदम्** इति. मिथुनीभावरूपम्. **स्वाधिकारे**ति. राज्याधिकारेति अर्थः।।१।।

क. 'वक्तव्यः' इति मां.१,३ पाठौ.

नृप! इति सम्बोधनं राज्ञः, कथाश्रवणं राज्ञां सुखकरम् इति ज्ञापकम्. विदुरस्य **कौरव्ये**ति विशेषणं दृढकर्तृत्वख्यापकम्. **वासुदेवकथादृतः** इति प्रसङ्गादपि वासुदेवकथां [१]कथयिष्यति इति, राजचरित्रप्रश्नः, नतु राजभावेन।।१।।

तस्य कार्यं चरित्रं च श्रोतव्यत्वञ्च रूप्यते श्लोकत्रयेण, तत्र प्रथमं तस्य पूर्वस्थितिम् अनूद्य कार्यं पृच्छति **सच** इति.

विदुरः उवाच।

स च स्वायंभुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयंभुवः।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने! ।।२।।

द्विरूपत्वं ज्ञातम् इति ख्यापनार्थं **च**कारः. **स्वायंभुवः सम्राड्** इति उभयानुवादः. अतएव स्वयंभुवः पुत्रो भगवदीयः इति. तस्यैव **प्रियः** च. पूर्वं स्वायंभुवत्वम् अनूद्य तस्य भगवदीयत्वं विहितं, तेन भगवदीयत्वं मुख्यम्. अतः चरित्रश्रवणे हेतुत्वेन प्रथमम् उक्तः, पश्चात् सृष्टिहेतुत्वार्थं भगवदीयत्वम् अनूद्य ब्रह्मणः पुत्रत्वं विधीयते. अतो न पौनरुक्त्यम्. **प्रियां पत्नीम्** इत्यत्रापि द्विरूपता. भगवदीयत्वात् प्रियात्वं, पतनात् पत्नीत्वम् इति. प्रतिलम्भः पुनः प्राप्तिः, कल्पान्तरेऽपि तद्भावेनैव प्राप्तत्वात्. उभयं मिलित्वा **किं चकार?** इति प्रश्नः. ननु मेलनमेव सुखात्मकमिति न किञ्चित् करिष्यति इति आशङ्क्य **ततः** इति उक्तम्. **मुने!** इति सम्बोधनं तस्य परिज्ञानार्थम्. कथं सः सृष्टिं कृतवान्? इति प्रश्नः।।२।।

चरित्रं पृच्छति **चरितम्** इति.

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम! ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ।।३।।

तस्य इति. भगवदीयत्वं चरित्रश्रवणे हेतुः. **राजर्षेः** इति धर्महेतुत्वम्. **सत्तम!** इति मिथुनवार्तया क्षोभाभावात् चरित्रं वक्तव्यमेव इति निर्द्धारितम्. कथने हेतुः **श्रद्दधानाय** इति. श्रद्धायां हेतुः **विष्वक्सेनाश्रयः** इति. तत्रापि हेतुः **असौ** इति. भगवतः उत्पन्नएव भगवदाश्रयो भवति, आश्रितएव भगवदीयचरित्रे श्रद्दधानो भवति।।३।।

---

१ .करिष्यति ग.

भगवदीयानामपि चरित्रं श्रोतव्यम्. निराश्रयं चरित्रं स्वस्य आश्रयत्वं न सम्पादयति, ततो न स्थिरं भवेत्. अतो महता कष्टेन श्रुतमपि भगवच्चरित्रम् अस्थिरत्वाद् न फलपर्यवसायीति भगवदीयानां चरित्रं श्रोतव्यम्. एतदेव आह

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।

तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम्।।४।।

श्रुतस्य इति. **ननु** इति कोमलसम्बोधनेन अनुभवो अत्र प्रमाणम् इति सूचितम्. **श्रुतस्य** भगवद्गुणानां श्रवणस्य, अग्रे वक्ष्यमाणएव, **अर्थः** प्रयोजनं भवति इति **सूरिभिः ईडितः**. अध्ययनादिना बुद्धिवैशद्यहेतुना यः कश्चन पदार्थः श्रुतः तस्य वा फलम् अग्रिमवार्त्ताविशदा बुद्धिः भगवद्गुणानां स्थित्यर्थे. पुष्कलापि बुद्धिः अनेकगुणानां ग्रहणार्थे. महता श्रमेण श्रवणस्य ग्राहकत्वमपि भगवदर्थमेव. भगवदीयाः गुणाः श्रुताः स्थिराः फलपर्यवसायिनो मृग्यन्ते. तत्र स्थैर्यं भगवदीयचरित्रहेतुकम् इति प्रथमतः श्रुतं चरित्रं स्वस्थित्यर्थं भगवदीयचरित्रश्रवणे रुचिम् उत्पादयति, अतो भगवच्चरित्रस्याऽपि भगवदीयचरित्रश्रवणं फलम्. सुष्ठु चिरं श्रमो यस्मिन्. **अञ्जसा** सामस्त्येन. सूरयो हि साधनमेव स्तुवन्ति, न फलं, साधनाधीनत्वात्, तम् अर्थम् आह **तत्तद्गुणानुश्रवणम्** इति. येन-येन गुणेन भगवद्भक्तसम्बन्धिना भगवच्चर-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रुतस्य इत्यत्र. श्रोतव्यत्वं व्युत्पादयन्ति **भगवदीयानाम्** इत्यादि. तत्र 'क्त'प्रत्ययस्य भावे कर्मणि च अनुशिष्टत्वात् 'श्रुत'पदेन श्रवण तद्विषयश्च उच्यते इति द्वयं क्रमेण आहुः **श्रुतस्य** इत्यादि. **अध्ययने**त्यादि च. कथम् ईडितः इति आकाङ्क्षायां 'श्रुतस्य' इत्यादिपदार्थविचारेण प्रकारम् आहुः **अग्रिमे**त्यादि. **अग्रिमवार्त्ताविशदा** इति. अध्ययन-स्थानापन्ना या प्राथमिकी भगवद्वार्ता, तया निर्मला. 'श्रुत'पदस्य वेदाद्यध्ययनवाचकत्वम् अङ्गीकृत्य तज्जनितबुद्धेः फलम् आहुः **पुष्कलाऽपि** इत्यादि. **पुष्कला** इति. अध्ययनादिना प्रौढा. श्रमस्य सप्रयोजनस्याऽपि प्रयोजनम् आहुः **महता** इत्यादि. **ग्राहकत्वम्** इति. शब्दनिश्चयजनकत्वम्. ननु एवं सर्वैः प्रकारैः श्रुतादीनां भगवदर्थत्वे भगवदीयानां चरित्रस्य कथं श्रोतव्यता इत्यतः आहुः **भगवदीये**त्यादि **फलम्** इत्यन्तम्. तथाच अतः श्रोतव्यता इति अर्थः. तादृशस्य तस्य साधनस्य उत्कर्षं व्युत्पादयन्ति **येन** इत्यादि.

णारविन्दं तेषां हृदये तिष्ठति, सः तदीयो गुणो भगवच्चरणारविन्द-स्थापकः श्रवणस्य फलम्. पूर्वश्रवणस्य तत्तद्गुणानुश्रवणं फलम् इति सजातीयत्वाद् न विरोधः. भगवदीयाएव गुणाः भक्तेषु स्थिताः तथा भवन्तीति न विरोधः. फलमुखेन गुणानां निरूपणाद् न गुणान्तरोद्भावनेन दूषणं शङ्कनीयम्. तस्माद् भगवच्चरणारविन्दस्थापकाः गुणाः श्रोतव्याः[१] इति मनोः चरित्रस्य श्रोतव्यत्वम्. अनेन प्रियत्वादिकमपि तस्य सूचितम्।।४।।

एवं भगवच्चरित्रश्रवणपरं श्रोतारम् उपलभ्य संतुष्टो मैत्रेयः इति आह

श्रीशुकः उवाच।

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम्।

प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ।।५।।

इति ब्रुवाणम् इति. **विदुरम्** इति भगवदाज्ञापनविषयत्वं बोधयति. **विनीतम्** इति स्वतोऽपि कथेन हेतुत्वम्. **सहस्रशीर्ष्णः चरणोपधानम्** इति शास्त्रार्थतोऽपि तदाज्ञापरिपालनं कर्तव्यम् इति महत्त्वम्. यथा भगवच्चरणस्थापकाः गुणाः, तथा विदुरः इति. कृष्णः साक्षाद् भगवान्, अतः "**सहस्रशीर्षा**" (ऋग्वेद मं.१०।९०।१) इति उच्यते. तस्य चरणोपधानं विदुरः. चरणः उपधीयते अस्मिन् इति. यदा भगवान् पादं प्रसारयति, तदा विदुरोत्सङ्गे प्रसारयति इति. अतएव विदुरे आवश्यकगुणत्रयस्य विद्यमानत्वाद् भगवत्कथायाः वचनावश्यकत्वं ज्ञात्वा **प्रहृष्टरोमा** जातः. यतो भगवत्कथायां प्रकर्षेण नीयमानः, स्वभावतो **मुनिः** अभितो **अचष्ट** हेतुपूर्वकं सर्वम् उक्तवान्. विपरीतं भगवच्चरित्रं, यद् विदुरसङ्गाद् उत्तरोत्तरं मैत्रेयो भक्तो जायत इति. यथा तद्गतं ज्ञानम् अत्र संक्रमते, तथा विदुरभक्तिरपि इतरत्र. अतः **प्रहृष्टरोमा** ।।५।।

ब्रह्मप्रार्थनया सृष्टिं करिष्यति इति कथनार्थं ब्रह्मप्रसङ्गम् आह **यदा** इति.

मैत्रेयः उवाच

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदीयः इति. भगवदीयनिष्ठः. **श्रवणस्य** इति. तच्चरित्रश्रवणस्य. **पूर्वश्रवणस्य** इति. भगवद्गुणश्रवणस्य असजातीयत्वं स्फुटीकुर्वन्ति **भगवदीयाः** इत्यादि।।४।।

१.ध्यातव्या क. घ.

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायंभुवो मनुः।

प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भम् अभाषत।।६।।

स्वभार्यया साकम् इति अनिषिद्धप्रजोत्पादन–सामग्रीसहितः. **मनुः** इति स्वभावतो धर्मपरत्वम्. **स्वायंभुवः** इति अन्यथा अनिष्कृतः स्यात्, तेन सृष्ट्यर्थमेव उत्पादनात्. विज्ञापनार्थं **प्राज्जलिः प्रणतश्च** मनोवाग्भ्याम्. कायवाङ्मनोभिः नम्रता सूचिता. **इदं** वक्ष्यमाणम्. स्रष्टुः ज्ञानवत्त्वम् आह **वेदगर्भम्** इति।।६।।

विज्ञापनाम् आह. **त्वमेकः** इति द्वाभ्याम्.

पुत्रस्य कार्यद्वितयं पितृशुश्रूषणं पुरः।

तदाज्ञाकरणं चेति द्वयं सन्दिग्धमत्र हि।।१।।

अतो अत्र प्रथमं पृच्छति यद्यपि तव शुश्रूषा अपेक्षा न अस्ति, त्वयैव सर्वे सर्वभावेन उत्पाद्यन्ते पाल्यन्ते च. अतो अस्माभिः त्वदुत्पन्नैः त्वया च परिपालितैः, का शुश्रूषा तव भविष्यति? तथापि अस्माकं स्वनिष्कृत्यर्थं पितृशुश्रूषणं कर्तव्यम् इति शुश्रूषणं वक्तव्यम्. शुश्रूषणं च तदेव येन सेव्यस्य सुखं भवति, परितुष्यति च. तद् अज्ञातम् अस्माकमिति प्रश्नः. निरपेक्षतायां हेतुत्रयं सर्वभूतानां जन्मदातृत्वं, वृत्तिदातृत्वम्, असहायशूरत्वञ्च. तत्र असहायशूरत्वं जन्मादेरपि प्रयोजकमिति प्रथमम् आह **त्वम् एकः** इति.

मनुः उवाच

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता ।

अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ।।७।।

त्वमेव एकः समर्थः सर्वत्र, किं सेवया. किञ्च, त्वमेव एकः **सर्वभूतानां जन्मकृद्** उत्पादकः. **वृत्तिः** जीविका, तां प्रयच्छति इति **वृत्तिदः**, अतो न सेवापेक्षा. किञ्च, **पिता** भवान्, सर्वभूतानामेव. स्नेहो अनेन निरूप्यते, प्रतिबन्धकः सेवायाम्. **अथापि** प्रयोजनाभावे प्रतिबन्धके च विद्यमाने, **नः प्रजानाम्** उद्धारार्थे **ते शुश्रूषा केन वा भवेत्?** तत् कथय इति आर्थिको अर्थः ।।७।।

किञ्च, आज्ञापनं च कर्तव्यं, परं यत्र कार्ये अस्माकं शक्तिः इति आह **तद् विधेहि** इति.

तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत् कृत्वेह यशो विष्वग् अमुत्र च भवेद् गतिः ।।८।।

ननु सेवा–कार्ययोः स्पष्टयोः कथम् अज्ञानं? तत्र आह **नमः तुभ्यम्** इति. एतावद् अस्माभिः कार्ये सेवायाञ्च ज्ञातं यत् त्वं नमस्यः इति. नमनातिरिक्तम् अशक्यम् अप्रयोजकञ्च, तथापि यदि प्रयोजकत्वेन ज्ञायते, शक्यं वा भवेत्, तद् वक्तव्यम् इति अभिप्रायेण आह **कर्मसु** इति. स्तोत्रमपि सर्वैरेव स्तुतस्य अशक्यमेव. तद् आह **ईड्य** इति सम्बोधनेन. **आत्मशक्तिषु**. आत्मनः सामर्थ्यं येषु, स्वशक्येषु इति अर्थः. तत्रापि यो भवति धर्मजनकः, यो वाऽपि अपकीर्त्त्यजनकः, लोकवेदाविरुद्धः इति अर्थः. **विष्वग्यशः** इति एकदेशेऽपि यथा [क]न अपकीर्तिजनकत्वं, यथा देशविशेषे निषिद्धकरणम्. **अमुत्र च** इति परलोकेऽपि यशो गतिश्च ।।८।।

[१]तत्र ब्रह्मा एकं कृतमेव इति आह **प्रीतः** इति द्वाभ्याम्

ब्रह्मा उवाच।

प्रीतस्तुभ्यम् अहं तात! स्वस्ति स्ताद् वां क्षितीश्वर! ।
यद् निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनाऽर्पितम् ।।९।।

शुश्रूषा सफला भवति. फलेन ज्ञायते शुश्रूषा जाता इति, अतः तत्फलमेव निर्दिशति. प्रीतिरपि महती, यतः सफला. तस्याः फलम् आह **स्वस्ति स्ताद् वाम्** इति. युवयोः कल्याणं भवतु. [२]संसारप्रवृत्तिरूपत्वात् कार्यस्य बन्धशङ्कायाम् एवम् उक्तम्. **क्षितीश्वर!** इति अपरमपि फलं सम्बोधनेन निर्दिष्टं, भूम्यैश्वर्यं भवतु इति. ननु शुश्रूषा का अस्माभिः कृता? कथं वा सन्तोषः? इति आशङ्क्य आह **यद् निर्व्यलीकेन हृदा** इति. निष्कपटेन हृदयेन माम् आज्ञापय इति यद् आत्मना सह सर्वस्वनिवेदनं, तदेव शुश्रूषणम्. तद् दुर्योधनवत् कापट्येनाऽपि भवति इति 'निर्व्यलीकेन हृदा' इति उक्तम्. **आत्मना** इति सहार्थे तृतीया. अनेन ऐहिकं पारलौकिकमपि आत्मगामि सर्वं निवेदितम् इति ज्ञापितम्. एतदेव आत्मसमर्पणं नाम. न ततो अन्यत् प्रभोः शुश्रूषणम् अस्ति।।९।।

अन्यदपि ततो भविष्यति इति आशङ्क्य परिहरति **एतावत्यात्मजैः** इति.

क. 'यथाऽपकीर्ति...' इति मां१,२,३ पाठाः. १.तथापि ग. २.वृत्ति ग.

एतावत्यात्मजैर्वीर! कार्या पितरि पुत्रकैः।
शक्त्याऽप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः।।१०।।

एतावत्येव शुश्रूषा आत्मजैः कर्तव्या; यो यद् यतः प्राप्तवान्, तदेव तस्मै निवेद्यम् इति. **पितरि पुत्रकैः** इति प्राप्तमेव उपपादयति. **गुरौ अपचितिः** इत्यपि पाठे, गुरूपदिष्टस्य पदार्थस्य सिद्ध्यर्थं निस्तार्यमेव निवेदयेत्. सहि आत्मात्मीयनिस्तारार्थम् उपदिशति. तद् अस्य अशक्यम् इति तस्मै निवेदनीयं, सहि स्वात्मानम् उद्धरति इति. उपदेशसार्थकत्वेनैव तस्य अपचितिः, अन्यथा तस्य सेवाधीनत्वं स्यात्. अतः उभयेषां कार्यार्थम् आत्मसमर्पणमेव **अपचितिः** सेवा, प्रत्युपकारः इति यावत्. आत्मसमर्पणस्य निदर्शनम् आह **शक्त्या अप्रमत्तैः** इति. स्वशक्त्यनुसारेण सावधानैः तद् वाक्यं सादरं गृह्येत. ''मृदम् आनय'' इति उक्ते स्वशक्त्यनुसारेण आदरपूर्वकं मृदानयनम् आत्मसमर्पणस्य निदर्शनम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतावतीत्यत्र. **निस्तार्यम्** इति. शिष्यदेह्यात्मानम्(?). ननु शिष्येण गुरौ स्वात्मनिवेदनं किमर्थं कर्तव्यं? पितृपुत्रवद् अपचितेः अत्र वक्तुम् अशक्यत्वाद्, इति आकाङ्क्षायां सोपपत्तिकं तद् आहुः **सहि** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः, **सः** गुरुः आत्मात्मीययोः शिष्य-तत्सम्बन्धिनोः निस्तारार्थम् उपदिशति, भगवदाज्ञप्तं वदति. **तद्** आत्मात्मीयनिस्तरणम् अस्य शिष्यस्य **अशक्यं** कृत्यसाध्यम् इति अस्माद् हेतोः तस्मै गुरवे निवेदनीयं, स्वात्मात्मीयादिकम् अर्पणीयम्. तत्र हेतुः **सहि स्वात्मानम् उद्धरति** इति. तथाच, स्वोद्धारकृत्यर्थं गुरौ आत्मसमर्पणम् इति अर्थः. ननु तावता कथं तस्य सेवात्वसिद्धिः इत्यतः आहुः **उपदेशे**त्यादि. गुरुणा हि शिष्योद्धाराय उपदिश्यते, उद्धारौन्मुख्यं च गुर्वाज्ञानुसारित्वे, अनुसारित्वं च उक्तरीत्या समर्पणे कृत इति समर्पणेन सर्वं गुरोरेव परिकरीभूतं भवति इति गुरुः स्वम् उद्धरन् स्वपरिकरमपि उद्धरति इति उपदेशः सार्थको भवति इति तेनैव तस्य सेवात्वसिद्धिः इति अर्थः. ननु उपदेशेन सेवायोग्यता, सेवया च उद्धारः इति अङ्गीकारे को दोषः इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **तस्य** इति. उद्धारस्य. तथाच उपदेशस्य उद्धारफलकत्वहानिरेव दोषः इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. तथाच, प्रत्युपकारत्वेन सेवायाः अपचितित्वम् इति अर्थः. एतेन आत्मनिवेदि-तदनिवेदिकृतयोः सेवयोः स्वरूपमेव व्यक्तीकृतं ज्ञेयम्।।१०।।

अयुक्तकारणेऽपि स्वोत्कर्षार्थं माम् अयुक्तं कारयति इति तस्य उत्कर्षासहनरहितैः ।।१०।।

एवं सेवाम् उपपाद्य कर्तव्यम् आज्ञापयति **सः त्वम्** इति.

स त्वमस्याम् अपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।

उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ।।११।।

मत्पुत्रत्वे सति यत् कर्तव्यं तत् कृतमेव, यद् भगवदीयत्वेन कर्तव्यं तद् उचितम् इति ज्ञापयितुं **सः** इति उक्तम्. **अस्याम्** इत्यपि तथैव. अतएव **आत्मनः सदृशैः गुणैः अपत्यानि उत्पादय** इति आज्ञा प्रथमा, एतद् अनन्तरं **धर्मेण गां शास** परिपालय इति द्वितीया, **यज्ञैः पुरुषं** भगवन्तं **यज** इति तृतीया. तत्र द्वयं भगवत्प्रीतिहेतुभूतम् इति अवधृतं, पृथिवीपालनस्य क्षत्रियधर्मत्वाद्, यज्ञानां वैदिकधर्मत्वात्. श्रौत-स्मार्ताश्च धर्माः स्वधर्माः, अतः स्वधर्मेण भगवदाराधने कृते भवान् वेदगर्भो भगवांश्च परितुष्यति इति अविवादम्।।११।।

प्रजोत्पादनेतु भवान्, भगवान् वा परितुष्यति इत्यत्र न किञ्चित् प्रमाणम् अस्ति इति आशङ्क्य आह **परं शुश्रूषणम्** इति.

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात् प्रजारक्षया मम ।

भगवांस्ते प्रजाभर्तुः हृषीकेशोऽनुतुष्यति।।१२।।

पुत्रेण हि पितुः शुश्रूषा कर्तव्या. तत् **प्रजारक्षयैव मम परं** शुश्रूषणं भवति, मत्कर्त्तव्यकरणात्. ‘‘**भगवत्कर्तव्यकरणं भगवच्छुश्रूषणं परम्**’’ इति पूर्वम् अवोचाम. तस्माद् मया प्रजोत्पादनीया पालनीया सा त्वयैव क्रियते इति **परं मम शुश्रूषणम्**. अनेन भगवांश्च परितुष्यति इति आह **भगवान् ते प्रजाभर्तुः** इति. **प्रजाभर्तुः** प्रजारक्षकस्य **ते भगवान्** परितुष्यति, प्रजारक्षायाअपि धर्मत्वात्. किञ्च, **हृषीकेशः** इति प्रजोत्पादने प्रजारक्षायाञ्च सर्वेन्द्रियाणाम् उपभोगाद् इन्द्रियाधिष्ठाता हृषीकेशो भगवान् परितुष्यति।।१२।।

ननु प्रजानां स्वस्य च इन्द्रियभोगस्य प्रवृत्तिरूपत्वात्, प्रवृत्तेः संसारहेतु-त्वाच्च, तुष्टोऽपि भगवान् सांसारिकमेव फलं दास्यतीति मुक्त्यसाधकत्वात् किं प्रजया? इति आशङ्क्य परिहरति **येषां न तुष्टो भगवान्** इति.

येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।

तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नाऽऽदृतः स्वयम् ।।१३।।

सहि हृषीकेशः सर्गलीलायां जातेषु सर्गानुकूलकृत्यैव परितुष्यति, विपरीताद् न तुष्यति. तदतोषेतु सर्वनाशः, यतो भगवान्. तस्मिन् अतुष्टे ऐश्वर्यादिवद् ज्ञानादिकमपि न सिद्ध्येद्, अतो मोक्षोऽपि दूरे. किञ्च. **यज्ञलिङ्गो** भगवान्, यज्ञाः लिङ्गानि यस्य, भगवदपरितोषे यज्ञफलमपि न स्यात्, तदा ''**नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य**'' (भग.गीता.४।३१) इति ऐहिकामुष्मिकफलासिद्धिः. किञ्च, **जनार्दनो** भगवान्, जनाम् अविद्याम् अर्दयति इति, तेन अविद्यानाशोऽपि न भवेत्. अतो मोक्षो न अस्ति. एवं ज्ञानाभावः, क्रममुक्तौ लोकाभावः, अविद्या-नाशाभावाद् मुक्त्यभावश्च इति तेषां परलोकार्थं मुक्तर्थ्यं वा श्रमो **अपार्थः** व्यर्थः. तत्र उपपत्तिः उक्तैव. ननु धर्मस्य कृतत्वात् कथं वैयर्थ्यम्? उपपत्ति-विचाराभावेऽपि उत्पत्तिविचारेण फलं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **यदात्मा न आदृतः स्वयम्** इति. नहि कृतघ्ने धर्मो अस्ति, आत्मानात्मनोः विरोधे आत्मा बलीयान्, अन्तरङ्ग-बहिरङ्गन्यायेनाऽपि, मुख्य-गौणन्यायेनाऽपि, सर्वस्य आत्मार्थत्वात्. ''अर्थ-द्रव्यविरोधे अर्थो बलीयान्'' इति न्यायेनाऽपि आत्मानादरे न देहादिभिः धर्मः सिध्यति. यथा विक्षिप्तेन्द्रियस्य न शारीरो धर्मः फलाय, नापि ऐन्द्रियो धर्मो विक्षिप्ते मनसि; तथा भगवद्विमुखस्य न कोऽपि धर्मः सिध्यति. यदि देहाद्यनुरोधेन लोकानुरोधेन वा, देहादिलोकानां बाधकत्वाद् वा भगवदादरं न कुर्यात्, तदा तेषामेव दोषो भवेत्. भगवांश्च तानेव दण्डयेद्, यदि स्वयमेव आत्मा न आदृतः. **स्वयम्** इति अव्ययम्. स्वतएव यदि भगवन्तं न मन्येत, तस्य सर्वनाशो भवेद् इति सङ्ग्रहः।।१३।।

मनुना एतत्प्रार्थनं सत्यलोके कृतं, सत्यस्थश्च ब्रह्मा तथा आज्ञां दत्तवान्. सोऽपि अविचारयन् भूमेः मज्जनं न जानाति, अज्ञात्वैव पृथिवी-परिपालनादिकं कुरु इति उक्तवान्. तदा पृथिवीमज्जनं ज्ञापयति

मनुः उवाच

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयाऽमीवसूदन! ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

येषाम् इत्यत्र. पदत्रयस्य अर्थम् उक्त्वा श्रमवैयर्थ्ये तस्य हेतुतां स्फुटीकुर्वन्ति **एवम्** इत्यादि. **उक्तैव** इति. पदत्रयार्थविवरणेन उक्तैव।।१३।।

स्थानं त्विहाऽनुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो! ।।१४।।

आदेशे अहं भगवतः इति. अहन्तु **भगवतो** भवतः **आदेशे** आज्ञायामेव **वर्तेय** तिष्ठामि. हे **अमीवसूदन!** पापनाशक. अमीवं पापं, तद् नाशक. परं प्रजार्थं मदर्थञ्च, **इह** सत्यलोके, **स्थानम् अनुजानीहि** आज्ञापय, देहि इति अर्थः. यतः प्रजानां मम च भवानेव रक्षको रक्षणसमर्थः. तद् आह **प्रभो** इति।।१४।।

पृथिवीतु मग्ना इति आह **यद् ओकः** इति.

यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।

अस्या उद्धरणे यत्नो देव! देव्या विधीयताम्।।१५।।

सर्वसत्त्वानां **यद् ओकः** स्थानं, सा **मही महाम्भसि** प्रलयोदके च **मग्ना.** तस्याः **उद्धरणे यत्नो** वा **विधीयताम्. देव!** इति सम्बोधनात् सत्यलोकस्थान-दानापेक्षयापि भूम्युद्धारयत्नएव मुख्यः, यतो भूमिः देवयजनम्. यज्ञाश्च कर्तुं शक्याः. किञ्च, **देव्याः** पृथिव्याः. सा पृथिवी त्वयैव उत्पादिता, आदिवराह-कल्पे ब्रह्मणैव उद्धृत्य पुष्करपर्णे प्रथितत्वात्. तस्मात् सत्यादौ वा स्थानं देयं, भूम्युद्धारयत्नो वा कर्तव्यः. उभयोः मध्ये भूम्युद्धारयत्नएव विशिष्टः. अतएव न 'वा'शब्दः. अत्र श्लोकत्रयं विगीतम् अस्ति "**इत्याकर्ण्य**" (   ) इति मैत्रेयः वचनं, ब्रह्मणो वचनद्वयम् "**पीतं मया जलं, सरीसृप**" (   ) इति च।।१५।।

एवं मनुवचनं श्रुत्वा तद्वचनपरीक्षणार्थं ज्ञानदृष्ट्या भूमिं दृष्टवान्. तदा खिन्नां तां दृष्ट्वा ब्रह्मा यत् कृतवान् तद् आह **परमेष्ठीतु** इति.

मैत्रेयः उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नाम् अवेक्ष्य गाम्।

कथम् एनां [१]समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम्।।१६।।

स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्याभ्यां स्वतो युक्तिविचारणम्,

भगवत्येव भारस्य स्थापनं चिन्तितं स्थिरम्।।१।।

तत्र प्रथमं पूर्ववत् सामर्थ्येन[२] तस्याः उद्धारे यत्नं कृतवान्. तत्र हेतुः **परमेष्ठी** इति. परमे सर्वोत्कृष्टे आसने तिष्ठति इति. 'तु'शब्दः सत्यादौ

१.'उन्नेष्यति' इति मां.१,२,३ पाठः. 'स्थापयिष्यति' इति मां.२ पाठः.

२.स्वसामर्थ्येन ख. 'सृष्टिसामर्थ्येन' इति मां.१,२,३.

स्थानदानपक्षं निवारयति. **अपां मध्ये तथा सन्नाम्** इति. पूर्वमपि तस्याः तथावस्था स्मृता. पूर्वन्तु पुष्करपर्णे उपविष्टः नालस्य आधारस्य विद्यमानत्वाद्, भगवदाश्रयत्वाच्च नालस्य, तत्र रसातलपर्यन्ताद् आनीय पुष्करपर्णे प्रथितवान्. इदानीन्तु सत्यलोके स्थितः कथं ताम् [१]उन्नेष्य इति, क्व वा स्थापय इति भवति चिन्ता. पूर्वं परमेष्ठित्वादिसिद्ध्यर्थं चिन्तायां क्रियमाणायां साधनभूताः यज्ञादयः पदार्थाः मनसि आविर्भवन्ति[२] तथा प्रकृतेऽपि भविष्यति इति कालकृतदोष-परिहाराय **चिरं दध्यौ**. तत्रापि विवेकवत्या बुद्ध्या, [३]यया सर्वथा साधनं स्फुरत्येव।।१६।।

तथापि अस्फुरणे स्वातन्त्र्यं परित्यज्य भगवदधीनतया भगवत्कृपया साधनं स्फुरिष्यति इति सोपालम्भमिव तस्य चिन्ताम् आह **सृजतः** इति.

सृजतो मेऽक्षिभिर्वाग्भिः प्लाव्यमाना रसां गता।
अथाऽत्र किम् अनुष्ठेयम् अस्माभिः सर्गयोजितैः।।१७।।

पूर्वं स्थापिताऽपि इयं भूमिः भारेण पुनः निमग्ना. भारे हेतुः **मे अक्षिभिः** इन्द्रियैः, **वाग्भिश्च सृजतः** सतः. अक्षिभिः वाग्भिः इति स्त्रीपुरुषाविव निर्दिष्टौ तथाभावसर्गे दैत्यांशाएव प्रायेण उत्पन्नाः इति तेषां भारहेतुत्वं पूर्वम् उक्तम्, वक्ष्यते च. अतएव **प्लाव्यमाना** जले निमग्ना **रसातलं गता,** तदवध्युद्धृतत्वात्. **अथ** तदनन्तरम्, **अत्र** एतादृशे अर्थे. अस्माभिः किं कर्तव्यम्. नच तूष्णीं स्थातुं शक्यते **सर्गयोजितैः** सर्गकरणमेव हि अस्मदादीनां प्रयोजनम्।।१७।।

एवं पारतन्त्र्येणाऽपि विचारे क्रियमाणे यदा उपायो न स्फुरितः, तदा भगवत्येव भारं दत्तवान्. भारदाने हेतुम् आह **यस्य अहम्** इति.

यस्याऽहं हृदयाद् आसं स ईशो विदधातु मे।
कर्तव्यं करुणासिन्धुः तीर्थकीर्तिर् अधोक्षजः।।१८।।

यस्य हृदयाद्, विचारपूर्वकं यस्माद् अहं जातः. सर्गार्थम् एनम् उत्पादयामि, अनेन कार्यं सेत्स्यति इति प्रथममेव विचार्य ब्रह्मा सर्गे नियोजितः. ततो ज्ञायते इदमपि कार्यं मम चेद् अशक्यं, तदा भगवानेव करिष्यति, यतः इदमपि पूर्वमेव विचारितवान् अयम् असमर्थः, इदमपि अहमेव करिष्यामि. यतः

१.'उन्नेष्यति' इति मां.१,२,३ पाठः. २.आविर्भवन्तिस्म. ३. मुद्रितपाठस्तु 'यथा' इति.

ईशः, समर्थेन हि कर्तव्यं, नतु सेवकेनैव इति नियमः. उभयोः सामर्थ्ये सेवकेनैव कर्त्तव्यम्. अत्रतु सएव ईशः इति **मे कर्तव्यं विदधातु.** ननु अशक्तोऽपि लोके सेवकएव करोति, न प्रभुः शक्तोऽपि. तत्र आह **करुणासिन्धुः** इति. सेवकस्य अतिकष्टेन कार्यं सिद्ध्यति, स्वस्यतु अनायासेन. तदा करुणावान् स्वयमेव करोति, परदुःखेन दुःखितत्वात्. ननु करुणावानपि ऐश्वर्यगुणयोगाद् अशक्तैः सेवकैरेव कार्यं कारयति, अन्यथा ईशत्वं न स्यात्. तत्र आह **तीर्थकीर्तिः** इति. करुणासिन्धुत्वेन परिहारे सिद्धेऽपि दृष्टान्तार्थम् इदं विशेषणम्. तीर्थरूपा कीर्तिः यस्य इति. तीर्थं हि सर्वेषां पापं दूरीकरोति, तत् पापं तीर्थएव तिष्ठति. एवं जानन्नपि भगवान् स्वस्य कीर्तिं तीर्थरूपां कृतवान्. अतो यथा एतत् करोति तथा स्वयमेव भूम्युद्धारमपि करिष्यति इति भावः. किञ्च, अधोक्षजो भगवान् अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात्. इन्द्रियातीतोऽपि सर्वेषां सर्वेन्द्रियहितं करोति, ज्ञानरूपो भूत्वा मोक्षं प्रयच्छति इति. अथवा, व्यवहारातीतत्वेन लोकानाम् उद्धारार्थे कीर्तिमेव तथाकृतवान् इति तथाकरणे अधोक्षजत्वं हेतुः।।१८।।

अयं पक्षः फलपर्यवसायी जातः इति आह **इति अभिध्यायतः** इति.

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात् सहसाऽनघ!।
वराहतोको निरगाद् अङ्गुष्ठपरिमाणकः।।१९।।

इति अमुना प्रकारेण, **अभि**तो **ध्यायतः**. सएव एतत् कार्यं करिष्यति इति निर्द्धार्य, तथैव चित्तं दृढं विधाय भावयन्, तथैव क्षणे-क्षणे कदा भगवान् केन रूपेण करिष्यति? इति अभितो ध्यानं करोति. तदा कार्याविष्टचित्तेन यज्ञरूपे भगवति ध्याते[1] कृतेः स्थानाभावाद् आध्यत्मिकं रूपम् अप्रकटमेव कृत्वा आधिदैविकेन रूपेण प्रकटो जातः. क्रियापि तत्र प्रविष्टा इति आधिदैविकत्वम्. इतः पूर्वन्तु आध्यात्मिकएव यज्ञः. सः त्रेधा सम्पद्यते यजमाननिष्ठप्रयत्नेन, वैदिकज्ञानेन, ध्यानारूढस्वरूपेण च. सः त्रिविधोऽपि एकीभूतो भगवान् वराहः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति अभिध्यायतः इत्यत्र. **क्रियाऽपि तत्र प्रविष्टा** इति. क्रियायां प्रविष्टः क्रियावान् आध्यात्मिकः पूर्वकाण्डः, अत्रतु क्रियैव क्रियावती(ति) प्रविष्टा इति अर्थः. **इतः पूर्वम्** इति. वराहावतारात् पूर्वम्.

---

१. 'ध्यानं कृते' क. ख. ग. घ. ङ.

तस्य क्रिययैव यजमानस्य क्रिया, स्वरूपन्तु तदेव सर्वयज्ञात्मकं साधिकरणम्. श्रुतिः तत्रैव अन्तर्भूता इति ज्ञापयितुं ब्रह्मणः श्वासमार्गाद् निर्गतः, **''निःश्वसितम् अस्य वेदाः''**(बृहदा.उप.२।४।१०) इति श्रुतेः. वरान् आहरति इति 'वराहः', सर्वकामप्रदः. सः च असौ तोकश्च. तोको बालकः. आध्यात्मिकादिरूपेषु प्रबुद्धस्यैव फलसाधकत्वम्, एकदेशत्वात्. अत्रतु तोकोऽपि फलसाधकः, सफलत्वात्. **सहसा** इति ध्यानांशव्यावृत्त्यर्थम्, अन्यथा एकेनापि अंशेन आध्यात्मिकता स्यात्. **अनघ!** इति सम्बोधनं विश्वासार्थं, नहि केनापि अंशेन सः पापो विश्वासम् एति. तस्य रूपस्य कालसारेश्वररूपत्वज्ञापनाय उत्पत्तौ अङ्गुष्ठपर्वमात्रप्रमाणेन बहिः निर्गतः. **''अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः''** (महाना.उप.१६।३) **''ईशः सर्वस्य जगतः''**(तत्रैव) **''प्रभुः प्रीणाति विश्वभुग्''** (तत्रैव) इति श्रुतेः अङ्गुष्ठमात्रप्रमाणस्यैव विश्वभोक्तृत्वम् ईशत्वञ्च उच्यते. यज्ञरूपस्यैव विश्वभोक्तृत्वम्. तस्यैव हि सर्वम् अन्नं सर्वे पशवः. 'अङ्गुष्ठ'शब्दः सर्वत्र अङ्गुष्ठ-शिरोवाची।।१९।।

एवम् आधिदैविकस्य उत्पत्तितः स्वरूपम् उक्तम्. [1]ज्ञप्तितः स्वरूपं वक्तुं भगवत्त्वज्ञापनाय कालादेः परिच्छेदकत्वाभावाय तस्यैव सूक्ष्मस्य स्थूलतां निरूपयति **तस्य अभिपश्यतः** इति.

तस्याऽभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत! ।

गजमात्रं प्रववृधे तदद्भुतम् अभूद् महत ।।२०।।

तस्य ब्रह्मणो **अभितः** सर्वतः **पश्यतः** सतः. रूपान्तरग्रहणे लोके जवनिका अपेक्ष्यते. अत्रतु पश्यतएव पूर्वम् अङ्गुष्ठमात्रोऽपि पश्चाद् गजमात्रं जातः. तिरोभावशङ्कानिवारणार्थं **खस्थः क्षणेन** इति उक्तम्. आकाश-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

साधिकरणम् इति. सदेवयजनम्. **कालसारे**ति. कालाधिदैविकेति अर्थः।।१९।।

तस्य इत्यत्र. तिरोभावशङ्कैव कथम् इति आकाङ्क्षायाम् आवरण-निवारणमुखेन तां स्फुटीकुर्वन्ति **आकाशे**त्यादि. यथा चतुरङ्गुलाऽपि कर्कटी वल्ली-विलग्ना भूमिष्ठा एकरात्रेण पञ्चहस्ता दशहस्ता च पोषकद्रव्यकृतपूर्वरूपाद्यावरणेन

१.कृतितः क.

स्थितत्वाद् न आवरणम्. वृद्धौ लौकिकस्य कालस्य अभावाद् नानावरणेन तस्यैव वृद्धिः. **किल** इति प्रसिद्धेः, न अत्र प्रमाणं वक्तव्यम् इति अर्थः. **भारत!** इति विश्वासार्थम्. एवं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं श्रोतृदोषं परिहृत्य स्थूलं रूपम् आह **गजमात्रं प्रववृधे** इति. गजो हस्ती, तन्मात्रम् इति षष्टिहायनरूपम्. वैष्णव–शास्त्रप्रसिद्धगजो वा गजेन्द्रः. 'मात्र'पदम् [क]अनिर्द्धारणासूचकम्, अन्यथा द्वितीयक्षणे ततोऽपि तावन्मात्रवृद्धः स्यात्. तथाच, क्षणस्य इन्द्रियार्थसंयोगएव उपक्षीणत्वात् 'क्षणेन' इति वचनं व्यर्थं स्यात्. प्रकर्षेण **ववृधे**. प्रकर्षः सर्वावयवेषु यथायोग्यवृद्धिः, अतएव **तद् अद्भुतम् अभूत्.** यत्रैव पश्यतां युक्त्यस्फुरणं कार्यदर्शनञ्च तदेव अद्भुतम्. **महद्** इति. कार्यदर्शनमपि सन्दिग्धम्. नहि समुद्रः सान्तो द्रष्टुं शक्यते, तथा भगवच्छरीरम् इति अर्थः।।२०।।

तदा तेषां वस्तुनिर्द्धारार्थं विमर्शो जातः इति आह **मरीचिप्रमुखैः** इति.

मरीचिप्रमुखैर् विप्रैः कुमारैर् मनुना सह ।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ।।२१।।

मरीचिरेव प्रमुखो मुख्यो येषां ब्राह्मणानाम्. त्रिविधाः तत्र ब्रह्मणः पुत्राः, ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, कुमाराश्च. **कुमाराः** सनकादयो अनुपनीताः. अष्टमे वर्षे हि उपनयनम्. तेतु पञ्चवर्षाः भगवदस्मरणक्षणैः. तावता कालेन पञ्चवर्षाणामेव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तिरोहितपूर्वपरिमाणा भवति, तथा अत्र आकाशस्थत्वाद् न आवरणं शक्यवचनम् इति ज्ञापनाय **स्वस्थः** इति उक्तम् इति अर्थः. यथा अत्र कश्चित् सामुद्रः पक्षी भाषायां कुंकणे प्रसिद्धो वासलीतिनामा व्योम्न्येव अत्युच्चप्रदेशे अण्डं ददाति. तच्च अण्डं निराधारं पतत्पतदेव कालेन वृद्धं पक्वं विदीर्णं च भवति, तज्जातः च पुनः उड्डीय गच्छति, न भूमिष्ठान् स्पृशति इति कुंकणदेशे प्रसिद्धं, तद्वदपि अत्र न वक्तुं शक्यम् इति ज्ञापनाय क्षणेन इति उक्तम् इति आशयेन आहुः **वृद्धौ** इत्यादि. **अनिर्द्धारणासूचकम्** इति. कालहेतुत्वानिर्धारणायाः सूचकम्. तत्र इति उक्तिः(?) **अन्यथा** इत्यादि।।२०।।

मरीचीत्यत्र. कुमाराणां ब्राह्मणेभ्यः पृथग् उल्लेखस्य तात्पर्यम् आहुः **अष्टमे**त्यादि. कुमारत्वस्य वेदं तात्पर्यम्. ''**वराहोऽयं वाममोषः**'' (बौधा.श्रौ.सू.

क. 'अनिर्धारण...' इति मां.१,२,३.

निष्पादितत्वाद्, देहोपभोक्तृकालस्यैव कर्मनियामकत्वात् विशेषेण प्रान्ति पूरयन्ति इति **विप्राः** ब्राह्मणाएव. **मनुः** क्षत्रियः एवं मार्गत्रयस्थितैः सर्वैः सह. **चित्रधा** विचित्रप्रकारेण. ''**सङ्ख्यायाः विधार्थे धा**''(पाणि.सू.५।३।४२) इत्यत्र योगविभागात् 'चित्रधा' इति सिद्ध्यति. **तत्सौकरं रूपम्** इति. लोके निन्दितरूपत्वाद् यथा मलाद् मधुकैटभादेः उत्पत्तिः, तथा अस्यापि भवेद् वराहस्य. दैत्योऽपि वराहः श्रुतिसिद्धः, ''**वराहो अयं वाममोषः**'' (बौधा.श्रौ.सू. ५।१०) इति श्रुतेः. ''**पशूनां वा एष मन्युः यद् वराहः**'' (   ) इति क्रोधावतारो वा भवेत्. एवम् अनेकप्रकारेण तर्कितवन्तः. 'तर्को' नाम प्रत्यक्षतो दृष्टस्य पदार्थस्य निर्वाहिकोपपत्तिः, यस्मिन् पदार्थे कल्प्यमाने दृष्टो अर्थः उपपद्यते. तत्र प्रकृते कोऽपि पक्षो न निर्द्धारितइति **चित्रधा** इति उक्तम्।।२१।।

यदा लोकवेदानुसारी तर्कः पदार्थनिर्द्धारणे अशक्तः तदा अलौकिकप्रकारेण पदार्थम् उत्प्रेक्षन्ते **किम् एतद्** इति.

किमेतत् सूकरव्याजं सत्त्वं दिव्यम् अवस्थितम् ।
अहो बताऽऽश्चर्यम् इदं नासाया मे विनिःसृतम् ।।२२।।

सूकरः इति व्याजमात्रं, दिव्यमेव एतत् सत्त्वं, न प्राकृतम्. दिव्यत्वं[1], निरूपयति. **अहो** इति आश्चर्ये **बत** इति खेदे. तेजःप्रागल्भ्यादेः परिदृश्यमानत्वाद् अस्मदाद्यपेक्षयाऽपि अलौकिकतेजस्त्वात् किञ्चित् कारणभूतं [2]तत्त्वमेव परं तस्य सूकररूपता अत्याश्चर्ये हेतुः. खेदस्तु महतो विरूपत्वात्. आश्चर्यान्तरम् आह **आश्चर्यम् इदम्** इति. काल-कर्म-स्वभाववशेन महतोऽपि हीनभावः सम्भवति, तथापि इदम् अत्याश्चर्यं यद् ममैव नासापुटाद् निःसृतम्. नहि पुरुषात् सूकराः उत्पद्यन्ते, तत्राऽपि नासिकायाः. अनेन योनिरपि विजातीया न अस्ति इति उक्तम्।।२२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

५।१०) इति श्रुतिस्तु तैत्तिरीयसंहिताषष्ठाष्टक-द्वितीयप्रपाठक-चतुर्थानुवाकस्था. वाममोषः इति तस्य योगरूढं नाम, वामं देवानां वित्तं मुष्णाति इति. तस्य च दैत्यत्वं ''**सप्तानां गिरीणां परस्ताद् वित्तं वेद्यम् असुराणां बिभर्ति तं जहि**''(   ) इति श्रौताद् लिङ्गादेव अवसीयते।।२१।।

१.दिव्यसत्त्वम् घ. २.सत्त्वमेव परं ग.

आश्चर्यान्तरम् आह **दृष्टः** इति.

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद् गण्डशिलोपमः ।
अपि स्विद् भगवान् एष यज्ञो मे खेदयन् मनः।।२३।।

अङ्गुष्ठस्य शिरः उत्तमं पर्व, तावन्मात्रा प्रमाणं यस्य. **दृष्टः** इति. प्रथमदर्शनम्. नासाद्वारस्य तावन्मात्रत्वाद् उपपत्या उक्तं, ब्रह्मणो ज्ञानस्य कालाद्यतीन्द्रियविषयत्वाद् वा. अतएव **क्षणाद्** इति उक्तम्. ब्रह्मवाक्यत्वाद् न लौकिकन्यायेन अल्पः कालो लक्ष्यते. पर्वतात् च्युताः स्थूलाः पाषाणाः गण्डशिलाः, तैः उपमीयते इति पुरुषगुरुत्वादिभिः उच्यते. अचेतनदृष्टान्तः स्वस्य खेदसूचकः. स्वस्य पर्वतत्वेन वज्रेण पक्षच्छेदइव खेदसूचकत्वात्. आश्चर्य-खेदौ वा क्रमेण निरूपितौ. एवम् अलौकिकप्रकारेणाऽपि पदार्थे तर्क्यमाणे निर्द्धारो न भवति. बीजमेव हि तर्केण निर्द्धारितं, न प्रयोजनम्. नहि दिव्यस्याऽपि सत्त्वस्य प्रकृते प्रयोजनम् अस्ति. भूम्युद्धारार्थं भगवान् ध्यातः, अतएव सएव भूम्युद्धारार्थम् एवंरूपेण प्रकटः इति सम्भावना.

ननु पुरुषोत्तमस्य किं लोकवेदनिन्दितरूपेण प्राकट्ये कारणम्? इति आशङ्क्य, स्वखेदजनकत्वमेव कारणम् उत्प्रेक्षते **मे खेदयन् मनः** इति. **अपि** इति सम्भावनायाम्. **स्विद्** इति निश्चये, पूर्वं बहवः पक्षाः उत्प्रेक्षिताः, तत्र अयं निर्द्धारितः पक्षः. अतो भगवान् परमेश्वरएव अयम्. तस्य अनन्तरूपेषु यज्ञः च अयं भवितुम् अर्हति, प्रकृतोपयोगित्वात्. कालमन्युरूपत्वेन दैत्यत्वं च सम्भाव्यते रूपेण, अन्यथा दैत्यवधो न स्याद्, मर्यादायां क्रूरेणैव क्रूरहननात्. इयं यज्ञरूपा भूमिः वराहेणैव संरक्ष्यते. तत्र दैत्यानां यज्ञाधिकरणं वेदिः दैत्यवधं कृत्वा यदि आनीयते, तदा देवानां पूर्णो यज्ञो भवति. ब्रह्मणा हि सर्वेभ्यो यज्ञाः दत्ताः साधिकरणाः, तेषाञ्च वाममोषो वराहः. हननन्तु विपक्षे सति. अतः तादृशरूपम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दृष्टः इत्यत्र. अन्तःस्या(?)ङ्गुष्ठमात्रस्य दर्शनं योगिश्रेष्ठानामेव इति आशयेन आहुः **ब्रह्मणः** इत्यादि. **बीजम्** इति. दिव्यत्वम्. **तेषाम्** इत्यादि. असुराणामपि वाममोषो वित्तवेद्यो वराहो अद्य धारकत्वाद् वेदिरूप-यज्ञभूमिधारकः इति अर्थः. ननु तर्हि तद्वधो भगवता कुतो न कृतः इत्यतः आहुः **हननम्** इत्यादि. **अतः** इति. इदानीं विपक्षसद्भावात्।।२३।।

अवश्यकर्तव्यम् आपतितमिति, ब्रह्माणम् उपालभमानइव, यज्ञएव वराहरूपं कृतवान्. अन्यस्य बीजप्रयोजनोपपादकत्वं न सम्भवति।।२३।।

अयमपि [क]पक्षः कार्ये निर्व्यूढे फलतो निर्द्धारितो भविष्यति इति फलनिष्पत्तिपर्यन्तं ब्रह्मणो विचारएव जातः इति आह **इती**ति.

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जाऽगेन्द्रसन्निभः।।२४।।

सूनुभिः मरीच्यादिभिः **सह ब्रह्मणो** विचारं कुर्वतएव सतः, शीघ्रं विचारान्तरानुत्पत्तये, तेषां हृदयं ज्ञात्वा **भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्ज**. पूर्वं गण्डशैलसमानोऽपि पुनः तथा [ख]वृद्ध्या मेरुसदृशो जातः. **भगवान्** इति ऐश्वर्यादेः प्रकटितत्वाद् न हेत्वस्फूर्तिः. यज्ञांशे वराहरूपता, अधिष्ठातृरूपत्वेतु पुरुषत्वम्. तेन अर्धपुरुषो वराहः. अनेन ब्रह्माणं प्रति स्वस्य पुरुषरूपमपि प्रदर्शितमिति खेदोऽपि निराकृतप्रायः. यथा [ग]समेघः पर्वतो गर्जति, एवं भगवान् एकएव गर्जति इति अर्थः. **सं**शब्दार्थः च अयम्।।२४।।

अतएव ब्रह्मणो हर्षो जातः इति आह **ब्रह्माणम्** इति.

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान्।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः।।२५।।

हरिः इति तथात्वं स्वभावः. **तान्** इति मीमांसकान्. ब्रह्मणो द्विरूपो हर्षः, तेषाम् एकरूपः इति भिन्नतया निर्देशः. हर्षणे हेतुः **द्विजोत्तमान्** इति. यज्ञत्वात् तेषां हर्षः. चौर्यनिराकरणार्थं तथा गर्जनं कृतवान्, यथा सर्वत्र दिक्षु प्रतिध्वनिः जातः, तद् आह **ककुभः प्रतिस्वनयता स्वगर्जितेन** इति. ननु किमिति एवं कृतवान्? तत्र आह **विभुः** इति।।२५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति इत्यत्र. **निर्व्यूढे** इति. जाते. **निर्व्यूह** इति पाठे, निःशरीरे स्वरूपतो अनिर्धार्यमाणे इति अर्थः।।२४।।

ब्रह्माणम् इत्यत्र. **द्विरूपः** इति. स्वसाहाय्यकरणकृतो यज्ञत्वज्ञानपूर्वक-दर्शनकृतश्च इति द्विरूपः।।२५।।

क. 'यज्ञः' इति मां.१,३ पाठः. ख.वृद्ध्यावृत्या ख. ग.;मां.१,२,३
ग. 'समेद्यः' इति मां.२, 'समेषः' इति मां.१; 'समेयः' इति मां.३.

हृष्टानां कार्यम् आह **निशम्य** इति.

निशम्य ततज्े घर्घरितं स्वखेद–क्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते त्रिभिः पवित्रैर् मुनयोऽगृणन् स्म ।।२६।।

घर्घरितम् इति जात्यनुकरणशब्दः, भाषायां गृहवाची. सर्वेषामेव गृहं सम्पादयिष्यामीति गृहोपरि वा गृहम्. शरीरं गृहञ्च इति वा. अतएव **स्वखेदक्षयिष्णुः**. सर्वेषां भूमावेव प्रतिष्ठा, जनादिष्वपि भूमेरेव अन्नसिद्धिः. सम्बन्धिनाम् उद्धारार्थं वा, अधिकारिणां खेदनिवृत्त्यर्थं वा, स्वमीमांसितस्य अङ्गीकारेण वा. ननु पश्वनुकरणेन कथं खेदनिराकरणम्? तत्र आह **मायामय–सूकरस्य** इति. दैत्यान्[क] व्यामोहयितुं मायया तथारूपं कृतवान्. मायामयत्व–मतिवञ्चनाप्रदर्शकत्वं, वेदे हि कर्ममार्गे अत्यन्तभ्रमजनकत्वात्.

आलम्भने फले चैव यज्ञरूपे तथोद्गमे ।
उपाख्यानेषु सर्वेषु भ्रमो वै जायते श्रुतौ ।।१।।
आधिदैविकरूपेऽपि[ख] मोहकत्वं तथा सुरे।
यथा स्वस्मिन् नीचबुद्धिः ततोऽपि भगवत्युत।।२।।

सूकरः इति ''**षू प्रसवे**''(धातु.पा.दिवादि.९६) इति प्रसवकर्ता.

वेदाः उत्पादिताः सर्वे मुक्त्यर्थं हीनभावताम्।
धारयिष्यन्ति समलाः ततः सूकरउच्यते।।३।।

जनस्तपः सत्यनिवासिनः इति त्रिविधाअपि सात्त्विकाः उक्ताः, तैरेव सः लोकः प्राप्यते इति. **त्रिभिः पवित्रैः** वेदत्रयेण मार्जनीयैः, पवमानादिभिः वा. एतेषान्तु कथा भगवत्प्रसिद्ध्यर्थम्. मननाद् ज्ञानदार्ढ्यम्. **स्म** इति लौकिकी प्रसिद्धिः।।२६।।

एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा यदर्थम् अवतीर्णः तत् कृतवान् इति आह **तेषाम्** इति.

तेषां सतां वेदवितानमूर्तिः ब्रह्माऽवधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनन्द्य भूयो विबुधोदयाय गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ।।२७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निशम्य इत्यत्र. **गृहोपरि** इति. भगवतो गृहं जलं, तदुपरि इति अर्थः।।२६।।

क. 'दैत्यानाम्' इति मां.१,३ पाठौ. ख. 'रूपोऽपि' इति मां.१,३ पाठौ.

तेषां स्तोत्रकर्तृणाम्. **ब्रह्म** वेदं, भगवतो यज्ञस्य गुणानुवादनरूपम्. **अवधार्य** निश्चित्य. वेदोक्तो यज्ञवितानो मूर्तिः यस्य, वेदविताना वा मूर्तौ यस्य. भगवतो अनन्तरूपत्वाद् अनन्तशाखात्वम्. **सताम्** इति तथाकरणे ज्ञाने च हेतुः. **विनन्द्य.** विनन्दनम् अभिनन्दनं, भूयो अभिनन्दनं प्रत्येकम्. ब्रह्मवद् भगवानपि दैत्यादीनामपि उपकारं करिष्यति इति आशङ्क्य आह **विबुधोदयाय** इति. देवानामेव अभ्युदयो न दैत्यानाम् इति. ननु भगवान् सर्वसमर्थः सर्वगश्च, तत् पातालएव आविर्भूतः कथं न भूमिम् आहृतवान्? तत्र आह **गजेन्द्रलीलः** इति. गजेन्द्रस्य लीलेव लीला यस्य. कथम् अत्र गजेन्द्रो जले प्रविष्टः क्रीडितवान्? इति तां क्रीडाम् अनुकर्तुं, गजेन्द्रस्य वा भक्तत्वख्यापनाय. सहि भगवल्लीलामेव कृतवान् इति.

एका भगवतो लीला नानाकार्यप्रवर्तिका ।
भक्तानां सर्वसौख्यार्थं लीलां चक्रे तथाविदाम्।।१।। ।।२७।।

तदानीन्तनां भगवन्मूर्तिं लीलासहितां वर्णयति **उत्क्षिप्तबालः** इति द्वाभ्यां स्वरूपक्रियावर्णनभेदेन. तत्र प्रथमं स्वरूपं वर्णयति

उत्क्षिप्तबालः खचरः कठोरः सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्रवीक्षा–ज्योतिर्बभासे भगवान् महीध्रः ।।२८।।

ऊर्ध्वं क्षिप्तो बालः पुच्छं येन. पुच्छं तस्य दीक्षात्मकं, दीर्घं कृशहेतुश्च. सएव यज्ञे उच्चताहेतुः इति ज्ञापयितुम्. **खचरः** आकाशचरः. सहि सर्वेषु यज्ञियपदार्थेषु आविष्टइव असंलग्नएव तिष्ठति इति. अनेन यज्ञः पशुषु प्रतिष्ठितः क्रियामयः इति ज्ञापयितुं(?) बलकार्यत्वात् **कठोरः** कठिनो निष्ठुरात्मको मन्युरूपत्वात्. खरा रोमशा त्वग् यस्य. परुषा–हिंसादिजननाद्, रोमशा बर्हिषो भूयस्त्वात्. त्वग् उपरितनो भागः. आकृतिस्तु लोकप्रसिद्ध्यैव तादृशी. खुरैः आहतानि अभ्राणि येन. भगवतः पादचतुष्टयं स्तोमरूपं मिलितं सत् सवनद्वयात्मकं भवति. तत्रैव पशवः सोमश्च सर्वो वृष्टिकार्यरूपो हन्यते, सवनाभ्यामेव सर्वजननात् कृतं मेघैः इति. यैः मेघैः जलं पूरितं, ते अवश्यं दूरीकर्तव्याः, अन्यथा तेषु पृथिवीस्थापने पृथिव्यः अस्थिरता स्यात्. जल–

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उत्क्षिप्तेत्यत्र. **अनेन** इति. रूपेण।।२८।।

मेघयोः मध्ये स्थापनेऽपि मेघैः प्लावनं स्यात्. खुरैरेव आहतत्वाद् अन्यत्र स्थिताः तत्र वृष्टिं करिष्यन्ति इति मेघानां न सर्वथानाशः. सिता दंष्ट्रा यस्य. वीक्षैव ज्योतिः यस्य. पृथिव्याः स्थापनशोषणार्थं दंष्ट्रा-वीक्षयोः कीर्तनं, मृत्योः अतिक्रमार्थं [1]कृपावलोकनार्थञ्च. अतो भूमावेव मृत्योः अतिक्रमो भगवत्कृपा[2] च इति विज्ञापितम्. **बभासे** इति सर्वप्रमाणेन स्तुतः. **महीध्रः** इति पृथिव्युद्धारेण सर्वोपकारकरणात् सर्वैः स्तूयमानत्वम्. सर्वे हि महीध्राः लोकप्रसिद्धाः पर्वताः, अयन्तु भगवान् महीध्रः. ऐश्वर्यादिगुणयुक्तोऽपि भारं वहति इति दयालुत्वम् ।।२८।।

एवं रूपं वर्णयित्वा क्रियां वर्णयति **घ्राणेन** इति.

घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन् क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्याम् उद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत्कम्।।२९।।

पृथ्व्याः पदवीं घ्राणेन विजिघ्रन्. सा हि गन्धवती. गन्धएव तस्याः व्यावर्तकः. येन मार्गेण पृथ्वी गता, सएव मार्गः तस्य गमने साधीयान्. तत्र हि जलं विरलम्. विशेषतो घ्राणं **क्रोडापदेशः** इति वराहरूपलीला व्याजार्थमेव. सर्वज्ञोऽपि गृहीतावतारो देहानुसारेणैव चेष्टां करोति इति घ्राणेनैव पृथिवी-मार्गज्ञानम्. क्रोडनस्य विचारात्मकस्य मीमांसाशास्त्रस्य व्यपदेशमात्रम् अत्र, यत्कर्मप्राधान्यम् इति देवतायाएव प्राधान्यात् तामेव उपपादयति **स्वयम् अध्वराङ्गः** इति. अध्वरा अङ्गानि यस्य, सर्वयज्ञात्मकः इति अर्थः. अध्वनि रवो यस्य इति अध्वरः, सर्वत्रैव मार्गे अस्यैव शब्दः. नहि यज्ञव्यतिरेकेण कश्चिद् मार्गो अस्ति, अन्ये खण्डिताः. तादृशानामपि अप्रामाण्यार्थम् 'अङ्ग'पदम्. यद्यपि अयं पशूनां घातकत्वेन प्रसिद्धः तथापि अग्रे ज्ञानप्रदइति सर्वोपास्यः इति ज्ञापयितुम् आह **करालदंष्ट्रोऽपि अकरालदृग्भ्याम्** इति. **विप्रान् उद्वीक्ष्य** इति. सर्वेषां हि सर्वथा हितकर्तृषु भगवतो ज्ञानं कृपा च इति. **गुणतः** इति ज्ञान-कृपयोः भक्तिः हेतुः इति उक्तम्. कं जलम् आविशद्? भक्तान् ज्ञानसम्पन्नान् कृत्वा अन्येषाम् उद्धारार्थं स्वयं सुखइव जले प्रविष्टः।।२९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

घ्राणेन इत्यत्र. **सुखइव** इति. 'क'शब्दसूचितो अयम् अर्थः।।२९।।

१.क्रिया क. घ.मां.१,३. २.क्रिया घ.मां.१,३

मध्ये जलस्य सापराधत्वाद् दण्डं कृतवान् इति आह **सः वज्रे**ति.

स वज्रकूटाङ्गनिपातवेग–विशीर्णकुक्षिः स्तनयन् उदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवाऽऽर्तः चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ।।३०।।

यस्मिन् जले भगवान् आविष्टः येन च पृथिवी मज्जता, सः उदन्वान्. **वज्रकूटवद्** वज्रसमूहवद् अतिकठिनं यद् जाज्वल्यमानम् अङ्गम्. नहि वज्रातिरिक्तस्य तेजो जले तिष्ठति अधिकं वा जायते. सहि मेघान् जलं त्याजयति. तादृशाः सर्वे यदि एकत्र भवन्ति तदा समुद्रादपि जलं त्याजयन्ति. ते पुनः कपटेन चेद् आगच्छेयुः, स्वरूपमेव नाशयेयुः. तद्रूपः च अयं भगवान्. तादृशाङ्गस्य यो निपातः. वज्रपातएव न कोऽपि जीवति, तत्रापि समूहः, तत्रापि कापट्यं, तत्रापि तदङ्गमेव यस्य. तस्यापि **पातो** अनवधानदशायाम् उपरिपतनम्. पतनेऽपि महान् वेगः, यथा बाणो भित्त्वा गच्छति. तेन कृत्वा विशीर्णा कुक्षिः यस्य. अनेन कुक्षेः कुक्षिः निवार्यते, अन्यथा स्वकुक्षिरेव न पूर्येत. **उदन्वान्** इति जलवत्त्वं तत्कुक्षावेव तिष्ठति, अतः कुक्षिभङ्गे न अतःपरं जलवृद्धिः इति सूचितम्. तथात्वं जातम् इति ज्ञापयितुं तत्कार्यम् आह **उत्सृष्टे**ति. ऊद्ध्र्वं सृष्टाः प्रसारिताः दीर्घाः ऊर्मयएव भुजाः, तैः उपलक्षितः. **आर्त्तइव** इति पातेऽपि आनन्दमयः पतति इति स्त्रीभुजबन्धनवत् सुखमेव भवति इति आर्त्तइव इति उक्तम्. सर्वजलशोषे स्वरूपमेव नश्यति, कुक्षिविदारे वृद्ध्यभावः. तदा वर्षाशोषणाभ्यां समता भवति, तद् अकरणे भूमेः स्थापनमेव न भवेत्. **चुक्रोश** इति स्पष्टमेव. तस्मिन् देवतारूपे समुद्रे दैत्यानाम् आधारभूते दण्डः उचितएव. तथापि देवतात्वात् सर्वदेवताभोजकं भगवन्तं प्रार्थयते **यज्ञेश्वरः पाहि मेति.** समुद्रस्याऽपि देवतात्वं, ''**समुद्राय स्वाहा**'' (शुक्लयजुर्वेद २२।२५) इति ''**समुद्रियाभ्यः स्वाहा**'' (तैत्ति.संहि.७।४।१२।१३) इति च श्रुतेः. **यज्ञेश्वर** इति सम्बोधनं स्वसम्बन्धज्ञापनार्थम्. दैत्यानां हननेऽपि मां पालय इति।।३०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः वज्रेत्यत्र. **सहि** इति. वज्रो हि. 'कूट'पदसूचितम् अर्थम् आहुः **ते पुनः** इत्यादि. **कुक्षेः** इति. समुद्रो हि भगवतः कुक्षिः तस्य इति अर्थः. **न पूर्येत** इति. मन्युरूपत्वात् स्वस्य तत्पूरणार्थं हिंसाप्रधानमेव कर्म स्याद् इति भावः. कुक्षिविदारणस्य प्रस्तुतं प्रयोजनम् आहुः **सर्वे**त्यादि।।३०।।

एवं समुद्रदण्डनं कृत्वा, पुनः यथा मज्जनं न करोति तथा शिक्षां दत्त्वा, स्वयं भूम्युद्धारार्थं प्रवृत्तः इति आह **खुरैः क्षुरप्रैः** इति.

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम् ।

ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ।।३१।।

तीक्ष्णैः **खुरैः** तद् आपो **दरयन्** विदारयन्. उद्गतः पारो यस्य, तस्याऽपि पारो यथा भवति तथा. **त्रिपरुः** यज्ञवराहः. त्रीणि पर्वाणि यस्य. पादद्वयं द्वयम् एकैकं पर्व, मुखं[1] च एकं, [क]तथा एवं सोमस्य प्रवृत्तेः. ''**पद्भ्यां द्वे सवने समगृणान् मुखेन एकम्**'' (कृ.यजुर्वेद १।६।१।४) इति श्रुतेः. ''**द्वौ स्तोमौ प्रातः सवनं वहतः**'' (   ) इत्यादि श्रुत्या प्रातःसवनस्य द्विरूपत्वम्. मुखमपि द्विरूपम् ओष्ठाभ्याम्. **रसायां** स्थितां **गां ददर्श.** ततः ताम् उद्धृतवान् इति वदन् तत्र हेतुम् आह **तत्र सुषुप्सुः अग्रे** इति. तत्र पृथिव्याम् अविकृतायाम्. पृथिव्यधिष्ठातृदेवता भगवतः शय्या भवति इति. भार्यातु सिद्धैव. **अग्रे** उद्धारानन्तरम्. भूमिम् उद्धृत्य तस्मिन् शयनं करिष्यामि इति प्रलये भगवान् शेषे शयनं कृतवान्. सृष्टौ पुनः सर्वेषु पुरेषु शयनं करोति इति, 'पुरुष'शब्दव्युत्पत्तेः, सर्वपुरनिर्माणार्थं भूमिम् उद्धरिष्यति इति अर्थः. ननु भूमिः किमिति बहूनि शरीराणि करिष्यति? इति आशङ्क्य आह **यां जीवधानीम्** इति. या पृथिवी सर्वेषां जीवानाम् आधारभूता सा हि सर्वेषां देहान् सम्पादयति. अतः **स्वयम् अभ्यधत्त** तदुद्धारे सर्वएव जीवाः उद्धृताएव भवन्ति इति।।३१।।

एवं तां गृहीत्वा निर्गच्छन्तम् अनुवर्णयति **स्वदंष्ट्रया** इति.

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां समुत्थितः संरुरुचे रसायाः ।

तत्राऽऽदिदैत्यं गदया पतन्तं सुनाभसंदीपिततीव्रमन्युः ।।३२।।

जघान रुन्धानम् असह्यविक्रमं स लीलयेभं मृगराडिवाऽम्भसि ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

खुरैः इत्यत्र. ''**द्वौ स्तोमौ**''(   ) इति श्रुतिः सप्तमाष्टके अस्ति. 'द्वौ स्तोमौ' प्रातः सवनं वहतो यथाप्राणश्च अपानश्च; द्वौ माध्यन्दिनसवनं यथा चक्षुः च श्रोत्रं द्वौ तृतीयसवनं, यथा वाक् च प्रतिष्ठा च. पुरुषसम्मितो वा एष यज्ञो स्थूरिः इति ।।३१।।

क. 'तथैव' इति मां.१,२,३

तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ।।३३।।

दैत्यानाम् अतिबलत्वाद् भूमेः आनयनप्रतिबन्धम् आशङ्क्य **स्वदंष्ट्रया** इति उक्तम्. नहि यमगृहीतः केनचिद् मोचयितुं शक्यते. तत्रापि आधिदैविकयमेन. अन्यथा तद्रक्षकाः तत्र विघ्नं कुर्युः. दंष्ट्रायाः एकत्वं महत्त्वख्यापनाय[१]. **उद्धृत्य** इति वचनं नीयमानायाः पृथिव्या देवता सम्बन्धकरणख्यापनार्थम्. **नितरां मग्नाम्** इति भूमेः सहजासुरत्वं निराकृतम्. निराधारस्य अधस्ताद् गतिः, उपरिगतिरपि पक्षिणामिव सम्भवति, नतु उत्थानं, तत्राऽपि स भारः. अतः तां गृहीत्वा सम्यग् उत्थितः सम्यग् रुरुचे. **समि**ति चोररूपेण समागतोऽपि भाराक्रान्तो न रोचते. भूम्या सह स्त्रियेव अन्तःसन्तोषेण, बहिः शोभया च, रोचनं 'सं'शब्दार्थः. तत्रापि रसायाः उत्थितो लोके न रोचते, अयन्तु रसातलात्. अनेन पञ्चखण्डा पृथिव्युद्धृता इति ज्ञापितम्. 'स्वदंष्ट्रा'पदद्वयेन आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः दैत्ययोः निराकरणम् उक्तम्. आधिदैविकस्य निराकरणम् आह **तत्र आदिदैत्यम्** इति. आदित्वम् आधिदैविकत्वेन. आदौ वा दैत्यत्वं प्राप्तम्. **गदया पतन्तम्** इति शूरत्वं भगवदीयत्वम् अतिप्रतिबन्धकत्वञ्च सूचितम्. **सुनाभेन** सुदर्शनेन **संदीपितः तीव्रो** मन्युः यस्य. सुदर्शनेन मन्युजननं गदादीनां प्रतिघातसूचकम्. गदादीनि अस्त्राणि तद् युद्धे प्रतिहतानि. पश्चाद् गृहीतं सुदर्शनं विचारयति यदि अक्रोधेन भगवान् मां क्षिपेत्, तदा गदादिरिव अहमपि व्यर्थः स्याम्; अतो भगवतः क्रोधः उत्पादनीयः इति तदीयाः ब्रह्मद्रोहादयः भगवते स्मारिताः, तदा क्रोधेन सुदर्शनं प्रक्षिप्तवान् इति सम्यग्दीपनं फलपर्यवसायि. तीव्रत्वं फले विलम्बाभावाय. अतएव **जघान.** क्रोधेन हननात् पुनः उत्पत्तिः. ननु दोष-गुणयोः विद्यमानत्वात् कथम् एकान्ततो वधएव कृतः? इति आशङ्क्य आह **रुन्धानम्** इति. सहि गतिप्रतिबन्धको न भवेद् यदि, तदा न हतोऽपि स्यात्. प्रतिबन्धकत्वाद् अवश्यं हतः इति अर्थः. ननु अचिन्त्यशक्तिः भगवान् तत्र तिरोहितो भवेत्, तं वा वञ्चयेद्; हननमेव कुतः कृतवान्? इति आशङ्क्य आह **असह्यविक्रमम्** इति. न सह्यो विक्रमः पराक्रमो यस्य. ननु तथापि अपराधान्तरे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जघान इत्यत्र. 'इन्द्र'पदम् इति परम् ऐश्वर्यबोधकम् 'इन्द्र'पदम्।।३३।।

१.ज्ञापनाय ख. ङ.

मारणीयः, ननु स्वापराधे, "**वधानुकल्पः स्वद्रोहः**" (   ) इति भगवच्छास्त्रात्. तत्र आह **सः** इति. सः दैत्यवधार्थमेव वराहरूपं गृहीतवान्, अन्यथा [१]क्रियान्तरेण इच्छया वा भूमिं जलोपरि स्थापयेत्. ननु कल्पान्तर-व्यवस्थयेव भूमिम् अन्यत्र स्थापयित्वा पश्चाद् मारयेद् इति आशङ्क्य आह **लीलया** इति. ननु पूर्वभक्तिमेव तस्य उररीकृत्य तं भक्तं विधाय, कृतार्थमेव कथं न कृतवान्, सर्वसमर्थत्वाद्? इति आशङ्क्य उभयोः तादृशरूपग्रहणं संवृत्तं वध्यघातक-भावापन्नम्, अतो हतवान् इति आह दृष्टान्तेन **इभं मृगराडिव** इति. अनेन शाश्वतिको विरोधः सूचितः. दृष्टान्तेन प्राप्तं भक्षणदोषं परिहरति **अम्भसि** इति. उभावपि स्थलचरौ. जले मारणं स्वरक्षार्थमेव, न भक्षणार्थम् इति लोके तदपि प्रदर्शितम् इति आह **तद्रक्त-पङ्काङ्कित-गण्डतुण्डः** इति. अनेन सः बलाद् अग्रे समागम्य भूमिं धृतवान् इति लक्ष्यते, अन्यथा तद् उदरं न विदारयेत्. अतएव कल्पान्तरे विदारणं न उक्तम्. तस्य हिरण्याक्षस्य उदरभेदेन यद् रक्तं स्नुतं, तदेव किञ्चित्कालं स्थितं पङ्कप्रायं जातं; तेन अङ्कितं गण्डपर्यन्तं तुण्डं यस्य. तस्य उदरे बहुदूरे मुखं गतं, यथा अन्तर्गतं तस्य जीवतत्त्वं स्वमुखे समायाति, अन्यथा भगवतो भगवदीयानाञ्च द्रोहेण तस्य नरकपातः स्याद्, नीचयोनिः वा भवेत्. अतो भगवान् तं स्वस्मिन्नेव स्थापितवान्. इमम् अर्थं [२]दृष्टान्तेन स्पष्टयति **यथा गजेन्द्रः** इति. सहि कमलादीनां कन्दम् आत्मसात्करोति. 'इन्द्र'पदं दूरेऽपि विद्यमानं मूलं सप्ररोहम् उत्पाटयति इति ज्ञापयति. **जगतीम्** इति. यस्यां पृथिव्याम्. जङ्गमदेहाः जायन्ते, तादृशपृथ्वीभेदनेन स्वाभिलषित-स्वसजातीय-देहोत्पादक-पृथिव्यवयवसहित- कन्दं भक्षयति. एतत्परिज्ञानार्थमपि 'इन्द्र'पदम्. एवं भगवानपि हिरण्याक्षस्य जीवं, तद् इन्द्रियवर्गं, तस्य अग्रिम-देहोत्पादका-वयवसहितं विद्यमानदेहसम्बन्धिनं दूरीकृत्य, आत्मसात् कृतवान् इति अर्थः. इतरनिराकरणपूर्वकस्वग्रहणमेव विशेषभेदनम् ।।३२-३३।।

एवं दैत्यानां त्रिविधानामपि निराकरणम् उक्त्वा भूम्युद्धारम् उपसंहरति **तमाले**ति.

तमालनीलं सितदन्तकोट्या क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाऽङ्ग! ।
प्राज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकैः विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ।।३४।।

१.रूपान्तरेण ख; क्रियान्तररूपेण क.ङ. 'कृपान्तरेण' इति मां.१,३ २.'वृत्तान्तेन' इति मां.१,३.

ईशम् उपतस्थुः इति सम्बन्धः. तैरेव ईशत्वं प्रत्यक्षतो दृष्टम्. अयं यज्ञपुरुषः इति प्राज्ञाय. **बद्धाञ्जलयः** इति यज्ञारम्भे नमस्काराञ्जलिः विहितः इति, ''**भुवनमसि**'' (   ) इत्यत्र तथा उक्तत्वात्. यज्ञारम्भे च प्रातः अनुवाकः उच्यते. प्रकृते कालस्य नियामकत्वाभावाद् अनुवाकः इत्येव उक्तम्. सर्वैः क्रियमाणानाम् अनुवाकानां यागभेदेनाऽपि बहुत्वाद् बहुवचनम्. आधिदैविकत्वाय **विरिञ्चिमुख्या** इति. तस्य यज्ञत्वम् ईशत्वञ्च साधयति **तमालनीलां क्ष्मां सितदन्तकोट्या उत्क्षिपन्तम्** इति. तमालैः नीला, तमालवद् वा नीला. तमालाः तमोवद् नीलवृक्षाः. सृष्टौ अज्ञानं भयञ्च हेतुः. तमस्तु अज्ञानभूतं, वनं वृक्षरूपं भयहेतुः. नीलोऽपि गुणः शृङ्गारवद् रसजनकः. त्रितययोगे सर्गो रसालो भवति. सर्गोत्पादनसामर्थ्यख्यापनाय क्षमाधर्मयोगात् **क्ष्मा** इति उच्यते. अस्याः सजीवत्वनिराकरणार्थं दन्तकोटिसम्बन्धः. देहाऽविशीर्णत्वाय सितत्वम्. दंष्ट्राऽपि स्वस्य प्रियत्वज्ञापनाय दन्तत्वेन उक्ता. 'कोटि'पदेन भगवतो माहात्म्यम्. सर्वेषामेव ईशानां भूमौ स्नेहातिशयख्यापनाय सङ्ख्यावाचकपदप्रयोगः **उत्क्षेपणम्** उत्तोलनम्. अनेन भूमिः स्वरसाद् न आगता इति ज्ञापितम्. कोट्या भूमिस्पर्शनेन वेदिरिव स्फ्येन उद्धृता निरूपिता. ऐश्वर्यं स्पष्टमेव. **गजलीलया** इत्यनेनापि ऐश्वर्यं, यज्ञत्वं, भक्तकृपालुत्वञ्च पूर्वोक्तम् उपसंहृतम्. **अङ्ग!** इति कोमलसम्बोधनं परिज्ञानार्थम्।।३४।।

द्वादशार्कसमैः श्लोकैः कर्मनिर्णय उच्यते ।
ब्रह्मादीनाम् उत्तमत्वात् द्विविधं कर्म रूप्यते।।१।।
उभयोर्भगवत्त्वाय षड्भिः षड्भिर्गुणास्तथा ।
प्रमाणेन प्रमेयेन निर्णयो द्विविधो यतः।
तत्र प्रमाणरूपं हि षड्भिरादौ निरूप्यते।।२।।

ब्रह्मादीनां देवतात्वेऽपि यज्ञे ऋषीणामेव प्रयोजकत्वाद् **ऋषय ऊचुः** इति आह.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जितम् इत्यत्र. कारिकासु. **द्विविधम्** इति. प्रमाणानुरोधिप्रमेयरूपं स्वतन्त्रप्रमेयरूपञ्च. द्विधा निरूपणप्रयोजनम् आहुः **प्रमाणेन** इत्यादि. द्वेधा निर्णयार्थं तथा इति अर्थः.

प्रथमतो यज्ञस्य सर्वोत्कृष्टत्वं प्रामाणिकत्वञ्च वदन् नमस्यति **जितं जितम्** इति.

ऋषयः ऊचुः

जितं जितं तेऽजित! यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वराः तस्मै नमः कारणविग्रहाय ते।।३५।।

ते जितमेव जितम्. यज्ञार्थं शत्रुहननं वेदे निरूप्यते, न केवलं शत्रुजयः; हननस्य दोषजनकत्वात्. अतो यज्ञार्थं शत्रुजयात् त्वयैव जितम्. किञ्च, कालेन सर्वे जिताः. कालमुखमपि भङ्क्त्वा तद् भक्षितां पृथिवीम् आनीतवान् असि इति त्वयैव जितम्. प्रलये कालग्रस्तान् वा उत्पादयति इति ''सर्वोऽपि सावधारणः'' इति ''ते जितमेव जितम्'' इति उक्तम्. कदाचित् कस्यचिद् जयादिक्रिया उत्कृष्टा बह्वर्थसाधिका च भवति काकतालीयन्यायेन. न एतावता जयनिर्द्धारः इति आशङ्क्य आह **हे अजित!** इति. न कदाऽपि केनाऽपि जितः इति. एतादृशजयः तस्य सर्वदा इति अर्थः. यज्ञैः सर्वे पदार्थाः भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते, अयन्तु यज्ञान् भावयति. अतोऽपि जयनिर्द्धारः. एवं स्तुत्वा नमन्ति **त्रयीं तनुं परिधुन्वते नमः** इति. ''रूपविशेषे नमनं न कर्त्तव्यम्'' इति निषेधो अत्र न घटते, अस्यैव वेदरूपत्वात्. अथर्वाङ्गिरसां मुख्यतया ब्रह्मप्रतिपादकत्वाद् ब्रह्मोपयोगि-त्वेन त्रयीशेषत्वेऽपि ज्ञानशेषत्वमेव मन्यमानाः, प्रमाणप्राधान्येन शास्त्रनिरूपकाः कर्मणि वेदत्रयमेव निर्द्धारितवन्तः. अतो वराहरूपं त्रयीमयमेव, वेदानामपि तस्मिन् शरीरे प्रवेशस्य उक्तत्वात्. तस्य च परितः कम्पनं वेदानां विक्षेपार्थम्, अन्यथा त्रय्याः चतुर्थशेषत्वे वेदानां यज्ञे तात्पर्यं न स्यात्, तथा सति सर्वमुक्तिरेव [क]स्यात्. परितो धूननेन हीनभावमपि, प्रमाणस्य दृढकार्याजनकत्वात् प्रापयति इति भयादपि नमनं, सृष्टिसाधकत्वादपि. अनेन स्वार्थं वेदभ्रामणं न कारणीयम् इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विवृतौ. **सर्वोऽपि** इत्यादि. ''सर्वोपि वाक्यात्मपदसमूहः सावधारणः'' इति न्यायाद् इति अर्थः. **वेदरूपत्वाद्** इति. त्रय्यात्मकत्वात्. चतुष्टय्यात्मकत्वं कुतो न उक्तम् इत्यतः आहुः **अथर्वे**त्यादि. **ब्रह्मोपयोगित्वेन** इति. **''ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा भवति**''(   ) इति श्रुतेः तदुपयोगित्वेन।।३५।।

क. 'मुक्ति न स्यात्' इति मां.१,३.

प्रार्थना सूचिता. ननु भवतां वेदभ्रामणे किं स्याद्? योगेन यज्ञान् दृष्ट्वा, दर्शनानुसारेण तान् विधाय, कृतार्थाः भविष्यन्ति भवन्तः इति आशङ्क्य परिधूनने यज्ञदर्शनमेव न भविष्यति इत्यत्र हेतुं वदन्तो नमस्यन्ति **यद्रोमगर्तेषु** इति. यस्य भगवतो रोमोद्गमस्थाने ये कूपाः, ते विशालाः गर्ताः इति उच्यन्ते. तेषु सर्वे यज्ञाः निलीनाः. सहि जलाद् उद्गतः उपरिनिविष्टान् वेदान् विधूननेन दूरीकरिष्यति इति ज्ञात्वा स्वस्याऽपि दूरीकरणशङ्कया श्रुत्या सम्बद्धा रोमगर्तेषु निलीनाः. तत्र रोमावलम्बनम् अस्ति इति रोम्णां बर्हिष्ट्वाद् यज्ञानां चलनेन [१]स्कन्दनदोषोऽपि न भवति. ''**अस्कन्नं हि तद् यद् बर्हिषि स्कन्दति**'' (कृष्णयजु. ६।३।८) इति श्रुतेः. अतः सर्ववेदानां यज्ञानाञ्च कारणभूतः. उभयप्रसवकर्ता देहो यस्य, तादृशाय अन्यत् कर्तुम् अशक्ताः नमनं कुर्वन्ति इति अर्थः. ''कारणसूकराय ते'' इत्यपि वा पाठे तुल्यो अर्थः।।३५।।

एवं पुरुषोत्तमत्वं, वेदयज्ञरूपतां, स्वस्वामित्वञ्च निरूप्य तदुपपादयन्तो अतज्ज्ञान् निन्दन्ति **रूपम्** इति.

रूपं तवैतद् ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव! यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोम-स्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ।।३६।।

तव एतद्रूपं निश्चयेन दुष्कृतात्मनां पापसंस्कृतभूम्यवयव-निष्पादितदेहानां द्रष्टुमपि अयोग्यं, यथा दिवाभीतस्य सूर्यरूपम्. ज्ञानभजनादिकन्तु दूरे. न एतावता कर्ममार्गे काचित् क्षतिः. तत्र हेतुद्वयम् आह हे **देव यद् अध्वरात्मकम्** इति. देवाः पापेभ्यः तिरोहिताः भवन्ति. धर्मश्च यज्ञः, अधर्मे न प्रकाशते. अंशान्तरन्तु वराहे न अस्ति, यतः तद्रूपम् अध्वरात्मकमेव. एवं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वम् उक्त्वा वेदत्वम् आदौ उपपादयन्ति **छन्दांसि यस्य त्वचि** इति. छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्त, अनन्तानि वा तानि त्वचि अन्तः बहिः व्याप्तायाम्. अनेन तत्र सर्ववेदनिवेशनम् उक्तम्. अर्थरूपाणि वा. छन्दसामपि विनियोगात् तदा अध्वरात्मकतैव निरूप्यते. त्रयीतु तत्र उत्पत्तिकसम्बन्धयुक्ता. **बर्हिरोमसु.**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रूपम् इत्यत्र. सर्ववेदनिवेशन(?)पूर्वश्लोकएव उक्तत्वात् पुनः तथा व्याख्यानं पुनरुक्तिम् आवहतीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **अर्थरूपाणि** इति.

१.स्कन्न ख. ङ. च

यज्ञियाः पदार्थाः पुरुषावयवैः उत्पादिताः. तदधिष्ठातृदेवतारूपे वराहे निवेश्यन्ते तदा सदैव अभवन्ति इति. रोम्णां च बर्हिः उत्पादकत्वं वक्तव्यम्. अतो बर्हिः अधिष्ठातृरोम्णां विधूननेन पतितानां कुशकाशमयबर्हिष्ट्वम्. **आज्यं दृशि.** आध्यात्मिकं रूपम् आज्यम्, आधिदैविकं चक्षुः. अतएव चक्षुषा आज्याभि-धारणम्. चक्षुषः सत्यत्वम् आज्यस्य प्रजापतित्वञ्च तत्त्वख्यापकम्. 'तु'शब्दः पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति. ''**वसन्तो अस्यासीद् आज्यम्**'' (ऋग्वेद मं.१०।९०।) इति. ''**सरसमहवसन्ता य प्रायच्छद्**'' ( ) इति श्रुतेः वरप्राप्तमेव वसन्तादेः राज्यादिरूपत्वम्. तद् अत्र न उपयुज्यते. **अङ्घ्रिषु** चरणेषु चातुर्होत्रं चतुर्होतृवर्गः।।३६।।

एवं द्रव्यर्त्विजां निवेशनम् उक्त्वा, पात्राणां निवेशनं वराहावयवेषु सफलम् आह **स्रुक् तुण्ड** इति.

स्रुक् तुण्ड आसीत् स्रुव ईश! नासयोः इडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं ते भगवन् अग्निहोत्रम् ।।३७।।

स्रुग् इति [1]जात्यपेक्षया एकवचनं, जुह्वभिप्रायेण वा, **तुण्डे** मुखे आसीत्. **स्रुवः** इति जात्यपेक्षया एकवचनम्. स्रुवौ, अग्निहोत्र-दर्शपौर्णमासयोः भेदेन स्रुवविधानात्. **इडा** पात्रम् **उदरे.** अस्य भगवतः सर्वत्र यागे, [2]सर्वत्र तत्-

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गायत्र्याद्यभिमानिदेवतारूपाणि. अर्थरूपाणां तेषाम् अनुग्राह्यत्वे युक्तिम् आहुः **छन्दसाम्** इत्यादि. ''**गायत्रो वा अग्निः गायत्रं छन्दा**''( ) इत्यादौ अर्थरूपायाः देवतायाएव छन्दोक्षर-सङ्ख्यापूर्वकं विनियोगात्, ''**छन्दांसि मे रथो भवत**''(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।१२।५/६२) इत्यत्रापि तेषां साक्षादेव विनियोगाद् वा, तथा इति अर्थः. ननु अध्वरात्मकत्वे पूर्वश्लोकोक्त-त्रयीरूपताविरोध इत्यतः आहुः **त्रयीतु** इत्यादि. तथाच औत्पत्तिकसूत्रे तथा निर्णीतत्वेन अविनाभावाद् न त्रयीरूपताविरोधः इति अर्थः. **तत्त्वख्यापकम्** इति. आधिदैविकत्वख्यापक(त्व)म्. पक्षान्तरमेव स्फुटीकुर्वन्ति **वसन्तो अस्य** इत्यादि।।३६।।

स्रुक् तुण्ड इत्यत्र. **इडापात्रम्** इति. यत्र हुतशेषं पुरोडाशं निधाय स्वं-स्वं भागम् ऋत्विजो विभजन्ति तत्पात्रम्.

१.जात्याख्यायाम् ग. २.एतन्नास्ति ग. सर्व ङ.

तत्पात्रेषु, सान्निध्यसामर्थ्यार्थम् **ईश!** इति सम्बोधनम्. इडाभागस्य उदरप्रवेशसाम्येन आकृतिसाम्येन च उदरे इडापात्रस्य निवेशनम्. **चमसाः** सोमपानपात्राणि. **कर्णरन्ध्रे** इति. आधिदैविके चमसे यशः स्थापितम्. तद् आध्यात्मिकपरव्याख्याने प्राणत्वेन निरूपितं, तथापि यशोरूपम् इति तत्कर्णे पेयम् इति कर्णरन्ध्रे चमसानां निवेशनम्. **प्राशित्रं** ब्रह्मपात्रं, तद् **आस्ये** मुखविवरे. ब्रह्मभागस्य दन्तास्पर्शनेन गिलनविधानात्. ग्रसने गिलनात्मके कर्मणि जिह्वामूले वा सर्वे ग्रहाः, ऐन्द्रवाय्वादिपात्राणि. 'तु'शब्देन पात्राणां निवृत्तिः उच्यते, वाक्यमध्ये 'तु'शब्दस्य विद्यमानत्वात्. ग्रसनस्य क्रियारूपत्वाद् ग्रहाअपि सोमाएव अत्र ग्राह्याः, तत्पानं वा. यस्य ते भगवतः चर्वणक्रियैव अग्निहोत्रं कर्म. ''**अग्निहोत्रफला वेदाः**'' (   ) इति सर्वेषामेव यज्ञानाम् अग्निहोत्रानु-प्रवेशात् चर्वणत्वम्।।३७।।

क्रियाणां साधिकरणानां भगवति निवेशनम् आह **दीक्षानुजन्मे**ति.

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते ।।३८।।

भगवान् वराहः इदानीम् अवतीर्णः. पुनः यजमानरूपेण अवतरति प्रतियज्ञम्. ''**यज्ञो यजमानः**'' (   ) इति, ''**गर्भो वा एष यद् दीक्षितः**'' (   ) इति च, ''**क्रीते सोमे पूर्णतेजा जायतएव**'' (   ) इति च श्रुतेः. दीक्षासंस्कारो 'दीक्षा'ख्यदेवतायाः यजमाने स्थापनं, तद् इष्ट्या क्षौरादिना च सिद्ध्यति. **उपसदो** ग्रीवा, सएव 'शिरोधर'शब्देन उच्यते, शिरो बिभर्ति इति व्युत्पत्त्या, ''**ग्रीवा उपसदः**'' (शतप.ब्राह्म.३।४।४१) इति श्रुतेः. प्रायणीयोदनीये इष्टी. उपसदादौ सोमक्रयात् पूर्वं सोमान्ते च क्रिया इति उभयोः एकं द्रव्यम्, एका

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आधिदैविके चमसे इत्यादि. ''**तद् अर्वाग्-बिलश्च सद्गर्धबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं, तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना**'' (बृहदा.उप.२।२) इति मन्त्रस्य आध्यात्मिकपरव्याखाने ''**प्राणा वै यशः**'' (   ) इति श्रुत्या प्राणत्वेन निरूपितम् इति अर्थः।।३७।।

दीक्षेत्यत्र. **साधिकरणानाम्** इति. अग्निसहितानाम्. दीक्षायाः जन्मत्वाय प्रमाणानि आहुः **यज्ञः** इत्यादि. उपसदः तिस्रः. कृतौ प्रवर्ग्यस्य पात्ररूपत्वेपि

च देवता, एकञ्च पात्रम् इति कालसञ्ज्ञाभेदात् कर्मभेदः. ग्रहाणां मुखमध्ये स्थानात् प्रायणीयोदयनीययोः पार्श्वयोः स्थानम् उचितमेव. उभयोः दंष्ट्रात्वं दिक्परिज्ञापकत्वेन सर्वो हि मृत्युभिः हतो दिशः परिजानाति, अन्यथा भवाटवीन्यायेन रजस्वलाक्षो दिशो न जानातीति मृत्युनैव हि दिशः परिज्ञाप्यन्ते. **जिह्वा प्रवर्ग्यः** इति प्रवर्ग्यपात्रमेव शिरः, कर्म च आध्यात्मिकम्. आहुत्यनन्तरं या ज्वाला, सा आकृतिसाम्याद् जिह्वा, सएव पुनः प्रवर्ग्यः, तव क्रतुरूपस्य शीर्षकं शिरः. एवं क्रियानिवेशनम् उक्त्वा तदधिकरणनिवेशनम् आह **सभ्यावसथ्यं चितयो असवो हि ते** इति. सभ्यावसथ्ययोः इष्टकाचयनाभावात् पृथग् निर्देशः. शालामुखीये धिष्ण्येषु चयनं स्पष्टमेव, दर्शपूर्णमासादिष्वपि चयनविधानात्. ''**अग्निहोत्रे दर्शपूर्णमासयोः पशुबन्धे चातुर्मास्येषु**'' (   ) इति श्रुतेः. दक्षिणाग्नि-प्राजहितयोरपि चयनत्वम्. शामित्रन्तु प्राजहितम् आहवनीयो वा. निर्मन्थपक्षस्तु अनुकल्पः. **असवः** प्राणाः. नव वै पुरुषे प्राणाः. धिष्ण्यान्यपि नव. गार्हपत्यो दशमः।।३८।।

नामधेयानां विनियोगम् आह **सोमस्तु** इति.

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देहधातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिः त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ।।३९।।

सोमः सोमयागः. ''**सोमेन यजेत**'' (तैत्ति.संहि.३।२।२।३) इत्यत्र

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कर्माधिकरणत्वेन कर्मणि प्रवेश इति ज्ञापनाय आहुः **कर्म च** इत्यादि. तस्मिन् पात्र(त्रे) दुग्धहोमरूपं यत्कर्म तदपि शिरः इति अर्थः. तस्य जिह्वात्वं साधयन्ति **आहुतीत्यादि. सभ्यावसथ्ययोः** इति. **सभ्यो** होमरहितो अग्निः, **आवसथ्य** औपासनाग्निः; तयोः. **नव वा** इति. एतेन पञ्चप्राणपक्षो अत्र न सङ्गृहीतः इति ज्ञापितम्।।३८।।

सोमः इत्यत्र. सोमयागः इति सिद्धान्ते 'सोम'शब्दो यज्ञनामधेयम्. ''**यदि अग्निष्टोमः सोमः पुरस्तात् स्याद् उक्थ्यं कुर्वीत, यद्युक्थ्यं(?) स्याद् अतिरात्रं कुर्वीत, यज्ञक्रतुभिरेव अस्य देवता वृङ्क्ते**''(   ) इत्यत्र 'सोम'पदस्य अग्रिमादि-सामानाधिकरण्यात्, कुर्वीत इति क्रियालिङ्गाद्, यज्ञक्रतुभिः इति उपसंहाराच्च, अत्राऽपि सवनादिनाम्नामेव प्रायपाठे द्रव्यादेः निवेशायोगाच्च. आधुनिकमतेतु तत्र

मत्वर्थस्य आश्रयणाद्, ओषधिपक्षेऽपि देवतात्वात्, सर्गजनकत्वेन रेतस्त्वम्. ग्रहाणां सोमत्वे अविकृतः सोमो रेतस्त्वेन वक्तव्यः. **सवनानि** त्रीणि. **अवस्थितिः** जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तयः. **संस्था** अग्निष्टोमादयः त्रयः, पञ्च, सप्त वा. तेषां सर्वएव विभेदाः तव देहधातवः. चर्म मांसम् अस्थि च इति त्रयः त्वङ्-मांस-स्नाय्वस्थिमज्जा इति पञ्च, सप्तपक्षे चर्म-रुधिरयोः अनुप्रवेशः, चतुष्पक्षे त्रयो रुधिरञ्च. सर्वथा देहधातवएव सर्वे संस्थाभेदाः. **सत्राणि** एकाहादीनि सहस्रसमान्तानि सर्वाणि अवान्तरभेदयुक्तान्यपि शरीरस्य अस्थ्नां संयोगस्थानानि, तान्येव 'सन्धि'शब्देन उच्यन्ते. सर्वयज्ञाः क्रतवश्च त्वमेव. यज्ञाः [1]सप्तदशक्रतवो द्वादशाहादयो अश्वमेधान्ताः चयनसहिताः. इष्टयो दर्शपूर्णमासादयः, **बन्धनानि** नसाः।।३९।।

एवं सर्वनिवेशनम् उक्त्वा यज्ञरूपम् उपसंहरन् नमस्यति **नमो नमस्ते** इति.

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ।।४०।।

आदरे वीप्सा, स्वस्य स्वभोगस्य च तत्फलत्वात्. अस्य रूपान्तरत्वव्यावृत्त्यर्थं **ते** इति. **अखिलाः मन्त्राः** ''इषेत्वा''दयः, वस्वादयो **देवताः**. **द्रव्याणि** व्रीह्यादीनि. देवतोद्देशेन द्रव्यं मन्त्रेण देवतायै समर्प्यते इति अलौकिको यागो मन्त्रदेवताद्रव्यात्मको भवति. पुरुषप्रयत्नस्तु लौकिकः, अभिनयरूपत्वात् सः न यागः, प्रत्यक्षसिद्धत्वात्. सर्वक्रतवे सर्वयागभेदरूपाय. **क्रियात्मने**. अभिनयोऽपि यागाविर्भावहेतुः इति क्रियापि अतीन्द्रिया कैश्चिद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मत्वर्थे लक्षणा आश्रीयते, तदा 'सोम'पदं द्रव्यवाचकम् इति तस्मिन् पक्षे कथं सोमस्य रेतस्त्वम् इत्यतः आहुः **सोमेन** इत्यादि. पक्षान्तरम् आहुः **ग्रहाणाम्** इत्यादि. तेषां ग्रसने निवेशस्य उक्तत्वाद् अत्र तथा वक्तव्यः इति अर्थः. **सप्तदशा**(श) इति. आश्रावयादि-सप्तदशाक्षरनिर्वर्त्याः. केचित्तु **''असोमा यज्ञाः ससोमाः क्रतवः''** (   ) इति आहुः।।३९।।

नमो नमः इत्यत्र. **प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्** इति. चोदनालक्षणस्य अप्रत्यक्षस्यैव धर्मत्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य अतथात्वात् सः न यागः इति अर्थः.

१.सप्तदशाहृदय क. ख. घ. 'सप्तदशाहादयः' इति मां.

आश्रिता[1], वस्तुतस्तु तत्रैव अन्तर्भूता मन्त्राधिकरणिका [2]यजमानाविष्ट-भगवन्निष्ठा. एवं सर्वत्र क्रियारूपत्वेन स्वर्गादिसाधकत्वेन रूपेण नमस्कारं कृत्वा ब्रह्ममीमांसानुसारेण वेदार्थरूपोऽपि अयमेव इति आह **वैराग्येति**. **वैराग्यं** विषयवैतृष्ण्यम्. **भक्तिः** भगवति श्रवणादिः स्नेहो वा. **आत्मजयो** अन्तःकरण-जयः. त्रयमपि अन्तःकरणशोधकम्. अतएव तैः अनुभावितं यद् ज्ञानं ब्रह्मात्मानुभवः[3], तद्रूपाय. **विद्या** उपनिषद्, वाक्यार्थज्ञानरूपा, तज्जनको गुरुः. उत्तरकाण्डेतु एतावत्येव सामग्री षड्गुणा भगवद्रूपा. पुनः नमनं काण्डभेदात् ।।४०।।

एवं षड्भिः यागरूपत्वं निरूप्य आधिदैविकं रूपं प्रकृतोपयोगि निरूपयति षड्भिः **दंष्ट्राग्रकोट्या** इति.

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनाद् निस्सरतो दता धृता मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ।।४१।।

दंष्ट्रायाः अग्रं, तस्य कोटिः एकदेशः. माहात्म्यार्थम् एवम् उक्तम्. ऊर्ध्वं धारणात् तथैव भवति. तादृश्याः क्रियायाः असम्भावितत्वम् आशङ्क्य **भगवन्** इति सम्बोधयति. तत्रापि भगवत्प्रयत्नएव व्यापृतः इति आह **त्वया धृता** इति. अन्यधृतायाः तत्रापि दंष्ट्राग्रभिन्नायाः अशोभाम् आशङ्क्य आह **विराजते** इति. **भूधरा** इति सम्बोधनं योगस्य दर्शनाद् माहात्म्यार्थम्. इतरभूधरसाम्याभावाय **सभूधरा** इति उक्तम्. सपर्वता भूमिः धृता इति अर्थः. सपर्वता भूमिः निम्नोन्नता शोभारहितेव भवति. विशेषशोभायां हेतुम् आह **यथा वनाद्** इति. **वनाद्** जलात्, स्थलकमलिनीं गृहीत्वा वनादेव वा. अवनाद् रक्षणाद् वा हेतोः निःसरतो मत्तगजेन्द्रस्य दन्तेन धृता पत्रसहिता **पद्मिनी** कमलिनी. भगवदर्थम् उद्धृता गजेन्द्रेण कमलिनी शोभते इति अविवादम्. तथा यज्ञार्थं यज्ञेन समुद्धृता भूमिः सर्वपुरुषार्थसाधिका इति, भर्तृसहिता इति, भर्तृपूजिता इति वा, ऊद्ध्र्वं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आश्रिता इति. यज्ञत्वेन आश्रिता. **तत्र** इति क्रियावति हरौ ।।४०।।

।।इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे त्रयोदशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१.दीप्सिता ग.मां.१,२,३. २.यजमानाद्याविष्ट ख.ग.मां.१,२,३.३.'ब्रह्मात्मानुभावः' इति मां.१,३

निर्गच्छन्ती वा, कैलासशिखरे मेघवद् विराजतएव. प्राकृतवनादपि निःसरता गजेन धृता (भूमिः) शुभ्राधिकरणा, आश्चर्येण लोकैः दृश्यमाना, चित्ररूप-मध्यगतेव विराजते. आकृतिः प्रकृतेऽपि तुल्या ।।४१।।

एवं भगवत्सम्बन्धाद् भूमेः सौन्दर्यातिशयम् उक्त्वा, भगवतः तादर्थ्य-दोषपरिहाराय तथा[क] कृत्वा, भगवतो रूपातिशयम् आह **त्रयीमयम्** इति.

त्रयीमयं रूपम् इदं च सौकरं भूमण्डलेनाऽथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ।।४२।।

सौकरमपि इदं रूपं वेदत्रयात्मकत्वेन स्वरूपतो महदपि, विराजमानमपि, **दता धृतेन** भूमण्डलेन भिन्नप्रक्रमेण अधिकं **चकास्ति**. वेदादिभानेन[ख] अलौकिकं रूपमाहात्म्यं, नतु लौकिकम्. इदन्तु दन्ताग्रे भूमण्डलस्थापनेन लोकप्रसिद्धत्वाद् अलौकिकापेक्षयाऽपि अधिकम्. यथा तुरगाद्यपेक्षयाऽपि चित्रादिस्थिताः तुरगादयो अतिशोभायुक्ताः भवन्ति, तथा वर्णान्तरभावम् आपन्ना वर्णान्तरेण धृता वर्णान्तरस्य शोभाजनिका भवति. इममेव अर्थं वर्णकृतं शोभातिशयं दृष्टान्तेन स्पष्टयति **शृङ्गोढघनेन** इति. श्वेतशृङ्गे आरूढेन नीलमेघेन स्थूलेन [ग]तथा मेरुः शोभते. तत्राऽपि त्रयाणाम् अन्योन्यस्नेहेन सचेतनत्वे विलासो भवति. तदा दृश्यमानरूपमिव तद् भवति इति अभूतोपमा 'विभ्रम'शब्देन उच्यते।।४२।।

एवं दम्पत्योः अन्यतरसम्बन्धेन अन्यतरशोभाम् उक्त्वा तयोः पितृत्वं स्थापयन्तः स्वार्थं भूस्थापनं प्रार्थयन्ति **संस्थापय** इति.

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां भवाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चाऽस्यै नमसा सह त्वया यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः।।४३।।

एनां जगतां स्थावरसहितानाम् उद्भवाय, सर्वेषां **मातरं** तव **पत्नीं** पितृत्वात् सम्यक् **स्थापय**. यथा पुत्राणाम् अर्थे भार्यां स्थापयित्वा गृहस्थो देशान्तरे गच्छति तथा त्वयाऽपि विधेयं, यतः त्वं पिता असि. अनेन प्रत्युपकारम् अनपेक्ष्यैव त्वया इयं स्थापनीया, इयञ्च तथैव परिपालयतु इति निरूपितम्. तथापि अस्माभिः स्वानृण्याय पूर्णकामयोः युवयोः नमस्कारातिरिक्तं कर्तव्यं न भवति इति त्वया सह अस्यै **नमसाविधेम.** नमः आ समन्ताद् विधेम इति अर्थः. **नमसा** इति अव्ययं, कर्तव्यनिर्देशो वा. नमस्कारपुरःसरं पूजां करिष्यामः इति

क. 'तया' इति मां.१,२,३. ख. 'वेदादिभावेन' इति मां.१,२,३. ग. 'यथा' इति मां.१,२,३

अर्थः. अथवा अस्यै अस्याः प्रियार्थं नमसा सह त्वया सह च विधेम. भक्तिं यज्ञादिकञ्च कुर्वाणा आज्ञाकारिणो भविष्यामः इति अर्थः. किञ्च, इयं स्थापनीयैव, यतः इयं गर्भिणी. भगवदाकृतिविशेषान् भक्तिसाधकान् प्रसविष्यति इति अभिप्रायेण आह **यस्यां स्वतेजः** इति. मार्गद्वयप्रवर्त्तको भवान्, यथा अश्वत्थे त्रयीमयम् अग्निं यज्ञसिद्ध्यर्थम् अधाः, एवम् अस्यामपि **स्वतेजः** स्वस्य पुरुषोत्तमाकृतिं, पुरुषाकृतिं वा भूमौ स्थापितवान्।।४३।।

इमां प्रार्थनाम् उक्त्वा कर्तव्यान्तरं न अवशिष्यते इति अभिप्रायेण तस्य पूर्वकृतमेव चरित्रम् अनुवदन्तः स्तुवन्ति **कः श्रद्दधीत** इति.

कः श्रद्दधीताऽन्यतमस्तव प्रभो रसां गताया भुव उद्विबर्हणम्।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम्।।४४।।

अन्यतमः त्वत्तो अन्यो भूत्वा महानपि भुवः **उद्विबर्हणम्** उद्वाहं, वहनम्, उद्धरणं वा, अन्यैः उच्यमानमपि श्रद्धां कुर्यात्. त्वन्माहात्म्यम् अवाङ्-मनसगोचरं दृष्ट्वाऽपि उक्तं न विश्वासं जनयति. स्वस्य माहात्म्यम् एतादृशकार्यासक्तिञ्च मत्वा, असम्भावनया उपाख्यानानां मिथ्यात्वं परिकल्प्य, न कदाचिद् अनीदृशं जगद् इति मन्यन्ते. तद्वाक्येन अन्येऽपि च भ्रान्ताः भवन्ति. यत्र अन्यकरणमपि न मन्यन्ते, तत्र स्वकरणं दूरे. तवतु एतद् आश्चर्हेतुरपि न इति आह **न विस्मयो असौ** इति. असौ उद्धारः त्वयि न विस्मयः, आश्चर्यं न भवति, तव वा गर्वहेतुः न भवति. तत्र हेतुः **विश्वविस्मये** इति. विश्वमेव तव विस्मयरूपम्. यथा रेतो रूपाद् जलाद् मयूरादिः पुरुषादिः वा जायते, बीजाद् वटादिः वा. किञ्च, विश्वमेव विस्मयम् आश्चर्यं यस्मिन् इति भवत्येव इदं माहात्म्यसूचकम्. इतोऽपि अन्यद् महद् माहात्म्यं तद् आह **यो मायया इदम्** इति. इदमेव जगद् मायया स्वप्नादौ प्रतिपुरुषं भिन्नप्रकारेण, एकस्मिन्नपि पुरुषे क्षणाद् अन्यथारूपं च, **ससृजे** इति. 'सृजत' इति पाठे ''यो भवान्'' इति. तत्रापि अतिविस्मयं, पर्वताग्रे समुद्रः, दिवसे नक्षत्राणि, स्वशिरश्छेदादिः वा स्वयं तेनैव रूपेण पश्यति इति।।४४।।

ननु तथापि भवद्भ्यो ज्ञानं मोक्षो वा देयः, तदर्थम् अधिकारो वा सम्पादनीयः. तत् कथम् एतावतैव विरमणम्? इति आशङ्क्य आहुः **विधुन्वतः** इति.

विधुन्वतो वेदमयं निजं वपुः जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्भूतशिवाम्बुबिन्दुभिः विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ।।४५।।

इदं वेदात्मकं **वपुः** जलाद् उद्गतं **विधुन्वतः** तव सतः प्रसङ्गादेव वयं **जनस्तपःसत्यनिवासिनः** तत् **सटाशिखोद्भूतशिवाम्बुबिन्दुभिः**[1], पुनः-पुनः आगतैः विशेषेण **मृज्यमाना** घर्षणपूर्वकं प्रक्षाल्यमाना अत्यर्थम् अन्तर्बहिः **पाविताः**. अतिपवित्रैः ज्ञानादिकं प्राप्यतएव. मुखे मन्त्रं पठन् हस्तेन मार्जनादौ लोकः किल पावितो भवति. तत्र वेदमयेनैव शरीरेण वेदार्थरूपेण बर्हिषा कण्ठोद्गतेन पवमानेन बर्हिः मुष्ट्याकृतिरूपेण. तत्रापि तव आलोडनेन कल्याणरूपाम्बुभिः मार्जने किं वक्तव्यम् इति अर्थः. त्रिविधानां ग्रहणम् एकविधाधिकारसिद्ध्यर्थम् ।।४५।।

एवं भगवन्तं स्तुत्वा, स्तोत्रम् उपसंहरिष्यन्तः, स्वल्पं स्तुतम् इति स्वस्य दोषं परिहरन्ति **स वै बत** इति.

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवेषते यः कर्मणां पारम् अपारकर्मणः।
यद् योगमायागुणयोगमोहितं विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ।।४६।।

तव गुणानुवर्णनरूपे स्तोत्रे अल्पं-बहु इति विभागो व्यर्थः, त्वद्गुणानाम् आनन्त्यात्. स्वबुद्ध्यनुसारेणतु स्तुतमेव. यस्तु पुनः सर्वाण्येव भगवच्चरित्राणि कथयिष्यामि इति प्रारभते, सः निश्चयेन **भ्रष्टमतिः**. भ्रष्टस्तु अमर्यादो भवतीति **बत** इति खेदे. भगवद्गुणेषु चित्तं प्रसारयन्नपि भ्रष्टबुद्धिः जातइति तस्य बुद्धिभ्रंशमेव आह **अपारकर्मणः कर्मणां पारं यः ईषते,** भगवतः सर्वानेव गुणान् कथयिष्यामि इति, तदा इयं बुद्धिः समीचीना भवेद्, यदि कर्मणाम् अन्तो भवेत्. जातानामपि अन्तो न अस्ति, जनिष्यमाणानाञ्च इति वक्तुम् **अपारकर्मणः** इति उक्तम्. तत्रापि ये सर्वज्ञाः वेदाः, अन्ये वा भगवद्भावं प्राप्ताः, ते वदन्तु नाम, ये पुनः मायया मोहिताः ते कुतो वदेयुः? विश्वस्मिन् सर्वएव च मोहिताः. तद् आह **यद् योगमाये**ति. **यद्** यस्मात् कारणात् समस्तमेव विश्वं योगमायायाः सत्त्वादिगुणैः मोहितम्. सा हि जगत्कर्त्री स्वकार्यसिद्ध्यर्थं मोहयत्येव, अतो मायामोहिताः. स्वरूपमेव न जानन्ति, कुतो भगवद्गुणान्! अतः सर्वानेव त्वं पालय इति आहुः **भगवन् विधेहि शम्** इति. पूर्ववाक्यं

१.शिखोद्धतः. ग.

दयाजनकम् ।।४६।।

तेषां स्तोत्रं सफलं जातम् इति आह **इति उपस्थीयमानः** इति.

मैत्रेयः उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैः मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।

सलिले स्वखुराक्रान्ते उपाधत्ताऽविताऽवनिम् ।।४७।।

इति इति समाप्तिः, प्रकारवाची वा. **तैः मुनिभिः** एवम् **उपस्थीयमानः** उपस्थानविद्यया स्तूयमानः. ब्रह्मवादिनां वचनम् अन्यथा मा भवतु इति, **स्वखुराक्रान्ते सलिले अवनिम् उपाधत्त** स्थापितवान्. यतो अयम् **अविता,** सर्वेषां रक्षकः. **खुरैः आक्रान्ते** इति जले मर्यादा भयञ्च सूचयति, भगवत्खुराक्रान्तत्वात्. तावद् जलं देवतारूपं जातम् इति भूमेः अतः परं न काऽपि चिन्ता।।४७।।

एवं भगवच्चरित्रम् उक्त्वा उपसंहरति **सः इत्थम्** इति.

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।

रसाया लीलयोन्नीताम् अप्सु न्यस्य ययौ हरिः।।४८।।

इत्थम् अमुना प्रकारेण **रसायाः** सकाशाद् **उर्वीम्** उद्धृत्य **अप्सु न्यस्य ययौ** इति सम्बन्धः एकाकिना कथम् उद्धृता? कथं वा स्थापिता? इति शङ्काव्युदासार्थम् आह **विष्वक्सेनः** इति. विष्वक् परितः सेना यस्य, तस्य भगवतः सर्वत्र सर्वकार्यकरणार्थं महत्येव सेना वर्तते. स्थापने हेतुः **प्रजापतिः** इति. गमने हेतुः **हरिः** इति. ईश्वरसान्निध्यं प्रजानां स्वाच्छन्द्य–प्रतिबन्धकम्।।४८।।

प्रकरणं समाप्तम् इति सूचयितुम् एतच्छ्रवणस्य फलम् आह त्रिभिः **यः एवम् एताम्** इति.

य एवम् एतां हरिमेधसो हरेः कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।

शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं जनार्दनोऽस्याऽऽशु हृदि प्रसीदति ।।४९।।

य एतां पूर्वोक्तां भगवतः सृष्टिरूपां लीलां **शृण्वीत** [क]**श्रवयेत वा,** तयोः भगवान् प्रसीदति इति फलम्. ननु दुःखनिवृत्तिः कथं न फलत्वेन उच्यते? इति आशङ्क्य आह **हरिमेधसो हरेः** इति. भगवद्विषयिणी स्वकीयैव बुद्धिः सर्वं

क. 'श्रावयेत' इति मां.१,२,३

दुःखं हरति, भगवानपि हरति स्वतन्त्रतया अस्मृतोऽपि. एवं सति दुःखनिवृत्तिः स्वतः सिद्धा कथं फलत्वेन वक्तव्या इति अर्थः. ननु स्वर्गादिः कथं न उच्यते? तत्र आह **सुभद्राम्** इति. सर्वेभ्यः स्वर्गादिभ्योऽपि कथैव सुभद्रा, अतिकल्याणरूपा, पूर्णानन्दरूपा इति यावत्. ननु कथम् उच्यते सर्वत्र फलत्वेन स्वर्गादिः? तत्र आह **कथनीयमायिनः** इति. कथनीया माया अस्य अस्ति इति. सर्वेषां वाचि माया वर्तते इति यथासुखं वदन्ति इति अर्थः. विहितत्वात् श्रवणकीर्तनेन धर्मो भवति इति, तस्य अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वं सिद्धम् इति, तन्निराकरणार्थं श्रवण-कीर्तनयोः भक्तित्वख्यापनाय मध्ये **भक्त्या** इति पदम्. **भक्त्या** प्रेम्णा. अतएव क्रियाद्वयमपि च्छान्दसं, **शृणुयात् श्रावयेद्** इति अर्थः. प्रत्येकं हेतुत्वज्ञापनार्थं 'वा'शब्दः. श्रवणन्तु स्वरूपसौन्दर्यादेव भविष्यति इति अर्थः. तद् आह **उशतीम्** इति. **उशतीं** कमनीयाम्. अविद्यानाशकः तस्य हृदयएव प्रसन्नो भवति।।४९।।

ततः किं स्याद् अतः आह **तस्मिन् प्रसन्ने** इति.

तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम्।।५०।।

तस्य प्रसादएव दुर्लभः, प्रसन्ने न किञ्चिद् दुर्लभम्. तत्र हेतुः **सकलाशिषां प्रभौ** इति. ऐहिकामुष्मिकमोक्षाणां प्रभुः स्वामी, नियन्ता. अनेन सर्वमेव तस्य भगवति प्रसन्ने सिद्धमेव इति ज्ञापितम्. ननु भगवद्भक्तानामपि सर्वविषयाभावो दृश्यते, तत् कस्य हेतोः? तत्र आह **ताभिः लवात्मभिः अलम्** इति. क्षणमात्रं सुखाभासजनकैः विषयैः अलम्. तर्हि कदाचिद् उत्पन्ना विषयेच्छा भक्तानाम् अपूरिता स्याद्! इति आशङ्क्य आह **अनन्यदृष्ट्या** इति. **गुहाशयः** तेषां हृदयाभिप्रायवित्, स्वयमेव **गतिं** वैकुण्ठाख्यां **विधत्ते. परः** इति पुरुषोत्तमः. **पराम्** इति स्वसदृशं करोति इति अर्थः. यथा स्वस्य भोगे न काऽपि न्यूनता, तथा तस्याऽपि इति भावः. परम् अनन्यदृष्ट्या भजनं कर्तव्यं, भगवदर्थमेव भगवान् सेव्यः।।५०।।

ननु एवं सति महाफलं भगवत्कथाश्रवणं यथा निर्वहति, तथा उपायो वक्तव्यः इति चेत् तत्र आह **को नाम लोके** इति.

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित् पुरा कथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहाम् अहो विरज्येत विना नरेतरम् ।।५१।।

न अत्र उपायो वक्तव्यः. कथासौन्दर्यमेव सहजं तत्र हेतुः. ये भगवत्कथारसिकाः ते प्रवर्तन्तएव, ये वृषभाः ते उपेक्षणीयाएव. अथ प्रवृत्ताः कियत्कालानन्तरं कथां परित्यज्य रसान्तरे आविष्टाः भविष्यन्ति इति, तेषां रसान्तरव्यावृत्त्यर्थम् उपायो वकतव्यः इति चेत्, तादृशो न अस्ति इति निरूपयति **को नाम** प्रसिद्धः. कोऽपि **लोके** माहात्म्यम् अज्ञात्वाऽपि, स्वतन्त्रो भूत्वा, पुरुषार्थानां सारासारविभागविदपि भूत्वा, **पुरा कथानां** पूर्ववृत्तान्तानां मध्ये **भगवत्कथासुधां** निपीय प्रसङ्गादपि भगवत्कथां श्रुत्वा, तस्याः माधुर्यं मृत्युनिवर्त्तकत्वञ्च ज्ञात्वा. तत्रापि भगवत्कथावक्तुः मुखाद् निःसृतां कथां परितः शृण्वन् अक्षरमात्राऽभिप्रायमपि अत्यजन् **विरज्येत,** को वा अलम् इति मन्येत? ब्रह्मसायुज्यम् अप्राप्तः. यतः इयं कथा **भवापहा.** ननु विरक्ताअपि लोके दृश्यन्ते तत्र आह **अहो** इति आश्चर्यम् एतत्. अत्र को हेतुः? इति जिज्ञासायां स्वतः स्फुरितं हेतुम् आह **विना** इति. सः प्रायेण नरएव न भवति, वानरो वा अन्यो वा इति अर्थः।।५१।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रयोदशाध्यायविवरणम् ।।

चतुर्दशाध्यायविवरणम्

वर्णिता सर्गलीलाऽत्र त्रिविधा भगवत्कृता ।
उपोद्घातस्तु तस्या वै मतान्तरम् इहोच्यते ।।१।।
लौकिकी चाऽन्यभाषा च समाधिः पोषिके तु ते ।
ते प्रमाणम् अभिप्रायाद् सर्वथा पूर्ववद् न हि ।।२।।
यदेव भिन्नरीत्याऽत्र रूप्यते तन् मतान्तरम् ।
न तद्विरोधो दोषाय पदशास्त्रार्थयोः क्वचित्।।३।।
कामेन क्रोधलोभाभ्यां कर्ममार्गादिनाशनम् ।
वर्ण्यते येन जीवानां मुक्तानाम् इह सम्भवः ।।४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ चतुर्दशाध्यायं विवरिषवः पूर्वसङ्गतिस्मारणपूर्वकं तेषाम् अर्थम् अनुवदन्तः सङ्गतौ प्रकारविशेषम् आहुः **वर्णिता** इत्यादि. द्वादशभिः सर्गलीला वर्णिता, **तु** पुनः त्रयोदशे उपोद्घातो वर्णितः, **वै** निश्चयेन, तस्याः उपोद्घात-लीलायाः सम्बन्धिमतान्तरम् इह अस्यां षडध्याय्याम् उच्यते इति अर्थः.

ननु मतान्तरस्य कथम् उपोद्घातमध्ये प्रवेशः इति आकाङ्क्षायां तत्प्रकारम् आहुः **लौकिकी** इत्यादि. अत्र लौकिकीग्रहणं प्रसङ्गाद्, मध्ये अत्र किञ्चिद् वर्तमानत्वात् च. **पूर्ववत्** समाधिभाषावद् 'वर्ण'पदवाक्यार्थरूपेण **न** तत्र हेतुः. **हि** यतो हेतोः **ते** उभे **समाधेः** समाध्युपलब्धस्य अर्थस्य **पोषिके** दार्ढ्यजननेन उपष्टम्भिके, अतः ते तथा इति अर्थः.

ननु अत्र 'केचिदादि'पदाभावात् कथं मतान्तरत्वावधृतिः इति आकाङ्क्षायां तद्गमकं रूपम् आहुः **यदेव** इत्यादि. तथाच 'तद्गमक'पदाभावेऽपि प्रकारभेदएव तद्गमकम् इति अर्थतो मतान्तरम् इति अर्थः. ननु भिन्नरीतिकत्वे विरोधाव-श्यम्भावात् कथं पोषकत्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **न तद्** इत्यादि. नहि सर्वत्र विरोधः, किन्तु 'क्वचित्'पदार्थस्य क्वचित् शास्त्रार्थस्य, तत्तस्मात् कादाचित्कत्वाद् विरोधो दोषाय न. तथाच, तत्तात्पर्ये अवगते आपाततः प्रतिपन्नस्य अकिञ्चित्-करत्वात् तत्प्रकारेण पोषकत्वम् इति अर्थः.

एवम् उपोद्घातेन पोषकताप्रकारं निरूप्य प्रस्तुतं षडध्याय्याः प्रयोजनम् आहुः **कामेन** इति द्वाभ्याम्. तथा चतुर्भिः मुक्तोत्पत्तौ हेतुकथनं, त्रिभिः तेषाम्

सर्गस्थित्यन्तकथनं त्रिभिस्तेषां निरूप्यते ।
अतः षड्भिरिहाऽध्यायैः सर्गोपोद्घात उच्यते ।।५।।
मतान्तरे शिवोत्कर्षो ब्राह्मणोत्कर्ष एव च ।
भक्तस्य विष्णोश्चैवाऽत्र लीला व्यामोहिका मता ।।६।।
अन्यथा भगवल्लीला सर्गो नैव भवेद् ध्रुवम् ।
चतुर्दशे तु कामेन कर्मनाश इहोच्यते ।।७।।
आधारकथनं त्वादौ गर्भे जीवस्य संक्रमः ।
तामसः काम एषो हि ततोऽत्र शिवसङ्कथा ।।८।।
क्रोधोऽपि[१] कामसम्बन्धी प्रसादो भक्तिहेतुकः ।
पूर्वाध्याये वराहस्य चरित्रं [२]तु निरूपितम् ।।९।।

तत्र हिरण्याक्षवधः संक्षेपेण निरूपितः. तं विस्तरेण श्रोतुं भगवतो युद्धलीलायाम् आसक्तमनाः विदुरः पृच्छति इति आह **निशम्य** इति.

श्रीशुकः उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितां हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलिः न चाऽतितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ।।१।।

कौषारविणेति. पितृसम्बन्धाद् युद्धलीलां कथयिष्यति इति ज्ञापितम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अवस्थाकथनम्, (एवं कथनं) षडध्याय्या तथा उच्यते इति अर्थः.

ननु अत्र षडध्याय्यां किं मतान्तरत्वप्रयोजकं रूपम् इति आकाङ्क्षायां तद् आहुः **मतान्तरे** इत्यादि. तथाच एतच्चतुष्टयं मतान्तरत्वप्रयोजकं रूपम् इति अर्थः.

उपोद्घातत्वप्रकारम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. यदि मार्गत्रयनाशो न स्याद्, भगवान् न अवतरेत्. यदि च व्यामोहिकां लीलां न कुर्यात्, तदा मुक्तानाम् उत्पत्त्यादिः न स्यात्. यदि सा न स्यात् तदा सर्गस्य कर्मजन्यत्वमेव स्याद्, न लीलात्वम्. अतः तद् उभयनिरूपणेन उपोद्घातत्वम् इति अर्थः. एवं प्रकरणार्थं सङ्गृह्य प्रस्तुतार्थं सामान्यतो विशेषतश्च आहुः **चतुर्दशे** इत्यादि. **इह** इति. षडध्याय्याम्. **आधारो** दितिः. शेषं स्फुटम्.

निशम्य इत्यत्र. **आसक्तमनाः** इत्यनेन प्रश्नस्य विदुरोक्तौ प्रसङ्गः सङ्गतिः इति बोधितम्।।१।।

---

१. 'क्रोधो हि' इति मां.१,३. २. 'चरित्रं यन्' इति मां.१,३ 'चरित्रं सुनिरूपितम्' इति मां२.

हरेः इति. तत्र च क्लेशाभावः. कारणभूतो यः सूकरो यज्ञः सः आत्मनि यस्य. अनेन वराहावतारस्वरूपं तेन ज्ञातम् इति सूचितम्. वराहावतारकथा पूर्वं पृष्टा, प्रकारान्तरेण पुनः पृच्छति **उद्यताञ्जलिः** इति. कथां भिक्षामिव प्रार्थयति. तथा प्रार्थने हेतुः **नच अतितृप्तः** इति. **विदुरः** इति देशकालाभिज्ञत्वेन निपुणता. अवश्यप्रश्ने हेतुः **धृतव्रतः** इति. सहि धृतभगवद्व्रतः, भगवत्कथाश्रवण-व्यतिरेकेण स्थातुं न शक्नोति।।१।।

सङ्क्षेपेण पूर्वोक्तां प्रकृतोपयोगिनीं भगवत्कथाम् अनुवदति **तेनैवतु** इति.

विदुरः उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ! हरिणा यज्ञरूपिणा।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ।।२।।

तेनैव वराहेणैव. **मुनिश्रेष्ठ!** इति ज्ञाने हेतुः. **हरिणा** इति विरोधः कथं सर्वदुखःहर्ता तं मारितवान्? इति. एतद्विरोधपरिहार्थमेव बहु वक्तव्यम्. **यज्ञरूपिणा** इति. दैत्यत्वाद् मारणस्य अवश्यम्भावः. **आदिदैत्यः** इति पदद्वयं मारणे अमारणे च हेतुः. आदित्वाद् दैत्यानां मूलोच्छेदकएव स्यात्. **हिरण्याक्षः** इति. हिरण्यरूपे अक्षिणी यस्य. अनेन तस्य निधिरूपत्वं प्रदर्शितम्. एतदपि अमारणे हेतुः, मारणे वा. तद्दृष्टिस्पृष्टभूमौ सुवर्णत्वसम्भवात् सर्वसुवर्णत्वे अमृतत्वेन सृष्टिः न स्याद् इति. अनुश्रवणम् उच्चारणानन्तरं, भ्रमात् श्रुते उत्तरासम्भवात् ।।२।।

अथ प्रतिबन्धकत्वेन समागतो हतः इति पक्षेण अस्य[क] कथं प्रतिबन्धकत्वम् इति पृच्छति **तस्य च उद्धरतः** इति.

तस्य चोद्धरतः क्षोणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया।
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद् हेतोरभून् मृधः ।।३।।

द्वयोः सम्बन्धिनोः षष्ठ्या निर्देशः सम्बन्धदार्ढ्यार्थः. एकः कार्यसाधकः कौतुकी, अपरो दैत्यराजत्वात् सिद्धसमस्तार्थः. अतः स्वभावतः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तेन इत्यत्र. **अमृतत्वेन** इति. **''अमृतं वै हिरण्यम्''**(तैत्ति.ब्राह्म.१।३।७।७) इति श्रुतेः हिरण्यस्य अमृतत्वेन।।२।।

क. 'पक्षे तस्य कथम्' इति मां.१,३.

कलहहेतोः अभावात् **कस्माद् हेतोः अभूद् मृधः** इति प्रश्नः।।३।।

भगवत्कथाभिनिविष्टं दृष्ट्वा तम् अभिनन्दति मैत्रेयः **साधु वीर** इति.

मैत्रेयः उवाच

साधु वीर! त्वया पृष्टम् अवतारकथां हरेः ।

यत् त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविनाशिनीम् ।।४।।

वीर! इति सम्बोधनं तादृशलीलायां मनसो अभिनिवेशद्योतकम्. यथाकथञ्चिदपि मनोनिवेशने कृतार्थो भवेद् इति **त्वया साधु पृष्टम्.** कर्म पूर्वोक्तमेव साधुत्वेन निर्दिदष्टम्. पृष्टस्य वा साधुत्वं विधीयते. सर्वथैव तद्वाक्यं भिन्नम्. साधुत्वम् उपपादयति **यद्** यस्मात् कारणाद् **हरेः अवतारकथां पृच्छसि.** साधवो हि परदुःखनिवारकाः. प्रश्नस्य साधुत्वं विषयसाधुत्वात्. विषयस्य कथारूपस्य साधुत्वम् उपपादयति **मृत्युपाशविनाशिनीम्** इति. मृत्योः पाशं विनाशयति इति ।।४।।

मृत्युपाशविनाशित्वम् उपपादयति **यया** इति.

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयाऽर्भकः ।

मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिम् आरुरोह हरेः पदम् ।।५।।

यया कथया **उत्तानपदः पुत्रो** ध्रुवो **मुनिना** नारदेन **गीतया** सुखार्थमपि श्रुतया **मृत्योः मूर्ध्नि अङ्घ्रि कृत्वा** स्थापयित्वा **हरेः पदम् आरुरोह.** सहि ध्रुवः शरीरम् अत्यक्त्वैव ध्रुवपदं गतः. वीरः स्ववीर्येण अभिनिवेशितचित्तः कथायां भवति. तपस्तु पूर्वसिद्धमेव इति तस्य न मृत्युनाशकत्वम्. भगवत्प्रसादोऽपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य इत्यत्र. **कलहहेतोः अभावाद्** इति. एतेन अयं प्रश्नो न हेतुप्रश्नः, किन्तु अवतारकथायाएव इति ज्ञापितम्, अतएव अभिनन्दने तथैव उक्तम्. एतदेव च अत्र उपोद्बलकम्।।३।।

साधु वीर इत्यत्र. **पूर्वोक्तम्** इति. हिरण्याक्षवधकथारूपं, **पृष्टस्य** इति. प्रश्नस्य साधुत्वे प्रयोजकरूपम् आहुः **सर्वथा** इत्यादि।।४।।

यया इत्यत्र. ननु स्वकार्यार्थं श्रुतया कथया ध्रुवस्य एवंभावः कथम् अभूत्. अन्येषां च कथं भवेद् इति आकाङ्क्षायां पूर्वोक्तश्लोकसम्बोधनं हृदि कृत्वा अभिनिवेशात्मकं स्वरूपयोग्यतासम्पादकं तत्र साधनम् आहुः **वीर** इत्यादि. ननु तेन

कथायाः व्यापाररूपत्वाद् न भिन्नतया साधकः. अतो नारदोपदिष्टः सर्वएव मार्गः कथारूपो जातः. यद्यपि मात्रा भजनम् उपदिष्टं, तदपि मुनिनैव निर्द्धारितम्. भजनकथाश्रवणयोः प्राप्ताप्राप्तविवेके क्रियमाणे तपस्यादेः अप्रयोजकत्वात् कथाभिनिवेशएव फलसाधकः तत्रापि अभिनिवेशस्य स्वरूपमध्यपाताद् भिन्ना कथैव हेतुः. उत्तानः पादो यस्य इति. पूर्वं सोऽपि ऊद्ध्र्वपादः तपः कृतवान् इति ज्ञायते. तादृशस्याऽपि नरकरक्षको जातः इति स्वपरपुरुषार्थसाधकत्वं कथायाः निरूपितम्. **अर्भकः** इति कालादेः असाधकत्वम्. विमाने समागते देहं त्यक्ष्यति इति बुद्ध्या मृत्युरपि समागतः, तदा कथाव्याप्तदेहस्य भगवच्चरणारविन्द–च्छायया शान्तस्य हेयत्वाभावाद्, मृत्युना उत्तोलितदेहो विमानपर्यन्तं मृत्योः गमनाभावम् आशङ्क्य, तस्य मस्तके पादं दत्त्वा तेनैव शरीरेण विमानं, पश्चाद् ध्रुवलोकञ्च आरुरोह. अतः कथा अभिनिवेशो महाफलः, सः विदुरे जातः इति अभिनन्दम् ।।५।।

यस्मिन् कल्पे वराह–हिरण्याक्षयोः युद्धकथा अतिसमीचीना, तां वक्तुं प्रक्रियान्तरम् आरभते **अथ** इति.

अथाऽत्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानाम् अनुपृच्छताम् ।।६।।

अत्राऽपि अयम् इतिहासः पूर्वं मया **श्रुतः** इतिहासत्वात्. व्यासात्, पराशराद् वा. वेदसारोद्धारः समाधिभाषायाम्, इतिहाससारोद्धारो मतान्तर इति विवेकः. **इतिहासः** पुरावृत्तकथा, गर्वहेतुः हास्यहेतुः वा, आश्चर्याश्रयरूपता वा. **अयम्** इति बुद्ध्युपस्थितः. **पुरा** ब्रह्मणा देवानाम् **अनुपृच्छताम्** अर्थे वर्णितः इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तपः कृतम् इति तस्य तदेव साधनं भविष्यति इति शङ्कायाम् आहुः **तपः** इत्यादि. **पूर्वसिद्धम्** इति. अन्यथा, तादृग्वंशे जन्मैव न स्याद् अतः तस्य पूर्वसिद्धतपोवद् इदमपि भोगादियोग्य-शरीरसम्पादकमेव नतु तावत्पर्यन्तमपि इति अर्थः. तर्हि भगवत्प्रसादएव तथा अस्तु इति शङ्कायाम् आहुः **भगवदि**त्यादि. तस्य व्यापारत्वं च कथय इति तृतीयया स्मार्यते. तर्हि भजनस्य तथात्वम् अस्तु, इत्यतः आहुः **यद्यपि** इत्यादि. तर्हि अभिनिवेशएव तथा अस्तु इत्यतः आहुः **तत्रापि** इत्यादि।।५।।

अथ इत्यत्र. **(ब्रह्मणा वर्णितः श्रुतः)** इति प्रतिज्ञाऽनुरोधात् पक्षान्तरम्

पुरावृत्तत्वं समर्थितम्. ब्रह्मणा बालकचेष्टायाः वर्णितत्वात् हासहेतुत्वं, देवतानां निदानपरिज्ञापकत्वेन गर्वहेतुत्वं, सर्गलीलायाश्च मुक्तजीवविषयत्वेन आश्चर्याश्रयत्वम्. गर्भस्थितौ जयविजयौ देवानां प्रश्नहेतुभूतौ इति तद्धेतुकथनार्थम् अयम् अध्यायः. प्रकरणस्याऽपि उपोद्घातः इति ब्रह्मानुक्तोऽपि अर्थः उच्यते. उक्तो वा ततः संकृष्य हेतुत्वार्थं भिन्नतया निरूप्यते. **देवदेवेन** इति. देवानाम् इष्टदेवत्वात् कथायाः प्रामाणिकत्वम्. **अनुपृच्छताम्** इति. तत्रापि भगवत्कथायामेव तैरपि पृष्टम् इति ज्ञायते ।।६।।

हेतुभूतां कथाम् आरभते **दितिः** इति.

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तः मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ।।७।।

दाक्षायणी इति पुरुषस्वभावा धृष्टा. दक्षोऽपि प्राचेतसो गर्वादिदोष-युक्तो बहुभर्तृकापुत्रः, अन्यथा तस्याः तथा धाष्ट्र्यं न उपपद्येत. **क्षत्तः** इति जितेन्द्रियत्वेन सम्बोधनं, कामलीलायाः वक्ष्यमाणत्वाद् दोषाभावाय. **मारीचम्** इति. ''**मरीचिः मनसो अभवद्**'' (भाग.पुरा.३।१२।२४) इति मनसः सङ्कल्प-जनकत्वात्, सङ्कल्पस्य कामजनकत्वाच्च. कश्यपः कामावतारः इति सूचितम्, अन्यथा तथाक्षोभो न भवेद्, न वा सः प्रवर्तेत. **कश्यपम्** इति. ब्रह्मणः शापरूपो अयम्. यथा ''**आसन् मरीचेः षट् पुत्राः**'' (भाग.पुरा.१०।८५।४७) इति कल्पान्तरे, तथा अस्मिन् कल्पे मरीचिपुत्रत्वाद् अस्याऽपि उपहासः सम्भवति जितेन्द्रियाभिमानिनः. तदा ब्रह्मणा अयमपि शप्तः इति लक्ष्यते, [१]पौत्रीविवाहाद्, एवं प्रसङ्गाद्, नामनिरुक्तेश्च. पतित्वाद् न अत्यन्तम् अनौचित्यम्. बहुस्त्रीकत्वाद् तद्व्रतो अयं रतिकाम्यया प्रवर्तते. यथा अग्निहोत्रादिधर्मः, तथा व्रतमपि धर्मः इति. परं विधर्मत्वात्[२] क्रोधजनकत्वम्, अपत्ये दोषसम्भवाच्च.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **उक्तो वा** इति।।६।।

दितिः इत्यत्र. **अस्याऽपि उपहासः** इति. एतत्कृतो ब्रह्मणः उपहासः. **नामनिरुक्तेः** इति. कश्यं मद्यं पिबति इति यौगिकनिरुक्तेः. तद्व्रतः इति. ''**न काञ्चन परिहरेद्**''(छान्दो.उप.२।१३।२) इति वामदेव्य-सामोपासनव्रतः.

१.'पौत्रा' क. २.'विधर्मजनकत्वात्' क. मां.१,३

अपत्यकामा इति न वैराग्यादिना परिहर्तुं शक्या. **सन्ध्यायाम्** इति निषिद्धकामस्य उद्‌गमनहेतुः उक्तः. **हृच्छयः** कामः हृदये स्थितएव तदानीम् उद्‌गतः, तेन अर्दिता भिन्नमर्मा ।।७।।

कश्यपं कर्मणि प्रवृत्तं नाशयितुं प्रवृत्ता इति कथनार्थं तस्य अग्निहोत्रकर्म उच्यते **इष्ट्वा अग्निजिह्वम्** इति.

इष्ट्वाऽग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।
निम्लोचत्यर्क आसीनम् अग्न्यगारे समाहितम् ।।८।।

अग्निरेव जिह्वा यस्य. यदा वीतार्चिः लेला यद् विभाति तद् देवानाम् आस्यं, यदा नीलो अप्रकाशो अर्चिः उदेति सो अग्निः भगवज्जिह्वा. पयसा नित्यहोमः. ''**रेतः सिञ्चति प्रजनने**'' (मुण्डकोप.२।१।५) इति प्रकृतोपयोगित्वं च. अग्निहोत्रस्य चर्वणरूपत्वाद् यागरूपत्वाच्च **पुरुषम् इष्ट्वा** इति उक्तम्. **यजुषां पतिम्** इति. ''**यजुर्वेदेन अग्निहोत्रम्**'' (   ) इति वाक्यात्. **निम्लोचति अर्के** इति. अतः ''**अस्तमिते होतव्यम्**'' (   ) ''**सन्धौ होतव्यम्**'' (   ) इति च पक्षः आदृतः. **आसीनम्** इति अनुपस्थानपक्षः उक्तः, अन्यथा प्रजायेत. [क]अग्न्यागारएव आसीनम्. **समाहितम्** इति सावधानान्तःकरणो भूत्वा, इष्टं भगवन्तं ध्यायति इति लक्ष्यते ।।८।।

दितिः षड्भिः सोपपत्तिकं सम्बन्धं प्रार्थयते. **एषः** इति.

कामपीडाप्रतीकारो यशसाऽनुग्रहस्तथा ।
वैषम्यस्य च निर्द्धारो द्वाभ्याम् अन्ते तु याचनम् ।।१।।

प्रथमं कामपीडाम् आह सर्वहेतुभूतां **एषः** इति.

दितिः उवाच

एष मां त्वत्कृते विद्वन् काम आत्तशरासनः ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वैराग्यादिना इति. वैराग्योपदेशादिना।।७।।

इष्ट्वा इत्यत्र. **अन्यथा प्रजायेत** इति उपस्थानात् पूर्वम् उत्तरञ्च प्रज्वालनविधानात्. उपस्थानपक्षे तदानीं पुनः लेलायमानो अग्निः जायेत इति अर्थः।।८।।

१.लेलायतीव ग. लोलायत् घ. ङ. क. 'अग्न्यगारएव' इति मां.१,२,३

दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ।।९।।

देवतारूपः कामः प्रत्यक्षो जातः इति दर्शयति. कामशास्त्रे कामः पुरुषमेव बाधते नतु स्त्रियं, तस्याः स्वपृतनारूपत्वात्. पुरुषार्थश्च पुरुषस्यैव, अन्यथा पुरुषस्य स्त्रीशेषत्वं स्यात्. तस्मात् कथं बाधते? इति आशङ्क्य आह **त्वत्कृते** इति. त्वदर्थं मां बाधते. त्वां बाधितुम् असमर्थः त्वद् बाधार्थं मां बाधते इति अर्थः. अतो अहं कामप्रेरिता त्वद् बाधां करोमि इति भावः. **विद्वन्** इति न अत्र किञ्चिद् निरूपणीयं, कामातुरायाः शास्त्रसिद्धत्वात्. **आत्तशरासनः** इति त्वद् बाधायाम् अकृतायां मां जीवतो मारयिष्यति इति सूचितम्. साक्षात्कारः स्वस्य पृतनात्वसूचकः. अतएव "**भ्रुवोर्भङ्गो जायते**" ( ) इति "**रसदृष्टयोऽपि निर्गच्छन्ति**" ( ) इति शरवत्त्वम्. **दुनोति** पीडयति. **दीनाम्** इति तस्य निर्दयत्वं सूचितम् अस्य दयोत्पादनार्थम्. **विक्रम्य** इति तस्य अत्यन्तम् आग्रहः. **रम्भामिव महागजः** इति नाशनार्थं प्रवृत्तिः।।९।।

तस्माद् न अहम् उपेक्षणीया, किन्तु कृपा कर्तव्या इति आह **तद् भवान्** इति.

तद्भवान् दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्ताम् अनुग्रहम्।।१०।।

कामादयः षड् बाधकाः प्रत्येकं सर्वत्र लोके. ममतु सर्वे सम्भूय बाधकाः इति ज्ञापनार्थं कामबाधां निरूप्य मात्सर्यम् आह **सपत्नीनां प्रजावतीनां समृद्धिभिः दह्यमानायां मयि अनुग्रहम् आयुङ्क्ताम्.** लोट आत्मनेपदम्. सपत्न्येव दाहहेतुः, तत्रापि बह्व्यः, तत्रापि मदपेक्षया तासां समृद्धिः, तत्रापि प्रजावत्त्वम्. अतो दोषचतुष्टयेन मात्सर्येण दाहः, तन्निवृत्यर्थम् अनुग्रहः कर्तव्यः. समृद्धिप्रजादाने ततोऽपि अधिकदाने वा दाहाऽभावः सुखञ्च भविष्यति इति भावः. **भद्रं ते** इति पूर्वं बाधकत्वेन स्वस्य निरूपणात्, प्रवृत्तावपि कदाचिद् बाधः स्यात् तथा सति अप्रवृत्तिरेव अस्तु इति शङ्कां परिहरति ।।१०।।

त्वद् अनुग्रहेण न केवलं दोषाभावः किन्तु गुणो भविष्यति इति आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद्भवान् इत्यत्र. **बाधकत्वेन स्वस्य निरूपणाद्** इति. कामस्य स्वबाधकत्वेन निरूपणाद् इति अर्थः।।१०।।

भर्तरि इति.

भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकान् आविशते यशः ।

पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया[क] ननु जायते ।।११।।

सामीप्ये सप्तमी. [ख]भर्तृसमीपे **आप्तोरुमानानां यशो लोकान् आविशते.** गर्भाधानादिसंस्कारेषु भर्त्रा सह एकासने स्त्रीणां सम्माननमिति तत्कीर्तनम्. भर्तृकर्तृकं वा माननम्. तद् यशसो लोकप्रवेशम् उपपादयति **पतिः भवद्विधः** इति. यासां स्त्रीणां भवद्विधः पतिः प्रजया पुत्ररूपेण निश्चयेन जायते, "**तज्जाया जाया भवति यद् अस्यां जायते पुनः**" (ऐत.ब्राह्म.७।१४) इति श्रुतेः।।११।।

एवं गुणदोषौ निरूप्य नीतिमपि निरूपयति **पुरे**ति द्वाभ्याम्.

पुरा पिता नो भगवान् दक्षो दुहितृवत्सलः ।

कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ।।१२।।

विवाहात् पूर्वं **नो** अस्माकं पिता दक्षः. **भगवान्** इति सर्वसमर्थः. चन्द्रमिव त्वामपि करिष्यति इति भयं जनयति. **दक्षः** इति अभिचरेद् वा. **दुहितृवत्सलः** इति स्नेहाद् औदासीन्याभावः. अतएव हे **वत्साः कं वृणीत ? इति अपृच्छत पृथक्. पृथग्** इति अन्यानुरोधाभावाय. **नो** अस्मान् विभक्त्यन्तरत्वाद् न पौनरुक्त्यम्. अनेन तस्य विचारभङ्गे महान् उपद्रवो भविष्यति इति प्रवृतौ हेतुः उक्तः।।१२।।

इदानीम् अस्माकं न अस्ति वैषम्यं, तवतु वैषम्यम् इति आह **सः विदित्वा** इति.

स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं सन्तानभावनः ।

त्रयोदशाऽददात् तासां यास्ते शीलम् अनुव्रताः ।।१३।।

आत्मजानां नो भावं विदित्वा तासां मध्ये **त्रयोदश नो** अस्मान् **ते अददात्. याः ते शीलम् अनुव्रताः** समानस्वभावाः. तत्राऽपि दक्षः **सन्तानभावनः** दुहितृसन्तानं भावयति इति. सन्तत्यभावे दानमेव व्यर्थं स्यात् ।।१३।।

एवम् अप्रवृतौ नीतिविरोधम् उपपाद्य प्रार्थयति **अथ** इति.

अथ मे कुरु [ग]कल्याण कामं कञ्जविलोचन ।

क. 'प्रजयानुप्रजायते' इति मां१,३. ख.सामीप्ये क. ग.कल्याणकामं पा. कल्याणं कामं पा.

आर्तोपसर्पणं भूमन् अमोघं हि महीयसि ।।१४।।

न विरोधादिशङ्कया प्रवृत्तिः कर्तव्या, किन्तु रसेनैव इति भिन्नप्रक्रमः. तव कामाभावेऽपि **मे कामं कुरु,** मे कामनां पूरय इति अर्थः. **कञ्जविलोचन** इति प्रकृतोपयोगिरूपवत्त्वम्. दैन्यम् आह **आर्तोपसर्पणम्** इति. **महीयसि** महापुरुषे आर्त्तानां प्रार्थना सफलैव इति अर्थः. सर्वत्र षड्भिः निरूपणं तत्कार्यस्य भगवत्वाय।।१४।।

धर्माद् दक्षात् ततो भीतो लोकानां निन्दनादपि ।
कालकर्ममहादेवाद् अप्रवृत्तस्त्वसान्त्वयत् ।।१।।

असान्त्विताया भगवानपि क्रुध्यति इति तस्याः सान्त्वनं कृतवान् इति आह **इती**ति.

मैत्रेयः उवाच

इति तां वीर! मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
प्रत्याहाऽनुनयन्वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ।।१५।।

वीर! इति सम्बोधनं सान्त्वनवाक्येषु भ्रमाभावाय. **मारीचः** इति पूर्ववत्. **कृपणाम्** इति दया. **बहुभाषिणीम्** इति भयम्. **वाचा** इति न प्रवृत्त्या, अन्यथा रसाभासः स्यात्. किञ्च, प्रवृद्धो अनङ्गएव कश्मलो यस्याः. नहि सः कश्मला भुज्यते, अतः कश्मलनिवृत्त्यर्थं सान्त्वनम् ।।१५।।

कामो अभिमानात् फलतो वा निवर्तते, [1]तत्र फलस्य साम्प्रतं कर्तुम् अयुक्तत्वात् साधारणवाक्यैः अभिमानं जनयति **एष ते अहम्** इति षड्भिः

[2]**कश्यपः उवाच**

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि ।
तस्याः कामं न कः कुर्यात् सिद्धिः त्रैवर्गिकी यतः ।।१६।।

प्रार्थितस्य परिज्ञानं हेतूक्त्या तस्य साधनम् ।
स्त्रियाश्चतुर्भिः स्तोत्रं च प्रार्थना च निरूप्यते ।।१।।
संसारदुःखतरणे हेतुः स्त्री स्वयमेव च ।
अरातितरणे दुर्गम् अनन्तोपकृतिर्गृहम् ।।२।।
एवम् उत्कर्षकथने साभिमाना भवेद् इति ।

१.तस्य ग. २.अयं पाठः क्वाचित्कः.

पश्चात् सम्प्रार्थनं युक्तं [1]स्वकीर्तेर्हेतुताऽपि च॥३॥

एषः कामः. ते अहम् अवश्यं विधास्यामि. **भीरु** इति विशिष्टस्त्रीत्व-कथनं महत्त्वज्ञापकं, "**विशेषास्त्वङ्गना भीरुः**" (अमरकोष २।६।३) इति कोशात्. प्रकृतोपयोगि च भीरुत्वम्. **यद् इच्छसि** इति पुत्रान्, भोगं, सम्पत्तिञ्च. एतद् अवश्यं कर्तव्यम् इति उपपादयति **तस्याः** इति. "**संवत्सरो वै प्रजापतिः**" (प्रश्नोप. १।९) इति श्रुतेः. "**त्रयोदशमासाः संवत्सरः**" (शत.ब्राह्म.८।४।१।१७) इति च कश्यपानन्दः त्रयोदशधा अवतीर्णः. तत्र इयं मलमासरूपा. सामान्यतस्तु स्तुतिः तस्याः इति, नहि कश्चित् स्वानन्दं न अनुभवति. किञ्च, यतो भार्या अतः त्रैवर्गिकी सिद्धिः, पुरुषार्थत्रयं भार्यासहितस्यैव यतः सिद्ध्यति. मिलितं तस्यैव. धर्मोऽपि यज्ञात्मकः तस्यैव, "**काञ्चनम् अञ्चितं भवति यत् सङ्गे अङ्गना**" ( ) इति वाक्याद् अर्थोऽपि तदधीनएव पुरुषार्थः, अन्यथा दुःखहेतुः स्यात्, कामसमुद्रस्यतु सा [2]तदेव ॥१६॥

एवं तदीयं प्रार्थितम् अवश्यं कर्तव्यम् इति उपपाद्य तां स्तौति सर्वदुःखनिवारकत्वेन **सर्वाश्रमान्** इति.

सर्वाश्रमान् उपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान्।
व्यसनार्णवम् अत्येति जलयानैर्यथाऽर्णवम् ॥१७॥

अन्येषाम् आश्रमाणाम् अन्नदाता गृहस्थएव. अभार्यस्तु अभोज्यान्नः, अग्न्यभावेन [3]वीरहत्वात्. अतः स्वातिरिक्ता**श्रमान् उपादाय** स्वाश्रमेण गार्हस्थ्येन **व्यसनार्णवं** क्षुत्पिपासादिदुःखसमुद्रम् अत्येति. **जलयानैः** वहित्रैः पोतैः यथा **अर्णवम् अत्येति,** अन्यथा मत्स्यादिभिः ग्रस्तएव स्यात् ॥१७॥

किञ्च.

याम् आहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि!।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ॥१८॥

याम् आहुः इति. **यां भार्याम् आत्मनो अर्द्धम् आहुः**. चिद्रूपस्य स्वस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एष ते अहम् इत्यत्र. **सा तदेव** इति. **सा भार्या, तदेव** सिद्धिरेव, सामान्ये नपुंसकम्॥१६॥

१.स्वाकीर्त्ते क.मां.१,३. २.तर्येव क.ख.ग.घ.मां.१,२,३. ३.विधुरत्वात् घ.'वीरहात्वात्' इति मां.१,३

स्वदेहः सद्रूपः आनन्दरूपश्च भार्यायाः अर्द्धवृगलत्वाद् वा. **आहुः** इति प्रमाणम्. **हि** इति उपपत्तिः उक्तैव. "**प्रजापतिः अमृतम् आनन्द इत्युपस्थ**" (तैत्ति.उप. ३।१०।३) इति श्रुतेः. **श्रेयस्कामस्य** इति केषाञ्चिद् मते भार्यासहितस्यैव कर्मणि अधिकारः. **मानिनि!** इति सम्बोधनम् एतादृशवाक्याकथनार्थम्. एवं सुखहेतुत्वम् उपपाद्य दुःखाभावहेतुत्वम् उपपादयति **यस्याम्** इति. **स्वधुरं** स्वयं धुर्य्यो बलीवर्दः, संसारलक्षणां धुरं निरन्तरं वहति. तत्र भार्या चेद् अनुकूला, सा सर्वमेव भारं गृह्णीयात्. इदञ्च लोकसिद्धं न उपपादनीयम्. **चरति** इति यथासुखं परिभ्रमति, मुक्तो जायते इति अर्थः. **विज्वरः** इति चिन्ताज्वररहितः, अन्यथा धनादिनिमित्तं सर्वत्र चिन्ता भवेत् ।।१८।।

किञ्च. **याम्** इति.

याम् आश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयान् इतराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिः दस्यून् दुर्गपतिर्यथा ।।१९।।

यां भार्याम् **आश्रित्य** इन्द्रियलक्षणान् शत्रून् अन्यायेन मारकान् भार्यासहिताः **वयं हेलाभि**रेव **जयेम**. नहि ते शत्रवो अन्याश्रमैः जेतुं शक्याः, अतः **इतराश्रमैः दुर्जयान्** सभार्यएव जयति. भार्यावन्तम् इन्द्रियाणि न बाधन्ते इति केचित्. जयस्तु शत्रुत्वे, भार्यावतः तदपेक्षणात् तेषां न शत्रुत्वम्. शास्त्रतः शत्रुत्वेऽपि बहिः स्वानन्दानुभवाद् अनुषङ्गतएव **हेलाभिः** अवज्ञयैव इन्द्रियाणां जयः. बाधकानाम् अबाधकत्वमेव जयः, असामर्थ्यजनकत्वं वा. अबाधकत्व-मात्रम् अत्र जयः इति वक्तुं दृष्टान्तम् आह **दस्यून् दुर्गपतिः** इति. नहि चौराणां जये कश्चन पुरुषार्थः, किन्तु ते यथा न बाधन्ते तथा दुर्गाश्रयणमेव कर्तव्यम्. नतु तेषां मारणं जयः, असमानत्वाद्, जयस्य कादाचित्कत्वाच्च ।।१९।।

किञ्च. एकस्मिन्नपि दिवसे क्रियमाणस्य भार्योपकारस्य प्रत्युपकारो न अस्ति इति आह **न वयम्** इति.

न वयं प्रभवस्तां त्वाम् अनुकर्तुं गृहेश्वरि! ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

याम् इत्यत्र. भार्यारूपस्य अर्धस्थानन्दरूपत्वे मानम् आहुः **प्रजापतिः** इत्यादि. तथाच तत्र आनन्दोपासनायाः उक्तत्वात् सम्पादकत्वेन सा तथा इति अर्थः. **(ए)तादृशवाक्याकथनार्थम्** इति. पूर्वोक्तरीतिदैन्यवाक्याकथनार्थम्।।१८।।

अप्यायुषा वा कात्स्न्र्येन ये चाऽन्ये गुणगृध्नवः ।।२०।।

तां पूर्वोक्तोपकारकारिणीं **त्वां** प्रत्युपकर्तुं **वयं न** प्रभवामः. यः उपकारः कर्तव्यः सोऽपि स्वार्थमेव भवति इति. यथा अलङ्काराः, देहपोषो वा. **गृहेश्वरि!** इति सम्बोधनात् प्रत्यहं तद् गृहे सर्वभोगान् भुञ्जानः कम् उपकारं कुर्यात्? **कात्स्न्र्येनाऽपि आयुषा** इति. तस्याः भोग्यत्वं कियत् कालमेव इति, तदनन्तरं परिपालनादिकं प्रत्युपकारसाधकं भविष्यति इति सम्भाव्य निराकरोति, तयाऽपि तावत् कालम् उपकारकरणात्. **ये च अन्ये** देवाअपि चिरजीविनः. **गुणगृध्नवः** इति तस्याः एकोऽपि गुणः पुत्रजननादिः प्रतिकर्तुम् अशक्यः. अतो येषां तद्गुणाः अपेक्षिताः इह परत्रसाधकत्वेन, तैः प्रतीकारो अशक्यः इति अर्थः ।।२०।।

एवं तां स्तुत्वा कालविलम्बं प्रार्थयति **अथाऽपि** इति.

अथाऽपि काममेतं ते [१]प्रजायै करवाण्यलम् ।
यथा मां नाऽतिवोचन्ति मुहूर्तं परिपालय ।।२१।।

प्रार्थितन्तु यथेच्छं कर्तव्यमेव, सुतरां प्रजानिमित्तम् अलम् अत्यर्थं करवाणि. **अथापि मुहूर्तं परिपालय** यावत् सन्ध्यापगमो भवति. तत्र हेतुः **यथा मां न अतिवोचन्ति** इति. अतिक्रम्य निन्दापूर्वकं यथा न वदन्ति. अस्मत्सजातीयाः सर्वे सर्वज्ञाः तएव धर्मशास्त्रकर्तारः तेषाम् अज्ञातं किमपि न भवति इति तत्कथनसम्भावना ।।२१।।

एवं तां प्रार्थयित्वा तस्य कालस्य स्वरूपतो दोषम् आह **एषा** इति.

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ।।२२।।

एषा वेला घोरतमा सर्वभोगविगर्हिता. नहि घोरा भोगाधिकरणं भवति. काल-देशयोः सर्वाधिकरणत्वात् तद् दोषो अवश्यं परिहरणीयः. सर्वस्यापि कालस्य सन्ध्या रजोरूपा. सन्ध्ययैव रात्री रजस्वला, सा परिहरणीया इति. अतएव सा पुष्पिता भवति, प्रत्यक्षश्च तस्याः रागो रजोरूपो दृश्यते, कामादिजनकत्वात्. भयहेतुरपि भवति, अतो **घोरतमा. घोराणां** भूतादीनां च सम्बन्धिनी भवति. **घोरदर्शना** च, सर्वत्रैव अन्धकारव्याप्त्या. घोरसम्बन्धित्वम्

१.'प्रजात्यै' मां.२. 'सन्तत्यै' इति मां.१,३

उपपादयति **चरन्ति यस्यां भूतानि** इति. तानि च भूतानि मन्त्रादिभिः न निराकर्तुं शक्यानि इति उपपादयति **भूतेशानुचराणि** इति. महादेवस्य सेवकानि तानि भूतानि. **ह** इति आश्चर्ये. कथम् एतस्मिन् काले एवं प्रार्थितम्? इति तस्याः भयम् उत्पादयति ।।२२।।

किञ्च. अस्य कालस्य अधिष्ठात्री देवता महादेवः. सः कामनाशकः. तच्छत्रुपरिग्रहः तस्य काले क्रियते चेत् तदा सः मारयिष्यति इति भयं जनयन् महादेवं स्तौति षड्भिः **एतस्याम्** इत्यादिभिः.

एतस्यां साध्वि! सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः ।
परीतो भूतपर्षद्भिःवृषेणाऽटति भूतराट् ।।२३।।

परिभ्रमो दर्शनं च सम्बन्धाभाव एव च ।
मारणे हेतुत्रितयं दोषाभावाय चाऽपरे ।।१।।

तत्र प्रथमं तस्य परिभ्रमणम् आह, देशान्तरागमनाय. **एतस्यां सन्ध्यायाम्. साध्वि!** इति सम्बोधनं निषिद्धकामवत्त्वव्यावृत्त्यर्थम्. **भगवान्** इति अप्रतिहतगतिः. परिभ्रमणम् उपकारहेतुः इति आह **भूतभावनः** इति. भूतानि भावयति पालयति इति. सन्ध्यायाम् उत्पत्तिः यदि भवेत्, तेन तस्य च लोकस्य नाशो भवेत्. अतः सर्वत्र सन्मार्गवर्तिषु भोगनिराकरणार्थं **भूतपर्षद्भिः परीतः**. भूतरूपाएव तस्य पर्षदः सभापतयो भवन्ति. तैः सहितो वृषम् आरुह्य स्वयम् अटति भूतानां राजा. भूतानां सएव कालः, अतः स्वभृत्यरक्षार्थं भूतराट् पर्यटति. यदि कश्चिद् अन्यायं कुर्यात् तदा पर्षद्भिः तं दण्डयति. धर्मकारिणमपि सन्ध्यायाम् अधर्मकारिणं मारयति इति सूचयितुं **वृषेण अटति** इति उक्तम्. वृषो धर्मः, यः तमेव आरुह्य तिष्ठति सः कथम् अन्यं तादृशं परिपालयेत्? धर्मस्य साक्षित्वार्थं वा ।।२३।।

एवं देशान्तरगमनाभावाय तस्य परिभ्रमणम् उक्त्वा, अत्र सः इदानीं स्वभावतः स्थितः पश्यत्येव इति आह **श्मशाने**ति.

श्मशान–चक्रानिल–धूलिधूम्र–विकीर्ण–विद्योत–जटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामल–रुक्मदेहो देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ।।२४।।

अयं देवो महादेवः त्रिभिरपि चक्षुर्भिः पश्यति. गार्हपत्यादयः तस्यैव चक्षूंषि. सच **देवः** अतीन्द्रियमपि पश्येत्. **देवरः** इति लज्जोत्पादनम्.

एकजामातृणां भ्रातृत्वव्यवहाराद् देवरत्वम्. पतिरपि देवरः उच्यते, अग्निरूपत्वाद् भगवतः "**तृतीयो अग्निष्टे पतिः**" (   ) इति श्रुतेः. दैत्यानां च देवं सुखं राति इति तव उपास्यो देवरः. तस्य अतिक्रमः सर्वथा अनर्थहेतुः. तस्य स्वभावतएव मृतस्थानक्रीडापरत्वाद् न तस्य मारणे काचित् शङ्का इति अभिप्रायेण आह **श्मशाने यः चक्रानिलो** वात्या, तेन उद्गता या **धूलिः**, तया **धूम्राः** धूसरवर्णाः **विकीर्णाः** विद्योतमानाश्च याः जटाः, तासां **कलापो** यस्य. प्रलयकर्तृत्वाद् अस्य जटानां प्रलयहेतुत्वाद् भस्मधूसरत्वाभावे **विकीर्णाः** विद्योतमानाः प्रलयमेव कुर्युः. भस्मान्तरं च प्रलयमेघान् न स्पृशति, चक्रानिलाद् अन्यो न सर्वतो भस्मसम्बन्धं कारयति अतः तथाभावः उचितएव. किञ्च, **भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहः**. भस्मना अवगुण्ठः प्रक्षालनं यस्य. अमलं यद् रुक्मं सुवर्णम्, रजतं वा, तद् भस्मना घृष्टम् अत्युज्ज्वलं भवति. अतः तस्य भस्म अपेक्षा अस्ति इति स्वल्पेऽपि अपराधे मारयेद् इति अर्थः. **देवरः** इति कल्पान्तरे प्राचेतसएव, षष्टिकन्यापक्षेऽपि महादेवाय सतीं दत्तवान् इति अध्यवसेयम्. प्रथममन्वन्तरे यत्र सती जन्म, [१]न तत्र दित्यादीनां जन्म. देवं पतिं राति इति देवरः श्वुसरो वा. तथाच मरीचिभ्रातृत्वाद् महादेवोऽपि देवरः. कन्यासमये प्रार्थितो महादेवः पतिं दत्तवान् इति देवरः।।२४।।

एवं लज्जां भयञ्च उत्पाद्य सम्बन्धेन अपराधसहनम् आशङ्क्य, तस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्मशानेत्यत्र. महादेवस्य कथं देवरत्वम् इति आकाङ्क्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **एके**त्यादि. अयं पक्षः श्रीधरेणाऽपि उक्तः. परन्तु सत्याः स्वायम्भुवपुत्रीत्वेन दितेश्च प्राचेतसपुत्रीत्वेन एकजामातृत्वं व्यवहारे बाधितम् इति पक्षान्तरम् आहुः **पतिः** इत्यादि. **उच्यते** इति. यथा पाञ्चाल्या भीमादिः. **भगवतः** इति. शिवस्य, तस्य अष्टमूर्तिषु अग्नेरपि गणनात् तथा इति अर्थः. एतमपि पक्षं प्रसिद्धविरुद्धम् आशङ्क्य, पक्षान्तरम् आहुः **दैत्यानाम्** इत्यादि. तथाच यौगिकएव अयं शब्दो न रूढः इति अर्थः. प्रथमे(म)पक्षं साधयितुं युक्त्यन्तरम् आहुः **कल्पान्तरे** इत्यादि. श्रीधरोक्ते अस्वरसं सूचयन्ति **प्रथमे**त्यादि. अत्राऽपि क्लिष्टत्वम् आशङ्क्य योगान्तरम् आहुः **देवम्** इत्यादि।।२४।।

१.एतन्नास्ति क. ग. ङ.

सम्बन्धापेक्षा न अस्ति इति आह **नहि अस्य** इति.

न ह्यस्य लोके स्वजनः परो वा नाऽत्यादृतो नोत कश्चिद् विगर्ह्यः ।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धाम् आशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ।।२५।।

हि इति युक्तो अयम् अर्थः. यस्तु उत्पद्यते सम्बध्यते वा क्वचित्, तस्य सम्बन्ध्यपेक्षा; महादेवस्य ब्रह्मत्वेन तदुभयाभावाद् न सम्बन्ध्यपेक्षा इति अर्थः. अतएव लोके तस्य स्वजनो न अस्ति. स्वः च असौ जनश्च, आत्मीयो न अस्ति इति अर्थः. **परः** शत्रुः. एतद् द्वयं देहधर्मः. **न अत्यादृतः** इति अत्यन्तस्नेहपात्रं, **विगर्ह्यो** निन्दितो द्वेषपात्रम्, एतद् उभयम् अन्तःकरणधर्मः, स्निग्धएव आदृतो भवति, गर्हितः स्नेहरहितएव. ननु तस्य विषयाणाम् अपेक्षितत्वाद् यएव विषयान् प्रयच्छति यो वा निवर्तयति सः तथा भविष्यति इति चेत्, तत्र आह **वयं व्रतैः** इति. तस्य सहजो विषयभोगः परं तेन त्यक्तः. तथापि सा **अजा** प्रकृतिः विषयरूपा तस्यैव, तद्दत्तैव प्राप्यते सर्वैः, यथा महाराजविभूतिः. अतएव अस्माभिः ईश्वरसम्बन्धाद्यनपेक्षं[१] **व्रतैः** नियमविशेषैः आराध्य, पाशुपतादिभिः वा; तद्दत्ताम् **अजाम् आशास्महे.** सहि सेवितः प्रसादत्वेन तां प्रयच्छति. सा हि भोगार्थम् उपस्थिता पदयोः पतति. तदा स्वस्य अनभिप्रेतां[२] मत्वा ताम् उपासकेभ्यः पदेन अपविद्धां प्रयच्छति अवज्ञया भोगस्य अनभिप्रेतत्वं मन्यमानः. तत्रापि **भुक्तभोगाम्** इति दृष्टदोषेण परित्यक्ता इति ज्ञापयति. अतएव तदपेक्षा सर्वस्य, न तस्य कस्यचिद् अपेक्षा. सर्वेषामेव सेवकत्वाद् न उपेक्षाऽपि ।।२५।।

तर्हि विगर्हितरूपेण किमिति तिष्ठति? इति आशङ्क्य आह **यस्य अनवद्याचरितम्** इति.

यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो गृह्णन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत् स्वयं पिशाचचर्याम् अचरद् गतिः सताम् ।।२६।।

यस्य महादेवस्य. **अनवद्यम् आचरितं** सर्वविषयत्यागेन स्वात्मचिन्तन-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नहि इत्यत्र. **अतएव अस्माभिः** इति. महादेवादेव अस्माभिः प्राप्यते इति अर्थः. **अनभिप्रेतत्वं मन्यमानः** इति. उपासकानामपि सो अनुचितः इति मन्यमानः ।।२५।।

१.अनपेक्षव्रतैः क. २.अनभिप्रेतम् क.

रूपम्. **मनीषिणो** बुद्धिमन्तो मोक्षोपायान्वेषिणः, अतएव **अविद्यापटलं बिभित्सवो** अविद्याभेदनार्थं प्रवृत्ताः **आचरितं गृह्णन्ति**. नहि महादेववद् यावद् मनुष्यो न तिष्ठेत् तावत् कस्यचिद् ज्ञानं भवति. अतएव भगवान् महादेवो नित्यनिवृत्तानर्थोऽपि लोकशिक्षार्थं **पिशाचचर्याम् अचरत्.** मतान्तरे महान् हीनभावं प्राप्नोति चेत् तदा मुच्यते, समभावे संसारः उत्कर्षाहङ्कारे हीनभावः. अतः सतां स्वयं तथा भूत्वापि शिक्षकः इति गतिः भवति. उपदेष्टा, फलं वा. देवोत्तमस्य पिशाचत्वमेव अपकर्षः. एवं मनुष्यैः गो-मृग-काकचर्या कर्तव्या इति उपदेशः।।२६।।

ननु लोके निन्दितो महादेवः कथम् एवं स्तूयते? तत्र आह **हसन्ति** इति.

हसन्ति यस्याचरितं सुदुर्भगाः स्वात्मन्रतस्याऽविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ।।२७।।

तत्पदं गन्तुम् अशक्ताः तं हसन्ति निन्दन्ति इति अर्थः. यस्य सर्वोपकारार्थं प्रवृत्तस्य आचरितम्. **सुदुर्भगाः** इति भाग्यरहिताः. सर्वोऽपि स्वसमानं दृष्ट्वा स्वाभिलषितं वा स्तौति, तद्विपरीतन्तु हसति. तद् वैलक्षण्यम् आह सहि पूर्णज्ञानः आत्मारामः. तद् आह **आत्मन् रतस्य** इति. अन्येतु अज्ञाः बहिर्मुखाः. अतएव अविदुषः, सम्यग् ईहितं भगवच्चरित्रं न जानन्ति. वैलक्षण्याभिनिवेशएव निन्दायां हेतुः इति निन्दकानां विषयाभिनिवेशम् आह **यैः** इति. वस्त्राणि उष्णीषादीनि, **माल्यानि** पुष्पाणि, **आभरणानि** कङ्कणादीनि, **अनुलेपनानि** चन्दनादीनि चत्वारः एते पदार्थाः देहोपलालनहेतवः. ये पुनः एतद् उपलालकाः ते देहात्माभिमानिनः इति निश्चितम्. वस्तुतस्तु अयं देहः **श्वभोजनम्,** ग्रामएव तेषां मरणसम्भवाद् न गृध्रादीनां ग्रहणम्. केवलम् उपलालने धर्मो वा भवेद् इति तन्निवृत्त्यर्थम् आह **स्वात्मतया** इति. 'स्व'पदेन भगवत्त्वेन तदधिष्ठातृत्वेन वा उपलालनं व्यावर्तितम्, अन्यथा "**भोगैः आत्मानम् आत्मनि**" (भाग.पुरा.१।।११।४५) इति पक्षो विरुध्येत।।२७।।

ननु महादेवस्य पिशाचचर्यायां किमिति एवम् अभिप्रायः कल्प्यते? दक्षशापात् पिशाचत्वं जातम् इति एवं कथं न उच्यते? इति आशङ्क्य आह **ब्रह्मादयः** इति.

ब्रह्मादयो यत् कृतसेतुपाला यत् कारणं विश्वम् इदं च माया ।

आज्ञाकरी [1]तस्य पिशाचचर्या अहो विभून्मश्चरितं विडम्बनम् ।।२८।।

भवेद् एतद् एवं यदि उत्कर्षहेतुः न स्यात्. सर्वोत्कृष्टाः लोके ब्रह्मादयः, ते येन महादेवेन कृता मर्यादा मोक्षम् अभिव्याप्य वर्तन्ते इति **सेतु**रूपाः तेषां परिपालकाः, आज्ञाकारिणः इति अर्थः. इदञ्च विश्वं यत् कारणं, या माया कारणं यस्य सा माया आज्ञाकारिणी इति. आज्ञां चेत् प्रयच्छेत् तदा माया महादेवभोगार्थं ब्रह्माण्डकोटीः सृजेत्. एवं विश्वकारणं विश्वप्रवर्तकांश्च यो नियमयति, तस्य पिशाचचर्या विडम्बनमेव, अनुकरणम्. यथा ब्राह्मणः कौतुकाविष्टः पिशाचादिवेषान् करोति, तदपि तस्य अनुचितम्. यतो **विभूमा,** न ततो अन्यः कश्चिद् महान् अस्ति, विडम्बनेन यं रसयुक्तं कुर्यात्. तथापि करोति इति आश्चर्यम्. तद् आह **अहो** इति।।२८।।

एवं महादेवभक्तां महादेवगुणकथनेन तत्परां करिष्यामि इति कृतेऽपि स्तोत्रे सा उद्गतकामा न निवृत्ता जाता इति आह **एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

एवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया ।

जग्राह वासो ब्रह्मर्षेः वृषलीव[2] गतत्रपा ।।२९।।

[3]वाचनिकेनैव प्रतीकारस्य करणात् तत् परित्यज्य कायिकं व्यापारं कृतवती. नच वक्तव्यं, तदुक्तो अर्थो न बुद्धः इति. एवं **भर्त्रा** सम्यग् वादे कृते, संवादे वा कृते, सम्यग् **विदिते** ज्ञाते सति वा; तथापि **मन्मथोन्मथिता**शया वासो जग्राह. एवं धाार्ष्ट्यं वृषल्या भवति इति तद् दृष्टान्तः. **ब्रह्मर्षेः** इति [4]क्षोभकरणं मारणञ्च निवारयति. वस्त्रग्रहणे क्षोभो ज्ञातो भविष्यति इति **वासो जग्राह.** इन्द्रियमथनं विवेकधैर्याद्यनुत्पादार्थम्. एकान्तत्वाद्, भर्तृत्वाच्च त्रपाभावः तस्याः [5]उक्तः।।२९।।

एवं तया कृते यज्जातं तद् आह **सः विदित्वा** इति.

स विदित्वाऽथ भार्यायाः तं निर्बन्धं विकर्मणि ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् इत्यत्र. **इति कृते** इति. इति इच्छया कृते ।।२९।।

१.यस्य २.पुंश्चलीव. ३.''वाचनिके वाचनिकेनैव'' इति मां.१,२,३. ४.क्षोभकारणम् ग.घ.ङ. ५.एव तस्याः ग. ङ.

नत्वा दिष्टाय रहसि तयाऽथोपविवेश ह ।।३०।।

अथ इति वचनं वञ्चनाभावाद्यर्थम्. भार्यात्वादपि तदिच्छापूरणम्. **विकर्मणि** कर्मनाशे. कालकृतं तद् विदित्वा, **दिष्टाय** कालाय **नत्वा.** गत्यर्थकर्मणि द्वितीया–चतुर्थ्योः विधानाद् दिष्टाय इति चतुर्थी. **रहसि** एकान्ते, अग्निहोत्रगृहं परित्यज्य गृहान्तरे. **अथ** इति वैदिकप्रकारेण गर्भाधानप्रकारेण तया सह **उपविवेश. ह** इति आश्चर्यम्. महतो विकर्मणि प्रवृत्तिः।।३०।।

एवं गर्भाधानं कृत्वा यत् कृतवान् तद् आह **अथ उपस्पृश्य** इति.

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः ।

ध्यायन् जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।।३१।।

अत्रापि भिन्नक्रमः प्रायश्चित्तार्थः, [१]कामाभावाद्यर्थे वा. **सलिलम् उपस्पृश्य** इति स्नात्वा. ''**प्राणायामैः दहेद् दोषान्**'' (भाग.पुरा.३।२८।११) इति दोषाभावार्थं प्राणानायम्य. **वाग्यतः** तन्निर्भत्सनाद्यकृत्वा. **ध्यायन्** भगवच्चरणारविन्दं ज्ञानमार्गानुसारेण **ब्रह्म ज्योतिः** सर्वप्रकाशकं, **विरजम्** अविद्यानाशकं **ध्यायन् जजाप** इति. प्रणवार्थं ध्यायन् प्रणवं जजाप इति अर्थः ।।३१।।

एवम् ऋषेः प्रायश्चित्तम् उक्त्वा तस्याअपि यथोचितम् अपराधप्रायश्चित्तम् आह **दितिस्तु** इति.

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत! ।

उपसङ्गम्य विप्रर्षिम् अधोमुख्यभ्यभाषत ।।३२।।

'तु'शब्दः पूर्वभावव्यावृत्त्यर्थः. कर्मणि अवद्यं कर्मावद्यम्, अग्निहोत्रमध्ये निन्दितकरणं, तेन **व्रीडिता.** अन्यत्तु न विगीतम्. अतः **तेन** प्रसिद्धेन अपराधेन व्रीडिता सती **उपसंगम्य अभ्यभाषत** इति सम्बन्धः. **भारत!** इति सम्बोधनं भ्रमाभावाय. भ्रान्तएव परम् एकविधं मन्यते. पूरकत्वाद् भाव्यर्थज्ञानाच्च **विप्रर्षित्वम्. अधोमुखी** इति शङ्कान्तराभावाय ।।३२।।

निषिद्धाचरणाभावाद् न अत्र स्मृत्याद्युक्तप्रायश्चित्तम्, अङ्गत्वात् कालस्याऽपि न साक्षाद् अधर्महेतुत्वम्. यथा अकाले कृतो धर्मः अकृतो भवति,

---

१.पापाभावाद्यर्थे. ङ.

एवम् अकाले कृतो गर्भो अकृतो भवेत्; तत्र [१]केवलकालस्य न बाधकत्वमपि, कर्मस्वभावानां बलिष्ठत्वाद्, दैत्यानां स्वभावनिष्ठत्वाच्च. अतः कालाधिष्ठात्री देवता महादेवः कदाचिद् हन्यात्? तत्रापि ब्राह्मणक्रोधसहितो हन्यादेव. अतो ब्राह्मणक्रोधाभावं प्रार्थयितुं व्याजेन महादेवभक्तं तं ज्ञात्वा महादेवं प्रार्थयति. इयञ्च प्रार्थना नैमित्तिकी इति नैमित्तिकम्[२] अनूद्य, [३]तदभावं काम्यत्वेन प्रथमं निर्दिशति **मा मे गर्भम्** इति.

दितिः उवाच

मा मे गर्भम् इमं ब्रह्मन्! भूतानाम् ऋषभोऽवधीत् ।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याऽकरवमंहसम् ।।३३।।

इमं संजातं गर्भं रुद्रो मा अवधीत्. **ब्रह्मन्** इति सम्बोधनं तत्प्रतीकारकरणसामर्थ्यं सूचयति. मारणे उपायः **भूतानाम् ऋषभः** इति. भूतप्रेरणया मारयेत्. भूतानि हि गर्भं प्रविश्य स्रावयेयुः. ननु सः प्रजापतिः प्रजानाम् उत्पादकः कथं प्रजाः मारयेत्? तत्र आह सः[४] **भूतानां पतिः** ये उत्पन्नाः तेषां स्वामी; यतो **रुद्रो** रोदयति इति. सहि बालकः उत्पन्नएव रोदिति, न गर्भस्थः. अतो गर्भः तदीयो न भवति इति गर्भं नाशयति इति वा. एवं गर्भनाशने उपपत्तिम् उक्त्वा निमित्तम् आह **यस्य अकरवम् अंहसम्** इति. यस्य अपराधं कृतवती अस्मि ।।३३।।

एवं सङ्कल्पम् उक्त्वा, तत् सिद्ध्यर्थं रुद्रं प्रार्थयते **नमो रुद्राय** इति.

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मा मे(इ)त्यत्र. अत्र कर्माविद्यविषयके प्रायश्चित्ते प्रार्थनीये रुद्रापराधकृतानिष्टप्राप्त्यभावप्रार्थनं कुतः इति आकाङ्क्षायाम् अधर्मजनकम् अर्थं विचार्य एतत्-प्रार्थनम् इति वक्तुं तम् अर्थं विचारयन्ति **निषिद्धे**त्यादि. **तत्र** इति. गर्भे. **तत्राऽपि** इति. हननेऽपि. **ब्राह्मणक्रोधसहितः** इति. "**पुरुषः कर्मार्थत्वाद्**"(मीमां.सू. ३।१।६) इति न्यायेन ब्राह्मणानां कर्मशेषत्वात् कर्मनाशिकायां मयि सर्वज्ञानां तेषां क्रोधसम्भवात् तत्सहितः. **प्रार्थयति** इति. तं प्रत्यपि कर्माविद्यापराधनिवारणमेव प्रार्थयति इति अर्थः।।३३।।

१.केवलस्य इति ग. २.'निमित्तम्' इति मां. ३.'तदभावः' इति मां.१,३. ४.एतन्नास्ति क.

शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ।।३४।।

सहि गुणत्रयात्मकः, अहङ्कारस्य त्रिगुणत्वाद्, अतो नवभिः विशेषणैः [क]तत्प्रार्थना. महतां नमनमेव प्रसादने हेतुः. तत्र प्रथमं भूतानां कृपया यद् रोदनं कृतवान्, सा कृपा अत्राऽपि अनुसन्धेया इति ज्ञापनार्थं **रुद्राय** इति आह. अपराधसहनार्थं **महते,** प्रार्थनया अपराधसहनार्थं **देवाय.** अनेन तामसादिभावाः त्रयः उक्ताः. पुनः तान् आह **उग्राय** इति त्रिभिः. अन्यप्रेरणया मारयिष्यतीति इमं पक्षं व्यावर्तयति **उग्राय** इति. नहि उग्रस्य अग्रे कश्चिद् वक्तुं शक्नोति. तर्हि प्रार्थितोऽपि मारयेद् इति आशङ्क्य, न केवलम् उग्रएव किन्तु सर्वेषां कामवर्षकोऽपि इति आह **मीढुषे** इति. मीढ्वान् वृषभः पतिः, कामवर्षकः इति यावत्. किञ्च, न केवलं सः फलदाता, किन्तु फलरूपोऽपि इति आह **शिवाय** इति. कल्याणरूपाय. अतः प्रार्थितो न मारयिष्यति, कल्याणञ्च करिष्यति इति उक्तम्. पुनः तृतीयपर्याये सत्त्वादिभावान् आह **न्यस्तदण्डाय** इत्यादित्रिभिः. सहि पूर्वं दक्षं हत्वा महति उपद्रवे जाते दण्डनं त्यक्तवान्. इदमपि ब्रह्मबीजम्, अतो अमारणार्थं महादेवकृतम् इमम् अर्थं स्मारयति **न्यस्तदण्डाय** इति. तर्हि प्रार्थना व्यर्था, स्वतएव दण्डस्य त्यक्तत्वाद् इति आशङ्क्य आह **धृतदण्डाय** इति. दुष्टमारणार्थं धृतो दण्डो येन. तर्हि स्वतएव प्रार्थ्यतां किं मम अग्रे कथनेन? इति आशङ्क्य आह **मन्यवे** इति. सहि ब्रह्ममन्युरूपः. ब्रह्ममन्युनैव प्रकटो भवति, न अन्यथा. अतः त्वयि प्रसन्नएव सः निवर्तते, न अन्यथा इति अर्थः।।३४।।

एवं नमस्कारेण रुद्रं प्रार्थयित्वा पूर्वापराधं दूरीकृत्य भर्तारं प्रसादयितुम् अहङ्कारे स्थिते प्रसादो अशक्यः इति तद् अहङ्कारनिवृत्त्यर्थं महादेवमेव प्रार्थयति **सः नः** इति.

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः ।
व्याधस्याऽप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः ।।३५।।

सः पूर्वोक्तो **नो** अस्मभ्यं **प्रसीदताम्.** यतो **भामो** भगिनीपतिः. न केवलं स्वतः प्रसादः, किन्तु भर्तारमपि प्रसादयुक्तं करोतु इति तत्सामर्थ्यार्थं 'भगवान्' इति उक्तम्. ननु कृते अपराधे दण्डाभावएव भूयान्, कुतो अनुग्रहं करिष्यति? इति आशङ्क्य आह **उर्वनुग्रहः** इति. उरुः अनुग्रहो यस्य. प्रार्थितो न केवलम्

क. 'तस्य' इति मां.१,२,३.

अबाधकएव, किन्तु फलदाताऽपि इति अर्थः. किञ्च अस्मासु अनुग्रहः कर्तुमेव उचितः, यतो वयं स्त्रियो **व्याधस्य** अनुकम्प्याः. पुरुषार्थार्थं हि तस्याऽपि हननम्. अर्थापेक्षया कामो महान्, सच स्त्रिया सत्यैव; अतो व्याधस्याऽपि अवध्याः, यतः स्त्रियो अनुकम्प्याः. सर्वस्य आनन्ददायिकाअपि स्वयम् अकृतार्थाः भवन्ति इति. किञ्च सः स्त्रीणां देवः, स्त्रियो हि गौरीमेव सभर्तृकां पूजयन्ति, सएव क्रीडाकर्ता इति वा. किञ्च, **सतीपतिः** इति. स्त्रीणां स्वभावज्ञः इति ।।३५।।

एवं महादेवे स्तुते अर्द्धं प्रसन्नः कश्यपः क्रोधं प्रसादञ्च कृतवान् इति आह **स्वसर्गस्य** इति.

मैत्रेयः उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्याम् आशासानां प्रवेपतीम् ।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्याम् आह प्रजापतिः ।।३६।।

स्वस्य **सर्गस्य** गर्भस्य, **लोक्यां** सर्वलोकप्रसिद्धाम् **आशिषम् आशासानां** कामयमानां, किं भविष्यति इति **प्रवेपतीम्** अतिकम्पमानां, स्वयं निवृत्तसन्ध्यानियमो भूत्वा, भार्यात्वाद् अवश्यवक्तव्याम् **आह.** प्रजापतित्वाच्च वचनं निष्ठुरम्, अन्यथा सर्वाएव तथा कुर्युः. दयावश्यकत्वाभ्यां सामीचीन्यकथनम् ।।३६।।

प्रथमतो दोषफलम् आह **अप्रायत्याद्** इत्यादिचतुर्भिः

कश्यपः उवाच

अप्रायत्याद् आत्मनस्ते दोषान् मौहूर्तिकाद् उत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चैव हेलनात् ।।३७।।
भविष्यतस्तवाऽभद्रौ अभद्रे! जाठराधमौ ।
लोकान् सपालानंस्त्रींश्चण्डि! मुहुराक्रन्दयिष्यतः।।३८।।

तस्याः दोषचतुष्टयम् अनुवदति हेतुत्वेन, प्रसादेऽपि विपरीत-फलावश्यकत्वाय. प्रथमम् आह **अप्रायत्याद्** इति. **ते आत्मनो** देहस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्वसर्गस्य इत्यत्र. **अर्द्धं प्रसन्नः** इति. स्वयं महादेवमाहात्म्यस्य तदर्थम् उक्तत्वात् तद्द्वारेण (तदादरेण) प्रसन्नः, स्वस्य भगवद्भक्तत्वेन तत्र आदराभावाद् अप्रसन्नः इति अर्द्धं प्रसन्नः।।३६।।

अप्रायत्याद् अप्रयतत्वाद्, रजस्वलात्वाद् इति अर्थः. **मौहूर्त्तिको दोषः** सन्ध्यारूपः, तत्र उत्पन्नो दुष्टो न जीवति च. **उत** इति अप्यर्थे. एको दोषः सूतकवद् न दोषान्तरं दूरीकरोति, किन्तु समुच्चीयते इति अर्थः. तृतीयं दोषम् आह **मन्निदेशातिचारेण** इति. मम आज्ञोल्लङ्घनेन. अत्रापि 'उत', देहलीत्वात्. चतुर्थो दोषः **देवानां चैव हेलनाद्** इति. **देवानां** भूतानां, गार्हपत्यादीनां वा, **हेलनम्** अवज्ञा ।।३७।।

एवं चतुर्भिः दोषैः तव पुत्रद्वयं भविष्यति इति आह, एकैकत्र दोषद्वयसङ्क्रमात्. तत्र हिरण्याक्षे प्रथमौ, तस्य शीघ्रं [1]मरणात्, तपस्यादिकरणा-भावाच्च. **अभद्रे!** इति सम्बोधनं पुत्रस्य उभयांशत्वेऽपि मातृदोषेणैव दुष्टौ इति ज्ञापयितुम्, अतः **तौ अभद्रौ**. ननु "**माता भस्त्रा पितुः पुत्रः**" (भाग.पुरा. ९।२०।२९) इति शास्त्राद् बीजादुष्टत्वे कथं तयोः दोषवत्त्वम् इति आशङ्क्य आह **जाठराधमौ** इति. जठरे जातेन दोषेण अधमौ. उत्तमबीजमपि यथा शूद्रायां प्रविष्टं शूद्रताम् आपद्यते तथा इति अर्थः. तयोः दोषम् आह **लोकान्** इति. लोकपालसहितान् लोकान् मुहुः आक्रन्दयिष्यतः. रुद्रकालजातत्वाद् रोदयितृत्वम्. **चण्डि!** कोपनशीले. अयमपि दोषः तवैव ।।३८।।

एवं तयोः दोषम् एकम् उक्त्वा अन्यान् त्रीन् दोषान् आह **प्राणिनाम्** इति.

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानाम् अकृतागसाम् ।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ।।३९।।

प्राणिनां दोषवत्त्वेऽपि दीनानां वधो अनुचितः, तत्राऽपि **अकृतागसां** वधः इति एको दोषः. **स्त्रीणां निगृह्यमाणानाम्** इति अपरः. [2]पातिव्रत्यात् त्याजनं निग्रहः. **कोपितेषु महात्मसु** इति च अपरः, तेषां भगवत्सेवाप्रतिबन्धात् कोपः ।।३९।।

एवं दोषचतुष्टये जाते "**भक्तद्रोहे वधः स्मृतः**" (   ) इति वाक्यात् परमेश्वरः तौ मारयिष्यति इति आह **तदा** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

देहलीत्वाद् इति. पूर्वार्धसमाप्तिदेशस्य देहलीत्वाद् उत्तरार्धेऽपि 'उत' इति पदं सम्बध्यते इति अर्थः ।।३७।।

१.मारणात् क. २.पातिव्रत्यात्याजने क.

तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवान् लोकभावनः ।
हनिष्यत्यवतीर्याऽसौ यथाऽद्रीन् शतपर्वधृक् ।।४०।।

मारणे हेतुः **विश्वेश्वरः** इति. नहि जगति ईश्वरद्वयं भवति. किञ्च **क्रुद्धः,** भक्तानां पीडनात्. **भगवान्** इति वैकुण्ठापचारपरिहारार्थमपि तादृशयोनेः त्याजयिष्यति इति सूचयति. **लोकभावनः** इति मर्यादारक्षार्थमपि तद्धननम्. स्वामिनः सेवकवधः साक्षाद् अनुचितः इति अवतीर्य हनिष्यति वराहनृसिंह-रूपेण. **असौ** इति सो अत्रैव तिष्ठति इति हननावश्यकत्वं सूचितम्. **शतपर्वधृग्** इति. यथा प्राणिनां क्लेशनिवृत्त्यर्थं वज्रहस्तेन इन्द्रेण भारेण पततां पर्वतानां पक्षच्छेदः क्रियते, तद्वद् ईश्वरस्य तादृशवधः आवश्यकः इति अर्थः ।।४०।।

भर्त्रा क्रोधेन अनिष्टे श्राविते, सा विष्णुभक्ता पुत्रयोः भगवत्सम्बन्धं श्रुत्वा सन्तुष्टा तथा इति अन्वमोदत इति आह **वधं भगवता** इति.

दितिः उवाच

वधं भगवता साक्षात् सुनाभोदारबाहुना ।
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद् ब्राह्मणात् प्रभो! ।।४१।।

तेन पूर्वं "**कोपितेषु महात्मसु**" (भाग.पुरा.३।१४।३९) इति महापुरुष-कोपः उक्तः. सः शापपर्यवसायी मा भवतु. तच्छापेन भगवतापि वधे कृते सामीचीन्यं न भविष्यति इति तदभावेन केवलं भगवानेव ब्राह्मणप्रेरणाव्यतिरेकेण करोतु इति प्रार्थयति. **साक्षाद्** इति स्वहस्तेन, नतु कालादिना. **सुनाभोदारबाहुना** इति. वधेऽपि सुदर्शनेनैव, हस्तेनैव. यतो हस्तएव मोक्षादिसर्वपुरुषार्थदाता. **आशासे** कामितो अयम् अर्थो दुर्लभः परम् अनभिप्रेतः **क्रुद्धादेव ब्राह्मणाद्** वधः. तथा वरो देयः इति तत्र सामर्थ्यं सूचितं, **प्रभो** इति।।४१।।

ब्राह्मणाद् वधो अत्यन्तं विगर्हितः इति वक्तुं तस्य परलोकबाधकत्वम् आह **न ब्रह्मदण्डे**ति.

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च ।
नारकाश्चाऽनुगृह्णन्ति यां यां योनिम् असौ गतः।।४२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदा इत्यत्र. **वैकुण्ठापचारे**ति. वैकुण्ठे जातो यो अपचारः तन्निवृत्त्यर्थम् इति अर्थः।।४०।।

ब्रह्मदण्डेन ब्रह्मशापेन अग्निरूपेण. दण्डो हि दृढकाष्ठरूपो भवति, तद्गतो अग्निः सर्वथैव दहेत्. तत्र हेतुः **भूतभयदस्य** इति. ब्रह्मदण्डदग्धएव भूतेभ्यो भयं प्रयच्छति, नहि अन्यः स्वयं दुःखाभिज्ञः परेभ्यो दुःखं प्रयच्छति. ब्रह्मशापेतु ज्ञानादीनां नाशात् तथाकर्तुं शक्नोति, पृथग्वा हेतुः. **च**काराद् भगवद्-द्वेषिणः. **नारका**अपि तस्य सम्बन्धिनः तान् वा न **अनुगृह्णन्ति**. द्वितीयार्थे षष्ठी. **च**काराद् अन्येऽपि. अप्यर्थे वा **च**कारः, नारकाअपि तं न स्पृशन्ति इति अर्थः. **असौ** ब्रह्मदण्डदग्धादिः यां-यां योनिं गतः. नारकाः द्विविधाः, स्थानभेदाः योनिभेदाश्च. तत्र योनिभेदे दैहिकः सम्बन्धो अधिको भवति इति कदाचिद् अनुग्रहो भवेत्, तन्निषेधार्थम् आह **यां यां योनिम् असौ गतः** इति।।४२।।

कश्यपः तां भगवद्भक्तां ज्ञात्वा, स्वबीजस्याऽपि सार्थकतां विलोक्य, वरं प्रयच्छति. **कृतशोकानुतापेन** इत्यादिसप्तभिः

कश्यपः उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चाऽऽदरात् ।।४३।।

वरः, पौत्रो वैष्णवः तव भविष्यति इति.

कारणे षड्गुणाः क्षेत्रे कार्ये बीजस्वभावतः ।
***अष्टादशगुणा जाताः ते कीर्त्यन्ते क्रमाद् इमे ।।१।।**

तत्र प्रथमं तस्याः षड् गुणान् आह कृतं यत् कर्म, तत्र शोकः, स्वपुरुषार्थो मया नाशितः इति, यथा पुत्रादिनाशे शोकः. एवं कृतेऽपि भोगे, जातेऽपि गर्भे, शोकः. अनुतापो मया किमर्थं कृतम्? इति पश्चात्तापः. द्वयोः एकवद् भावः कर्तुः दुःखजननसाम्यात्. अन्यं गुणम् आह **सद्यः प्रत्यवमर्शनाद्** इति. प्रत्यवमर्शनम् अपराधक्षमापनम्. अत्र विनयेन आगमनं प्रार्थना च प्रत्यवमर्शः. **भगवति उरुमानं "वधं भगवता साक्षाद्"** (भाग.पुरा.३।१४।४१) इति पुत्रापेक्षयाऽपि भगवति अधिकसंमाननम्. लोके पुत्रमारको अत्यन्तं द्विष्टः, सः चेद् अत्यन्तं मानितः तदा अयं महान् गुणः. गुणद्वयम् आह **भवे मय्यपि च**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कृतेत्यत्र. **अष्टादशगुणाः** इति. षण्णां त्रैगुण्ये अष्टादशत्वात् तावन्तः इति अर्थः।।४३।।

आदराद् इति. पूर्वं "**न मे गर्भम्**" (   ) इत्यादि भवस्य आदरः सूचितः मयि आदरः **प्रभो** इति सम्बोधनाद्, ब्राह्मणाधिक्याद् वा।।४३।।

पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः ।

गास्यन्ति [1]यद् यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ।।४४।।

एतैः षड्भिः गुणैः कृत्वा, एकस्य ज्येष्ठस्य पुत्राणां चतुर्णां मध्ये एकः तृतीयः सतां मतो भविष्यति. अनेन वंशवृद्धिरपि सूचिता. सतां मतः तेषां प्रमाणभूतः, अन्यथा सन् सत्तमः इति वा वक्तव्यः स्यात्. मतस्तु मानेनैव ज्ञातः. अनेन भगवन्मार्गे सः प्रमाणम् इति निरूपितम्. तस्य प्रमेयताम् आह **गास्यन्ति** इति. प्रमातुं तदेव योग्यं, यत् कदाचिदपि विरुद्धज्ञानविषयो न भवति, फलतः साधनतश्च. अतो भगवद्यशो यदा गीयते तदा तदाधारत्वेन प्रह्लादयशो गीयते. आधाराधेययोः तुल्यत्वात् समत्वम्. भक्तानाम् आधारत्वं पूर्वं निरूपितम्. **शुद्धम्** इति विशेषः. खण्डशः आधारत्वव्यावृत्त्यर्थं **समम्** इति उक्तम्. **भगवद्यशसा** इति करणं वा, शुद्धत्वे समत्वे च. दैत्यानां यशः प्रायेण विषमं भवति इति मतान्तरत्वाच्च तुल्यत्वकथनमपि न दोषाय. यथा "**पुण्यश्लोको नलो राजा**" (पद्म.पुरा.५१।६) इति. अतएव गास्यन्ति लोकाः।।४४।।

एवं साधारण्येन प्रमेयत्वम् उपपाद्य, असाधारण्येन उपपादयति **योगैः** इति.

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः ।

निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलम् अनुवर्तितुम् ।।४५।।

यथा कुन्दनकर्तारः कल्कादिभिः सुवर्णं शोधयन्ति, सर्वथा चेद् निर्दुष्टम्. तदा सः विजातीय-सजातीयान् परिगृह्णाति. क्षुद्रेऽपि [2]सजातीये भगवन्तं योजयितुं शक्नोति, हीरकमिव. तत्र निकषे ज्ञाते. तथा [3]स्वात्मानमपि भावयेत्. अतः सुवर्णे रजतादिदोषाः यथा दूरीक्रियन्ते, तथा आत्मन्यपि वैरादिदोषाः दूरीकर्तव्याः. अतो निर्वैरतायाः अवधिः ज्ञातव्यः. प्रह्लादस्तु औत्पत्तिक-तादृशगुणयुक्तः. अतो "**यथा चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद्**" (ब्रह्मसूत्र ४।४।६) इति न्यायेन ब्रह्मचैतन्यमिव स्वचैतन्यं क्रियते, साधनैः भगवद्भावो वा सम्पाद्यते,

---

१.तद्यशः. पा. २."क्षुद्रेऽपि विजातीये भगवन्तं योजयितुं न शक्नोति" इति मां.१,३.

३.'तथा आत्मन्यपि' इति मां.१,३.

भगवदनुग्रहात्. तथा साधुत्वार्थम् अन्यत्र भगवद्भावसम्पादनार्थं प्रह्लाद-भावोऽपि सम्पाद्यते. तद् आह यथा सुवर्णं साधयन्ति तथा **यच्छीलम् अनुवर्तितुं निर्वैरादिभिः आत्मानं** साधयिष्यन्ति. **साधवः** परोपकारनिरताः।।४५।।

एवं प्रमेयत्वं निरूप्य फलत्वं निरूपयति **यत् प्रसादाद्** इति.

यत् प्रसादाद् इदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम् ।

स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ।।४६।।

भगवान् येन **तोष्यते**. यद्यपि सर्वेषाम् आत्मत्वात् स्वरूपतः तुष्टएव, तथापि साधनेन तुष्टः 'तुष्टः' इति उच्यते. तद् आह **यस्य अनन्यया दृशा** इति. प्राणिनां षोडशदृष्टयो भवन्ति अन्तः दशेन्द्रियाणि, अन्तःकरणचतुष्टयम्, आत्मा देहश्च इति. प्राणेन सह सप्तदश. तत्सम्बन्धिनः पुत्रादयो बाह्याः सप्तदश. एवं चतुस्त्रिंशदपि दृष्टयो भगवद्विषयिकाएव यस्य सो अनन्यदृक्, सर्वभावेन प्रपन्नः. तदा सर्वभावम् आपन्नो भगवान् प्रसीदति. ननु भगवत्प्रसादएव फलं कथम् उच्यते? विश्वस्यैव फलत्वात्. अन्यथा भगवानपि विश्वस्मिन् न रमेत. अतः आह यस्य भगवतः **प्रसादाद् इदं विश्वमेव प्रसीदति**. भगवत्प्रसादएव विश्वप्रसादः. अनुसन्धानभेदात् कार्य-कारणभावः, अन्यथा कार्ये साधना-न्तरमपि अपेक्षेत. अतो भेदव्यावृत्त्यर्थम् आह **यदात्मकम्** इति. भगवदात्मकमेव विश्वं, भगवति प्रसन्ने प्रसन्नमेव भवति. तदा अस्य सर्वत्र कामचारो भवति भगवतइव. ननु भगवान् तं प्रति कथं विषयत्वम् आपद्यते, हीनभावापत्तेः मर्यादाभङ्गश्च स्यात्. अतः आह **स्वदृग्** इति. सः भगवान् सर्वम् आत्मत्वेनैव पश्यति. तथाच, तस्य प्रसादे अयमपि आत्मत्वेनैव पश्येद्, अतो न हीनत्वं, न वा मर्यादाभङ्गः. स्वतएव भगवत्त्वात् पूर्णकामोऽपि. तद् आह **भगवान्** इति. तस्मात् फलरूपः प्रह्लादः।।४६।।

साधनरूपताम् आह त्रिभिः, साधनानां त्रैविध्यात्. गुणरूपाणि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यत्प्रसादाद् इत्यत्र. **दृष्टयः** इति. दर्शनसाधनानि, दर्शने विषयाश्च. **कार्ये** इति. कार्यप्रसादार्थम्. **मर्यादाभङ्गः** इति. ''**पराञ्चि खानि**''(कठोप.२।१।१) इति श्रुतिविरोधाद् मर्यादाभङ्गः. **अतो न** इति. आत्मत्वाद् आवृतचक्षुष्ट्वाच्च न इति अर्थः।।४६।।

कानिचित् साधनानि, दोषाभावरूपाणि अपराणि, अन्तरङ्गं फलरूपञ्च एकम्. तत्र प्रथमं गुणरूपाणि साधनानि आह **स वै महाभागवतः** इति.

स वै महाभागवतो महात्मा महानुभावो महतां महिष्ठः ।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभावितान्तर् निवेश्य वैकुण्ठम् इमं विहास्यति ।।४७।।

यस्तु उपपत्योत्पत्त्या च साधनवान्, सएव तच्छास्त्रे गुणयुक्तः. अतः प्रह्लादः तादृशः इति **वै** निश्चयेन **महाभागवतः**. यस्तु भगवदीयो भूत्वा भगवदीयमेव देहादिभिः करोति, जानाति, सः भागवतः. यस्तु सर्वदैव तथाविधः, सः महाभागवतः. अनेन भगवच्छास्त्रसिद्धं सर्वमेव साधनम् उक्तम्. **महात्मा** इति द्वितीयं साधनं ज्ञानमार्गसिद्धम्. ब्रह्मभावेन सः जीवो महान् आत्मा भवति, अन्यथा परिच्छिन्नएव स्यात्. महत्वञ्च अपरिमितमेव. **महानुभावः** इति तृतीयं साधनम्. कर्ममार्गानुसारेण उत्कर्षः. तत्र हि अनुभावेनैव महत्त्वम्. कर्मणो अनित्यत्वेन महत्त्वजनकत्वाभावात् कर्मजनितो अनुभावएव तथात्वबोधकः. तस्य महानुभावत्वम् अग्न्यादिभिः दाहाद्यभावात्. सर्वोत्कृष्टो अनुभावो महान् शीघ्रप्रत्ययहेतुः, महत्प्रत्ययहेतुश्च. **महतां महिष्ठः** चतुर्थो लोके उत्कर्षहेतुः कीर्तिमतामपि कीर्तिमान् इति अर्थः. कीर्तिश्रियौ वा लोके महत्त्वहेतू. अतएव महतां मध्ये अत्यन्तं महान् महिष्ठः. एवं चतुर्विधं साधनम् उक्त्वा पञ्चमं पुरुषार्थरूपं भगवत्स्नेहम् अलौकिकं साधनत्वेन आह **प्रवृद्धभक्त्या** इति. पूर्वसाधनैः प्रकर्षेण वृद्धा या प्रेमलक्षणा भक्तिः, तया अनुभावितं यद् अन्तःकरणं प्रेम्णा तदात्मकं सञ्जातं, यथा भगवान् माति. सहि स्वाश्रयः, अतएव स्वभावापन्ने अन्तःकरणे सन्निविशते[१]. **वैकुण्ठम्** इति यद्दर्शनार्थम् एतावान् क्लेशो अनुभूतः. इमं देहं विहास्यति, विदेहकैवल्यं प्राप्स्यति, देहसन्ततिः निवर्तिष्यते इति अर्थः. एवं सर्वशास्त्रलोकसिद्धं साधनं सफलम् उक्तं गुणरूपम् ।।४७।।

दोषाभावरूपम् आह **अलम्पटः** इति.

अलम्पटः शीलधनो गुणाकरो हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु ।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ।।४८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स वा इत्यत्र. **सहि स्वाश्रयः** इति. **सः** भगवान्, **हि** यतो हेतोः, स्वप्रतिष्ठितः इति अर्थः ।।४७।।

लाम्पट्यम् इन्द्रियविषयासक्तिः दोषः, **शीलं** सुस्वभावः, तदेव धनं यस्य. सर्वेभ्यएव चौरादिभ्यो धनं संरक्ष्यते, तथा हीनानाम् अतिक्रमादिभिः स्वशीलं संरक्ष्यते. अनेन शीलनाशो दुःशीलता च निवारिता. **गुणाकरः** इति. गुणाः सत्यादयः प्रथमस्कन्धोक्ताः, तेषाम् आकरः स्थानम्. ते सर्वे दोषाभावरूपाः. लौकिकाः भगवति उच्यमानाः तथैव भवन्ति. सर्वेषु गुणेषु समता, दया च उत्कृष्टा इति तयोः विवरणम् आह **हृष्टः परद्‌र्ध्या व्यथितो दुःखितेषु** इति. स्वसमृद्ध्यैव सर्वो हृष्यति, अयन्तु परसमृद्‌ध्यापि इति समः. दुःखितेषु व्यथितो दयावानेव भवति, परदुःखं दृष्ट्वा कारूणिकएव दुःखितो भवति. **अभूतशत्रुः** इति. न भूताः शत्रवो यस्य. किं बहुना, यस्य कामादयोऽपि न शत्रवः. **जगतः शोकहर्ता** इति सामर्थ्यम्. परदुःखप्रहाणेच्छा सहजा निरुक्ता. शोकस्तु अन्तर्हितः तापः. बहिः तापमपि निवारयति इति दृष्टान्तेन आह **नैदाघिकम्** उष्णकाले सूर्यजनितं, तथा कलिकालादौ कालजनितमपि तापम्. **उडुराजः** चन्द्रः. सहि नक्षत्रैः सह तापं दूरीकरोति. तथा सर्वपरिकरसहितः स्वसान्निध्येन असान्निध्येन वा तापं दूरीकरोति इति अर्थः ।।४८।।

सर्वोत्कृष्टं साधनम् आह **अन्तःबहिः** इति.

अन्तर्बहिश्चाऽमलम् अब्जनेत्रं स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम् ।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ।।४९।।

तस्य हि भगवत्प्रसादेन भक्त्या ज्ञान–वैराग्याभ्यां च भगवत्साक्षात्कारो जायते. तत्र भगवान् सर्वत्र साकारः, सच्चिदानन्दरूपः, सर्वतः पाणिपादान्तः, मायाजवनिकाच्छन्नः तिष्ठति. तत्र प्रह्लाददृष्टेः माया न जवनिकारूपा, तां भित्त्वाऽपि भगवद्रूपं पश्यति इति अर्थः. केचित्तु प्रसन्नो भगवान् तस्य दृष्टेः अग्रे स्वस्य एकां मूर्तिं स्थापितवान् अत्र वर्ण्यमानाम्. तद् यत्रैव दृष्टिं प्रसारयति, तत्रैव तं पश्यति इति आहुः. तत्र यदि तद्रूपं ब्रह्मस्वरूपं, तदा न पूर्वस्माद् विशेषः. अथ उपाधिरूपं, तदा न प्रह्लादस्य उत्कर्षः इति. **अन्तः बहिः द्रष्टा,** द्रक्ष्यति इति अर्थः. **अमलम्** इति यथा मध्यन्दिनवर्तिसूर्यमण्डलान्तः. अनेन दोषाभावः उक्तः. **अब्जनेत्रम्** इति दृष्ट्यैव सर्वेष्टपूरकः. अनेन सर्वे गुणाः उक्ताः. एवं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वम् उक्त्वा भक्ताधीनत्वम् आह **स्वपूरुषेच्छा** इति. स्वस्य पुरुषाः भक्ताः, तेषां यादृशी इच्छा तदनुसारेण गृहीतं रूपं येन. **तव पौत्रः** इति

भक्त्यंशः तस्याएव. **श्रीः** लक्ष्मीः, **ललना** स्त्रीचिह्नरूपा, तया **ललामम्.** अनेन सर्वभाग्यरूपत्वात् तद्दर्शने किञ्चिद् अन्यत् प्राप्तव्यं द्रष्टव्यं वा न अवशिष्यते इति निरूपितम्. अनेन भगवतः ऐहिकफलरूपत्वम् उक्तम्. स्फुरती ये कुण्डले, ताभ्यां मण्डितम् आननं यस्य. ससाधनौ साङ्ख्य-योगौ स्फुरत्कुण्डले, तत्सहितो यो अयं भक्तिमार्गः सः मुखम् इति, सोपायमोक्षदातृत्वं निरूपितम् ।।४९।।

एवं भगवन्माहात्म्यं तादृशं पौत्रं श्रुत्वा सर्वचिन्तारहिता जाता इति आह **श्रुत्वा** इति.

मैत्रेयः उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रं [१]मुमोदत दितिर्भृशम् ।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद् विदित्वाऽऽसीद् महामनाः ।।५०।।

विना पुत्रस्य भगवदीयत्वेन भागवतः पौत्रो न भवति इति पुत्रोऽपि भगवद्भक्तः. परं निमित्तवशाद् अन्यथा प्रतिभासते इति मत्वा **भृशं मुमोदत** मुमुद इति अर्थः. तकारः छान्दसः, अलौकिकज्ञानबोधनार्थः. पुत्रयोरपि विनियोगः समीचीनः, भगवति प्रवेशाद् भगवल्लीलासाधकत्वाच्च. अतो मम उद्योगः सफलः इति विदित्वा **महामना आसीद्** यथा कश्चित् परमपुरुषार्थं साधयित्वा मुदितो भवति. अनेन दितिः परमभक्ता. एवं रूपेण भगवल्लीलां सम्पादयति इति विहितभक्ति-मार्गाभावेऽपि भक्ता इति मतान्तरेण सृष्ट्युपयोगित्वाद् निरूपिता ।।५०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे चतुर्दशाध्यायविवरणम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रुत्वा इत्यत्र. **अनेन** इति. उपसंहारपद्येन. परमभक्तत्वनिरूपणप्रयोजनम् आहुः **एवं रूपेण** इत्यादि. **एवं रूपेण** इति. एवं प्रकारेण. तथाच अध्यायारम्भे विदुरप्रश्नाभिनन्दनं कथामाहात्म्यञ्च उक्त्वा, **ततो** अथ इत्यनेन प्रकरणान्तरं प्रतिज्ञाय ततः तद्रीत्या उक्त्वा उपसंहारे यद् अस्याः भगवति भक्तिं वदति, तेन उपक्रमोपसंहाराभ्याम् अस्य तात्पर्यं भगवत्येव निश्चेयम्. एवं प्रकारेण अवतारे मुक्तोत्पत्तौ च उपोद्घातत्वं ज्ञेयम् इति आकूतं सूचितम्।।५०।।

।। इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे चतुर्दशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम् ।।

१.पौत्रमोदत पा.

पञ्चदशाध्यायविवरणम्

निरूप्यते पञ्चदशे क्रोधेन ज्ञाननाशनम् ।
बीजे जीवप्रवेशार्थं भक्तशापोऽनुवर्ण्यते ।।१।।
इतिहासप्रवृत्त्यर्थं सङ्गतिश्चाऽपि रूप्यते ।
ज्ञानमूलस्य सत्त्वस्य कार्यनाशकता पुनः ।।२।।
वैकुण्ठे वृक्षपक्षीणां स्त्रीणां चापि न मत्सरः ।
सर्वदोषविहीनत्वात् तत्र दोषो हरीच्छया ।
अतः सृष्टिप्रसिद्ध्यर्थं वैकुण्ठस्य च वर्णनम् ।।३।।

एवं पूर्वाध्याये दितेः गर्भाधानम् उक्तम्. तद् अग्रिमं वृत्तान्तम् आह **प्राजापत्यम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

प्राजापत्यं हि तत् तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ पञ्चदशाध्यायं विवरीतुकामाः पूर्वाध्यायसङ्गतिं स्फुटीकर्तुम् अध्यायार्थम् आहुः **निरूप्यते** इत्यादि. तथाच, पूर्वाध्याये यथा कर्मनाशस्य अवतार-प्रयोजकता तथा अत्र ज्ञानमार्गनाशस्य. यथा च, तत्र दितिकामस्य मुक्तोत्पत्ति-प्रयोजकता, तथा अत्र सनकादि-जयादिक्रोधस्य इति अर्थः. तेन अध्याययोः एककार्यत्वं सङ्गतिः इति अर्थः.

मैत्रेयवाक्ये सङ्गतिम् आहुः **इतिहासे**त्यादि. इतिहासो ब्रह्मप्रोक्तः, तस्य **प्रवृत्त्यर्थम्** इदानीं कथनार्थं सङ्गतिः प्रयोजकत्वरूपा, **च**काराद् देवोक्तहेतुतारूपाऽपि रूप्यते. ज्ञानमूलस्य सत्त्वस्य कार्यज्ञाने पुनः सत्त्वनाशकता रूप्यते. 'पुनः' शब्देन स्कन्धरूपत्वप्रयोजको वासिष्ठरामायणोक्तः सत्त्वनाशः स्मार्यते. तेन सनकादिज्ञानस्य तथात्वं स्वाभाविकम् इति बोध्यते. तदपि सङ्गतावेव प्रविशति इति अर्थः.

ननु वैकुण्ठवर्णनस्य अत्र किं प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायां तत्सङ्गतिं सार्द्धेन आहुः **वैकुण्ठे**त्यादि. **पक्षीणाम्** इति. **''नदीनां च नखीनां च शृङ्गीणां शस्त्रपाणि-नाम्''**(गरुड.बृ.अ.१०८) इतिवद् अत्र च 'पक्षी'शब्दः इकारान्तः इति बोध्यम्. शेषं स्फुटम्. तथाच, तदपि उपोद्घातप्रयोजकत्वेनैव उक्तम् इति अर्थः.

प्रजापतिः कश्यपः, तस्य **तेजो** बीजमेव, बीजस्य ब्रह्मत्वात्. अतएव **परतेजोहनम्.** ब्रह्मतेजसा हि अन्ये हन्यन्तएव. इममेव अर्थं **'हि'**शब्दः आह. तस्य मारकत्वम् उत्पत्तौ कालादिधर्मजन्यम् इति सूचयितुं **तद्** इति उक्तम्. **शतं** मानुषवर्षाणि गर्भं **दधार.** देववर्षाणि वा. तौ चेद् गर्भे पुष्टौ भवतः तदा देवैः मारयितुम् अशक्यौ, देवान् वा वृथा मारयेताम्. 'दिति'पदेन च तस्याः स्वाभाविकं सामर्थ्यं सूचितम्. तस्याः सहजस्वसामर्थ्यानुसन्धानाद् भयं न अस्त्येव, ब्रह्मबीजत्वाच्च न देवानां वृथा मारणम्. तथापि भर्तृवाक्यात् शङ्का जाता इति आह **शङ्कमाना** इति. तदा तस्मिन् बीजे द्विधाभूते जय-विजययोः प्रवेशो जातः इति ब्राह्मं वैष्णवञ्च तेजः एकीभूतं, सूर्यादितेजो असहमानं, स्वतेजसा तद् दूरीचकार ।।१।।

लोके तेन हतालोके लोकपाला हतौजसः ।

न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ।।२।।

तदा **तेन** बीजेन **हतालोके लोके** सति, **लोकपाला**अपि कालाधीनाः कालतेजसि गते स्वयमपि हतौजसो जाताः. ते हि इन्द्रादयो बलकार्यरूपाः, अतः तेषाम् ओजएव गतम्. तदा बल-प्रकाशयोः नाशात् तन्निदानं ज्ञातुकामाः ब्रह्मलोकं गताः, मेरुपृष्ठं वा. **विश्वसृजे** स्ववृत्तान्तं **न्यवेदयन्.** स्वस्य ओजसो अभावो अप्रतिष्ठाहेतुत्वाद् न निवेदितः किन्तु ध्वान्तम् अन्धकारं, तेन दिगव्युत्पत्तिं च न्यवेदयन्।।२।।

तत्र मूलं तमएव इति तत्र निदानं पृच्छन्ति **तमः एतद्** इति.

देवाः ऊचुः

तम एतद् विभो वेत्थ संविग्ना यद् वयं भृशम् ।

न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनाऽस्पृष्टवर्त्मनः ।।३।।

देवा भीता ब्रह्मणैव क्रियते दैत्यवर्द्धनम् ।

अतो देवविनाशः स्याद् इति तेनैवम् ईरणम् ।।१।।

ज्ञानं समर्थितं तस्य स्वदोषाभाव एव च ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तमः इत्यत्र. **देवाः** इति प्रथमकारिकया अष्टानां सामान्यार्थः उक्तः, अग्रिमयोस्तु प्रतिचरणं प्रातिस्विकः इति बोध्यम्।।३।।

विद्यमानेऽपि तच्छान्तिः तस्य भक्तकृपा तथा ।।२।।
भक्तानाम् अभयं तस्मात् सेवकाश्च वयं भृशम् ।
अतोऽस्मासु कृपा कार्या दैत्योत्पत्तिर्हि जायते ।
एवम् अष्टविधं वाक्यं ब्रह्माणं प्रति दैविकम् ।।३।।

तत्र प्रथमं महत्त्वात् प्रष्टुमपि अशक्ताः तमसो अज्ञानं सम्भावयन्ति. हे **विभो!** सर्वज्ञानादिसमर्थ. **एतत् तमः** सर्वथा **वेत्थ** जानासि, अतो अस्मान् ज्ञापय इति भावः. ज्ञापने हेतुः **यद्** यस्मात् तमसो **भृशं वयं संविग्नाः** अन्धकाराद् ओजसो अभावात्. [1]तवतु अज्ञानं न सम्भवति. यद् अव्यक्तं भगवतो रूपं तत् त्वां प्रति न. अतो भगवतो वासुदेवगुणावतारस्य तव न अस्ति अव्यक्तम्. किञ्च, अव्यक्तहेतुरपि न अस्ति. कालेन हि सर्वम् अव्यक्ते प्रविलाप्यते, त्वन्तु कालेन न स्पृष्टं वर्त्म यस्य तादृशः।।३।।

एवं ज्ञानं तस्य समर्थयित्वा स्वदोषाभावं निरूपयन्तः तस्य सर्वहृदयाभिज्ञत्वम् आहुः **देवदेव** इति.

देवदेव जगद्धातः लोकनाथशिखामणे ।
परेषाम् अपरेषां [2]च भूतानामसि भाववित् ।।४।।

अन्येषां भवान् न पूज्यः, तेन तद्धृदयम् अप्रविष्टः कदाचिद् न जानास्यपि, वयन्तु देवाः अस्माकन्तु त्वमेव उपास्य इति सम्बोधनम्. किञ्च, वयं निष्कपटाएव त्वया उत्पादिताः शुद्धसत्त्वेन, अतोऽपि जानासि इति सम्बोधनान्तरम् आहुः **जगद्धातः** इति. जगतां त्वमेव विधाता, धारयिता वा. तथापि हृदयज्ञानम् उचितमेव. किञ्च, स्वामी हि सेवकस्य हृदयं जानाति. भवांस्तु सर्वेषामेव लोकानां ये नाथाः इन्द्रादयः तेषां शिखामणिः. लोकनाथाएव स्वलोकस्य अभिप्रायं जानन्ति, भवांस्तु तेषामपि. तत्रापि शिखामणिः इति तेषाम् उपरि तत्प्रकाशकत्वेन तत्कर्मसाक्षित्वेन च वर्तमानः. अतः प्रभुत्वेन, जनकत्वेन, प्रकाशकत्वेन च परेषाम् अस्मदाद्यपेक्षया उत्कृष्टानाम् अपरेषाञ्च हीनानां, **च**काराद् अस्माकञ्च सर्वेषामेव भूतानां त्वं भावविद् असि. अतो अस्मासु न किञ्चित् तिरोहितम् ।।४।।

एवं स्वदोषाभावम् उक्त्वा दोषे वा विद्यमाने तत्क्षमां कारयन्तो

१.तव तत्त्वज्ञानं क. ख. घ. ङ. २.त्वं पा.

नमस्यन्ति **नमो विज्ञानवीर्याय** इति.

नमो विज्ञानवीर्याय माययेदम् उपेयुषे ।
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ।।५।।

ननु भगवानेव नमस्करणीयः, सर्वेषां स्वामित्वाद्; गुरुः वा, तन्मार्गोपदेष्टृत्वाद् गौणः, अहन्तु न उभयरूपः इति चेत्, तत्र आह **नमो विज्ञानवीर्याय** इति. विज्ञानं ब्रह्मानुभवो वीर्यं पराक्रमो यस्य. लौकिकी क्रिया लौकिकज्ञानसहिता सर्वेषां पराक्रमहेतुः भवति. ततोऽपि केषामेव ऋषीणां वैदिकी क्रिया पराक्रमहेतुः. ततोऽपि ब्रह्मविदामेव तेजः सार्वज्ञ्यक्षणः पराक्रमो ज्ञानेन सिद्ध्यति. तत्र साक्षात्कारेण विज्ञानेन भगवतएव बलं भवति. तादृशं तवापि वर्तते इति स्वेच्छया सृष्ट्या अध्यवसीयते. अतो भगवत्स्वरूपाभिज्ञत्वाद् गुरुत्वेन नमनम् उचितमेव इति भावः. ननु तादृशज्ञाने सम्पन्ने भगवत्सायुज्यमेव भवेत् कथम् एवम् अधिकारः स्याद्? इति आशङ्क्य आह **मायया** इति. **इदं** शरीरम् **उपेयुषे**[क] स्वीकृतवते. या सृष्टिकरणभूता माया, तस्याः करणत्व–निर्वाहार्थं, कर्त्रपेक्षायां सेवके विद्यमाने स्वामिनो व्यापृत्तिः अनुचिता इति भगवत्तुल्यतायाः जातत्वाद्, जगद्व्यापारवर्जश्रवणाच्च, तयैव मायया कृतम् इदं; तयैव कृत्वा स्वीकृतवान् इति अर्थः. ननु द्वयी गतिः, जीवानाम् अकर्तृत्वं भगवतः कर्तृत्वञ्च इति तत्र अस्ति. कर्तृत्वे भगवत्त्वाद् न शरीरापेक्षा, जीवत्वेतु जातेऽपि शरीरे न भेदकर्तृत्वं सेत्स्यति इति आशङ्क्य आह **गृहीतगुणभेदाय** इति. गृहीतो गुणैः भेदो येन. न अस्य सहजो भेदः, येन अकर्तृत्वं स्यात्. नापि अभेदः,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नमः इत्यत्र. **तेजः** इति. पराक्रमहेतुः इति शेषः. तत्र गमकम् आहुः **सार्वज्ञ्ये**त्यादि. एतस्य अधिकारस्य मुक्तिपूर्वावस्थात्वं व्युत्पादयन्ति **या सृष्टी**त्यादि. **जगद्व्यापारवर्जश्रवणाद्** इति. इदं चतुर्लक्षण्यां तुरीये अस्ति. तत्र मुक्तस्याऽपि ऐश्वर्यं जगत्कर्तृत्वाभावः च उक्तः. प्रकृतेऽपि तस्याः करणत्वायं (य) भगवत्कार्यार्थं कर्तृत्वाङ्गीकारेऽपि स्वतो अभिमानाभावाद् न मुक्तत्वभङ्गः इति न भगवज्ज्ञान-राहित्यप्रसङ्गः इति अर्थः. **तत्र अस्ति** इति. सायुज्यपूर्वावस्थायाम् अस्ति. **इति आशङ्क्य** इति. इति हेतोः मायया ब्रह्मदेहग्रहणकथनम् असङ्गतम् आशङ्क्य.

क. ''**उपेयुषि** स्वीकृतवति'' इति मां.१,३.

गुणैः भेदस्य कृतत्वात्. गुणाः हि भेदरूपं भगवन्तं चिद्रूपे नियोजितवन्तः. अतः तत्कृतभेदस्य विद्यमानत्वात् तत्साम्यकृतं देहम् अवलम्ब्य जगत्करणं युक्तमेव. ननु "**अव्यक्तादीनि भूतानि**"(भग.गीता २।२८) इति वाक्याद् अलौकिक-कर्तृत्वादेव कार्ये सिद्धे पुनः किं ब्रह्मकर्तृत्वेन? इति आशङ्क्य आह **नमस्ते** इति. अव्यक्तस्य अयं योनिः. अव्यक्तम् अस्मिन् जगत् [ख]प्रवेश्य स्वयं निवर्तते. अतएव अस्य रजोगुणरूपत्वम्. यथा मातापित्रोः जगद् जायते, तथा अस्माद् अव्यक्ताच्च जगद् जायते इति न अस्य अनुपयोगः. अतो मातृत्वात् पुनः नमनम्।।५।।

एवम् अपराधक्षमापनं कृत्वा तस्य भक्तकृपालुत्वं प्रतिपादयन्ति **ये त्वा अनन्येन** इति.

ये त्वाऽनन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम्।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम्।।६।।

अत्र वाक्यापरिसमाप्तिः कृपायाः सफलत्वप्रतिपादनार्था. अतः कृपातो भक्तानाम् अभयं वक्ष्यति अतः कृपाहेतुरेव अत्र उच्यते. ये सन्तः त्वां सर्वभावेन हृदये भावयन्ति, तेषां लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित् पराभवः इति सम्बन्धः. ननु भगवत्येव अनन्यभावः सम्भवति, कथम् अन्यस्मिन्? इति आशङ्क्य अनन्यभावे हेतुचतुष्टयम् आह **आत्मभावनम्** इत्यादिपदैः. आत्मानं भावकस्वरूपं भावकस्य देहादिकं भावयति इति तथा. अनेन कर्तृत्वम्. आत्मनि प्रोतं भुवनं येन. अनेन समवायित्वम्. **परं** नियन्तारम्. स्थितौ सर्वप्रवर्तनादि-कर्तारम्. **सदसदात्मकम्** इति प्रलयकर्तारम्. सदसदात्मकः प्रलयः, सताम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्साम्यकृतम् इति. गुणसाम्यकृतम्.

युक्तमेव इति. भगवतः तव च चैतन्य-भेदाभा(वा)द् युक्तमेव. एवञ्च अनभिमानित्वेन गुणावतारत्वाद् भेदाभेदः उक्तः. **अव्यक्तस्य अयं योनिः** इति. अक्षरस्य क्षेत्रभूतः. **अतः** इति तथाभिमानपक्षेऽपि उपयोगसद्भावेन।।५।।

ये त्वेत्यत्र. अनन्यभावः इति. सर्वभावः. **भावकस्वरूपम्** इत्यस्यैव व्याख्यानं **भावकस्य देहादिकम्** इति. **भावयति** इति. उत्पादयति. **सदसदात्मकम्**

ख. 'प्रविश्य' इति मां.१,३.

असदात्मकः इति. मायात्मकत्वाद् वा प्रलयकर्तारं, सर्वदा तस्य स्थित्यसम्भवाद् जगदात्मत्वेऽपि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन असत्स्वरूपः[क] इत्येव पर्यवस्यति. स्वकीयानां सर्वेषाम् उत्पत्त्यादिकर्तृत्वात् तदधीनत्वात् स्वस्याऽपि सर्वभावेन भावनं सम्भवति इति अर्थः. एवं सर्वभावेन भावनं प्रसादहेतुः।।६।।

एवं कारणनिरूपणेन प्रसादं निरूप्य, तेन अभयं निरूपयन्ति **तेषाम्** इति.

तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित् पराभवः ।।७।।

प्रसादेन अभयजनने अवान्तरव्यापारम् आह **सुपक्वयोगानाम्** इति. तस्य मुख्यात्मकत्वाद् योगद्वारा सर्वसिद्धिहेतुत्वम्, अन्यथा भगवतइव स्वतन्त्रता स्यात्. सुष्ठु पक्वो योगो येषाम्. सुपक्वो हि सर्वत्र नियोक्तुं शक्यते. योगपाके हेतुं वदन् व्यापारान्तरम् आह **जितश्वासेन्द्रियात्मनाम्** इति. जिताः श्वासाः, इन्द्रियाणि, आत्मा, अन्तःकरणञ्च येषाम्. प्राणेन्द्रियान्तःकरणजयः तदीयपदार्थानाम् अस्पर्शहेतुत्वात् साक्षात् प्रीतिहेतुः. वेदगर्भत्वेन ज्ञानहेतुत्वात्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यत्र सताम् असदात्मको येन इति व्यधिकरणपदो बहुब्रीहिः. सदसती आत्मा यस्य इति समानाधिकरणएव चेद् अभिप्रेयते, तदापि प्रलयकर्तृत्वमेव अर्थः इति आहुः **माये**त्यादि. **तस्य** इति. सदसदात्मकस्य. ननु सदसतोः आत्मा सदसदात्मकः इति समासेतु न सो अर्थः आयाति इति शङ्कायाम् आहुः **जगदि**त्यादि. एवं श्रीधरोक्त-रीत्या जगदात्मकत्वेतु प्राप्ताप्राप्तविवेकेन ''**आत्मनि प्रोतभुवनम्**''(भाग.पुरा.३।१५।६) इति पूर्वा(व)विशेषणेन जगत्कारणतयैव तथात्वं प्राप्तं, प्रलयकर्तृत्वन्तु अप्राप्तम् इति तयोः विचारेण आद्ये पुनरुक्त्यापाताद् असति अविद्यमाने प्रलयएव कारणत्वं पर्यवस्यति इति तदीयं व्याख्यानम् उक्तम् इति अर्थः. श्लोकस्य तात्पर्यार्थम् आहुः **स्वकीये**त्यादि. ननु भवतु एवं सर्वभावः, तथापि प्रकृते तत्कथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **एवम्** इत्यादि।।६।।

तेषाम् इत्यत्र. **मुख्यात्मकत्वाद्** इति. आसन्यात्मकत्वात्. **तदीयपदार्थानाम् अस्पर्शहेतुत्वाद्** इति. ब्रह्मसम्बन्धिनां पदार्थानाम् अतीन्द्रियत्वेन इन्द्रिय-सन्निकर्षाहेतुत्वात्।।७।।

क. 'असत्यएव' इति मां.१,२,३.

सकारणो योगो अवान्तरव्यापारः इति न अनेकव्यापारत्वम्. अतएव लब्धो युष्मत्प्रसादो येन, कुतश्चित् कालादेरपि. **पराभवो** अभिभवः।।७।।

एवं भक्तेषु सफलां कृपाम् उक्त्वा, तस्य कृपावत्त्वं निरूप्य, स्वस्मिन् कृपां प्रार्थयितुं स्वस्य सेवकत्वम् आहुः **यस्य वाचा** इति.

यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः ।

हरन्ति बलिमायत्ताः तस्मै [१]मुख्याय ते नमः।।८।।

यस्य ब्रह्मणो वेदलक्षणया वाचा सर्वाएव प्रजाः, कन्यकाइव सर्वथा असमर्थाः, सेवकभूताअपि स्वकार्ये अतिनिर्बन्धेन नियोजिताः, बलीवर्दाः **तन्त्येव यन्त्रिताः**. ब्रह्मणो वाग् वेदलोकात्मिका. अतएव येषां वेदोऽपि न नियामकः तेषां लौकिकेन यन्त्रणम्. अनेनैव सेवकत्वं निरूपितम्. सर्वे हि प्राणिनः फलार्थं कर्म कुर्वन्ति. तत्र निष्पन्ने फले, अधिष्ठातृदेवताभिः उपस्थिते फले, यः सारांशः तत् तैरेव स्वार्थं भिन्नं करोति. पश्चाद् असारं प्रयच्छति. तथाच सर्वकर्मणां यद् मुख्यं फलं सृष्टिः, भगवदाज्ञा, सुखं वा; तद् ब्रह्मणे सिद्ध्यति. धर्मतपस्यादिना यो असारो नान्तरीयकमलमूत्रादिरमणं, तद् जीवेभ्यः प्रयच्छति इति. एवं ज्ञात्वाऽपि तथैव करणं यन्त्रणम्. अतएव अधमाअपि गावो दृष्टान्तीक्रियन्ते. एवं ज्ञात्वा ते निश्चिताः इति. एवं सर्वदा कार्यकर्तृषु असारभक्षकेषु कृपा उचिता. किञ्च, बलीवर्दापेक्षयापि एते उत्तमाः यद् असारभूतमपि तुभ्यं बलित्वेन प्रयच्छन्ति, अन्यथा तत्र मध्ये मारयेत्. अतो भवान् मुख्यः प्रवर्तकोऽपि भूत्वा प्रजासु श्रेष्ठः. व्यङ्ग्येन ब्रह्मणोऽपि उपहासएव उक्तः. आसन्यरूपत्वाद् वा बलिदानसाक्षिकत्वेन[२] मुख्यतया निरूपणम्. आ समन्तात् **यत्ताः** सावधानाः. अनेन [३]कादाचित्ककरणं व्यावर्तितम् ।।८।।

एवं स्वस्य सेवकत्वम् उपपाद्य कृपां प्रार्थयन्ति **सः त्वम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यस्य इत्यत्र. **एवं सेवकत्वम्** इति. यन्त्रणेन सेवकत्वम्. यन्त्रणम् उपपादयन्ति **सर्वे हि** इत्यादि **यन्त्रणम्** इत्यन्तम्. **तत्र** इति. कर्मणि. **तैः** इति. स्वस्य करणभूतैः अधिष्ठातृभिः. **प्रयच्छति** इति. कर्मकरेभ्यः प्रयच्छति. **निश्चिताः** इति. बलीवर्दतुल्याः निश्चिताः।।८।।

१.मुख्यात्मने. पा. २.साक्षित्वेन ग. ३.'कदाचित्करणम्' इति मां.१,२,३.

स त्वं विधत्स्व शं भूमन्! तमसा लुप्तकर्मणाम् ।

अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नान् अर्हसीक्षितुम् ।।९।।

हे **भूमन्!** हे अधिक, कृपायां कृतायामपि न तव काचित् क्षतिः इति अर्थः. अतएव अस्मभ्यं सम्प्रयच्छ. कल्याणान्तरव्यावृत्त्यर्थं स्वाभिप्रेतम् आहुः **लुप्तकर्मणां** लोकानाम् अन्धकारेण सर्वकर्मरहितानां भुवनानां सम्बन्धिनः **आपन्नान्** शरणगतान् अस्मान् **अदभ्रदयया दृष्ट्या ईक्षितुम् अर्हसि** इति. कृपादर्शनव्यतिरेकेण तत्र विद्यमानमपि दैन्यादिकं न प्रकाशते. अतः कृपादृष्ट्या द्रष्टव्यम् इति गूढो अभिप्रायः. साधारणलोकानां दीनं दृष्ट्वा दया उत्पद्यते, परं सा व्यर्था. तथा मा भवतु इति **अदभ्रे**ति विशेषणम्।।९।।

कस्माद् निमित्तात् कृपा विधेया? इति शङ्कायां दैत्योत्पत्तिः जायते इति ततो अभयं कर्तव्यम् इति अभिप्रायेण आहुः **एषः देव** इति.

एष देव दितेर्गर्भः ओजः काश्यपम् अर्पितम् ।

दिशस्तिमिरयन् सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ।।१०।।

दितेः एषः गर्भः काश्यपं तेनैव अर्पितम् **ओजो** दश**दिशः तिमिरयन्** शुष्के **एधसि** काष्ठे अग्निरिव वर्द्धते. इदानीं दितेः गर्भः. अनेन स्वभावतः क्रूरो भविष्यति इति उक्तम्. तत्रापि कश्यपस्य बीजं, तदपि ओजोरूपम्. तेनैव च **अर्पितं** समर्पितम्. दितेः स्थाने समर्पितमिति तत्र न कोऽपि प्रतीकारः कर्तुं शक्यः ।।१०।।

एवं महाभयेन देवानां वचनं श्रुत्वा, तत्र निदानं हास्यरूपम् इति तत् स्मृत्वा, तद् अवक्तव्यम् इति बीज-गर्भयोः ज्ञातत्वात् तदरिक्तं हेत्वन्तरं वक्तुं कथाम् आरभते इति आह मैत्रेयः

मैत्रेयः उवाच

सम्प्रहस्य महाबाहो! भगवान् शब्दगोचरः ।

प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा ।।११।।

सम्प्रहस्य इति. **महाबाहो!**[१] इति विदुरसम्बोधनं शूरत्वेन क्वापि भयं न कर्तव्यम् इति ज्ञापनार्थम्. **भगवान्** इति तज्ज्ञाने हेतुः, प्रतीकाराकरणे[२] च.

१.प्रतीकारकरणे ग.

शब्दगोचरः इति अलौकिको वेदैकसमधिगम्यः. आधिदैविको ब्रह्मा तत्र आविष्टो वदति इति ज्ञापितम्. अन्यस्य भगवत्सेवकाद्यपकर्षो वक्तुम् अयुक्तः. **प्रत्याचष्ट** प्रत्युत्तरं दतवान्. ब्रह्मणा किञ्चित् कृतम् इति इयं शङ्का व्यावर्तिता. ''**भगवान् तद् विधित्सति**''(भाग.पुरा.३।१६।३६) इति अग्रे वक्ष्यति. **आत्मभूः** इति तथा कथनं न अपराधहेतुः. ''**मानसाः**''(भाग.पुरा.३।१५।१२) इत्यादिवाक्येभ्यो अन्ययैव **रुचिरया गिरा**. तेषां यथा सुखं भवति तथा **प्रीणन्** प्रीतिं जनयन् ।।११।।

शापाद् आगतजय-विजययोः निस्तेजसोः तेजसा एतद् जातम् इति वक्तुं शापार्थम् उपाख्यानम् आरभते **मानसाः** इति अध्यायद्वयेन.

ब्रह्मा उवाच

मानसा मे सुता युष्मत् पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकान् लोकेषु विगतस्पृहाः ।।१२।।

प्रसङ्गात् तेषां वैकुण्ठगमनम् इति वक्तुं स्वभावतः तेषां परिभ्रमणम् आह **मानसाः मे सुताः** इति. भगवता मनसि कृतं ते कृतवन्तः इति ज्ञापयति. मत्सुताः इति सृष्टिहेतुत्वम् उक्तम्. **युष्मत् पूर्वजाः** इति भवताम् अज्ञाने हेतुः. देवाः पश्चाद् उत्पन्नाः, न[१]तु एते काश्यपाः. तस्मिन् कल्पे तथैव उत्पत्तिः. देवानां शुद्धसात्त्विकत्वात् ततः पूर्वजाः गुणातीताः, अनेन स्वस्य दोषो न अस्ति इति सूचितम्. यथा मम पुत्राः तथा भवतां ज्येष्ठाः इति. **सनकादयः** इति तपोरूपत्वाद् न कस्यापि प्रतीकारः शक्यः. **विहायसा** आकाशमार्गेण. [क]सामर्थ्याप्रतिरोधः श्रमाभावश्च सूचितः. सर्वेष्वेव **लोकेषु विगतस्पृहाः** सन्तः **चेरुः** गमनं कृतवन्तः. लोकान् अलोकान् वा प्रति लोकोद्धारार्थम् इति अर्थः. **लोकान्** इति अत्यन्तसंयोगे वा द्वितीया. पुनः [ख]लोकग्रहणं जनेषु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सम्प्रहस्य इत्यत्र. **अन्यया** इति. अत्र अन्यत्वं 'प्रीणन्' इति पदोक्तेन कार्यस्य वर्तमानत्वेन ज्ञेयम्।।११।।

मानसा इत्यत्र. **स्वस्य** इत्यादि. दितिगर्भकृतो दोषः स्वहेतुको न अस्ति इति अर्थः. **विहायसालोकान्** इत्यत्र आकारप्रश्लेषोऽपि शक्यवचन इत्यतः आहुः **अलोकान् वा** इति।।१२।।

१.नन्वेते क. ङ. च. क.'सामर्थ्यम् अप्रतिरोधः' इति मां.१,२,३. ख.'लोकेषु' इति मां.१,३.

प्रयोजनाभावार्थम्. तेषां पर्यटनं नित्यम् इति ते [ग]परिभ्रमन्त्यो भुवनानामेव कर्मत्वं, नतु जनानाम्।।१२।।

तेषां प्रसङ्गाद् वैकुण्ठगमनम् आह **ते एकदा** इति.

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः ।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ।।१३।।

भगवतो वैकुण्ठस्य इति. साक्षात् पुराणपुरुषावतारो वैकुण्ठः, तद् नाम्ना निर्मितो लोको 'वैकुण्ठः' इति उच्यते. स्त्रीप्रार्थनया सः लोको निर्मितः इति सो अवतारः कामी इति शङ्का स्यात् तद् निवृत्त्यर्थम् आह **अमलात्मनः** इति. अमला आत्मनो यस्य इति वा. यथा सत्यादिषु अविद्यावन्तः तिष्ठन्ति, न तथा तत्र इति अर्थः. **वैकुण्ठनिलयम्** इति. नित्यमेव स्थानम्. कृत्रिमत्वेऽपि व्यापिवैकुण्ठएव [१]तत्र निविष्ट इति तद् मुख्यमेव वैकुण्ठम्. अतः "**पुनर्लोकाय कल्पताम्**"(   ) इति न विरोधः. "**चैद्ये च सात्वतपतेः चरणं प्रविष्टे**" (भाग.पुरा.१०।७५।८) इति च न विरुद्ध्यते, "**प्रत्येष्यताम्**"(भाग.पुरा. ३।१६।३१) इति च. "**वैकुण्ठः कल्पितो येन**" (भाग.पुरा.८।५।४)इति वाक्यात् कृत्रिमत्वं च. सनकादीनां गमनात् च, लोकसाधारण्यप्रसङ्गाच्च. अतः कृत्रिमे सहजस्य आवेशः लोकावतारो वा. वैकुण्ठस्यतु निलयम् इति पुनः उक्तम्. वैकुण्ठएव निलयः इति. सर्वेषाम् अगम्यम् इति सूचयितुम् आह **सर्वलोकनमस्कृतम्** इति. सर्वेषां जनानां नमस्करणीयं, सर्वभुवनोत्कृष्टं वा. अन्यत्र लोके विद्यमानाः लोकम् उपद्रावयन्ति, अत्रत्यास्तु न एवम् इति सर्वे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ते एकदा इत्यत्र. तस्य नित्यत्वं जन्यत्वञ्च उपपादयन्ति **कृत्रिमे**त्यादि. **लोकाय** इति. अक्षरसायुज्याय. एतद्वाक्यत्रयतात्पर्यम् अग्रिमाध्याये निरूपणीयम्. ननु तस्य व्यापित्वात् तन्मुख्यमेव वक्तव्यम् इत्यतः आहुः **वैकुण्ठः कल्पितः** इत्यादि. आवेशस्य तत्तत्कार्यकालनियतत्वे कादाचित्कत्वाद् अत्र च तादृशकार्यस्य अप्रतीयमानत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **लोकावतारो वा** इति. ननु किमर्थम् अयं प्रयासः? षष्ठीतत्पुरुषेण अवतारविशेषलोकत्वमेव व्याख्येयम् इत्यतः आहुः **वैकुण्ठस्यतु** इत्यादि।।१३।।

ग.'परिभ्रमन्ति अतो' इति मां.१,३

लोकाः एनं नमस्कुर्वन्ति ।।१३।।

सामान्यतः तं लोकं वर्णयति चिदानन्दसद्भेदैः. तत्र प्रथमं तत्रत्याः चेतनाः आनन्दरूपाः इति स्वरूपोत्कर्षम् आह **वसन्ति यत्र पुरुषाः** इति.

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम् ।।१४।।

यत्र वैकुण्ठे. **पुरुषाः** इति स्त्रीणां न सारूप्यमुक्तिः. वैष्णवपतिव्रतानान्तु तैः सह गमनं, तत्र च भगवद्गुणगानम् इति तद् अग्रे वक्ष्यति. **सर्वे** इति न तत्र वर्णादीनां प्रयोजकत्वम्. वैकुण्ठस्येव मूर्तिः येषाम्. आनन्दाकारएव तेषां देहः, आनन्दएव वा. तथापि स्वानन्दस्य [१]तथात्वाद् न भगवत्तुल्यत्वम्. तत्र तथात्वे हेतुम् आह **ये अनिमित्तनिमित्ते**ति. **ये** भागवताः अनिमित्तेन निष्कामेन **धर्मेण, हरिम् आराधयन्** आराधितवन्तः. न निमित्तं लोकप्रसिद्धं कामनारूपं निमित्तं यत्र. निष्कामस्वधर्मेण श्रवणादिना धर्मरूपेण ये भगवदाराधनं कृतवन्तः ।।१४।।

एवं जीवोत्कर्षम् उक्त्वा भगवदुत्कर्षम् आह **यत्र** इति.

यत्र चाऽऽद्यः पुमान् आस्ते भगवान् शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः ।।१५।।

यत्र आनन्दमयो भगवान् सदंशस्य मुख्यभावरूपं सत्त्वं विष्टभ्य तिष्ठति. वैकुण्ठलोको अयं सर्वलोकविलक्षणः, अतः चितः आनन्दः शरीरम्, आनन्दस्य सत् शरीरम्, सतः च मोक्षरूपता इति. अतएव सत्त्वादयो गुणाः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वसन्ति इत्यत्र. **स्त्रीणां न** इति. एतेन पक्षिवृक्षादयोऽपि व्याख्याताः इति न कोऽपि चोद्यावसरः. तासां स्त्रीत्वे प्रयोजकम् आहुः **वैष्णवे**त्यादि. तथाच अन्तसमये भगवद्ध्यानाभावः सारूप्याभावप्रयोजकः इति अर्थः. न भ(ग)वत्तुल्यत्वम् इति न साष्टि(र्ष्टिः). तत्र हेतुं व्याकुर्वन्ति **ये भागवताः** इत्यादि. तथाच तत्कृतश्रवणादीनां भक्तिरूपत्वाभावो हेतुः इति अर्थः।।१४।।

यत्र च इत्यत्र. **मुख्यभावरूपम्** इति. प्रथमधर्मरूपम्. एतदेव सत्त्वं रामानुजैः द्रव्यत्वेन अङ्गीक्रियते, प्राकृतसत्त्वाद् विलक्षणं च. तेन सिद्धम् आहुः **वैकुण्ठे**त्यादि. तद् व्युत्पादयन्ति **अतः** इत्यादि. यतो अन्यत्र ''**यस्य पृथिवी शरीरं**''

१.अतथात्वात् ग.

सच्चिदानन्दानाम् इति पूर्वम् उक्तम्. सर्गस्तु आवृत्तिरूपः इति सच्चिदानन्दानाम् आवृत्तिः उच्यते. अतएव आश्रये आनन्दे प्रतिष्ठां वक्ष्यति. **च**कारात् व्यापिवैकुण्ठे. **आद्यः पुमान्** पुरुषोत्तमो भगवान् इति सः धर्मः. **शब्दगोचरः** इति लौकिकसम्बन्धाभावः. सत्त्वस्य विशेषेण स्तम्भनं कालप्रवाहेण रजोगुणादिभिः सह मिलनाभावार्थम्. पूर्वन्तु अमिलितम् इति आह **विरजम्** इति. ननु सत्त्वस्तम्भने कः पुरुषार्थः ? इति आशङ्क्य आह **स्वानां नो वृषः** इति. ब्रह्मादीनां भक्तानां स्वामी. स्वभक्ताः कालाद् भिन्नतया सर्वेष्टैः संयोज्याः इति. यतो **वृषः** स्वामी स्वामिनो मृडनम् आवश्यकम्. स्वाम्यविशेषो वा. साधारणस्वाम्यपेक्षया भक्तेषु मृडयन्. अयं स्वामी अतः सत्त्वविष्टम्भनम् इति अर्थः।।१५।।

एवम् आनन्दस्य सत्त्वम् उक्त्वा सताम् उभयविधपरमपुरुषार्थत्वम् आह **यत्र नैःश्रेयसं नाम** इति.

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर् द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्तिमत् ।।१६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

(बृहदा.उप.३।७।३) ''**यस्य आत्मा शरीरम्**''(   ) इत्यादिश्रुतेः भगवान् सद्विशेषशरीरः चिच्छरीरश्च अन्तर्यामी. अत्रतु आद्यः पुमान् मूलपुरुषः स्वयं भगवान् आनन्दशरीरः आस्ते. सोऽपि सत्त्वं विष्टभ्य सच्छरीरः. तदपि सत्त्वं विरजं, रजःसम्बन्धाभावाद् मोक्षरूपम्. तत्रत्याः पुरुषाः चिदंशाः वैकुण्ठमूर्तित्वाद् आनन्द-शरीराः तद् एतद् अन्येभ्यो वैलक्षण्यम् इति अर्थः. ननु अत्र विरजं सत्त्वं सिद्धवद् निर्दिष्टं, तावता केवलं तद् अस्तु. तथापि तस्य विवृतरूपत्वं कथम् इति आकाङ्क्षा-याम् आहुः **एते** इत्यादि. **पूर्वम्** इति. द्वितीयस्कन्धे ''**सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः**''(भाग.पुरा.२।५।१८) इत्यत्र. वैलक्षण्यबोधनप्रयोजनम् आहुः **सर्गस्तु** इत्यादि. एतेषाम् आवृत्तौ ज्ञापकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. **आश्रये** इति. द्वादशस्कन्धे. **वक्ष्यति** इति. ''**आनन्दं प्रयन्ति**''(तैत्ति.उप.३।६) इति श्रुत्यनुसारेण आत्यन्तिक-प्रलयविचारे सोत्पत्तिकं कथयिष्यति. तद् एतद् द्वादशस्कन्धनिबन्धे स्फुटं, योजनायां भगवत्कृपया दर्शितम्. एषैव रीतिः व्यापिवैकुण्ठ इति आहुः **च**कारात् इत्यादि. एतेन ''**ता वां वास्तूनि**''(ऋ.सं.अ.२ व.२४ मं.) इत्यादिषु श्राविते व्रज इतोऽपि विलक्षणरीत्या स्थितिः बोधिता. सा वेणुगीतादिसुबोधिनीतो बोध्या।।१५।।

यत्र वैकुण्ठे उपवनम् अस्ति. तस्य **नाम नैःश्रेयसम्** इति. 'नैःश्रेयस'-शब्दो योगरूढः[1]. तत्र प्रथमं योगं समर्थयति **कामदुघैः** इति. यद् वनं **द्रुमैः विभ्राजत्.** सर्वएव द्रुमाः कल्पवृक्षाः, तएव तत्रत्याः परमपुरुषार्थरूपाः, तत्रत्यानामपि कामितार्थदातृत्वात्. ''**द्रु गतौ**''(धातु.पा.भ्वादि.६७७) इति तद्रहिताः द्रुमाः प्रतिष्ठिताः. स्वतोऽपि तेषाम् उत्तमत्वम् आह **सर्वर्तुश्रीभिः** इति. सर्वेष्वेव ऋतुषु नियता पुष्पादिसम्पत्तिरूपा श्रीः येषाम्. एवं योगार्थम् उक्त्वा रूढ्यर्थम् आह **मूर्तिमत् कैवल्यम्** इति. केवलस्य भावः कैवल्यं, चिद्रूपाणां स्वरूपेण स्थितिः पुनः सङ्घातसम्बन्धाभावः. अनेन जीवपुरुषार्थता उक्ता. तत्र गतः ''**चिति तन्मात्रेण**'' (ब्रह्मसू.३।४।६) इतिवत् कैवल्यम् आपद्यते. तदपि एकं रूपं भगवतः यद् औडुलोमिमतसिद्धम्. यद् आत्मत्वेन च आत्मवादिनो वदन्ति, भगवांश्च. ''**अहमात्मा गुडाकेश**'' (भग.गीता १०।२०) इति प्रथमं विभूतित्वेन उक्तवान्. सा कैवल्यमूर्तिः. तदेव नितरां श्रेयोरूपम्, *''**आत्मलाभाद् न परं विद्यते**''(पारा.उपपुरा. १८।२३) इति श्रुतेः. तस्माद् अत्र वने प्रविष्टः आनन्दमयो भवति, ब्रह्मानन्दञ्च प्राप्नोति इति सतः परमपुरुषार्थत्वम् ।।१६।।

एवं लोकस्य सर्वलोकवैलक्षण्यार्थं सच्चिदानन्दवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्य सर्वदोषाभावार्थं मोहाद्यभावम् आह षड्भिः **वैमानिकाः** इति.

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र
गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः ।
अन्तर्जले सुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ।।१७।।

तत्र स्त्रीणां न मोहजनकत्वं, तिर्यग्जीवानां न मदः, लतागुल्मादीनां पुष्पप्रधानानामपि न मात्सर्यं, भगवद्भक्तस्त्रीणां न कामजनकत्वं, लक्ष्म्याअपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यत्र नैःश्रेयसम् इत्यत्र. ''**द्रु गतौ**''(धातु.पा.भ्वादि.६७७) इत्यादि. द्रवणं द्रुः, तस्य **मा** निषेधो यत्र ते द्रुमाः, समासान्तः टच्. जीवपुरुषार्थरूपतां व्युत्पादयन्ति **तत्र गतः** इत्यादि. **यद् आत्मत्वेन** इति. यद् इति पदच्छेदः. स्फुटम् अन्यत् ।।१६।।

१.''योगरूढिभेदेन द्विविधः'' क.मां.१,२,३ * ''आत्मलाभात् परं नास्ति'' इति पाठः.

न अभिमानलक्षणो मानात्मकः, क्रोधः, लोभश्च तत्रैव प्रतिष्ठितः इति न तस्याः स्वस्मिन् परमपुरुषार्थबुद्धिः, किन्तु भगवत्येवेति सर्वदोषाणाम् अभावः उक्तो भवति. तत्र प्रथमं स्वाभाविकस्त्रीणां स्वभावदुष्टानामपि स्वदोषपरित्यागेन भगद्गुणपरता उच्यते. **वैमानिकाः** इति. विमानैकसिद्धाः वैमानिकाः गन्धर्वादयः. ते हि आगन्तुकाः स्वभावगमनबलाभावात्, सौकर्याभावाच्च वैमानिकाएव भवन्ति. तेषां तत्र गमने आदरेण गानमेव हेतुः. **सललनाः** सस्त्रीकाः. अनेन उभयोः अन्योन्यमोहसम्भवो निरूपितः. यत्र वैकुण्ठे भर्तुः चरितानि गायन्ति. ते गन्धर्वादयः तदीयाएव. **भर्तुः** इति ऐहिक-पारलौकिकनिर्वाहकत्वेन तद्गुणगानम् आवश्यकम् इति सूचितम्.

एवं गुणगानस्य स्वोपकारकत्वम् उक्त्वा परोपकारकत्वम् आह **लोकशमलक्षपणानि** इति. तस्य लोकस्य, सर्वेषामेव वा शमलं मार्गान्तरस्थितलोकसम्बन्धजातं, नित्यं वा; तस्य क्षपणं तत्रैव विलयप्रापणं यैः. ते हि गन्धर्वाः रूपं भगवन्तम् उपासते. अतो अप्सरसः तेषु प्रतिष्ठिताः. गन्धर्वेषु योगव्युत्पत्त्या गन्धं वान्ति इति पृषोदरादित्वाद् गन्धर्वाः भवन्ति. अप्सरसस्तु गन्धमेव भगवन्तम् उपासते. उभयथाऽपि सस्त्रीकाणां गन्धपरत्वम्. अतो **गन्धेन खण्डितधियोऽपि** गन्धवाहं वायुं, सर्वदा परम् आराध्यं **क्षिपन्तः** सन्तो गुणानेव गायन्ति. गन्धस्य ब्रह्मत्वाय दोषाभावम् आह **अन्तर्जले** इति. जलमध्ये सुष्ठु विकसद्विविकासेन प्रसरद्रूपं मधु मकरन्दो यासाम्. माधवी काचिद् लता, यत्र वसन्तः ऋतुः आधिदैविकः प्रतिष्ठितः. सरसञ्च तस्य इति विकसद् मधुत्वम्. अतः तादृशीनां गन्धो वरप्राप्तः पृथिवीसम्बन्धाभावाद् अप्राकृतः. अतः तेषां सहजोपास्योऽपि भगवद्गुणगानार्थं तैः परित्यक्तः इति आधिदैविकोऽपि मोहो न अस्ति इति उक्तम् ।।१७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वैमानिकाः इत्यत्र. षण्णां तात्पर्योक्तौ **तत्रैव** इति. भगवत्येव **मार्गान्तरस्थित-लोकसम्बन्धजातम्** इति. यथा सनकादयः इदानीम् आगताः, तथा शिवादयोपि स्वान्तरङ्गसेवकसहिताः समायान्ति, तत्सम्बन्धकृतम् अन्यावेशात्मकम्. **तत्रैव** इति. गानएव. **सरसं च तस्य** इति. सामान्ये नपुंसकम्. माधव्या इति अर्थः. **वरप्राप्तः** इति. भगवत्प्रसादात् प्राप्तः।।१७।।

एवं गन्धर्वाप्सरसाम् उक्त्वा पक्षिणां दोषाभावम् आह **पारावते**ति.

पारावतान्यभृत–सारस–चक्रवाक–दात्यूह–हंस–शुक–तित्तिरि–बर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चैः भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ।।१८।।

एते पारावतादयो नव गुणभिन्नाः. तेषामपि स्वतः सिद्धा वाक् तेषां वागेव ब्रह्म. चित्रस्वनत्वमेव तेषां माहात्म्यम्, अतएव प्रातरनुवाके तेषां वाक्यात् पूर्वमेव आरम्भः, अन्यथा देवानां तद्वाङ्माधुर्यपरत्वं स्यात्. **अन्यभृतः** कोकिलः, **दात्यूहः** चातकः, **बर्ही** मयूरः. **यः** इति प्रसिद्धोऽपि कोलाहलः. तद्वाक्ये व्याकरणाभावात्, पदवाक्यानाम् अभावे शब्दराशित्वाद् अनभिव्यक्तः कोलाहलत्वेन उक्तः. वस्तुतस्तु तेऽपि भगवद्गुणानेव गायन्ति नहि तत्रत्याः पक्षिणो अन्यद् वदन्ति, शुद्धसत्त्वस्य तथा लोकत्वेन आविर्भावात् तत्र वृक्षपक्ष्यादीनां सम्भवः. सोऽपि कोलाहलः क्षणमात्रमेव विरमते. **भृङ्गाधिपे** भ्रमरश्रेष्ठे, **हरिकथामिव गायमाने** सति. अनेन तेषां स्ववाग्गर्वो न अस्ति इति सूचितं, भृङ्गस्य आधिपत्यं च मन्यन्ते, तस्य भगवत्सान्निध्यसम्भवात्, कुन्तलानां तत्साम्याच्च. भृङ्गाणाम् अधिपो वा आधिदैविकः. तस्य वाग् रागरूपा इति रागं कृत्वा गास्यति इति बुद्ध्या कोलाहलो विरमते. तस्याऽपि अनभिव्यक्तवाक्त्वाद् रागपर्यवसानं ज्ञात्वा स्ववागिव तदपि इति तद् अवधारणार्थम्. चिरमात्रं भगवत्कथागाने सौम्यो रागः उपयुक्तः इति यदा तद्गानानुसारेण भृङ्गरवः. 'उच्चैः'शब्दाद् भगवदाज्ञा प्रायेण जाता इति सन्देहः।।१८।।

एवं पक्षिणां दोषाभावम् उक्त्वा लतादीनां पुष्पप्रधानानां मात्सर्यलक्षणदोषाभावम् आह **मन्दारे**ति.

मन्दार–कुन्द–कुरबकोत्पल–चम्पकार्ण–
पुन्नाग–नाग–बकुलाम्बुज–पारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते तुलसीकाभरणेन तस्या
यस्मिन् तपः सुमनसो बहु मानयन्ति।।१९।।

मन्दारो देवतरुः, भूमौ अप्रसिद्धः. **कुन्द–कुरबकोत्पल–चम्पकाः** सर्वत्र प्रसिद्धाः. **अर्णः** काश्मीरप्रसिद्धः. **पुन्नाग–नागकेशर–बकुलाम्बुजा**अपि प्रसिद्धाः. **पारिजातो** मन्दारवत्. एते पुष्पप्रधानाः अतिपरिमलयुक्ताः, तथापि तुलसिकाभरणेन भगवता तुलस्याः गन्धे अर्चिते, **यस्मिन्** वैकुण्ठे तस्याएव तपः

सर्वएव **सुमनसो** भूत्वा मन्दारादयो बहु मानयन्ति. न केवलं बहिः बहुमाननं, किन्तु अन्तःकरणेऽपि इति **सुमनसः** इति उक्तम्. तपसा हि हीनः उत्तमतां व्रजति. तुलसिका भगवतः आभरणं, वनमाला तत्सम्भवा इति. तुलसी अमृतोद्भवा, यथा लक्ष्मीः. भगवत्प्रसादाच्च तया तपः कृतम् इति अवसीयते. वृन्दात्वे वा तस्यां प्रसादः. सा हि जालन्धरपत्नी अभूद् मधोः कन्या; जालन्धरवधार्थं च तां परिगृहीतवान्. तस्याः पातिव्रत्यं तपः, तपएव वा पूर्वं सिद्धम्. गुणकृत-सौन्दर्याभावाय भगवता सा तथैव स्थापिता. भक्तिमार्गे तस्याः माहात्म्यं सर्वतो अधिकम्. एवं प्रकारत्रयेण स्वभावसात्त्विक-राजस-तामसाअपि स्वदोषम् अभिमानं दूरीकृत्य यत्र वैकुण्ठे अस्वाभाविकधर्मम् अङ्गीकृतवन्तः इति उक्तम् ।।१९।।

इदानीं मुख्यतया स्त्रीणामेव सहजदुष्टत्वाद् दोषाभावः प्रतिपाद्यते. तत्र सर्वाः स्त्रियो अन्याः आधिभौतिक्यः. लक्ष्मीः द्विविधा, आध्यात्मिकी लोकसम्बन्धिनी, आधिदैविकी भगवद्भक्ता भगवदानन्दरूपा. त्रिविधानामपि स्त्रीणाम् आनन्दरूपत्वात् सहजो दोषः सम्भवति, सः निराक्रियते. तत्र प्रथमं भगवदीयानां स्त्रीणां दोषाभावम् आह **तत् संकुलम्** इति.

तत् संकुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टैः वैदूर्य-मारकत-हेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः
कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः।।२०।।

तद् वैकुण्ठं **विमानैः संकुलम्.** तेषां विमानानां प्राप्त्युपायम् आह **हरिपदानतिमात्रदृष्टैः** इति. हरिपदयोः आनतिमात्रं येषां, तैः दृष्टानि. भक्ति-मार्गानुसारेण भगवति नम्रत्वे तादृशविमानदर्शनम्. श्रवणादिषड्विधभक्तिः वा. '**मात्र**'शब्दो अवधिवाची. सख्याद्यभावेऽपि आनतिपर्यन्तेनैव भक्तिमार्गेण इति तत्प्राप्तिः इति वा. **वैदूर्य-मारकत-हेममयैः** इति विमानानां त्रैविध्यम् उक्तम्. तत्र वैदूर्यं तामसमिव, मारकतं सात्त्विकमिव, हेम राजसमिव. भक्तानामपि त्रैविध्यात् त्रिविधप्राप्तिः. अनेन भक्तानां तत्र विमानेषु स्थितिः उक्ता भोगातिशयाय. **येषां** विमानानां सम्बन्धिन्यो भोगार्थमेव स्थिताः. **बृहत्कटितटाः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्सङ्कुलम् इत्यत्र. **अवधिवाची** इति. उत्तरावधिवाची.

इति. भोगमेव पोषयन्ति. मोहकत्वं च सहजम् इति आह **स्मितशोभिमुख्यः** इति. स्मितेन शोभायुक्तं मुखं स्मितशोभि, स्मितशोभि मुखम् आसाम् अस्ति इति स्मितशोभिमुख्यः. दर्शनेनैव मोहकत्वम् उक्तम्. रसद्वयसिद्ध्यर्थं वा विशेषणद्वयम्. अमोहकत्वे हेतुः **कृष्णात्मनाम्** इति. भगवद्भक्तानां मनसि ताः **न रजः आदधुः**, कामं न उत्पादितवत्यः. नच ताः विभावाद्यचतुराः इति मन्तव्यं, यतः **उत्स्मयाद्यै**रपि हास्यादिसर्वभावैरपि न रजः आदधुः. वैकुण्ठस्य माहात्म्यं कृष्णात्मत्वेनैव, तत्रैव कृष्णात्मानो भवन्ति इति. कृष्णः आत्मनि येषाम् इति पक्षे दोषाणाम् अदोषत्वं वा, अकृष्णात्मनां तत्र अभावात्. नामविशेषकथनाद् रजउत्पत्तिहेतुत्वं वा. तदा वैकुण्ठोत्कर्षएव भवति. अन्यत्राऽपि तस्य न दोषत्वम्. अन्यथा तत्र तेषामेव कीर्तनं विरुध्येत ।।२०।।

एवं भगवदीयस्त्रीणां दोषाभावम् उक्त्वा लक्ष्म्याः तत्र गर्वः सम्भवति, तदर्थमेव तन्निर्माणात्, अथापि तस्याः तद् दोषाभावम् आह **श्री रूपिणी** इति.

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा ।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि संमार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ।।२१।।

सर्वस्मिन्नेव जगति विद्यमानलक्ष्म्याः सा देवता, अतो 'रूपिणी' इति उच्यते. ब्रह्मानन्दस्य नीरूपस्य रूपं सञ्जातम् इति अलौकिकार्थं वा रूपवती सा निरूप्यते. यद्यपि सौन्दर्यवद् आभरणादिकमपि अभिमानहेतुः अस्ति, तथापि न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रसद्वय-सिद्ध्यर्थम् इति. गुप्तप्रकटरससिद्ध्यर्थम्. **वैकुण्ठस्य माहात्म्यम्** इति. तत्र हेतुः इति शेषः. तदेव उपपादयन्ति **कृष्ण** इत्यादि. **कृष्ण आत्मानः** इत्यादि. कृष्णे भगवति आत्मानो अन्तःकरणानि भवन्ति इति दोषाणां कामादीनां भगवद्दत्तत्वेन अदोषत्वम्. स्त्रीणां पुंसां सहभावेऽपि भगवत्कथागानादिपुरःसरमेव तथात्वाद् अदोषत्वम् इति अर्थः. तत्र हेतुः **अकृष्णात्मनाम्** इत्यादि. उभयेषामपि एकविधत्वाद् इति अर्थः. **नामविशेषाकथनाद्** इति. येषाम् इति सामान्यवचनेन तथात्वात्. **तदा** इति. रजउत्पत्तिहेतुतायामपि तदनुत्पादकत्वे. **अन्यत्रापि तस्य न दोषत्वम्** इति. भूमिष्ठ-भगवद्धामस्वपि तत्स्थस्त्रीसौन्दर्यस्य स्त्रीपुंसभावस्य वा न दोषत्वम् इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. **तेषाम्** इत्यादि. कामोत्पादकगुणानाम्।।२०।।

अभिमानः इति वक्तुं **क्वणयती** इति उक्तम्. चरणारविन्दं नूपुरशिञ्जितैः क्वणयती सशब्दं कुर्वती. रूपित्वं, चरणक्वणनं, लीलाम्बुजञ्च तस्याः सर्वेषां वेद्यमिति न अन्यद् वर्णितम्. रूपवत्त्वं प्रतिमायाअपि भवति इति क्वणनम् अधिकं निरूपितम्. लीलाम्बुजेनाऽपि उपलक्षिता स्त्र्यन्तरव्यावृत्त्यर्थं, यतः सैव पद्मकरा भवति. मुक्तो दोषो यया, स्थिरा. लोके आधिभौतिक्याः चाञ्चल्यं दोषः. लीलाम्बुजयुक्तेन प्रसारितहस्तेन उपलक्षिता वा. **हरिसद्मनि** इति. तत्र सर्वेषां सहजदुःखाभावः. दुःखाभावपूर्वकविषये सति अवश्यं गर्वो भवत्येव, तथापि तत्र सम्मार्जतीव संलक्ष्यते. ननु उचितमेव गृहिण्या गृहसम्मार्जनम् इति, तन्निवृत्त्यर्थं तस्याः प्रतिबिम्बएव तथा दृश्यते इति ज्ञापनार्थं गृहं विशिनष्टि **स्फटिक-कुड्य उपेतहेम्नि** इति. एकस्फटिकत्वे शोभा न स्याद् इति बहवः स्फटिकाः वक्तव्याः. तत्र योजकद्रव्यान्तरसम्बन्धे पुनः रजःसम्बन्धः स्याद्, अतः उपेतं हेम सन्धिषु यत्र इति. प्रतिबिम्बाधिक्यार्थं वा. अतः तत्र रजःसम्बन्धाभावेऽपि सैव निरभिमाना तिष्ठतीति तथा उक्तम्. सर्वस्याऽपि वैकुण्ठस्य अतिशोभायुक्तत्वाद् लक्ष्म्यैव शोभा क्रियते इति तथा उत्प्रेक्षणम्. तत्रत्यानां न लक्ष्मीपरत्वं वा, तेन तथा उत्प्रेक्षा. अनेन लक्ष्म्याः अन्येषामपि तत्कृतो दोषो न अस्ति इति उक्तम्. आदराभावस्तु अत्यलौकिकः इति ज्ञापयितुम् आह **यदनुग्रहणे अन्ययत्नः** इति. यस्याः अनुग्रहणे अनुग्रहार्थम् अन्येषां ब्रह्मादीनां यत्नः ।।२१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

श्रीः इत्यत्र. **क्वणयती** इति उक्तम् इति. एतेन आभरणवत्त्वम् उक्तम्. **इति तथा उक्तम्** इति. एतद्बोधयितुं दासीकार्यकर्तृत्वम् उक्तम्. ननु प्रकारान्तरेणाऽपि शक्यवचनत्वात् किमिति एवं कथनम् इत्यतः आहुः **सर्वस्य** इत्यादि. **तथा उत्प्रेक्षणम्** इति. सम्मार्जनकर्तृत्वेन उत्प्रेक्षणम्. लक्ष्म्या शोभाकरणोक्तौ आगन्तुक-शोभाभावोऽपि आयाति इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **तत्रत्यानाम्** इत्यादि. **लक्ष्मीपरत्वम्** इति लक्ष्मीनियम्यत्वम्. **तत्कृतः** इति. लक्ष्मीकृतः. तथाच एतावद्बोधनाय तथा कथनम् इति अर्थः. ननु एवं सति ''**न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान्**''(भाग.पुरा.४।७।३४) इत्यादि वाक्योक्त आदराभावो न युज्यते इत्यतः आहुः **आदरे**त्यादि. **अत्यलौकिकः** इति. वैराग्यपरमकाष्ठाभिज्ञापकः।।२१।।

एवम् आध्यात्मिक्याः गर्वाभावरूपं दोषाभावम् उक्त्वा आधिदैविक्याः मानाभिमाने न स्तः इति आह **वापीषु** इति.

वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्रम् उच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः।।२२।।

निजवने लक्ष्मीवने, **तुलसीभिः** साधनैः **वापीषु ईशम् अभ्यर्चती स्ववक्रं भगवता उच्छेषितम् इति** अमंस्त. सा हि भगवद्भजनं कुर्वाणा, भजनस्य स्वस्य भगवच्चुम्बनमेव महाफलत्वेन ज्ञातवती. तस्याः कथम् अभिमानः स्यात्? तुलसीभिश्च पूजयति इति न सापत्न्यादिभावः. अवस्थास्मारकत्वेन वापीदास्योः उपयोगः. कदाचिद् एवंभावव्यावृत्त्यर्थं **वापीषु** इति बहुवचनम्. प्रवालाः तटे [क]यासाम् इति प्रतिबिम्बस्फुटता. विद्रुमाः तटेषु [क]यासाम् तटच्छायायाः मालिन्याभावाय. **अमलम्** इति नैर्मल्यं मुख्यं प्रतिबिम्बे हेतुः; अमृतजलत्वञ्च; लवणजले विवर्णप्रतीतेः. जले च पूजार्थं ध्यातो भगवान् प्रेष्याप्रतिबिम्बे स्फुरितः. सकचग्रहचुम्बने ऊर्द्ध्वं मुखं भवति. एतदेव महापुरुषार्थः इति ज्ञातवती. **प्रेष्यान्विता** इति शङ्काभावार्थं च. **निजवने** इति भगवदागमनाभावाय. यत्र तस्याः एतावदेव मनोरथं सिद्धं, तत्र कथं गर्वादिभावः. **स्वलकम्** इति कचग्रहणार्थं वचनम्. ऊर्द्ध्वनासिकता तदैव भवति. उपविष्टायास्तु तावदेव, यतः [ख]इयम् अभ्यर्चती. यस्य वैकुण्ठस्य श्रीः. **तुलसीभिः** इति बहुवचनं [१]लक्षादिपूजाद्युपलक्षकम्. **ईशम्** इति पूजायामपि पतित्वेन न अवहेला. अभितो अङ्गादिसहितपूजनं महाफलत्वाय. चुम्बनमात्रेणैव कृतार्थताज्ञानं परमभक्तत्व-बोधकम्, आत्मसमर्पणन्तु जातम् इति. **उच्छेषितम्** अमंस्त इति क्रियाविरतिरपि सूच्यते, साक्षात् फले सम्भवति किमिति एवं क्रियते इति ।।२२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वापीषु इत्यत्र. **भजनस्य स्वस्य भगवच्चुम्बनम्** इति. स्वकृतभजनस्य भगवत्कृत-स्वमुखचुम्बनम्. प्रेष्यान्वयवाप्योः अवस्थास्मारकत्वं विवृण्वन्ति **जले च** इत्यादि. **यच्छ्रीः** इत्यत्र 'यद्' इति भिन्नं पदम् इति अभिप्रेत्य आहुः **यतः** इत्यादि. 'यच्छ्रीः' इति एकं पदम् इति अभिप्रेत्य आहुः **यस्य** इत्यादि. इदमेव आधिदैविकत्वबोधकम्. **क्रियते** इति. मनोरथः क्रियते।।२२।।

१.लक्ष्म्यादि क. घ. क. 'येषाम्' इति मां.१,३. ख. ''यत् हृदयम् अभ्यर्चती'' इति मां.१,३.

एवं सर्वदोषाभावम् उक्त्वा दोषवतां तत्र गमनमेव न अस्ति इति आह **यद् न व्रजन्ति** इति.

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादात् शृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः ।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारान् तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ।।२३।।

अनेन संस्काररूपाअपि दोषाः तत्र न सन्ति इति समर्थितम्. **यद्** वैकुण्ठं ते न व्रजन्ति, **ये अघभिदो रचनानुवादाद् अन्यविषयाः कथाः शृण्वन्ति.** अन्यविषयककथाश्रवणं वैकुण्ठगमने साधने सत्यपि प्रतिबन्धकम्, अन्यथा साधनाभावादेव न गच्छेयुः, किम् एतत् कथनेन. अघं भिनत्ति इति अघभिद् भगवान्, तस्य पापनाशकत्वं सहजम्. तस्य रचना चरत्रिम्. चरित्रस्य स्वातन्त्र्याय असमासः. रचनायाः अनुवादः श्रवणानुसारेण कीर्तनं, कृतानुकीर्तनं वा, नतु उत्प्रेक्षासिद्धं काव्यवत्. तस्माद् अन्यविषयाः कथाः इति केनाऽपि प्रकारेण भगवत्सम्बन्धरहिताः, भगवद्विरुद्धदैत्यादिकथाः वा. तासाम् अमेलनाद् अन्यत्वम्. अतएव ताः **कुकथाः**. तेषां धर्माणां दोषत्वाद् दैत्यानां पराक्रमोऽपि ब्रह्महत्यारूपो भवति. ननु भगवत्कथायाअपि श्रुतत्वात् कथं तासामेव फलं? तत्र आह **मतिघ्नीः** इति. पूर्वसिद्धां भगवत्कथामतिं नाशयन्त्येव, यदि श्रुताः भवेयुः, विषवत्. किञ्च, न तासां केवलं प्रतिबन्धकत्वं, किन्तु स्वतन्त्रतया अनिष्ट-साधकत्वञ्च इति आह **यास्तु श्रुताः** इति. पुण्ये विद्यमाने तेषां श्रवणमेव न सम्भवति इति **हतभगैः** इति उक्तम्. भाग्यं सुखानुभवहेतुः अदृष्टं, तद् यदा केनाऽपि निमित्तेन नश्यति, तदा कुकथाश्रवणे मतिः उत्पद्यते. ननु तेषां विवेकधैर्यादेः विद्यमानत्वात् पश्चाद् भगवत्कथां श्रोष्यन्ति इति आशङ्क्य आह **आत्तसाराः** इति. नराणाम् अल्पसारत्वात् तदपि कुकथाभिः गृह्यते, तदा सत्सामग्र्या गतत्वात् तान् अशरणेषु तमःसु दैत्यस्थानेषु दूरादेव **प्रक्षिपन्ति. हन्त** इति खेदे. महता कष्टेन श्रुताः पश्चाद् घातुकाः जाताः इति. **तान्-तान्** इति वीप्सा. न कोऽपि तादृशो निस्तरति इति ज्ञापितम्. श्रवणे सम्पन्नएव, मननाद्यपेक्षापि न अस्ति. तदैव क्षिपन्ति इति न मुक्तिवद् एकः सहायो अपेक्ष्यते. तेषां च स्थितौ

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यद् न इत्यत्र. **संस्काररूपाः** इति. वासनारूपाः तदभावं समर्थयन्ति **अन्यविषये**त्यादि. **केनाऽपि** इति. साक्षाद्वा, भगवदीयकथात्वेन वा. **एकः** इति.

मध्ये को वेद किं भवेद् इति. तादृशानां बहुत्वसम्भवाद् बहुवचनेन वीप्सा ।।२३।।

एवं तामसानां दोषवतां तत्र आगमनपूर्वकं तमःप्रवेशम् उक्त्वा राजसानाम् ऊर्द्ध्वाधोगतिरहितानां मध्ये परिभ्रमणेन क्लेशं दृष्ट्वा शोचन् आह **ये अभ्यर्थितामपि** इति.

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य संमोहिता विततया ननु मायया ते ।।२४।।

ये नृगतिं प्रपन्नाः भगवतः आराधनं न वितरन्ति, ते निश्चयेन **अमुष्य मायया मोहिताः. नृगतिं** मनुष्यत्वम्. तस्याः दुर्लभत्वम् आह **नो अभ्यर्थिताम्** इति. ब्रह्मादिभिरपि नृगतिः प्रार्थ्यते, सर्वस्याऽपि प्रकृतिरूपत्वात्. यथा कनकात् सर्वमेव कुण्डलादिकं भवति, नतु कुण्डलात्. अतएव ब्रह्मादीनामपि नृगतिः प्रार्थ्या. **नः** इति षष्ठी सम्बन्धमात्रविवक्षया, नृगतेः वैलक्षण्यप्रतिपादनार्था. या नृगतिः ब्रह्मत्वं सम्पादितवती, न आसुरी इति यावत्. षष्ठ्या सूचितं विशेषम् आह **ज्ञानं च तत्त्वविषयम्** इति. यत्र नृगतौ **तत्त्वविषयं ज्ञानं** तत्त्वज्ञानं भवति. ब्रह्मज्ञानं सुलभं, तद्भावापन्नानां प्रापञ्चिकपदार्थानां वैदिकानां वा ज्ञानं दुर्लभम्. **तत्त्वविषयम्** इति 'विषय'पदं तत्त्वेन ज्ञानं वारयति. तदा बाधितं स्वरूपमेव ज्ञातं स्यात्. तद्दैत्यज्ञानेऽपि तुल्यम्. 'च'कारात् स्वरूपज्ञानम्. **सहधर्म** इति धर्मज्ञानसहितम्. एवमपि सति भगवतः आराधनाभावो मायाकार्यएव. वितरणं नाम मर्यादाव्यतिरेकेण दानं, तथा सर्वेन्द्रियैः सर्वथा सर्वदा भगवद्भजनं, नतु स्मार्तवत् पूजामात्रं सकृद् आराधनं वा. मायामोहः शास्त्रेण निवर्तयितुं शक्यते इति दृष्टेऽपि शास्त्रे यदि वितरणं, तद् मायामोहकार्यं न भवति इति आशङ्क्य आह **विततया. ननु** इति कोमलसम्बोधनेन न अत्र अन्यथाकथनं शङ्कनीयम् इति ज्ञापितम्. सा हि वितता शास्त्रेऽपि अन्यथाबुद्धिं सम्पादयति. साऽपि मायाविनएव[क], सृष्ट्यर्थं मोहाभावात्।।२४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कोऽपि इति अर्थः. **बहुवचनेन** इति. 'तमस्सु' इति बहुवचनेन।।२३।।

ये अभ्यर्थिताम् इत्यत्र. **तद्दैत्यज्ञानेपि तुल्यम्** इति. तत्त्वत्वेन ज्ञानम्. **सापि मायाविनएव** इति तादृशी अन्यथाबुद्धिजनिका माया मायाविनो असुरमोहकस्यैव,

---

क. 'मायाचितएव' इति मां.१,२,३.

तत्र गमने साधनम् आह **यत् च व्रजन्ति** इति.

यच्च व्रजन्त्यनिमिषाम् ऋषभानुवृत्त्या दूरेहमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग–वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः।।२५।।

चकारात् व्यापिवैकुण्ठम्. यद् वैकुण्ठं हरेः अनुवृत्त्या व्रजन्ति. हे **अनिमिषाम् ऋषभ** इति इन्द्रस्य सम्बोधनम्. तस्य भगवदनुकम्पयैव इन्द्रत्वप्राप्तिः. सर्वदुःखहर्तुः इति अनुवृत्तौ क्लेशाभावः. विमानदर्शनं भगवदानतिमात्रेणाऽपि भवति, प्राप्तिश्च. स्वतो वैकुण्ठगमनन्तु हरेः अनुवृत्त्यैव. आनतिरेव वा अनुवृत्तिः. अन्यार्थं तत्र कीर्तनात् पुनः स्वावसरे कीर्तनम्. तस्याः अनुवृत्तेः अत्र निदर्शनम् आह **दूरेहमाः** इति. अहङ्कारः तेषां दूरे. **हि** इति भगवद्भजनस्य दोषनिवर्तकत्वात्. तदा अहङ्कारलक्षणो दोषो निवर्ततएव, अनिवृत्तौतु भजनं न अस्ति इति अवगन्तव्यम् इति बोधयति. न **उपरि व्रजन्ति** इति सत्यलोकोपरि सः वैकुण्ठलोको वर्तते इति बोधितम्. ये निरन्तरं हरेः अनुवृत्तिं कुर्वन्ति, ते शुद्धसात्त्विकस्वभावाः भवन्ति इति **नः** स्पृहणीयं शीलं येषां, तादृशाः भवन्ति, अतएव न उपरि गच्छन्ति. यद्यपि वयमपि हरेः अनुवृत्तिं कुर्मः, तथापि अस्माकं न तदेकस्वभावः, अतएव न **दूरेहमाः**. अतएव तेषां शीलं स्पृहणीयम्. तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणम् आह **भर्तुः** इति. सहि अत्रापि परिपालकः, तेन देहादिनिर्वाहचिन्ताऽपि तेषां न अस्ति, अन्यथा निर्वाहोऽपि न भवेद् इति च. **मिथः** इति रसाविर्भावार्थम् उक्तम्. **सुयशसः** इति विषयोत्कर्षः. लौकिकानामपि यशः कीर्त्यते, यशः कीर्तने धर्मो भवति इति. इदं पुनः यशो धर्मज्ञानभक्ति–जनकत्वात् सुयशो भवति, अतएव कथने अनुरागः. कथानुरागेणैव कथयन्ति, नतु निर्बन्धेन फलान्तरेण वा कथनम्. सोऽपि अनुरागो न आसक्तिमात्रं, किन्तु सफलं सलक्षणञ्च इति आह **वैक्लव्ये**ति. अनुरागेण शरीरे वैक्लव्यं जायते,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नतु सृष्ट्याद्यर्थं मोहकस्य।।२४।।

यत् च इत्यत्र. एकविषयत्वाद् **''हरिपदानति...''**(   ) इति श्लोकस्थं 'हरि'पदं मनसिकृत्य आहुः **सर्वदुःखहर्तुः** इत्यादि. 'हरि'पदस्य तच्छ्लोकस्थस्य अनुषञ्जने अनुवृत्तिरपि आनतिरूप्यै(पै)व आयाति इति पुनरुक्तिदोषसम्भवे तत्परिहारम् आहुः **आनतिः** इत्यादि. **अनिवृत्तौ** इति.

सर्वकार्यासमर्थं भवति, इदं फलम्. लक्षणद्वयम् आह **बाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः** इति. बाष्पाणां कला उत्तरोत्तराभिवृद्धिः. अन्तःस्थितो भगवदानन्दः सर्वमेव संसारतापं बहिः करोति तदा तस्य बाष्पा मुखतो निःसरन्ति, तेषां कलया सह. तयैव कलया प्रकाशमानाः रोमाञ्चयुक्ताङ्गाश्च भवन्ति. अतो वैकुण्ठगतानां दोषः शङ्कनीयोऽपि न इति अर्थः।।२५।।

एवं नवभिः निर्दुष्टे वैकुण्ठे स्वतो निर्दुष्टाः सनकादयः परमं दोषं कृतवन्तः इति महद् आश्चर्यम् इति वक्तुम् आह **तद्** इति.

तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः।
आपुः परां मुदम् अपूर्वम् उपेत्य योगमायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम्।।२६।।

तद् वैकुण्ठं **योगमायाबलेन आपुः** इति सम्बन्धः. भक्त्यैव गतं तत् स्थानं हितकरं भवति, नतु स्वयोगबलेन गतम्. तत्रापि सर्गकर्त्री[क] या योगमाया, तया सृष्ट्यर्थं नीताः कथम् अनर्थं करिष्यन्ति इति भावः. तद् भक्त्यैव गन्तव्यम् इति वक्तुं विशेषणम् आह **विश्वगुर्वधिकृतम्** इति. विश्वगुरुणा वेदादिप्रवर्त्तकेन अधिकृतम् अधिष्ठितम्. गुरोः स्थाने धाष्ट्र्येन न गन्तव्यं, नापि रिक्तहस्तादिना. किञ्च, तत् स्थानं **भुवनैकवन्द्यम्,** नतु पदा आक्रमणीयम्. तथाच सति अनर्थो भवेदेव. किञ्च, **दिव्यं** तद् अलौकिकं, लौकिकप्रकारेण न गन्तव्यम्. अतएव विरक्तानामपि लौकिकदृष्ट्या गमने दोषोत्पत्तिः. किञ्च, **विचित्रविबुधाग्र्य-विमानशोचिः**. विचित्राणि यानि विबुधाग्र्याणां विमानानि, तैः शोचिः कान्तिः यस्य. ब्रह्मादयोऽपि तत् स्थानं पदा अस्पृष्ट्वा अलौकिकानि विमानानि आरुह्य अधस्तात् स्थिताः तस्य उत्कर्षं सम्पादयन्ति. विमानानां विचित्रता छन्दोमयत्वादिना. नहि तादृशं यथाकथञ्चिद् गन्तव्यम्. एवं चतुर्विधोत्कर्ष-सहितं, **विकुण्ठं** कदापि भङ्गरहितं, स्थानम् उपेत्य मुदम् आपुः. तस्य अलौकिको धर्मः तैरपि प्रत्यक्षीकृतः इति अर्थः।।२६।।

सा हि योगमाया भगवता सृष्ट्यर्थम् आज्ञप्ता स्वयं सृष्टिं विधाय तद्दर्शनार्थं भगवन्तम् आकारयितुं भीता तद्द्वारपालकौ उपायेन तत्र नेतुं मुनीन्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अहङ्कारानिवृत्तौ. **मुखतः** इति. रोमकूपमार्गात्।।२५।।

क. 'सर्गवर्तिनी' इति मां.१,३. 'सर्वकर्त्री' इति मां.२.

आनीतवती बलात्. भगवता तयोः द्वारपालकत्वं दत्तम्. तौ चेद् भूमिपालकौ भवतः, तदा भूमिः द्वारं भवेत्, तदा भूमिमध्यात् द्वारत्वसिद्ध्यर्थं भगवान् आविर्भवेत्, तदा स्वकृत्यं पश्येद् इति गूढाभिप्रायः. तान् आनीय यत् कर्तव्यं तत् कृतवती इति आह **तस्मिन् अतीत्य** इति.

तस्मिन् अतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्य-केयूर-कुण्डल-किरीट-विटङ्कवेषौ।।२७।।

तस्मिन् वैकुण्ठे **षट् कक्षा अतीत्य मुनयः सप्तमायां देवौ अचक्षत** इति सम्बन्धः. मुदमपि प्राप्य, तन्माहात्म्यं [क]स्पष्टमपि अनुभूय, मायामोहवशात् तौ क्रोधदृष्ट्या दृष्टौ इति. कक्षा रक्षकसहितद्वाराणि. तत्र विरक्तत्वाद् ऐश्वर्यादिषड्गुणप्रतिपादिकाः वैराग्यान्ताः अतीताः. भक्तिः सप्तमी. भक्ताः चेत् तदपि अतिक्रम्य गच्छेयुः, तदभावात् तत्र रक्षकौ दृष्टौ. **असज्जमानाः** इति षट्कक्षातिक्रमे हेतुः. **समानवयसौ** इति वृद्धिक्षयहेतुकालाभावयुक्तौ, वैकुण्ठे कालस्य अनियामकत्वात्. कालस्य तुल्यत्वेन तत्प्रेर्यकर्मस्वभावयोरपि तुल्यता. **अथ** इति भिन्नप्रक्रमे. तेषामपि असज्जमानता गता, एतयोरपि पूर्ववद् अनिवारकत्वं गतम्. **सप्तमायाम्** इति. न इयं पूरणी कक्षा इति ज्ञापनार्थं 'ङीप्'प्रत्ययाभावः. सप्तम्यपि एषा प्रथमा भवति. तत्र अत्ययो न अस्ति इति साधिकरणत्वेन निर्दिष्टा. **देवौ** इति वस्तुतः [ख]एतेषामपि उपास्यौ, एते मनुष्याः. तथापि **मुनयः** इति तेषां तत्र गमनम्. किञ्च, एतौ गृहीतगदौ. आसन्यः एतद् अधीनः, तेन दैत्यनिवारणसमर्थौ. ततः तयोः आज्ञाकरणे कृतार्थाएव भवन्ति. किञ्च, भगवत्सारूप्यमपि प्राप्तौ. तौ अनुवर्णयति **परार्ध्ये**ति. परार्ध्यानि केयूरकुण्डलकिरीटानि हस्तकर्णशिरोभूषणानि. अनेन तयोः कर्माणि सिद्धानि, साङ्ख्ययोगौ ज्ञानञ्च. आसन्यस्तु तदधीनएव इति मृत्युदैत्यजयः स्वतः सिद्धः. तैरपि विटङ्को वेषो ययोः. तैः अलौकिकप्रकारेण भगवद्द्वारपालकयोग्यवेषौ.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद्विश्वेत्यत्र. **छन्दोमयत्वादिना** इति. अत्र(?) **''छन्दांसि मे रथो भवत''**(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।१२।५/६२) इति श्रुतिः अत्र अनुसन्धेया. 'आदि'पदेन भगवत्प्रसादः।।२६।

तस्मिन् इत्यत्र. **विटङ्कः** इति. सुन्दरः. **तैः** इति. परार्घ्यकेयूरादिभिः।२७।

क.'स्पष्टतोप्यनुभूय' इति मां. २.'दृष्ट्वा ता अप्यनुभूय' इति मां.१,३. ख.'एतयोरपि' इति मां.१,३.

तयोः कर्मादिकमपि भक्त्युपयोगी इति अर्थः।।२७।।

किञ्च **मत्तद्विरेफे**ति.

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ विन्यस्तयाऽसितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां रक्तेक्षणेन च मनाग् रभसं दधानौ ।।२८।।

मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ. तयोः चतुर्विधान्यपि कर्माणि सिद्धानि, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः मोक्षश्च इति लौकिकानि, वैदिकानि दिव्यानि, भगवदीयानि च. तैः सम्बद्धा तयोः कीर्तिः वनमाला. ताम् अनुवर्णयति. मत्ताः ये द्विरेफाः भ्रमराः. 'द्विरेफ'शब्दो रूढः सर्वेषां शीघ्रप्रतीतेः, अन्यथाप्रतीतौ बर्बरशब्दादिव्युदासोऽपि न प्रतीयेत. मत्तद्विरेफसहिता वनमाला. रेफो अत्र अग्नितेजः, लौकिक-वैदिकाग्नितेजोवद् वेदसहिता वनमाला. सापि प्रेमसबन्धाद् मत्तभ्रमरैरिव सम्बद्धा. **वनमालिकया** इति ताभ्यां वनमालाशोभा. तया **निवीतौ** कण्ठलम्बितौ. सा कीर्तिः तत्कर्मसहिता इति वक्तुम् **असित-चतुष्टयबाहुमध्ये विन्यस्तया** इति उक्तम्. अनेन तयोः हृदये भगवान्, वनमाला, कमलं, हस्तचतुष्टयं, पत्राणि इति निरूपितम्. एवंविधावपि, **वक्रं कुटिलया भ्रुवा** उपलक्षितं, **स्फुटनिर्गमाभ्यां** श्वाससहिताभ्यां नासिकाभ्यां सहितं, **रक्तेक्षणेन च मनाग् रभसं** क्रोधसहितं दधानौ. एतावद्रूपं भगवत्सारूप्यातिरिक्तं मायया कृतम्. वक्रं **दधानौ** इति भक्तिमार्गनिष्ठौ[1]. तत्र दोषत्रयं कामादिरूपम्. कुटिला भ्रूः क्रोधस्य सूचिका. नासिकाद्वयवायुः एते न प्रवेशनीयाः इति अन्तः-स्थितभगवद्दर्शनलक्षणमहाधनलोभेन चिन्तया श्रान्तयोः स्फुटं निर्गतो[2] लोभस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मत्तद्विरेफेत्यत्र. 'द्विरेफ'शब्दस्य यौगिकरूढत्वं केचिद् इच्छन्ति, केचित् च लाक्षणिकत्वम्. तत्र बाधकम् आहुः **सर्वेषाम्** इत्यादि. "**द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पद**" (अमरको.२।५।२९) इति कोशवाक्येन शीघ्रं प्रतीतेः पूर्वं रेफद्वयविशिष्टभ्रमरपदोपस्थितिः तद्वाच्यस्य पक्षिणः इति विलम्बस्य अननुभावात्. तथाङ्गीकारेतु 'भ्रमर'-पदवद् अन्येऽपि बर्बर-बर्कर-शर्कराप्रदराद्या रेफद्वयवन्तः शब्दाः वर्तन्ते इति तेभ्यो विवेकोऽपि सहसैव प्रतीयेत, अविवेके विनिगमना-दौर्घट्यात्. अतः तन्मतद्वयमपि असङ्गतम् इति अर्थः. **एते न प्रवेशनीयाः** इति. **एते** इति पदच्छेदः।।२८।।

१.निविष्टौ क. घ. ङ. च.मां.१,३. २.'निर्गमो' इति मां.१,३.

सूचकः. स्वस्य अधिकारं मत्वा, स्वयं पूर्णकामौ भूत्वा, कामितः सः पदार्थः एतेषां मा भवतु इति काममूलकक्रोधसूचको अक्ष्णोः आरक्तिमा. त्रिभिः दोषैः कृत्वा **मनाग् रभसम्** उत्तरलं मुखम्. अतः एतयोः भक्तौ अन्तरायभूतं दोषत्रयं जन्मत्रयं सम्पादयिष्यति. मनाक् च संरम्भः तद् अवहेलया ।।२८।।

एवं तयोः गुणदोषौ निरूप्य मुनीनां गुणदोषान् निरूपयति **द्वारि एतयोः** इति.

द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिकायाः ।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या
ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ।।२९।।

ज्ञानमार्गे अविषमदृष्टिः, शङ्काभावः, मननम्, आत्मज्ञानञ्च इति चत्वारो गुणाः. ते यदि भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकाः तद्धर्मेषु आदरयुक्ताः[1] तदा भक्तिमार्गेऽपि गुणाः भवन्ति. लौकिकदोषनिवृत्त्यर्थमेव ते ज्ञानमार्गे गुणत्वेन उक्ताः. अधिकृतयोः उल्लङ्घनं, भगवत्स्थानस्य सामान्यदर्शनम्, अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोः तुल्यतया ज्ञानं, तद्गतासाधारणगुणागणनञ्च चत्वारो दोषाः. तेन दैत्ययोनिः, स्वरूपज्ञानाभावः, बहुकालं गर्भवासक्लेशः, यातना च इति अनिष्टचतुष्टयं फलितम्. दोषाणां प्राबल्याद् मार्गान्तरगुणाअपि अत्र निवृत्ताः तेन क्लेशो न दोषाय. **एतयोः मिषतो**रेव सतोः तौ अविगणय्य. **द्वारि** अन्तरङ्गभूतायां **निविविशुः**. **अपृष्ट्वा** इति. किं भगवान् करोति, अवसरो अनवसरो वा इति प्रष्टव्यं, तद् अपृष्ट्वा प्रविष्टाः इति अर्थः. पूर्वद्वारो यथा प्रविष्टाः, तथा इयमपि द्वाः. **पुरटवज्रकपाटिकायाः** इति द्वारमाहात्म्यम्. पुरटं सुवर्णं, तत्सहिताः ये वज्राः हीरकाणि, तैरेव निर्मितौ कपाटौ यस्याः, कपाटिके वा. एवं पूर्वार्द्धे दोषाः निरूपिताः. मार्गान्तरस्थान् गुणान् आह **सर्वत्र** इति. ते अविषमया दृष्ट्या चरन्ति, अतएव केनापि अविहता इति, स्वस्मिन् विद्यमानमपि ज्ञानं परस्मिन् कार्यसम्पादकम् इति, सानुभावं निरूपितम्. अतएव **विगताभिशङ्काः**. विगता

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

द्वारि इत्यत्र. ननु ज्ञानमार्गस्याऽपि भगवता स्वप्राप्त्युपायतया कथनात् तद्गुणानां कथम् अत्र दर्शनप्रतिबन्धकता इति आकाङ्क्षायां तज्ज्ञानम् इदं न भवति,

---

१.''तद्धर्मे चादरयुक्ताः'' ''तद्धर्मेप्यादरयुक्ताः'' ''तद्धर्मे वादरयुक्ताः'' इति क,ग.घ पाठाः.

अभितः शङ्का येषाम्. ब्रह्मविदः चेत् तदा दोषो न भवेत्. तत्रैव एते गुणत्वेन उक्ताः. एतेतु आत्मविदः. सहि चिद्रूपं ब्रह्म. तत्रापि मननपर्यन्तं व्यापृताः. तदपि आत्मरूपं न सर्वदा तेषाम् अनुभवविषयः. तत्र स्वरूप–धर्मयोः मध्ये परिच्छेदधर्मस्य बलिष्ठत्वात् परिच्छेदाहङ्काररहितमेव आत्मज्ञानं गुणरूपम्, अन्यथा संसारिणामपि तत्सम्भवाद् मोक्षः स्यात्. आत्मा हि भगवद्विभूतिः इति विभूतिमत्समीपे परधर्मान् त्यजति इति न तेषाम् अन्यत्र प्रच्युतिः।।२९।।

एवम् एतेषां गुणदोषान् निरूप्य यथाक्रमम् अतिक्रमम् आह **तान् वीक्ष्य** इति.

तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान् वृद्धान् दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
वेत्रेण चाऽस्खलयतामतदर्हणांस्तौ तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ।।३०।।

तत्र प्रथमं द्वारपालकृतातिक्रमो निरूप्यते. तत्र तयोः सहजत्वात् तेषां निवारणे हेतुः **वातरशनान्** इति. ते हि दिगम्बराः, बालकाअपि कटिसूत्रवन्तो भवन्ति. अतएव* एषां रशनानिषेधः. भ्रान्ताइव तद्दृष्ट्या प्रतीताः. चत्वारोऽपि एकविधाः इति आश्चर्यमपि. **कुमाराः** पञ्चवार्षिकाः कालेन तेषां शरीरस्य कौमारपर्यन्तमेव भोगः कृतः इति. उत्पत्तिकालविचारेतु ते वृद्धाः, परार्द्धमितायुषो ब्रह्मकल्पएव उत्पन्नाः. अतएव दशार्द्धवयसः. पञ्चवार्षिकाः इति केचित्. तेषां या मानुषदशापरार्द्धद्वयपरिच्छिन्ना तत्र अर्द्धवयसः, एकस्य परार्द्धस्य अतिक्रान्त–

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यद् उपायभूतम् इति बोधयितुं ''मुनयः स्वदृष्टया'' इति पदसूचितं तात्पर्यम् आहुः **ब्रह्मविदः** इत्यारभ्य **स्याद्** इत्यन्ते (न). **सहि** इति. आत्मा हि. **मननपर्यन्तं व्यापृताः** इति. न निदिध्यासनपराः. अतएव तदपि मतमपि आत्मस्वरूपं सर्वदा तेषां न अनुभवगोचरम्. तत्रापि हेतुः **तत्र** इत्यादिना उक्तः. **स्वरूपं** चिद्रूपं; **धर्मो** अणुत्वं, परिच्छेदः इति यावत्. तथाच अधिकाराभावेन मार्गबन्धात् प्रतिबन्धकता इति अर्थः. ननु तद्गतधर्माणां यदि न आत्मज्ञानत्वं धर्मत्वं तदा अन्यत्राऽपि गतिविघातः स्यात्, तथा सति मूलोक्तानि एतद्विशेषणानि विरुध्येरन्, अतो मार्गभेदप्रतिपादनं न समञ्जसम् इत्यतः आहुः **आत्मा हि** इत्यादि. **परधर्मान्** इति. विभूतिमतो भगवतो धर्मान्. तथाच अन्यत्र अप्रतिरोधाद् न विशेषणविरोधः इति अर्थः।।२९।।

तान् इत्यत्र. ***अतएव** इति बालत्वाभावादेव ।।३०।।

त्वात्. तेषां ज्ञानवृद्धत्वमपि आह **विदितात्मतत्त्वान्** इति. विदितात्मतत्त्वं यैः इति. वेत्रं लकुटविशेषः. **च**काराद् मुखेन च. **अस्खलयताम्** इति यथा ते स्खलिताः भवन्ति तथा अग्रे दण्डः प्रसारितः इति अर्थः. एवं कर्तुम् अनुचिताः ते इति आह **अतदर्हणान्** इति. तत् स्खलनं न अर्हन्ति इति. ते हि स्थिरीकृत्य वा प्रष्टव्याः, विज्ञापनेन वा अनवसरो ज्ञापनीयः. तद् उभयम् अकृत्वा स्खलनमेव कारितवन्तौ. **तौ** इति पूर्वोक्तौ दोषसहितौ निरूपितौ. **तेजो विहस्य** इति. सर्वथा न अज्ञानात् तथा करणं, किन्तु ज्ञात्वैव. यत् तेषां ज्ञानं, सर्वपरित्यागलक्षणः स्वधर्मः, देहाद्यभिमानाभावश्च; [क]सः तेजः. तद् विहस्य. दोषत्वेन पाषण्डित्वेन वा तद् गणनं विहसनम्. तद् अविगणय्य. तेजः कृतं धाष्ट्र्यं दोषं मत्वा. तत्र दण्ड–चिकीर्षा हास्ये हेतुः, नतु कौतुकमात्रम्. अतएव भगवतः प्रतिकूलं शीलं ययोः. अनेन स्वामि–सेवकधर्मोऽपि तयोः[ख] न सिद्धः इति उक्तम्. गर्वस्तु भगवत्प्रतिकूलो धर्मः दैत्यधर्मत्वाद्, अतएव 'प्रतिकूल'पदम्. **शीलम्** इति तद्धर्मस्य दुर्लङ्घ्यता सूचिता।।३०।।

एवं तयोः अतिक्रमम् उक्त्वा मुनिकृतातिक्रमम् आह **ताभ्याम्** इति.

ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम् ।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत् कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ।।३१।।

ताभ्याम् इति चतुर्थी. तयोः अर्थे शापम् ऊचुः इति अर्थः. शापम् इति न उक्तं, विचारपूर्वकम् अग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्, इदानीम् अविचारितत्वात्. क्रोधेन वचनम् अर्थात् शापरूपं भवति इति ज्ञातव्यम्. अतएव **निषिध्यमानाः** मा एवं शापो देयः इति. गमननिषेधस्तु कृतएव इति वर्तमानप्रयोगो न उपपद्येत. **अनिमिषेषु मिषत्सु** इति देवानाम् उभयत्र साक्षित्वं निरूपितम्. ते हि अनिमिषाः सर्वसाक्षिणः. तैरेव निषिध्यमानाः इति नैकट्याद् अवसीयते. तत्रत्यैः सर्वैरेव वा. ताभ्यामेव निषिध्यमानाः इति **ताभ्याम्** इति तृतीया वा. वस्तुतस्तु प्रवेशनिषेधएव ताभ्यां क्रियते, वर्त्तमानसामीप्येऽपि वर्तमानप्रयोगः उपपन्नः. **सुष्ठु अर्हत्तमाः** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ताभ्याम् इत्यत्र. **ताभ्याम्** इत्यत्र तृतीयां विहाय चतुर्थीव्याख्याने बीजम् आहुः **गमननिषेधः** इत्यादि.

क. 'तत् तेजः' इति मां.१,२,३. ख. 'तेषाम्' इति मां.१,३.

निषेधानौचित्ये हेतुः. अर्हाः सदाचाराः तथापि यथाशास्त्रं परमहंसाः अर्हत्तमाः, तत्रापि ज्ञानिनः **स्वर्हत्तमाः** इति. तर्हि निषेधः कथं कृतः? इति आशङ्क्य आह **हरेः प्रतिहारपाभ्याम्** इति. सहि सर्वदुःखहर्ता. अन्तःप्रवेशे भगवदतिक्रमे महान् दोषो भविष्यति इति तेनैव भगवता प्रतीहाराः द्वारपालकाः रक्षिताः सर्वत्र बहवः, तेषाम् एतौ अधिपती. अतो द्वारपालकानां रक्षार्थं, तयोरपि रक्षार्थम्. निषिद्धाः इति अर्थः. तर्हि एतेषां क्रोधे को हेतुः? तत्र आह **सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्गे** सति **ईषत् कामानुजेन** क्रोधेन **ते उपप्लुताक्षाः**. तेषाम् आत्मविदां सर्वत्र आत्मबुद्धिरेव, भगवत्यपि आत्मबुद्धिः. भगवानपि आत्मविद् इति सुहृन्मित्रं, तत्रापि तद्गुणैः अन्तःकरणनैर्मल्यं भवति इति सुहृत्तमः, स्वस्य अभीप्सितज्ञानसाधकत्वात्. तस्य **दिदृक्षितं** दिदृक्षा दर्शनेच्छा. यस्तु अस्मभ्यम् एतावदुपकारं कृतवान् सः द्रष्टव्यः इति, फलस्य जातत्वात् साधने स्वल्पः कामः. दिदृक्षितस्य भङ्गे सति अल्पत्वात् प्रतिबन्धे भङ्गएव जातः, नतु एतत्समाधानं कृत्वा पुनः द्रष्टव्यः इति इच्छा तेषु स्थिता. अतएव ईषत्कामस्य अनुजः. महति कामे प्रतिरुद्धेऽपि क्रोधो न भवति यथा ईश्वरवाक्ये, अर्थार्थिनो वा. तेषामपि विचारो न उत्पन्नः इति आह **सहसा** इति. उपप्लुतानि अक्षीणि येषाम्. अनेन तयोः गुणाअपि तेषां न प्रत्यक्षा जाता इति उक्तम्. उपप्लवः प्रलयः सर्वनाशरुपः सः तेषां जातः इति तथा उक्तम् ।।३१।।

तेषां वचनम् आह **को वामिहेत्या**दित्रिभिः

मुनयः ऊचुः

को वामिहेत्य भगवत्परिचर्ययोच्चैः तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां को वात्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः।।३२।।

तयोः स्वाभाविको दोषः स्वामिद्रोहस्तथाऽपरः ।
स्वस्याऽन्तरङ्गमित्रत्वात् तदुल्लङ्घनमेव च ।।१।।
दोषस्तृतीयो नात्रोक्तो मित्रकार्यं परं कृतम् ।
तथावचनसन्दर्भात् सोच्यते जन्मसङ्ख्यया ।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दर्शनेच्छायाः हेतुपूर्वकम् आकारम् आहुः **यस्तु** इत्यादि. स्वल्पत्वे गमक प्रमाणं च आहुः **दिदृक्षितस्य** इत्यादि, **अतएव** इत्यादि च।।३१।।

को वाम् इत्यत्र. कारिकायाम्. **सा** इति. मित्रकृतिः. कार्यद्वारा वैषम्य-

तत्र प्रथमं तयोः स्वाभाविकं दोषम् आहुः **इह** वैकुण्ठे, **उच्चैः भगवत्परिचर्यया** पूर्वजन्मनि कृतया, भूमेः सकाशाद् इह आगत्य **निवसतां** भगवत्सेवकानां मध्ये **को वां** युवयोः एषः[क] विषमः स्वभावः? अस्मासु दोषबुद्धिः, "**नार्थदा पुरुषद्विषाम्**" (भाग.पुरा.७।१४।४०) इति पुरुषे द्वेषस्य निन्दितत्वात्. कैश्चित् प्रवेष्टव्यं कैश्चिद् न इति केचिद् आहुः, तदा द्वारपालकाधिकारदानं भगवतो विरुध्येत. *आत्मीयानामपि माता–पित्रोरपि अनवसरे गमनम् उचितं न भवति इति लौकिकार्थं तथाकरणं द्वारपालयोः उचितमेव. तथा नूतनानां महताम् उपहासः क्रोधदर्शनं वैकुण्ठवासिनाम् उचितं, सामान्यधर्मानुरोधेनैव विशेषधर्माणां कर्तव्यतायाः *उचितत्वात्. तेषां मते सर्वं कर्मजन्यमेव, तत्रापि भोगरूपं, भक्तिमार्गस्य अज्ञातत्वात्. अतो निरन्तरभगवत्सेवया अत्र आगत्य स्थितिः भवति इति मन्यन्ते. तत्रापि वैकुण्ठे ये भगवत्समानधर्माः ब्रह्मण्या धर्मनिष्ठप्रीतियुक्ताः तेषां मध्ये इति. तेन एतयोः सहजवैकुण्ठाद् आगमनं निवारितम्. स्वस्य मुखाद् वचनं निःसरति इति. **को वा** इति अधिक्षेपे. **कः** इति अधिक्षेपे, **वा** इति अनादरे वा. ननु त्रैविध्यात् केचन विषमस्वभावाअपि भवन्ति इति चेत्, तत्र आह **तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे** इति. अयं विषमस्वभावः स्वार्थं, भगवदर्थं वा? स्वार्थं चेद्, न युवां भगवदीयौ. तत्र हेतुम् आह **प्रशान्तपुरुषे** इति. प्रकर्षेण शान्ताः पुरुषाः यस्य. तस्य हि सर्वे पुरुषाः शान्ताएव. शान्तिस्तु ज्ञानएव, अतो वैषम्यं भगवदीयत्वाभीप्सोः न उचितम्. भगवदर्थं च न अपेक्ष्यते इति आह **गतविग्रहे** इति. गतो विग्रहः कलहो यस्य. विशेषेण ग्रह *आग्रहो वा. विग्रहो देहो वा. देहाभावाद् न केनाऽपि अनिष्टं कर्तुं शक्यं, कलहाभावाद् न कश्चिद् द्विष्टः, आग्रहाभावाद् न अनौचित्यं भगवान् मन्यते. अतो विषमस्वभावः उत्पत्या च उपपत्या च अत्र बाधितः. **वां** युवयोः. एवं तयोः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्वरूपं प्रकटयन्ति **आत्मीयानाम्** इत्यादि **उचितत्वाद्** इत्यन्तम्. अधिक्षेपं वक्तुं तन्मूलभूतविचारस्वरूपम् आहुः **तेषां मते** इत्यादि **आगमनम्** इत्यन्तम्. तत्र हेतुः **निवारितम्** इत्यादि. एतस्य विचारस्य आपातप्रतिप्र(प?)न्नतां बोधयन्ति **आग्रहे**त्यादि।।३२।।

क.'एव' इति मां.१,२,३.

विषमस्वभावं निन्दित्वा स्वातिक्रमदोषं तयोः उपपादयन्ति **को वा आत्मवद्** इति. **कुहकयोः** वञ्चकयोः को वा आत्मवत् परिशङ्कनीयः इति. दुष्टएव हि अन्यत्र दोषं मन्यते, अतो युवयोः दोषो अस्ति इति अवसीयते. परिचर्यायाएव वैकुण्ठागमनहेतुत्वं मन्यन्ते, नतु निष्कपटपरिचर्यायाः. अतः कपटेन परिचर्यां कृत्वा वैकुण्ठे समागत्य अधिकारं प्राप्य, स्वभावाद् अधिकाराच्च यथा वयं तथा अन्योऽपि अत्र आगमिष्यति इति यत्रैव स्वस्य अस्वारस्यं तत्रैव विषमदृष्टिः नतु विषयपरिज्ञानाद् इति तस्य पक्षस्य आक्षेपः. वयन्तु न परिशङ्कनीयाः इति भावः. निषेधस्तु परिशङ्काङ्गीकारे स्वस्याऽपि कुहकत्वं सेत्स्यति इति. तस्माद् वयं निर्दुष्टाः, युवामेव सदुष्टौ, निर्दुष्टे दोषारोपात्. आग्रहाविष्टबुद्धिः न अत्यन्तं युक्तिम् अपेक्षते, अतो अस्मिन् पक्षे न [१]समर्थोपपत्तिः. तथा अग्रिमपक्षेऽपि अवगन्तव्यम्।।३२।।

स्वामिद्रोहम् आह **नहि अन्तरम्** इति.

न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षौ आत्मानम् आत्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं व्युत्पादितं ह्युदरभेदिभयं यतोऽस्य।।३३।।

इह वैकुण्ठे शुद्धसत्त्वात्मके रजस्तमसोः अभावात् तत्कृतम् उच्चनीचत्वमपि न अस्ति. किञ्च, भगवति न अस्ति अन्तरं, तेन ये ज्ञानादिमन्तः ते भगवद्रूपाः इति तेषु भगवति च अन्तरकरणं स्वामिद्रोहः. किञ्च, **समस्तकुक्षौ** इति. समस्तं कुक्षौ यस्य. वैकुण्ठवासिनः सर्वे पूर्वं तस्य कुक्षावेव स्थिताः, इदानीं वा नारायणोदरे सर्वे तिष्ठन्ति इति. अतः प्रथमपक्षे वैकुण्ठवासिषु अन्तरम् अनुचितं, द्वितीयपक्षे सर्वेष्वेव. तस्य समस्तकुक्षित्वं श्रुत्यनुभवसिद्धम्. तत्र श्रुतिः ''**आत्मैव इदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.७।२५।२) ''**यस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम्**'' (शाण्डि.उप.२) इति च. अनुभवं कीर्तयन्ति **आत्मानम् आत्मनि नभो नभसीव धीराः पश्यन्ति** इति. **आत्मानं** स्वात्मानम्. **आत्मनि** भगवति. आत्मनश्च पुनः सर्वत्वज्ञानात् सर्वं भगवति भविष्यति,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नहि इत्यत्र. **सर्वत्वज्ञानाद्** इति. ''**आत्मैव इदं सर्वम्**''(छान्दो.उप. ७।२५।२) इतिश्रुत्युक्त-सर्वत्वज्ञानात्.

१.सर्वथोपपत्तिः क. घ. मां.१,३.

स्वदृष्टान्तेन वा. तत्र प्रथमपक्षो वादिनं प्रति वक्तव्यो न भवति इति दृष्टान्तपक्षमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति **नभो नभसीव** इति. यथा घटाकाशो विद्यमानेऽपि घटे महाकाशएव, महाकाशे वा; तथा सर्वे आत्मानः सोपाधयोऽपि भगवानेव, भगवति वा. अत्र प्रमाणं **धीराः पश्यन्ति** इति. श्रुतिः ब्रह्मवादे भगवद्वादे यज्ञवादे वाऽपि उपपद्यते, तथापि अनुभवः आत्मवादएव स्वाधीनः. अतो **धीराः** इत्येव अधिकारिविशेषणम्. धैर्यं हि आत्मनो महाफलत्वज्ञानात् फलान्तरेच्छाभावपूर्वकेन्द्रियादिजयः, चित्तस्थैर्यमेव वा धैर्यम्. एवं सर्वकुक्षित्वं प्रतिपाद्य तत्र अपराधः कृतः इति आहुः **यत्र** भगवति **सुरलिङ्गिनोः युवयोः**. देवानां लिङ्गमात्रं, वस्तुतस्तु दैत्याएव. तृतीया दैवगत्याऽपि करणं सम्भवति इति न उक्ता. षष्ठ्यातु सः दोषः तेषां सम्बन्धीति बोध्यते. उदरं भिनत्ति इति **उदरभेदि,** तस्य भयं, "**यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतिः. ये भगवद्भावं प्राप्ताः ते 'उदर'शब्देन उच्यन्ते, तेषु अन्तरं कुर्वन् भयं प्राप्नोति इति अर्थः. **उद्** ऊर्ध्वम् **अरमपि अन्तरम्** इति च. उद् ऊर्ध्वं लौकिकापेक्षयाऽपि अधिकं शास्त्रतो भेदसमर्थनम्, **अरम्** ईषत्. भृत्यापराधे स्वाम्येव एवं करोति इति लोके प्रतीतिः भवेत्. तदा उदरभेदिनां यद् भयं, तद् अस्मिन्नपि कृतं भवेद् इति युक्तएव तव स्वामिद्रोहो जातः इति **हि** शब्दार्थः. सेवककृतत्वाद् भगवतः एतद् अङ्गीकर्तव्यम्, तथा सति भयं भवेद् इति गूढाशयः।।३३।।

एतद् अनङ्गीकारेतु स्वामिनो भयं न भविष्यत्येव, तद् एतयोरेव भयं भवतु इति शास्त्रार्थसिद्ध्यर्थं भगवति मैत्रीनिर्वाहार्थञ्च तयोः शापं प्रयच्छन्ति **तद् वाम्** इति.

तद् वाम् अमुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः कर्तुं प्रकृष्टम् इह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य भयम् इति. **यतो अस्य व्युत्पादितं, तत्किम्** इति मूलशेषो अत्र; तद् एतद् हृदिकृत्य व्याकुर्वन्ति **यदा** इत्यादि. **ये** इत्यादिना उक्तम् 'अन्तर'शब्दस्य भगवद्भूतवाचकत्वपक्षे लक्षणया सम्बन्धिबोधक-त्वं ज्ञेयम्. लक्षणादोषाद् अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **उद् ऊर्ध्वम्** इत्यादि. तेन स्वामिनो भयं व्युत्पादयन्ति **भृत्ये**त्यादि. **भयं भवेद्** इति. वाशिष्ठरामायणोक्तशापवद् इदानीमपि भवेत्।।३३।।

लोकान् इतो व्रजतम् अन्तरभावदृष्ट्या पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ।।३४।।

अमुष्य भगवतः सर्वेषां **परमस्य** स्वामिनः अस्मदाद्यनुग्रहार्थं विकुण्ठ-स्थाने संस्थितस्य. 'विकुण्ठ'शब्देन शुद्धं सत्त्वं, तद्भर्तुः इति अस्मदादि-सत्त्वस्याऽपि भर्तृत्वात् तस्य **प्रकृष्टं कर्तुम् इह** अस्मिन् अर्थे यद् उचितं तद् **धीमहि,** ध्यायेन साक्षात् करिष्यामः. **वां** युवाभ्याम्. **मन्दधीभ्याम्** इति. ताभ्यामेव चेद् अनिष्टं दीयते तदा ताभ्यामेव भगवतः इष्टं भवति इति चतुर्थ-तृतीये. ध्यानेन निश्चितम् अर्थम् आहुः **लोकान् इतो व्रजतम्** इति. अन्तरभावेन या दृष्टिः कृता क्रूरा, तया कृत्वा, **इतो** अधस्तनाद् **लोकान् व्रजतम्.** इदं हि सत्त्वस्थानं, ततो अधस्तनाः राजस-तामसाः. तत्र एकः केवलराजसः, द्वितीयो राजसतामसः, तृतीयः तामसः इति. अवान्तरलोकानां बहुत्वसम्भवात् त्रीन् इति वक्तुं विशिनष्टि **पापीयसः त्रयः** इति. **अस्य** भगवतो **रिपवो** भगवदीयैः हेयत्वेन ज्ञाताः, "**कामः क्रोधः तथा लोभः तस्माद् एतत् त्रयं त्यजेद्**" (भग.गीता.६।२१) इति वाक्यात्. ते च **पापीयसः** सम्बन्धिनः, न भगवदीयाः, किन्तु तद्विरोधिनश्च. अतो भगवद्विरोधि कामादित्रयं येषु लोकेषु, तान् लोकान् इतो व्रजतम् इति अर्थः।।३४।।

पूर्वं शापपर्यवसायित्वम् अज्ञात्वा कृतो अतिक्रमः. जाते च शापे अमूर्त्ता वाग्गदादिभिः दूरीकर्तुम् अशक्या इति तेषां प्रार्थनयैव शापो गमिष्यति इति बुद्ध्वा तेषां प्रसादनं कृतवन्तौ इति आह **तेषाम्** इति.

तेषाम् इतीरितम् उभाववधार्य घोरं तं ब्रह्मदण्डम् अनिवारणम् अस्त्रपूगैः ।
सद्यो हरेर् अनुचरावुरु बिभ्यतस् तत् पादग्रहावपतताम् अतिकातरेण ।।३५।।

शापस्तु अङ्गीकृतो ग्लानिहेतुः न भवति इति तद् अङ्गीकारार्थं ततो अधिकं मा वदन्तु इति तेषां पदयोः पतितौ. **इति** अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण तेषाम् **ईरितम् अवधार्य,** तदुक्तः च अर्थो **ब्रह्मदण्डः** इति निश्चित्य, **अस्त्रपूगैः च अनिवारणं** मत्वा, **हरेः अनुचरावपि** तेषां पदयोः **अपतताम्.** तत्रापि **पादग्रहौ** तेषां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद्वाम् इत्यत्र. **प्रकृष्टम्** इति. प्रकर्षं, कल्याणम् इति यावत्. **चतुर्थीतृतीये** इति. **वाम्** इति चतुर्थी, **मन्दधीभ्याम्** इति तृतीया. वाक्यशेषस्तु ताभ्यामेव इत्यादिना व्याख्यातएव।।३४।।

पादान् गृहीत्वा तत्र पतितौ इति अर्थः. **सद्यः** इति. विलम्बे पुनः शापो भगवद्दण्डो वा भवेद् इति. माया वा ततो निर्गता इति. **हरेः अनुचरौ** इति भगवदभिप्रायाभिज्ञौ. स्थानान्तरे गमनम् अत्यरिष्टम् इति. सहि सर्वदा हरिः, अन्यत्र दुःखहर्ता कोऽपि न अस्ति इति. तेषां वा मनसि जातं दुःखं दूरीकर्तुं तथा कृतवन्तौ, यतः एतयोः स्वामी हरिः. किञ्च **उरु बिभ्यतः**, अधिकं च भयं प्राप्तवन्तौ, श्रुत्यर्थः तदैव जातः इति. **अतिकातरेण** इति तेषां दयोत्पादनार्थं स्वस्य दैन्यं [१]ज्ञापितवन्तौ ।।३५।।

एवं चरणयोः पतित्वा एवं प्रार्थयतः **भूयाद् अघोनि** इति.

भूयाद् अघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो यो नौ हरेत सुरहेलनम् अप्यशेषम् ।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेद् इह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ।।३६।।

अघोनि पापसहिते भगवद्भिः **यो दण्डः** कृतः **सः भूयात्.** तथा कथने हेतुः **यो दण्डो नौ** आवयोः **सुरहेलनं** *भगवदवज्ञां, भगवद्दैवतावज्ञाञ्च[२]. **अशेषं** सर्वमेव **हरेत.** यदि तद्दत्तः शापो न अङ्गीकृतः स्यात् तदा वरमपि न प्रयच्छेयुः इति तद् अङ्गीकरणम्. प्रार्थनाम् आह **मा वो अनुतापकलया** इति. **वो** युष्माकं **यो अनुतापः** वृथैव शापो दत्तः इति; तस्य **कलया** लेशेन **नौ** आवयोः **अधो-अधो व्रजतोरपि मोहो** मा भवतु. काम-क्रोध-लोभैः नरकएव भवति, न संसारः; मोहेन च संसारो भवति अतः तत्प्रार्थनम् उचितमेव. जायमानोऽपि मोहः आवश्यकत्वात् तत्-तज्जन्मनि **भगवत्स्मृतिघ्नो मा भवेत्,** किन्तु जायमानमपि अज्ञानं मोहात्मकं भगवत्स्मरणमेव सम्पादयतु. **तु** पुनः इह भगवति मोहो भवतु, भगवद्वैराग्यं मा भवतु इति. **व्रजतम्** इति भगवद्वाक्यात् फलं शीघ्रमेव भविष्यति इति ज्ञापितम्. तथा स्मरणमपि भवतु इति प्रार्थनायां भावः. **अधो-अधः** इति. दैन्यं ज्ञापितम्. दैत्याद् राक्षसाः निकृष्टाः, तेभ्योऽपि मनुष्याः इति; राक्षसानामपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भूयाद् इत्यत्र. ***भगवदवज्ञाम्** इत्यादौ 'भगवत्'पदं सनकादिपरं बोध्यं, तेषु मूले 'भगवद्भिः' इति 'भगवत्'पदप्रयोगात्. भगवत्परं वा भवतु, ''**ब्राह्मणाः प्रभवो दैवम्**''(भाग.पुरा.१०।१८।३९) इति वाक्यात्।।३६।।

१.'रप्यापितवन्तौ' क.घ.ङ.च. 'तस्य दैन्यं ख्यापितवन्तौ' इति मां.१,३. 'ख्यापितवन्तौ' इति मां.२.
२.'वा' इति ख. घ.

देवयोनित्वात्।।३६।।

एवं प्रार्थितेऽपि प्रसादे, अङ्गीकारेण दत्तेऽपि, साक्षाद् अदानं पश्चात्तापव्याकुलानाम् उचितमेव, विवेकेन सर्वप्रतिरोधो वा. एवं सति सर्वनिर्द्धारार्थं भगवान् आगतः इति आह **एवं तदैव** इति.

एवं तदैव भगवान् अरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रमम् आर्यहृद्यः ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीनाम् अन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ।।३७।।

एवं सति **तदैव भगवान् विबुध्य तस्मिन्** स्थाने **ययौ** इति सम्बन्धः. **तदैव** इति न ज्ञापनापेक्षा. तत्र हेतुः **भगवान्** इति. तर्हि पूर्वमेव कथं न प्रतीकारं कृतवान्? इति आशङ्क्य आह **अरविन्दनाभः** इति. सृष्टिजनको अयं, यतः कमलनाभः. अतः पूर्वं न कृतवान् इति अर्थः. तत्र एवं सन्देहः किं भगवता मुनीनाम् अपराधो बुद्धः, आहोस्वित् सेवकयोः? इति. उभयत्र युक्तीनां सम्भवात्. तत्र निर्द्धारार्थम् आह **स्वानां विबुध्य सदतिक्रमम्** इति. स्वसेवकानामेव अपराधः. यतः सताम् अतिक्रमः कृतः इति. अनेन प्रथमापराधः तयोः इति सूचितम्. लोकेऽपि यः प्रथमम् अपराध्यति सः दण्ड्यः.

ननु तेषामेव कथं न अपराधः यद् अपृष्ट्वैव प्रविष्टाः? इति. तत्र आह **आर्यहृद्यः** इति. आर्याः सन्मार्गवर्तिनो, मर्यादायां श्रेष्ठाः, ते हृद्याः यस्य. अतो भगवदन्तःकरणे ते रोचन्ते इति तेषाम् आगमनं न अपराधः इति. आर्याणां हृद्यो वा अतोऽपि आगमनं तेषाम् उचितमेव. **तस्मिन्** स्थाने **ययौ,** उभयोः कृतिसमर्थनार्थम्. यत् सेवकाभ्यां निवारिताः ते पुनः अन्तः प्रवेशयितुं न युक्ताः इति स्वयमेव तत्र गतः, नतु आकारिताः ते. न वा पश्चात् ते समानीताः, सत्कृताः वा. तेषामपि चरणारविन्ददर्शनाकाङ्क्षा वर्तते इति चरणावेव चालयन् तत्र गतः. एवं सति उभयेषां खेदो भवेत्. सेवकानाम् उचितएव खेदः, मुनीनामपि, **परमहंस–महामुनीनाम् अन्वेषणीयौ** तौ चरणौ इति. परमहंसाः च ते महामुनयश्च. परमहंसाः इत्यनेन धर्मनिष्कर्षः उक्तः. **महामुनीनाम्** इति ज्ञानोत्कर्षः. उभयोत्कृष्टा[क] विशिष्टस्यैव भगवतः चरणान्वेषिणो भवन्ति, काण्डद्वयार्थस्य सिद्धत्वाद्, भक्तिरेव अशिष्यते इति. **चलयन्** इति चालयन् इति अर्थः. **सहश्रीः** लक्ष्मीसहितः. तयाऽपि सह आगमनं तथा, तस्याः स्थित्या हि अनवसरत्वम् इति.

क.''उभयोत्कृष्टानाम् विशिष्टस्यैव भगवतः चरणान्वेषिणौ भवतः'' इति मां.१,३.

सा पुनः बहिरपि आनीता, तेन सेवकानां खेदः. अनवसरबोधाद् मुनीनाम्. लक्ष्म्याः सन्तोषार्थम् इति केचित्. कदाचिद् लक्ष्म्याः गर्वे जाते, तन्निवृत्त्यर्थं लोकान्तरं परिकल्प्य, तत्र जय-विजयौ द्वारपालकौ निवेश्य, स्वयं प्रविष्टः ताभ्यां *लक्ष्म्या निरोधं कारितवान्. ततः प्रभृति तस्याः मनसि तयोः अस्वरसो अस्ति इति. केचित् पुनः जन्मत्रयलग्नकार्यार्थं शेष-लक्ष्मी-सुदर्शनानि आगतानि इति आहुः ।।३७।।

समागतं भगवन्तं वर्णयति **तं त्वागतम्** इत्यादिपञ्चभिः. पूर्वं वैकुण्ठ-वर्णनायां भगवान् न वर्णितः इति पञ्चविद्याप्रवर्तकत्वेन अत्र वर्णितः.

समागमक्रियायुक्तम्, समागमनहेतुकम्।
समागत्य स्थितं चाऽपि, दृष्टं नतम् इति क्रमः।।१।।

तत्र समागच्छन्तं वर्णयति **तन्तु आगतम्** इति.

तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भिः तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोलच्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ।।३८।।

तं भगवन्तम्. सेवकवद् न भवति इति 'तु'शब्दः. **आगतम्** इति दृष्टिपर्यन्तं शीघ्रमेव समागतम्. **स्वपुम्भिः** स्वसेवकैः **प्रतिहृतम्** अग्रे स्थापितं गम**नौपयिकं** पादुकादि यस्य. तयोः चरणपतितत्वात् ते मुनयएव अचक्षत. तैः पूर्वमपि तथैव हृदये दृश्यते, तथापि इदानीम् **अक्षविषयम् अचक्षत.** सहि स्वेच्छया अचक्षुर्विषयोऽपि चक्षुर्विषयो जातः. तेषां प्रत्यभिज्ञाम् आह **स्वसमाधिभाग्यम्** इति. स्वस्य समाधिं भजते इति, समाधेः वा भाग्यम्. कदाचित् समाधौ एवं भूतो भगवान् आविर्भवति, तदा समाधेः भाग्यं भवति इति. एवं समाधावपि दुर्लभः इदानीं चक्षुर्विषयो जातः इति तेषां भाग्यम्. समागमे श्रमाभावाय छत्रेण चामराभ्याञ्च सहितं वर्णयति. हंसस्येव श्रीः ययोः. उभावपि श्वेतौ यौ चामरौ रत्नदण्डौ अग्रे नम्रौ नम्रपुच्छाविव भासेते. तयोः व्यजनयोः यः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवं तदा इत्यत्र. ***लक्ष्म्या** इत्यादिना उक्तं मतद्वयं टीकाकारान्तराणां, न श्रीधरस्य इति बोध्यम्. ''श्रीसाहित्यं निष्कामान्यपि विभूतिभिः पूरयित्वा क्षमापयितुम्'' इति श्रीधरीये व्याख्यानात्।।३७।।

तं त्वेत्यत्र. कारिकायाम्**. हेतुकम्** इति. स्वार्थे कः।।३८।।

शिवो वायुः, तेन **लोलुच्छुभ्रं यद् आतपत्रं** छत्रं, सएव **शशी** अमृतस्रावी चन्द्रः, तस्य केसराः अमृतबिन्दुयुक्तकिरणाइव परितो बद्धाः मुक्तामालाः. तद्गताः मुक्ताएव वायुना लोलाः शीकराम्बुप्रायाः भवन्ति. **शीकराः** अल्पकणाः. वायुना भगवन्तम् अल्पं स्पृशन्ति अतः शीकराम्बुत्वम्. अत्र 'अम्बु'पदं शैत्यसूचनार्थम्. सर्वत्रैव शीकराः बहुजलप्रायाः जाताः इति वा 'अम्बु'पदम्. 'केसर'पदेन सौरभ्यं लक्षितम्. मान्द्यशैत्ये स्पष्टे. शशित्वात् तापहारित्वं सिद्धम्. अम्बुत्वात् तृषाऽपि. आतपत्रत्वादेव छाया. हंसत्वाद् लीलाजनकत्वम्. कल्याणो वायुः इति उत्कृष्ट–सर्वगुणो वायुः अत्र निरूपितः. अतएव व्यजनयोः सम्बन्धी उक्तः, अन्यथा महाभूतो वायुः चालनेन अभिव्यक्तो भवेत्. सच कालादिधर्मसहितइति न निसर्गतः शीतलः।।३८।।

एवम् आगच्छन्तं वर्णयित्वा तस्य आगमनहेतुरूपं वर्णयति **कृत्स्न–प्रसादसुमुखम्** इति.

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम् ।३९

भगवतो वैकुण्ठे स्थितिः, वैकुण्ठनिर्माणं, विवादस्थाने समागमनं च सर्वेषाम् उपकारार्थे. ब्रह्माण्डे यदि वैकुण्ठस्थानं न भवेत् तदा कुत्र गत्वा ब्रह्मादयः कार्यं निवेदयेयुः! यदि वा तत्र भगवान् न तिष्ठेत् तदा निवेदिते कार्ये कथम् अवतरेद्! यदि वा तत्र भगवान् न आगच्छेत् तदा कथं सर्वसमाधानं भवेद्! इति. अतः सम्पूर्णएव ब्रह्माण्डे ये वर्तन्ते तेषां प्रसादार्थं **सुमुखम्.** अनेन भगवदागमनं कस्याऽपि न अपकारि, मुनीनां जय–विजययोश्च. अङ्गम् इत्यस्य सर्वाणि विशेषणानि. **स्पृहणीयधाम.** स्पृहणीयं धाम तेजो यस्य. दीपादिकान्तिः सर्वेषां न स्पृहणीया, नाऽपि सर्वदा; इदन्तु आनन्दरूपम् इति स्पृहणीयत्वम्. 'धाम'पदं कान्त्यैव आनन्दजनकम् इति. अनेन पर्यवसानविचाराभावेऽपि सर्वेषां प्रसादहेतुः भवति इति उक्तम्. किञ्च, **स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम्** इति. कालान्तरे फलदानं दूरे तिष्ठतु, इदानीमेव स्नेहपूर्वकं यद् अवलोकनं करोति तस्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कृत्स्नेत्यत्र. अङ्गविशेषणपक्षे **संस्पृशन्तम्** इत्यादौ पुंस्त्वम् आर्षम्.

क. 'ज्ञानदानञ्च' इति मां.१,३.

अवलोकनस्य एकदेशेनाऽपि भावितेन भगवान् हृदये निविशति. कलया सह वा हृदि सम्यक् स्पृशन्तम्. अनेन सर्वेषां हृदये तापापनोदो [क]ज्ञानजननञ्च सूचितम्. एवं विशेषणत्रयेण कार्यतो बहिः अन्तश्च सर्वसुखदायि भगवदङ्गम् इति उक्तम्. एवम् अङ्गमात्रस्यैव गुणान् उक्त्वा आभरणानाम् उपयोगम् आह **श्यामे पृथौ** इति. श्यामवर्णे स्थूले वक्षःस्थले, कषपाषाणे सुवर्णरेखेव, श्रीवत्से या लक्ष्मीः तया कृत्वा **स्वश्चूडामणिं** वैकुण्ठं सुभगयन्तं सौभाग्ययुक्तं कुर्वन्तम्. **आत्मधिष्ण्यं** स्वस्य निवासस्थानम्. भगवान् यत् श्रीवत्सलक्षणं स्वस्य असाधारणं रूपं गृहीत्वा तिष्ठति, तद् वैकुण्ठशोभार्थम्; अन्यथा तादृशं रूपं किमर्थं गृह्णीयात्? सर्वस्याऽपि जगतः शोभा स्वर्गः, तस्याऽपि मुकुटमणिः वैकुण्ठः, तस्यापि शोभा वक्षःस्थलस्थितलक्ष्म्या. अनेन लोकवत् स्थानादिसौन्दर्येण भगवत्सौन्दर्यं न किन्तु भगवतएव सर्वं सुन्दरं भवति इति निरूप्यते. वैकुण्ठस्य शोभां कुतो जनयति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **आत्मधिष्ण्यम्** इति. **इव** इत्यनेन न एतावदेव प्रयोजनं, किन्तु अन्यदपि अस्ति इति सूचितम्. श्रिया विना न कापि शोभा. सा च चञ्चला इति तस्याः रमणार्थं **श्यामं** शृङ्गाररूपं, स्थूलम् आलिङ्गनयोग्यं, तस्याः स्वानन्दत्वाद् उरःस्थलम् आसनं कृतम्. हृदये हि सर्वस्य सुखं, सर्वमेव भगवद्धृदये वर्त्तते इति सर्वस्याऽपि सुखमपि जनयति. इदमपि वचनमात्रं, वस्तुतस्तु ब्रह्माण्डमध्ये आनन्दो अभिव्यक्तः तिष्ठति भगवद्रूपं, तेन सर्वं सुखितम् इति. एवं श्रीवत्सस्य प्रयोजनम् उक्तम्।।३९।।

पीताम्बरादीनां प्रयोजनम् आह **पीतांशुके** इति.

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या काञ्च्याऽलिभिर्विरुतया वनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तम् इतरेण धुनानम् अब्जम् ।।४०।।

पीतम् अंशुकं यस्य, एतादृशे स्थूलनितम्बयुक्ते कटितटे पीताम्बरोपरि **विस्फुरन्त्या काञ्च्या**, भ्रमरैः विशेषेण **विरुतया वनमालया च** आत्मधिष्ण्यं सुभगयन्तम् इति सम्बन्धः. आत्मनः स्वस्य पुरुषोत्तमस्य धिष्ण्यं जगद्रूपं वा. पीताम्बरं वेदः, तद्भूमौ प्रसृतं यज्ञादिद्वारा हृदयादिशुद्धिं सम्पाद्य, आत्मना

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

'अङ्ग'पदं वा 'प्रेमा'दिपदवत् पुन्नपुंसकयोः इति बोध्यम्. **उपयोगम्** इति. प्रदर्शनस्य प्रयोजनम्. एवम् अग्रे 'विनियोगादि'शब्देऽपि बोध्यम्।।३९।।

आत्मनो वा धिष्ण्यत्वं[1] धिष्ण्यम् अन्तःकरणादिकं वा शोधयति. नितम्बाः हिमालयादिसमीपभूमयः, ते पृथवः सर्वफलजनकत्वात् कर्मभूमिरूपाः. तद् यदि भगवान् आधिदैविके रूपे पीताम्बरं स्थापयति तदैव अत्र वेदः प्रचरति, तदैव च भगवतो अधिष्ठानं सर्वेषां हृदयं भवति. तत्र विस्फुरन्ती या काञ्ची काञ्चननिर्मितं दाम उपनिषदर्थरूपं, तया सुतरामेव महतां हृदयम् अधिष्ठानं भवति. **विस्फुरन्त्या** इति योगादिसहितया. यदि एतादृशी ब्रह्मविद्या न भवेत् तदा कुत्राऽपि भगवत्स्थितिः न भवेद् इति. **वनमालया च** भगवद्गुणकीर्त्तनरूपया. **अलयो** भ्रमराः मृत्युरहिताः षड्गुणयुक्ताः भगवद्भक्ताः तेषां गुणानां वक्तारः, सत्कीर्तितभगवद्गुणव्यतिरेकेणाऽपि भगवान् न हृदये तिष्ठति. अतो मूले पीताम्बर-काञ्चीदाम-वनमालानां धारणे भूमौ मार्गत्रयं प्रसिद्धं तिष्ठति इति अर्थः. **च**काराद् भगवत्कृपया च उपवीतादिरूपया. एवं त्रयाणां विनियोगम् उक्त्वा वलयादित्रयस्य विनियोगम् आह वल्गुप्रकोष्ठे वलयो यस्य. चत्वारो भगद्धस्ताः चतुःपुरुषार्थरूपाः, तत्र-तत्र क्रियाः तत्तत्साधकाः हस्तरूपाः, तेषां शोभा भगवतः चतुर्मूर्त्तेः ज्ञाने भवति. वलयाः तज्ज्ञानात्मकाः ते चेत् तत्र न प्रतिष्ठिताः, तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येद् इति पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं वलयोपयोगः. गरुडो हि कालात्मा, सः भगवत्पराक्रमेण प्रतिरुद्धः, अन्यथा भक्तानपि भक्षयेत्. विशेषेण नता या भगवन्माया, तस्याः पुत्रो गरुडः कालः. सैव श्रद्धा इति वैष्णवतन्त्रे. तस्य **अंसे** स्कन्धे, प्राणिनाम् अदृष्टे प्रवाहे वा, विन्यस्तो हस्तो येन. **इतरेण** इति वचनाद् भक्तानाम् अर्थे एको व्यापारः, लोकानां भ्रामणार्थे च अपरः इति. तद् आह **इतरेण धुनानम् अब्जम्** इति. **इतरेण** इति विशेषतो भगवत्सम्बन्धरहितानेव मोहयति इति ज्ञापितम्. **अब्जं** जगदात्मकं कमलं, भगवच्छब्दार्थं वा लीलाकमलम् [2]इतरेषु कम्पयति।।४०।।

कुण्डलादित्रयस्य विनियोगम् आह **विद्युत्क्षिपदि**ति.

विद्युत्क्षिपन् मकर-कुण्डल-मण्डनार्ह-गण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत् किरीटम्।
दोर्दण्ड-षण्डविवरे हरता परार्घ्य-हारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ।।४१।।

विद्युतमपि क्षिपती ये मकराकृते कुण्डले, तयोः मण्डनम् अर्हति यद् गण्डस्थलम्, ऊर्ध्वा नासिका च; ताभ्यां युक्तं मुखं यस्य. मणियुक्तं किरीटं यस्य

१.एतन्नाऽस्ति ग पुस्तके. २.'इतरेण' इति मां.१,२,३.

इति च. शिरो द्विधा वर्णितं, वृत्तरूपं [क]कोशस्थानरूपञ्च. साङ्ख्य-योगौ कुण्डले, **विद्युद्** मृत्युः, कपोलद्वयञ्च [ख]प्रेमप्रपत्ती. साङ्ख्ययोगौ तयोः अङ्गं, वैतृष्ण्ये भगवत्स्मरणे च उपयुज्येते. तौ चेद् मृत्युनिवारकौ भवतः तदैव अस्मिन् शास्त्रे उपयुक्तौ. मकरो हि जलग्राहः प्राकृतं शरीरादिकं ग्रसति. तथा अभिमानं शरीरञ्च साङ्ख्य-योगौ ग्रसतः. ताभ्यां कृतमण्डनस्य अप्राकृतरूपस्य योग्यं भवति गण्डस्थलम्. तादृशएव [ग]भक्तिप्रपत्ती उत्पद्येते. यतः सर्वदोषाभावो नासिका, सा चेद् ऊर्ध्वा भवति, तदा भक्तिमार्गः शोभते. औपनिषदं ज्ञानं शिरः, तत् साध्यं पारमेष्ठ्यं वा. तदपि मणियुक्तकिरीटयुक्तं, मणिः तत्र भगवत्स्थाने गच्छन्तो भक्ताः. ते चेत् तत्र न गच्छेयुः सत्यलोकस्य शोभैव न स्यात्. अतो मणिमत् किरीटं यद् मुकुटे स्थापयति, तेन भक्ताः तत्र प्रतिष्ठिताः भवन्ति. हारस्य प्रयोजनम् आह **दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्घ्यहारेण** इति. दोर्दण्डाः चत्वारः, तेषां षण्डं समूहः. तस्य विवरे मध्ये हरताः, हरति इति हरन्; मनोहरेण. त्रैलोक्यशोभां वा हरता, उपलक्षणे तृतीया. मुक्ताहारो मुक्ताः सर्वे हाराएव इति. ते हि स्वसंघातं हरन्ति, तेषां समूहो हारः. ते च अस्मिन् ब्रह्माण्डे परार्घ्याः. परं ब्रह्मणः आयुः, तद् अर्घ्यं मूल्यं येषाम्. ब्रह्मणः उत्पत्तिक्षणम् आरभ्य तत्समाप्तिपर्यन्तं ब्रह्माण्डान्तरे कृतपुण्यपुञ्जाः ये, ते परार्घ्याः. **परार्ध्ये**ति पाठे अस्मिन्नेव ब्रह्माण्डे पूर्वोक्तन्यायेन परार्द्धम् आयुः हरन्ति इति परार्द्ध्याः. ते च ते हाराः च इति. ते च भगवता महता प्रयत्नेन संरक्षिताः तेभ्यः परितो दोर्दण्डाः. अशक्यप्रतीकारदोषनिवृत्त्यर्थं पुनः विवरे स्थापिताः. [घ]दोषो दण्डत्वं, बाधकत्वेन समागतानां प्रहरणार्थं, नतु रक्षामात्रार्थत्वम्. एवं हारम् उक्त्वा कौस्तुभविनियोगम् आह **कन्धरा** कण्ठः, कं शिरो धारयति इति, [ङ]सुखधारकश्च. तद्गतेन कौस्तुभेनापि उपलक्षितः. कौ पृथिव्यां स्तोत्रेण भान्ति इति ये भगवद्भक्ताः मुक्ताः चैत्यस्य तत्त्वात्मकाः तेषां समूहः कौस्तुभम्. ते च आनन्दधारके योजिताः. कौस्तुभं चेद् भगवान् न स्थापयेद्, भक्तानां ब्रह्मानन्दो न स्यात्. **च**कारात् अन्यदपि कण्ठाभरणं लक्ष्यते, गोपिकादितत्त्वरूपम्. यथास्थित-**च**काराच्च वक्षस्थलेऽपि कौस्तुभस्य स्थितिः बोध्यते. तदा गोपिकादीनाम् अन्येषां वा

क. 'केशस्थानरूपम्' इति मां.१,२,३. ख.'प्रमेपतिपत्ती' ग.'भक्तिप्रतिपत्ती' इति मां.१,३. घ.'दोषाम्' इति मां.१,२,३. ङ.'सुखधारकत्वम्' इति मां.१,३.

भक्तानां जगत्प्रकाशकत्वं सिद्ध्यति ।।४१।।

एवम् आभरणादीनां विनियोगम् उक्त्वा अङ्गगतसौन्दर्यस्य माहात्म्यस्य च विनियोगम् आह **अत्र उपसृष्टम्** इति.

अत्रोपसृष्टम् इति चोत्स्मितमिन्दिरायाः स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तम् अङ्गं नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः।।४२।।

इन्दिरायाः उत्स्मितं सौन्दर्यगर्वो अत्र उपसृष्टं, वत्सइव स्तनपानार्थे भगवत्सौन्दर्यलेशप्राप्त्यर्थं प्रस्थापितम् इति अर्थः. **इति** इति समाप्तिसूचकं, हस्तेन दर्शयति च. त्रैलोक्यसौन्दर्यं च अत्र उपसृष्टं, **च**काराद् ब्रह्माण्डात् परभूतमपि. **स्वानां** भक्तानां निश्चयात्मिकया बुद्ध्या च यद् विशेषेण रचितं ध्यानादिना परिकल्पितम्. सौन्दर्यजनितगर्वः च उपसृष्टः*. सौन्दर्यमेव उपसृष्टं, गर्वो वा; ततोऽपि उत्कर्षं प्राप्स्यति इति. *ये पुनः लक्ष्म्या भगवति गर्वं प्रतिपादयन्ति, ते लक्ष्म्याः दोषमेव कथयन्ति इति उपेक्षणीयाः. शङ्कितमपि तद् इति भक्तैः कथम् एवं धिया क्रियेत. भगवत्सौन्दर्यप्राकट्यस्य अयं विनियोगः स्पष्टएव उक्तः. संस्थानविशेषस्य विनियोगम् आह **बहुसौष्ठवाढ्यम्** इति. **सौष्ठवम्** अवयवविन्यासप्रकारः. तच्च सौष्ठवं ब्रह्मणा निर्मितं कमलादिषु वर्तते. तद् यावद् ब्रह्मणा ज्ञायते तावत् सौष्ठवं तस्य. ततोऽपि अधिकं बहुसौष्ठवं, तेन च तद्रूपम् आढ्यम्. तादृशमपि सौष्ठवं पूर्णम् इति अर्थः. अनेन ब्रह्माण्डे अस्मिन् ब्रह्मनिर्मितातिरिक्ताअपि भगवदीयाः बहवः पदार्थाः भवन्ति इति सूचितम्, अन्यथा मूले तथा सौष्ठवं न प्रकाशितं स्यात्. [क]एतावद्दूरे सृष्टिपदार्थानाम् उपयोगइति न अधिकं वर्ण्यते. मूलत्वख्यापनाय माहात्म्यम् आह **मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तम् अङ्गम्** इति. मह्यम् इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी भगवत्स्वरूपस्य स्वफलत्वख्यापिका. राजसतामससात्त्विकानाम् आधिदैविकादिभेदभिन्नानां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अत्र उपसृष्टम् इत्यत्र. **च**कारस्य 'उत्स्मित'पदेन अन्वयम् अभिप्रेत्य आहुः *गर्वः च उपसृष्टः इति. **ये पुनः** इत्यादि. इदं न श्रीधरमतम् ''इन्दिरायाः उत्स्मितम्, अहमेव सर्वसौन्दर्यनिधिः इति अहङ्करणम्, अत्र भगवत्सौन्दर्ये उपसृष्टम् अस्तङ्गतम्'' इति व्याख्यानाद्, अतो अन्यस्य बोध्यम्.

क. 'एतावदेव' इति मां.१,३.

सर्वेषामेव भजनीयम् अङ्गम्. भजनीयम् इति वक्तव्ये **भजन्तम्** इति सफलं भजनं निरूपयति, **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते"**(भग.गीता४।११) इति वाक्यात्. **भजनीयम्** इति पाठस्तु स्पष्टः. सर्वेषां भजनीयरूपप्राकट्येन सर्वएव अनीश्वरवादाः निरस्ताः, अन्यथा प्राप्तमहाफलानां कथं भजनीयः स्याद्? मोक्षोपयोगिपदार्थाः च एते न भवन्ति, अधिकारिणां कथं भजनीयः स्यात्? सृष्टौ च कथनं विरुध्येत, नित्यं च ब्रह्मादीनां भगवद्भजनम्; अतो *मतान्तरव्यावृत्त्यर्थमेव भगवत्प्राकट्यम् इति सर्वेषां भगवद्भजनं सूचयति. तेन सनकादयो भगवन्तं दृष्ट्वा तथात्वं ज्ञातवन्तः इति **निरीक्ष्य नेमुः** इति उक्तम्. सर्वे विशेषाः तेषां दृष्टौ स्फुरिताइति नमनं कृतवन्तः. नमने प्राप्तं दोषं वारयति **नवितृप्तदृशः** इति. न विशेषेण तृप्ताः दृशो येषाम्. नमस्कारस्य दर्शनप्रतिबन्धकत्वाद् बाह्ये तेषां न रसः इति नमस्कारो ज्ञापयेत्, तद्व्यावृत्यर्थम् **अवितृप्तदृशः** इति उक्तम्. ननु तथापि साधनात् फलम् उत्कृष्टम् इति दर्शनं परित्यज्य कथं नेमुः? तत्र आह **मुदा** इति. सकृद् दर्शनेनैव पूर्णः आनन्दो गङ्गायां घटइव निमग्नः, अतो मुदैव नेमुः. मुदैव हि ते नामिताः, पूर्णानन्दाः चरणयोः पतिताः इति अर्थः. तथा दृष्टिः न तृप्ता इति तेषां तुच्छत्वं निराकृतम्. **कैः** शिरोभिः. शिरसा नमस्कारो ब्रह्मविदां ब्रह्मत्वसूचकः।।४२।।

एवं कृते भगवद्धर्माः प्रविशन्ति इति ज्ञापनार्थं तेषु भगवद्धर्माः प्रविष्टाः इति आह **तस्य अरविन्दनयनस्य** इति.

तस्यारविन्द–नयनस्य पदारविन्द–किञ्जल्क–मिश्रतुलसी–मकरन्द–वायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभम् अक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः।।४३।।

तेषां चित्ततन्वोः भगवच्चरणसम्बन्धिवायुः संक्षोभं कृतवान्, तच्च अयुक्तं, यतः ते अक्षरोपासकाः. आत्मरूपब्रह्मोपासकाः ते देहेन्द्रियान्तःकरणधर्माध्यासरहिताः. अतः तेषां न क्वापि क्षोभः. भक्तिरसस्तु न अस्त्येव. तथापि भगवत्सान्निध्याद् भगवदीयाः धर्माः यथा महादोषं दूरीकुर्वन्ति तथा अतिशयमपि आदधते. तत्र तेषु अतिशयाधाने संस्काराः उच्यन्ते **तस्य अरविन्दनयनस्य** इति. सहि प्रसिद्धः सर्वानेव स्वापेक्षितान् भक्तान् करोति, तथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

***मतान्तरव्यावृत्त्यर्थम्** इति. शिवभागवतशक्तिभागवतादिमतादिव्यावृत्त्यर्थम् ।।४२।।

एतेऽपि भगवदपेक्षिताः अनेन इच्छयैव ते भक्ताः कृताः इति ज्ञापितम्. किञ्च, **अरविन्दनयनस्य** इति. कमलनयनस्य दृष्ट्यैव ते संस्कृताः इति. अरविं द्यति इति रविव्यतिरिक्तं खण्डयति इति उपजीव्यातिरिक्तं धर्मं तेषामपि दूरीकरोति इति तेषां विरुद्धधर्मान् निवर्तयति. नयनं हि प्रापकं, [1]प्रापणरूपत्वात्. अतो दृष्ट्या बाधकाः धर्माः दूरीकृताः, प्रयोजकाश्च स्थापिताः इति उक्तम्. किञ्च, पदारविन्देति पादयोः स्पर्शः तेषु वृत्तः. पद्यते ज्ञायते इति पदं ज्ञानात्मकं, तत्स्पर्शे तेषां विशेषज्ञानमपि[2] गतं, वयम् आत्मविदएव इति आग्रहो निवृत्तः इति अर्थः. तदपि अरविन्दं स्वप्रकाशातिरिक्तम् आत्मनि दूरीकरोति इति ज्ञानधर्मो निरूपितः. तस्य किञ्जल्काः केसराः, खण्डशो दोषनिवर्तकाः, तैः औषधैरिव मिश्रो यो भक्तिनिष्ठ-भक्तत्वापादक-शरीरजनक-रजोमिश्रो वायुः घ्राणमार्गेण अन्तः-प्रविष्टः (स) स्थूलशरीरनिरपेक्षमेव मध्ये शरीरम् उत्पादयति. तदा चित्त-देहयोः पूर्वयोः अंशतो ग्रहणत्यागकरणात् संक्षोभो युक्तएव. गन्धस्य हि द्वारं नासिका, अतः तत्र गन्धस्य प्रतिबन्धो न जातः. अयं च गन्धः आधिदैविकः इति 'स्व'शब्दप्रयोगः, तेषां सर्वेषामेव साधनस्य तुल्यत्वात्. अतएव चतुःसनोऽपि प्रह्लादो भक्तो जातः. जयविजयगता भक्तिः चतुर्षु स्थापिता इति अर्थः. ज्ञानं च तेषां ताभ्यां दत्तम् इति ।।४३।।

ततो भक्तवत् ते प्रणामं कृतवन्तः इति आह **ते वा** इति.

ते वा अमुष्य वदनासित-पद्मकोशम् उद्वीक्ष्य सुन्दरतराधर-कुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयम् अङ्घ्रिद्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः।।४४।।

ते चत्वारोऽपि **वै** निश्चयेन भक्त्या व्याकुलिताः भगवदीयम् **अङ्घ्रिद्वन्द्वं निदध्युः**. भक्तिर्हि भगवत्सम्बन्धं सर्वतः प्रापयितुं सकृदेव सर्वं देहेन्द्रियादि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य इत्यत्र. **ज्ञापितम्** इति. 'तस्य' इति पदेन ज्ञापितम्. **अरविन्दे**त्यस्य निरुक्तिम् आहुः **अरविन्द्यति** इत्यादि. **उपजीव्यातिरिक्तं धर्मम्** इति. तेषाम् उपजीव्यः प्रकाशो ज्ञानात्मकः तद्व्यतिरिक्तम् इति अर्थः. **आधिदैविकः** इति. ''**घ्राणं च गन्धः**''(   ) इति वाक्याद् घ्राणेन्द्रियात्मकः।।४३।।

ते वा इत्यत्र. **सकृद्** इति. एकवारं, युगपदेव इति अर्थः. **तत्र** इति. क्षोभे

१.प्राणारूपत्वात् क. ख. घ. ङ. २.ज्ञानमपि ग, विशेषाज्ञानमपि ख.

क्षोभयति. तत्र ज्ञानादिना न [1]निर्वृतिः, अन्योन्यविरोधाद् न *समाधानम्, अतः केवलं सर्वसमाधानकर्तृ-भगवच्चरणारविन्दद्वन्द्वं निदध्युः. ध्यानात् पूर्वं [2]तेषाम् अनिर्वृतौ हेतुम् आह **अमुष्य** इति. स्वस्य भक्तत्वम् उत्पादितवतो वदनमेव असितपद्मकोशो नीलकमलमुकुलम्, उद्वीक्ष्य, लब्धाशिषो भूत्वा, अनुरागदृष्टिं प्राप्य, पुनः अवेक्ष्य; बहुधा नमस्काराः, बहुधा च मुखदर्शनं, माहात्म्यज्ञानं, स्वरूपसौन्दर्यञ्च अन्तःकरणं दृष्टिञ्च वशीचकार. जीवस्तु तदुभयानुरोधी पर्यायेण तयोः समाधानं कृतवान् तथापि तद् द्वयं न समाहितम्, उभयोः एकधासमाधानाभावाद् एकोपद्रवः सिद्धएव. [3]असितपद्मकोशम् इति अभूतोपमा. देशान्तरे तादृशकमलसम्भवः ऊर्ध्ववीक्षणे नयनस्य हेतुत्वार्थं तथा उक्तम्. *तद्धि न सर्वकृष्णम्. रूपतो ज्ञानतश्च अस्य तथात्वं भविष्यति इति ख्यापनार्थं 'पद्म'पदप्रयोगः. सजातीयाः जातीयपोषकाः इति 'कोश'पदेन तद्गतानां रक्षा सूचिता. उर्ध्ववीक्षणेन चरणयोः पतिताएव ते मुखारविन्दं पश्यन्ति इति उक्तम्. सुन्दरतरं यत् कुन्दपुष्पं, तद्वद् हासो यस्य. *इयमेव हि आशीः. *सुन्दरतरत्वेन पूर्वावस्थानिवारक-मायाप्रवृत्तावपि पूर्वावस्थाकृतसुख-निवृत्त्यभावः उक्तः. 'तरप्'प्रत्ययेन च आधिक्यम् उक्तं, ब्रह्मानन्दाद् भजनानन्दस्य महत्त्वात्. *सुन्दरतरम् अधरं वा. तदा तत्र परमानन्दाद् अधिकरसो लोभात्मकः स्थापितइति तद्रसस्पर्शी हासो गोपिकानामिव सुखदः. तस्य सुन्दरतरत्वम् आनन्दमूर्तेः अक्षरानन्दाद् भजनानन्दाच्च महान् आनन्दः इति ज्ञापयति, *अन्यथा केवलमोहो अनिष्टहेतुः स्यात्. कुन्दपुष्पसाम्यता भौतिकरागव्यावृत्त्यर्था. मोहोऽपि भक्त्यर्थमेव, न विषयार्थः. कुं पृथ्वीं द्यति खण्डयति इति कुन्दम्. एतादृशं प्रसादं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

***समाधानम्** इति. पक्षपातः. हेतुत्वं व्युत्पादयितुं तन्नेत्रभगवन्मुखयोः समानं धर्मम् आहुः **तद्धि** इत्यादि. तथाच, पोषणार्थम् उद्वीणम् इति अर्थः. **इयम्** इति. हासावगतप्रसादरूपा. **सुन्दर(तर)त्वेन** इति. हासस्य तथात्वेन. प्रह्लादस्य ऊतिलीलोपयोगित्वेन एतेषु अधिकाराभावाद् वक्ष्यमाणव्याख्यानस्य प्रकृतानुपयुक्तत्वेऽपि स्वरूपविचारेण आहुः **सुन्दरतरम् अधरं वा** इति. **अन्यथा** इति.

१.निवृत्तिः क. २.तेषामनिवृतौ क. ३.इव क. ख. घ. ङ. मां.१,२,३

प्राप्य पुनः अवेक्षणं स्वहृदये भगवच्चरणारविन्दाविर्भावार्थम्. अतएव तदीयम् अङ्घ्रिद्वयम् आविर्भावात् चित्ते निगृह्यते इति **निदध्युः**. 'द्वन्द्व'पदम् अवताराभिप्रायम्. साकारब्रह्मवादे न अन्यथासिद्धिः स्यात्. तस्य चरणस्य भक्तिमार्गसिद्धस्य सर्वपुरुषार्थ-दातृत्वज्ञापनार्थं **नखा**एव ये **अरुणमणयः** तेषाम् आ**श्रयणं** यत्र. ते हि चिन्तामणिरूपाः अरुणवर्णाः, अनुरागपूर्वकत्वात्. अनेन तेषां सर्वोऽपि मनोरथः पूर्णः इति सूचितम्।।४४।।

एवं तेषां भक्तकृत्यम् अन्तरुक्त्वा स्तोत्रादिलक्षणं बाह्यम् आहुः **पुंसाम्** इति.

पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गैः ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर् दर्शयानम् अनन्यसिद्धैः औत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ।।४५।।

भगवति स्तुतिः युक्तैव, नतु असद्गुणारोपभूता. ननु ज्ञात्वा हि भगद्गुणाः वक्तव्याः. भक्तैरेव च ज्ञायन्ते गुणाः. एते च पूर्वं न भक्ताः इति कथं गुणज्ञानम्? इति आशङ्क्य, भक्तत्वाभावेऽपि पूर्वम् एते योगिनः तत्र योगसिद्ध्यादिकं भगवता जातमिति, तेन मार्गेण तादृशं माहात्म्यं ज्ञायते इति वक्तुं योगोपयोगित्वेन भगवन्तं विशिनष्टि पञ्चभिः विशेषणैः. योगे प्रथमं ध्येयं रूपम्, अन्ते च योगसिद्धिप्रदं, मध्ये त्रीणि रूपाणि. निरन्तरध्यायेन तस्मिन् आदरः. तदा बहुमतं तद् भवति. ततो भगवत्साक्षात्कारः. तदा नयनाभिरामो भवति बहिः दर्शनं दत्त्वा. अन्तरपि स्वदेहान्तर्हृदये प्रादेशमात्रं द्वितीयस्कन्धोक्तं पुरुषं पश्यति, तदा तद् उक्तप्रकारेण फलं भवति. अवान्तरफलं च अणिमादिरूपं भवति इति तत्रैव उक्तम्. योगस्य बहुविधत्वात् तत्तत्फलदानार्थम् इदमेव रूपं ध्यायतः इति सर्वफलदातृत्वं तस्य ज्ञायते इति वक्तुं, नानाविधगतिं, मोक्षरूपां वा, **मृगयतां पुंसां ध्यानास्पदम्** इति उक्तम्. पुरुषाएव योगिनः इति **पुंसाम्** इति उक्तम्. बहुकालं योगं विधाय योगबलेन सार्वज्ञ्ये जाते प्राणिनां का गतिः? इति अपेक्षायां तन्निश्चयार्थमपि भगवान् ध्यायतः इति **मृगयताम्** इति उक्तम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तत्तदुपयोगिसौन्दर्याभावे. **अन्यथासिद्धिः** इति. पुनरुक्तिः।।४४।।

पुंसाम् इत्यत्र. **तत्रैव उक्तम्** इत्यन्तं विशेषतात्पर्यकथनं, तद् अग्रे व्याख्या।।४५।।

पुरुषरूपम् अन्तर्यामिरूपमेव, साक्षात् फलसाधकत्वेन तस्यैव उक्तत्वात्. बहुभ्यो अणिमाद्यष्टैश्वर्यं प्रयच्छन्नपि स्वयं रिक्तो न भवति इति विज्ञापनार्थम् **अनन्यसिद्धैः** इति उक्तम्. भगवतो अणिमादयो न अन्यत्र सिद्धाः, अतो दीयमानाअपि न अन्यत्र स्वतो गच्छन्ति, किन्तु अंशतएव. तत्र हेतुः **औत्पत्तिकैः** इति, नहि स्वाभाविकाः गच्छन्ति. **अष्टभोगाः** अणिमादयः. मनसा सह षड् ज्ञानेन्द्रियसुखानि, गुह्यवाग्भोगौ वा अष्टभोगाः. **अष्टभागैः** इत्यपि पाठे सएव अर्थः. **सम्यग् गृणनम्** अग्रे स्पष्टीभविष्यति।।४५।।

स्तोत्रम् आहुः पञ्चभिः **यो अन्तर्हितः** इति. तत्र प्रथमं भगवन्तं ब्रह्मत्वेन स्तुवन्तः शास्त्रार्थपरत्वं स्तुतिपरत्वं वा मा भवतु इति पूर्वदर्शनेन यो दृष्टः सएव अयम् इति प्रत्यभिज्ञां वदन्तः तस्य अन्तर्यामित्वं समर्थयन्ति **यो अन्तर्हितः** इति.

कुमाराः ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं सोऽद्यैव नो नयनमूलम् अनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः पित्राऽनुवर्णितरहा[1] भवद् उद्भवेन ।।४६।।

योगे लोके तथा भक्तो भवान् विख्यातमङ्गलः ।
सर्वात्मना वयं दासा लब्धं तत्र च यत् फलम् ।।१।।
एतावतैव तैः स्तोत्रं कृतं भक्त्याऽतिविह्वलैः ।
अपराधस्य करणाद् नाऽधिकं स्फुरितं हृदि ।।२।।

यः त्वं दुरात्मनां हृदि गतोऽपि अन्तर्हितः, सो अद्यैव नो अस्माकं नयनमूलं **नो राद्धो** न सिद्धः; किन्तु **यर्ह्येव कर्णविवरेण** हृदयं **गतः**, तदैव परावृत्तचक्षुषा दृष्टः इति **नयनमूलं** तदैव राद्धः. ब्रह्म प्रकारद्वयेन निश्चीयते, शास्त्रतो अनुभवतश्च. तत्र शास्त्रं दुष्टानां ब्रह्मसाक्षात्कारो न भवति इति आह,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यो अन्तर्हितः इत्यत्र. कारिकायाम्. **लोके** इति. सर्वलोकवन्द्ये वैकुण्ठलोके. **शास्त्रार्थपरत्वम्** इति. स्ववाक्यस्य शास्त्रार्थानुवादकत्वम्. **समर्थयन्ति** इति. हृदि-गतत्वकथनादिना समर्थयन्ति. **शास्त्रतो अनुभवतश्च** इति. ''**तं त्वौपनिषदम्**'' (बृहदा.उप.३।९।२६) इति ''**मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्**''(बृहदा.उप.४।४।१९) इति श्रुतेः तथा इति अर्थः. **शास्त्रम्** इति. ''**न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य**''(कठोप.२।३।९)

१.'रहो' इति पाठो बहुषु पुस्तकेषूपलभ्यते.

नतु सतां साक्षात्कारो भवति इति, तथा सति अनुवादकत्वं स्यात्. अतः उपनिषदाम् आत्मब्रह्मवाक्यरूपाणाम् अनधिकार्यसाक्षात्कारविषयप्रतिपादक-त्वम्. तदेव प्रथमम् अत्रापि आह **यः त्वं दुरात्मनां हृद्गतोऽपि अन्तर्हितः** इति. सः त्वमेव. अनेन शास्त्रप्रतिपाद्यो भगवानेव इति निरूपितम्. सएव हृदये प्रकाशते इति अनुभवम् आह **सो अद्यैव** इति. बहिरिन्द्रियविषयत्वेन[क] (...त्वे न) आत्मत्वं स्याद् इति इदमपि अस्माकं चक्षुः आत्मदर्शनाभ्यासवताम् आवृत्तमेवेति न बहिः दर्शनम् इति वक्तुं पूर्वदर्शनेन सह साजात्यं प्रतिपादयन्तः आहुः **अद्यैव न नयनमूलं राद्धः** इति. एतद्दर्शनस्य अप्रथमदर्शनत्वाद् अनादरएव, प्रथम-दर्शनस्यैव अनधिगतार्थज्ञानत्वेन आदरविषयत्वात्. भक्तिमार्गानुसारेणाऽपि अन्तःभगवत्साक्षात्कारो जातः इति वक्तुं **कर्णविवरेण गुहां गतः** इति उक्तम्, अन्यथा अन्तरेव तस्य आविर्भावः उक्तः स्यात्. ''**प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण**''(भाग.पुरा.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''**न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम्**''(कठोप.२।३।९) इति ''**न तं विदाथ**'' (ऋग्वेद १०।८२।७) इति, ''**न अयम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः**''(मुण्डकोप.३।२।४) इत्यादिश्रुतिरूपम्. ननु तर्हि ''**तमक्रतुं पश्य**(तं) (ति वीत)**शोकः**'' (महाना. उप.८।३) इत्यादिश्रुतीनां का गतिः इत्यतः आहुः **नतु सताम्** इत्यादि. **तथा सताम्** इत्यादि. तथा तत्र ''**धातुः प्रसादाद्**''(महानारायणोप.८।३) इति ''**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्**''(मुण्डकोप.३।२।३) इति साधनान्तरस्य श्रुत्यन्तरे कथनात् तत्रापि न सत्त्वमात्रेण साक्षात्कारकथनम् इति अर्थः. ननु को दोषः सत्त्वमात्रेण साक्षात्काराङ्गीकार इत्यतः आहुः **तथा सति** इत्यादि. **अनुवादकत्वम्** इति. ''**आत्मा वा रे द्रष्टव्यः**''(बृहदा.उप.२।४।५) ''**मनसैवा-(नु)द्रष्टव्यम्**'' (बृहदा. उप.४।४।१९) इत्यादीनां तथात्वम्. ननु स्वभावगोचरत्वप्रतिपादने कथं न अनुवादक(त्व)म् इत्यतः आहुः **इदम्** इत्यादि. **इदम्** इति. परोक्तेन प्रतीयमानम्. तथाच अत्रापि साधनद्वारकस्यैव अनुभवस्य कथनाद् न श्रुतीनाम् अनुवादकत्वम् इति अर्थः. तद् इदं सूचयन्ति **एतस्य** इत्यादिना. ननु अनुग्रहं विना आवृत्तचक्षुष्ट्वमपि न ईदृग्दर्शनप्रयोजक(त्व)म् इत्यतः आहुः **भक्ती**त्यादि. **अन्यथा** इति. अनुग्रहसहकारित्वस्य अविवक्षितत्वे. ननु एवं कथनेन कथं भक्तिमार्गानुसारावगमः

क. 'बहिरिन्द्रियविषयत्वे अनात्मत्वम्' इति मां.१,२,३.

२।८।५) इतितु भगवच्छास्त्रम्. पूर्वमपि वयं भवदीयाएव, अन्यथा अस्मत्पिता ब्रह्मा भवद्रहस्यम् अस्मासु न वदेत्. नच ब्रह्मा शास्त्राधिकारं न जानाति इति वक्तव्यं, यतः तव साक्षाद् औरसः पुत्रः. अतः **"स्वानां भावसरोरुहम्"**(तत्रैव) इति न विरोधः।।४६।।

एवं भगवन्तं परब्रह्मत्वेन स्तुत्वा, आरोपेण एवं कथनम् इति आशङ्कां व्यावर्तयन्ति **तं त्वा विदाम** इति.

तं त्वा विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तम् एषाम् ।
यत् तऽनुतापविदितैर् दृढभक्तियोगैर् उद्ग्रन्थयो हृदि विदुर् मुनयो विरागाः ।।४७।।

तमेव परब्रह्मरूपं **त्वां विदामः**. अन्यथा ज्ञात्वा अन्यथाकथनार्थम् उत्प्रेक्षा भवति; तथा प्रकृते न अस्ति, किन्तु त्वां **परमात्मतत्त्वमेव** जानीमः. एते हि साङ्ख्यानुसारिणः, एतेषां 'तत्त्व'पदप्रयोगः सर्वत्र. तत्त्वं सहजं रूपम्. तत्र तत्त्वेषु आत्माऽपि एकं तत्त्वम्. तत्र तेषामपि आत्मनः त्रैविध्यम्. अस्मदादिजीवाः अंशप्रायाः, तेऽपि आत्मानः इति उच्यन्ते. यः च प्रकृत्यधिष्ठाता मुख्यः, सोऽपि उच्यते पञ्चविंशतितत्त्वेषु परः श्रेष्ठः. ततोऽपि उत्तमो असङ्गोदासीनः परमात्मा, सएव प्राप्यइति तं त्वां जानीमः इति अर्थः. ननु तस्य स्वप्रकाशत्वम् आत्मवृत्तिवेद्यत्वं वा सम्भवति, नतु चक्षुर्विषयत्वम् इति आशङ्क्य तन्मतानुसारेण परिदृश्यमानत्वं समर्थयन्ति **सत्त्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तम् एषाम्** इति. इदानीं वैकुण्ठे स्थितानाम् एषां भक्तानां प्रीत्युत्पादनार्थं शुद्धं सत्त्वं पुरुषरूपं कृत्वा तिष्ठसि इति अर्थः. असङ्गोदासीनएव स्वभक्तानुरोधेन तथा करोति, अन्यथा तस्य फलत्वं शास्त्रार्थत्वञ्च न स्यात्. किञ्च, यदि भगवान् सत्त्वाविर्भावं न कुर्यात्, तदा ज्ञानमपि न सिद्धेद् इति आह **यत् ते अनुतापविदितैः** इति. यदा जीवात्मा सञ्चरन् बहुकालं बहून् क्लेशान् प्राप्नोति, तदा भगवतः कृपा उत्पद्यते, अयं स्वानन्दानुभवयोग्यः क्लेशं प्राप्नोति इति. सः क्लेशो भगवतैव जातः इति कृपानुतापरूपेण निरूप्यते, अन्यथा लौकिकाः योगप्रकाराः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति आहुः **प्रविष्टः** इत्यादि. तथाच, भगवच्छास्त्रानुसारात् तदवगमः इति अर्थः।।४६।।

तं त्वा विदाम इत्यत्र, **एते हि साङ्ख्यानुसारिणः** इति. हंसगीतायां तथा सिद्धत्वात् तथा।।४७।।

लौकिकबुद्धिगम्याः न भवन्ति इति भगवत्कृपयैव तादृशयोगमार्गाणां परिज्ञानम्. तएव दृढाः भवन्ति, भक्तिप्रधानाश्च. भक्तिमार्गसिद्धयोगाः वा. भगवतः सत्वाविर्भावएव एतद् भवति. किञ्च **उद्ग्रन्थयो**ऽपि कृपयैव भवन्ति. अहङ्कारग्रन्थिः रजस्तमोभ्यां दृढो भवति, तद्भगवत्सत्वप्राकट्येनैव शिथिलो भवति इति. किञ्च, मुनयोऽपि तेनैव भवन्ति, विरागाः च. भक्तियोगैश्च वेदनं न केवलैः किन्तु भगवत्सत्त्वसहितैरेव. अतः सर्वोपकारित्वात् सत्त्वप्राकट्यम् इति अर्थः।।४७।।

एवं [क]सन्मार्गानुसारेण सत्त्वरूपम् एतद् इति निरूप्य भक्तिमार्गानुसारेण तद्रूपं परमपुरुषार्थरूपमेव इति आहुः **न आत्यन्तिकम्** इति.

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः।।४८।।

हे **अङ्ग! ये त्वद् अङ्घ्रिशरणाः ते आत्यन्तिकमपि न विगणयन्ति.** निवृत्तसजातीयस्य संसारस्य पुनः तत्र आत्मनि अनुत्पाद इति मोक्षः आत्यन्तिकः उच्यते. सोऽपि स्वकृतसाधनसाध्यो न भवति, किन्तु भगवान् प्रसन्नः सिद्धवत्कारेण तं प्रयच्छति. तादृशं ते न गृह्णन्ति इति दूरापास्तं, यतो **विगणयन्त्यपि न**. ननु भक्ताः भगवत्प्रसादं कथं न गणयेयुः? तत्र आह **विगणयन्ति** इति. गणयन्ति, परं यथा भक्तिं विशेषाकारेण प्रसादत्वेन गणयन्ति, तथा आत्यन्तिकं न गणयन्ति इति अर्थः. अत्र अगणना न अवगणना, किन्तु भगवत्प्रसादेषु गण्यमानेषु न आन्तरीयकमिति तद्गणनां न कुर्वन्ति. यत्र मोक्षस्यैव एषा व्यवस्था, तत्र **किन्तु अन्यत्**. 'तु'शब्दो विषयासक्तिपक्षं व्यावर्त्तयति, अत्यन्तविषयासक्ताः मोक्षं न मन्यन्ते इति. ननु भक्त्युपयोगिपदार्थाः भगवत्सेवौपयिकाः भक्तैः अपेक्ष्यन्तएव, कथं तेषाम् अगणना? इति आशङ्क्य आह **अन्यद्** इति. अन्यद् भगवत्सेवानौपयिकम्. परम्परोपयोग्यपि न भवति इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न आत्यन्तिकम् इत्यत्र. किम् आत्यन्तिकम् इति अपेक्षायां तत्स्वरूपम् आहुः **निवृत्ते**त्यादि. **कथं न गणयेयुः** इति. ''**अह्न्यापृतार्तकरणाः**'' (भाग.पुरा. ३।९।१०) इत्यत्र प्रसादवैमुख्ये दोषस्य दर्शितत्वात् कथं न गणयेयुः. **तेषाम्** इति. मोक्षाद् अन्येषाम्. **अङ्गभावाद्** इति. विषयत्वेन अङ्गभावात्. **तेषाम्** इति.

क. 'तन्मार्गानुसारेण' इति मां.१,३.

विज्ञापनार्थं विशेषणान्तरम् आह **अर्पितभयम्** इति. **भयं** मृत्युः. भगवदीय-पदार्थानाम् इदमेव निदर्शनं, यद् भयजनकं न भवति, न वा नश्वरम्. तत्र हेतुः **भ्रुवः उन्नयैः ते** इति. **ते** भगवतो या भ्रूः सएव कालः, तस्य ऊर्ध्वं नयनं सर्वप्रतीकारातिक्रमेण कार्यसाधनं, नहि भगवान् स्वाभिप्रेतान् विषयान् तथा करोति. मोक्षस्य अगणनायाम् उपपत्तिम् आह **ये अङ्ग!** इति. **अङ्ग!** इति सम्बोधनं श्रवणादिभावे भगवतः तुल्यतया कोमलसम्बोधनप्रतिपादकं, तादृशभक्तेः अङ्गभावाद् वा. अनेनाऽपि मोक्षस्य अगणना निरूपिता, मोक्षदाता भगवानेव यस्याम् अङ्गम् इति. तेषां सर्वामेव सामग्रीं मोक्षादपि अधिकाम् आह. तत्र तेषाम् आदौ गृहं निरूप्यते **त्वद् अङ्घ्रिशरणाः** इति. तव अङ्घ्रिद्वयमेव तेषां शरणं, रक्षकं वा. एकत्र आधारत्वम्, अपरत्र नियोज्यत्वम्. यत् चरणप्रसादलेशरूपाः सर्वे मोक्षादयः. भगवद्भक्तिः स्वतन्त्रा सप्तविधा, उत्तरोत्तराधिका च. तत्र प्रथमकक्षायामेव स्थिताः न गणयन्ति, किमुत चरमकक्षायां स्थिताः! इति सूचयितुम् आह **भवतः कथायाः** इति. ये कथायाः रसज्ञाः. भगवदीयो रसः उभयत्र प्रतिष्ठितः, रूपलीलायां नामलीलायाञ्च. तत्र रूपलीलायाम् आसक्ताः भगवदनुरोधमपि कुर्वन्ति, अन्यथा सेवायाः कुर्तुम् अशक्यत्वात्. अतो अत्र कथारसएव निरूप्यते. कथारसो अनुभवेनैव ज्ञायते इति **रसज्ञाः** इति उक्तम्. यथा कामादिषु हृदये विद्यमानेष्वेव सत्सु कामिन्यादिनामरूपरसाः अनुभूयन्ते, नापि रसास्वादनव्यतिरेकेण किञ्चिद् अन्यत् तादृशं प्रमाणम् अस्ति, न वा अधिकारिणि कामाद्यभावे सः रसः स्फुरति, रसानाम् अधिकारिणं प्रत्येव स्फुरणनियमात्. अतो रसज्ञाएव निरूपिताः. सच अधिकारः शास्त्रानुभवाभ्यां प्रेमज्ञानाभ्यामेव भवति. रसान्तराविष्टचित्तानाम् अत्र रसो न उत्पत्स्यते इति तद् व्यावृत्त्यर्थं भगवतो विशेषणम् आह **कीर्तन्यतीर्थयशसः** इति. कथा हि यशः प्रतिपादिका. यशो हि, सर्वेषां भगवतश्च श्रवणे रसजनकं भवति. स्वाभाविको अन्यो रसः प्रथमरसासक्तिं वारयति इति अनुभवसिद्धम्. विशेषाकारेणाऽपि पूर्वरसनिवर्त्तकम् इति विशेषणद्वयं,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भक्तानाम् **अपरत्र** इति. रक्षकत्वे. **सप्तविधा** इति. दास्यपर्यन्ता. एतेषां दास्यपर्यन्तमेव आगतत्वात्. **तादृशम्** इति. अनुभवजनकम्. **सः** इति. रसज्ञानुकूलः **स्वाभाविकः** इति. स्वभावतएव रसात्मकः.

कीर्तन्यं तीर्थरूपम् इति. कीर्तनीयं तदेव भवति कीर्तयितुः येन रसो जनितो भवेत्, शास्त्रतो वा अनुभवतो वा. अनुभवतो रसजनकौ अर्थकामौ, शास्त्रतो धर्ममोक्षौ. यत् सर्वानुगुणं तत् कीर्तनीयं, तल्लोके न अस्तीति रसचतुष्टयप्रतिपादकं भगवद्यशएव इति 'कीर्तन्य'पदेन उक्तम्. तीर्थं हि द्विविधं : गुरुरूपं जलरूपञ्च, बाह्याभ्यन्तरोपकारजननभेदेन निरूपितम्. सर्वपुरुषार्थाभीप्सुः तद् उभयं सेवते विशेषसाधनासमर्थः. स्थितिनिर्वाहके च ते. अतो मरणान्तं तत्र स्थितौ सुखेनैव पुरुषार्थो भवति इति. यत्र क्वाऽपि पुरुषार्थे आसक्तो भगवद्यशएव शृणुयात् तीर्थरूपत्वाद् इति अर्थः. अत्र च स्वाभाविकम् अधिकारसूचकं विशेषणम् आह **कुशलाः** इति. नैपुण्यं बुद्धितीक्ष्णता च अपेक्ष्यते इति अर्थः।।४८।।

एवं भक्तिमार्गानुसारेण भगवन्तं स्तुत्वा स्वस्य अपराधाभावाय स्वदोषं कीर्तयन्ति [क]शपथप्रकारेण **कामं भवः** इति.

कामं भवः स्ववृजिनैर् निरयेषु नः स्तात् चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत ।
वाचस्तु नस्तुलसिवद् यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः।।४९।।

जयविजयौ अस्माभिः व्याजेन शप्तौ इति पक्षो न अस्ति, किन्तु भगवद्दर्शनलालसतया; अन्यथा अस्माकम् अनिष्टं भवतु इति आहुः **कामं भवः** इति. **स्ववृजिनैः** स्वकृतपापैः. नियतदुःखदं पापं 'वृजिनम्' इति उच्यते, नियमेन दुःखदं वा. अतो यः परस्मै दुःखं प्रयच्छति, सहि स्वयमपि दुःखं प्राप्नोति. अतो **नो** अस्माकं **भवो निरयेषु स्तात्,** कामादीनां निरयद्वारत्वश्रवणात्. ''**पापीयसः त्रयः**''(भाग.पुरा.३।१५।३४) इति वाक्यात् तयोः कामादिदानम्. **निरयेषु** इति बहुवचनं न त्रित्वपरं, देशादिविशेषे दानस्य अधिकफल-जनकत्वात्. **स्ताद्** इति प्रार्थनायां लोट्. अङ्गीकारे अनङ्गीकरे च उभयथा हेतुम् आह **चेतो अलिवद्** इति. यथा भ्रमरो रसाविष्टः कालमपि न गणयति, रात्रावपि तत्र स्थितो बद्धो भवति, तथा **नः चेतः ते पदयोः यदि रमेत,** तदा देहस्य नरके स्थितिः न अस्माकं बाधिका. किञ्च, तदेव अस्माकं निरये वासो भविष्यति, अलिवद् यदि पदयोः रतिः भवेत्. सहि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ते इति. उभे तीर्थे।।४८।।

।।इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे पञ्चदशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

क. 'पृथक्प्रकारेण' इति मां.१,३.

मधुलोभेन पुष्पपीडाम् अविगणय्य मधु पिबति तथा वयमपि फलार्थिनः चेत् दर्शनार्थं द्वारपालयोः अपराधं कृतवन्तः, अन्यथा मा भवतु इति अर्थः. एवं मानसम् उक्त्वा वाचनिकम् आहुः **वाचस्तु** इति. यदि नो वाचः **तुलसीवत्.** स्वरूपगन्धादिरहिताऽपि चरणारविन्दे शोभते यथा तुलसी, तथा वाचोऽपि पदचातुर्याद्यनपेक्षा भगवद्गुणप्रतिपादकत्वेनैव यदि शोभायुक्ताः स्युः, तदापि नरके वासो न बाधकः. 'तु'शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति, तेन न समुच्चयः. किञ्च, यथा तुलसी परप्रेरणया चरणाविष्टा भवति, एवम् अन्यप्रेरणया भगवद्गुणाः अस्मद् वाचि निविष्टाः भवेयुः तदा नरको भवतु. यदा स्वतएव निविष्टाः चेत् तदा न भविष्यति इति अर्थः. कायिकम् आह **पूर्येत** इति. ते गुणसमूहैः गुणानाम् अवान्तरजातिभेदैः वा यदि **कर्णरन्ध्रः पूर्येत.** अलम् इति मन्यते, सर्वदा वा पूरितमेव तिष्ठति, निरन्तरश्रवणेन यथा अन्यद् न प्रविशेत् तथा पूर्ववद् इति अर्थः।।४९।।

एवं स्वापराधे स्वयमेव स्वदण्डम् अनूद्य समागतानां किम् एतदेव फलम्? इति शङ्कायां समागमनफलं जातम् इति आहुः **प्रादुश्चकर्थ** इति.

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं तेनेश! निर्वृतिम् अवापुरलं दृशो नः ।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः ।।५०।।

यद् इदं रूपं, हे पुरुहूत! प्रादुश्चकर्थ, तेन प्रादुर्भूतरूपेण **दृशो निर्वृतिम् अवापुः.** दृष्टीनां परमसंतोषो जातः इति अर्थः. एवं सुखदातुः प्रत्युपकारोऽपि नमस्कारेणैव इति आह **तस्मा इदम्** इति. **तस्मै भगवते इदं नम इद्विधेम.** नहि शास्त्रानुसारेण कर्तुं शक्यते, अतो अनुकरणमात्रमिति **इद्** इति उक्तम्. 'इद्'इति अव्ययम् इवार्थे. **पुरुहूत** इति यज्ञात्मकता, पुरुभिः हूयते इति, पुरुधा वा इन्द्रादिरूपेण हूयते इति. स्वार्थे प्रादुर्भावः आगमनमेव, अन्तःकरणेतु सुखं न जातम् इति भावः. शापदानेन चित्ते ग्लान्युत्पत्तेः. नच एतत् फलम् अल्पम् इति मन्तव्यं, यतो **अनात्मनां भवान् दुरुदयः प्रतीतो** दृष्टः. न विद्यते आत्मा येषाम्. यैः आत्मैव नाशितो बहिर्मुखत्वादिभिः तेषां दुरुदयः, दुःखार्थम् अनुदयो वा. **इदम्** इति प्रदर्शयन्तो नमस्कुर्वन्ति. भगवान् उपकारकर्ता इति आश्चर्यार्थं **तस्मै भगवते** इति उक्तम्. **प्रतीतः** इति प्रमाणम्।।५०।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षित–विरचितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चदशाध्यायविवरणम् ।।

षोडशाध्यायविवरणम्

मुनिमानससन्तोषः ततः स्तोत्रं तथाविधम् ।
शापस्थापननिर्याणे षोडशे विनिरूप्यते ।।१।।
भक्तानां तु कृतिः सत्या [क]वाक् सत्या ब्रह्मवादिनाम् ।
मनो भगवतः सत्यम् इत्यध्यायविनिर्णयः ।।२।।
मनसः प्रबलत्वाद् हि तेषां नान्यविरोधिता ।
पूर्वयोर् अनभिप्रेतं तृतीयादेव सुस्थिरात् ।।
[ख]अतो भगवतः सर्गलीलायां दुर्बलार(ऽव)तिः।।३।।

एवं पूर्वाध्याये अर्द्धतुष्टानां मुनीनां स्तोत्रम् उक्तम्. तयोः पूर्णसन्तोषार्थं भगवान् ब्राह्मणस्तोत्रं कृतवान् इति आह **इति तद्गुणताम्** इति.

ब्रह्मा उवाच[1]

इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः।।१।।

पूर्वोक्तप्रकारेण **गृणतां तेषां** भीतानां **मुनीनां** शास्त्रानुसारिणां वचनं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ षोडशाध्यायं व्याख्यातुकामाः सङ्गतेः पूर्वनिरूपितत्वाद् अध्यायार्थम् आहुः **मुनिमानसे**त्यादि. **विनिरूप्यते** इति. एषः पदार्थसङ्घो लोभकृतभक्तिनाश-शेषतया भगवदवतारम् उक्तोत्पत्योः प्रयोजकभूतो निरूप्यते इति अर्थः.

तेन सिद्धम् आहुः **भक्तानाम्** इत्यादि. सत्यत्वम् अत्र विषयाव्यभिचारित्वम्. तत्रापि भगवन्मनःसत्यत्वमेव मुख्यतया प्रतिपाद्यम् इति आहुः **मनसः** इत्यादि. तेषां भक्तानां ब्रह्मवादिनाञ्च मनसः प्रबलत्वाद् **न अन्यविरोधिता,** न भगवन्मनो-विरोधित्वम्. तत्र गमकं **पूर्वयोः** इत्यादि. तथाच, भगवन्मनसो विषयाव्यभिचा-रित्वादेव देहेन्द्रियासुहीनानामपि तदानीं मनःप्रभृतिसम्बन्ध इति सर्गोपोद्घातत्वम् अस्य इति अर्थः. अत्र मूलस्थं गमकम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अवतिः** स्थितिलीला. तथाच, ''**विप्रशापं समर्थोपि**''(भाग.पुरा.११।६।४२) ''**हन्तुं नेच्छे**''(भाग.पुरा.३। १६।२९) ''**एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति**''(भाग.पुरा.३।१६।३६) इति वाक्याभ्यां

क.'वचनं ब्रह्मवादिनाम्' इति मां.१,३. 'सत्या वाक्' इति मां.२. ख.'एवम्' इति मां.१,२,३.
ग.श्रीशुक उवाच. इति पाठो बहुषु पुस्तकेषु उपलभ्यते, मां.२.

प्रतिनन्द्य. 'तच्छ'ब्देन वचनं प्राप्यते. प्रतिनन्दनं बहिरेव कृतं, प्रतिनन्दनस्यैव अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्. **इदं** वक्ष्यमाणं **जगाद.** ननु किमिति एवं जगाद, यतो भक्तानां दुःखं भवति. तत्र आह **विकुण्ठनिलयः**[१] इति. विकुण्ठस्थानं निलयो यस्य. गृहागतानां सन्तोषः कर्तव्यः इति. ननु एवं सति भक्ताः पीडिताः भवेयुः इति आशङ्क्य आह **विभुः** इति. स्वभृत्यान् सर्वप्रकारेणापि मोचयितुं समर्थः इति अर्थः।।१।।

प्रथमतः सेवकयोः अपराधं समर्थयति **एतौ** इति.

श्रीभगवान् उवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद् वो बह्वक्रान्ताम् अतिक्रमम् ।।२।।

एतौ जयविजयौ, **तौ** पूर्वकल्पे मधुकैटभौ **मह्यं** वरदानाद् मदुत्सङ्गे मृतौ इति मया वैकुण्ठे समानीतौ. तदानीं बहूनां सेवकानां विद्यमानत्वात् सन्देह-निवृत्त्यर्थं नाम गृह्णाति **जयो विजय एव च** इति. मदर्थं यो जयः सः एकः, 'जय'नामा च. इन्द्रियादीनाम् अन्यार्थं जयो ज्ञानमार्गे, मदर्थं जयो भक्तिमार्गे, अन्तःकरणजयः इति अर्थः. विविधो जयः इन्द्रियादीनां द्वितीयः. अतएव एतौ मम **पार्षदौ** पर्षदि सभायां योग्यौ. यथा अन्तःकरणे तज्जयो भगवत्स्थितौ हेतुः भवति तथा वैकुण्ठस्थितौ एतावेव हेतुभूतौ. अतएव एतयोः उत्पत्तिविमर्शनेन अपराधकरणं युक्तमेव. नहि साक्षाद् मनसा भगवान् गन्तुं शक्यः, किन्तु जयेनैव शक्यः इति भगवतः आनन्दरूपस्य सहजसुखत्वेन मनसः प्रवृत्तियोग्यत्वेऽपि जयप्रतिबन्धाद् न भगवद्गमनम्. अतएव **मां कदर्थीकृत्य,** व्यवहारेऽपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथा अवसीयते इति अर्थः।।१।।

एतौ तौ इत्यत्र. इन्द्रियादीनाम् इत्यादिना जय-विजयस्वरूपनिरुक्त्या पूर्वदत्तस्वरूपं विवृतम् अस्ति इति प्रतिभाति. तथाच, यथा विष्वक्सेनादयः तन्त्राद्यात्मकाः, तथा युवाम् उक्तविध-जयविजयात्मकौ भूयास्ताम् इति. **अतएव** इति. वरदानादेव. **गन्तुम्** इति. प्राप्तुम्. **अतएव** इति. आगन्तुकानां मनःप्रतिबन्धादेव. **अक्रान्ताम्.** अकार्ष्टाम्।।२।।

१.वैकुण्ठनिलय इति. वैकुण्ठस्थानं. ग. घ.

ब्रह्मण्यत्वादिमद्धर्मान् दूरीकृत्य, **वो** युष्माकम् **अतिक्रमं बह्वक्रान्ताम्** ।।२।।

अतएव एतयोः दण्डः उचितः इति आह **यस्तु एतयोः** इति.

यस्त्वेतयोर् धृतो दण्डो भवद्भिर् माम् अनुव्रतैः ।

स एवाऽनुमतोऽस्माभिः मुनयो देवहेलनात् ।।३।।

'तु'शब्दो दण्डान्तरव्यावृत्यर्थः. यो जन्मत्रयात्मको दण्डः सएव अनुमतो **अस्माभिः. भवद्भिः** मया च इति सेवकसहितेन मया वा. उभावपि दण्डनीयौ इति **एतयोः** इति उक्तम्. **अनुव्रताः** सधर्माः. मत्कार्यं कृतम् इति, मम अत्र महान् सन्तोषः इति, तेषां कृत्यभिनन्दनम्. **मुनयो** इति सम्बोधनं काकतालीय-करणव्यावृत्यर्थम्, अभिप्रायज्ञानार्थं वा. ननु एतयोः को अपराधः? द्वाररक्षातु स्वधर्मः! इति. तत्र आह **देवहेलनाद्** इति. अस्मद् देवाः ब्राह्मणाः, परोक्षदेवो यज्ञः, प्रत्यक्षदेवो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुः इति. **सएव** इति एवकारेण इदानीम् अन्यो न वक्तव्यः इति सूचितम् ।।३।।

एवम् अपराधदण्डौ निरूप्य, सेवकापराधं दूरीकृत्य, दण्डापराधं स्वापराधञ्च दूरीकरोति प्रार्थनया **तद् वः प्रसादयामि** इति.

तद् वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।

तद् हि ह्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुम्भिर् असत्कृतम् ।।४।।

युष्मान् **अद्य प्रसादयामि**, यतो अपराधो जातः इति. अपराधो हि महति अल्पस्य भवति, प्रकृतेतु कथम् अपराधः? इति चेत् तत्र आह **ब्रह्म दैवं परम्** इति. मम **दैवं** देवता, **ब्रह्म** ब्राह्मणजातिः. **परम्** इति विष्णवपेक्षयाऽपि. आधिदैविको विष्णुः देवो भवति, ''**विष्णुर्वा अकामयत, पुण्यं श्लोकं शृण्वीय न मा पापाकीर्तिः आगच्छेद्**''(तैत्ति.ब्राह्म.३।१।५।७) इति. ''**सः एतं विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं त्रिकपालं निरवपद्**''(तैत्ति.ब्राह्म.३।१।५।७) इति श्रुतेः. तद् व्यावृत्यर्थम् आह **परम्** इति. प्रत्यक्षश्रुतौ देवापेक्षया ब्राह्मणानाम् उत्कर्षविधानाद्, ''**एते वै देवाः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यस्तु इत्यत्र. **देवहेलनाद्** इत्यस्य ब्राह्मण-यज्ञ-विष्णूनां हेलनाद् इति अर्थो बोध्यः इति एतदर्थम् आहुः **अस्मदि**त्यादि।।३।।

तद्वा इत्यत्र. **दण्डापराधम्** इति. दण्डकरणापराधम्. अत्र विवक्षितस्य विष्णोः स्वरूपम् आहुः **आधिदैविकः** इत्यादि. तथाच यज्ञाधिष्ठाता भगवदंशो यः

प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः''(   ) इति. तद् आह 'हि'शब्देन. ननु भवतः को अपराधः? तत्र आह **तद्धि हि आत्मकृतं मन्ये** इति. यत् **स्वपुम्भिः** स्वसेवकैः **असत्कृतम्,** तद् अहम् **आत्मकृतमेव मन्ये. हि** युक्तो अयम् अर्थः, भृत्यकृताएव स्वामिकृताः भवन्ति इति, अन्यथा भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो न स्याद्. अनेन मयैव भवन्तो निवारिताः इत्यपि उक्तम्. कृतमपि तद् युक्तमेव, द्वारपालकधर्मत्वात्. अतएव **हि** द्वयम् अन्योन्यं हेतुभूतम्. यद्यपि एतादृशे लोकः स्वाम्यपराधं न मन्यते, तथापि अहं मन्ये; यतः ते स्वपुरुषाः।।४।।

प्रसादः च अत्र सर्वथा कर्तव्यः, अन्यथा महद् अनिष्टं स्याद् इति आह **यन्नामानि** इति.

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ।।५।।

महतामपि लोकापवादाद् भयं भवति. अतएव **भृत्ये कृतागसि लोको** यस्य स्वामिनो नाम गृह्णाति. **नामानि** इति बहुवचनं तस्य [१]सर्वसम्बन्धेन अधिक्षेपार्थं सर्वाण्येव नामानि गृह्णाति. **च**कारात् तस्य गुणान् कर्माणि च निन्दार्थम् उद्घाटयति. किम् अतो यदि एवम्? अतः आह **सो असाधुवादः** इति. सः लोकैः उच्चार्यमाणो असाधुवादः. असाधुत्वेन कीर्त्तनम् अपकीर्तिः इति यावत्. **तत्कीर्तिं हन्ति,** यद्विषयकः स्वयम्. ननु विद्यमानां कीर्तिं प्रसिद्धां कथं हन्याद्? इति आशङ्क्य दृष्टान्तेन समर्थयति **हन्ति त्वचम्** इति. **आमयो** रोगः श्वित्रादिः, यथा शरीरे विद्यमानएव तस्य त्वचं हन्ति, स्वस्य रूपमेव प्रकटयति।।५।।

ननु ईश्वरस्य सर्वनियन्तुः दासानुदासस्य तुच्छस्य अन्तःप्रवेशाभावे को वा अपराधः? लोको हि तु, महाराजगृहे क्षुद्राणां प्रवेशो न अस्ति इति, कथम् अपकीर्तिं वदेद्? इति आशङ्क्य आह **यस्य** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः विष्णुः इति अर्थः. **द्वयम्** इति. स्वकृतं स्वसेवककृतञ्च।।४।।

यन्नामानि इत्यत्र. **तत्कीर्तिम्** इत्यादि. यद्विषयको अपराधः तद्विषयिणीं कीर्तिम्।।५।।

---

१. 'सर्वसम्बन्धिनः' क.ग.ङ. 'सम्बन्धिनः' इति मां.२

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगद् आश्वपचाद् विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिः छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्।।६।

उपजीव्यत्वाद् ब्राह्मणातिक्रमे मम अपकीर्तिं वदेदेव. उपजीव्यत्वं च मम कीर्तिः तदधीनाः इति. तदेव आह **यस्य** मम **अमृतम् अमलं** यद् **यशः** तस्य **श्रवणावगाहः आ श्वपचात्** श्वपचं मर्यादीकृत्य, **जगदेव** सर्वं **पुनाति**. एवं जगत्पवित्रकीर्तित्वाद् अहं **विकुण्ठः** कुण्ठरहितः. कस्मिन्नपि अंशे दोषरहितः इति अर्थः. एतादृशोऽपि अहं पुरुषोत्तमो **भवद्भ्यएव उपलब्धा सुतीर्थ**रूपा **कीर्तिः** यस्य तादृशः. **यशः** पराक्रमजन्यं, **कीर्तिः** सदाचारजन्या. मम यशो जगति पावित्र्यमपि सम्पादयति, मन्नाम्ना दुष्टरूपपापनिग्रहात्. पराक्रमो हि दोष-निवारणरूपः. सः चेद् दोषः सहजोऽपि भवेत् सोऽपि मद् भयाद् नश्येद्, अतः चण्डालदेहे उत्पादकोऽपि दोषो नश्यति. अतो वैकुण्ठस्थानं यशःपुञ्जेन विराजमानं मम सामर्थ्यसूचकं वर्तते. तथापि कीर्तिः, साधवः चेत् कीर्त्तयेयुः, तदैव भवति. तेन कीर्त्या ये मम सेवकाः सदाचाराः, ते मत्परायणाः भवन्ति; निरन्तरं कीर्तनेन कृतार्थाश्च भवन्ति. अतः तीर्थभूतकीर्तिसम्पादकत्वेन उपजीव्याः ब्राह्मणाः. अतः तेषु यो अपराधं करोति, मद्बाहुरूपः इन्द्रोऽपि, तमपि छिन्द्याम्. अतएव बृहस्पत्यतिक्रमे इन्द्रस्य महती पीडा संवृत्ता राज्यभ्रशांदिरूपा. अतो युक्तमेव प्रसादनम् इति अर्थः.

कीर्तिर्लक्ष्मीस्तथा भोगः त्रयं विप्रप्रसादतः ।
भृगोः कन्या यतो लक्ष्मीर्मुखं चाऽपि द्विजा मम।।१।। ।।६।।

तत्र कीर्तिं निरूप्य ब्राह्मणाधीनां लक्ष्मीं निरूपयति **यत्सेवया** इति.

यत् सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति ।।७।

स्त्रियः स्वभावतो दुष्टाः चञ्चलाश्चाऽपि नित्यशः।
आचारजनिता कीर्तिः ब्राह्मणाश्च नियामकाः।।१।।
ईश्वरस्य तु याः पत्न्यः ता विरक्ते न हि स्थिराः ।
भृगोराज्ञां ततः प्राप्य स्थिरा लक्ष्मीस्ततो मयि ।।२।।

स्वोत्कर्षं वर्णयति ब्राह्मणोत्कर्षार्थम्. येषां ब्राह्मणानां सेवया चरणपद्मे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यत्सेवया इत्यत्र. भगवान् स्वयं स्वोत्कर्षं यद् वदति तद् लोकदृष्ट्या

पवित्रो रेणुः यस्य. सेवाजनितः संस्कारः चरणे तिष्ठति इति चरणसम्बन्धी यः कश्चन रेणुः, सः गङ्गावत् पवित्ररूपो भवति. **रेणुः** इति पाठे एतावद्भिन्नं वाक्यम्. द्वितीयान्तपाठेतु पूर्वार्द्धविशेषणानि उद्देश्यानि ब्राह्मणसेवासाध्यानि. विरक्तिरपि ततएव, विरक्तिविरोधी नियतो लक्ष्मीस्थितिलक्षणो धर्मोऽपि ततएव. लक्ष्म्याः माहात्म्यं ब्राह्मणमाहात्म्यार्थम्. सद्यः क्षतम् अखिलानां मलं येन. प्रतिलब्धं शीलं येन. **यस्याः** लक्ष्म्याः **प्रेक्षालवार्थे इतरे** ब्रह्मादयो **नियमान्** कृच्छ्रादीन्, भगवद्व्रतानि वा **वहन्ति.** लक्ष्मीकटाक्षकामनया तपः कुर्वन्ति इति अर्थः. पापनाशकत्वमपि ब्राह्मणसेवया, तद्वाक्यादेव नियमात्, सारस्वतकल्पे सर्वस्य ब्राह्मणाधीनत्वाच्च. वस्तुतस्तु अपहतपाप्मा भगवान्, अतएव लोकानामपि तत्सम्बन्धात् पापनाशः, लक्ष्म्याअपि दोषनिवृत्तिः. प्रभूणां भोगाभिनिविष्टानां सदाचारपरिपालनलक्षणः सुस्वभावो महापुरुषागमनेन महापुरुषसेवया सम्पद्यते, रागनिवृत्तिरपि तदनुरोधादेव. वस्तुतस्तु धर्मो भगवत्येव प्रतिष्ठितः इति निर्दुष्टत्वाच्च रागानाचाराभावः।।७।।

ब्राह्मणाधीनं स्वस्य भोगम् आह **न अहं तथा अद्मि** इति.

नाऽहं तथाऽद्मि यजमानहविर्विताने श्च्योतद्घृतप्लुतम् अदन् हुतभुङ्मुखेन ।
यद् ब्राह्मणस्य मुखतः चरतोऽनुघासं तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः।।८।।

स्वभावतो अहं स्वमुखेन अनश्नन्नेव तिष्ठामि ''**अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति**''(मुण्ड.उप.३।१।१) इति श्रुतेः. गौणं च मम मुखद्वयम्, अग्निः ब्राह्मणश्च कार्यरूपम्. तत्र अग्न्यपेक्षयाऽपि ब्राह्मणो मम मुखं समीचीनम्. तद् आह **न अहं तथा हुतभुङ्मुखेन अद्मि.** तर्हि यज्ञानां वैफल्यं स्याद्! इति आशङ्क्य आह **अदन्नपि तथा न अद्मि** इति. अदनमपि वह्नेः सर्वभक्षकत्वात् काष्ठादि-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अनुचितमिव इति आशङ्क्य तत्तात्पर्यम् आहुः **स्वे**त्यादि. तथाच अतो न दोषः इति अर्थः।।७।।

न अहम् इत्यत्र. **तस्य** इति. सर्वभक्षस्य लौकिकाग्नेः. **कर्मसमर्पणम्** इति. तैत्तिरीयषष्ठाष्टके ''**वाशिष्ठो ह सात्यहव्यः**''(जैमि.ब्राह्म.२।३५७) इति उपाख्यानोक्तं यज्ञेय(?)प्रतिष्ठापनरूपं कर्मसमर्पणम्. ''**कर्मशुद्धिः मदर्पणम्**'' (भाग.पुरा.११।२१। १५) इति उक्तं वा।।८।।

भक्षकत्वाच्च तस्य मुखत्वे अनिष्टं भविष्यति इति न निषिध्यते, किन्तु निषेधे अन्यएव हेतुः इति वक्तुम् आह **यजमानहविः विताने श्च्योतद्घृतप्लुतम्** इति. 'यजमान'पदेन सत्रनिषेधः, क्रूरत्वाद्, बहुकर्तृकत्वाच्च, ''**किमेते सत्रिणः**'' ( ) इति श्रुतेः; गणान् नत्वाच्च. हविः यज्ञाः पश्वादिव्यतिरिक्ताः, अतो 'हविः'शब्देन पश्वादिकं निषिध्यते. **विताने** विस्तारयज्ञे. **श्च्योतद्घृतप्लुतम्** इति. उभयतश्च्योतता घृतेन प्लुतं हविः हुतभुङ्मुखेन अदन्. अग्नौ प्रथमतः आज्यश्च्योतनं, पश्चाद् हविषः प्रक्षेपः, पुनःश्च्योतनम् इति. तथापि हुतं भक्षयति इति, मन्त्रहोत्राद्यपेक्षित्वाद् महता शब्देन हुतत्वाच्च तथा न भक्षणम्. ब्राह्मणमुखेतु न अयं दोषः. ब्राह्मणस्य विशेषणम् **अनुघासं चरतः** इति. प्रतिकवलं भक्षयतः. तत्र पुरोनुवाक्यायै, याज्यायै, देवतायै, वषट्काराय इति एकस्याम् आहुत्यां चतुर्णां भागाः. अत्र एकएव प्रतिकवलं भक्षयति, सहि मुखतएव भक्षयति, मुखस्याऽपि मुखम् इति विशिष्टम्. यथा अग्नेः विशेषः उक्तः तथा ब्राह्मणमपि विशिनष्टि **तुष्टस्य** इति. **मयि तुष्टस्य** विषयव्यतिरेकेणाऽपि केवलं मय्येव प्राप्ते तुष्टस्य. **अवहितैः** रहितैरपि **निजकर्मपाकैः** तुष्टस्य इति, कर्मवशात् प्राप्तेऽपि दुःखे अनुद्विग्नस्य, भगवति वा समर्पितैः. कर्मसमर्पणं कृत्वा तुष्टस्य इति अर्थः।।८।।

एवं स्वोपकारेण ब्राह्मणान् स्तुत्वा स्वरूपतोऽपि ते महान्तः इति आह **येषाम्** इति.

येषां बिभर्म्यहम् अखण्डविकुण्ठयोग–मायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान्।।९।।

महत्वं हि महताम् अनुवृत्या. महत्वं हि द्विविधं, लौकिकम् अलौकिकञ्च. लौकिकम् उत्तरोत्तरभावापन्नं भगवति विश्रान्तम्. सर्वलोकप्रसिद्धो हि भगवान् पुरुषोत्तमः, वेदप्रसिद्धोऽपि. तेन ज्ञापनं ब्राह्मणाधीनम् इति अलौकिकज्ञानं तेषां वर्तते इति ते भगवज्ज्ञापकाः इति. ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**''(भग.गीता ४।११) इति न्यायेन तदनुवृत्तिमपि भगवान् करोति. तेषाम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

येषाम् इत्यत्र. महताम् अनुवृत्त्या कथं महत्त्वम् इत्यतः उत्पा(पपा)दयन्ति **महत्त्वं हि** इत्यादि. ननु अनुवृत्तौ कथं न लौकिकमहत्त्वक्षतिः इत्यतः आहुः **तेषाम्**

अवयवत्वात् तदुत्कर्षो न स्वापकर्षं करोति. अधिकारोऽपि स्वेनैव दत्तः इति, स्वधर्मएव तत्र विद्यते इति, स्वोत्कर्षएव. यथा च ते अलौकिकप्रकारेण भगवन्तम् उत्कृष्टम् आहुः, तथा भगवानपि लोके तेषाम् उत्कर्षम् आह **येषाम् अमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः अहं बिभर्मि.** अग्रे ब्राह्मणवृन्दं गच्छत् रजः उत्थापयति, तद् रजः किरीटेषु सम्बद्धं भवति. पावित्र्यं नाम एकं भगवत्स्वरूपं सर्वपदार्थेषु सहजं तिष्ठति, संस्कारैः आधीयते च. तत्र ब्राह्मणेषु पावित्र्यं पादयोः सहजम्, अतः तेषां चरणरजो अमलं भवति. **किरीटैः** इति सर्वदा धारणं सूचितम्. अवतारभेदैः मूलरूपेण वा तथा करोति इति वा. **अखण्डा विकुण्ठा योगमाया विभूति**श्च यस्य. मायया उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाः, विभूत्या सर्वसौख्यम्. एवं सति न कस्याऽपि अपेक्षा, सर्वैः अपेक्षितएव भवति. नच तयोः नित्यशक्त्योः विच्छेदो वा कार्यक्षमता वा सम्भवति. **येषाम्** इति. न अन्यद् विप्रत्वात् तेषां गुणान्तरम् अपेक्ष्यते इति ज्ञापितम्. 'विप्र'पदेन योगोऽपि सूचितः. **विशेषेण पूरणं** च तेषां सहजो धर्मः. ज्ञानभक्तिव्यतिरेकेण चिदानन्दौ न पूरितौ भवतइति ज्ञानभक्तिमन्तएव योगेन विप्राः इति निरूपितम्. एतद् उभयसद्भावे न अन्यद् अपेक्षितम् इति. संस्कारस्तु आनुषङ्गिकः. अनेनैव उपकारेण भगवता तथा क्रियते. 'तु'शब्देन योगरहिताः व्यावर्त्यन्ते. एतादृशान् ब्राह्मणान् को न विशेषेण सहेत? को वा तद्भारं न अङ्गीकुर्याद्? भारस्तु अतिक्रमादिरूपएव भवति, अतस्तु अन्यलभ्यत्वाद् विप्रापराधः इति न उक्तम्. येषाम् अतिक्रमो मया सह्यते, तत्र कथम् अन्यो न सहते इति अर्थः. ननु माया-विभूत्योः विद्यमानत्वेऽपि पावित्र्यस्य अभावाद् भगवान् विप्रापराधं सहतु नाम, कथम् अन्येन सोढव्यः? इति आशङ्क्य आह **यदर्हणाम्भः** इति. **यस्य** मम **अर्हणाम्भः** चरणोदकं गङ्गा, **सहचन्द्रललामलोकान्** महादेवसहितान् त्रीनपि लोकान् **पुनाति.** धर्मः कृतः कर्तारमेव पुनाति, सम्बद्धं वा; नतु महत्कालपर्यन्तम्. परम्परासम्बद्धान् दूरस्थान्, बहून् सर्वतामसभेदसहितान् यत् पुनाति तद् अर्हणसम्बन्धेनैव इति ज्ञापयति **अर्हणाम्भः** इति. **सद्यः** इति, "**सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्**"(स्कन्दपुरा.आवन्त्यखंड

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. **तथा करोति** इति. नमनेन धरति. **संस्कारः** इति. उपनयनादिरूपः. **अनेन** इति. चिदानन्दपूरणरूपेण. **येषाम् अतिक्रमः** इति. यत्कृतो अतिक्रमः.

२१।६) इति वाक्यात्. भगवतः कालनियामकत्वाद् न तत्सम्बन्धिनां कालापेक्षा. **चन्द्रललामे**ति सर्वदाहकत्वेन तामसी शक्तिः स्वीकृता इति तत्तापव्यावृत्यर्थम् अमृतमयः चन्द्रः स्थापितः. क्रियाजनितो दोषस्तु न तेन निवर्त्तते इति गङ्गा स्थापिता, अन्यथा तावान् दोषो न अन्येन निवर्तते इति सूचयति।।९।।

एवं ब्राह्मणातिक्रमः सोढव्यः इति उक्त्वा, ये न सहन्ते तेषां विपक्षे [1]बाधकम् आह **ये मे तनूः** इति.

ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्मदीया भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान् गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः।।१०।।

ये द्विजवरादीन् भेदबुद्ध्या द्रक्ष्यन्ति, तान् यमलोके **गृध्राः कुषन्ति** इति सम्बन्धः. ''**मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति**''(कठोप.४।१०) इति श्रुत्या क्वचिदपि भेददर्शने संसारो भवति इति उक्तम्. एतादृशेषु भेददर्शनेन यमयातना भवति इति अधिकम् उच्यते, ''**यदा ह्येवैषः**''(तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः. अत्र भेदो भगवद्भेदः, *स्वभेदस्य पूर्वसिद्धत्वात्. ननु विद्यमाने भेदे लोकप्रसिद्धे द्रष्टॄणां को दोषः? इति आशङ्क्य आह **मे तनूः** इति. यदि योगी सहस्रं शरीराणि गृह्णाति, तथापि सः एकएव; जीवस्य एकत्वात्, तथा अनन्तमूर्तिः, तत्रापि यज्ञरूपः आधिभौतिक-शरीरद्वयं गृह्णाति, हविर्मन्त्रात्मकत्वाद् यागस्य. तत्र मन्त्राः ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठिताः, हविः धेनुषु. ते चेद् ब्राह्मणाः गावश्च अन्ये भवेयुः तदा तेभ्यः उद्गतेषु मन्त्रत्वं हविष्ट्वञ्च न स्याद्, भगवद्व्यतिरिक्ताः ते लौकिकाएव भवन्ति इति. अतएव अन्यैः उच्चारिताः मन्त्राएव न भवन्ति, लौकिकवाण्या उच्चारितत्वात्. अतः ते ममैव तन्वः. तान् निर्दिशति **द्विजवरान् दुहतीः** इति. यज्ञोपयोगित्वाद् न अत्र 'विप्र'पदं, द्विजत्वमेव अत्र उपयोगि. जन्मोत्कर्षार्थं 'द्विज'पदं, कर्मोत्कर्षार्थे 'वर'पदञ्च. **दुहतीः** इति कर्तरि 'दुह'धातोः 'अतृ'प्रत्ययः[2], सहजदोहार्थः तास्वेव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सूचयति इति. गङ्गासम्बन्धेन सूचयति।।९।।

ये मे इत्यत्र. **स्वभेदस्य** इत्यादि. जीवभेदस्य. ''**यथाऽग्नेः**''(बृहदा.उप.२।१।२०) इति, ''**बहु स्याम्**''(तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छया व्युच्चरणेन प्रागेव सिद्धत्वात्. **धर्मः** इति. हंसपरमहंसधर्मः, तादृशाम् अलब्धगृहाश्रमत्वाद् इति.

१.दोषम्. क. २.तिप् ख. घ. ङ. च.

हविषः उत्पत्तेः, अग्निहोत्रार्थमेव च वत्सोत्पत्तेः. **मदीयाः** इति गवाम् अधिको गुणः. मित्रत्वाद् भगवतोऽपि सर्वसखित्वात् तद्धर्मप्रतिष्ठया तदीयत्वम्. अथवा **मदीयाः** इति भिन्नएव निर्देशः, भक्तिमार्गानुसारेण भगवद्भोगौपयिकहविः दोहकर्तृत्वात्. **भूतानि अलब्धशरणानि** इति रक्षकत्वेन ज्ञानमार्गानुसारेण *धर्मो निरूपितः. तत्रापि रक्षकत्वं भगवन्निष्ठम् इति भेदाभावः उचितएव. एवं मार्गत्रयोपयोगिपदार्थान् ये मत्तो भिन्नान् जानन्ति, तेषां विशेषभयम्. ननु भगवत्वाज्ञानेऽपि, वस्तुतः तेषां भगवत्वात् तद्दर्शने कथं नरकपातः? तत्र आह **अघक्षतदृशः** इति. अघेन भेदजनितेन क्षता दृष्टिः येषाम्. ब्रह्मवधइव भेदोऽपि अधर्महेतुः. अयं वधो ज्ञानमयः, तथापि क्रियामयाद् विशिष्टः, मूलविषयत्वात्. दण्डोऽपि चक्षुषएव. ननु व्यवहारे भेदो अपेक्षितः इति कथं तस्य दोषजनकत्वम्? तत्र आह **अहिमन्यवः** इति. न व्यवहारमात्रं निषिध्यते, किन्तु अन्तःकरणारूढदोषत्वेन. सर्पैः स्वल्पोऽपि अपराधो न विस्मर्यते इति, वधान्तं च प्रयत्नं कुर्वन्ति, तथा हृदयेन चेद् दर्शनं तदा दण्डः इति अर्थः. गृध्रमुखे प्रविष्टं चक्षुः न कदाचिदपि आवृत्तं भवति इति अनिर्मोक्षः सूचितः. **रुषा** इति चक्षुषो विद्यमानत्वादेव एतैः भगवदपराधः कृतः इति चक्षुषि रोषः. मम रुषा सहिता वा गृध्राः कुषन्ति इति. तैः जन्यते नाशएव, नतु उपघातमात्रम्. अधिकं दण्डान् नयति इति अधिदण्डनेता यमः. अल्पदण्डस्तु राजव्याध्यादिभिरेव क्रियते इति निरूपयति यमम्।।१०।।

एवं विपरीते बाधकम् उक्त्वा सन्माननायां प्रसादम् आह **ये ब्राह्मणान्** इति.

ये ब्राह्मणान् मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्ति तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः।
वाण्यानुरागकलयात्मजवद् गृणन्तः सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः।।११

क्षिपतोऽपि ब्राह्मणान् अर्चयन्ति, तैः अहमेव उपाहृतः. सर्वपुरुषार्थरूपो अहं तत्समीपे चेत् स्थितः, सिद्धाएव सर्वे पुरुषार्थाः. तेषु बन्धुत्वेन अपकारभयाद्, लोकापकीर्तिभयाद् वा, दम्भेन वा यदि अर्चयन्ति तदा न इदं फलम्. किन्तु **मयि**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रक्षकत्वम् इति. ज्ञानमार्गरक्षकत्वम्. **दण्डोऽपि** इति. गृध्रकृतकुशन(कोषण)रूपो दण्डः।।१०।।

धिया भगवद्विषयकबुद्ध्या मत्तनूः इति. अथवा, मयि या बुद्धिः अस्ति, ''ब्राह्मणाः सर्वथा उपास्याः'' इति, तादृशबुद्ध्या. **क्षिपतो** गालीः प्रयच्छतो **अर्चयन्ति** इति विरोधप्रदर्शनेन न अयम् अर्थः क्वचित् सेत्स्यति इति भगवदुपाहृतिः न अतिप्रसक्ता इति सूचितम्. तत्रापि **तुष्यद् हृदः**. ते चेत् क्रोधम् अन्तरेव स्थापयेयुः तदा महद् अनिष्टं स्याद् इति तेषां क्रोधस्य बहिः निर्गमने महान् मम उपकारो जातः इति ज्ञानं हृदयतोषे हेतुः. इदम् अतिमाहात्म्यज्ञाने भवति. किञ्च, स्मितेन सुधारूपेण उक्षितं पद्मसदृशं वक्त्रं येषाम्. माहात्म्यज्ञाने विद्यमानेऽपि स्नेहेनैव दोषसहनम्. मन्दहासस्तु अन्तःक्षोभाद्यजननज्ञापकः. तद्गतस्नेहरसः तन्निष्पीडनेन प्रकटो भवति इति बालकवत् तेषाम् आक्रोशः परमसन्तोषहेतुः भवति इति स्मितस्य सुधात्वम्. तस्य अमृतत्वं स्वकार्यं जनयति इति तदुक्षितवक्त्रत्वम् उक्तम्. तथा सति वक्त्रम् अतिविकसितं भवति इति वर्ण–स्पर्शयोः धर्मजनितयोः अत्र आविर्भावः इति ज्ञापनार्थं 'पद्म'पदम्. एवम् अन्तःकरणकायिकसन्तोषम् उक्त्वा वाचनिकं सन्तोषम् आह **वाण्या** इति. वाण्या अनुरागाः कलाः भवन्ति, चन्द्रमसइव वृद्धिहेतवः. एवं कायवाङ्मनःप्रीतिः पुत्रएव भवति इति दृष्टान्तेन तथाकर्तॄणां ब्रह्मभावो **निरूपितः**. अर्चनं कायिकद्रव्यैः, गृणनं वाचा. **सम्बोधयन्ति** इति व्यवहारार्थं, सम्यग् बोधार्थं वा. आक्रोशेऽपि न तेषु वैषम्यं कदाचिदपि इति सूचितम्. एतादृशानां दृष्टान्तो अहमेव. [1]ज्ञापनार्थम् एवम् उक्तं, नतु स्वोत्कर्षार्थम्. यथा भृग्वतिक्रमे मया कृतम् इति अर्थः. **अहम् उपाहृतः** इति फलवाक्यं भिन्नम्, अतो न पौनरुक्त्यम्. तेषाम् उत्कर्षार्थम् अन्ते कीर्तनम्।।११।।

एतद् निरूपणस्य प्रकृतोपयोगम् आह **तन् मे स्वभर्तुः** इति.

तन् मे स्वभर्तुरवसायम् अलक्षमाणौ युष्मद् व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत् कल्पताम् अचिरतो भृतयोर्विवासः।।१२।।

यतः एवं ब्राह्मणानां स्वरूपं, मया च तथा मन्यते तद् अज्ञानात् **तौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य भूयो मम अन्तिकमिताम्**. अयं मम अनुग्रहो भक्तिरक्षार्थः. अत्र हेतुः न अस्ति इति ममैव अयम् अनुग्रहः इति उक्तम्. अधिकोऽपि अनुग्रहः कर्तव्यः इति चेत् तत्र आह **यत् कल्पताम्** इति. यस्माद्

१.ज्ञानार्थं. क.

अनुग्रहाद् **भृतयोः** भृत्ययोः, भक्त्या पूरितयोः वा. **विवासः** परदेशवासः. **अचिरतः कल्पतां** शीघ्रमेव परिसमाप्यताम्. जन्ममरणक्लेशाभावात् शापो विवासत्वेनैव उक्तः. **मम अन्तिकम्** इति पुनः दासभावं प्राप्नुताम्.

जीवानां तु त्रयो भावा उत्कर्षोत्कर्षहेतवः ।
जीवाः स्वभावतो दासा देहभावोऽधमस्ततः ।।१।।
ब्रह्मभावः स्वतः श्रेष्ठः तत्स्वभाव इह स्थिताः ।
देहभावस्तु तच्छापः स्वभावोऽनुग्रहः स्मृतः ।।२।।
सायुज्ये ब्रह्मभावः स्याद् नाऽन्यथेति विनिश्चयः ।
सायुज्ययोग्यताकाले ब्रह्मभावो* निरूप्यते ।।३।।
भगवानेव हि ब्रह्म नाऽन्यो भवितुम् अर्हति ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन् मे इत्यत्र. ननु शापदूरीकरणे समर्थस्य भगवतः तच्छापस्थापने पुनः स्वदासत्वस्य तदनुग्रहत्वेन प्रार्थने च किं बीजम् इति आकाङ्क्षायां तत्र भगवद्-विचारितम् आहुः **जीवानाम्** इत्यादि. **तुः** विशेषावधारणे. जीवानां **त्रयो भावाः** अवस्थाविशेषाः. **उत्कर्षोत्कर्षहेतवः.** उत्तरोत्तरम् उत्कर्षाधायकाः. तत्र **जीवाः स्वभावतो दासाः,** क्रीडार्थम् उत्पादितत्वात्. **ततो** हेतोः तेषां **देहभावः. अधमो** निकर्षावस्था. अतः तद्रहितो दासभावो जीवानाम् उत्कर्षहेतुः पूर्वावस्थारूपः.

ब्रह्मभावः स्वतः श्रेष्ठः इति. स्वाभाविकाद् दासभावाद् उत्कृष्टः. **इह** वैकुण्ठे **तत्स्वभावे** स्थिताः केवलेन स्वरूपेण दासभूताः स्थिताः. **तु** पुनः, **तच्छापः** सनकादिशापो **देहभावः.** तथा सति ततः उत्कृष्टः **स्वभावः** केवलस्य दासभावएव इति. सएव **अनुग्रहः** इति. **स्मृतो** भगवता विचारितः.

ननु केवलदासत्वस्य देहभावेऽपि सत्त्वेन अप्रयोजकत्वाद् ब्रह्मभावसाहित्यम् अवश्यम् अपेक्षितम्, अतः सएव उत्कृष्टतरः कुतो न प्रार्थितः इत्यतः आहुः **सायुज्ये** इत्यादि. किम् अत्र गमकम् इत्यतः आहुः **सायुज्ययोग्यताकाले** इत्यादि. बाधाभावो **योग्यता.** तथाच उत्कृष्टतम-सायुज्यावस्थापूर्वकाले सः **निरूप्यते,** अतः सः तदैव भवति. तच्च न दित्सितमतः सः न प्रार्थितः इति अर्थः.

ननु सायुज्य-दित्साभावेऽपि तेषां ब्रह्मभावावस्थासम्भवे को दोषः इत्यतः

---

* स्वभावो विनिरूप्यते. पा.

एकं च ब्रह्म सर्वेषां तथात्वे तु विरुद्ध्यते ।।४।।
भगवत्करणाद् लोके भावना दुर्बला मता ।
दासभावाद् अतो नाऽन्यत् काम्यं भवति कस्यचित् ।।५।।
अतो हि भगवान् भर्ता जीवानाम् इति निश्चयः।
अभिप्रायस्तु तस्याऽपि ब्रह्मभावम् अभीप्सुभिः।।६।।
ब्राह्मणातिक्रमो नैव कर्तव्य इति निश्चयः ।
अतो दण्डस्तु सोढव्यो नो चेद् अग्रे फलं न तत्।।७।।

एवं भगवता शापः स्थिरीकृतः।।१२।।

एवं भगवान् प्रसन्नो जातः इति ज्ञात्वा गताधयो मुनयः सम्यक् स्तोत्रं कृतवन्तः इति वक्तुं, प्रथमं भगवद्वाक्येन तेषाम् आधिः गतः इति आह **अथ तस्योशतीम्** इति त्रिभिः

ब्रह्मा उवाच[1]

अथ तस्योशतीं देवीम् ऋषिकुल्यां सरस्वतीम् ।
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषाम् आत्माऽप्यतृप्यत।।१३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **भगवान्** इत्यादि. **विरुध्यते** इति. ऐक्यं व्याकुप्येत.

तत्र हेतुः **लोके भगवत्करणात्.** वैकुण्ठे भगवत्त्वस्य प्रकटनात्. असङ्गोदासीनतायां ब्रह्मभावो न विरुद्धः, कार्याभावात्. भगवत्तायान्तु विरुद्धः, कार्यकरणात्. अतः ऐक्यव्याकोपएव दोषः इति अर्थः. तर्हि अहंग्रहोपासनादौ ब्रह्मभाव-भावना किमिति विधीयते, तत्र आहुः **भावना दुर्बला** इति. तत्र हेतुः **मता** इति. नहि तदानीं ब्रह्मभावो भवति, किन्तु ब्रह्मभूतं मन्यते. अतः कार्यविरोधाभावात् फलस्य स्वा(य)त्तत्वसम्पादनाय विधीयते. तया तावन्मात्रं भवति इति सा दासभावापेक्षया दुर्बला.

अतो लोकस्थस्य **कस्यापि दासभावाद् अन्यत्काम्यं न भवति. अतः** एवं विचारणाद् हेतोः, **हि** निश्चयेन, **जीवानां भगवान् भर्ता** सर्वनिर्वाहकः **इति निश्चयः.** तथा सति यो यो विचाराभिप्रायः सिद्धः तम् आहुः **अभिप्रायः** इति सार्धेन. तथाच, शापस्थापने दासत्वस्य अनुग्रहत्वेन प्रार्थने इदं बीजम् इति अर्थः. तद् एतद् आहुः **एवम्** इत्यादि.

१.मैत्रेय उवाच. पा. मां.२

भगवतो वाक्यं शब्दार्थभेदेन चिन्तानिवारकम्. तत्र शब्देनैव निःसन्दिग्धं चिन्ता निवारिता, अर्थस्तु भगवद्वाक्यानां सर्वतोमुखत्वाद् अनिर्द्धारितः इति स्वरूपतो निर्द्धारितोऽपि फलतो न [क]निर्द्धारः इति सम्यक् चिन्तां न दूरीकृतवान्. तथापि दृष्टसामग्र्या बलवत्वात् सर्वमेव अन्तःकरणं चिन्तावत्वेऽपि निर्मलं जातमिति श्लोकत्रयं शब्दार्थसामग्रीभेदात्. प्रथमं शब्देन तेषां सुखं जातम् इति आह **अथ** इति. भिन्नप्रक्रमो अर्थपर्यालोचनाभावाय. **उशतीं** कमनीयाम्, अनेन तस्याः दुःखदूरीकर्तृत्वं रूपम् उक्तम्. युक्त्यर्थं विशेषणान्तरम् आह **ऋषिकुल्याम्** इति. ऋषिकुलयोग्याम्. ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः, [ख]अलौकिकानुभावाः च मन्त्राः; तत्र हितकर्त्री ततोऽपि [ख]अलौकिकानुभावाः भवति इति स्वसामर्थ्याद् दुःखदूरीकर्तृत्वम्. किञ्च **देवीम्** इति. द्योतकत्वात् कान्त्यर्था भवति, का अन्यथा हृदयप्रकाशिका भवति. अतोऽपि दुःखदूरीकरणम्. किञ्च **सरस्वतीम्** इति. सरः इति उदक–नाम. आधिदैविकी इति तद् उदकम् अमृतं भवति. तेषां हृदयं **मन्युना दष्टं** मृतप्रायम्. तद् अमृतेन जीव्यते, कान्त्या प्रकाश्यते, अलौकिकभावेन कार्यसमर्थं क्रियते, परमानन्दश्च प्राप्यते इति चत्वारि विशेषणानि. एतादृशीं सरस्वतीम् आस्वाद्याऽपि, स्थितानाम् **आत्मा न अतृप्यत,** अलम् इति न उक्तवान्. यदि अर्थार्थं श्रुतं स्यात्, तदा अर्थः पूर्णः इति इच्छा पूर्येत. स्वरूपतः श्रवणेतु आनन्दे अलम्बुद्ध्यभावाद् न निवर्तते. सर्पदष्टो[ग] हि मन्त्रेण जलं पाय्यते, नच सः तृप्यति, विषज्वालाभूयस्त्वात्. आत्मनोऽपि दंशे सर्वाङ्गे ज्वाला जाता इति तएव दष्टाः निरूपिताः।।१३।।

एवं शब्दतः फलम् उक्त्वा अर्थानुसन्धानेनाऽपि यद् जातं तद् आह

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्याऽगाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ।।१४।।

सतीम् इति. सा हि सन्मार्गप्रतिपादिका, अतः समुदायार्थपरिज्ञानेन सुखं जातमेव. **व्यादाय** श्रवणम् अपावृतकर्णरन्ध्रैः श्रवणम्. **लघ्वी** सा स्वरूपतः तेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ इत्यत्र. **निःसन्दिग्धम्** इति. भगवान् अस्मासु प्रसन्नो न वा इति सन्देहराहित्यं यथा स्यात् तथा. **न निवर्तते** इति. इच्छा न निवर्तते।।१३।।

क.'निर्द्धारित' इति मां.१,२,३. ख.'अलौकिकानुभवाश्च' इति मां.१,३. ग.सर्पदष्टे ग. घ. ङ.

आलोचयितुं शक्यते इति सुखदायिनी. एवं विशेषणद्वयेन अर्थद्वारापि सुखदातृत्वं निरूपितम्. फलतः साधनतश्च न सुखदातृत्वं जातम् इति आह **गुर्वर्थगह्वराम् अगाधगम्भीराम्** इति. अर्थो हि गम्भीरः, पुरुषोत्तमस्य भगवतो हीनानां सेवकजीवानाञ्च विपरीतधर्मप्रतिपादकत्वात्. श्रुतपदार्थानां श्रुतार्थापत्त्या निर्णयं कृत्वा सन्देहो दूरीकर्तव्यः इति चेत् तत्र आह **अगाधगम्भीराम्** इति. अगाधत्वाद् न तत्र श्रुतार्थापत्तिः कल्प्यते. पदार्थानां तलस्पर्शे तत्कल्पना युक्ता. गम्भीरत्वाच्च मज्जनेनाऽपि तलस्पर्शो न सम्भवति. एतावता भगवान् किञ्चिद् गम्भीरम्[क] उक्तवान् इति अध्यवसीयते. तथापि [ख]किम् अयम् एवं वदति इति **तच्चिकीर्षितं न विदुः. विगाहनम्** अन्तःप्रवेशः. विचार्याऽपि न विदुः इति अर्थः।।१४।।

एवं वाक्यं किञ्चिद् ज्ञात्वाऽपि भगवन्तं दृष्ट्वा मुदिताः सन्तः स्तोत्रं कृतवन्तः इति आह

ते योगमाययारब्ध–पारमेष्ठ्यमहोदयम् ।

प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः कुपितत्वचः ।।१५।।

ते इति. योगमाया हि [ग]भगवद्वैभवयोग्यान् पदार्थान् सृजति. न ते प्राकृताः, नाऽपि ब्रह्मसृष्टाः, अतः पारमेष्ठ्यापेक्षयापि महोदयरूपाः. योगमायया आरब्धाः पारमेष्ठ्यमहोदयाः यस्य. अतः सामग्रीं दृष्ट्वा परमानन्दो बहुविधो भासते इति प्रहृष्टाः जाताः. स्वयं विप्राअपि, मनसाऽपि तादृशं न आकलितम् इति, माहात्म्यज्ञानात् **प्राञ्जलयः**. तद्दर्शनेन अन्तःपूर्णानन्दो रोमकूपद्वारा निर्गच्छन् कुपितां त्वचं कृतवान्. सा हि वायुदेवताका, वायोः च सञ्चारो न अस्ति इति कोपः उचितएव. **क्षुभिते**ति पाठेऽपि समानो अर्थः।।१५।।

विरोधं परिहरन्तएव स्तोत्रं कुर्वाणाः प्रथमं विरोधम् अनुवदन्ति

[घ]मुनयः ऊचुः

न वयं भगवन्! विद्मः तव देव! चिकीर्षितम् ।

कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ।।१६।।

न वयम् इति. विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वे सति न विरोधः, किन्तु मनसा तद्व्यवस्थाशक्तौ सत्याम्. मनो हि वाचो भर्ता, सः चेत् प्रभुः अविरोधं

क.'गम्भीरं ज्ञात्वा' इति मां.१,२,३. ख.'किमर्थम् एवम्' इति मां.१,२,३. ग. भगवद्योग्यान्. क. ख. घ. ङ.मां.१,२,३. घ.'ऋषय ऊचुः' इति मां.१,३ पा.

सम्पादयति, किं दासीनां विरोधेन! तदपि न अस्ति इति स्वानुभवेन आहुः हे **भगवन्!** सएव तदनन्तरं **देव!** तव चिकीर्षितं न विद्मः. [क]ज्ञानेतु अभिप्रायः कल्प्येत. अकल्पनायां हेतुभूतं विरोधम् आह **कृतो मे अनुग्रहः** इति. **यत्** त्वम् **अध्यक्षः** सर्वसाक्षी प्रभुः, सेवकान् प्रति वदसि अनुग्रहः कृतः इति तद् अर्थतो विरुद्धम् ।।१६।।

विरोधान्तरम् आह **ब्रह्मण्यस्य** इति.

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो! ।
विप्राणां देवदेवानां भगवान् आत्मदैवतम् ।।१७।।

त्वन्तु ब्रह्मण्यः, ब्राह्मणानां हितः, तेषां सर्वपुरुषार्थ-साधकत्वेन तदुपास्यः. अथापि **ब्राह्मणाः किल ते परं दैवम्** इति प्रभाषसे. **किल** इति प्रसिद्धे. नहि तद्वाक्ये ब्राह्मणप्रभुत्वप्रतिपादके ‘‘**येषां बिभर्मि**’’ इत्यत्र सन्देहो अस्ति. भागभेदेन तद् उभयं सङ्गच्छते इति पक्षं खण्डयति **प्रभो!** इति. सर्वसमर्थो भवान् न केनाऽपि अंशेन ब्राह्मणापेक्षायुक्तः इति अर्थः. किञ्च, विप्राणां, देवानां, देवदेवानामपि **भगवान् आत्मा दैवतञ्च**. आवश्यकः उपास्यः च. आत्मनो वा दैवतम्. चिदंशानां भगवत्सेवकत्वात्।।१७।।

ननु अस्मदुक्तप्रकारेणैव वेदो वदतीति तथैव शास्त्रार्थतो अस्तु इति आशङ्क्य आहुः **त्वद् नः** इति.

त्वन्नः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्त्वया[ख]।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकल्पो भवान् मतः ।।१८।।

त्वमेव नः सनातनो धर्मः, यज्ञरूपत्वाद्, ब्रह्मरूपत्वाच्च. ‘‘**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**’’(यजुर्वेद ३१।२२।१६) ‘‘**अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्**’’ (याज्ञ.स्मृ.१।८) इति. **त्वयैव तनुभिः** अवतारैः स्वधर्मो रक्ष्यते, ‘‘**यदा यदा हि धर्मस्य**’’(भग.गीता ४।७) इति वाक्यात्. किञ्च त्वं **धर्मस्य परमो गुह्यः**. धर्मस्य अत्यन्तं गोप्यः त्वमेव. धर्मो हि अन्यगतो धर्मिणं गोपायति; यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

त्वद् नः इत्यत्र. धर्मस्य कथं भगवान् गोप्यः इति आकाङ्क्षायाम् उपपादयन्ति **धर्मो हि** इत्यादि.

क.‘ज्ञाते’ इति मां.१,२,३. ख.‘तव’ इति पांठः.

जलगतम् औष्ण्यं वह्निं गोपायति तथा जीवेषु आगतो धर्मो ब्रह्म गोपायति. सहि तस्यैव, क्रियाशक्तिरूपत्वात्. तस्य गोप्यो हि भक्तियोगोऽपि भवति, तथापि भगवान् परमो गुह्यः. तस्य ब्रह्मैव गुह्यम् इति कथं भगवान् इति आशङ्क्य आह **भवानेव निर्विकल्पो मतः** इति. ''**पूर्ववद् वा**'' (ब्रह्मसू.३।२।२९) इति सिद्धान्तेन सर्वकल्पनाशून्यं ब्रह्म. तदेव पश्चाद् धर्मरूपेण आविर्भूय तत्सहितं 'भगवान्' इति उच्यते. भगवतो वा एकं रूपं निर्विकल्पकं ब्रह्म. उभयथाऽपि धर्मस्य परमो गुह्यः।।१८।।

ज्ञानस्याऽपि गुह्यः इति आह

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान् किंस्विद् अनुगृह्येत यत्परैः ।।१९।।

तरन्ति इति. **निवृत्ताः** परमहंसाः. यस्य अनुग्रहं प्राप्य **अञ्जसा मृत्युं तरन्ति.** उभयतः कूलङ्कषा नदीव मृत्युः सर्वेषां मज्जनकर्ता, अतः तस्य तरणम् उक्तम्. **योगिनः** इति अधिकारिविशेषणम् अनुग्रहे, नतु तरणे योगो हेतुः. एतादृशो भवान् सर्ववेदरहस्यः **किम्** अन्यैः **अनुगृह्येत?** तत्रापि **परैः** अप्रयोजकैः. **गृह्णीत** इत्यपि पाठे परैः कृत्वा यत् कर्म, **किं** किमर्थं, **स्विद्** इति निश्चये, **अनुगृह्णीत** किमर्थम् अनुगृह्णीयात्. अन्यैः स्वस्य माहात्म्यं सम्पाद्य परानुग्रहं किमर्थं कुर्याद् इति अर्थः. एतादृशस्य अनुग्रहवचनं बाधितार्थम् इति प्रतिभाति. सत्यवाक्यत्वाच्च तदपि न सङ्गच्छते, अतो अज्ञानमेव ।।१९।।

किञ्च, ''ब्राह्मणकृपया लक्ष्मीः स्थिरा'' इति वचनं सर्वथा बाधितार्थम् इति प्रतिभाति इति आह

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यैः अर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः ।
धन्यार्पिताङ्घ्रि-तुलसी-नवदामधाम्नो लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ।।२०।।
यस्तां विविक्त-चरितैरनुवर्तमानां नाऽत्याद्रियत् परम-भागवत-प्रसङ्गः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सहि तस्यैव इति. सः धर्मः तस्य भगवतएव धर्मभूतः. धर्मत्वे हेतुः **क्रिये**त्यादि. **पूर्ववद्वा** इति. इदम् अधिकरणं साधनाध्याय-द्वितीयपादे वर्तते. अर्थस्तु उक्तएव. ''**उभयव्यपदेश**''(ब्रह्मसू.३।२।२७) सूत्रानुसारेण मुख्यं सिद्धान्तम् आहुः **भगवतो वा** इत्यादि।।१८।।

स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्॥२१॥

यं वै विभूतिः इति. **विभूतिः** लक्ष्मी. **यं** भगवन्तम् **अनुवेलम् अन्यैः अर्थार्थिभिः शिरसा धृतपादरेणुरपि उपयाति** सेवार्थं गच्छति. तत्रापि भक्तेव. तां च भवान् **न अत्यादि्रयत्,** सः कथं **द्विजानुपथपुण्यरजसा पुनीतः** सन् **श्रीवत्सलक्ष्म अगाः** इति श्लोकद्वयान्वयः. विप्रप्रसादाद् लक्ष्म्याः स्थैर्यम् इति पक्षो न सङ्गच्छते, भक्त्यैव तस्याः स्थिरत्वात्. नच तस्याः भक्तिः ब्राह्मणसाध्या, भक्तौ ब्राह्मणानामपि भक्तत्वेनैव उपयोगात्. ब्रह्मभावानन्तरं भक्त्यधिकाराद् ब्रह्मभावप्रापणार्थं तदपेक्षा इति चेत्, तस्याः सिद्धएव ब्रह्मभावः, ''**मम योनिः महद्ब्रह्म**''(भग.गीता १४।३) इति वाक्याद्, ब्रह्मानन्दरूपत्वाच्च तच्छरीरस्य. अतः साक्षात् परम्परया वा तस्याः भक्तौ ब्राह्मणानाम् अनुपयोगाद्, भक्त्यैव च स्थैर्याद् भगवद्वाक्यं चिन्त्यम्. किञ्च, ब्राह्मणाः भिक्षुकाः अर्थार्थिनाम् इन्द्रादीनाम् उपसर्पकाः, ते च लक्ष्म्याः चरणरेणूपासकाः. अतः उपजीव्योपजीव्यत्वात् तस्याः कथं ब्राह्मणाधीनत्वं? किञ्च सा हि भोग्यभावमेव त्यक्तवती, तेन तस्याः फलत्वमेव न अस्ति. सा हि रसान्तरे प्रविष्टा, नहि भक्तिरसे कामरसः प्रविशति. भगवानपि ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**'' (भग.गीता ४।११) इति वाक्याद् भक्तत्वेनैव तां स्वीकरोति, यथा तुलसीम्. अतः तस्याः गुणाअपि न अपेक्ष्यन्ते.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यं वै विभूतिः इत्यत्र. **तस्याः भक्तिः** इति. लक्ष्म्याः भगवति भक्तिः. **भक्तौ ब्राह्मणानामपि** इत्यादि. ''**विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्द-विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्**'' (भाग.पुरा.७।९।१०) इति, ''**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः**'' (भग.गीता ९।३३) इत्यादिवाक्यैः तथा निश्चयेन तथा इति अर्थः. ननु सत्यं, भक्तत्वेनैव भक्तौ उपयोगः; परं सामान्यब्राह्मणानां, नतु भवादृशाम्; अतो ''**यत्सेवया**''(भाग.पुरा.३।१६।७) इति मद्वाक्यं न अनुपपन्नम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **ब्रह्मे**त्यादि. ''**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति, न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्**'' (भग.गीता १८।५४) इत्यादिवाक्यैः तथा अवसीयते इति भक्तौ ब्रह्मभूतानामेव मुख्यः, न सामान्यानाम्, अतो ब्रह्मभूतब्राह्मणप्रसादाद् लक्ष्मीः स्थिरा इति पक्षो न युक्तः इति अर्थः. **ब्रह्मभावप्रापणार्थम्** इति. लक्ष्म्याः तथात्वार्थम्. **ते च** इति. इन्द्रादयः च. **रसान्तरे** इति. **भक्तिरसे. हीनभावं च** इति.

सा हि तुलसीमपि निर्गुणां बहु मन्यते, ततोऽपि हीनभावं च. भ्रमराः नानापुष्परसेषु आसक्ताः, तेऽपि यदि भक्तिमाहात्म्यात् तुलसीरसएव मकरन्दाभासेऽपि आसक्ताः, तदा मयाऽपि तथैव विधेयम् इति भ्रमरलोकमेव कामयते. एवमपि सति लब्धपदा सा पुनः स्वभावं प्राप्स्यति इति भक्तत्वेऽपि तां न अत्याद्रियत्. तदपेक्षयाऽपि स्वभावतएव निर्दुष्टाः भगवति लब्धपदाअपि हेत्वभावाद् न पूर्वावस्थां प्राप्नुवन्ति, ते परमभागवताः, तेष्वेव प्रकृष्टः सङ्गः. एतादृशलक्ष्म्याः कथम् असाधारणधर्मत्वं? तत्रापि भगवान् भगवच्छब्दार्थः. नित्याएव भगवति षड् गुणाः, ब्राह्मणानुग्रहजन्यत्वे कृत्रिमता स्यात्. व्यामोहनलीलापरत्वेनतु अलौकिकप्रकारेण वयं न व्यामोहनीयाः, साधारणेनतु विशेषज्ञानस्य जातत्वाद् न व्यामोहो भविष्यति इति तात्पर्यम्. विशेषेण भूतिः यस्याः इति भगवद्भजने भगवदुपयोगिनी सर्वसामग्री निरूपिता. तस्याः समीपगमनमेव, नतु भोगपर्यवसानम् इति **उपे**ति उक्तम्. **अन्यैः** इति. भगवद्विमुखैः. भगवद्वैमुख्ये हेतुः **अर्थार्थिभिः** इति. धनाभिनिविष्टचित्ताः न भगवत्सम्मुखाः भवन्ति. बालाएव ते स्तनपानव्यग्राः मातरमेव मन्यन्ते. **स्वशिरसा धृतपादरेणुः** इति भक्त्यैव अन्येषां प्रवृत्तिः, तेषां च इयम् उपास्या देवता. तस्याअपि चरणरेणवः तदीयशरीर-सम्पादकाः. शिरसा स्थापनं तेषामेव प्रथमसम्बन्धार्थम्. तुलस्या अलौकिकत्वे तल्लोकाकाङ्क्षित्वं न भक्तिहेतुकम् इति **धन्यार्पिते**ति उक्तम्. कृत्रिममात्रत्वे भगवत्सम्बन्धो न सम्भवति इति **धन्ये**ति. धनम् अर्हन्ति इति धन्याः. लक्ष्म्याः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मन्यते इति अर्थात्. **असाधारणधर्मत्वम्** इति. ब्राह्मणानुग्रहासाधारणधर्मत्वम्. **साधारणेन** इति. भगवद्वाक्य-तात्पर्यानवगमेऽपि शास्त्रानुभवाभ्यां साधारणप्रकारेण. **प्रथमसम्बन्धार्थम्** इति. प्रथमं शिरसएव उत्पत्तेः, तस्य एतत्सम्बन्धे सर्वस्य शरीरस्य योग्यता भवति इति तस्य सम्बन्धार्थम्. 'अनुवेल'पदन्तु न व्याख्यातम्, अर्थस्तु सेवासमयं लक्षीकृत्य इति. **धन्यार्पिता इति उक्तम्** इति. धन्यार्पिता लौकिक्येव इति तल्लोकाकाङ्क्षित्वं भक्तिहेतुकमेव न ईर्ष्याहेतुकम् इति अर्थः. **कृत्रिममात्रत्वम्** इत्यादि. अन्यार्पिततया आगन्तुकमात्रत्वे "**भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते**" (भाग.पुरा.१०।८१।३) इति वाक्याद् भगवत्सम्बन्धो न भवति इति तदर्पकाणां भक्तत्वज्ञापनाय 'धन्य'पदम् इति अर्थः. तद् व्युत्पादयन्ति **धनम्** इत्यादि. **तस्य** इति.

आधिभौतिकं रूपम् अर्हन्ति इति भगवद्भूतानि. सेवकाः धन्याः, अन्ये धनिनोऽपि न धनम् अर्हन्ति, श्वानइव गङ्गाजलम्. अतएव न तस्य धनस्य भगवदुपयोगः. धनस्य स्वोपयोगात् तदधिका तुलसी तैः भगवति समर्प्यते. अङ्घ्रौ समर्पणं भक्तिहेतुकम्. तुलस्याः नवदाम चरणे समर्प्यते, अन्यथा बहुतुलसीदाने चरणः आच्छन्नः स्यात्. तद् भगवच्चरणारविन्दएव तिष्ठति, भक्तप्रसादे वा तत्कण्ठेषु. उभयथाऽपि न एतादृशं स्थानम् अन्यद् अस्ति इति तद्धाम भ्रमरस्य. तथात्वे हेतुम् आह **मधुव्रतपतेः** इति. मध्वेव व्रतं यस्य. नियमाद् धर्मः इति पक्षे मधुव्रतेऽपि धर्मः. मधुव्रतानां पतिः इति व्रतिनामिव तत्सम्बन्धित्वेन कृतार्थः परम्परयाऽपि इति सूचितम्. **इव** इति ब्रह्मानन्दस्य हीनभावव्यावृत्यर्थम् उपमा निरूपिता. कामयानेव इति वा, कामितो अर्थः श्रद्धायुक्तो भवति इति. एवमपि भजने भगवतः चेत् तत्तत्फलं भवेत् तदापि ब्राह्मणवाक्यस्य हेतुत्वं कल्प्येताऽपि तदपि न अस्ति इति आह **यः ताम्** इति. **यः** प्रसिद्धो लक्ष्म्याः प्रसादत्वं वदति, सोऽपि वदत्येव, नतु तां मन्यते, यतः तां न अत्याद्रियत्. तत्र हेतुः परमभागवतेषु प्रकृष्टः सङ्गो यस्य इति. ते हि परमाः असाधारणाः, लक्ष्मीसहितं न उपासते, अंशेन सेवायाः व्यभिचारात्. अतः तदनुरोधेनाऽपि न लक्ष्म्या सह रमणम्. एतादृशः त्वं **द्विजानाम् अनुपथं** यत् पुण्यरजः. भगवतो द्विजानुगमनमेव न सम्भवति, ईश्वरत्वात्. ते हि पादचारिणो अर्थार्थ्यनुवर्तकाश्च. दूरे तद्रजसः पुण्यत्वं, मार्गरजसो अपवित्रत्वात्. तेन च पावित्र्यं ततोऽपि दूरे. **श्रीवत्सरूपं लक्ष्म** चिह्नं किमर्थं त्वम् **अगाः** प्राप्तवान् असि? यतः त्वं **भगभाजनः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अनर्हसम्बन्धिनः. **तदधिका** इति. लक्ष्म्याधिभौतिकरूपाद् अधिका. **चरणे** इति. चरणसमीपे. **तद्** इति. तुलसीदाम. **तद्धाम** इति. भ्रमरस्य स्थानम्. **व्रतम्** इति. नियतः आहारः ''**पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः**''(सहैव.१२) इत्यादौ तथा दर्शनात्. **तत्सम्बन्धित्वेन** इति. तुलसीदामसम्बन्धित्वेन. **तत्फलम्** इति. तज्जनितः आनन्दविशेषः.

यः ताम् इत्यत्र. **प्रसिद्धः** इति. भगवानेव. **एतादृशः** इति. लक्ष्म्यनभीप्सुः. **किम् अगाः** इत्यत्र मूले काकुः वा प्रश्नो वा. उभयथापि न तस्याः ब्राह्मणप्रसाद-जन्यत्वं, किन्तु स्वाभाविकत्वम् इति निर्णीतम्।।२१।।

सहजश्र्यादिधर्मयुक्तः।।२०-२१।।

एवं विरोधम् उक्त्वा तस्य तात्पर्यं कल्पयन्तो धर्मरक्षार्थं वचनम् इति कल्पयितुं, धर्मो भगवता सर्वथा रक्षितः इति धर्मरक्षां हेतुत्वार्थम् आह

धर्मस्य ते भगवतः त्रियुग! त्रिभिः स्वैः पद्भिः चराचरम् इदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च सत्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ।।२२।।

धर्मस्य इति. हे **त्रियुग!** युगत्रयएव भगवदाविर्भावः, न कलौ, अतएव कलौ धर्मोऽपि न अस्ति, रक्षकाभावात्. युगत्रयएव भगवदाविर्भावे तत्रैव रक्षायां च हेतुम् आह **त्रिभिः स्वैः पद्भिः** इति. भगवान् त्रिपाद्, यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात्. **स्वैः** असाधारणैः. अतो द्विपात् चतुष्पाच्च लोकसिद्धः इति तद् वैलक्षण्यं न दोषाय. [क]**पद्भिः** इति वा द्वित्वसङ्ख्या, तेन षड्गुणेषु द्वाभ्यां द्वाभ्याम् एकैकस्मिन् युगे धर्मरक्षा. ज्ञान-वैराग्याभ्यां सत्ये, यशः-श्रीभ्यां त्रेतायाम्, ऐश्वर्य-वीर्याभ्यां द्वापरे इति कलौ न कोऽपि अवशिष्यते धर्मो धर्मरक्षकः. किञ्च, सत्वेन पाल्यते धर्मः. केवलसत्वस्य प्रवृत्तिः सत्ये, रजसा सहितस्य त्रेतायां, सत्वसम्बन्धयोग्येन रजसा तमसा च द्वापरे धर्मरक्षा. कलौतु सत्वस्य तत्सम्बन्धिनः च अभावाद् न रक्षा. जगदपि भगवता धर्मार्थमेव रक्षितम् इति आह **चराचरम् इदम्** इति. यद्यपि धर्मोऽपि भगवान्, जगदपि; तथापि धर्मार्थमेव जगत् पाल्यते. तद् आह द्विजानां देवानाञ्च अर्थे **इदं** जगद् **नूनं भृतम्** इति. ननु स्वरूपेणैव अत्र धरणं, किं सत्वेन गुणैः वा? इति आशङ्क्य आह **तस्य** जगतो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

धर्मस्य इत्यत्र. **तस्य** इति. ''**यत् सेवया**''(भाग.पुरा.३।१६।७) इति *''**येषां बिभर्मि**''(भाग.पुरा.३।१६।९) इति वाक्यस्य. **लोकसिद्धः** इति. स्मृतिसिद्धः. ''**मुखेनैकम्**''(जैमिनि.ब्राह्म.१।२८८) इति श्रुतौ द्वयोरेव सनयोः. पादत्वं सिद्धम् इति न एवं त्रिपात्त्वं युक्तम् इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **पद्भिः** इति. **वा द्वित्वसङ्ख्या** इति. यथा ''**दर्शपूर्णमासाभ्याम्**''(शत.ब्राह्म.११।२।४।१०) इत्यत्र यागत्रिकद्वित्वम् आदाय द्वि(त्व)सङ्ख्या; तथा अत्र गुणद्विकत्रित्वम् आदाय पद्भिः इति त्रित्वसङ्ख्या इति त्रित्वप्रयोजिका गुणगता द्वित्वसङ्ख्या इति भिन्नएव प्रकारः इति न श्रुतिविरोधः इति अर्थः।।२२।।

क. 'षड्भिः' इति मां.१,३. * ''इमानि चानयोरक्षरणि मुखेनैकं सवनं सह सर्वेणैव यज्ञेनागच्छत्''.

अभिघाति नाशकं **रजः च तमः च.** विक्षेपेण मारयति रजः, आवरणेनतु तमः. उभयथाऽपि जगद् धर्मार्थं न भवति, अतो **रजः तमश्च सत्वेन निरस्य नूनं भृतम्** इति सम्बन्धः. सत्वस्य उभयनिराकरणे सामर्थ्यम् आह **नो वरदया तनुवा** इति. ब्रह्मादीनां [1]देवानाम् ऊर्ध्वगतिदातृत्वाद् वरदत्वम्, अन्यदपि इष्टं प्रयच्छति इति च. तदेव सत्वं तनुरूपं जातम्. तनोति इति तनुः. अतो अनन्तस्वरूप–जननसामर्थ्यात् तयोः निरसनसामर्थ्यम्. अतः त्वं धर्मरूपो देवब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितः इति ब्राह्मणोत्कर्षः तद्रक्षापरनाम इति अन्तःप्रीतिहेतुत्वात् तथा उच्यते इति भावः।।२२।।

विपरीते बाधकम् आह **न त्वम्** इति.

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यद् इहात्मगोपं
गोप्ता वृष! स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव [2]वेदपन्था
लोकोऽग्रहीष्यद् ऋषभस्य हि तत् प्रमाणम्।२३।

यदि **त्वं द्विजोत्तमकुलं न गोप्ता तर्ह्येव तव शिवो वेदपन्थाः नङ्क्ष्यति.** तत्र हेतुः **लोको अग्रहीष्यद्** इति. **ऋषभस्य** प्रभोः यत् प्रमाणं तद् लोको अग्रहीष्यत्. द्विजोत्तमानां धर्मज्ञानसहितानां कुलं समूहः. **यद्** यस्मात् कारणात्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न त्वम् इत्यत्र. **विपरीते बाधकम्** इति. धर्मारक्षणे, वेदमार्गनाशरूपं बाधकम्.

तर्कपूर्वं तत् समर्थयन्ति **यदि** इत्यादि. अत्र 'यत्'पदस्य यदि इति सम्भावनार्थकत्वं कालार्थकत्वं वा, तर्कवाक्ये च अन्वयः. हेतुवाक्येतु 'तत्'पदस्य विद्यमानत्वेन नित्यसम्बन्धादेव यत्पदप्राप्तिः. अस्मिन् पक्षे 'यत्'पदस्य दूरान्वयात् प्रकारान्तरम् अन्यद् द्वयम् आहुः **द्विजोत्तमानाम्** इति, **यद्वा** इति च. तदा इदं हेतुवाक्यम् यस्माद् द्विजोत्तमकुलं तस्मात् त्वं गोप्ता इति, यस्माद् वा आत्मगोपं तस्मात् त्वं गोप्ता इति. ततो यदि न गोप्ता, तर्ह्येव वेदपन्थाः नङ्क्ष्यति इति 'तत्'पदबलादेव यदि इत्यस्य अध्याहारः. आत्मरक्षक-रक्षणस्य कथं वेदमार्गरक्षण-हेतुत्वम् इत्यतः उपपादयन्ति **आत्मा स्थितः** इत्यादि. वेदमार्गस्य स्वमार्गत्वं

१.'वेदानाम्' इति मां.१,३. २.देव. पा.

यद्वा, कुलम् आत्मगोपम्, आत्मानं स्वात्मानं वा भवन्तं गोपायति इति. आत्मा स्थितः चेत् स्वमार्गे गच्छेद्, अतः आत्मा प्रथमतो रक्षणीयः, तदनन्तरं स्वमार्गरक्षा. स्वात्मानं प्रति ये समायान्ति येन मार्गेण, सः स्वमार्गः. तत्रापि भक्तानाम् आगमनप्रतिबन्धकनिवृत्तिरेव रक्षा. ते चेद् भगवद्रक्षकाः भवेयुः धर्मज्ञानयुक्ताः चेद् भक्तिमार्गप्रवर्तकाः, तदा ते रक्षणीयाः इति अर्थः. तेषां रक्षा त्रिविधा, स्वरूपतः, सन्तोषजननेन अन्तः, प्रतिष्ठाजननेन च बहिः. तत्र स्वरूपतो रक्षा अवतारैः क्रियतएव. अथ अवशिष्यते अन्तः-बहिश्च. तद् आह **स्वर्हणेन ससूनृतेन** इति. सुष्ठु अर्हणं पूजा कायिकी, तेन बहीरक्षा तेषां प्रयोजनसाधिका, अन्यथा लोकसम्माननाभावे भगवन्मार्गोपदेशो न स्यात्. सूनृतेन च अन्तः. परिसन्तोषो अनेन उक्तः. एतस्य सहभावो अन्तः तोषस्य भगवत्कार्यहेतुत्वाय. अतो मार्गप्रवर्तकरक्षाभावे मार्गो नश्येदेव. **तर्ह्येव** इति पाषण्डप्रवृत्तेः सुगमत्वात्. नच बहूनां मार्गाणां विद्यमानत्वात् किं वेदमार्गेण? इत्यतः आह **शिवः** इति. अन्ये यादृच्छिकाः, कस्यचिदेव दुःखेनाऽपि फलसाधकाः, वेदमार्गस्तु **शिवः** कल्याणरूपः. ननु ब्राह्मणानां सन्माननाभावे कथं वेदो न रक्षितः स्याद्? इति आशङ्क्य आह **लोको अग्रहीष्यद्** इति. लोकस्तु स्वामी भगवान् यं मन्यते तमेव मन्यते. ब्राह्मणैरैव वेदमार्गो बोध्यते, न अन्यैः इति तेषां सम्माननाभावे अप्रवृत्तिः, पाषण्डतुल्यता वा स्यात्. **वृष!** इति सम्बोधनं धर्मरूपत्वाय, वर्षणाद् वा।।२३।।

ननु एवं सति वैषम्यप्रतिपादनाद् मम ब्रह्मत्वं न स्याद् इति आशङ्क्य आह

तत् तेऽनभीष्टमिव सत्वनिधेर्विधित्सोः क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।
नैतावता अधिपतेर्बत[1] विश्वभर्तुः तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः।।२४।।

तत् ते अनभीष्टम् इति. **तद्** ब्राह्मणानां रक्षार्थं सन्मानं, ते **अनभीष्टमिव.**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

समर्थयन्ति **स्वात्मानम्** इत्यादि. स्वमार्गस्वरूपम् आहुः **तत्रापि** इत्यादि. **तत्रापि** इति. स्वमार्गेऽपि. तथाच, प्रवाहनिरूपणे निर्वाहएव रक्षेति अर्थः. **ते** इति. ब्राह्मणाः. **सूनृतेन च** इति. रक्षेति अर्थात्।।२३।।

तत् ते इत्यत्र. **अनभीष्टमिव** इति. वैषम्यापादकत्वाद् अनभिप्रेतम्. तथाच,

---

१.'त्र्यधिपतेः' पा.

अथवा, पूर्वश्लोके वेदमार्गनाशः उक्तः, अतः तद्वेदनाशनं **ते अनभीष्टमिव**. सर्वथा अभीष्टाभावो अनभीष्टम्, अल्पाभीष्टाभावस्तु अनभीष्टमिव. प्रथमपक्षे रक्षाएव अर्थः, द्वितीये नाशः, कालत्वात्, सर्वकर्तृत्वाच्च. तत्र हेतुः **सत्वनिधेः** इति. सत्वनिधेः रक्षा अभीष्टा, नाशस्तु अनभीष्टः. **विधित्सोः** इति. सएव तथा विधातुम् इच्छति. जनाय हि क्षेमं विधातुम् इच्छति, जायमानाः स्वकृतेनैव हि सम्यग् भवन्ति इति. अथवा सत्वनिधेः नाशो अनभीष्टः. जनानां क्षेमकरणं तद् नाशः, उत्पत्तेः वेदनाशएव भवति. उत्पत्यर्थं क्षेमः चेद्, उत्पन्नानां वा वैदिकस्य संस्कारकत्वे पाषण्डाद् दुर्बलत्वम्. पुरुषार्थप्रतिपादकत्वे देहनिर्वाहकपाषण्डाद् बलिष्ठत्वम्. **निजशक्तिभिः उद्धृतारेः** इति उभयत्र हेतुः. स्वस्य असाधारण-सामर्थ्यैः उद्धृता अरयो येन. उभयत्रापि प्रतिबन्धकाभावो भगवच्छक्त्यैव सिद्धः. ननु तथापि स्वस्य दोषजननेन परोपकारः सिद्ध्यति, धर्मरक्षायान्तु एकएव दोषः इति चेत् तत्र आह **न एतावता** इति. स्वस्य नमनमात्रं न दोषः, [क]नमतां नमनम् इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्थित्यर्थतया परार्थम् अतो वैषम्याभावाद् न ब्रह्मत्वक्षतिः इति अर्थः. पूर्वश्लोके ब्राह्मणरक्षायाएव वाक्यार्थत्वात् 'तत्'पदेन तस्यैव परामर्शः इति अभिप्रेत्य एवं व्याख्यातम्. एतस्य अपुष्टार्थत्वाद् एकदेशपरामर्शित्वं 'तत्'पदस्य अङ्गीकृत्य पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. पक्षद्वयेऽपि यथायथम् अनभीष्टत्व-प्रयोजक-रूपद्वयम् आहुः **काले**त्यादि. तथाच, कालत्वाद् रक्षा अनभीष्टा, सर्वकर्तृत्वाद् नाशो अनभीष्टः इति अर्थः. **सएव** इति. सत्त्वनिधिरेव. **स्वकृतेनैव** इति. भगवत्कृतेनैव. **तन्नाशः** इति. वेदनाशः. तद् व्युत्पादयन्ति **उत्पत्तेः** इत्यादि. **उत्पत्तेः** इति. **''जायस्व म्रियस्व''**(छान्दो.उप.५।१०।८) इति प्रवाहप्रवेशात्. रक्षापक्षे जनाय क्षेमं विधित्सोः इत्यस्य अर्थम् आहुः **उत्पन्नानां वा** इति. उत्पन्नानाम् अर्थे क्षेमः चेद् इति अन्वयः. प्रथमपक्षे अनभीष्टा, अस्मिन् पक्षे वेदरक्षा अभीष्टा इति तस्याः अनभीष्टत्वे अभीष्टत्वे च क्रमेण हेतुद्वयम् आहुः **वैदिकस्य** इत्यादि. एवम् अत्र अर्धस्य व्याख्यानद्वयेन साम्यप्रतिपादनाद् भगवति वैषम्यं परिहृतम्. **दोषजननेन** इति. हीननम्रीभावरूपदोषजननेन. **एकएव** इति. मुख्यएव.

क. 'नमतीति नमनम्' इति मां.२.

व्युत्पत्तेः. नम्रभावो हीनानामेव हीनत्वबोधकः, उत्कृष्टानान्तु भारसूचकएव. ये हि महाभारवन्तो भवन्ति ते नम्राः भवन्ति, अतो नम्रत्वम् अनम्रत्वं वा न एकान्ततो दोषरूपं, गुणरूपं वा; अतः तव महत्वं सिद्धम् इति. हीनावनतिः कौतुकार्थं भवति अभिनयरूपत्वात्. सएव हि रसजनकः. महत्वम् आह **अधिपतेः** इति. **बत** इति हर्षे, स्वस्तिसन्माननापरिज्ञानात्. **विश्वभर्तुः** इत्यपि माहात्म्यम्. विश्वं हि यो बिभर्ति सहि लोके भाराक्रान्तइव नम्रो भवति, अन्यथा लोकाः भर्तुः भारं न ज्ञापयेयुः. अतो नमनस्य प्रयोजनद्वयं, लोके स्वस्य भर्तृत्वज्ञानं, स्वार्थेतु विनोदः. अवनतस्य सो अवनतिरूपः पदार्थः, ते विनोदः इति सम्बन्धः. अनेन दोषः परिहृतः।।२४।।

एवं पूर्णान्तःकरणा[१] भूत्वा, भगवता यो दण्डः स्थापितः, तत्रापि अभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वापराधं दूरी कुर्वन्ति

यं वाऽनयोर्दममधीश भवान् विधत्ते वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण।२५।

यं वा अनयोः इति. हे **अधीश!** अस्माकं तयोश्च. अधिकेशत्वं नाम वेदयुक्त्याद्यपेक्षयाऽपि, वेदादीनां नियामकत्वं वा; अतएव [क]अस्मदुक्तम् अप्रयोजकम्. **अनयोः भवान् वृत्तिं यं वा दमं विधत्ते, तद् अनुमन्महि.** वृत्तिः जीविका, द्वारि स्थित्वा सर्वेषां निवारणं कर्तव्यम्. तदा निवारिताः स्वप्रवेशार्थं स्वकीयं धनं धर्मं वा दास्यन्ति इति वृत्तिदानम्. स्वयं वा द्वारे परिपालनं करोति इति स्वतन्त्रतया वा वृत्तिदानम्. अस्मदुक्तो वा दण्डो अन्यो वा, यमेव दण्डं भवान् विधत्ते तद् अनुमन्महि. भवदिच्छानन्तरम् अस्माभिरपि स्वीक्रियते इति अनुमाननम्. एतदपि न अनुरोधात्, किन्तु **निर्व्यलीकम्.** स्वस्याऽपि अपराधाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रसजनकः इति. अत्र रसो बीभत्सो बोध्यः. **स्वस्ति-सम्माननापरिज्ञानाद्** इति. अविनाशस्य सम्माननस्य च तात्पर्यापरिज्ञानात्।।२४।।

यं वा इत्यत्र. **इति वृत्तिदानम्** इति. अस्मिन् पक्षे वयमपि स्वकीयं धर्मं दद्मः इति वृत्त्यनुमाननं ज्ञेयम्. **तेषां दण्डः** इति. अस्मदुक्तः तेषां दण्डो अस्माकमेव अस्तु इति अर्थः।।२५।।

१.'पूर्णान्तःकरणो' इति क पाठः. २.मुद्रितपाठस्तु 'अस्मदुक्तप्रयोजकम्' इति.

दण्डः चेत् तदपि अङ्गीक्रियते इति आहुः **अस्मासु** इति. **वा** इति उभयत्र अनादरे. सङ्कोचो न कर्तव्यः इति अभिप्रायेण आहुः **यः उचितः** इति. **ध्रियतां सः दण्डः** इति. इदानीं वाक्यमात्रम् उक्त्वा अन्येन तत् फलं सम्पादनीयम् इति न, किन्तु इदानीमेव सः दण्डो अस्मासु स्थापनीयः. अथवा सएव वा दण्डो जन्मत्रयात्मको अस्मासु स्थापनीयः. तत्र स्वस्य अपराधम् आहुः येन कारणेन **अनागसौ** निरपराधौ **वयं किल्बिषेण अयुङ्क्ष्महि** योजितवन्तः. सः दण्डः सहैव उभयेषां जन्मत्रयम् इति. **अस्मासु वा** इति पक्षे तेषां दण्डो अस्तु न वा इति औदासीन्यम्. एवं सर्वभावेन भगवतो माहात्म्यं निरूपितम्।।२५।।

भगवांस्तु शापाद् भीताः इति तान् ज्ञात्वा शापं स्वकृतम् इति आह

श्रीभगवान् उवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भ-सम्भृत-समाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशम् उपयास्यत आशु यो वः शापो मयैव निहितस्तदवैत विप्राः।।२६।

एतौ इति. **सुरेतरगतिं** दैत्यत्वं, राक्षसत्वं, मनुष्यत्वञ्च. इतरत्वं समाने भवति इति असुर-मनुष्ययोः देवतुल्यत्वं "**त्रया ह प्राजापत्याः**"(   ) इत्यत्र निरूपितं, राक्षसाअपि बीज-पराक्रमाभ्यां देवतुल्याः इति. यक्षादयस्तु न स्वतन्त्राः, कुबेरस्तु देवएव; अतः त्रिविधामेव सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यएव भूयो मम अन्तिकम् **उपयास्यतः**. **यो वो** युष्माभिः दत्तः **शापः** सः मयैव **निहितः** इति, **तद् अवैत**. 'निमितः' इति पाठे नितरां मयैव मितः. **विप्राः** इति अदीर्घदर्शित्वम्. ननु सुरेतरगतिप्राप्तौ शीघ्रं कथं भवत्समीपागमनं[1], तत्तद् जन्मकर्मणां भोक्तव्यत्वाद्? इति आशङ्क्य आह **संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ** इति. क्रोधसंरम्भेण सम्यग् भृतो यः समाधिः, तेन अनुबद्धो योगः. योगेन सर्वपापक्षयः इति पूर्वम् अवोचाम. **भूयः सकाशम् उपयास्यतः** इति शापान्तः. परिमितशापदानं मत्कृतः शापः इति अवैत इति निर्भयार्थम्।।२६।।

एवम् आगतानां मुनीनां सर्वदुःखदूरीकरणम् उक्तम्. इदानीं सर्वेषां यथायथं प्रतिगमनम् आह **अथ** इति. तत्र प्रथमं योगिनां प्रतिगमनं द्वाभ्याम् आह कृतकरिष्यमाणप्रमेयभेदेन

ब्रह्मा उवाच

१.भगवत्समीपागमनम् ग.ङ.

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयं प्रभुम् ।।२७।।

अथ इति. पुनः ते स्वभावं प्राप्ताः, यतो मुनयः. यस्य या निष्ठा तस्य सएव गुणः, विपरीतो दोषः. ते हि अन्तरेव भगवन्तं पश्यन्ति, न बहिः. बहिः दर्शनं च न उपकारी इति प्रतिजग्मुः. बहिः दर्शने एको गुणो जातः इति आह **नयनानन्दभाजनम्** इति. इन्द्रियाणि हि परमैश्वर्यसम्बन्धात् सुखं पञ्चधा विभज्य रूपादिभेदेन तम् आनन्दम् अनुभवन्ति, करणत्वाद् जीवस्यापि सुखजनकानि. अयञ्च भगवान् आनन्दमूर्तिः लावण्यपूरः इति नयनानन्दस्य भाजनम्. तद् भाजनं द्वयमपि इति आह **वैकुण्ठं तद् अधिष्ठानं विकुण्ठञ्च** इति. ननु उभयोः तुल्यतया नयनानन्दभाजनत्वं कथम् उच्यते ? तत्र आह **स्वयं प्रभुम्** इति. लोकः स्वयमेव[१], वैकुण्ठोऽपि स्वयं; तथापि प्रभुत्वेन भगवत्स्फुरणे लोकत्वेन तत्स्फुरणाद्, अक्षरस्य भगवत्वाच्च उभयोः तथात्वम् इति अर्थः।।२७।।

अग्रिमकृत्यम् आह **भगवन्तं परिक्रम्य** इति.

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्याऽनुमान्य च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ।।२८।।

प्रदक्षिणा नमस्कार आज्ञाप्रार्थनमेव च ।
***आगत्यतोषभावश्च गमने स्तोत्रमेव च ।।१।।**
समागतानां पञ्चाङ्गं तोषलक्षणम् उच्यते ।
यथागतिगतिः कार्ये प्रसङ्गं वारयेद् इति ।।२।।

प्रतिजग्मुः आगमनप्रकारेणैव पुनः गताः इति अर्थः. बहिः दर्शनस्य अधिकत्वात् प्रकर्षेण मुदिताः. **वैष्णवीं श्रियम्** इति शान्तिप्रसादलक्षणाम्. पूर्वस्माद् अयमेव विशेषः।।२८।।

भगवतो निर्गमनं वक्तुं सेवकयोः समाधानम् आह **भगवान्** इति.

भगवान् अनुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं नु मे ।।२९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवन्तम् इत्यत्र. ***आगत्यतोषा(ष)भावः** इति. आगमनानां तोषपूर्त्यभावः।।२८।।

---

१. 'लोकस्वयमेव' ग.

अनुरोधे हेतुः **अनुगौ** इति. तेषां वाक्यविश्वासे कारणं **भगवान्** इति. **यातम्** इति आज्ञा शापेन गमनाभावार्थम्, अनेन तयोः स्वधर्मो रक्षितः. अतएव **मा भैष्टम्.** शापेन गमने सति भयं भवति. ननु कृते कारणे कथं फलं न भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **अस्तु शम्** इति. भवतां कल्याणम् अस्तु. इदानीं सालोक्यं, गतानान्तु सायुज्यं भविष्यति इति अर्थः. इदानीं लोके कौचिद् भवन्तौ, पश्चाद् लोकरूपावेव भविष्यतः इति ''**लोकाय कल्पताम्**''(   ) इति वाक्यम्. 'चरण'पदमपि तमेव अर्थं वक्ति. प्रविष्टयोः चरणभावश्च सिद्धः, नैकट्यन्तु तदा महत्. किं ब्राह्मणानाम् अनुरोधेन एवं क्रियते? न, इति आह **ब्रह्मतेजः** इति. ब्रह्मास्त्रं किल दूरीक्रियते ब्रह्मतेजः, इदन्तु आधिभौतिकम्. अतः **समर्थोऽपि ब्रह्मतेजो हन्तुं न इच्छे,** सृष्ट्युपयोगित्वात्. अतो **मम मतम्. नु** इति निश्चये. अभिप्रायन्तु भगवानेव जानाति, वचनाद् न कल्प्यते, कल्प्यमानोऽपि कार्यानुरोधेन कल्पनीयः इति।।२९।।✻

तर्हि ब्रह्मशापस्य का गतिः? तत्र आह **मयि** इति.

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाऽल्पीयसा पुनः।।३०।।

ब्रह्मशापस्य प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्. प्रायश्चित्तानन्तरं हि पुरुषः शुद्धः, शुद्धेनैव हि विहितं कर्तव्यं, भगवद्भक्तानां च प्रायश्चित्तं भगवत्स्मरणमेव. तच्च स्मरणं लौकिकं भवति, शुद्धस्यैव हि वैदिके अधिकारात्. [क]लौकिकत्वात् प्रायश्चित्तत्वं च. [ख]नित्यता तु स्मरणस्य प्रथमप्रवृत्तानां, यावद् भगवदीयाः भवन्ति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मयि इत्यत्र. **लौकिकत्वाद्** इति. स्मरणस्य तथात्वात्. ननु स्मरणस्य प्रायश्चित्तरूपत्वे पापापनोदोत्तरम् अकरणापत्त्या ''**स्मर्तव्यः सततं विष्णुः**'' (   ) इत्यादि वाक्योक्ता नित्यता बाध्येत इत्यतः आहुः **नित्यता** इत्यादि. तथाच, प्रथमकक्षायां प्रायश्चितरूपता, पश्चात्तु स्वाभाविकत्वात् फलरूपता वा, अवश्यकर्तव्यं च इति न तद्बाधः इति अर्थः. ननु एवं सति प्रकृते कथं

क. 'अलौकिकत्वात्' इति मां.१,३. ख. 'नित्यदानुस्मरणस्य' इति मां.१,३.

✻ २९श्लोकानन्तरं गीताप्रेसपुस्तके ''एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा, पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते'' इति श्लोकः उपलभ्यते.

पश्चात्तु पापमेव न उत्पद्यते. भगवदिच्छयातु तदुत्पत्तिः. तदिच्छायाः बलिष्ठत्वात् स्मरणं न सम्भवति. लौकिकेतु बाधाभावाद् भगवत्सायुज्यादिसाधकत्वाभावेऽपि प्रायश्चित्तत्वम् अस्ति, दोषनिर्घातकत्वस्य स्मरणसहजधर्मत्वात्. कामादयो हि केवललौकिकाः [1]लौकिकपोषहेतवः. क्रोधो अत्र शापे हेतुः जातः इति क्रोधेनैव स्मरणं भविष्यति, अन्यथा विस्मरणमेव स्यात्. एवं गोपिकानां कामोऽपि. ब्रह्मणा हि कामेन वाक् शप्ता, अतएव वाचा न प्रजापतेः होमः. "**वाक् च मनश्चार्त्तीयेताम्**"(   ) इति उपाख्याने तथा निरूपणात्. सैव वाक् गोपिकाः. भयेन शुक्राचार्येण शप्ताः कालनेमिप्रभृतयः, ते हि बृहस्पतिम् उररीकृतवन्तः स्वपौरोहित्यगमनभयात् क्षिप्ताः इति भयेनैव स्मरणं कंसस्य. अन्ये च देवाः यथायथं तत्तत्सम्बन्धिनो बृहस्पति–दुर्वासःप्रभृतिभिः शप्ताः इति सम्बन्धस्नेहादेव स्मरणं यादवादीनाम्. एते चत्वारोऽपि शापात् तथा उत्पन्नाः, तथा स्मरणेन तत्तच्छापं हित्वा स्वभगवदीयेनैव[2] रूपेण भगवत्पदं प्राप्ताः. तथा अत्रापि "**अस्तु शम्**" (   ) इति वाक्याद् भगवत्पदप्राप्तिः. भगवति च क्रोधसंरम्भयोगेन ब्रह्मावज्ञालक्षणं दोषं निर्हृत्य, **मे निकाशं** समीपम्,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पापोत्पत्तिः इत्यतः आहुः **भगवदिच्छया** इत्यादि. ननु लौकिकाद् बलिष्ठं वैदिकं स्मरणं तत्र च एते अधिकारिणोऽपि इति, तेनैव कुतो न पापनिवृत्तिः इत्यतः आहुः **स्मरणं न सम्भवति** इति. कर्मव्यासङ्गाद् न सम्भवति. नच एतेषां ज्ञाने अधिकारः "**पापीयसस्त्रय इमे**"(भाग.पुरा.३।१५।३४) इति शापेन प्रतिबन्धाद् इति अर्थः. एवं प्रतिपादने भगवद्वाक्यमेव "**हन्तुं नेच्छे**"(भाग.पुरा.३।१६।२९) इति बीजभूतं ज्ञेयम्. ननु एवं सति लौकिकेऽपि उक्तन्यायापत्तिः इत्यतः आहुः **लौकिकेतु** इत्यादि. **बाधाभावाद्** इति. लौकिकप्रतिकूल-भगवदिच्छाभावात्. ननु अस्तु एवं, तथापि संरम्भस्यैव[3] स्मारकतायाः अज्ञापने किं बीजम् इत्यतः आहुः **कामेन** इत्यादि. **बृहस्पतिम्** इति. शुक्राचार्ये तपोर्थं गते तद्रूपं कृत्वा आगत(तो) बृहस्पतिः इति पुराणान्तरे कथनात् तम्. **क्षिप्ताः** इति. अधिक्षिप्ताः धिक्कृताः. **यादवादीनाम्** इत्यत्र 'आदि'पदं पाण्डवोपलक्षकम्. तेषां च शापः पञ्चेन्द्रोपाख्याने प्रसिद्धः. तेन स्नेहसम्बन्धौ उभावपि पाण्डव-यादवयोः प्रापकौ ज्ञेयौ।।३०।।

---

१. 'लौकिकदोषहेतवः' इति मां.१,३. २.स्वभावभगवदीयेन. ग. ३.संरम्भस्य. ग.

अतिनैकट्यं वा द्वारापेक्षया चरणे, **अल्पीयसा कालेन पुनः प्रत्येष्यतम्** इति. क्रोधसम्बन्धस्य[३] लोके अपुरुषार्थत्वात् पुरुषार्थत्वाय 'योग'पदम्।।३०।।

एवं तयोः सान्त्वनम् उक्त्वा भगवान् यथास्थानं गतः इति आह **द्वाःस्थौ** इति.

द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्।
सवातिशयया लक्ष्म्या युक्तं स्वं धिष्ण्यमाविशत्।।३१।।

आदिश्य इति वचनाद् न अन्यथाकरणं सम्भवति. भगवतः खेदो भविष्यति इति आशङ्क्य आह **भगवान्** इति. ऐश्वर्य-ज्ञान-वैराग्याणां खेदनाशकत्वात्. ननु एतौ उभौ निष्कासितौ दुष्टौ चेद्, अन्येऽपि तथा भविष्यन्ति इति तन्निष्कासनमपि कर्तव्यम्, अन्यौ च द्वारपालकौ कर्तव्यौ. तद् उभयम् अकृत्वा कथं गृहे गतः? इति आशङ्क्य आह **विमानश्रेणिभूषणम्** इति. विमानानां श्रेण्यः, तासां भूषणम् अलङ्कारभूतम्. वैकुण्ठस्थितानि विमानानि सार्थकानि. अतो विगतो मानो येषाम् इति तद् अतिरिक्ताः सर्वे अभिमानरहिताः, अतो निर्दुष्टाः इति अर्थः. *तएव तत्र साधारणाअपि इति 'श्रेणि'पदम्. तेषामपि **भूषणम्** इति सर्वथा सर्वदोषरहितं स्थानम् इति अर्थः. अतएव अन्ये न विनियुक्ताः, एतौ सदोषौ इति. परं द्वारस्थत्वेन नियुक्तौ, नतु अन्यप्रतिरोधार्थं, मुनीनां वाक्येन तथानिर्णयात्. पुनः तत्रैव गमने हेतुः **सर्वातिशयया लक्ष्म्या** इति. सर्वेभ्यो अतिशयया. लक्ष्म्यर्थं कृतत्वाद् लक्ष्मीः तं सर्वभावेन अलङ्कृतवती, अतः सर्वातिशयया शोभया युक्तं भवति. स्वकीयं स्वरूपभूतं च तत् स्थानम् इति न अन्यत्र गमनम्।।३१।।

एवं भगवतो गृहप्रवेशम् उक्त्वा तयोः अन्यत्र गमनम् आह **तौतु** इति.

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद् हरिलोकतः।
हतश्रियौ ब्रह्मशापाद् अभूतां विगतस्मयौ।।३२।।

तत्र तयोः निलीय स्थितिं व्यावर्तयति 'तु'शब्दः. **तौ** हि विचारकौ, भगवदाज्ञापरिपालनादेव निस्तारः इति. तथा ज्ञाने हेतुः **गीर्वाणऋषभौ** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

द्वाःस्थौ इत्यत्र. ***तएव तत्र साधारणाः** इति. वैमानिकाएव वैकुण्ठे साधारणजनरूपाः।।३१।।

३.संरम्भस्य. ग.

दुस्तराद् इति तस्य लोकस्य तरणं दुःखेनाऽपि अशक्यम्. तत्रापि **हरिलोकतः**. सहि सर्वदुःखनिवारकः. तत्रापि प्रकाशमानो लोकः, अन्यत्र अज्ञानमेव इति भावः. वैकुण्ठस्थितयोः या शोभा स्थिता, सा ब्रह्मशापाद् हता, अतः तत्र स्थातुमपि न शक्यते, तत्रत्यैः सह साधर्म्याभावात्. किञ्च, विगतः स्मयो गर्वो ययोः. अतएव एतयोः पूर्वं गर्वः स्थितः, नतु निर्दुष्टौ. ततो निष्कासितौ इति. लोकस्य *उपकारित्वख्यापनार्थं लोकतएव विगतस्मयौ इति हेतु-हेतुमद्भावो निरूपितः ।।३२।।

एवं तत्कृतम् उपकारं प्राप्य तौ गतौ इति आह **तदा** इति.

तदा विकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः ।

हाहाकारो महान् आसीद् विमानाग्र्येषु पुत्रकाः ।।३३।।

वैकुण्ठधिषणात् तयोः निपतमानयोः सतोः, **तदा हाहाकारः आसीद्,** अयुक्तं जातम् इति. **विमानाग्र्येषु** इति तेषां दर्शनयोग्यता निरूपिता. हाहाकार-वर्णनं तयोः दयासूचकम्, अतएव अत्र प्रतीकारो न कर्तव्यः, क्लिष्टयोः अधिक-क्लेशापत्तेः. **पुत्रकाः** इति स्नेहेन सम्बोधनं स्वस्य दयावत्वज्ञापनार्थम् ।।३३।।

तयोः निरूपणस्य प्रकृतोपयोगम् आह **तावेव** इति.

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।

दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ।।३४।।

अधुना तावेव दितेः जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेजः प्राप्तौ. गर्भे प्रवेशएव अत्र, नतु प्रकारान्तरेण अन्नादिषु सङ्क्रमः. सुरभावाद् निर्गतत्वाद् असुरत्वम्. तयोः योग्यं बीजम् इति आह **उल्बणम्** इति. स्वभावतएव उल्बणम्, अन्यायेन निर्गतत्वात्. तत्रापि **दितेः जठरनिर्विष्टम्.** तयोः आपद्दशा इयम् इति ख्यापनार्थं पूर्वावस्था कीर्तनं **हरेः पार्षदप्रवरौ** इति।।३४।।

तर्हि अन्धकारे किं कारणं? तत्र आह **तयोः** इति.

तयोरसुरयोर् अद्य तेजसा यमयोर्दिवः ।

आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवान् तद् विधित्सति ।।३५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

***उपकारित्वख्यापनार्थम्** इति. गर्वनिवारकत्वेन तथात्वार्थम्।।३२।।

तदा इत्यत्र. (अ)प्रतीकारः इति. दितिगर्भे प्रतीकारः।।३४।।

तौ हि अधुना असुरौ, अतः तत् तेजसा **वो**(?) युष्माकं तेजः आक्षिप्तम्. भगवत्तेजसा दैत्यतेजः आक्षिप्तं भवति, दैत्यतेजसा च देवानाम्. किञ्च मुनीनाम् अपकारसंस्मरणाद् **दिवः. यमयोः हि वः** इति पाठेऽपि भवतामेव यमौ, अतएव भवतां तेजः आक्षिप्तं भवति. तर्हि प्रतीकारः कर्तव्यः इति चेत् तत्र आह **भगवान् तद् विधित्सति** इति. **एतर्हि** इदानीं भवताम् उपद्रवं भगवानेव विधित्सति, केन प्रतीकारः कर्तव्यः इति अर्थः।।३५।।

तर्हि का गतिः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **विश्वस्य** इति.

विश्वस्य यः स्थिति–लयोद्भव–हेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यय–योगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशः तत्रास्मदीयविमृशेन कियान् इहार्थः।।३६।।

का भवतां चिन्ता, सएव शान्तिं करिष्यति. तत्र हेतुः **यो विश्वस्य स्थितिलयोद्भवहेतुः** इति. यस्तु उत्पादयति, सएव पालयति इति अधुनाऽपि सएव पालयिष्यति. अथ यदि न पालयिष्यति, तदा प्रलयकर्तृत्वात् प्रलयं करिष्यति इति न चिन्ता कर्तव्या, प्रलयस्य अवश्यम्भावात्. तथापि क्लेशात् चिन्ता इति चेत् तर्हि उत्पादनमपि करिष्यति इति न चिन्ता कर्तव्या. किञ्च न केवलं भवतामेव तेन कार्यं कर्तव्यं, किन्तु विश्वस्यैव. यतो विश्वस्यैव सः उत्पत्यादिकर्ता. ननु साधारणदाहेऽपि यथा पलायनेन जङ्घालुः न दह्यते, तथा अस्मासु प्रतीकारः त्वया कर्तव्यः इति आशङ्क्य आह **योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः** इति. भगवतो योगमाया सर्वक्लेशहेतुः, सा हि दुरत्यया. साधनेषु योगो महान्, तस्याऽपि ये ईशाः स्वाधीनयोगाः; तैरपि योगमायातिक्रमः कर्तुम् अशक्यः. अतो न मया[1] प्रतीकारः. तर्हि त्वत्तोऽपि उत्कृष्टो वक्तव्यः इति चेत् तत्र आह **आद्यः** इति. नहि तदपेक्षया कश्चिद् आद्यो अस्ति, यो वक्तव्यः स्यात्. तर्हि सएव उच्यताम् इति आशङ्क्य आह **क्षेमं विधास्यति** इति. सो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तयोः इत्यत्र. **भवतामे(व) यमौ** इति. **''स यमो देवानाम् इन्द्रियं वीर्यम् अयुवत, तद् यमस्य यमत्वम्''**(कृ.यजु.२।१।३) इति 'यम'पदनिर्वचनाद् भवतामेव इन्द्रियवीर्यनाशकौ इति अर्थः।।३६।।

।।इति तृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे षोडशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१.मायाप्रतीकारः क.

अनुक्तोऽपि स्वयमेव क्षेमं विधास्यति. तत्र हेतुः **त्र्यधीशः** इति. अन्यथा लोकद्वयमेव स्याद्, यदि ताभ्यां दिवो नाशः स्यात्. ननु ताभ्यां नाशे कृते पश्चात् कथं पालयिष्यति? इति आशङ्क्य आह **भगवान्** इति. ननु तथापि त्वया शुभाशंसनं कर्तव्यम्, अस्माभिः वा त्वद् वचनेन तपस्यादिकं कर्त्तव्यम् इति चेत् तत्र आह **तत्र अस्मदीयविमृशेन** इति. यथा पर्जन्ये अवर्षति ततः पूर्वं घटेन क्षेत्रसेचनम्. यदि देवो न वर्षेत् सेकेनाऽपि न सस्योत्पत्तिः, वृष्टौ सत्यां सेको व्यर्थएव. तत्र अस्मदीयेन विमर्शेन. **तत्र** सर्गे[१], **इह** इदानीं, **कियान्** वा अर्थः? सः सर्वार्थमेव शुभं करिष्यति इति किं प्रत्येकप्रयासेन फलासाधकेन इति अर्थः।।३६।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे षोडशाध्यायविवरणम् ।।

१. 'स्वर्गे' इति ग पाठः.

सप्तदशाध्यायविवरणम्

कामादिना मार्गनाशा उपोद्घातेन वर्णिताः ।
सृष्टिमात्रप्रयोगाय तत्फलं वर्ण्यते शुभम् ॥१॥
उत्पत्तिः तामसी प्रोक्ता स्थितिर्वै राजसी मता ।
सात्विकः प्रलयश्चेति विपरीतं फलं तयोः ॥२॥
उत्पत्तिः द्विविधा प्रोक्ता स्वरूपानिष्टभेदतः ।
यावद् वृद्धिरिहोत्पत्तिः कायवाग्दोषवर्णनम् ॥३॥
सजातीयविजातीय–क्लेशदानाय जन्मनः ।
शापस्त्वेक इति प्रोक्तो हिरण्याक्षो न चापरः ॥४॥
आधारस्तु स एवोक्तो द्वितीये दोषवर्णनम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ सप्तदशाध्यायं विवरिषवः पूर्वत्रय्या एतस्याः सङ्गतिम् आहुः **कामादिना** इत्यादि. **सृष्टिप्रयोगाय** इति. सृष्टेः प्रकर्षो भगवत्प्रयुक्तत्वं, तस्य सम्बन्धाय. तथाच सृष्टिं प्रति उपोद्घातः, एतत्त्रयीं प्रतितु तेषां हेतुता इति त्रय्योः हेतु-हेतुमद्भावः सङ्गतिः इति अर्थः.

त्रयाणां क्रमेण अर्थम् आहुः **उत्पत्तिः** इत्यादि. **तयोः** इति. जयविजययोः. **फलं** शाप(फ)लं शापजन्यम्. **विपरीतम्.** लोकविलक्षणं, पर्यवसान उत्कर्षाधायीति अर्थः.

एवं सामान्यतः त्रयाणाम् अर्थम् उक्त्वा विशेषं विभजन्ते **उत्पत्तिः** इत्यादिसार्धैः चतुर्भिः. तत्र सपादैः त्रिभिः प्रथमार्थः पूर्वं विमृश्यते. **काये**ति चरणो अग्रिमार्धेन सम्बध्यते. ननु भवतु एवं, सपरिकरात् तदुत्पत्तिः तथापि सन्नियोग-शिष्टत्वात् प्रसङ्गाच्च उभयोः कथा अत्र वक्तव्या, तत्र एकस्यैव कुतः उक्ता इत्यतः आहुः **शापः** इत्यादि. **तुः** शङ्कानिरासे. **शापः एकः इति प्रोक्तः** द्वितीयोऽपि उत्पत्त्यातु उक्तः, सङ्क्षेपेण वृद्ध्या च. **तु** पुनः. **हिरण्याक्षः आधारः,** दितिदोषतः प्रथमम् उत्पन्नत्वाद् आधारदोषबहुलः. **चो** अवधारणे. **अपरो** हिरण्यकशिपुः तादृशो न. अतः **सएव उक्तो** विशेषाकारेण उक्तः. **द्वितीये** हिरण्यकशिपौ उल्बणवीर्य-जन्यत्वाद् **दोषवर्णनम्** **"अकुतोमृत्युरुद्धतः"**(भाग.पुरा.३।१७।१९) इत्यनेन औद्धत्यमात्रवर्णनम्. किञ्च, इदम् उत्पत्तिप्रकरणम्, अतः **उत्पत्तिरेव** तयोः नीचयोनौ

उत्पत्तिरेव शापेन नीचयोनौ निरूपिता ।।५।।
स्थितिनाशौ तयोस्तस्माद् हरावेवाऽत्र वर्ण्यते ।
कृष्णेन सहिता लीलाः स्थितिस्तस्य महात्मनः ।।६।।
निधनं चाऽपि तस्यैव कल्याणवचनाद् मतम् ।
स्वरूपोत्पत्तिरन्यत्र हेतुरित्युच्यते बहु ।।७।।
अनिष्टसूचकं तत्र ज्ञानं दुःखप्रणाशनम् ।
अतः सप्तदशेऽध्याये दुःखाभावस्तथोद्गमः ।
अनिष्टसूचनं दोषो वर्ण्यन्ते पञ्च सम्भवे ।।८।।

तत्र प्रथमं निदानज्ञानेन भयनिवृत्तिम् आह **निशम्य** इति.

मैत्रेयः उवाच

निशम्याऽऽत्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झताः ।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः।।१।।

आत्मभुवा ब्रह्मणा **गीतं कारणं निशम्य शङ्कया उज्झताः** जाताः. **आत्मभुवा** इति कारणम्. **गीतम्** इति हर्षेण सार्वजनीनम् उक्तम् इति फले निःसन्देहः. **शङ्का** स्वनाशे. पीडामात्रन्तु परिच्छिन्नत्वात् सोढव्यम् इति शङ्कयैव उज्झताः जाताः, इष्टानिष्टयोः कालस्य च निर्द्धारितत्वात्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शापेन निरूपिता, स्थितिनाशौतु **तस्माद् भगवतः** सकाशात्. अतः तदवतारान्तरस्य अत्र प्रकृतत्वाद् न द्वितीयस्य स्थितिनाशकथा उक्ता, किन्तु प्रकृतत्वाद् एकस्यैव उक्ता इति अर्थः. द्वितीय-तृतीययोः आहुः **हरौ** इत्यादि. **अत्र** अस्मिन् प्रकरणे **तस्य महात्मनः** प्रकृष्टान्तःकरणस्य हिरण्याक्षस्य. **कृष्णेन सहिताः लीलाः** इति **हरावेव स्थितिः. च** पुनः **तस्य निधनमपि** एवं हरावेव **मतम्.** तत्र गमकम् **कल्याणवचनाद्** इति. ‘‘**अस्तु शम्**’’(   ) इति भगवद्वचनात्. एवं सपादेन अग्रिमयोः अर्थो विमृष्टः. अतः परं द्वाभ्याम् उपपत्त्या प्रकृतार्थम् आहुः **स्वरूपे**त्यादि. **अन्यत्र** इति. अन्येषामपि उत्पत्त्यादौ. **तत्र ज्ञानम्** इति. तद्विषयकं निदानज्ञानम्. **दोषौ** इति. वाक्कायदोषौ. **सम्भवे** इति. उत्पत्तौ.

निशम्य इत्यत्र. **आत्मभुवा** इति **कारणम्** इति. सहि आत्मनो भूर्देवानाम् उत्पत्तिस्थानम्, अतः कारणत्वात् तद् उक्तं तद्धितकरञ्च इति भावः।।१।।

शङ्कानिवृत्यनन्तरं च **सर्वे त्रिदिवाय न्यवर्तन्त. दिवौकसः** इति [क]तत्र गमनावश्यकत्वम् ।।१।।

उत्पत्तिम् आह **दितिस्तु** इति.

दितिस्तु भर्तुरादेशाद् अपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ।।२।।

ऋषिविचारेण सद्यएव उत्पादनीयौ, तथापि दित्या तथा न कृतम् इति 'तु'शब्दः. **भर्तुः** कश्यपस्य, **आदेशाद्** वाक्याद् आज्ञारूपाद्, **अपत्ये** विषये परितः शङ्कायुक्ता जाता. तया शङ्कया तयोः दोषनिवृत्यर्थं मारकः कालः प्रतीक्षितः. सहि वर्षशतात्मको भवति, अतः **पूर्णे वर्षशते पुत्रौ प्रसुषुवे.** उभौ पुत्रौ जनितवती. तौ यमलावपि दुःखदातृत्वाद् **यमौ** इति उक्तौ. पुत्रापराधेन भर्ता स्वात्मानं त्यक्ष्यति इति भयात् शतवर्षधारणम् इति बोधयति **साध्वी** इति. एते वर्षाः मानुषाणाम्।।२।।

एवम् उत्पत्तिम् उक्त्वा तस्याः तामसत्वं ज्ञापयितुम् अनिष्टसूचकान् बहून् उत्पातान् वर्णयति. कालप्रतीक्षा कृता इति संवत्सरात्मकः कालः तत्र अनिष्टसूचकः इति द्वादशभिः अनिष्टानि, फलं च एकेन उच्यते. तत्र प्रथमं सामान्यम् अनिष्टम् आह **उत्पाताः** इति.

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ।।३।।

तत्र आश्रमे, तदा वा. तयोः **जायमानयोः** सतोः, त्रिविधाअपि जाताः. तेषां देशभेदेनैव त्रैविध्यम् आह **दिवि भुवि अन्तरिक्षे च** इति. सात्विक-राजस-तामसक्रमो अत्र. **च**काराद् आत्मनि भूतकृतानि च. तेषां फलम् आह **लोकस्य उरुभयावहाः** इति. **लोकस्य** इति सामान्यतः, सतां वा. उरुभयम् आवहन्ति इति अधिकं भयं लोकनाशाद्, धर्मनाशाद् वा।।३।।

उद्देशतः उक्त्वा स्वरूपतः त्रिविधान् आह **सहाचलाः** इति.

सहाचला भुवश्चेलुः दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाऽशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ।।४।।

एतेऽपि दिव्याः इति केचित्. पर्वतसहिताः **भुवः** खण्डशः **चेलुः**.

क. 'तत्रागमना...' इति मां.१,२,३.

अनवच्छिन्ना चेद्, भूः चचाल इति वदेत्. **सहाचलाः** इति अचलानामपि पृथक् चलनम्. दिग्दाहो अन्तरिक्षस्थः, अन्तरिक्षे प्रतिष्ठिताः दिशः इति. **सर्वाः** अष्टौ. **जज्वलुः** इति न धूममात्रम्. दिव्यान् आह **सोल्काः च अशनयः** इति. उल्काः अग्निसदृशाः नक्षत्ररूपाः, तत्सहिताः अशनयो वज्राः. **केतवः** शतं धूमकेतुप्रभृतयः. सर्वेषां साधारण्येन भयजनकत्वेऽपि केतूनाम् आर्तिजनकत्वम् अधिकम्. यैः पातो दृश्यते तेषां शरीरे पीडा भवति इति विशेषः. **आर्तिहेतवो** यमदूतादयो वा।।४।।

भौतिकम् आह **वायुः** इति.

वायुर्ववौ सुदुःस्पर्शः फट्कारानीरयन् मुहुः ।
उन्मूलयन् नगपतीन् वात्यानीको रजोध्वजः ।।५।।

वायुः द्विविधः, वात्यारूपः सदागतिश्च. उभयविधोऽपि अनिष्टसूचकः इति आह. तत्र सदागतेः अनिष्टसूचकरूपम् आह **सुदुःस्पर्शः** इति. निरन्तरगमनमेव स्वभावतो अनिष्टसूचकं, तत्रापि सुष्ठु दुष्टः स्पर्शो यस्य. **फट्कारान् ईरयन्** इति दुष्टशब्दान् अनुकुर्वन् वाति इति अर्थः. **मुहुः** इति एकस्मिन्नपि धाराप्रवाहे बहुधा शब्दजननम्. वात्यारूपस्य अनिष्टलक्षणम् आह **उन्मूलयन्** इति. **नगपतीन्** वृक्षश्रेष्ठान् मूलतः उत्पाटयन् भ्रमणवायुः गगनपर्यन्तं रजः उत्थापयति इति अर्थः।।५।।

मेघानाम् अनिष्टलक्षणम् आह

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ।।६।।

उद्धसदिति. ऊर्ध्वं हसन्त्यइव याः तडितः, तत्सहिताः ये अम्भोदाः, तेषां या घटा समूहः, तया कृत्वा **नष्टो भागणः** तेजः समूहो यत्र. एतादृशे व्योम्नि **प्रविष्टं यत् तमः** तेन कृत्वा किमपि **पदं**, ज्योतिषाम् अन्येषां वा, **न व्यादृश्यते स्म.**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सहाचला इत्यत्र. **दिव्यान् आह** इति. एतेन उक्ताः उत्पाताः नारदसंहितोक्तेभ्यो भिन्नविधाः ततोऽपि भीषणाः इति ज्ञाप्यते. तेन तद्विरोधो न दोषः।।४।।

वायुः इत्यत्र. **सुष्ठु दुष्टः** इति. स्फुटं दुष्टः।।५।।

स्म इति लौकिकं प्रमाणं सम्मत्यर्थम् उच्यते. तडितां हासतुल्यता अनिष्टम्, अत्यन्तं तमश्च. 'तमसः' इति पाठे तमसः पदं मेघादिकं न दृश्यते इति अर्थः।।६।।

समुद्रस्य अनिष्टलक्षणम् आह **चुक्रोश** इति.

चुक्रोश विमना वार्धिः उदूर्मिः क्षुभितोदरः ।
सोदपानाश्च सरितः चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ।।७।।

विमनाइव वार्धिः समुद्रः **चुक्रोश.** ऊर्ध्वम् ऊर्मयो यस्य. क्षुभितम् उदरं यस्य. मकराद्युद्वेगेन ज्ञायते. **सोदपानाः** कूपादिसहिताः **सरितः** पुष्करिण्यश्च **शुष्कपङ्कजाः** जाताः. सरितएव वा।।७।।

मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः ।
निर्घातो रथनिर्ह्लादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ।।८।।

चन्द्र-सूर्ययोः एकदैव राहुग्रस्तयोः **मुहुः परिधयो अभूवन्. निर्घातो** निरभ्रविद्युत्पातो जातः इति अर्थः. **निर्ह्लादाः** शब्दाः, रथघोषसदृशाः. **विवरेभ्यः** प्रदरेभ्यः, कन्दरादिभ्यः, पातालादिभ्यो वा सर्पादिबिलेभ्यो वा प्रकर्षेण जाताः ।।८।।

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
शृगालोलूक-टङ्कारैः प्रणेदुर् अशिवाः शिवाः ।।९।।

अन्तः ग्रामेषु मुखतः उल्बणं वह्निं वमन्त्यः शिवाः शृगाल्यः **शृगालोलूकटङ्कारैः** सहिताः वाचः **प्रणेदुः** प्रकर्षेण नेदुः. **अशिवाः** इति लोकेऽपि तेषाम् अमङ्गलत्वं प्रसिद्धम् इति ज्ञापितम्।।९।।

शुनाम् आह **सङ्गीतवद्** इति.

सङ्गीतवद् रोदनवद् उन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ।।१०।।

यथा लोके गीतं भवति, यथा वा रोदनं पाश्चात्यानाम्. **शिरोधरां** ग्रीवाम् **उन्नमय्य विविधाः वाचो व्यमुञ्चन्. ततः ततः** परितः. **ग्रामसिंहाः** श्वानः।।१०।।

गर्दभानाम् अनिष्टलक्षणम् आह [१]**खराः च** इति.

खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।

१.''कर्कशैः तीक्ष्णैः. हे क्षत्तः खार्कारो गर्दभजातीयः शब्दः, तस्मिन् रभसः सम्भ्रमो येषाम्. वरूथशः सङ्घशः. खगानाम् आह''. क; मां.१,३ पुस्तके तु इयं व्याख्या.

खार्कारारभसामत्ताः पर्यधावन् वरूथशः ।।११।।

रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडाद् उदपतन् खगाः ।

गर्दभाः [१]**कर्कशैः खुरैः धरातलं घ्नन्तः**, तद् जातिशब्देन खकरिण, रभसम् अत्यन्तम् आमत्ताः, रभसा वा मत्ताः **वरूथशः पर्यधावन्.** तच्छब्देन अनिष्टान्तरम् आह **रुदन्तः खगाः रासभत्रस्ताः** सन्तः **नीडाद्** [२]ऊर्ध्वम् अपतन्. 'रासभ'शब्देन तेऽपि भीताः इति अर्थः।।११,१२।।

पशूनाम् अनिष्टलक्षणम् आह

घोषेऽरण्ये च पशवः शकृद् मूत्रम् अकुर्वत ।

गावोऽत्रसन् असृग्दोहाः तोयदाः पूयवर्षिणः ।

व्यरुदन् देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनाऽनिलम् ।।१३।।

घोषे आभीराणां गृहे, **अरण्ये च** भयात् **शकृद् मूत्र**ञ्च अकुर्वत. गोमययुक्तं वा मूत्रम् अकुर्वत. **गावः च अत्रसन्. असृग्दोहाः** रुधिरदोग्ध्र्यः. **तोयदाः** मेघाश्च **पूयवर्षिणो** जाताः. पूर्वं तेषाम् आच्छादकत्वमेव उक्तम्. **देवलिङ्गानि** देवप्रतिमाः विशेषेण अरुदन्, शब्दं नेत्राद् जलञ्च अत्यजन्. **द्रुमाः** च **अनिल**व्यतिरेकेण **पेतुः**।।१३।।

ग्रहयुद्धं च जातम् इति आह

ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चाऽपि दीपिताः ।

अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ।।१४।।

पुण्यतमान् शुक्रादीन्. **अन्ये** शनैश्चरादयः, आलक्ष्य पेतुः इति सम्बन्धः. अपीडयन् इति वा अर्थात्. **भगणाः** सर्वाण्येव नक्षत्राणि. **दीपिताः** जाताः, केनचिद् ज्वालिताइव जाताः इति अर्थः।।१४।।

एवं निमित्तानि उक्त्वा तेषां फलम् आह

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातान् अतत्तत्वविदः प्रजाः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ग्रहान् इत्यत्र. **आलक्ष्य पेतुः इति सम्बन्धः** इति. अग्रे च वक्रगत्या इति वक्तव्यत्वात् तस्याः च अतिचारेण सम्बन्धाद् **ग्रहान्** इति द्वितीयायाः च **अतियुयुधुः** इत्यनेन असम्बन्धात् पूर्वश्लोकस्थां क्रियाम् आदाय एवं व्याख्यातम्।।१४।।

---

२ . 'उदपतन्' इति मां.२ पाठः.

ब्रह्मपुत्रान् ऋते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ।।१५।।

अन्यान् अनुक्तानपि **महोत्पातान्** सूर्यपात–चन्द्रपातरूपान्. **अतत्–तत्त्वविदः प्रजाः** अस्य विश्वस्य **सम्प्लवं** प्रलयमेव **मेनिरे**. परं ये चत्वारो मूलभूताः सनकादयः तद्व्यतिरेकेण सर्वएव भीताः जाताः, प्रलयञ्च मेनिरे।।१५।।

एवम् अनिष्टलक्षणानि सफलानि निरूप्य वृद्धिरूपाम् उत्पत्तिम् आह[क]

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।

ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाऽद्रिपती इव ।।१६।।

मधुकैटभौ आदावेव दैत्यत्वं प्राप्तौ इति वा, दितिपुत्राणाम् आदिभूतौ वा. **सहसा** कारणकालविलम्बव्यतिरेकेण. व्यज्यमानम् आत्मनि पौरुषं ययोः. व्यज्यमानात्मानौ पुरुषौ इति वा. तौ हि पूर्वजन्मनि भगवत्सारूप्यं प्राप्तौ, इदानीमपि तथैव व्यज्यमानदेहौ सन्तौ पुरुषौ जातौ, नतु रूपान्तरेण इति अर्थः. अथवा, व्यज्यमान आत्मनि पुरुषो याभ्याम्. अन्तः चेद् भगवान् [ख]तादृशरूपो भवति, तदैव बहिः अन्यः चतुर्भुजादिरूपो भवति; तथा इमावपि वैजयन्त्यादियुक्तौ. अश्मवत्सारेण दृढेन **कायेन, अद्रिपती इव** मेरू इव, **ववृधाते**।।१६।।

तयोः वृद्धिं वर्णयति **दिविस्पृशौ** इति.

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभिः निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ ।

गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः।।१७।।

हेम–किरीटयोः कोटिभिः दिविस्पृशौ. द्वितीयार्थे सप्तमी, अलुक् च. स्फुरदङ्गदयुक्तौ भुजौ. अङ्गदौ इति अङ्गदा, ''**सुपां सुलुक्**''(पाणि.सू.७।१।३९) इति आकारादेशः. **पदे पदे गां कम्पयन्तौ** इति भूमिं रसातलं नेतुम् उद्यताविव. कार्येण तयोः रूपम् अनुमेयम् इति अर्थः. **सुकाञ्च्या** शोभना काञ्ची यत्र तादृश्या, **कट्या अर्कम् अतीत्य तस्थतुः**. एतावद् उर्ध्वप्रमाणौ यावता कटिः सूर्यमण्डलाद् ऊर्ध्वं भवति।।१७।।

एवं तयोः वृद्धिम् उक्त्वा नामकरणादिसंस्कारान् आह

क. मां.१,३ पुस्तके ''नेयं तदोद्धृत्तमहादैत्ययोर्जायमानयोः, भुवः पेतुः महोत्पाता इति श्रद्धामहे कथं, श्रुतिस्मृतिपुराणेषु पुरुषार्थविवक्षया, अर्थवादगिरोगीता–लोकविश्रम्भणं हि तत्'' इति अधिकोपलभ्यते.
ख. 'एतादृशरूपो' इति मां.२.

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद् यः प्राक् स्वदेहाद् यमयोरजायत ।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा यं तं हिरण्याक्षमसूत साऽग्रतः ।।१८।।

प्रजापतिः कश्यपः **तयोः नाम अकार्षीत्.** तन्मध्ये **प्राग् यः स्वदेहाद्** रेतोरूपेण **अजायत.** यद्यपि स्वस्मिन् न प्रवेशः, तथापि पश्चादपि तथोत्पन्नबीजसम्बन्धात् स्वदेहाद् अजायत इति उक्तम्. तत्र हि बीजमेव पुत्रत्वे कारणम्. यमयोः मध्ये यः पश्चाद् उत्पद्यते मातृतः, सः पितृतः प्रथमम् उत्पन्नः इति ज्ञेयं ; क्रमेण प्रविष्टयोः वैपरीत्येनैव निर्गमनसम्भवात्. **तं हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजाः. सा** दितिः **यम् अग्रे असूत, तं** हिरण्याक्षं विदुः इति अर्थः. अतो हिरण्याक्षः प्रथमतः उत्पन्नोऽपि कनिष्ठः ।।१८।।

तत्र हिरण्यकशिपोः दोषरूपं वासनायां वक्तव्यम् इति स्थितिमात्रम् अत्र सूच्यते द्वितीयस्य अतिक्रमाभावाय.

चक्रे हिरण्यकशिपुः दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालान् लोकान् त्रीन् अकुतोमृत्युरुद्धतः ।।१९।।

अयं द्विभुजोऽपि भुजद्वयेनैव, ब्रह्मवरेण च सह, लोकपालसहितान् त्रीनेव लोकान् वशे चक्रे. तस्य धर्मो मोक्षश्च न अस्ति इति आह **अकुतोमृत्युः उद्धतः** च जातः इति. मृत्युरेव न अस्ति इति मृत्युविशेषो मुक्तिः सुतरामेव न अस्ति. उद्धतत्वाद् न धर्मः, नम्रीभावएव तद् उत्पत्तिः ।।१९।।

एवं सामान्यतो हिरण्यकशिपुपराक्रमम् उक्त्वा हिरण्याक्षस्य [1]दोषत्वज्ञापनाय कृतम् उपद्रवं स्वर्गादौ आह **हिरण्याक्षोऽनुजः** इत्यादिषड्भिः.

प्रयत्नश्च भयोत्पत्ति–रूपं कार्यं च तस्य तत् ।
तेन गर्वस्ततो मादः तस्मात् सर्वभयं पुनः ।।१।।

प्रथमं तस्य देवविरोधार्थं यत्नम् आह **हिरण्याक्षो अनुजः** इति.

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ।।२०।।

हिरण्यकशिपोः अनुजः. तस्येव अस्याऽपि जगत् त्रयं वश इति उक्तं भवति. **प्रियः** इति तस्य प्रीतिविषयत्वात् हिरण्यकशिपुकृतं जयादिकमपि एतद्गामी इति उक्तम्. अयमपि **प्रीतिकृत्,** समानशीलव्यसनाभावे प्रीतिः न

१.दोषयत्व ख. घ. ङ. च.

उत्पद्यते इति. ज्येष्ठप्रीत्यर्थं देवविरोधार्थं यत्नं कृतवान् इति आह **अन्वहं गदापाणिः** भूत्वा **रणं मृगयन्;** न दर्शनार्थं नारदवत्, किन्तु **युयुत्सुः** देवैः सह युद्धं करिष्यन् **दिवं** ययौ।।२०।।

ततो देवानां भयोत्पत्यर्थं देवदृष्टं तस्य रूपम् अनुवर्णयति

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत् काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टम् अंसन्यस्तमहागदम् ।।२१।।

तं वीक्ष्य इति. प्रथमतएव तस्य **दुःसहो जवो** वेगः. दूराद् दृष्टएव क्षणेनैव आगत्य मारयति इति प्रतीकारासामर्थ्यम्. **रणत्काञ्चननूपुरम्** इति. विरुदावली तस्य निरूपिता जयपरम्पराप्रतिपादिका. **वैजयन्त्या श्रिया जुष्टम्** इति भगवदीयत्वज्ञापकम्, सएव हि वैजयन्त्या जुष्टो भवति. **अंसन्यस्तमहागदम्** इति श्रमः साधनाधिक्यं च उक्तम्।।२१।।

एवं चतुर्भिः विशेषणैः भयजनकं रूपम् उक्त्वा भीताः देवाः पलायितवन्तः इति आह **मनोवीर्ये**ति.

मनोवीर्यमदोत्सिक्तम् असृण्यम् अकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवाः तार्क्ष्यत्रस्ता इवाऽहयः ।।२२।।

मनः उत्साहः, **वीर्यं** पराक्रमः, **मदो** गर्वः **तैः** कृत्वा **उत्सिक्तः** उच्छलितः, मर्यादाम् अतिक्रान्तः इति यावत्. **असृण्यो** निरङ्कुशः. भ्रातुः नियामकत्वेऽपि तस्यैव तथा कारकत्वाद् औद्धत्येन[क] नियामकत्वम्. सृणिः अङ्कुशः. अतएव न विद्यते कुतश्चिद् भयं यस्य. एवं त्रिदोषयुक्तं दृष्ट्वा भीताः सन्तो युद्धम् अकृत्वैव **निलिल्यिरे** लीनाः जाताः. ननु स्त्रीधनादिकं विहाय कथं लीनाः? इति आशङ्क्य आह **तार्क्ष्यत्रस्ताइव अहयः** इति. गरुडो हि सर्पान् जीवग्राहं मारयति, न धनादिदानेनाऽपि त्यजति, तथा अयम् इति मत्वा स्वप्राणरक्षार्थं लीनाः जाताः इति अर्थः।।२२।।

ततोऽपि गर्वो जातः इति आह

स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान् देवगणान् क्लीबान् अपश्यन् व्यनदद् भृशम् ।।२३।।

समानतायां शत्रुत्वम्. पुरुषस्य पुरुषो भवति समानः, नतु क्लीबः. देवत्वं

क. 'औद्धत्येनैव न' इति मां.१,२,३.

शूरत्वं वा दूरे. महाभिमानः च एवं मन्यते. ननु कालादिना सर्वएव तिरोहिताः भवन्ति, किम् आश्चर्यम्? इति चेत्, तत्र आह **महसा स्वेन** इति. अयुद्ध्यमानाअपि तत्तेजसैव ते तिरोहिताः, यथा सौरप्रभया अन्धकारः. इन्द्रसहितान् सर्वानेव देवविशेषान् स्वकार्येणाऽपि [क]कार्यासाधकान्, स्वरूपेणाऽपि अनुपयुक्तान्. अतएव **अपश्यन् भृशं व्यनदत्.** तिरोहितज्ञानं क्लीबज्ञाने हेतुः. स्वेनैव महसा तिरोहितान् दृष्ट्वा स्वेनैव महसा दैत्यराड् जातः इति भिन्नं वाक्यम्. अतएव क्लीबादिधर्मयुक्तानपि तान् अपश्यन् भृशं व्यनदत्. निकटस्थाः चेत् नादेनैव मरिष्यन्ति इति ।।२३।।

एवं हत्वा, सुतरां गर्भस्थान्, महागर्वेण ज्वलद्देहः समुद्रे जलक्रीडां कृतवान् इति आह

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिःस्वनम् ।
विजगाहे महासत्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ।।२४।।

महामदं[ख], ज्ञापयति **ततो निवृत्तः** इति. **क्रीडिष्यन्** इति. स्वर्गात् क्रीडार्थमेव समुद्रे आगतः. क्रीडा हि कामसाध्या भवति इति स्थिते क्रोधे युद्धाभिनिवेशे वा क्रीडा न भविष्यति इति ततो भावान्निवृत्तः. देवापेक्षया समुद्रं महान्तं ज्ञात्वा समागतः इति वक्तुं समुद्रं विशिनष्टि **गम्भीरं भीमनिःस्वनम्** इति. भयजनकम् अगाधजलं गम्भीरम्. अनेन समता, शोषाभावश्च तस्य सूचितः. **भीमनिःस्वनम्** इति प्रतिपक्षवाक्यजननाद् युद्धार्थित्वमपि ज्ञातम्. मत्तत्वाद् एवं ज्ञानम्. तथापि न युद्धरसेन समागतः, किन्तु क्रीडिष्यन्नेव इति तदाधिक्यम्. **विगाहनं** मध्ये पातः. तथाकरणे सामर्थ्यम् आह **महासत्वः** इति. महत्सत्वं यस्य इति. अत्र एवं ज्ञातव्यम्. पद्मकल्पे एतौ उत्पन्नौ, मृत्योः च जयाद् न कल्पान्ते

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ततो निवृत्तः इत्यत्र. पूर्वं त्रयोदशाध्यायारम्भे वाराहादिवाराहकल्पाभ्यां कथासन्दर्भ उपपादितः, इहतु मतान्तरत्वात् प्रकारान्तरेण उपपादयन्ति **अत्र एवं ज्ञातव्यम्** इत्यादि. **अत्र** इति मतान्तरे. अस्मिन् प्रकारे वारद्वयं भूमज्जनं, शेषं पूर्ववदेव. ननु अस्तु एवं तथापि **''स भवान् दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः''**(भाग. पुरा.३।१।१०४।) इति दितिवाक्यं कथं सङ्गच्छते? पद्मकल्पे कालोत्पन्न-

---

क. 'कार्यसाधकान्' इति मां.१,२,३. ख.महामादं क. ग. घ. ङ. च.

मरणम्. तदैव लोकत्रयं वशे कृतवान्. ततो मोहग्रस्तयो रसातले शयनम् आदिवराहकल्पे प्रलये च. तत्र आदिवराहकल्पः सम्पूर्णो न वृत्तः इति भूम्युत्पत्तिः. देवानां कियत् प्रजानां च सृष्टिं कृतवान् ब्रह्मा. तदा अयं कनिष्ठो ज्येष्ठे शयानएव ब्रह्मणः प्रातः काले स्वर्गं गतः. सामिकृतत्वात् च मध्ये पुनः भूमिः निमग्ना. ततोऽपि निवृत्तः प्रलयोदकएव पतितो देवानां सृष्टत्वाद् दैत्याधिपतित्वाच्च वरुणो रसातले समानकटाहांशपश्चिमभागे वा स्थितः[१]. मन्वादीनां जातत्वाद् नारदादयोऽपि पद्मकल्पएव उत्पन्नाः उपरि स्थिताः. दिती रसातले, कश्यपस्तु उपरि. मग्नायां पृथिव्यां जलस्य बाधकत्वाभावाद् दैत्योपभोगः. अतो नारदवाक्याद् वराहसम्बन्धः इति सर्वमेव युक्तम्. पुराणानि च एकचतुर्युगवार्तामेव कथयन्ति विशेषतः, सामान्यधर्माः च अनूद्यन्ते. चतुर्युगान्तरवार्ता कल्पान्तरवार्ता च मतान्तरम् इति न तद्विरोधः शङ्कनीयः. श्रुतार्थापत्तिः अत्र प्रमाणम्. मत्तत्वादेः वार्द्धिमपि प्रविष्टः. तत्र जलं निरन्तरम् उत्पद्यते. विवेकसहितमदाद् **मत्तइव** इति उक्तम्, अन्यथा द्विपः इत्येव वदेत्. महाघोषं जनयन् इति अर्थे दृष्टान्तः. 'द्विप'शब्देन च तस्य मज्जनाभावः सूचितः, शुण्डव्यतिरेकेण तस्य अन्तर्जलप्रवेशात् ।।२४।।

ततोऽपि[२] तत्रत्यानां महान् उपद्रवो जातः इति आह

तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका यादोगणाः सन्निधयः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ।।२५।।

हिरण्याक्षे प्रविष्टे **वरुणस्य सैनिकाः** युद्धकुशलाः यादोगणाः जले अतिबलवन्तो निधिसहिताः सर्वाधिव्यतिरिक्ताः सर्वतः पुष्टाः[३], एतादृशाअपि **ससाध्वसाः** जाताः. अतएव अहन्यमानाअपि देववत् तस्य **वर्चसा** तेजसैव प्रकर्षेण धर्षिताः गतसत्वाः कृताः इति **दूरतरं प्रदुद्रुवुः**।।२५।।

एवं तस्य सर्वोपद्रवकारित्वेन कायिकीं चेष्टाम् उक्त्वा वाचिकीं वदन् पूर्वचरित्रसम्बन्धमेव वदति **स वर्षपूगान्** इति षड्भिः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ब्रह्मोत्पन्नयोरेव सर्गयोः उक्तत्वेन अन्येषाम् अभावाद् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **पुराणानि** इत्यादि।।२४।।

१.स्थितः पृथिव्याम् क. २.तत्रापि क. घ. ङ.मां.१,३. ३.पूर्णाः क. घ.मां.१,३.

स वर्षपूगान् उदधौ महाबलः चरन् महोर्मीन् श्वसनेरितान् मुहुः ।
मौर्व्याऽभिजघ्ने गदया विभावरीम् आसेदिवान् तात! पुरीं प्रचेतसः ।।२६।।

तत्र पूर्वं समुद्रः आत्मानं महान्तं मन्यते इति ज्ञात्वा तस्य हस्तप्रायान् तरङ्गान् गदया ताडितवान् इति आह. **सः** हिरण्याक्षः. **वर्षपूगान्** इति कल्पान्तपर्यन्तम्. **महाबलः** इति कालेन तस्य बलक्षयाभावः उक्तः. तत्रैव समुद्रे चरन् स्वश्वासवायुना निर्मितानपि ऊर्मीन् तदधस्तान् ज्ञात्वा, **मौर्व्या** तृणविशेषबद्धया महागदया अभितो जघ्ने. श्वासेनैव[१] यदा ऊर्मयः, तदा चलने ताडने वा किं वक्तव्यम्! एवं समुद्रनिग्रहे क्रियमाणे ततोऽपि अधिकोर्मीन् दृष्ट्वा तस्य अधिपतिं वरुणं ताडयितुं तत्पुरीम् **आसेदिवान्,** पुर्याः निकटं प्राप्तवान्. तत्रत्यैव[२] वा. तद्गृहं गतः इति अर्थः. **प्रचेतसः** इति प्रकृष्टचित्तत्वाद् न तस्य भयं पलायनं वा ।।२६।।

तत्र गत्वा तम् उपहसति इति आह **तत्र उपलभ्ये**ति.

तत्रोपलभ्याऽसुरलोकपालकं यादोगणानाम् ऋषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवद् जगाद मे देह्यधिराज सङ्गरम् ।।२७।।

मारयेदेव तं, परं दैत्यानां रक्षकः इति न मारितवान् इति आह **असुरलोकपालकम्** इति. असुराणां यावन्तो लोकाः रसातलादिस्थिताः, तेषाम् अयं पालकः. ये असुरलोके उपद्रवकर्तारः तन्मारकाः यादोगणाः, लोकपोषकाश्च. अत्र लोके गजाश्वाइव तेऽपि वरुणस्यैव वशे भवन्ति. अतो न हन्तव्यः इति आह **यादोगणानाम् ऋषभम्** इति. किञ्च, स्वभावतोऽपि प्रकृष्टचित्तयुक्तो गर्वादिरहितः, अतो मारणाद्यकृत्वा, ततोऽपि गर्वयुक्तः **स्मयन्** अल्पं हसन्, **प्रलब्धुं** वक्रोक्त्या वञ्चयितुं, नमस्कृत्य सेवकादपि हीनवद् **जगाद,** अल्पाक्षरैः विनयपूर्वकं किञ्चिद् उक्तवान्. तदेव आह हे **अधिराज! सङ्गरं देहि** इति. अयं मां न जानाति इति हास्यं; कार्येण एतद् ज्ञापनीयः इति प्रलम्भवचनं; प्रणिपातो गर्वोत्पादनार्थः स्वस्य नीचानुकरणम् अवगणनार्थम्, अन्यथा संयुगे न प्रवृत्तो भविष्यति इति. **अधिराज!** इति सम्बोधनं तव भयं न अस्ति इति ज्ञापनार्थं, त्वयैव सह युद्धं कर्तव्यम् इति वरप्रार्थना. **सङ्गरं** युद्धम् ।।२७।।

एवं याचयित्वा तूष्णींभूते तस्मिन् प्रोत्साहयति गुणान् वदन् **त्वं**

१.ऊर्ध्वश्वासेनैव क., उग्रश्वासेनैव घ. ङ. २.तत्रत्य एव वा ख.

लोकपालः इति.

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोके किल दैत्यदानवं यद् राजसूयेन पुराऽयजत् प्रभुः ।।२८।।

त्वं यथा भगवान् तथा षड्गुणैश्वर्ययुक्तः. तस्य षड्गुणान् आह आदौ त्वं **लोकपालः** ईश्वरः, सर्वपत्यपेक्षया अधिपतिः त्वं, "**स वै पतिः स्याद्**" इति न्यायेन वीर्यवानेव अधिपतिः भवति. अतएव **बृहच्छ्रवाः** अधिककीर्तिमान्. स्पष्टमेव यशः. **दुर्मदवीरमानिनां वीर्यापहः** इति श्रीः. शत्रुजये श्रीः भवति इति. दुर्मदाः च ते, वीराः वयम् इति मानिनः च, यावता च तेषां वीर्यं गच्छति तावत् कर्ता इति. ते चेद् निःश्रीकाः भवेयुः तदा एवम् इति स्वस्य श्रीमत्वम्. ज्ञानम् आह **विजित्य लोके किल दैत्यदानवम्** इति. "**मिथ्याज्ञानेन च तमो ज्ञानेन च परं पदम्**" (   ) इति वाक्याद् दैत्यानां ज्ञानप्रतिपक्षत्वम्. तत्र दैत्याः राजसाः, दानवाः तामसाः इति. उभयेषां द्वन्द्वैक्यम्. ज्ञानेनैव हि ते निराकर्तुं शक्यन्ते इति. किञ्च, कर्मणाऽपि ते निराकर्तुं शक्याः इति **यद् राजसूयेन पुरा अयजद्** इति आह. देवानां लोकपालानां वीर्याधिकारात् क्षत्रियत्वे[1] तेषां परमोत्कर्षहेतू **राजसूयः** इति. तेन दैत्यजयः. **प्रभुः** इति वैराग्यं, सापेक्षम् असमर्थं भवति इति निरपेक्षएव प्रभुः।।२८।।

एवं कृते स्तोत्रे प्रार्थितम् अभिधातुं मुख्यषड्गुणैश्वर्यसम्पन्नमेव निर्देष्टुं, प्रलम्भवाक्येन उत्पन्नमपि क्रोधं दूरीकृत्य, तथा उक्तवान् इति आह **सः एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

स एवम् उत्सिक्तमदेन विद्विषा दृढं प्रलब्धो भगवान् अपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया व्यवोचद् अङ्गोपशमं गता वयम् ।।२९।।

ननु स्वयं दैत्यपतिः कथं दैत्यानाम् अहितम् उक्तवान्? तत्र आह **उत्सिक्तमदेन** इति. दैत्यानां मदे विद्यमानेऽपि सर्वमज्जनार्थं न तद् उत्सेकः, अस्यतु उत्सेकात् सर्वनाशं करिष्यति इति तन्नाशः कर्तव्यः इति अर्थः. शिक्षाभावाय आह **विद्विषा** इति. विशेषेण द्वेष्टि इति तथा. **दृढम्** इति मर्मोद्घाटनम्. अशक्तो अन्यथा कथयति इति आशङ्काव्यावृत्त्यर्थम् आह **भगवान्** इति. तर्हि कथं न मारयति? इति आह[2] **अपां पतिः** इति. नहि जलस्थितो

१.क्षत्रियत्वम् ग. २.त्यागशङ्कयाह ग.

वह्निः ज्वलति, अतएव समुत्थितमपि रोषम् अशमयद् आत्मज्ञानेन. तद् आह **स्वया धिया** इति. विशेषेण स्पष्टतया अवोचत्. किं त्वया युद्धमात्रम् अपेक्ष्यते, मया सह युद्धं वा? तत्र द्वितीये उत्तरम् आह. हे **अङ्ग!** इति कोमलसम्बोधनं ज्ञानपूर्णत्वबोधकम्. नहि स्वाङ्गं केनचिद् उपहन्यते. **वयम् उपशमं** शान्तिं **गताः,** शस्त्रसन्न्यासं गृहीतवन्तः इति अर्थः।।२९।।

युद्धमात्रं चेद् अपेक्ष्यते, तदाऽपि एकएव अस्ति सर्वेच्छापूरको न अन्य इति आह **पश्यामि** इति.

पश्यामि नाऽन्यं पुरुषात् पुरातनाद् यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहितं मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ।।३०।।

तुच्छा हि त्वां न मन्यन्ते, ज्ञानी हि आक्रोशं न करोति, इति **आराधयिष्यति** इति उक्तम्. अन्यस्तु अनात्मा न पूजयिष्यति इति. अत्र प्रमाणं मम ज्ञानम्. तद् आह **पश्यामि** इति. **पुरुषात् पुरातनाद् अन्यं न पश्यामि** इति भिन्नं वाक्यं ज्ञानपरम्, अन्यथा एवं भङ्ग्या न वदेत्. पुरुषो हि पौरुषयुक्तः, अन्ये सर्वे प्राकृतशरीरसम्बन्धात् स्त्रियः, तएव हि परिदृश्यन्ते इति पुरातनाद् इति बलाधिक्यज्ञापनार्थं, कालेन हि बलह्रासो भवति इति. अतएव **यः संयुगे** युद्धे **त्वाम् आराधयिष्यति.** सन्तोषोत्पादनं हि आराधनम्. सन्तोषस्तु स्वज्ञानाद् अधिकज्ञाने. तदर्थं तस्य ज्ञानम् आह **रणमार्गकोविदम्** इति. युद्धमार्गेषु परम्परासिद्धेषु युद्धप्रकारेषु कोविदम्. **असुरर्षभ!** इति सम्बोधनम् आत्मत्वेऽपि मारणार्थम्. आ समन्ताद् ईहितं यस्य, सर्वप्रकारेण युद्धाभिज्ञम्. असुरर्षभेषु वा ईहितं यस्य; यथा महान्तो असुराः भवन्ति तथा त्वम् इति अर्थः. असुरर्षभा ईहितं यस्य इति वा वधे हेतुः, एतद् वधे सर्वएव असुराः हताः भवन्ति. असुरर्षभे वा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पश्यामि इत्यत्र. **आ समन्ताद् ईहितं यस्य** इति. अत्र 'ईहित'पदं चेष्टितवाचकम्. **असुरर्षभेहितम्** इति एकपदपक्षे अर्थम् आहुः **असुरर्षभेषु** इत्यादि. **ईहितम्** इति वाञ्छितार्थकम्. अस्मिन्नपि पक्षे हिरण्याक्षबोधकस्य **त्वाम्** इत्यस्य विशेषणम् इदम्. **तथा त्वम्** इति. अत्र **तथा** इति पदच्छेदः. भगवद्वाचकस्य **यम्** इत्यस्य इदं विशेषणम् इति अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **असुरर्षभा** इत्यादि. एवमपि क्लिष्टत्वात् पक्षान्तरम् आहुः **असुरर्षभे वा** इत्यादि.

हिरण्यकशिपौ अहितं, विधेयविशेषणम् एतत्. तस्य एवंकरणे किं सामर्थ्यम्? इत्यतः आह **मनस्विनो यं गृणते** इति. **मनस्विनः** शूराः दृढमनसो **यं** भगवन्तं **गृणते.** तेन सह युद्धं कृत्वा पराजिताअपि तमेव स्तुवन्ति. एतद् वचनं प्रोत्साहकं, महता हि सह युद्धं कर्तव्यम्. **भवादृशाः** इति स्तुतिः।।३०।।

एवं युद्धार्थं प्रतियोगित्वेन भगवन्तं निरूप्य तस्य प्राप्तिम् आह **तं वीरम्** इति.

तं वीरम् आराद् अभिपद्य निर्भयः शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद् विधानाम् असतां प्रशान्तये रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ।।३१।।

सोऽपि भगवान् वीरः, युद्धमेव अभीप्सते. तदर्थमेव शापादिदानम् इति भावः. कालविलम्बोऽपि न अस्ति इति आह **आराद्** निकटएव इति. **अभिपद्य** इति. यथा शलभो अग्नौ पतति, तद्वत् पतिष्यसि इति भावः. तथापि त्वं **निर्भयो** मृत्युभयरहितः, नहि भगवन्तं प्राप्य कश्चिद् मृत्युना ग्रस्यते, अतो मृत्युभयरहितः इति अर्थः. **विस्मयः** इति पाठे विगतगर्वः, तावदेव गर्वः इति. ततः कस्य जयो भविष्यति? इति आशङ्कायाम् आह त्वमेव **वीरशये शयिष्यसे** इति. रणाङ्गणे शयनं करिष्यसे इति अर्थः. जित्वाऽपि निर्भयत्वज्ञापनार्थम्. [१]रणाङ्गणेऽपि शयनं सुखादपि सम्भविष्यति इति तद् निवृत्यर्थम् आह **श्वभिः वृतः** इति. मृतमेव श्वानो वेष्टयन्ति इति. ननु युद्धमात्रे प्रार्थिते कामितपूरको भगवान् किमिति मारयेद्? इति आशङ्क्य आह **यः त्वद्विधानाम्** इति. यद्यपि त्वत्कामितं तावदेव, तथापि देवानां कामितं त्वद् मरणम् इति मारयिष्यति. यतः **असतां प्रशान्तये** एव नानाविधानि रूपाणि भगवान् बिभर्त्ति वराहादीनि, अन्यथा अवतारप्रयोजनं न स्यात्. ननु आत्मा भगवान् किमिति मारणार्थम् एवं रूपाणि करोति? इति आशङ्क्य आह **सदनुग्रहेच्छया** इति. सतु रूपाणि सताम् अनुग्रहार्थमेव गृह्णाति. धर्मरक्षार्थमेव प्रवृत्तिः, आनुषङ्गिकन्तु असतां मारणं नान्तरीयकम् इति. अनेन पुनरपि कामो न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विधेयविशेषणम् इति. क्रियाविशेषणम्. तथाच, तस्मिन् अहितं यथा स्यात् तथा त्वाम् आराधयिष्यति इति अर्थः.

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे सप्तदशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१.क्षत्रियत्वम् ग. २.त्यागशङ्क्याह ग. १.अपीति नास्ति क. ख. घ.

उत्पत्स्यते इत्यपि उक्तम्. अन्यथा पुनः कालान्तरे एवं भावे कः समाधानं कुर्याद्!
इति भावः।।३१।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे सप्तदशाध्यायविवरणम् ।।

अष्टादशाध्यायविवरणम्

अष्टादशे स्थितिस्तस्य भगवत्सन्निधौ स्फुटा ।
निरूप्यते तथा शापात् पारुष्यं विजयस्ततः ।।१।।
स्थित्यध्यायोऽयम् आख्यातो ब्रह्मणा तत् स्थिरीकृतम् ।
उत्पत्तावेव शापो हि मारणं ब्रह्मवाक्यतः।।२।।
युद्धमात्रे हरीच्छा[1] हि कायवाङ्मनसा तु[2] सा ।
उभयोरुद्यमोक्त्यैव युद्धं मानसम् ईरितम् ।।३।।
कायिकं चाऽग्रिमाध्याये मध्यमं मध्यमे मतम् ।
अतो विरोधवाक्यानाम् उभयेषां न दूषणम् ।।४।।
प्रसङ्गो दर्शनं वाक्यं त्रिभिर्भक्तानुरोधनम् ।
पुनराक्षेपवाक्यं च शरव्यकरणं[3] तथा ।।५।।
वाक्योपक्रमणं वाक्यं त्रिभिर्मानस्तथोद्यमः ।
युद्धं षड्भिर्भगवत्वाद् [क]ब्रह्मप्रार्थनमन्ततः।।६।।
उभयोर्वचनं षड्भिः युद्धं चैव तथोभयोः ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ अष्टादशाध्यायं विवरीतुम् अवसररूपां सङ्गतिं बोधयन्तएव अध्यायार्थम् आहुः **अष्टादशे** इत्यादि स(म्पादने)पादेन. ननु समाप्तौ मारणोपक्रमस्याऽपि उक्तत्वाद् न एकान्ततः स्थित्यध्यायत्वं निश्चेतुं शक्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **ब्रह्मणा** इत्यादि. “**आक्रीडबालवद्देव**” (भाग.पुरा. ३।१८।२४) इति कथनेन विनाशसामग्रीसान्निध्याभावबोधनाद् ब्रह्मणा पारुष्यं सर्ववाक्यैः **स्थिरीकृतम्.** अतः सुखेन स्थित्यध्यायत्वं निश्चेतुं शक्यम् इति अर्थः. ननु एवं सति ब्रह्मै(ह्मणै)तन्मारणं किमिति प्रार्थ्यते इति आकाङ्क्षायां, तदपि पर्यवसानतः स्थितेरेव बोधकम् इति एतद् उपपादयन्ति **उत्पत्तौ** इत्यादि सार्धाभ्याम्. **सा** इति. युद्धकृतिः. **मध्यमम्** इति. वाचिकम्. तथाच, यदि ब्रह्मा न वदेद् न मारयेदेव, युयुत्सायाः अपूरितत्वात्. अतः इच्छाबोधकत्वाद् ब्रह्मवाक्यमपि स्थितावेव पर्यवस्यति इति अर्थः. एवम् अध्यायार्थं निरूप्य तद्गतानि वाक्यानि विभजन्ते **प्रसङ्गः** इत्यादि द्वाभ्याम्.

१.हरेरिच्छा ग. २.हि ग. ३.‘प्रारब्धकरणं’, ‘संरब्धकरणं’ ख.घ.ङ.मां.२.‘संरंभकरणं’ इति मां.२,३. क.‘ब्रह्मप्रार्थनया ततः’ इति क, मां.१,३.

स्थितिरेषा तस्य हरौ तत्पोषकम् इहाऽपरम् ।।७।।

प्रथमं युद्धार्थं तयोः प्रसङ्गम् आह **तदा एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

तदैवम् आकर्ण्य जलेशभाषितं महामनास्तद् विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिम् अङ्ग नारदाद् रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ।।१।।

जलेशो वरुणः. तदा एवं तद् वचनम् आकर्ण्य **महामनाः** उत्साहयुक्तो जातः. यद्यपि मरणं श्रुतं, तथापि **तद् अविगणय्यैव महामनाः** जातः इति सम्बन्धः. तत्र हेतुः **दुर्मदः** इति. दुष्टो मदः स्वानिष्टं न बोधयति इति. भगवन्तं भक्तएव जानाति इति नारदः पृष्टः. भगवत्कार्यकर्तृत्वाद् नारदस्याऽपि समागमनम्. अतो **नारदाद्** हेतोः, **हरेः गतिं विदित्वा,** तत्सद्भावदेशस्य श्रुतत्वाद्, युद्धाभिनिविष्टः **त्वरान्वितो रसातलं निर्विविशे** ।।१।।

ततो दर्शनम् आह

ददर्श तत्राऽभिजितं धराधरं प्रोन्नीयमानावनिम् अग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णन्तम् अक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाऽहो वनगोचरो मृगः ।।२।।

यथा अन्यदर्शने तस्य अवज्ञा उत्पन्ना, न तथा भगवद्दर्शने इति ज्ञापयितुं भगवन्तं विशिनष्टि. **तत्र** रसातले **अभिजितं, धराधरं, प्रोन्नीयमानावनिं मुष्णन्तम्** इति चतुर्द्धा.

पराक्रमस्तथा कार्यम् इति शूरत्वबोधनम् ।
शत्रोः पराजयश्चेति सहजं तच्चतुष्टयम् ।।१।।

अभितो जितं यस्य. आकारदर्शनेनैव तस्य सर्वतो जयो लक्ष्यते. धरां बिभर्ति इति तथा. धरायां वा अधरं यस्य. तद् न दृश्यते इत्यतोऽपि भगवद्दर्शनेऽपि न स्वस्मिन् भगवति वा लोभः उत्पन्नः. दंष्ट्रायाः अग्रम् अग्रदंष्ट्रा *पूर्वं निरूपिता, तया [1]**प्रोन्नीयमाना अवनिः** येन. अनेन शत्रुः कार्यासक्तः इति सूचितम्. **स्वस्य** हिरण्याक्षस्य **रुचः, अरुणश्रिया अक्ष्णा मुष्णन्तम्.** दैत्यः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ददर्श इत्यत्र. ***पूर्वं निरूपिता** इति. ''**प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः**'' (   ) इत्यनेन निरूपिता।।२।।

१.'उन्नीयमानम्' इति क. ख. घ. ङ. क.

सुवर्णवर्णः, कार्याभिनिविष्टस्य भगवतोऽपि अक्षि अरुणवर्णं, रजोगुणप्राकट्यात्. अनेन भगवदग्रे स्वात्मानं भगवन्तञ्च न दृष्टवान् इति उक्तम्. एवं ज्ञात्वाऽपि अग्रिमभगवल्लीलेच्छायाः प्राधान्याद् **जहास. ददर्श जहास च. च**काराद् अग्रिमवचनान्यपि संगृहीतानि. तानि आह **अहो वनगोचरो मृगः** इति. हास्यरूपं च एतत्. **अहो** आश्चर्यं, **मृगो** अरण्यवासी **अवनगोचरः**, [क]वनरहितभूमौ तिष्ठति इति. वने जले वा चरति इति तादृशो मृगो अयम् इति. भगवद्‌बुद्ध्या समागतम्, अयन्तु वनगोचरो मृगः इति अर्थः।।२।।

अस्तु यथा तथा रूपं, युद्धन्तु कर्तव्यम् इति अभिप्रायेण आह

आह एनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो रसौकसां विश्वसृजेयम् अर्पिता।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः सुराधम् आसादितसूकराकृते।।३।।

एनं भगवन्तम् एवम्[२] **आह** हे भगवन् **एहि**. कदाचिद् आत्मानं न जानाति इति तथासम्बोधनम्. युद्धार्थम् आकारयामि. कार्यान्तरे अहं व्यापृतः इति चेत्, तत्र आह **महीं विमुञ्च** इति. ननु प्रारब्धं कर्म परिसमाप्य पश्चाद् अन्यत् कर्तव्यम् इति चेत् तत्र आह **नो रसौकसां विश्वसृजा इयम् अर्पिता** इति. इयं भूमिः अस्मदीया, रसौकसाम् अर्थे विश्वसृजा अर्पितत्वात्. अतो अन्यस्य भूमिः न नेया. क्षत्रियधर्मेण चेद् नीयते, तदा युद्धं कृत्वा नेतव्या इति उभयथाऽपि एनां विमुञ्च, अस्मदीया एषा इति. न चिन्ताऽपि एतस्याः कार्या, यतो **नो** अस्माकम् एषा. नहि स्वामिनि विद्यमाने अन्यस्य चिन्ता युक्ता इति भावः. शरीरवद् न्यायतः च इयं प्राप्ता इति ज्ञापनार्थं ब्रह्मणा समर्पितत्वकीर्तनम्. तथापि अत्यजन्तं प्रति आह **न स्वस्ति यास्यसि** इति. **मम ईक्षतः** सतः, अनया सह स्वस्ति यथा भवति तथा न यास्यसि इति अर्थः. सम्बोधनद्वयम् अधिक्षेपजनकं, क्रोधोत्पादनार्थम्. महद्भिरपि देवैः अस्मद्विरोधे कार्यं कर्तुं न शक्यते, येषां रूपम् अत्युत्तमम्. रूपेणैव हि महत्वम् अमहत्वञ्च ज्ञायते. **आसादिता** स्वीकृता सूकरवद् आकृतिः येन. पूर्वस्य हेतुः।।३।।

देवप्रेरणया समागतम् इति चेत्, तत्र आह **त्वं नः सपत्नैः** इति.

त्वं नः सपत्नैर् अभवाय किं भृतो यो मायया हंस्यसुरान् परोक्षजित्।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः।।४।।

क.''वराहो हि भूमौ तिष्ठति'' इति मां.१,३. २.एवाह क. ङ.

नः सपत्नैः देवैः **त्वं किम् अभवाय भृतः** इति अधिक्षेपप्रश्नः. कार्यन्तु महद्भिरेव न भविष्यति इति कथं त्वया इति ते देवाः असाध्यकार्ये नियोजकाः तव अहिताएव इति अर्थः. ननु अहं विष्णुः स्वतन्त्रतया भवच्छत्रुः, कथं देवप्रेरितः इति उच्यते? इति चेत् तत्र आह **यो मायया हंसि** इति. त्वं हि ज्ञातो विष्णुरेव सत्यम्. अभिज्ञानम् आह **यः त्वम् असुरान् मायया** कापट्येनैव **हंसि.** मायैव[1] करणं "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**"(भग.गीता.४।११) इति वाक्याद्, "**मायेत्यसुराः**" (   ) इति श्रुतेः, मोक्षाभावार्थं च. अनिष्टनिवृत्यर्थं वा माययैव हंसि. कापट्ययुद्धं न वीरत्वबोधकम्. तद् आह **परोक्षजिद्** इति. परोक्षे समागत्य जयं सम्पादयसि इत्यतः प्रत्यक्षे युद्धं न कर्तव्यम्. भूमिं त्यक्त्वा गच्छ इति उपदेशः. तथा[2] न क्रियते इति चेत्, तत्र आह **त्वां योगमायाबलम्** इति. तवतु न सहजं बलं, किन्तु योगमायया. सातु अस्मदीया इति अस्मत्स्थाने सा न प्रभविष्यति इति अल्पमेव पौरुषं स्वतो भविष्यति इति अर्थः. अतएव सम्यक् स्थापयित्वा **सुहृच्छुचः प्रमृजे;** ये त्वया मारिताः, तेषाम् अनृणो भविष्यामि इति अर्थः. अहं मारितशत्रूणां सम्बन्धी इति मां न जानासि इति तथा सम्बोधनम्।।४।।

ननु देवानां विद्यमानत्वात् कथं दैत्यानां शोकाभावः? तत्र आह **त्वयि संस्थिते** इति.

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्षण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम्।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ।।५।।

अस्मद्भुजच्युतया गदया शस्त्राभेद्येऽपि शरीरे प्रहारेण व्यथिते सम्यक् स्थितिः. **अस्मद्भुजच्युतया** इति महाबलसम्बन्धः उक्तः. ततः किम्? अतः आह **ये च तुभ्यं बलिं हरन्ति, ऋषयो देवाश्च.** अन्येऽपि स्वतन्त्राः ये अभिमानिनः, तेऽपि सर्वे भवन्मूलकाएव इति **स्वय**मेव अमारिताअपि **न भविष्यन्ति** उद्भवं न प्राप्स्यन्ति इति अर्थः. तत्र हेतुः **अमूलाः** इति।।५।।

एवं दुष्टवचनान्यपि भक्तहितार्थम् अङ्गीकृतानि इति आह **सः तुद्यमानः** इति.

मैत्रेयः उवाच

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्तितोमरैः दंष्ट्राग्रगां गाम् उपलभ्य भीताम्।

१.माययैव ग. ङ. २.तथापि क.

तोदं मृषन्निरगाद् अम्बुमध्याद् ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ।।६।।

अरिः हिरण्याक्षः, तस्य **दुरुक्तय**एव **तोमराः** भल्लविशेषाः, यैः गजः तुद्यते. तथा तुद्यमानोऽपि **भीतां गाम् उपलभ्य तोदं मृषन्नेव अम्बुमध्याद् निरगात्.** अयुक्तेऽपि तथा निःसरणे दृष्टान्तः **ग्राहेण आहतः** करेणुसहितो **यथा इभः** इति.

अत्र भगवतो युद्धलीला प्रतिपाद्यते इति, विरोधिनोः च युद्धसम्भवाद्, गदाप्रहारइव विरोधिवचनान्यपि युक्तान्येव. यदि वचनानि अन्यथा व्याख्यायन्ते तदा अन्यथा क्रियाऽपि व्याख्येया. सा चेद् नटवद् व्याख्याता, तुल्यं वचनेष्वपि. तथापि भक्तानां श्रवणकटुत्वाद् वचनानि अन्यथा व्याख्यायन्ते, नतु सः भागवतार्थः. वस्तुतो हिरण्याक्षो भक्तः, भारती च. तथा सति तानि वाक्यानि स्तुतिपराण्येव इति पुनः व्याख्यायते **अहो** इति स्वभाग्यम् अभिनन्दति. वने गोभिः उपनिषद्भिः चर्यते ज्ञायते इति अधिकारिविशेषेण वेदान्तसमधिगम्यो यः, सो अस्मान् इदानीं मृगयति इति [क]आश्चर्यम्. अतएव भगवन्तं प्रति आह हे भगवन्, **एहि,** अस्मदुद्धारार्थम् आगच्छ. पृथिवी गमनं न मन्यते इति चेत् तद् आह **अज्ञमहीं विमुञ्च** इति. अज्ञा च असौ मही च, सा हि अस्मद्दुःखं न जानाति. भक्तो हि परदुःखाभिज्ञः, अतः सा त्यक्तव्या. **नो रसौकसाम् अर्थे.** रसएव ओकः स्थानं येषाम्. वयं रसिकाः भक्ताः, अतो अस्मदुद्धारं प्रथमतः कुरु इति अर्थः. तर्हि पृथिव्याः का गतिः ? इति चेत्, तत्र आह **विश्वसृजा इयम् अर्पिता** इति. इयं न स्वभावतः तव स्थाने समागता, किन्तु ब्रह्मणा अर्पिता. अर्पितत्वात् पुनः प्रत्यर्पणं कर्तव्यं, तदा ब्रह्मैव तद् उद्धारं करिष्यति इति अर्थः. वयन्तु अनन्यगतिकाः, इयन्तु सगतिका इत्यपि विशेषः. किञ्च यदि अस्मदुद्धारम् अकृत्वा अनया सह गमिष्यसि, तदा परमदयालोः तव सुखं न भविष्यति इति आह **न स्वस्ति यास्यसि** इति. अनुद्धृतस्य मम ईक्षतएव सतो अनया सह सुखं न यास्यसि इति अर्थः. नहि भक्तम् अनुद्धृत्य सदयः कश्चिद् भार्यया सुखम् अश्नुते. देवाः त्वद् उद्धारं न मन्यन्ते इति चेत्, तत्र आह **सुराधम** इति. सुराः अधमाः यस्मात्. ते हि निकृष्टाः, किं तेषां सम्मत्या इति अर्थः. ननु श्रान्तो अहं भूम्युद्धारेण, रूपान्तरेण उद्धरिष्यामि इति चेत्, तत्र आह **असादितसूकाराकृते** इति सम्बोधनम्. **न सादिता** अवसादं प्रापिता सूकराकृतिः येन. इदानीमपि एतद्रूपं न अवसन्नम्,

क. ''नात्याश्चर्यम्'' इति मां.१,३.

अतो भूम्युद्धारम् अकृत्वा माम् उद्धर इति अर्थः. ननु देवैः भूम्युद्धारार्थं प्रार्थितो अहं, ते हि भूमौ माम् आराध्य मुक्ताः भविष्यन्ति; अतो बहूपकारसिद्धेः भूमिरेव उद्धर्त्तव्या इति चेत् तत्र आह **त्वं नः सपत्नैः** इति. नः **सपत्नैः** शत्रुभिः सनकादिभिः, तत्सहितैः देवैः वा, **किम् अभवाय** मोक्षाय **भृतो** धृतः, भूमौ भगवद्भजनेन मोक्षो भविष्यति इति. तत्तु न भविष्यति, भक्तद्रोहात्. यतो अस्माकं ते **सपत्नाः** शत्रवः, नहि भक्तद्रोहे मुक्तिः भवति. ननु अहमपि भवतां शत्रुरेव इति चेद्, न, इति आह[१] **यो मायया हंसि** इति. त्वन्तु असुरान् कापट्येन मारयसे, लोकव्यामोहनार्थम्. वस्तुतः तेभ्यः सायुज्यं प्रयच्छसि, यतः ते असुराः, असून् प्राणान्, रान्ति शब्दायन्ते शब्दयुक्तान् कुर्वन्ति प्राणघोषं शृण्वन्ति. योगिनः इति अर्थः. प्राणं स्तुवन्ति इति वा. नहि आसन्योपासकाः मृताः भवन्ति ''**मृत्युम् अत्यमुच्यते**'' (   ) इति श्रुतेः. किञ्च **परोक्षजिद्** भवान्. पराणि अक्षाणि इन्द्रियाणि येषां, तानेव जयति इति परोक्षजित्. इन्द्रियारामानेव मारयसि इति अर्थः, असुरान् वा. **परोक्षजिद्.** असुरान् लक्षीकृत्य परोक्षं यथा भवति तथा जयति इति. लोकानां स्थाने असुराः जिताः इति वदति, वस्तुतस्तु तदधीनो भवति, यथा बलिस्थाने. तर्हि समागतेन त्वया किं कर्तव्यम्? इति अपेक्षायाम् आह **त्वाम्** इति. त्वां संस्थाप्य सुहृच्छुचो मृजे. तर्हि समागतेन किं? योगेन, शास्त्रेण वा सम्यक् स्थापनं क्रियताम् इति आशङ्क्य आह **योगमायाबलम्** इति. योगमायायाअपि बलं यस्मात्. ''**ज्ञानिनामपि चेतांसि**''(   ) इति वाक्याद् योगादिभ्योऽपि योगमायैव बलिष्ठा; तस्याअपि बलं त्वत्तः, सः कथं योगेन वशीक्रियते इति अर्थः. ननु पुरुषरूपं हृदये चिन्त्यताम् ''**एवं पुरा धारणया**''(   ) इति वाक्यानुसारेण. तत्र आह **अल्पपौरुषम्** इति. पुरुषसम्बन्धे रूपं पौरुषं, अल्पं पौरुषं यस्मात्. ब्रह्माण्डकोटिविग्रहो भवान्. अतएव त्वामेव संस्थाप्य सकुटुम्बः कृतार्थो भविष्यामि. ननु ज्ञानाभावात् तव कथं मोक्षः? तत्र आह हे **मूढ! प्रे**ति. मूढेष्वपि प्रकर्षो यस्य, अतः त्वं मूढानपि कृतार्थान् करोषि इति न भक्तिमार्गे ज्ञानापेक्षा इति अर्थः. किञ्च न केवलम् अहमेव सकुटुम्बो मुक्तो भविष्यामि, किन्तु सर्वएव भक्ताः एवं कृते परमविश्वासेन कृतार्थाः भविष्यन्ति इति आह **त्वयि संस्थिते** इति. अस्मद्धेतोः त्वयि संस्थिते सति, भुजच्युतया गदया शीर्णे

१.चेत्तत्राह ग. घ. ङ.

शीर्षणि च सति, ये च तुभ्यम् ऋषयो देवाश्च बलिं हरन्ति, **च**काराद् भक्तेभ्योऽपि, ते सर्वे अमूलाः न भविष्यन्ति, सर्वएव समूलाः भविष्यन्ति इति अर्थः. भगवान् चेद् हृदये स्थिरो भवति, तदा गदा सुषुम्णानाडी, गतिं ददाति[1] इति; [2]भुजानां क्रियाशक्तीनां च्युतिः यया; तया ब्रह्मरन्ध्रभेदे सति, प्राणादीनां तेन मार्गेण गमने, स्वस्य च भगवति योगे सर्वएव सायुज्यं प्राप्ताः समूलाएव भविष्यन्ति इति अर्थः. एवम् अन्यपराणां शब्दानाम् अन्यपरता योजनीया. तुद्यमानाः व्यथायुक्ताः ये दैत्याः, तत्सहितो भगवान् भक्तैः कृत्वा जातः. अरयो दुरुक्तितोमराः येषाम् इति. तेषां परभेदकानि असद्वाक्यानि कदापि न सन्ति, ते हि भक्ताः नारदादयः. तैः कृत्वा हिरण्याक्षादिसहितो भगवान् जातः इति तत्सम्बन्धेन स्वविस्मरणं भवति इति भूमेः भयम्. दंष्ट्रायाः च यमत्वात्, तदन्ते स्थिताऽपि. भगवद्दृष्ट्यभावे पुनः सः यमो ग्रसिष्यति इति दैत्यभावएव तेषां तोदात्मकः. [3]तं भगवान् वस्तुतो न सहते. तेषां तद्भावदूरीकरणार्थं यदि दृष्टिः व्याप्येत तदा भूमेः भयं भविष्यति इति तेषां तोदं सहन्नेव अम्बुमध्याद् निर्गतः, जले ते यद्यपि संस्कर्तव्याः. ननु किमिति तथा कृतवान्? इति आशङ्क्य दृष्टान्तम् आह **ग्राहेण आहतः**, तं गृहीत्वैव यथा करेणुसहितो महागजः. गजस्तु कालाधीनएव इति ग्रहाः तत्र बाधकाः भवन्ति, ते चेद् बाधकाः तदा करेणुसहितो मोदते इति. दैत्यत्वं भगवतो न बाधकम् इति सुखक्रियासाधकत्वात् सेवकस्त्रीसहितएव निर्गतः इति अर्थः।।६।।

एवम् उभयसहितस्य भगवतः चरित्रम् उभयेषां हितरूपम् आह द्वाभ्यां **तं निःसरन्तम्** इति.

तं निःसरन्तं सलिलादनु द्रुतो हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवीद् गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ।।७।।

प्रथमं हिरण्याक्षस्य कृतार्थताम् आह **तं** भगवन्तं **सलिलाद् निःसरन्तम् अनुद्रुतः**. यदैव भगवान् सलिलाद् निर्गतः, तदैव भगवत्सायुज्यार्थं, सैन्धव–खिल्यवद्, **अनु** पश्चाद् **द्रुतः**, कठिनभावं त्यक्तवान्. दैत्यत्वं गतम् इति अर्थः. यथा अग्निसन्निधाने घृतं विलीनं भवति तथा इति 'द्रुत'पदं ज्ञापयति. प्रातीतिकार्थेतु सङ्गे धावन् आगतः इति अर्थः. ततः किं जातम् इति आकाङ्क्षायाम्

१.दधातीति क. घ. ङ.मां.१,२,३. २. 'भुजाभ्यां क्रियाशक्तिभ्याम्' इति मां.१,३. ३.''तं भगवान् विष्णुः तोदं न सहते'' इति मां.१,३.

आह **हिरण्यकेशः** इति. सूर्यमण्डलस्थिता मूर्तिः भगवतो हिरण्यकेशरूपा भवति, अतः तादृशं रूपं गृहीतवान् इति अर्थः. ननु भगवत्सन्निधिमात्रेण कथम् अस्य दिव्यरूपप्राप्तिः? इति आशङ्क्य आह **द्विरदं** गजेन्द्रम् **अनु** यथा **झषो** हूहूः गन्धर्वो दिव्यरूपं प्राप्तवान् तथा इति अर्थः. प्रासङ्गिकं फलम् एतद् जातम् इति उक्तम्. उत्तमं फलं वक्ष्यति सायुज्यात्मकम्. ननु तस्य मृत्युः किं जातः? इति आशङ्क्य आह **करालदंष्ट्रः** इति. करालेषु दंष्ट्रा यस्य इति. करो भगवदीयो अलं येषां भगवद्वध्याः, तेष्वेव दंष्ट्रारूपो यमो गतः इति अर्थः. अथवा, करालेषु सुदर्शनादिष्वेव अस्यापि मृत्युः स्थितः. ननु बाधकाः ग्रहाः किं जाताः? तत्र आह **अशनिनिःस्वनः** इति. शनिरहितानाम् अदुष्टानां ग्रहाणां नितरां स्वनो यत्र. सर्वएव शुभग्रहाः एकीभूताइति ग्रहदोषो निवृत्तः इति अर्थः. अतएव भगवन्तं प्रति आह **गतह्रियाम्** इति. 'ह्री'शब्देन देहाद्यभिमानरूपाः सर्वएव धर्माः उक्ताः. **तु**शब्देन तेषां पूर्वधर्मराहित्यम् उक्तम्. एवं मुक्तजीवानां निस्त्रैगुण्ये विचरतां किं विगर्हितम्? इति प्रश्नार्थः. तत्रापि **अः** कृष्णः, तस्य **सतां** परमभक्तानाम्. यद्यपि निस्त्रैगुण्याः तथापि भक्तविरोधिनः पदार्थाः कर्तव्याः न वा? इति सन्देहात् प्रश्नः. प्रतीयमानपक्षेतु शीघ्रं भगवन्तम् अनुद्रुतः. तस्य तथासामर्थ्यसूचकं **हिरण्यकेशः** इति. [क]तस्य गतिप्रतिबन्धकोऽपि जातः इति दृष्टान्तः. ननु युद्धार्थिनो युद्धादाने कथं क्रोधः? तत्र आह कराला दंष्ट्रा यस्य इति. स्वभावतः क्रोधयुक्तः इति अर्थः. अनेन मारयितुमेव प्रवृत्तः इति उक्तं भवति. तथापि स्वस्य वीर्यगर्वाद् मारणम् अकृत्वैव, मम वचनमेव वज्रतुल्यम् इति दुष्टेनैव वचनेन तथा उक्तवान् इति आह **अशनिनिःस्वनो अब्रवीद्** इति. "**आहूतो न निवर्तेत**"(   ) इति शास्त्राद् युद्धार्थम् आकारितस्य पलायनं शूराणां लज्जाजनकमपि भवति. अतो मुख्यधर्म-लज्जापरित्यागे केवलं प्राणरक्षकाणां किं विगर्हितम् इति उपहासः. '**असत्**'पदेन धर्मराहित्यमपि उक्तम्. अनेन स्वनिवृत्यर्थं युद्धायोग्यता निरूपिता. अतएव भगवान् सः निवर्तिष्यति इति तदाक्षेपकाणि वचनानि उक्तवान्, यथा न निवर्तेत।।७।।

एवम् उक्तो भगवान् शीघ्रं भूमिस्थापनकार्यं कृतवान् इति आह **+सः गाम् उदस्ताद्** इति.

क. 'तस्यागत्य...' इति मां.१,३.

स गाम् उदस्तात् सलिलस्य गोचरे विन्यस्य तस्याम् अदधात् स्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनैः आपूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ।।८।।

सः भगवान्, **सलिलस्य उदस्ताद्** उपरि. **गोचरे** निर्भयदेशे; तत्रैव हि गावः चरन्ति इति. वैकुण्ठे वा स्थित्वा यत् पश्यति तत् स्थानं गोचरम् इति उच्यते. ज्योतिर्मण्डलमध्ये वा, अतएव तत्र अतिप्रकाशः. तादृशे स्थाने **गां विन्यस्य,** तत्स्थानरक्षकदेवेषु न्यासमिव स्थापयित्वा, तस्यां देवानां भगवदीयम्[क] इति ज्ञापनार्थं **स्वसत्वम् अदधात्.** अतएव अस्यां पृथिव्यां सर्वत्र भगवन्मूर्त्तयः, भगवद्गुणाः, भक्ताश्च तिष्ठन्ति. **स्वसत्वं** नाम शुद्धं सत्वगुणं, तदेव हि धारकं सामर्थ्यं रूपञ्च. एवं कृते देवानां सन्तोषो जातः इति तैः स्तोत्रं पुष्पवृष्टिश्च कृता इति आह **अभिष्टुतः** इति. विश्वसृजा अभिष्टुतः, विबुधैः प्रसूनवर्षैः च अभिवर्षितः, उभयम् उभयेषां वा. पूर्वं हिरण्याक्षस्य युद्धाकरणे या अवज्ञा जाता, तां निराकर्तुम् आह **पश्यतो अरेः** इति. उत्कर्षो हि अरिदृष्टः परमम् उत्कर्षं सम्पादयति इति च. स्तुतिपक्षे किमिति देवैः अभितः स्तुतः, पुष्पवृष्टिश्च कृता? इति आकाङ्क्षायाम् आह **अरेः पश्यतः** इति. न एतत् स्तोत्रादिकं काम्यं, नित्यात्वाच्च अतिरिक्तम्; अतो नैमित्तिकम् इति ज्ञापयितुं निमित्तद्वयं निर्दिशति. भूमौ समागतायां सर्वत्र यागादिधर्माः भविष्यन्ति, ते सर्वे द्रष्टव्याः, तथा अनुग्रहार्थं स्तोत्रकरणम्. **पश्यतो** हेतोः. स्वस्यैव रूपं पश्यद् भविष्यति इति स्तुत्या प्रसन्नः तथा करिष्यति. प्रसूनवृष्टिः च अरेः हेतोः, देवानां शत्रुभयं महत्, तद् व्यावृत्यर्थं च. अस्मत्समृद्धिः भवन्निमित्तम् इति ज्ञापयितुं तथा करणम्।।८।।

भगवान् एवं भूमिं कृतार्थां कृत्वा भक्तहिरण्याक्षप्रश्ने उत्तरं दातुम् उपक्रमं कृतवान् इति आह

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे ।।९।।

भगवान् किमर्थम् उत्तरं प्रयच्छति? इति आशङ्क्य आह **परानुषक्तम्**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः गाम् इत्यत्र. **स्वस्यैव रूपं पश्यद् भविष्यति** इति. स्तुतिकर्तृरूपं भगवन्तं पश्यद् भविष्यति इति अर्थः।।८।।

क. ''भगवदीयम् इदम् इति'' मां.१,२,३.

इति. परस्मिन् ब्रह्मणि अनुषक्तम्. यो हि सन्मार्गे गन्तुम् इच्छति, सः उपदेष्टव्यः इति अर्थः. ननु तथापि भगवदुक्तं न ग्रहीष्यति इति आशङ्कां वारयति **तपनीयोपकल्पम्** इति. अत्यन्तं तापयोग्यः उपकल्पो यस्य[1]. तस्य देहेन्द्रियसामग्री सर्वाऽपि परमतपसा सिद्धा अतप्ततपा[2] एतद् न अश्नुते. किञ्च **महागदम्** इति. महान् अगदो अस्य. सर्वरोगनिवर्त्तिका महती भक्तिः तस्य वर्ततइति सएव तस्य महान् अगदः. तथापि कालादिजनितबुद्धिदोषसम्भवात् कथम् एकान्ततो वाक्यग्रहणम्? इति आशङ्क्य आह **काञ्चनचित्रदंशम्** इति. **काञ्चन** अलौकिकीं भक्तिं प्रति चित्रो[3] दंशो यस्य. भगवता हि तथा [4]चिह्नं कृतम् अस्ति येन परमा भक्तिः उत्पत्स्यते. मुनीनां शापलक्षणो दंशो विचित्रो भवति; देहस्थितम् असमीचीनं दूरीकरोति, स्वतन्त्रभक्तिञ्च स्थापयति. लोके हि सर्पादिना दष्टो विपरीतो भवति. अतएव मर्माणि स्वस्य पापच्छिद्राणि [5]अभीक्ष्यं प्रकर्षेण **तुदन्तं** परमम् इन्द्रियनिग्रहं कुर्वन्तम्. अतः सर्वसाधनयुक्तत्वाद् अयम् उपदेष्टव्यः. ननु "**ईश्वराद् ज्ञानम् अन्विच्छेद्**"(   ) इति वाक्याद् महादेवएव तम् उपदेक्ष्यति, किं स्वोपदेशेन? इति आशङ्क्य आह **दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युः** इति. यद्यपि महादेवो गुरुः भवति, तथापि दुरुक्तैः प्रचण्डो भवति, अवाच्यानि बहूनि सन्ति इति. प्रकृष्टा वा चण्डिका यस्य. तत्र गते सा व्यामोहयेद्, लोकाः च अन्यथा वदेयुः. प्रचण्डो मन्युः यस्य इति. **मन्युः** शिवः. सर्वथा गुणातीतस्य भक्तिरसास्वादनं न भविष्यति इति प्रकर्षेण हसन्. व्यामोहनमपि फलपर्यवसायि इति प्रकर्षः. तं पूर्वप्रश्नकारिणं **बभाषे.** उत्तरदानेन सन्देहं दूरीकृतवान् इति अर्थः. कथापक्षेतु भगवान् भूमिं स्थापयित्वा तद्वधं करिष्यन् वचनैः क्रुद्धं करोति इति आह **परानुषक्तम्** इति. परा पृष्ठतो अनुषक्तं, यदि देवानां पुरस्कारं दृष्ट्वा गच्छेद् गच्छेदेव, न गच्छति इति मारणीयः. ननु सर्वात्मा भगवान् कथं न उपेक्षते? तत्र आह **तपनीयोपकल्पम्** इति. तपनीयं सुवर्णमयम् उपकल्पम् अङ्गदादिकं यस्य.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परानुषक्तम् इत्यत्र. भगवत्कृतचिह्नस्वरूपम् आहुः **मुनीनाम्** इत्यादि. **अन्यथा वदेयुः** इति. शैवो अयम् इति वदेयुः।।९।।

१.'यस्य इति' क. घ. मां.१,३.   २.'अतप्ततनुः' क. 'अत्प्ततपाएव' इति मां.१,२,३.
३.'विचित्रः' ख. ग. घ.मां.३. ४.'चित्रम्' इति मां.१,३. ५.'अभीक्ष्णम्' इति मां.१,३.

अनेन तस्य [ग]च अहङ्कारो निरूपितः. तस्य वा उपकल्पं प्राप्तदैत्यादिसामग्री सम्यक् तपनीया, अतो मारणीयः इति अर्थः. [घ]युद्धयोगोऽपि भवति इति आह **महागदम्** इति. महती गदा यस्य. काञ्चनं सुवर्णमयं चित्रं दंशं यस्य. स्वरक्षायां कवचं, परमारणार्थं गदा. परप्रोत्सहनार्थञ्च अभीक्ष्णं मर्माणि प्रकर्षेण तुदन्तम्. भक्तानुरोधेन यद् भगवान् अलौकिकं करोति तद् मर्म इति उच्यते. लौकिकभक्तवाक्यव्यावृत्यर्थम् **दुरुक्तैः** इति. एकएव अर्थः सुशब्दैः अनिष्टशब्दैश्च उच्यते इष्टद्विष्टभेदेन; यथा जेता, यथा घातुकः इति. अतो निर्दुष्टपूर्णगुणाअपि भगवतो दुरुक्तैः उच्यमानाः मर्मरूपताम् आपन्नाः, अतएव तत्स्पर्शे तुदन्ति. भगवदपकर्षं श्रुत्वा अन्तःस्थितो महादेवः तद्वधार्थं प्रचण्डो जातइति **प्रचण्डमन्युः** इति उक्तम्. प्रहसितं युद्धसमारम्भोत्साहसूचकम्. **तम्** इति पूर्वोक्तदुष्टवाक्यम्. तम् आलक्ष्य **बभाषे**।।९।।

शत्रुभावं पुरस्कृत्य यथा तेन अवध्यानि उक्तानि तथा भगवानपि आह त्रिभिः **सत्यम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

सत्यं वयं भो! वनगोचरा मृगा युष्मद् विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र! ।।१०।।

भो इति सामान्यतः सम्बोधनं, भगवद्विरोधिनो नाम न ग्राह्यम् इति ज्ञापनार्थम्. वयं वनएव गोचराः दृश्याः, नतु गृहे. सत्यमेव एतत्. वने जले वा तव गोचराः जाताः इत्यपि सत्यम्. **मृगः** इति यद् उक्तं तदपि सत्यमेव. मृगयन्ति इति मृगाः. अस्मासु सर्वएव यौगिको अर्थः सिध्यति यतो वयं सर्वकर्तारः 'सर्व'शब्दवाच्याश्च. प्रकृते यद् उक्तं 'मृगाः वध्याः' इति, तत्रापि अस्माकं योगो अस्ति इति आह **मृगाः** इति. मृगयन्ति इति मृगाः. पारधावपि ये हन्यन्ते, ते

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सत्यम् इत्यत्र. **मृगयन्ति इति मृगाः** इति व्युत्पत्तौ 'मृगये' इति मूलमेव बीजं ज्ञेयम्. मृगं करोति इति मृगयते, नामधातुप्रयोगात्. अत्र "**व्यत्ययो बहुलम्**"(पाणि. सू.३।१।८५) इति अनुशासनाद् बहुवचनस्थाने एकवचनं बोध्यम्. तद् आहुः **सर्वकर्तारः** इत्यनेन. **पारधौ** इति. मृगयायाम्।।१०।।

ग. 'तस्य वाहंकारो' इति मां.; २ 'साहंकारो' इति मां.१,३. घ. 'युद्धयोग्योपि' इति मां.१,२,३.

ग्रामसिंहान् मृगयन्ति इति. श्वानो हि तन्मारकाः, नहि तद्व्यतिरेके पारधिः भवति, "**श्वा मृगग्रहणे शुचिः**"(विष्णुस्मृ.२३।४९) इति वाक्यसिद्धत्वात्. परम् अत्र कश्चन विशेषो अस्ति इति सिद्धम् अर्थम् अनुवदति **युष्मद्विधान्** इति. यादृशाः वयं मृगाः तादृशाएव ग्रामसिंहाः भवन्ति इति. यदि मृगत्वेन स्तूयते तदा अस्माभिरपि सिंहत्वेन स्तूयते इति तथावचनम्. अथ यदि निन्दार्थम् उच्यते, तद्बाधितार्थत्वाद् विपरीतार्थत्वाच्च अप्रमाणम् इति न गृह्णीमः इति आह **न मृत्युपाशैः** इति. देव-दैत्ययोः साधारणविरोधप्रतिपादनार्थं बहुवचनम्. उत्तरार्द्धेतु निन्दनं तेनैव कृतम् इति एकवचनम्. सर्वे च निन्दिताः इति देवपक्षेतु बहुवचनमेव. यदि कोऽपि त्वद्वचनम् अङ्गीकुर्यात्, तदा अस्माभिरपि अङ्गीक्रियते. अनङ्गीकारे हेतुः **मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य** इति. यथा सन्निपाती वल्गति, तदा मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तो बद्धः. एकेनाऽपि पाशेन बद्धो न मुच्यते, किं पुनः बहुभिः. तस्य तस्मिन् दिवसे काल-कर्म-स्वभावाः भगवांश्च सर्वएव मारकत्वेन उपस्थिताः इति पाशबाहुल्यम्. प्रतिकूलतया मुक्तः **प्रतिमुक्तः** इति. किञ्च, वीराः हि वाक्यं न गृह्णन्ति, किन्तु कृतिमेव. तत्रापि विकत्थनं न गृह्णन्ति. युद्धभूमौ सिद्धं जयादिकम् अन्यत्र कीर्त्यते, तत्रैव विकत्थनं कृतिविरुद्धं को वा गृह्णीयात्? तत्रापि तव, एकानिनो असहायस्य. माहात्म्यं च चोरवद् उपद्रवकर्तृत्वाद् इति आह हे **अभद्र!** इति. अभद्रं पापम्. पापकर्ता प्रसिद्धोऽपि अपकीर्तिहेतुरेव।।१०।।

यद्यपि अधर्मकर्तृत्वेन वयं निर्दिष्टाः "**महीं विमुञ्च**"(   ) इति, तत्रापि उत्तरम् उच्यते **एते वयम्** इति.

एते वयं न्यासहरा रसौकसां गतह्रियो गदया द्रावितास्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि कथंचिद् आजौ स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ।।११।।

ये भवत्सम्बन्धिनो न्यासहराः, ते वयम् एते. स्वरूपप्रदर्शनेन चौरत्वं निराकृत्य प्रभुत्वं स्थापितं, नतु चौरत्वस्यैव अनुवादः. अनेन यज्ञो अहम् इत्यपि उक्तम्. न वा यथोचितं कर्तव्यम् इति निवेदनम् अर्थः. वक्रोक्तावपि सत्यत्वाद् न्यासहरणस्य **एते वयम्** इति निर्देशो दूषणाङ्गीकारपरः स्याद्, अनुवादत्वाभावात्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एते इत्यत्र. **अनेन** इति. क्रियाशक्तिपूर्णताबोधकेन वाक्येन. **दूषणाङ्गीकारपरः स्याद्** इति. तत्परो युक्तः इति अर्थः।।११।।

यदपि उक्तं गतह्रियाम् इति तत्र आह. **गतह्रियः** इति. युद्धम् अकृत्वा ये पलायन्ते विकत्थन्ते च ते गतह्रियः. एतदपि सत्यमेव, नहि ह्रीमान् सेवकेन युध्यते. गता प्राप्ता ह्रीः येन इति वा "**त्रयो वै गतश्रियः**"(आप.श्रौतसू.४।१४।९) इत्यत्र तथानिर्णयात्. अन्तः बाधहेतावपि स्वकीयएव बाधहेतुपदार्थपरित्यागो गतह्रीत्वम्. बहिः तथात्वम् आह **गदया द्राविताः ते** इति. अयुध्यमानस्य ततो अपसरणं पलायनमेव. मृगाः हि लकुटं दृष्ट्वा पलायन्ते इति उचितमेव द्रावणं, लज्जाभावश्च. तर्हि अनूद्यतएव किमिति पलायनं कथं न क्रियते? इति आशङ्क्य आह **तिष्ठामहे अथापि** इति. **अथापि** स्वापकर्षे विद्यमानेऽपि उत्कर्षो भविष्यति इति बुद्ध्या **आजौ** सङ्ग्रामे कथञ्चित् तिष्ठामहे. **कथञ्चिद्** इति कियत्कालम्. सः जानाति भगवांस्तु सङ्ग्रामे बहिर्मुखानां पुरतो न तिष्ठति, तथापि भक्तानां ग्लानिव्यावृत्यर्थं कथञ्चित् तिष्ठामः इति अर्थः. किञ्च, **बलिना वैरम् उत्पाद्य क्व यामः?** गन्तव्यदेशाभावादपि स्थीयते इति अर्थः. बलिष्ठो हि पलायने अन्विष्यापि मारयेद्, अतो निग्रहस्य सिद्धत्वाद् युद्धमेव क्रियते इति कथञ्चित् स्थीयते इति वक्रोक्तिः. न्यासहरणेन आज्ञाऽकरणेन च वैरोत्पादनम् ।।११।।

एवम् उक्ते तद्बुद्धौ दीनभावः समायास्यति, ततो युद्धम् अकृत्वैव गमिष्यति इति आशङ्क्य आह **त्वं पद्रथानाम्** इति.

त्वं पद्–रथानां किल यूथपाधिपो घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः।।१२।।

पदातीनां रथानाञ्च ये यूथपाः, तेषामपि भवान् किल अधिपः. पादरूपाः रथाः येषाम् इति वा. अनेन यथासुखं रथबले[1] सामर्थ्यवन्तः इति उक्तं; तेषां यूथपाः सेनापतयः. अतः त्वया एकाकिना युद्धं न कर्त्तव्यं किन्तु सर्वैः सम्भृत्य आगन्तव्यम् इति स्वोत्कर्षः सूचितः. **नो** अस्मान् **घटस्व.** वयमपि बहवः, महता हि महद्भिः सह युद्धं कर्तव्यम् इति. तदपि युद्धं न कौतुकरूपम् इति, किन्तु **अस्वस्तये** अकल्याणाय, एकतरमारणस्य आवश्यकत्वात्. अथवा **नः** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

त्वम् इत्यत्र. **नः** इति. हे पुरुष इति अर्थः।।१२।।

१.रथचलन. ग. 'रथबल' इति मां.१,२,३.

सम्बध्यते, तदा हि सः प्रोत्साहितो भवति. विपरीतवाक्ये वञ्चनोक्तिः. उभयथापि अस्माकं क्षतिरेव, तुच्छजयात् सेवकमारणाच्च. अतः **नः** इति उक्तम्. अस्तु यथाकथञ्चित्. **अनूहः** सन् आशु घटस्व. कस्मिन्नपि अंशे विचारो न कर्तव्यः. **ऊहो** विचारः. विघ्नाभावयुक्तो वा **अनूहः** अप्रत्यूहः इति अर्थः. ततः[1] किं स्याद् अतः आह वक्रोक्त्या **संस्थाप्य च अस्मान्, च**कारात् [2]देवानपि, **स्वकानाम् अश्रु प्रमृज.** संस्थापनमात्रेणैव अश्रूणि निवृत्तानि इति. कथञ्चिद् लेशः[3] स्थास्यति इति, बहूनां सम्बन्धि एकम् अश्रु इति उक्तम्[4]. युद्धकरणपक्षे[5] बहूनाम् उपकारः, स्वस्य परम् अल्पमारणेन[6] मनसि हीनता. युद्धे गुणान्तरमपि अस्ति इति आह **यः स्वां प्रतिज्ञाम्** इति. यस्तु स्वस्य प्रतिज्ञाम् आधिक्येन **न पिपर्ति** न पूरयति, सो असभ्यः. अतो अस्मिन् पक्षे प्रतिज्ञापूरणात् सभ्यत्वस्य सिद्धत्वाद्, बहूनाम् उपकाराच्च युद्धं सर्वथा कर्तव्यम् इति अर्थः।।१२।।

एवम् अन्योन्यं वाक्ययुद्धं निरूपितम्. ततः कायिकं युद्धं जातम् इति आह **सोऽधिक्षिप्तः** इति षड्भिः

द्वाभ्यां युद्धं तु दैत्यस्य आरम्भो युद्धमेव च ।
प्रतीकारश्च युद्धं च द्वयं भगवतः पुनः।
मिश्रयुद्धं ततः स्थूलम् उपसंहार एव च ।।१।।

तत्र प्रथमं हिरण्याक्षयुद्धं श्लोकद्वयेन आह. युद्धे हि क्रोधो मुख्यसामग्री सा प्रथमम् उच्यते **सो अधिक्षिप्तः** इति.

मैत्रेयः उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ।।१३।।

भगवता अधिक्षिप्तः इति क्रोधे हेतुः. सतु भक्ते वा, अल्पे वा न भवति इति **सः** इति उक्तम्. सः दैत्यो महाबलः च. तदा भगवता स्वभावः आविर्भावितः इति **भगवता** इति उक्तम्. [क]अधिक्षेपो 'ग्रामसिंहान्' इति. प्रलब्धो वक्रोक्त्या वञ्चितः 'एते वयम्' इत्यादिभिः. **च**कारात् युद्धार्थम् आकारितः च. तत्रापि रोषेण

१.'अतः' क.घ.ङ.मां.१,२,३. २ .'अन्यानपि' इति मां.१,३. ३.'क्लेशः' क.घ.ङ.मां.२. 'क्लेशः शाम्यति' इति मां.१,३. ४.'एकमस्त्यि' क. ख. घ. ५.'अयुद्ध' क. घ. ङ.मां.१,३. ६.'अन्य' ग.
क. 'अधिक्षिप्तः' इति मां.१,२,३.

प्रलब्धः, नतु हितोपदेशेन. अतो दोषत्रयस्य जातत्वात् तस्य त्रिदोषरूपो महान् क्रोधो जातः इति आह **आजहार** इति. क्वचित् स्थापितमिव आनीतवान् इति अर्थः. **उल्बणम्.** अनिष्टपर्यवसायी सहजक्रोधयुक्तः साधने अनर्थपर्यवसायी भविष्यति इति किं वक्तव्यम् इति अत्र दृष्टान्तम् आह **क्रीड्यमानः** इति. यथा **अहिराट्** सर्पश्रेष्ठः कालियो अन्यो वा।।१३।।

सः यथा स्वपौरुषं[१] प्रकटयति तथा प्रकटितवान् इति आह **सृजन्** इति.

सृजन् अमर्षितः श्वासं मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाऽभ्यहनद् हरिम् ।।१४।।

अत्य**मर्षितः श्वासं**[२] **सृजन् गदया अभ्यहनद्** इति सम्बन्धः. अन्तःस्थितक्रोधेन श्वासः उत्पन्नः, बहिःस्थितेनतु क्रोधेन 'मन्यु'शब्दवाच्येन प्रकर्षेण चलितानि इन्द्रियाणि यस्य तादृशो जातः. एवं तस्य क्रोधव्याप्तिः उक्ता. अतएव शीघ्रम् **आसाद्य** भगवन्निकटे समागत्य. भगवता सह युद्धम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य तस्य जातिं निर्दिशति **दैत्यः** इति. महांस्तु पश्चादेव मारयति, न प्रथमम् इति भगवदुत्कर्षकथनार्थं तस्य प्रथमं मारणम् आह **गदया अभ्यहनद्** इति. सिंहो वा, दुःखनिवारको वा, मारितः स्वस्यैव अनिष्टहेतुः इति सूचयितुं **हरिम्** इति उक्तम्. एवं मारणान्तं तस्य युद्धं निरूपितम्।।१४।।

भगवत्कर्तृकं युद्धं श्लोकद्वयेन आह **भगवांस्तु** इति.

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत् तिरश्चीनो योगारूढ इवाऽन्तकम् ।।१५।।

'तु'शब्दः, तद्वत् क्रोधं न कृतवान्, किन्तु शान्तएव तत्प्रतीकारं[क] कृतवान् इति आह. भगवतः प्रतीकारे सामर्थ्यं 'स्व'शब्देन उक्तम्. **गदावेगम्** इति. गदा हि अप्रत्याख्येयवेगा, निकटे हि हन्यते इति. तत्रापि उरसि विशेषेण सृष्टं, तत्रापि रिपुणा. अवञ्चने हेतुत्रयं निरूपितम्. तथापि वञ्चनं कृतवान् इति आह **अवञ्चयद्** इति. कथम् अवञ्चयद्? इति आशङ्क्य प्रकारम् आह **तिरश्चीनः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवान् इत्यत्र. 'स्व'शब्देन इति. 'भगवच्छ'ब्देन।।१५।।

१.स्वरोषाम् घ.मां.१,२,३. २.श्वासान् विसृजन् घ.मां.१,२,३.

क. ''तत्प्रतीकारं कृत्वा युद्धं कृतवान्'' इति मां.१,२,३.

इति. अतिवेगेन भगवान् तिर्यग् जातः. ननु निकटे जायमानः प्रहारः कथं तिर्यग्भावमात्रेण अपगच्छेत्? तत्र आह **योगारूढइव** इति. योगो हि प्राणवशीकरणे हेतुः, अन्तको हि प्राणहारकः, सहि योगेन प्राणं लीनं करोति, तदा मृत्युः प्राणम् अन्वेषयन्नपि न प्राप्नोति. एवं भगवान् शत्रोः समक्षं स्वरूपं कृतवान्. तावतैव तिरोहितः इति प्रहारस्थाने लीनत्वाद् वञ्चनं जातम् इति अर्थः।।१५।।

एवं [१]पूर्वकृतप्रतीकारं कृत्वा तूष्णीं स्थितेऽपि पुनः मारणार्थं प्रवृत्तः पश्चाद् भगवता ताडितः इति आह **पुनः गदाम्** इति.

पुनर्गदां स्वाम् आदाय भ्रामयन्तम् अभीक्ष्णशः ।

अभ्यधावद् हरिः क्रुद्धः संरम्भाद् दष्टदच्छदः ।।१६।।

स्वां मौर्वीम् **अभीक्ष्णशो भ्रामयन्तम्** इति. दृढप्रतीकारार्थं परिभ्रमणस्य पूर्वकालता च निरूपिता. **हरिः** वराहो मारयितुम् **अभ्यधावद्** धावनं कृत्वा निकटे गतः इति अर्थः. तस्य पूर्वप्रयासवैयर्थ्याद् अत्यन्तं क्रोधसंरम्भेण दष्टो दच्छदो दन्तानां छादनरूपम् ओष्ठं येन. ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**''(भग.गीता४।११) इति एतदर्थम् एवं कृतवान् इति भावः।।१६।।

ततः किं कृतवान्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **ततः च** इति.

ततश्च गदयाऽरातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः ।

आजघ्ने स तु तां सौम्य! गदया कोविदोऽहनत् ।।१७।।

गदया कौमोदक्या. **दक्षिणस्यां भ्रुवि.** आसुरी मृत्युः तस्य नश्यतु इति पुरुषत्वाद् दक्षिणस्यां भ्रुवि ताडितः. ननु कथं सूक्ष्मे स्थाने ताडयितुं शक्यते? इति आशङ्क्य आह **प्रभुः** इति. **तां** कौमोदकीं गदाम्. हे **सौम्य!** स्वगदया मौर्व्या, गदायुद्धे **कोविदः** पण्डितो अहनत्।।१७।।

एवम् अन्योन्ययुद्धम् उक्त्वा उपसंहरति **एवं गदाभ्याम्** इति.

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।

जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यम् अभिजघ्नतुः ।।१८।।

बहुकालयुद्धोपयोगाय **गुर्वीभ्याम्** इति. **हर्यक्षो** हिरण्याक्षः. हरिरेव अक्षणि यस्य वर्तते इति समानत्वाय 'हर्यक्ष'पदप्रयोगः. **हरिः** भगवान्. उभयत्र

१.पूर्वमकृतप्रतीकारम्. ख. घ. 'एवं कृतप्रतीकारकृतत्वात्' इति मां.१,३. 'एवं पूर्वमकृतप्रतीकार इति कृत्वा'' इति मां.२.

'हरि'पदप्रयोगो अवधाय. जयार्थमेव यत्नो न वधार्थम् इति **जिगीषया** इति उक्तम्. सुष्ठु संरब्धौ इति उभयोः [क]युद्धहेतुः उक्तः. अन्योन्यम् अभितो जघ्नतुः।।१८।।

एवं भगवतो युद्धलीलाम् उक्त्वा तां वर्णयति **तयोः स्पृधोः** इति.

तयोः स्पृधोः तिग्मगदाहताङ्गयोः क्षतात् स्रवद् घ्राणविवृद्धमन्य्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया व्यभाद् इलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ।।१९।।

अन्योन्यस्पर्द्धिनोः. तिग्मगदाभ्याम् आहते अङ्गे ययोः. दुःखानुभवेन युद्धाद् निवृत्तिम् आशङ्क्य क्रोधाधिक्यं सहेतुकम् आह **क्षतात् स्रवद् घ्राणविवृद्धमन्य्वोः**. गदाप्रहारेण यत् क्षतं, तस्मात् स्रवद् यद् रुधिरं, तस्य घ्राणनम् आस्वादनं, तेन विवृद्धो मन्युः ययोः. गदायाः[१] **विचित्रमार्गान् चरतोः** इति युद्धलीलायां रसाभिनिवेशः उक्तः. अत्रापि जिगीषैव हेतुः, स्वरूपतो अभिप्रायतश्च जिगीषा इति. ननु वैरिणोः कथं जयमात्रं हेतुः? इति आशङ्क्य आह **इलायामिव शुष्मिणोः** इति. **इला** भूमिः. एकत्र अधिकरणसप्तमी इतरत्र निमित्तसप्तमी. यथा पृथिव्यां काममत्तौ वृषभौ अतिपुष्टौ अन्योन्यजिगीषया युद्धं कुरुतः, वासितार्थे वा तयोः मृधो यथा. **व्यभाद्** युद्धं शोभते स्म।।१९।।

एवं लीलया युद्धे क्रियमाणे भगवता तस्य मृत्युः न भविष्यति इति आशङ्क्य, ब्रह्मा स्वयम् आगत्य तद्वधार्थं प्रार्थयति द्वाभ्यां **दैत्यस्य** इति.

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायया गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ।।२०।।

आगमनप्रार्थनाभेदेन उभयोः समानबलत्वं निरूपयितुं स्वरूपं वर्णयति. तत्र दैत्यत्वमेव युद्धादौ उपयोगीति तदेव उक्तम्. यज्ञाः अवयवाः यस्य, अनेन क्रियाशक्तिः तत्र पूर्णा इति उक्तम्. ननु यो यज्ञावयवः, सः कथम् एवंरूपः इति दूषणं दूरीकुर्वन्नेव सामर्थ्यविशेषम् आह **मायया गृहीतवाराहतनोः** इति. **महात्मनः** इति तादृशस्य युद्धकरणे हेतुः न ज्ञायते इति सूचितम्. **कौरव्य!** इति सम्बोधनं महतां चरित्रे विश्वासार्थम्. जलयुद्धपक्षेतु तेन न दृश्यते इति तद् व्यावृत्यर्थं, **मह्यां** पृथिव्यां **द्विषतोः** विशेषेण **मर्दनं दिदृक्षुः** स्वयम् **अभ्यगात्.** ननु ब्रह्मणो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दैत्यस्य इत्यत्र. **तेन न दृश्यते** इति. जलेन युद्धं न दृश्यते।।२०।।

क. 'युद्धानुरक्तिः' इति मां.१,३. १.गदया. क. घ. ड.मां.१,२,३

हिरण्याक्षवधे किं प्रयोजनं सिध्येद्? इत्यतः आह **स्वराड्** इति. सहि सर्वस्यापि सर्गस्य राजा, इन्द्रादयः तदंशाः. साक्षित्वाय ऋषीणाम् आगमनम् ।।२०।।

तयोः युद्धं दृष्ट्वा, लीलां कुर्वाणौ एतौ इति मत्वा, वधार्थं प्रार्थयते इति आह **आसन्नशौण्डीरम्** इति.

आसन्नशौण्डीरम् अपास्तसाध्वसं कृतप्रतीकार–महार्यविक्रमम् ।
विलोक्य दैत्यं भगवान् सहस्रणीः जगाद नारायणम् आदिसूकरम् ।।२१।।

भगवतः उत्कर्षो युक्तः, तस्य अयुक्तः इति तदेव वर्णयति. **आसन्नं** स्वीकृतं **शौण्डीरं** येन. **शौण्डीरं** साहसोत्साहः. भगवतः सकाशाद् अपास्तं साध्वसं यस्य. कृतः प्रतीकारो येन. न केनाऽपि हार्यो हर्तुं योग्यो विक्रमो यस्य. एतादृशं दैत्यं विलोक्य अयम् अजेयः इति ज्ञात्वा स्वपितरं भगवन्तं, सर्वावताराणां प्रथमावताररूपं; भगवान् चेद् मारयितुम् इच्छेत् तदैव अस्य मरणं भवेद्, नतु उदासीनतया इति मत्वा, **आदिसूकरम्** आह इति सम्बन्धः. तादृशज्ञानम् अस्ति इत्यत्र हेतुः **भगवान्** इति. ननु एवम् उच्यमाने सः चेद् ब्रह्माणमेव मारयेत्, तदा का गतिः स्याद्? इति आशङ्क्य आह **सहस्रणीः** इति. सहस्रं नयति इति. ब्रह्मा हि स्वसदृशान् सहस्रं योधान् नयति, अतो न अस्य भयम् इति अर्थः।।२१।।

ब्रह्मा मारणार्थं तस्य दूषणान्येव आह **एषः** इति द्वाभ्यां

ब्रह्मा उवाच

एष ते देव! देवानाम् ङ्घ्रिमूलम् उपेयुषाम् ।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ।।२२।।

“**भक्तद्रोहे वधः स्मृतः**”(   ) इति भगवद्धृदयाद् अयं भक्तद्रोहमेव कृतवान् इति आह **एषः** हिरण्याक्षः. हे **देव!** इति सम्बोधनं देवपक्षपातबोधनार्थम्. देवद्रोहाद् वधो न दोषाय इति ज्ञापयितुं **देवानाम्** इति उक्तम्. **अङ्घ्रिमूलम् उपेयुषाम्** इति मुख्यो हेतुः. **विप्राणां सौरभेयीणाम्** इति. ब्राह्मणानां गवां यज्ञोपयोगित्वात् तद्विरोधेन यज्ञवराहेण अवश्यं मारणीयः इति प्रकृतावतारोपयोगित्वेन उक्तम्. सामान्यतो विष्णोः रक्षाकर्तृत्वात् तत्त्वेन रक्षार्थं **भूतानामपि अनागसाम्** इति उक्तम्. निरपराधीनि भूतानि सर्वथा रक्षकेन रक्षणीयानि इति. चतुर्भिः हेतुभिः अयं मारणीयः इति हेतवो निरूपिताः ।।२२।।

तस्यापि दोषचतुष्टयम् आह **आगस्कृदि**ति.

आगस्कृद् भयकृद् दुष्कृद् अस्मद् राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन् अप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ।।२३।।

प्रथमतो निरपराधिनं सापराधं बोधयति, मिथ्यैव अपराधं सम्पादयति इति अर्थः. ततो भयं जनयति निर्भर्त्सनादिभिः. ततो दुष्टं मारणं, सर्वस्वहरणादिकं वा करोति. अन्येषामपि दोषाणाम् उत्पत्यर्थं तस्य बलम् आह **अस्मद् राद्धवरः** इति. अस्मत्तो राद्धः सिद्धो वरो यस्य इति. देववरं प्राप्य कथं दुष्टो जातः? इति आशङ्क्य आह **असुरः** इति. सर्पाणां पयःपानवत् चतुर्थं दोषम् आह अयं **कण्टकः** इति. गतिमेव नाशयति. अल्पोऽपि परमदुःखदः इति अर्थः. **अप्रतिरथः** च अयं, न विद्यते लोके प्रतिरथो युद्धे समानो यस्य. अतएव प्रतिरथम् अन्वेषयन् **लोकान् अटति.** अतो दृप्तो दुरात्मा हन्तव्यः इति अर्थः।।२३।।

अस्य उपेक्षा न कर्तव्या इति आह **मा एनम्** इति.

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशम् असत्तमम् ।
आक्रीड बालवद् देव! यदाशीविषम् उत्थितम् ।।२४।।

एनं मा आक्रीड, मा क्रीडय इति अर्थः. एनं वा लक्षीकृत्य क्रीडां मां कुरु इति अर्थः. तत्र हेतवः चत्वारः. **मायाविनम्** इति. अयं च मायावी, अस्य बलं न ज्ञायते. अतो यदैव क्षीणबलो भविष्यति तदैव पलायनं करिष्यति इति इदानीमेव हन्तव्यः. किञ्च, **दृप्तो** अयम् अनिमित्तः, उपेक्षायां जगदेव मारयिष्यति इति. किञ्च, **निरङ्कुशम्** इति. त्वद् व्यतिरिक्तो अन्यो अस्य न नियामको अस्ति, अतो अस्य न अन्यः प्रतीकारः. स्वयमेव कालान्तरे बाल्यं त्यक्ष्यति इति न मन्तव्यं यतो अयम् **असत्तमः.** अतएव **बालवद् देव! मा आक्रीड.** बालो हि उदर्कं न विचारयति. किञ्च अयं त्वय्यपि अपकारं करिष्यति इति आह **यदाशीविषम् उत्थितम्** इति. उत्थितः सर्पः. चेष्टया यदा शयानः सर्पः उत्थापितः चेद् हन्तव्यएव, अन्यथा अपकारं कुर्यात्।।२४।।

किञ्च, स्वभावतएव अयं बलिष्ठः सन्ध्याकाले अत्यन्तं बलिष्ठो भविष्यति; अतो यावद् अस्य वृद्धिकालो न आयाति, तावदेव हन्तव्यः इति आह **न यावद्** इति.

न यावद् एष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देवमायाम् आस्थाय तावद् जह्यघम् अच्युत! ।।२५।।

वृद्धौ दोषम् आह **दारुणः** इति. **स्ववेला** सन्ध्या; तदा हि ते दैत्याः उत्पन्नाः एतयोरपि तदैव जन्म. कथं तर्हि मारणीयः? इत्यतः आह **स्वां देवमायाम्** इति. देवमाया हि असुरबाधिका, ''**रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत!**''(भग. गीता १४।१०) इति वाक्यात्. वधे दोषो भविष्यति इति न मन्तव्यं, यतो अयम् अघरूपः. एतद् युद्धे स्वस्मिन् सन्देहो न कर्तव्यः इति आह **अच्युत!** इति।।२५।।

सन्ध्या स्वतोऽपि नाशिका इति आह **एषा घोरतमा** इति.

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो!।
उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयम् आवह।।२६।।

एषा देवानां **सन्ध्या.** ज्योतिश्चक्रस्य स्थितत्वाद्, मध्ये च पृथिव्याः स्थापितत्वात्. ब्रह्मादीनां देवतात्वाद् देवमानेन इति अध्यवसीयते. अथवा ब्रह्मणो वा एतद् दिनम् **लोकच्छम्बट्करी** इति वचनात्, तस्य संवत्सरान्तदिनएव कल्पप्रलयात्. प्रथमपक्षे सन्ध्यायां लोकनाशकत्वं स्वाभाविकमिति तथा उच्यते. ज्योतिश्चक्रपरावृत्या मानुषमेव वा मानम्. अधिष्ठात्र्यो देवताः वा भगवत्सेवार्थम् आगतस्य कालस्य परम्परयैव आविर्भवन्तीति सन्ध्या सैव उच्यते; तथैव अभिजिदपि. एवं चतुर्ष्वपि पक्षेषु समाधातुं शक्येष्वपि अयमेव ज्यायान्. 'छम्बट्'शब्दो वैदिको नाशवाचको रिक्तपर्यायः, ''**तेनैकाष्टकान्**[१] **छम्बट्कुर्वन्ति**'' (तैत्ति.ब्राह्म.७।४।८।२) इति श्रुतेः. अतएव सन्ध्यापि लोकनाशिका, दैत्योऽपि. उभयोः मिलने[२] महान् अनर्थो भविष्यतीति ततः पूर्वमेव दैत्यो मारणीयः इति अर्थः. तथा सामर्थ्यं सूचयति **प्रभुः** इति. सर्वेष्वेव अवतारेषु सत्वांशव्यवधानाद् ज्ञानतिरोभावमिव मन्यते, ततो बोधनम्. प्रहरत्रयं जातम् अस्ति, अतो निकटएव सन्ध्या भविष्यति इति **उपसर्पति** इति उच्यते. सर्वरक्षा तव आवश्यकीति तथा सम्बोधयति **सर्वात्मन्** इति. एकमारणेन बहूनां रक्षाजननात् सर्वात्मकत्वेऽपि मारणं न विरुद्धम्. तथापि सर्वथा न मारणीयः, रक्षामात्रमेव कर्तव्यम् इति चेत्, तत्र आह **सुराणां जयम् आवह** इति. सत्वकाले सुराणां जयः कर्तव्यः।।२६।।

ननु अहमेव मारयिष्यामि, किमिति बोध्यते इति आशङ्क्य आह **अधुना**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एषा इत्यत्र. **अयमेव** इति. देवतासमागमनरूप-सन्ध्यापक्षएव।।२६।।

१.एकाष्टकां. न ख.ग. २.मेलने. ग, मिलनेन. ख.

एषः इति.

अधुनैषोऽभिजिद् नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदाम् आशु निस्तर दुस्तरम् ।।२७।।

तदधिष्ठात्री देवता प्रत्यक्षा इति **एषः** इति उक्तम्. अभिजिन्नक्षत्रं मध्याह्ने राशिद्वारा मिलतीति तथा उच्यते. तुलासङ्क्रमणस्य दिनाष्टके गते, तस्मिन्नेव दिवसे उत्तराषाढाचतुर्थपादे, मध्यन्दिने सति मुहूर्तमात्रम् अभिजिद्योगो भवति. ''**ते देवाः तस्मिन् नक्षत्रे अभ्यजयन्**''(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।२।३) इति उपाख्याने अभिजिन्नक्षत्रे देवानां दैत्यजयः[1] उक्तः. सतु निकटएव गतः, तदैव मारणीयो भवेद् इति [2]अनपचय्यजयत्वात्. अथवा ''**पापपराजितमिवतु**''( ) इति श्रुतेः अभिजिन्नक्षत्रं न अत्यन्तम् उत्कृष्टं, पापेन पराजितत्वात्. तस्मात् सोऽपि गतः, सन्ध्या च न आगता, अतो मारणीयः इति अर्थः. **सुहृदां** देवानां **नः** शिवाय. एवं दुष्टं **दुस्तरं** मृत्युरूपम् **आशु निस्तर** नितरां तर।।२७।।

ननु अस्य जीवनादृष्टे विद्यमाने कथं म्रियते? इति आशङ्क्य आह **दिष्ट्या** इति.

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युम् अयम् आसादितः स्वयम्।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ।।२८।।

यद् अयम् एतस्मिन् अवसरे त्वां प्राप्तः तेन ज्ञायते न अस्ति अस्य जीवनादृष्टम् इति. अस्य मृत्युः त्वमेव, अतो अयं **स्वयमेव त्वां मृत्युं दिष्ट्या आसादितः** प्राप्तवान्. यथा मृत्युः रोगादिना पराक्रमेण तं हन्ति एवम् एनमपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अधुना इत्यत्र. **तथा उच्यते** इति. योगत्वेन उच्यते. **ते देवाः** इत्यादि. अभिजिन्नाम नक्षत्रम्. उपरिष्टाद(दा)षाढानाम्. अवस्तात् श्रोणायै. देवासुराः संयत्ताः आसन्. ते देवाः तस्मिन् नक्षत्रे अभ्यजयन्. यद् अभ्यजयन्, तद् अभिजितो अभिजित्त्वम्. यं कामयेत अनपजय्यं (य्यं) जयेद् इति. तस्मिन् नक्षत्रे याजयेत्. अनपजय्यमेव जयति ''**पापपराजितत्वमिवतु**''( ) इति. श्रुत्युदित उपाख्याने इति अर्थः।।२७।।

।।इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे अष्टादशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१.जयः क. ख. मां.१,३. २.'अनपाय्यजयत्वात्' इति मां., 'अजय्यजयत्वात्' इति मां.१,३.

विक्रम्यैव सङ्ग्रामे हत्वा, परमसुखे सर्वानिव लोकान् स्थापय इति प्रार्थना. युद्धे मारणाद् न दोषोऽपि।।२८।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षित विरचितायां तृतीयस्कन्धे अष्टादशाध्यायविवरणम् ।।

एकोनविंशाध्यायविवरणम्

एवं स्थितिर्हरौ तस्य पूर्वाध्याये निरूपिता ।

प्रलयो ब्रह्मणो वाक्यात् भगवत्कृत ईर्यते ।।१।।

एकोनविंशे भगवान् क्रीडन्निव महासुरम् ।

सुराणां महदर्थाय हतवान् इति वर्ण्यते ।।२।।

ब्रह्मणा स्तोत्रे क्रियमाणेऽपि भक्तत्वाद् मारयिष्यति न वा इति सन्देहे सति आह **अवधार्य** इति.

मैत्रेयः उवाच

अवधार्य विरञ्च्यस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।

प्रहस्य प्रेमगम्भीरं तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ।।१।।

भगवान् तद् वाक्यं विचारितवान्, किम् अयं देवभावाद् द्वेषेण वदति, आहोस्विद् एवमेव? इति. तद् निश्चित्य तथैव करिष्यामि इति अङ्गीकृतवान्. 'विरञ्च्य'शब्देनाऽपि तस्य असत्यवाक्यत्वं निराकृतम्. 'रवि'शब्दो विपरीतः विरं रविं चिनोति इति विरञ्च्यः, सूर्यादिनिर्माता अयं, न अन्धकारनिर्माता इति. अतो **निर्व्यलीकम्. अमृतं** हितकारि मिष्टञ्च. एवं गुणयुक्तं वचः सत्यम् इति **अवधार्य,** ब्रह्माणं भीतं मत्वा **प्रहस्य** सान्निध्ये ज्ञानोत्पत्यभावाय वा, प्रेम्णा गम्भीरं तद्वचः कटाक्षेणैव अग्रहीत्. **प्रेमगर्भेण** इति पाठे दृष्टिः प्रेमसहिता, अधिकं च प्रेम उत्पादयिष्यति इति तेषां निर्भयत्वं बोधयति. **सः** इति भगवान्. भूम्युद्धारं कृत्वा न अन्तर्हितः, तस्मिन् रूपे च *न अन्तः प्रवेशितः इति बोधयति।।१।।

एवं वधपूर्वभावं भगवदिच्छाम् उक्त्वा, हननात् पूर्वं सर्वात्मत्वात् तस्य कामनां पूरयति. तस्य हि युद्धं कर्तव्यम् इति महती कामना, जयश्च भवतु इति. अतः प्रथमं तद् उभयं सम्पादयति. तत्र प्रथमं युद्धे तस्य जयं सम्पादितवान् इति आह **ततः सपत्नम्** इति पञ्चभिः. दैत्यजयो अग्रे वक्तव्यः इति प्रथमं भगवत्कर्तृकं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ एकोनविंशाध्यायं व्याख्यातुम् आरभमाणा अवसररूपां सङ्गतिं स्मारयन्ति **एवम्** इत्यादि.

अवधार्य इत्यत्र. ***न अन्तः प्रवेशितः** इति. स्वार्थे णिचि न अन्तःप्रविष्टः इति अर्थः।।१।।

युद्धम् आह.

युद्धं तस्य प्रतीकारो दैत्यधर्मश्च साधकः ।
सर्वलोकप्रसिद्धिश्च भक्तानाम् आशिषस्तथा ।।१।।
सर्वेषामेव हृदये जयस्तस्य समागतः ।
इति दर्शयितुं देवाः [१]तदाहुरिति रूप्यते।।।२।।
ततः सपत्नं मुखतः चरन्तम् अकुतोभयम् ।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरम् अक्षजः।।२।।

ततो ब्रह्मवाक्यानन्तरं, **सपत्नं** शत्रुं, **जघान** इति सम्बन्धः. प्राप्त्यर्थं **मुखतः चरन्तम्** इति. **मुखतः** इति सम्मुखे, मुख्यत्वेन वा. मुखादेव चरति. अन्तस्तु *मारणेच्छायाम् उत्पन्नायां तस्यापि हृदये मरणं समागतम् इति मुखतएव युद्धे चरणम् उक्तम्. एवं ज्ञात्वापि निर्भयः, पलायनाभावाय उक्तम्. **उत्पत्य** उत्प्लुत्य उपरि पतित्वा वा. **अक्षजो** भगवान्, ब्रह्मणो नासापुटाद् जातः इति. **गदया हनौ** अताडयत्. हनुः मुखाधो अस्ति।।२।।

ततः प्रतीकारम् आह **सा हता तेन** इति.

सा हता तेन गदया रहिता भगवत्करात् ।
विघूर्णिताऽपतद् रेजे तदद्भुतम् इवाभवत् ।।३।।

दैत्यः सः उपरि पतन्ती गदां कौमोदकीं स्वगदया अभ्यहन्, तदा **सा** कौमोदकी तेन हता भगवत्कराद् विगलिता, आकाशे भ्रमणं प्राप्य, **विघूर्णिता अपतद्** भूमौ पतिता, नतु भिन्ना; किन्तु भूमिं प्राप्य **रेजे.** भगवतो हस्तात् कौमोदकीपातो अत्यद्भुतः इति आह **तद् अद्भुतम्** इति. अद्भुतादपि आश्चर्यम् **इव** इत्यनेन उक्तम्. भगवद्धस्तादेव पातः आश्चर्यं, ततोऽपि कौमोदक्याः. सा हि आसन्यरूपा, दैत्याः ततएव विहताः भवन्ति; सहि अपहतपाप्मा. अतो अत्र आश्चर्यादपि आश्चर्यम्. भगवता चेत् कामना पूर्यते तदा मर्यादाम् उल्लंघ्यापि पूर्यते इति तथा जातम्।।३।।

भगवत्कृतमेव एतद् इति ज्ञापयितुं तस्य धर्मबुद्धिः उच्यते, अन्यथा दुष्टो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ततः इत्यत्र. ***मारणेच्छायाम्** इति. भगवतः तन्मारणेच्छायाम्।।२।।

१.'तथा' इति ग पाठः.

निष्कारणं लोकेषु आगस्कृद्, भयकृत्, दुष्कृत्, कथं तदा तूष्णीं भवेद्? नापि आह भगवत्सामर्थ्याद् इति; अतो धर्मो निरूप्यते **सः तदा** इति.

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।
मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ।।४।।

तदा कौमोदकीपातानन्तरं, **लब्धतीर्थोऽपि** भगवान् अशस्त्र इदानीं जेतुं शक्यते इति लोकदृष्ट्या जयावसरे विद्यमानेऽपि **निरायुधं** भगवन्तं **न बबाधे.** ननु जयाकाङ्क्षी कथं न बबाधे? तत्र आह **मानयन् सः मृधे धर्मम्** इति. सङ्ग्रामे निरायुधः शत्रुः न मारणीयः इति धर्मः, तं धर्मं परिपालयन् न मारितवान् इति अर्थः. इमं धर्मं भगवत्कृतजयार्थं प्रतिपाद्य, तस्य धर्मस्य सहजत्वाभावाय तस्य अभीष्टम् अन्यद् इति आशङ्क्य आह **विष्वक्सेनं प्रकोपयन्** इति. विष्वक् परितः सेना यस्य. अनेन तस्य भ्रान्तत्वं सूचितम्. तूष्णींभावोऽपि जयप्रतिपादकः, भावं च उद्गिरति 'जितं मया' इति. एवं दैत्यस्य जयबुद्धिः निरूपिता।।४।।

लोकानां जयबुद्धिम् आह **गदायाम्** इति.

गदायाम् अपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते ।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चाऽस्मरद् विभुः ।।५।।

अपविद्धायां ताडनेन पतितायां सत्यां, लोके च सर्वत्र **हाहाकारे विनिर्गते** सति. गदापातहेतुको हाहाकारः. भगवानपि लोकानुसारी तस्य जयम् अङ्गी-कृतवान् इति आह **मानयामास तद्धर्मम्** इति. तस्य आयुधरहितवधाभावलक्षणं धर्मं मानयामास, अन्यथा भगवदनङ्गीकृतो धर्मः फलदायी न भवेत्. ततः किं कृतवान्? इति आह **सुनाभं च अस्मरद्** इति. **सुनाभं** सुदर्शनं, **च**कारात् स्वस्य भावञ्च. ननु स्मरणमात्रेण कथं स्वभावस्य, भगवत्त्वस्य, सुदर्शनस्य च आगमनम्? इति आशङ्क्य बोधयति **विभुः** इति. सहि सर्वसमर्थः ।।५।।

तदा भगवद्भक्तानामपि तस्य जयो हृदये समागतः इति पुनः भगवन्तं सायुधं दृष्ट्वा उज्जीविताः अविलम्बेन तद्वधार्थं प्रार्थयन्ति **तं व्यग्रचक्रम्** इति.

तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां तत्र स्माऽऽसन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति ।।६।।

तं पूर्वोक्तप्रकारेण क्रीडाकारिणं सुदर्शनमपि भगवल्लीलां न हृदयेन मानयति, न वा गदायाः पातम्; अतो दैत्यवधार्थं व्यग्रं चक्रं यस्य. ननु भगवान्

सृष्ट्यर्थं प्रवृत्तः कथं तं मारयति? दैत्याअपि उत्पादनीयाः! इति आशङ्क्य आह **दितिपुत्राधमेन** इति. दितेः पुत्राणां मध्ये अधमेन. नहि अधमेन सृष्टिः उत्तमा भवति. अधमत्वञ्च दैत्यमर्यादाभावात्. अतो वध्यः इति सुदर्शनादिस्मरणम्. ननु हीनेन तेन सह युद्धं किमर्थं करोति? सुदर्शनेन वधएव परं कर्तुम् उचितः! इति आशङ्क्य आह **स्वपार्षदमुख्येन** इति. सहि पार्षदानां मध्ये मुख्यः, अतः स्वसेवकमुख्येन सह क्रीडा उचिता इति अर्थः. युद्धार्थं तेन सह विशेषेण सज्जमानम् आसङ्गयुक्तम्. अतएव देवानाम् एतद् मर्म अजानतां केवलम् आकाशे स्थित्वा पश्यतां, **तत्र** तस्मिन् अवसरे **विचित्राः वाचो** जाताः. कश्चिद् आह मारयिष्यति; कश्चिद् न इति, कश्चित् शक्यः; कश्चिद् अशक्यः इत्येवं **चित्राः वाचः. स्म** इति प्रसिद्धे. आशीर्वादम् आहुः व्यग्राः सन्तः **ते स्वस्ति** अस्तु, **अमुं** च **जहि** इति. कुशलं शत्रुजयश्च द्वयं प्रार्थयन्ति. चित्रा वागेव वैयग्र्ये हेतुः, वैयग्र्याच्च *तथावचनम्. इदन्तु वचनं न चित्रम् इति. 'इति'शब्दस्य प्रकार-वाचित्वेऽपि वाक्यत्रयनिरूपणं कर्तव्यं स्यात्।।६।।

एवं सर्वजनीनं तस्य जयं निरूप्य युद्धं निरूपयति **स तं निशम्य** इति अष्टादशभिः, सर्ववाक्प्रतिपाद्या हि भगवतो लीला इति.

दशभिः सत्ययुद्धं तु मायायुद्धं तथाऽष्टभिः ।
द्विविधेजनाऽपि युद्धेन क्रीडति स्मेति वर्ण्यते ।।१।।
दैत्यस्य युद्धसंरम्भः पश्चाद् युद्धं [क]सवाचिकम् ।
प्रतीकारोक्तिभिश्चैवं क्रोधाद् युद्धं पुनस्तथा ।।२।।
ततः पौरुषनाशोऽभूद् भगवल्लीलया रिपोः ।
एवं षड्भिः गदायुद्धं द्वाभ्यां शूलेन चैव हि ।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तं व्यग्रेत्यत्र. सुदर्शनवैयग्र्ये हेतुः ***तथा वचनम्** इति. आशीर्वचनं मारण-वचनञ्च. एतदतिरिक्तचित्रवचनस्य कल्पने बीजम् आहुः **इदन्तु** इत्यादि।।६।।

सः तं निशम्य इत्यत्र. कारिकासु. **मायायुद्धम्** इति. मायापूर्वकम् अन्यत् च युद्धम्. **प्रतीकारोक्तिभिः च एवम्** इति. प्रतीकारसहिताः उक्तयः ताभिः एवम्, एकैकेन इति अर्थः. **पुनः तथा** इति. एकेन.

क. 'वाचकम्' इति मां.१,२,३.

मुष्टिभिश्च तथा द्वाभ्यां स्वदेवास्त्रात् तथा स्वतः ।
युद्धं निरूपितं तस्य मायासामान्यवर्णनम् ।।४।।
चतुर्भिस्तद्विशेषाश्च तस्याप्युक्ता प्रतिक्रया ।
मायायुद्धं ततः षड्भिः स्वयं[1] तूत्तरहेतुकम् ।।५।।
दुर्निमित्तदृशिर्युद्धं मारणार्थम् इहोच्यते ।
एकेन मारणं चैव मरणं च ततो महत् ।।६।।
मृतस्य वर्णनं चैव त्रिभिरित्येष सङ्ग्रहः ।
स्तोत्रं भगवतो यानम् उपसंहार एव च ।।७।।
माहात्म्यं द्विविधं तस्य श्रवणस्य निरूपितम् ।
गुणोपसंहृतिश्चैव दृष्टान्तार्थम् इहोच्यते ।।८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एकादशस्य अर्थम् आहुः **स्वदेवास्त्राद्** इति पादो अनेन. **तथा.** एकेन. **स्वतः** स्वेच्छयैव. स्वस्य दैत्यस्य देवो माया, तस्य अस्त्राद् ‘‘**असु क्षेपणे**’’(धा.पा. दिवादि.९९) क्षेपात्. मायासामान्यस्य वर्णनं यस्मिन्, तादृशं युद्धं निरूपितम् इति अर्थः. षोडशस्य अर्थम् आहुः **तस्याऽपि उक्ता प्रतिक्रिया** इति. सुदर्शनप्रयोगेण मायाप्रतिक्रियाऽपि एकेन उक्ता. उपसंहरन्ति **मायायुद्धं ततः षड्भिः** इति. तेन हेतुना, उक्तैः षड्भिः श्लोकैः मायायुद्धम् उक्तम् इति अर्थः. अग्रिमयोः अर्थम् आहुः **स्वयम्** इत्यादि. ‘‘**विनष्टासु**’’(भाग.पुरा.३।१९।२४) इति पद्योक्तं स्वयं रूपोपगूहनात्मकं युद्धन्तु **उत्तरहेतुकं** सुदर्शनप्रयोगोत्तर-दुर्निमित्तहेतुकम्. तत्पूर्वश्लोके दितेः दुर्न्निमित्तदृशिः. एतयोः कथं युद्धे निवेशः इत्यतः आहुः **युद्धम्** इत्यादि. मारणहेतुरूपत्वाद् युद्धे निवेशः इति अर्थः. एवम् अष्टादशानां तात्पर्यम् उक्तम्. **इति एषः सङ्ग्रहः** इति. एवं प्रकारेण एकविंशतिभिः तन्नाशस्य सङ्ग्रहः. अग्रिमाणां तात्पर्यम् आहुः **स्तोत्रम्** इत्यादि. मरणस्य तयोः भगवतश्च स्तोत्रं यथाक्रमम् एकैकेन; भगवतो यानम् एकेन, उपसंहारः एकेन. **अग्रे ‘‘इति कौषारवे’’** (भाग.पुरा. ४।२१।८)त्यादिभिः षड्भिः श्रवणफलम् उच्यते. तात्पर्यम् आहुः **माहात्म्यम्** इत्यादिभिः. **द्विविधम्** इति. प्रत्यक्षम् उपपाद्यञ्च. द्वितीयस्थस्य कैमुतिकस्य तात्पर्यम् आहुः **गुणोपसंहृतिः** इत्यादि. **गुणोपसंहृतिः** इति सदाचारपराक्रमादिगुणानाम् एकत्र

१.द्वयम्. मां.१,३. २.ततः क. घ.मां.१,३.

जातं जनिष्यमाणं च फलम् अत्र निरूप्यते ।

द्वाभ्यां द्वाभ्यां ततः षड्भिः श्रवणस्य फलं ततम्[1] ।।९।।

प्रथमं स्वायुधगदया युद्धम् आह द्वाभ्याम् उद्योगयुद्धभेदेन **सः तं निशम्य** इति.

स तं निशम्याऽऽत्तरथाङ्गम् अग्रतो व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।

विलोक्य चाऽमर्षपरिप्लुतेन्द्रियो रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ।।७।।

जयानन्तरं हि प्राणिनः उत्साहो भवति. अकस्माद् भगवतः साधनान्तरप्राप्तौ भगवदुत्कर्षं दृष्ट्वा क्रुद्धो जातः इति आह **सः** दैत्यः, **अग्रतो** अग्रे **तं** भगवन्तम्, **आत्तरथाङ्गं निशम्य** श्रुत्वा. क्रोधाद् दृष्टमपि श्रुतमिव मन्यते. **निशाम्य** इति पाठः स्पष्टः. **पद्मपलाशलोचनम्** इति चक्रायुधः कमलनयनः तस्य अन्तकाले ध्येयः इति वर्णितम्. शत्रोः जये जातेऽपि अक्षोभदृष्टिं वा. तादृशं दृष्ट्वा भगवतो अक्षोभलक्षणम् उत्कर्षम् असहमानो **अमर्षपरिप्लुतेन्द्रियो** जातः. अमर्षेण क्रोधेन परिप्लुतानि मग्नानि इन्द्रियाणि यस्य. पुनः उद्गतेन क्रोधेन **स्वदन्तच्छदम्** अधरम् **आदशद्** दष्टवान्. पुनः अन्तः प्रवृद्धेन क्रोधेन **श्वसन्नपि** जातः. एवं युद्धार्थं क्रोधत्रयं कारणं[2] निरूपितम्.

उत्कर्षदृष्टौ मात्सर्यात् चक्रदृष्टेस्तु घातकः ।

स्वाभिमानाद् महान् रोषो विलम्बं न सहेत् तथा ।।१।।

एवं युद्धार्थं तस्य क्रोधो वर्णितः।।७।।

युद्धम् आह **करालदंष्ट्रः** इति.

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां व्याचक्षाणो दहन्निव ।

अभिप्लुत्य[3] स्वगदया हतोऽसीत्याहनद् हरिम् ।।८।।

कराला दंष्ट्रा यस्य दैत्यस्य. यमः तद्दंष्ट्रायाम् आगतः इति स्वाधिदैविक-सामग्रीसहितः उक्तः. **चक्षुर्भ्यां व्याचक्षाणः** इति पूर्णा दृष्टिः तत्रैव निरूपिता, तेन अन्यत्र दृष्टिः व्यावर्त्यते इति विचारान्तरेणाऽपि युद्धाभावशङ्का व्यावर्तिता. सतीं दृष्टिं व्यावर्तयितुम् आह **दहन्निव** इति. स्वाविद्यां, जगद् वा. रूपवद् [4]उष्ण स्पर्शोऽपि चक्षुषो जातः इति **दहन्** इति उक्तम्. तथापि अग्निः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सत्ता. एतद् उभयविधं माहात्म्यम् अग्रे दृष्टफलत्वेन वक्तव्यम्. स्फुटम् अन्यत्.

१.'ततः' क.घ.मां.१,३. २.'सकारणम्' ग. ३.'अभिद्रुत्य' पाठः. २.दुष्टस्पर्शः क.घ.ङ.मां.१,३.

आश्रयं दग्ध्वैव परं दहति इति **इव** इति उक्तम्. एवं क्रूरदृष्ट्या दृष्ट्वा स्वगदया सहितः, आभिमुख्येन गत्वा, **अहतो असि इति अहनत्**[1]. अयं हि यज्ञः; यथा ''स्वधिते मा एनं हिंसीः'' इति **''न वा उ वा एतन् म्रियसे''**(कृ.यजुर्वेद ४।६।९।४) इति विपरीतमिव वदन् अहनत्. ननु विपरीतवादे को हेतुः? तत्र आह **हरिम्** इति. सहि सर्वदुःखहर्ता कथं वा हतो भवेत्? अथवा, अयुद्ध्यमानं कथं मारयिष्यसि? इति आशङ्क्य आह **आहतो असि इति अहनत्.** पूर्वम् आसमन्तात् हतवान् असि इति अर्थः. मुखेनाऽपि मारणं कृत्वा मारयति इति केचित्. स्तुत्यर्थत्वे **हतो असि** प्राप्तो असि इति अगमद् इति अर्थः।।८।।

एवं तस्य युद्धम् उक्त्वा तस्य प्रतीकारम् आह **पदा सव्येन** इति.

पदा सव्येन तां साधो! भगवान् यज्ञसूकरः ।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद् वातरंहसम् ।।९।।

पश्चात्तनो वामपादः **सव्यपाद्** उच्यते. **तां** गदां **भगवान् लीलया प्राहरत्,** पादघातेन तेन तां भूमौ पातितवान् इति अर्थः. **साधो!** इति सम्बोधनं विश्वासार्थम्. साधूनां रक्षार्थं वा तथाकृतवान् इति सूचितम्. **भगवान्** इति अवज्ञया प्रहारेण तथाकरणे सामर्थ्यम्. **यज्ञसूकरः** इति तदर्थमेव अवतारः इति अवश्यं प्रतिक्रियाकरणम्. **लीलया** इति पुनः क्रोधोत्पादनार्थम्. **मिषतः** इति तस्याः तथात्वाय. **वातरंहसम्** इति गदायाः उत्कृष्टत्वं प्रतिक्रियाभावाय।।९।।

एवं प्रतीकारं कुर्वन्नेव क्रोधं जनयित्वा वाचाऽपि क्रोधं जनयति **आह च** इति.

आह चायुधमादत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।
इत्युक्तः स तया भूयः ताडयन् अनदद् भृशम् ।।१०।।

उक्तवानपि आयुधं गृहाण; तदनु **घटस्व** युद्धं कुरु, युद्धार्थं वा सज्जो भव; यतः त्वं **जिगीषसि.** वचनत्रयं तस्य अभिमानभङ्गार्थम्. निरभिमानस्य कार्यं पतितस्य ग्रहणं, निर्लज्जस्य कार्यं पुनः युद्धकरणं, भ्रान्तस्य कार्यम् एतादृशोऽपि अहं जेष्यामि इति. एवम् उक्तेऽपि क्रोधवशाद् व्यङ्ग्यम् अज्ञात्वा, सएव दैत्यः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पदा इत्यत्र. **तस्याः तथात्वाय** इति. तद्गदायाः भगवत्कृतप्रहारासहत्वाय।।९।

१.अतो हतः क. ख. घ.

तयैव गदया, **भूयः ताडयन् भृशम् अनदत्.** इदं तस्य द्वितीयं युद्धं मध्यमभावेन।।१०।।

अस्यापि प्रतीकारम् आह **सः ताम् आपततीम्** इति.

स ताम् आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः ।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ।।११।।

पूर्वं तस्य विचारः –दैवगत्या भूमौ पतिता गदा, नतु बुद्धिपूर्वकं तेन तथा कृतम् इति –अतो मारणम्. एतद् ज्ञात्वा द्वितीयवारं भगवान् प्रकारान्तरं कृतवान् इति आह **सः ताम् आपततीं वीक्ष्य** इति. गदाम् उपरि पतन्तीं वीक्ष्य तिरोभावादिकम् अकृत्वा यथापूर्वमेव सम्यग् अवस्थितः. ततः **प्राप्तां** स्वोपरि समागतां तां गदां **लीलया जग्राह.** उभयोः अभिप्रायं समर्थयन् तथाकरणम् उपपादयति दृष्टान्तेन **गरुत्मानिव पन्नगीम्** इति. पन्नगी हि ''गरुडो मया भक्षणीयः, अस्मत्पतिपुत्रादि हन्ति'' इति शीघ्रम् आयाति. गरुडस्तु ''भक्ष्यं मया प्राप्तम्'' इति मोदकवत् तां गृह्णाति. एवं वेगेन समागतां मारणार्थम् आगतां क्रीडार्थं गृहीतवान् इति अर्थः।।११।।

एवं प्रतीकारम् उक्त्वा तेन तस्य मध्यमभावोऽपि गतः इति आह **स्वपौरुषे** इति.

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।
नैच्छद् गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ।।१२।।

पुरुषो हि स्वतन्त्रः तस्य परप्रतिबन्धरहितं यत् सामर्थ्यं तत् पौरुषं यदा पुनः पुरुषान्तरसामर्थ्येन उपहन्यते तदा उपहतं भवति. अन्तः तस्य नाशे बहिः च कार्यं न भवति. पौरुषन्तु पूर्वमेव नष्टम् इदानीं ज्ञातम् इति अर्थः. बलवता वा प्रतिबद्धम्. 'स्व'शब्देन अत्र गदाकृतं तद्द्वारा स्वगतम्. अस्य क्षत्रियत्वात् शस्त्रद्वारैव अभिमानो मुख्यः, अतः तस्मिन् प्रतिहते **हतमानो**ऽपि जातः. तदा अभिमानाभावात् पराश्रयं कृतवान्. असुरस्तु क्रूरः, शरीरबलमपि तस्य सहजं भवति; अयन्तु **महासुरः,** असुरदेवाद् लब्धवरः, अतो अस्य पौरुषद्वयम् अवशिष्यते इति उक्तं भवति. अतएव पुनः दीयमानामपि गदां न ऐच्छत्. यदि गृह्णीयात्, कियत् कालं युद्धमपि कुर्यात्. भगवत्तेजसा सम्बद्धत्वाद् देवतान्तरसामर्थ्याविर्भावाद् अग्रहणम्. एवं ज्ञात्वैव भगवताऽपि दीयते;

देवतान्तरसम्बन्धो मा अस्तु इति वा. दाने हेतुः **हरिणा** इति. तदा भगवतो दया तस्मिन् जाता. पूर्वं वैष्णवं तेजः तस्मिन् स्थितम् इति प्रभा स्थिता, गदाद्वारा च समागता; पुनः चेद् गृह्णीयात्, पुनः प्रतिसंक्रामेत्. तदभावाद् विशेषेण गता प्रभा यस्य तादृशो जातः इति अर्थः।।१२।।

तदा देवान्तरवरप्राप्तं शूलं गृहीतवान् इति आह **जग्राह** इति.

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।

यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा ।।१३।।

शूलं सूच्यग्रं भेदकम् अग्रत्रययुक्तम्[1]. **त्रिशिखं** त्रिशूलम् इति यावत्. 'शिखा'पदप्रयोगो अग्निवद् दाहकमपि तद् इति सूचयितुम्, अन्यथा देवताप्राप्तं न स्यात्. ज्वलद् यो ज्वलनः, तद्वद् लोलुपम्. अनेन सुदर्शनवद् अस्यापि लज्जेव जाता, न चेत् प्रतीकारार्थं स्वयमेव प्रवर्तितुम् इच्छति. देवताप्रेरणया इति सूचितम्. तामसी शक्तिः वा कृत्यारूपा अत्र प्रवर्तते इति तथात्वम्. देवता हि *उपजीव्य-व्यतिरेकेण अन्यत्र शक्ता. सर्वासामेव देवतानां यज्ञः उपजीव्यः, तत्रापि साक्षात् प्रकटः, तद्विरोधे स्वात्मैव न सिद्ध्येत्. तमेव मारयितुं, तेनैव, यो यतते सः भ्रान्तः. उपजीव्यत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति **विप्राय अभिचरन् यथा** इति. अभिचारो हि मन्त्रसाध्यः, सच ब्राह्मणाधीनः, तेनैव मन्त्रेण तस्यैव ब्राह्मणस्य अपराधकरणं न युज्यते इति अर्थः।।१३।।

ततः किं जातम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **तद् ओजसा** इति.

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं चकासद् अन्तः ख उदीर्णदीधिति ।

चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्त्रम् उज्झतम् ।।१४।।

ओजो अत्र देवताप्राप्तं तेजो मनसि स्थितम्. देवताप्राधान्यख्यापनाय दैत्यस्य भटत्वं; देवतायाः प्रेरणसामर्थ्याय महाभटत्वं; भगवति विरोधख्यापनाय दैत्यत्वम्. **अर्पितम्** इति. समर्पितम्, अन्यथा देवतान्तरभजनदोषः स्याद् इति परमार्थः. **खे** आकाशे **चकासत्** प्रकाशयुक्तम्. **अन्तः** उदीर्णा दीधितिः यस्य.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जग्राह इत्यत्र. **उपजीव्यव्यतिरेकेण अन्यत्र शक्ता** इति. उपजीव्यभिन्नएव शक्ता इति अर्थः।।१३।।

१.मुद्रित पाठस्तु 'अग्रत्रयम् उक्तम्'. 'युक्तम्' इति ख. घ. मां.१,३ 'अग्रत्रययुक्तम्' इति मां.२

रुद्राः हि अन्तरिक्षदेवाः, तत्रैव च तेषां शोभा. [1]अतः दीधितिवर्णनं तस्याः देवतायाः उत्साहज्ञापनार्थम्. स्वस्थाने तस्य बलं बहु भवति इति. स्थानान्तरे तस्य बलक्षये हानिः युक्ता इति शङ्काव्यावृत्यर्थं तत्रैव **चक्रेण चिच्छेद.** ननु उभयोः [*]सजातीयत्वात् कथम् अन्येन अन्यस्य च्छेदनं? तत्र आह **निशातनेमिना** इति निशाता[2] तीक्ष्णा नेमिः यस्य. ननु कल्पान्तरे सुदर्शनस्य महादेवांशत्वात् कथं तेन शूलप्रतिघातः? इति आशङ्क्य आह **हरिः** इति. सर्वदुःखहरणार्थं भगवानेव तथा कृतवान् इति अर्थः. भगवतोऽपि देवतातिक्रमो अयुक्तः इति चेत्, तत्र आह **हरिः यथा** इति. यथा इन्द्रः. **तार्क्ष्यस्य** गरुडस्य **पतत्त्रं** पक्षं तेनैव **उज्झतं** यथा छिनत्ति, तद्वत्. वज्रमपि अप्रतिहतं, गरुडोपि अवध्यः, तथापि उभयरक्षार्थं तेन एकं पतत्त्रं त्यक्तं तथा भगवताऽपि महादेवेन तत् शूलं त्यक्तं सुदर्शनसत्यत्वाय. अतो न कोऽपि विरोधः. देवता तत् शूलं परित्यज्य अन्यत्र गता इति अर्थः. एवं देवबलमपि निराकृतम्।।१४।।

ततः स्वसामर्थ्यं प्रकटितवान् इति आह **वृक्णे स्वशूले** इति.

वृक्णे स्वशूले बहुधाऽरिणा हरेः प्रत्येत्य विस्तीर्णम् उरो विभूतिमत्।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना नदन् प्रहृत्याऽन्तरधीयताऽसुरः ।।१५।।

देवतायाः गतत्वात् स्वस्यैव शूलं **वृक्णम्. अरिणा** चक्रेण. तस्य सामर्थ्यं पूर्वम् उक्तम्. **हरेः** इति सम्बन्धिसामर्थ्याद् न उपजीव्यविरोधः. लक्ष्मीलोभाद् एवम् अहम् उपेक्षितः इति ज्ञापयन्निव[3] **विभूतिमद्** इति उक्तम्. भगवद्वक्षो मुष्टिना **प्रहृत्य अन्तरधीयत** इति सम्बन्धः. प्रतिकूलतया आगमनं मोक्षाभावं सूचयति, अन्यथा "**माम् उपेत्य तु कौन्तेय**"(भग.गीता ८।१६) इति वाक्याद् भगवत्समीपे गतस्य कृतार्थतैव स्यात्. **उरो** मर्मस्थानम्. **विस्तीर्णम्** इति सर्वमुष्टिसम्बन्धार्थे; विशेषेण स्तीर्णं वा संवरणाशक्यम्. ननु शस्त्रे हते किम् अनेन भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **प्रवृद्धरोषः** इति. प्रकर्षेण वृद्धो यो रोषः, तेन विचारो न जातः इति. ननु क्रोधेऽपि कथं विचारस्य न प्रवृत्तिः? तत्र आह **सः** इति. पूर्वोक्तः. अतो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद् ओजसा इत्यत्र. [*]**सजातीयत्वाद्** इति. 'रुद्रात्प्राप्तं चक्रम्' इति पक्षे रौद्रत्वेन, अन्यथातु तेजोरूपत्वेन साजात्यात्।।१४।।

१.'अन्तर्दीधितिवर्णनम्'इति मुद्रितः. २.निशातस्तीक्ष्णः'ग.मां.१,३. ३.'ख्यापयन्' ख.ग. मां.१,३.

विवेकाद्यभावाद् न विचारोत्पत्तिः. मुष्टेः साधनत्वाय आह **कठोरे**ति. अनेन तस्य महत्वं सूचितम्. **नदन्** इति स्वात्मानं [1]ज्ञापयन् अनवधानव्यावृत्यर्थम्. सर्वस्मिन्नपि बले क्षीणे असुरत्वात्[2] प्रहृत्य अन्तरधीयत. अस्य प्रतीकारे किम् अवशिष्यते इति तिरोधानम्।।१५।।

अप्रतीकारे सति [3]प्रत्याहारेण किं कृतम्? इति आशङ्कायाम् आह **तेन इत्थम् आहतः** इति.

तेनेत्थम् आहतः क्षत्तः भगवान् आदिसूकरः ।

नाऽकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः।।१६।।

क्षत्तः इति सम्बोधनं विवेकित्वज्ञापनार्थम्. यथा पुत्रेण ताड्यते, यथा वा स्त्रिया स्रजा. **भगवान्** इति अकिञ्चित्कारे हेतुः. अवताररूपेऽपि विचार्यमाणे न मुष्टिप्रहारेण किञ्चिद् नश्यति. तत्रापि **आदिसूकरो** अतिकठिनः. **मनागपि न अकम्पत.** पश्वादिदेहेषु मक्षिकोपवेशेन कम्पो भवति. प्रहारस्य अधमं कार्यं कम्पः, तत्रापि एकदेशे; तत्रापि श्वासेन देहचलनवद् मनाक्; तदपि न. साधनस्य साध्याजननं कथं सङ्गच्छते? इति आशङ्क्य आह **स्रजा हतइव द्विपः**. नहि स्रजा हतो हस्ती कम्पते. न प्रहारमात्रं दुःखजनकं, किन्तु अल्पस्य महत्; तथा चेत् प्रकृतेऽपि तुल्यम् इति अर्थः।।१६।।

एवं तस्य सहजं युद्धम् उक्त्वा मायिकम् आह **अथ उरुधा** इति.

अथोरुधाऽसृजन् मायां योगमायेश्वरे हरौ ।

यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता[4] मेनिरेऽस्योपसंयमम् ।।१७।।

प्रकारान्तरेण नानाप्रकारां दैत्यानाम् उपास्यभूतां **मायाम् असृजत्.** "**मायेत्यसुराः, तद्धैतान्[5] भूत्वा अवति**" (   ) इति श्रुतेः. भगवन्मोहनार्थं मायानिर्माणं; परं भ्रान्तः. अन्यत्रैव एतत् कर्तव्यं नतु योगमायायाः ईश्वरे. सर्वाः[6] मायाः योगमायायाः अंशाः, तस्याअपि भगवान् ईश्वरो नियन्ता, तत्रापि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वृक्णे इत्यत्र. **किम् अवशिष्यते** इति. अर्थात् किमपि न अवशिष्यते इति अर्थः।।१५।।

१.'इति' ग. २.'आसुरत्वात्' ख.घ.मां.१,३. ३.'प्रहारेण' इति मां.१,२,३. ४.'सर्वा' पाठ. ५.'एतान्' ख.ग. ६.'अन्याः' ख.

सर्वदुःखहर्ता. अन्याः च मायाः प्राणिनां दुःखदाः; अतो विचार्यापि, लीनामपि, मायां परदुःखदां हन्ति. तत्र स्वस्य सर्वस्वभूतां चिन्मायां भगवन्निकटे योजयेत्, तदा तां मारयन् स्वस्य सर्वस्वमेव नाशयेद् इति तस्य दुर्बुद्धित्वप्रतिपादनार्थं सप्तम्यन्तं पदद्वयम्. तर्हि किमिति प्रयुक्तवान्? इति आशङ्क्य, लोके *माया जये परमसाधनम् इति. तस्याः स्वरूपं गुणाश्च वक्तव्या. तत्र गुणान् आह **यां विलोक्य** इति. **यां** मायां विलोक्य, सर्वाएव **प्रजाः** स्ववधशङ्कया प्रथमतो भीताः, पश्चाद् महतीं दृष्ट्वा **अस्य उपसंयममे**व मेनिरे. जगतः प्रलयएव जातः इति ज्ञातवत्यः।।१७।।

मायायाः स्वरूपम् आह चतुर्भिः **प्रववुः** इति.

प्रववुर्वायवश्चण्डाः तमः पांसवम् ऐरयन्।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ।।१८।।

चण्डाः वायवो असह्याः, प्रकर्षेण **ववुः** वान्ति स्म. किञ्च, **पांसवं तमः ऐरयन्** प्रकटितवन्तः. तथा पांसुवृष्टिः जाता, यथा महान् अन्धकारो भवति. तृतीयं रूपम् आह **दिग्भ्यो निपेतुः ग्रावाणः** इति. सर्वतः पाषाणाः अपतन्. ते पाषाणाः च न करकावत् पतन्ति, किन्तु क्षेपणेन दुर्गादिस्थ-यन्त्रेण औषधबलेन यथा पतन्ति. **क्षेपणैः प्रहिताः** प्राणिनो घातयन्ति, तद्वद् इति अर्थः. एषा माया तामसी त्रिविधा।।१८।।

राजसीम् आह **द्यौः नष्टभगणे**ति.

द्यौर्नष्टभगणाऽभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चाऽसकृत् ।।१९।।

स्वर्गो मेघैः कृत्वा नष्टज्योतिश्चक्रो भवति. **अभ्रौघैः** इति मेघानाम् अवान्तरजातिभेदाः उक्ताः. **विद्युतः** तडितः, **स्तनयित्नवो** गर्जितानि, ताभ्यां सहितैः सात्विकैः[1]. राजस-तामसयोः धर्मयोः अत्र सहभावः प्राणिगर्भवधार्थः. मेघानां कार्यम् आह **वर्षद्भिः** इति. षड् मलानि वर्षन्ति पूयादीनि. पूयकेशासृजः एकप्रकाराः भयानकाः बीभत्साः, विण्मूत्रास्थीनि केवलबीभत्सानि. **च**काराद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ उरुधा इत्यत्र. **माया जये** इत्यत्र 'माया' इति भिन्नं पदम्।।१७।।

---

१. 'सात्विकराजसयोः' इति ग.

अन्यान्यपि भयानकानि **असकृद्** वारं वारम् इति सहजत्वज्ञापकम्।।१९।।

सात्विकीम् आह **गिरयः** इति.

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ।।२०।।

नानायुधमुचः खड्गादीनि अनेकानि आयुधानि मुञ्चन्ति इति, साक्षाद् मारकत्वं साधनतोऽपि इति. **अनघ** इति सम्बोधनं विश्वासार्थं भयाभावार्थञ्च. सात्विकमायायाः आधिदैविकानि आह **दिग्वाससः** इति. **यातुधान्यो** राक्षस्यः, स्वभावतो भयानकाः **दिगम्बराः** स्वरूपतो अमङ्गलाः, **शूलिन्यो** गृहीतशूलाः साधनतो घातुकाः **मुक्तमूर्द्धजाः** मुक्तकेशाः, रूपतो भयानकाः।।२०।।

लौकिकप्रकारेणापि मायायाः युद्धोपयोगिस्वरूपम् आह **बहुभिः यक्षरक्षोभिः** इति.

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः ।।२१।।

यक्ष-राक्षसभेदो अग्रे वक्तव्यः. **बहुभिः** इति तेषाम् अवान्तरजातयो गृहीताः. दैत्यत्वे एते योधाः. स्वभावतः चतुर्विधां सेनाम् आह **पत्यश्वरथकुञ्जरैः** इति. पदातयः, अश्ववाराः, रथाः, गजाश्च सेनाङ्गाः. एवं रूपेणैव मारकत्वम् उक्त्वा वचनेनापि तथात्वम् आह **आततायिभिः** इति. शस्त्रपाणिभिः सर्वैरेव ऊर्ध्वं सृष्टा वाचो जाताः ''मारय-ताडय'' इत्याद्याः. तासां विशेषणद्वयम् आह **हिंस्राः** स्वरूपतो हिंसाजनकाः, यथा ''खट्-फट्-जहि'' इत्याद्याः. **अतिवैशसाश्**च प्राणिघातमन्त्ररूपाः, यैः नृ-पशवो मार्यन्ते।।२१।।

एवं चतुर्विधं मायारूपम् उक्त्वा तस्याः प्रतीकारम् आह **प्रादुष्कृतानाम्** इति.

प्रादुष्कृतानां मायानाम् आसुरीणां विनाशनम् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ।।२२।।

यास्तु मायाः, तेन विसृष्टाअपि भगवद्भयाद् न प्रादुर्भूताः, ताः न मारिताः. यास्तु प्रादुर्भूताः, तत्र स्वकीयाअपि सजातीयप्रतिबन्धार्थं प्रादुर्भूताः तद् व्यावृत्यर्थम् आह **आसुरीणाम्** इति. विशेषेण नाशनं यस्मात्, पुनः तासाम् अन्यत्राऽपि अनुत्पत्तेः. **सुदर्शनास्त्रम्** इति शस्त्ररूपे सुदर्शने मन्त्रात्मकं सुदर्शनास्त्रं

योजयित्वा, पश्चात् सुदर्शनं प्रक्षिप्तवान् इति अर्थः. ननु सा देवता सात्त्विकीति न तां मारयेद् इति आशङ्क्य आह **दयितम्** इति. तद् अत्यन्तं प्रियं, प्रियस्य हितं करिष्यत्येव इति अर्थः. **त्रिपाद्** यज्ञः, सवनत्रयात्मकत्वात्. मायाविनाशएव यज्ञोत्पत्तेः तस्य तदावश्यकत्वम् इति अर्थः. यज्ञस्य परकृतिसाध्यत्वव्यावृत्यर्थम् आह **भगवान्** इति।।२२।।

एवं मायायुद्धमपि उक्त्वा, तस्य कामनां पूरयित्वा, मारणार्थम् इच्छां कृतवान्; तदा तस्य मृत्युसूचकं दुर्निमित्तं जातम् इति आह **तदा दितेः** इति.

तदा दितेः समभवत् सहसा हृदि वेपथुः ।

स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे ।।२३।।

स्वस्थाने स्थितायाः दितेः तस्मिन् काले हृदये कम्पो जातः. [क]भयं कारणे प्रथमं प्रविष्टं कार्ये चेत् समायाति तदा नियतं भवति इति तथावचनम्. **वेपथुः**. आराद् विप्रियदानं पूर्वम् उक्तम्. पुत्रमरणमेव भविष्यति इति च ज्ञातवती, तद् आह **स्मरन्त्या भर्तुः आदेशम्** इति. "**तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धः**"(   ) इति कश्यपवाक्यं स्मृत्वा, अकस्माद् हृदये कम्पे जाते, पुत्रनाशमेव निश्चितवती इति अर्थः. किञ्च, निमित्तान्तरमपि जातम् इति आह **स्तनात् च असृक् प्रसुस्रुवे** इति. इदं पुत्रनाशसूचकमेव, स्तन्यं दुग्धं तस्य पोषकं, रुधिरं नाशकम् इति. **च**काराद् हृदयं तथैव वदति इति उक्तम्।।२३।।

एवं निमित्ते जाते विनष्टायामपि मायायां, सर्वस्मिन्नेव पौरुषे प्रतिहते, यदि न आगच्छेत्; तदा भगवान् अक्लिष्टकर्मा न मारयेद् इति सूचनार्थं तस्य पुनः अतिक्रमम् आह **विनष्टासु** इति.

विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।

रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ।।२४।।

सर्वाएव मायाः विनष्टाः, *स्वांशे यावत्यः पतिताः इति ज्ञापयति **स्वे**ति. पूर्वं मुष्टिमारणे यथा समागतः, भूयः चाऽपि तथैव समागत्य रोषेण भगवदुपगूहनं कृतवान्, धृत्वा स्थानान्तरे नेष्यामि इति. तदा सूक्ष्मो भगवान् जातः, तस्य हस्ताद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विनष्टासु इत्यत्र. **स्वांशे** इति. स्वदाये।।२४।।

क. 'भयकार्यम्' इति मां.२. 'भयकारणे' इति मां.१.३.

मध्ये विनिर्मुक्तो बहिरेव अवस्थितः. तदा तं निकटे स्थितं भगवन्तं दृष्टवान् इति आह **ददृशे अवस्थितम्** इति।।२४।।

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ।।२५।।

तं मुष्टिभिः इति. एवमपि अमारयन्तं भगवन्तं पुनः मुष्टिभिः अताडयद्, यथा बालको मातरं पितरं वा. विशेषेण निघ्नन्तम् इति तथा मारणे हेतुः. हेत्वन्तरम् आह **वज्रसारैः** इति. वज्रपातादपि कठिनैः. उद्वेगाद् मारणं व्यावर्तयति **अधोक्षजः** इति. इन्द्रियजन्यं ज्ञानं कर्म वा न भगवन्तं स्पृशति इति बहिर्मुखत्वाद् मारणम् इति भावः. मारणप्रकारम् आह **करेण कर्णमूले अहन्** इति. अग्रिमपादः करः. सुदर्शनेन हनने मुक्तिः स्याद् इति क्रियाशक्त्या हनने पुनः भवः च[1] सूचितः. एतद् वधे प्रयोजनम् आह **यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः** इति. वृत्रो हि तेजो अस्त्रायुधसम्पदो गिलितवान, तद्वधे[2] पुनः प्राप्ताः, अन्यथा अतिप्रवृद्धो लोकानेव आवृणुयात्. अतो लोकरक्षार्थं, देवहितार्थं, स्वस्य सेवकसिद्ध्यर्थञ्च हतवान् इति अर्थः ।।२५।।

तस्य हिरण्याक्षस्य हननानन्तरं जातं स्वरूपम् अनुवर्णयति **सः आहतः** इति.

स आहतो विश्वसृजा ह्यवज्ञया परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विकीर्णबाह्वङ्घ्रि–शिरोरुहोऽपतद् यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ।।२६।।

विश्वसृजा अवज्ञया आहतो अपतद् इति सम्बन्धः. **आ** ईषत्. ननु भगवतः तस्य वधे कः उपकारः? इति आशङ्क्य आह **विश्वसृजा** इति. सृष्ट्यर्थं तस्य वधः इति अर्थः. सहि रजोगुणाभिमानी रजः प्रतिबध्य तिष्ठति. ईषद् हननं च तन्मात्रनिराकरणाय, नतु रजसः. इममेव अर्थं 'हि'शब्दः उपपादयति, तदमारणे रजसः कार्याक्षमत्वात्. यद्यपि रजएव ततः पृथक् कर्तुं शक्यते, न मारणम् अपेक्षितं; तथापि प्रयत्नस्य तुल्यत्वाद् हननमेव कृतम्. तद् आह **अवज्ञया** इति. मरणं भगवतः उद्देश्यं न भवति इति अर्थः. परिभ्रमद् गात्रं यस्य, करेण ताडितो भ्रमति इति. उदस्ते लोचने यस्य; ऊर्ध्वं निर्गते लोचने. सहि केवलराजसोऽपि बीजवशात् सत्वसहितोऽपि भवति. सत्वेन च उत्तरत्र उपकारः, प्रकृते च नाशः,

१.चकारो नाऽस्ति. क. घ. मां.१,२,३. २.वधेन. ग.

अन्यथा रजःप्रतिबन्धः स्यात्. अतएव प्रथमं रजसो विक्षेपम् आह **परिभ्रमद्गात्र** इति. लोचनेतु सत्वं बीज-जीवभेदाद् उभयविधम् इति **लोचने** इति द्विवचनम्. परिभ्रमणेन बहुधा रजसः प्रवृत्तेः बाह्वादीनां विक्षेपणम्. वर्णानाम् अस्मिन् कल्पे नानाप्रकारेण उत्पत्यर्थं बाहवो अङ्घ्रयः शिरोरुहाः च विकीर्णाः येन. **विकीर्णे**ति. क्रियाशक्तिः गतिः जन्म विकीर्णं तस्य च इति[1] विकलतया तस्य सर्वे संस्काराः निवारिताः. अन्तरिक्षएव प्राणाः गताः इति तस्याः अग्रे राक्षसत्वं *भक्तत्वञ्च. भूमौतु प्राणाः न गताः इति आह **व्यसुः अपतद्** इति. तथात्वे ज्ञापकं दृष्टान्तेन आह **यथा नगेन्द्रः** इति. वृक्षश्रेष्ठो यथा **नभस्वता** वायुना उन्मूलितः पतति इति अर्थः ।।२६।।

मृतं वर्णयति **क्षितौ शयानम्** इति.

क्षितौ शयानं तम् अकुण्ठवर्चसं करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम् ।।२७।।

मृत्युग्रस्तो हि विवर्णो भवति, अयन्तु भगवता उपसंहृतइति न कुण्ठं वर्चो यस्य. करालादंष्ट्रा यस्य इति मरणसमये यमस्य करालत्वाद् अग्रे राक्षसत्वम्; अधरस्य लोभस्य स्नेहेन विद्धत्वाद् मानुषत्वं[2] च; परितो विद्धत्वाद् मरणान्तं[3] लोभः. अस्य मरणं सर्ववादिसम्मतत्वेन समीचीनम् इति ज्ञापयितुं ब्रह्मादीनां स्तोत्रम्. फलस्य कर्मविरुद्धत्वाद् हिरण्याक्षेण तादृशी गतिः प्राप्ता इति आश्चर्यम्. **संस्थितिं** मृत्युम्. विरुद्धकर्ता न एवं प्राप्नोति इति **को नु लभेत** इति आश्चर्योक्तिः. फलविरुद्धा तस्य कृतिः ब्रह्मणैव निरूपिता।।२७।।

नच एतत् फलं तादृशमेव इति शङ्कनीयं, किन्तु परमोत्कृष्टयोगस्य एतत् फलम् इति आह ***यं योगिनः** इति.

यं योगिनो योगसमाधिना रहो ध्यायन्ति लिङ्गाद् असतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदा हतो मुखं प्रपश्यन् तनुम् उत्ससर्ज ह ।।२८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः आहतः इत्यत्र. **भक्तत्वम्** इति. रुद्रभक्तत्वम्, अन्तरिक्षस्य रुद्र(त)त्वाद् इति. अत्र व्यसुत्वं लक्षणैरेव ज्ञाप्यते. एवञ्च भगवत्कृतेन घातेन उच्छन्नमपि पादविकिरणाद् बोध्यम्. **तथात्वे** इति. स्थानान्तरे पतने।।२६।।

१.वेति क. ङ. च. २.निरुद्धत्वात् ग.-विरुद्धत्वात् ख. घ. ३.निरुद्धत्वात् ग.-विरुद्धत्वात् घ.

यं भगवन्तं, **योगिनो** जितयोगाः, योगेनैव समाधिं प्राप्य एकान्ते तत्र ध्यायन्ति. **असतः** प्राकृताद्, **लिङ्गात्** समुदायाद्, **मुमुक्षया.** अस्य वराहस्य मानस्यपि मूर्तिः मार्गान्तरस्थैरपि चिन्तिता समाधौ मोक्षम् उत्पादयति, तत्र साक्षाद् भगवान्; तस्याअपि गतिदायी, भक्तानाम् आश्रयभूतः पादः. अयञ्च स्वधर्मनिष्ठः इति आह **दैत्यऋषभः** इति. किञ्च मरणकाले ज्ञानं पूर्णं, यतो मुखं **पश्यन् तनुम् उत्ससर्ज.** तां सन्ततिमेव त्यक्तवान् इति अर्थः. ब्रह्मा देवान् प्रति तस्य फलम् आह आश्चर्यम् इति।।२८।।

एवमपि मरणे जन्मान्तरसम्बन्धे सति च विस्मयेन विस्मितान् प्रति आह **एतौ** इति.

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद् यातावसद्गतिम् ।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ।।२९।।

तौ पूर्वोक्तौ. **अस्यैव पार्षदौ** इति एवं फलं न आश्चर्यम्. एवंभावे हेतुम् आह **शापाद् यातौ असद्गतिम्** इति. तर्हि कदा निस्तारः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **पुनः कतिपयैः** इति. अनेन सहजन्मनां त्रैविध्यम्. सम्भावनया बहुवचनं, कर्मणां दुर्ज्ञेयत्वात्।।२९।।

एवं तं स्तुत्वा भगवतो अनवगाह्यमाहात्म्यम् अवगत्य तं नमन्ति **नमो नमः** इति.

देवाः ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे स्थितौ गृहीतामलसत्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगताम् अरुन्तुदः त्वत्पादभक्त्या वयम् ईश! निर्वृताः ।।३०।।

आदरे वीप्सा. एकं भगवतः कार्यं बहूनि फलानि साधयति इति भगवतो बहु कार्यं निरूपयन्ति. तत्र प्रथमं सृष्ट्यर्थं यज्ञाविर्भावो निरूप्यते, अन्यदा कदाचित् केचन यज्ञाः केषाञ्चिद् आविर्भूताः भवन्ति, अत्रतु सर्वएव [1]आविर्भाविताः. तद् आहुः **अखिलयज्ञतन्तवे** इति. अखिलाः ये **यज्ञतन्तवो**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यम् इत्यत्र. **तस्याअपि** इति. प्रकृतेरपि. **तां सन्ततिम्** इति. दैत्यसन्ततिम्।।२८।।

---

१. आविर्भूताः. क. ङ.मां.१,२,३.

यज्ञसंस्थाः, तद्रूपो भवान्. किञ्च, रक्षा भगवतो धर्मः साक्षाद् विशेषाकारेण; तदपि अनेन रूपेण सिद्धम् इति आह स्थित्यर्थं गृहीता अमला सत्वमूर्तिः येन. **अमलं** गुणान्तरासम्बद्धम्. धर्मग्लानिरपि निवर्तिता इति आह **दिष्ट्या हतो अयम्** इति. *परमभाग्येन अयं हतः. धर्मो हि भाग्यं, धर्मस्य पोषकम्. एतद् वधे धर्मरक्षायां बीजम् आह **जगताम् अरुन्तुदः** इति. **अरुः** मर्म. देवभक्तिरक्षाऽपि अनेन सिद्धा इति आह **त्वत्पादभक्त्या** इति. **वयं** देवाः. **ईश!** इति सम्बोधनं सर्वत्र सामर्थ्यबोधकम्, एकस्यैव सामर्थ्यस्य तथात्वबोधकं वा. **निर्वृताः** सुखिताः, हिरण्यकशिपोः औद्धत्याभावाद्, उपस्थितदुःखनाशाद् वा।।३०।।

एवं भगवान् अवतारं कृत्वा तदुपसंहारं चकार इति आह **एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वम् अखण्डितोत्सवं समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ।।३१।

असह्यविक्रमं हिरण्याक्षं सम्यक् सादयित्वा स्वं लोकं जगाम इति सम्बन्धः. **असह्यविक्रमम्** इति तद्गतो दोषो मारणे हेतुः. **हरिः** इति तस्य तथाकरणे स्वधर्मो हेतुः. **आदिसूकरः** इति शीघ्रं तिरोभावे हेतुः. 'आदि'पदं च अलौकिकपरं, तेन तस्य दोषाभावः. **स्वम्** इति आवश्यकम्. यद्यपि अत्रापि स्थितिः कीर्तिजनिका भवति, तथापि अखण्डितोत्सवो लोको वैकुण्ठाख्यः. उत्सवाः हर्षहेतवो न कदाचिदपि खण्डिताः भवन्ति इति अवतारकार्यसमाप्तिं सूचयति. **पुष्करविष्टरादिभिः** कमलासनब्रह्मादिभिः सम्यक् स्तुतः।।३१।।

एवं वराहचरित्रम् उक्त्वा तस्य चरित्रान्तरमपि एवं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **मया** इति.

मया यथानूक्तम् अवादि ते हरेः कृतावतारस्य सुमित्र! चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो महामृधे क्रीडनवन् निराकृतः ।।३२।।

अस्तु वा, मा वा; यावद् **यथानूक्तम्,** गुरुपरम्परया प्राप्तम्, अस्मद्गुरुणा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नमो नमः इत्यत्र. **परमभाग्येन** इति. एकं पदं, महाभाग्येन इति अर्थः. **वयं देवाः** इति. देवानां विष्णुभक्तिः स्वाभाविको धर्मः इति वामनपुराणे प्रसिद्धम्. **तथात्वबोधकम्** इति. अनेककार्यकारित्वबोधकम्।।३०।।

यथा उक्तं, तथा ते तुभ्यम् **अवादि.** *आवश्यककरणे हेतुः **हरेः** इति. **कृतावतार–स्य** इति गुरूणामपि ज्ञाने हेतुः. **सुमित्र!** इति सम्बोधनं गुह्यकथनार्थम्. सुष्ठु मित्रम् इति यथा अहं तथा इति, न अत्र गोप्यम् इति, सम्यक् कथने हेतुः. परम्परायाम् अन्धत्वं वारयति **यथा हिरण्याक्षः** इति. उदारो विक्रमो यस्य. सर्वेषां गायकानां सर्वेष्वेव वीरेषु कीर्तितः, तेभ्यः स्वसामर्थ्यात् सर्वं प्रयच्छति इति. **महामृधे** लौकिकसङ्ग्रामे हिरण्याक्षकृते सति, **क्रीडनवत्** काष्ठपुत्रिकावद्, **निराकृतः.** यथा भगवता कृतं तथा अस्मद्गुरुभिः उक्तं; तथैव मया उक्तम् इति अर्थः।।३२।।

अस्य चरित्रस्य त्रिविधं फलम् आह, एतद् दृष्टम्, अन्यद् दृष्टम्, अदृष्टञ्च षड्भिः. द्वाभ्यां द्वाभ्याम् एकैकम्. तत्र प्रथमं तस्यां कथायां श्रुतायां विदुरदृष्टम् आह द्वयेन **इती**ति कथनोपपादनाभ्यां

सूतः उवाच

इति कौषारवाख्याताम् आश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विजाः! ।।३३।।

तत्र प्रथमं कथायां श्रुतायां तस्य किं जातम्? इति आकाङ्क्षायाम् +आह **इति** अमुना प्रकारेण. कुषारोः पुत्रः कौषारवो मैत्रेयः. पितृनाम्ना तन्निर्देशः कथने विश्वासार्थः. **भगवत्कथाम्** इति कथायाअपि षड्गुणाः निरूपिताः. **क्षत्ता** इति विचक्षणः, मोहकलीलां परित्यज्य मुख्यलीलाग्रहणार्थम् उक्तः. **परमानन्दं** कथायामेव विद्यमानं श्रोतृविशेषाद् अभिव्यक्तं **लेभे.** तथात्वे हेतुः **भागवतः** इति. शौनकादीनां तथात्वाभावाद् बाधितार्थत्वम् आशङ्क्य निराकरोति हे **द्विजाः** इति. वेदोक्तकर्मादिभारवत्वात् तदस्फूर्तिः इति भावः।।३३।।

अतएव तद् उपपादयति **अन्येषाम्** इति.

अन्येषां पुण्यश्लोकानाम् उद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन् मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः?।।३४।।

पुण्या श्लोका कीर्तिः येषां नलादीनाम्. कीर्ति–यशसोः पूर्वं वैलक्षण्यम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मया इत्यत्र. ***आवश्यककरणे** इति. अवश्यम् अवतरणे।।३२।।

इति कौषारवेत्यत्र. +**आह** इति. सूतमुखेन व्यासः आह।।३३।।

।। इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे एकोनविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

उक्तं, सदाचारपराक्रमकृतं, वैदिकलौकिकभेदेन भिन्नम्. उभयवत्वे सत्वम्. प्रमोदे वा त्रयं हेतुः. कृपालुत्वादयः सद्धर्माः अन्तःकरणोत्कर्षहेतवः. बहुधा आवर्तितं सत्कर्म, सानुभावं सत्, पुण्यकीर्त्तित्वम् आपद्यते. उद्दामं यशो येषाम्, अव्याहतपराक्रमजन्यम् इति अर्थः. तेषां कथाम् उपश्रुत्य, **मोदः** श्रवणसुखं **भवेत्.** 'श्रीवत्साङ्क'पदेन सदाचारः सर्वे गुणाश्च निरूपिताः, लक्ष्मीस्थानत्वात्. तदपि अङ्कं चिह्नमिव. एतादृशान्यपि चिह्नानि बहूनि इति कैमुतिकन्यायो युक्तः[क] ।।३८।।

तस्य चरित्रान्तरं संवादार्थं तथाविधम् आह **यो गजेन्द्रम्** इति द्वाभ्यां स्वरूप-फलभेदेन. तत्र स्वरूपम् आह **यो गजेन्द्रम्** इति.

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम् ।।३५।।

यो हरिः, **झषग्रस्तं** नक्रधृतं, धरणेन निमग्नं वा, **कृच्छ्रतो अमोचयत्.** मोचने हेतुः **ध्यायन्तम्** इति. **चरणाम्बुजम्** इति प्रेमभक्तिमार्गेण ध्यानं निरूपितम्. **क्रोशन्तीनां करेणूनाम्** इति दीनता निरूपिता. **कृच्छ्रतः** तस्मात् सङ्कटात्. शीघ्रम् अमोचयत्. दृष्टद्वारा भगवानेव फलप्रदः इति उक्तम्. तथा सति दृष्टं परित्यज्य को अन्यम् अदृष्टं भजिष्यति इति वक्ष्यति. भजनीयसाधकं दयासाधकञ्च एतत् चरित्रम् इति तदेव प्रकृतोपयोगित्वाद् आनन्दजनकत्वेन उच्यते. **झषो** अत्र[ख] नक्रो जलचरविशेषः, सर्वएव नक्राः झषाः इति उच्यन्ते. तेन शरीरेणैव उद्धारे करेणुकृता दया हेतुः, सर्वथा उद्धारे ध्यानम् इति विशेषः. अनेन साधनाभावोऽपि उक्तः. गजश्रेष्ठो हि महामत्तो भवति, झषग्रस्तः सर्वसाधनरहितो भवति. जातिस्वरूप-प्रतिबन्धानां दुष्टत्वाद् भगवत्प्रसादो दुर्लभः इति गजेन्द्रनिरूपणम्. अवस्था-स्वरूपसम्बन्धानां दुष्टत्वाद् लौकिकत्वाच्च एकेनैव ध्यानेन [ग]तत्सम्बन्धिनामपि सुखं कृतवान् इति करेणूनां कीर्तनम्।।३५।।

एकम् अनेकार्थप्रतिपादकं चरित्रम् उक्त्वा येन अंशेन अत्र दृष्टान्तत्वं, तद्रूपं कीर्तयन् भजनं फलरूपं समर्थयति **तम्** इति.

तं सुखाराध्यम् ऋजुभिः अनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यम् असाधुभिः ।।३६।।

वैषयिकसुखादपि अधिकसुखसाधकानि यत्र साधनानि फलञ्च

क.अप्युक्तः. क. मां.२. ख.अत्रेति नास्ति क. ग. ङ. ग.ततः क. घ.

अलौकिकं महत् सः **सुखाराध्यः,** सुखेनैव आराधयितुं शक्यः. तत्र अतिप्रसङ्गनिवारणाय विशेषणम् आह **ऋजुभिः** इति. अवक्रैः काय-वाङ्-मनोभिः, न वक्रं गृह्णन्ति, न वक्रम् आचरन्ति इति. अयमपि तेषां स्वाभाविको धर्मः, नतु आगन्तुकः साधनभूतः. एतादृशाः मार्गान्तरेऽपि भवन्ति इति तद् व्यावृत्यर्थम् आह **अनन्यशरणैः** इति. न विद्यते अन्यत् शरणं येषाम्. अनेन शरणागतौ ब्रह्मास्त्रन्यायः उक्तः. अशरणाः च न तिष्ठन्ति इति अर्थाद् भगवच्छरणाः. **नृभिः** साधारणैः मनुष्यैः. अभिमानाभावाय प्रकृतोपयोगिविवेकाय च उक्तम्. **कृतज्ञः** इति. जनकत्वाद्, अन्तर्यामित्वात्, पालकत्वात्, पूर्वभजने विशेषोपकारकरणाद् वा यो भगवत्कृतं जानाति, सः को वा न सेवेत? अकृतज्ञस्तु न सेवते. तत्र भगवद्गुणाएव हेतवः इति आह **दुराराध्यम्** इति. अन्यथा पाक्षिकभजनीयः स्यात्. नहि ते न भजन्ति इति, किन्तु भगवानेव **दुराराध्यो** दुःखेनाऽपि आराधयितुम् अशक्यः. **असाधवः** शिश्नोदरपराः।।३६।।

एवं भजनसमर्थनम् उक्त्वा अलौकिकं फलम् आह **यो वै हिरण्याक्षवधम्** इति द्वाभ्यां, पापनिवर्तकं फलजनकञ्च. तत्र प्रथमं पापनिर्वकत्वम् आह **हिरण्याक्षवधम्** इति.

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ।।३७।।

अन्यथा हिरण्याक्षस्य ब्राह्मणत्वाद् वधः श्रोतव्यो न स्यात्. **महाद्भुतम्** इति मतान्तरसिद्धं, वधस्य हितरूपत्वाद् वा. महान् अद्भुतो भवति इति महत्वं श्रोतॄणामपि उपकारसाधकत्वात्. तथापि श्रोतव्यतायां हेतुम् आह **विक्रीडितम्** इति. विशेषेण क्रीडितं यत्र. भगवतो युद्धलीला हि तत्र स्पष्टा, भगवत्सम्बन्धेन शोधितत्वात् तथात्वम्. **कारणसूकरात्मनः** इति यज्ञार्थं सृष्ट्यर्थञ्च तथाकरणं युक्तम् इति उक्तम्. ''कर्तुः शास्तुः अनुज्ञातुः'' इति न्यायेन त्रयाणां फलम् आह **शृणोति गायति अनुमोदते** इति. श्रवणं मुख्यं, गानं शास्त्ररूपम्. सुखस्य तत्र दृष्टकारणत्वात् तस्य अप्रायश्चित्तत्वम् आशङ्क्य आह **गायति** इति. अनुमोदनं तादृशं, यद् उभयनिर्वाहकम्. क्रियमाणस्तोत्ररूपम् इति केचित्. **अञ्जसा** इति. सर्वत्र सर्वभावेन श्रवणम्; अर्थतः, तात्पर्यतः, शब्दतश्च. कीर्तनेऽपि एतत् त्रयं, हेत्वभावश्च. अनुमोदनमपि हेत्वभावात्. तदा वधमात्रदोषाद् विमुच्यते. प्रधानपरं

न भविष्यति इति आह **ब्रह्मवधादपि** इति. **द्विजाः** इति ज्ञानार्थम् उक्तम्. ज्ञाने सति अन्यस्याऽपि भवति इति ज्ञातव्यम्. यज्ञसम्बन्धाद् द्विजस्यैव भवति इति वा ।।३७।।

फलजनकत्वम् आह **एतद्** इति.

एतन् महापुण्यम् अलं पवित्रं धन्यं यशस्यं पदम् आयुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि धैर्यवर्धनं नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग ! श्रण्वताम् ।।३८।।

चतुर्विधपुरुषार्थसाधकम् एतत्. तत्र धर्मो द्विविधः, स्वर्गादिफलसाधको देहादिसंस्कारसाधकश्च. तद् उभयरूपम् आह **महापुण्यम् अलं पवित्रम्** इति. अव्यभिचारिश्रेयःसाधनं **महापुण्यं,** सर्वथा अन्तःकरणपवित्रहेतुः **अलं पवित्रम्.** अर्थो द्विविधः, धनरूपो यशोरूपश्च ''यशःश्रियामेव'' इत्यत्र वक्ष्यते. तद् उभयम् आह **धन्यं यशस्यम्** इति. कामः त्रिविधः, जीवन-भोग-शत्रुजयात्मकः, ''**शरीरारोग्यम् ऐश्वर्यम् अरिपक्षक्षयः**''(विष्णुपुरा.१।९।१२५) इति वाक्यात्. तत् त्रयम् आह **आयुषाम् आशिषां च पदं, प्राणेन्द्रियाणां युधि धैर्यवर्धनम्** इति. आशिषः पुत्रादयो विषयाः, तेषाम् इदमेव पदम्, अस्य उपाख्यानस्य सृष्टिहेतुत्वात्. प्राणो बलसाधनम्, इन्द्रियाणि करणानि. पूर्वत्र वा सम्बन्धः, भक्ष्यभोगात्मको विषयः इति. युद्धे धैर्यवर्द्धनं यस्माद् इति. धैर्यादेव जयः, धैर्यस्य बलेन्द्रियसहकारित्वात् तत्सम्बन्धित्वेन निरूपितम्. क्षेमशूरव्यावृत्त्यर्थं **युधि** इति. मोक्षसाधकत्वम् आह **नारायणः** इति. अस्मच्छास्त्रे नारायणप्राप्तिरेव मोक्षः इति एकविधएव उक्तः. तत्र भगवच्छास्त्रे नारायणप्राप्तिः त्रिविधा : ब्रह्माण्डविग्रहे नारायणे सायुज्यम्, अक्षरे, पुरुषोत्तमे वा. तत् त्रयमपि 'नारायण'शब्दएव वदतीति 'नारायण'पदप्रयोगः. ''**नराद् जातानि तत्त्वानि नाराणीणिति विदुर्बुधाः**'' (   ) ''नराणां समूहो नारम्'' इति ''**आपो नारा इति प्रोक्ताः**'' (मनुस्मृ.१।१०) इति च. प्रथमार्थे पुरुषोत्तमः, द्वितीये अक्षरं, तृतीये ब्रह्मपिता. अस्य श्रवणात् त्रिविधो भवति इति 'नारायण'पदम्. **अङ्ग!** इति सम्बोधनम् अप्रतारणाय स्नेहबोधकम्. **गतिः** भवति इति अर्थः. 'गति'शब्दः पर्यवसानफलवाचकः. **शृण्वताम्** इति प्रधानस्यैव एतत् फलम् उक्तम्।।३८।।

।। इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे एकोनविंशाध्यायविवरणम्।।

ग्रन्थोद्धृतवचनानुक्रमणिका

ॐकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः	( )	४१८
अ प्रत्ययाद्	(पाणि.सू.३।३।१०२)	२३१
अकुतोमृत्युरुद्धतः	(भाग.पुरा.३।१७।१९)	५८४
अक्षण्वताम्	(भाग.पुरा.१०।२१।७)	५२
अक्षरम् अम्बरान्तधृतेः	(ब्रह्मसूत्र १।३।१०)	३९०
अग्निहोत्रफला वेदाः	( )	४५९
अग्निहोत्रे दर्शपूर्णमासयोः पशुबन्धे	( )	४६०
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः	(महाना.उप.१६।३)	४२७, ४४३
अजस्य जन्म	(भाग.पुरा.३।१।४४)	५७
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता	(भाग.पुरा.३।१९।२७)	७
अज्ञानादथवा ज्ञानाद्	(नवरत्ने ४)	२००
अतप्ततनूः न तद् आमो अश्नुते	(ऋक्सं.७।३।८)	५६
अतिव्रज्य गतीः तिस्रो माम् उपैष्यसि	(भाग.पुरा.११।२९ ।४४)	१४३
अतोऽस्मि लोके वेदे च	(भग.गीता १५।१८)	८५
अत्र सर्गो विसर्गश्च	(भाग.पुरा.२।१०।१)	१
अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः	(भाग.पुरा.३।५।२२)	४, २४९, ३६८
अथ ये पञ्च कलिः सः	( )	३७९
अथाऽभिध्यायतः	(भाग.पुरा.३। १२।२१)	४०९
अदर्शनं स्वशिरसः	(भाग.पुरा.१०।४२।२८)	६१
अद्भ्यो वा एषः उदेति पुनः अपः	( )	
अनन्ता वै वेदाः	( )	१२४
अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति	(मुण्ड.उप.३।१।१)	५५६
अनावृत्तिः शब्दाद्	(ब्रह्मसू.४।४।२२)	१३६
अन्धो मणिमविन्दद्	( )	३००
अन्ने प्रलीयते मर्त्यः	(भाग.पुरा.११।२४।२२)	३११
अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव	(ऋग्वेद १०।८२।७)	४२२
अपश्यताऽपश्यत यन्न पूर्वम्	(भाग.पुरा.३।८।२२)	२६७
अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स	( )	३३५
अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयाद्	(आप.श्रौ.सू.१४।१०)	४१२
अब्दपुण्यं विनश्यति	(सौरपुरा.६८।१५)	३१५
अमावास्या हि मासान् संपश्यन्ती	( )	३७२
अमृतं वै हिरण्यम्	(तैत्ति.ब्राह्म.१।३।७।७)	४७१
अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां	(भाग.पुरा.५।१२।५)	३६५
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्	(याज्ञ्य.स्मृ.१।८)	४१६, ५६६
अयंतु कल्पः	(भाग.पुरा. ३।११।३६)	४२९
अयम् आत्मा ब्रह्म	(बृहदा.उप.२।५। १९)	२५०, ३०३

अरनामामृतम्भोधिः ण्यनामामृतसागरः	( )	१३०
अरश्च हवै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके	(छान्दो.उप.८।५।३)	१३०
अर्वाक्स्त्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो	(भाग.पुरा.३।१०।२५)	६२
अविज्ञातं विजानाति	(केनोप.२।३)	३०४
अविद्या-ऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः	(योगसू.२।३)	३९३
अव्यक्तादीनि भूतानि	(भग.गीता २।२८)	५०३
अव्याकृतगुणक्षोभाद्	(भाग.पुरा. १२।७।११)	२
अश्विनावुत्तरतः	(सर्वनिर्णये)	२२१
असक्तः साङ्ख्यमास्थितः	(भाग.पुरा.३।३।१९)	९९
असभुवि	(धातुपा.अदादि.६४)	१३८
असु क्षेपणे	(धा.पा. दिवादि.९९)	६२६
असुर्यः शूद्रः	(तैत्ति.ब्राह्म.१।२।६।७)	२४९
असोमा यज्ञाः ससोमाः क्रतवः	( )	४६१
अस्कन्नं हि तद् यद् बर्हिषि स्कन्दति	(कृष्णयजु.६।३।८)	४५७
अस्तमिते होतव्यम्	( )	४७५
अस्तु शम्	( )	५७९, ५८५
अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि मात्राम्	(बृहदा.उप.४।३।३२)	७१
अहं सर्वस्य प्रभवः	(भग.गीता १०।८)	७५
अहमात्मा गुडाकेश	(भग.गीता १०।२०)	१०८, ५११
अहम् इत्येव आत्मानं वेद भगवान्	( )	२३८
अह्न्यापृतार्तकरणाः	(भाग.पुरा. ३।९।१०)	५४७
आकाशशरीरं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.१।६।२)	१९२
आक्रीडबालवद्देव	(भाग.पुरा. ३।१८।२४)	६००
आचार्यवान् पुरुषो वेद	(छान्दो.उप.६।१४।२)	१५६
आत्मकत्वानुभूयस्त्वाद्	( )	२१६
आत्मनि प्रोतभुवनम्	(भाग.पुरा.३।१५।६)	५०४
आत्मप्रस्वापनं तमः	(भाग.पुरा.३।१६।२०)	५४
आत्मलाभाद् न परं विद्यते	(पारा.उपपुरा.१८।२३)	५११
आत्मा वारे द्रष्टव्यः	(बृहदा.उप.२।४।५)	५४५
आत्मैव इदं सर्वं	(छान्दो. उप.७।२५।२)	२५८,३११, ५२९
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्	(भग.गीता.८।९)	१३४, १३६
आदित्सोरन्नपानानामासन्	(भाग.पुरा.२।१०।२९)	२२५
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः	(भाग.पुरा. ३।१०।१४)	५
आनन्दं प्रयन्ति	(तैत्ति.उप.३।६)	५१०
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः	(नारदपञ्चरात्रे)	८५
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति	(मुण्डकोप.२।२।७)	८५
आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति	(मुण्डकोप.२।२।७)	२७९

आनन्दशरीरं ब्रह्म	( )	३०३
आनन्दादयः प्रधानस्य	(ब्रह्मसू.३।३।१२)	३७८
आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि	(तैत्ति.उप.२।४)	४२६
आपादलम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता	(शब्दकल्पद्रुमः)	२९६
आपूर्यमाणाभिश्च कलाभिः अमराणाम्	( )	३७३
आपो नारा इति प्रोक्ताः	(मनुस्मृ.१।१०)	६४३
आश्रावयेति चतुरक्षरम् अस्तु	( )	२६२
आसन् मरीचेः षट् पुत्राः	(भाग.पुरा.१०।८५।४७)	४७४
आसीद्यदुदरात्पद्मम्	(भाग.पुरा.२।८।८)	२७६
आसीनः सम्भवाद्	(ब्रह्मसू.४।१।७)	१३३
आह एनम् एहि अज्ञ महीं विमुञ्च नो	(भाग.पुरा.३।१८।३)	७
आहूतो न निवर्तेत	( )	६०७
इति कौषारवे	(भाग.पुरा. ४।२१।८)	६२६
इनोदयद्वयान्तरं तदर्कसावनं दिनम्	(सिद्धान्तशिरोमणौ ग्रहगणिते २०)	३७६
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः	(भाग.पुरा.४।२२।३०)	८७
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते	(बृहदा.उप. २।५।१९)	३००, ३०१
इष्ट्वा अग्निजिह्वं पयसा	(भाग.पुरा.३ ।१४ ।८)	६
इहैव समवनीयन्ते प्राणाः	(नृसिंहो.उप.५)	३१२
ईशः सर्वस्य जगतः	(महाना.उप.१६।३)	४४३
ईश्वराद् ज्ञानम् अन्विच्छेद्	( )	६०९
उदाप्लुतं विश्वम्	(भाग.पुरा.३।८।१०)	२६८
उद्धृत्य पुष्पेभ्यः	(भाग.पुरा.३।५।१५)	२३९
उद्यन्नस्तमयन्नसौ	(भाग.पुरा.२।३।१७)	३७१
उभयव्यपदेश	(ब्रह्मसू.३।२।२७)	५६६
एकधा हृदयेन च	(भाग. पुरा.३।६।९)	२२४
एकमेवाद्वितीयम्	(छान्दो.उप.६।२।१)	३०३
एकांशेन स्थितो जगद्	(भग.गीता.१०।४२)	१८८
एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय	(छान्दो.उप.६।२।३)	७५
एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति	(भाग.पुरा.३।१६।३६)	५५१
एतस्माद् जायते प्राणो मनः	(मुण्डकोप.२।१।३)	३६७
एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि	(मुण्डकोप.२।१।३)	२०७
एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः	( )	५५३
एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वम् असृजन्त	(तैत्ति. ब्राह्म.३।१२।९।८)	१४४
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तम्	(भाग.पुरा.५।१२।९)	३६५
एवं पुरा धारणया	(भाग.पुरा.२।२।१)	६०५
एवं व्यभाङ्क्षीद् उरुधा	( )	४२९
एवं व्याहृतयः प्रोक्ता व्यस्ताः	( )	४१८

एवं सञ्चिन्त्य	(भाग.पुरा.३।३।१६)	१००
एवमेव पतिः स्त्रीभिः न हातव्यः	(भाग.पुरा.१०।२६।२५)	७७
एवम् एतत् पुरा पृष्टः	(भाग.पुरा.३।१।१)	२७७
क एष यो असौ	(भाग.पुरा. ३।८।१८)	१६५, २६७
कतिधा प्रतिसङ्क्रमः	(भाग.पुरा.३।७।३७)	३३९
कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि	(तत्त्व.निब.शास्त्रा.प्र. ६८)	२७८
कनीयसाएव देवाः	(बृहदा.उप.१।३।१)	१९५
करोति कर्माणि	(भाग.पुरा.३।५।५)	१८५
कर्मशुद्धिर्मदर्पणम्	(भाग.पुरा.११।२१। १५)	५५६
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः	(ब्रह्मसू.१।४।१०)	२०९
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्	(कठोप.२।१।१)	६१, २७२
काञ्चनम् अञ्चितं भवति	( )	४७९
कामः क्रोधः तथा लोभः तस्माद्	(भग.गीता.६।२१)	५३१
काममयएव अयं पुरुषः	(बृहदा.उप.४।४।५)	२४१
कालगत्योपलक्षितैः	(भाग.पुरा.३।११।३२)	३६१
कालवत्त्या तु मायायां	(भाग.पुरा.३।५।२६-२७)	४
कालावयवसंस्थितिम्	(भाग.पुरा.३।७।३३)	३६१
कासश्छिक्का तथोद्गारो जृम्भा शोषः	( )	२१८
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः	(भग.गीता ९।३३)	५६८
किं प्रजया करिष्यामो येषां न अयम्	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४१५
किमासनं ते गरुडासनाय	(गरुडपुरा.३।७।३६)	१६९
किमेते सत्रिणः	( )	५५६
कियान्	(भाग.पुरा.३।३।१४)	१०२
किरीटसाहस्र...	(भाग.पुरा.३।८।३०)	२७०
कूप्याभ्यः स्वाहा	(तैत्ति.संहि.७।४।१२)	३२
कृतक्षणः स्वात्मरतावनूहः	(भाग.पुरा.३।८।१०)	२६७
कृषिः भूवाचकः	(गोपा.पू.उप.१।१)	८५
को हि तद्वेद यद् अमुष्मिन् लोके अस्ति	( )	२३७
कोपितेषु महात्मसु	(भाग.पुरा.३।१४।३९)	४९२
क्रीते सोमे पूर्णतेजा जायतएव	( )	४५९
क्षतु खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः	( )	१७४
क्षत्राद् घः	(पाणि.सू.४।१।१३८)	२२८
क्षयन्तमस्य रजसः पराके	(सामवेद १७।१।४।२)	१३४
क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुः	(भाग.पुरा.३।२६।६८)	२२५
क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद् विशुद्धिः परमा	( )	४१३
क्षेत्रम् एके प्रशंसन्ति बीजम् अन्ये	( )	१८३
गर्भो वा एष यद् दीक्षितः	( )	४५९

गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यो क्षत्रस्य	(मनुस्मृ.३।२६)	९०
गायत्रो वा अग्निः गायत्रं छन्दा	(　　　　)	४५८
गुणव्यतिकराकारो	(भाग.पुरा.३।१०।११)	५
ग्रीवा उपसदः	(शतप.ब्रा.३।४।४१)	४५९
घ्राणं च गन्धः	(　　　　)	५१, ५४१
चक्षुरुदगायद्	(　　　　)	१९६
चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्	(बृहदा.उप. ४।४।१८)	५७, ६२, ३०३, ३०४
चतुर्थम् आयुषो भागम उषित्वा	(मनुस्मृ.४।१)	४१४
चतुर्थाश्रमं व्रजेद्	(　　　　)	४१७
चत्वारो या(मा)मुहूर्तद्वयं चाऽहनी	(　　　　)	३७१
चन्द्रमा वा अपाम् आयतनम्	(तैत्ति.आर.१।२२।४)	३७३
चयने पवित्रमन्तः परिवाजमासत	(तैत्ति.आर.)	३००
चाक्षुषोदधिसंप्लवे	(भाग.पुरा. १।३।१५)	४३०
चिति तन्मात्रेण	(ब्रह्मसू.३।४।६)	५११
चित्तेन हृदयं चैत्यः	(भाग.पुरा. ३।२६।७०)	२२४
चैद्ये च सात्वतपतेः चरणं प्रविष्टे	(भाग.पुरा.१०।७५।८)	५०८
छन्दांसि रथो मे भवत	(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।१२।५)	२०१,४५८, ५२२
छन्दांसि सौपर्णेयाः	(　　　　)	२०१
जगद्व्यापारवर्जम्	(ब्रह्मसू.४।४।१७)	१४५
जातैकभक्तिर्गोविन्दे	(भाग.पुरा.१ ।१३ ।२)	९
जायस्व म्रियस्व	(छान्दो.उप.५।१०।८)	५७४
ज्ञानशक्तिः	(भाग.पुरा.२।५।३)	२६७
ज्ञानिनामपि चेतांसि	(मार्क.पुरा. १।५४)	१५१, ६०५
झलो झलि	(पाणि.सू.८ ।२ ।२६)	३२३
डुकृञ् करणे	(धातुपा.तनादि.१७९)	१३८
तं त्वौपनिषदम्	(बृहदा.उप.३।९।२६)	५४४
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	(शु.यजुर्वेद ३१।९)	१३४
तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते	(बृहदा.उप.४।४।२)	३९२
तज्जाया जाया भवति यद् अस्यां	(ऐत.ब्राह्म.७।१४)	४७७
तत्र भवः	(पाणि.सू.४।३।५३)	२२८
तत्र समाहुताः	(भाग.पुरा.३ ।३ ।३)	१००
तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श	(भाग.पुरा.३ ।१ ।२४)	३१
तत्समश्च	(श्वेता.उप.६।८)	१३५
तत् त्वम् असि	(छान्दो.उप.६।८।७)	२५०
तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात् सः	(ब्रह्मसू.२।३।१३)	१३२
तदुदितः सहि यो यदनन्तरः	(　　　　)	१६८
तद् अर्वाग्-बिलश्च सद्गर्धबुध्नस्तस्मिन्	(बृहदा.उप.२।२)	४५९

तद् ऐक्षत	(बृहदा.उप.१।२।५)	३४६
तद् विष्णोः परमं पदम्	(कठोप.१।३।९)	३०७
तद् वो अभिधास्ये शृणुत	(भाग.पुरा.२।१०।५१)	११
तद्धैक आहुः ऋषयः कावषेयाः	( )	४१५
तद्भूविजृम्भः परमेष्ठि–धिष्ण्यम्	(भाग.पुरा.२।१।३०)	६९
तद्विभूतीर्वदस्व नः	(भाग.पुरा. ३।७।२३)	९
तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि	(बृहदा.उप.३।१२।६)	४२३
तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्	(भाग.पुरा.३।१०। १५)	३३९
तन् मध्ये यत् कृष्णं तद् अन्नस्य	(छान्दो.उप.६।५)	१३४
तपः शौचं दया सत्यम् इति पादाः	(भाग.पुरा.१।१७।२४)	४१३
तमक्रतुं पश्य(तं) (ति वीत)शोकः	(महाना. उप.८।३)	५४५
तमसः परस्ताद्	(श्वेता.उप.३।८)	२५१
तमोऽविवेको मोहः स्याद्	( )	३९३
तमः परे देव एकीभवति	(सुबालोप.२।२)	१८६
तयोस्तु बलवान् इन्द्रः	(भाग.पुरा.२।१०।२४)	२२३
तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति	(मुण्डकोप.३।२।९)	१११
(तस्मिन्) यदक्षरे परमे प्रजाः	(महाना.उप.१।३)	१०८
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता	(भाग.पुरा.३।८।१५)	२६७
तस्येदम्	(पाणि.सू.४।३।१२०)	२२८
तस्यैवं रममाणस्य	(भाग.पुरा.३।३।२२)	१००
ता वां वास्तूनि	(ऋ.सं.अ.२ व.२४ मं.)	५१०
तान् अहं द्विषतः क्रूरान्	(भग.गीता.१६।१९)	७३
तासां वाचो जयन्ति हि	(सुबो.१० ।२६ ।३१)	७७
तासु अपत्यानि	(भाग.पुरा.३।३।९)	९९
तिस्रः कोट्यो अर्द्धकोटी च	(स्कन्दपुरा.खण्ड६.अध्या.११७.६८)	१७८
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि	(भाग.पुरा.१।१३।१०)	२८
तुमर्थे से सेन्..	(पाणि.सू.४।४।९)	२०७
तृतीयस्यामितो दिवं सोम आसीत्तं	(तैत्ति.ब्रह्म.)	४१९
तृतीयो अग्निष्टे पतिः	(अथर्ववेद १४।२।३)	४८३
ते तु ब्रह्महृदम्	(भाग.पुरा.१०।२८।१६)	६४
ते देवाः तस्मिन् नक्षत्रे अभ्यजयन्	(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।२।३)	६२०
तेनैकाष्टकान् छम्बट्कुर्वन्ति	(तैत्ति.संहि.७।४।८।२)	६१९
त्रया(द्वया) ह प्राजापत्याः	(बृहदा.उप.१।३।१)	५७६
त्रयो वै गतश्रियः	(आप.श्रौ.सू.चतुर्थपटल १४।९)	६१२
त्रयोदश मासाः संवत्सरः	(शत.ब्राह्म.८।४।१।१७)	३७६, ४७९
(''त्रयोदश मासा सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सरः'')		
त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः	(भाग.पुरा.२०।१०।३१)	२२२

त्वय्यग्र आसीद्	(भाग.पुरा.८।६८१०)	७५
दध धारणे	(धा.पा.भ्वादि.८)	१०५
दयाया भगिनी मूर्तिः	(भाग.पुरा.६।७।३०)	४०६
दर्शपूर्णमासाभ्याम्	(शत.ब्राह्म.११।२।४।१०)	५७१
दश अस्यां पुत्रान् आधेहि	(बोधा.गृह्यसू.१।४।१९)	९८
दशभ्यः परमक्षरम्	( )	१०८
दहरं वै सा पराभ्याम्	( )	२५५, २५७
दीनानां समुपेक्षा	(भाग.पुरा.४।१४।४१)	१८
दुर्भगो बत लोको अयम्	(भाग.पुरा. ३।२।८)	४३, ४७
दृश्यते तु	(ब्रह्मसू.२।१।६)	२५५, ३५६
देवगृहा वै नक्षत्राणि	(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।२।६)	३७५
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथाः	(भाग.पुरा. १०।४०। १९)	९५
देवाऽसुरो मनुष्यो वा	(भाग.पुरा. ७।।७।५०)	११
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्	(श्वेता.उप.१।३)	३००
देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकः तिरोभवद्	(तैत्ति.ब्राह्म.३।१२।४।१५)	३७८
दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः	( )	२४९
द्रु गतौ	(धातु.पा.भ्वादि.६७७)	५११
द्वया ह प्राजापत्याः	(बृहदा.उप.१।३।१)	१९५
द्वादश मासाः संवत्सरः	(शत.ब्राह्म.८।४।१।१६)	३७६
द्वादशैते विजानीमः	(भाग.पुरा.६।३।२१)	२६९
द्वितीयाद् वै भयं भवति	(बृहदा.उप.१।४।२)	३०७
द्विरेम पुष्पलिड्भृ‘षट्पद	(अमरको.२।५।२९)	५२३
द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन्	(भग.गीता.१६।६)	११३
द्वौ स्तोमौ प्रातः सवनं वहतः	( )	४५२
धत्ते जह्याद् यथा नटः	(भाग.पुरा.१।१५।३५)	५८
धर्मः क्षरति कीर्तनात्	( )	३१५
धातुः प्रसादाद्	(महानारायणोप.८।३)	५४५
न अयम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः	(मुण्डकोप.३।२।४)	५४५
न अश्रौषम् अमनाः	( )	३५३
न एतम् ऋषिं विदित्वा नगरं प्रविशेद्	( )	३००
न कञ्चन कामं कामयते	(बृहदा.उप.४।३।१९)	२८०
न कर्म बन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते	(पद्मपुरा.)	१०६
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके	(महाना.उप.१०।५)	४१५
न काञ्चन परिहरेद्	(छान्दो.उप.२।१३।२)	४७४
न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम्	(कठोप.२।३।९)	५४५
न तं विदाथ य इदं जजान	(ऋग्वेद १०।८२।७)	२५५, ३००, ३०१, ४०९, ४२१, ५४५

न तत्समः	(श्वेता.उप.६।८)	२९०
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान्	(भाग.पुरा.४।७।३४)	५१६
न मे गर्भम्	( )	४९३, ४९४
न मे भक्तः प्रणश्यति	(भग.गीता ९।३१)	६
न वा उ वा एतन् म्रियसे	(कृ.यजुर्वेद ४।६।९।४)	६२८
न वा तत्सहभावाश्रुतेः	(ब्रह्मसू.३।३।६७)	१४०
न विलक्षणत्वात् तथात्वं च शब्दात्	(ब्रह्मसू.२।१।४)	२५५
न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्	(भाग.पुरा.७।५।४९)	११६
न वै षोडशी नाम यज्ञो अस्ति	(तैत्ति.संहि.६।६।११।१)	४१२
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य	(कठोप.२।३।९)	५४४
नदीनां च नखीनां च शृङ्गीणां शस्त्रपाणिनाम्	(गरुड.बृ.अ.१०८)	४९९
नमो नमः एतावत् सदुपशिक्षितम्	( )	१९८
नराद् जातानि तत्त्वानि नाराणीति	(पद्मपुरा.उत्त.खं.२२६।५४)	१७६, ६४३
नाऽनुध्यायाद् बहून् शब्दान्	(बृहदा.उप.४।४।२१)	१३०
नाऽपश्यद् दृश्यमेकराड्	(भाग.पुरा. ३।५।२४)	२५०
नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य	(भग.गीता.४।३१)	४३९
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो	(शिवपुरा.७।२।३७।३६)	२१८
नाडीर्नद्यो लोहितेन	(भाग.पुरा.३।२६।६७)	२२५
नार्थदा पुरुषद्विषाम्	(भाग.पुरा.७।१४।४०)	५२८
नाहं प्रकाशः	(भग.गीता ७।२५)	६०
निःश्वसितम् अस्य वेदाः	(बृहदा.उप.२।४।१०)	४४३
निबन्धाय आसुरी मता	(भग.गीता.१६।५)	७३
निलयं तदीयम्	(भाग.पुरा.२।७।३५)	११८
निरस्तसाम्यातिशयेन	(भाग.पुरा.२।४।१४)	२७८
निर्वास्यताम्म	(भाग.पुरा.३-१-१५)	१६
पद्भ्यां द्वे सवने समगृणान् मुखेन एकम्	(कृ.यजुर्वेद १।६।१।४)	४५२
पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो	(सहैव.१२)	५७०
परमां स्थितिम्	(भाग.पुरा. ११।२९।४४)	१४१
पराञ्चि खानि	(कठोप.२।१।१)	३०८, ४२१, ४२२, ४९५
परिमाणं च कालस्य	(भाग.पुरा. २।१०।४७)	३६१
पशूनां वा एष मन्युः यद् वराहः	( )	४४५
पश्चादप्येतदीदृशम्	(भाग.पुरा. ३।१०। १३)	३३९
पश्यन् शृण्वन्	(भग.गीता ५।८)	६१
पाद्मं कल्पमथो शृणु	(भाग.पुरा.२।१०।४७)	२७७
पापपराजितत्वमिवतु	( )	६२०
पापीयसस्त्रय इमे	(भाग.पुरा.३।१५।३४)	५४९, ५७९
पीतं मया जलं सरीसृप	( )	४४०

पीवेति राशौ न विदां प्रवादः	(भाग.पुरा.५।१०।९)	३६६
पुंसां किलैकान्त...	(भाग.पुरा.६।११।२२)	२९५
पुण्यश्लोको नलो राजा	(पद्म.पुरा.५१।६)	४९४
पुनर्लोकाय कल्पताम्	( )	५०८
पुरुषः कर्मार्थत्वाद्	(मीमां.सू. ३।१।६)	४८८
पुरुषस्य च संस्थानम्	(भाग.पुरा.३।७।३८)	२९७
पुरुषावयवैर्लोकाः	(भाग.पुरा.२।८।११)	३४३
पुर्याम्	(भाग.पुरा.४।२८।१३)	११७
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो द्वितीयोऽद्य	(भाग.पुरा. ३।११। ३३)	४२८
पूर्ववद् वा	(ब्रह्मसू.३।२।२९)	५६७
पूर्वसन्ध्याकालो देवानां पश्चात्तनो	( )	३७१
पृथिव्यापस्-तेजोवायुराकाशा मे	(महाना.उप.२०।२०)	१०
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्	(तत्त्वा.निब.सर्वनि.९८)	२०३
प्रजापतिः आत्मनो वपाम् उदखिदत्	(तैत्ति.संहि.२।१।४)	१६१
प्रजापतिः देवेभ्यो यज्ञान्	(तैत्ति.ब्राह्म.१।३२।५)	४१२
प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पाः	(तत्त्वार्थ.नि.सर्वनि.५८)	३४२
प्रत्येष्यताम्	(भाग.पुरा. ३।१६।३१)	५०८
प्रभुः प्रीणाति विश्वभुग्	(महाना.उप.१६।३)	४४३
प्रवयसोऽप्यासन्	( )	५०
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण	(भाग.पुरा.२।८।५)	५४६
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते	(भग.गीता २।६५)	१२५
प्रा पूरणे	(धातुपा.अदादि. ५४)	१७७
प्राणः पिता प्राणो माता	(छान्दो.उप.७।१५।१)	९५
प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्वाग्	(बृहदा.उप.१।४।७)	८८
प्राणा वै यशः	( )	४५९
प्राणायामैः दहेद् दोषान्	(भाग.पुरा.३।२८।११)	४८७
प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः	(भाग.पुरा. २।१०।३१)	२२२
प्रापद्यत स्वःसरितम्	(भाग.पुरा.३।४।३६)	१६२
प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः	( )	६०१
प्रायश्चिते ब्रह्माणम्	(आश्व.श्रौ.सू.१५)	४११
प्रायो अमी मुनि-गणा	(भाग.पुरा.१० ।१५ ।६)	८१
प्रैषानुवाद प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु	(पाणि.सू.३।३।१६३)	३३३
प्लाव्यमाना रसां गता	(भाग.पुरा.३।१३।१७)	४३०
बलवदुच्छ्र्यात्	(भाग.पुरा.१० ।२ ।१३)	७८
बहु स्याम्	(तैत्ति.उप.२।६)	५५९
बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः	(भाग.पुरा.२।५।३१)	२२४
बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी	(भाग. पुरा.२।१०।३२)	२६७

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा	(तैत्ति.उप.२।५)	१३४
ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्ति	(तैत्ति. ब्राह्म.३।१२।९।८)	१४४
ब्रह्मदासा ब्रह्मकितवा	(आथर्वणब्रह्मसूक्त द्र.शां.भा.२।३।३)	१७
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति	(भग.गीता १८।५४)	५६८
ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति	(मुण्डकोप.३।२।९)	१३५
ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा भवति	( )	४५६
ब्रह्मैव इदं सर्वम्	(नृसिंहो.उप.७।३)	३११
ब्रह्मैव सन् ब्रह्म आप्येति	(बृहदा.उप.४।४।६)	३१२
ब्राह्मणः समदृक् शान्तो	(भाग.पुरा. ४।१४।४१)	१८
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवम्	(भाग.पुरा.१०।१८।३९)	५३२
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	(शुक्लयजुर्वेद.३१।११)	२२७
ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायेताम्	(आप.श्रौ.सू.७।१)	१७८
ब्राह्मसंवत्सरशतादेकाहः शैव उच्यते	( )	२८३
भक्तद्रोहे वधः स्मृतः	( )	४९१, ६१७
भक्त्या माम् अभिजानाति	(भग.गीता.१८।५५)	१६०, ३०५
भगवद्रूपनिष्पत्तौ	(भाग.पुरा.३।२५।कारिका)	१६६
भगवान् तद् विधित्सति	(भाग.पुरा.३।१६।३६)	५०७
भर्त्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति	(तैत्ति.आर.३।१४)	५०
भूतसर्गः तृतीयस्तु	(भाग.पुरा.३।१०।१५)	३३९
भूताभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्	( )	४१३
भूर्भुवः सुवरिति वा एताः तिस्रो	(तैत्ति.उप.१।५।१)	४१८
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते	(भाग.पुरा.१०।८१।३)	५६९
भोगैः आत्मानम् आत्मनि	(भाग.पुरा.१।।११।४५)	४८५
मनः पूर्वरूपं वाग् उत्तररूपम्	(ऐत. उप.१।१।३)	३८
मनः पूर्वौ वागुत्तरः	(ऐत.उप. १ ।१ ।२) ?	८५, ८९
मनसैव एतद् आप्तव्यम्	(कठोप. २।१।११)	४२३
मनसैवा-(नु)द्रष्टव्यम्	(बृहदा.उप.४।४।१९)	५४४, ५४५
मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यम्	( )	२०१, २०२
मन्मना भव मद्भक्तः	(भग.गीता.९।३४)	३१७
मन्वन्तरं मनुर्देवाः	(भाग. पुरा.१२।७।१५)	३८३
मन्वन्तराणि सद्धर्मः	(भाग.पुरा.२।१०।१४)	३८३
मम योनिः महद्ब्रह्म	(भग.गीता १४।३)	५६८
ममैवांशः	(भग.गीता १५।७)	७५
मरीचिः मनसो अभवद्	(भाग.पुरा.३।१२।२४)	४७४
महतो महीयान्	(श्वेता.उप.३।२०)	३६७
महान् धिष्ण्यमुपाविशत् चित्तेनांशेन	(भाग.पुरा. ३।६।२६)	२२४
मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्	(भाग.पुरा. ११।२१।४३)	७५

माता भस्त्रा पितुः पुत्रः	(भाग.पुरा. ९।२०।२९)	४९१
मात्रात्वं चापि कालतः	( )	३४९
मानुषीं तनुमास्थितम्	(भग.गीता.९।११)	६७
माम् उपेत्य तु कौन्तेय	(भग.गीता ८।१६)	६३१
मायेत्यसुरा	(मुद्ग.उप.३।२)	२४९
मायेत्यसुराः तद्धैतान् भूत्वा अवति	( )	६०३, ६३२
मिथ्याज्ञानेन च तमो ज्ञानेन च परं पदम्	( )	५९६
मुखेनैकम् (इमानि चानयोरक्षरणि मुखेनैकं सवनं सह सर्वेणैव यज्ञेनागच्छत्)	(जैमिनि.ब्राह्म.१।२८८)	५७१
मृङ् प्राणत्यागे	(धातुपा.तुदादि.१५१)	१२६
मृत्युम् अत्यमुच्यते	( )	६०५
मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति	(कठोप.४।१०)	५९९
य इमा जजान	(ऋग्वेद १०।८२।७)	४२२
य ईश्वरो वाचो वदितोः सन्वाचं न वदेद्	(तैत्ति.संहि.३।४।३)	४०५
य एनं विसृजेद् धर्मः पारम्पर्यागतं नरः	(भाग.पुरा.१०।२४।११)	७६
यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीम्	(बृहदा. उप.३।७।३)	३६७
यजुर्वेदेन अग्निहोत्रम्	( )	४७५
यज्ञदानतप...	(भग.गीता.१८।५)	१४०
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः	(यजुर्वेद ३१।२२।१६)	५६६
यज्ञो यजमानः	( )	४५९
यतो यतो निःसरति	(भाग.पुरा.७।५।३३)	२०६
यतो वा इमानि	(तैत्ति.उप. ३।१)	३०३
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्ति.उप.२।४)	२३८, ४२३
यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिः	(भाग.पुरा.५।२३।१)	३७५
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते	(भाग.पुरा.३।२६।२७)	२३९
यत् स्वयं च अत्मवर्त्मात्मा न वेद	(भाग.पुरा.३।६।३९)	२३९
यथा चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद्	(ब्रह्मसूत्र ४।४।६)	४९४
यथा नभः स्वान्तम्	(भाग.पुरा.३।६।३५)	२३६
यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न	(बृहदा.उप.४।३।२१)	२८०
यथा यजिर्देवमार्गे तथा स्त्री दैत्यपक्षके	( )	४०४
यथा यथा आत्मा परिमृज्यते असौ	(भाग.पुरा.११।१४।२६)	२०२
यथा वयं च अन्नम् अदाम यत्र	(भाग.पुरा.३।५।४८)	२१८
यथा सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्	(बृहदा.उप.२।४।११)	१४५
यथा स्त्रिया संपरिष्वक्तः एवमेव	(बृहदा.उप.४।३।२१)	
यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः	(बृहदा.उप.२।१।२०)	७५, ५९९
यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्	(जाबालोप. ४)	४१४, ४१६
यदा यदा हि धर्मस्य	(भग.गीता ४।७)	४०७, ५६७

यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगे (भाग.पुरा.११।२४।२) १४५
यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् (तैत्ति.उप.२।७) ७५, ५३०, ५९९
यदादित्यगतं तेजः (भग.गीता १५।१२) ३७८
यदाह भगवान् क्षत्ता (भाग.पुरा.२।१०।४८) १४०
यदि अग्निष्टोमः सोमः पुरस्तात् ( ) ४६०
यदि वा न वेद (तैत्ति.ब्राह्म.८।७।१७।७) २३७
यदुताऽहं त्वया पृष्टो वैराजात् (भाग.पुरा. २।९।४९) २७६
यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् (कृष्णयजुर्वेद १।५।१।१) ३९८
यद् बीजस्य प्रभावेन तिर्यञ्च ऋषयो ( ) १८३
यद् वै किञ्च (छान्दो.उप.३४।७।१३) ४१४
यद्यद् आचरति श्रेष्ठः (भग.गीता ३।२१) ११५
यन्नयेन विरुध्यते (भाग. पुरा.३।७।९) २४८
यन्मर्त्यलीला (भाग.पुरा.३।२।१२) १८२
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (मुण्डकोप.३।२।३) ३०४,५४५
ययोः आपूरितं जगद् (भाग.पुरा.४।१।३) ४०३
ययौ यादृच्छिकौ मुनिः (भाग.पुरा.१।३।३८) १४१
यस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम् (शाण्डि.उप.२) ५२९
यस्मिन् कर्मसमावायः (भाग.पुरा.२।८।१४) ३९१
यस्मिन् विदिते सर्वम् इदं विदितं (शाण्डिल्योप.२।२) २८९
यस्य आत्मा शरीरम् ( ) ५१०
यस्य त्रिणवमन्तर्यन्ति ( ) ३८०
यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे (श्वेता.उप.६।२३) २७३
यस्य पृथीवी शरीरम् (बृहदा.उप.३।७।३) ५१०
यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं च (कठोप.१।२।२५) ३६९
या चैत्ररेकस्याह्न उपसीदन्ति दहरं ( ) २५७
या वै लसत् श्रीतुलसीविमिश्र (भाग.पुरा.१।१९।६) ६८
यामाः चत्वारः चत्वारः (भाग.पुरा.३।११।१०) ३७१
यावानर्थ उदपाने (भग.गीता.२।४६) ३५४
यावान् कल्पो विकल्पो वा (भाग.पुरा. २।८।१२) ३६१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते (भग.गीता४।११) ९१, १६३, १६४, २९२, ५४०, ५५७, ५६८, ६०३
ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तद् (जैमि.ब्राह्म.३।२७३) ३७९
ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः (भाग.पुरा. ३।११।१६) ३८३
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय (भग.गीता ५।२२) २१२
येषां बिभर्मि (भाग.पुरा.३।१६।९) ५७१
येषां समूहेन कृतो विशेषः (भाग.पुरा.५।१२।९) ३६५
यो अस्मात् परस्माच्च परः (भाग.पुरा.८।३।३) ३०३

रघोः कुलेऽखिलं राति राजते	(रामपूर्वतापिन्युप.१।२)	१३८
रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति	(भग.गीता १४।१०)	६१९
रजोभाजो भगवतो लीला इयम्	(भाग.पुरा. ३।१०।१८)	१४५, १६६
रतिः देवादिविषयिणी भावः	( )	३१२
रसदृष्ट्योऽपि निर्गच्छन्ति	( )	४७६
रिष हिंसायाम्	(धातु.पा.तुदादि.१२९)	३२२
रुद्रोऽभिमत्या हृदयम्	(भाग.पुरा. ३।२६।६९)	२२४, २२५
रेतः सिञ्चति प्रजनने	(मुण्डकोप.२।१।५)	४७५
रोमोद्गमस्तथा	(भाग.पुरा.१०।२१।७)	५२
रोहिद्भूताम्...	(भाग.पुरा.३।३१।३६)	४०५
लएवं निरुक्तम्	(भाग.पुरा.५।१२।९)	३६६
ललस आत्मानं स्वयम् अकुरुत	(तैत्ति.उप.२।७)	३४७
लोकवत्तु लीला	(ब्रह्मसू.२।१।३३)	२४०
लोकान् अपीतान् ददृशे स्वदेहे	(भाग.पुरा.३।८।१२)	२६७
लोकाय कल्पताम्	( )	५७८
वद नः सर्गसंव्यूहम्	(भाग.पुरा. ३।७।२७)	३३९
वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि	(भाग.पुरा.१०।५१।४१)	६७
वधं भगवता साक्षाद्	(भाग.पुरा.३।१४।४१)	४९३
वधानुकल्पः स्वद्रोहः	( )	४५४
वराहो अयं वाममोषः	(बौधा.श्रौ.सू.५।१०)	४४४, ४४५
वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा	(पाणि.सू.३।३।१३१)	६९
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः	(पाणि.सू.२।४।२८श्लोक)	१३६
वसन्तो अस्यासीद् आज्यम्	(ऋग्वेद मं.१०।९०।५)	४५८
वाक् च मनश्चार्त्तीयेताम्	( )	५७९
वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः	(भाग.पुरा.३ ।१ ।४५)	३१, ४७
वाशिष्ठो ह सात्यहव्यः	(जैमि.ब्राह्म.२।३५७)	५५६
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः	(भाग. पुरा.१२।११।२१)	८५
विज्ञातं च अविज्ञातं च	(तैत्ति. उप.२।६)	२५५, २५६
विदुरेण महात्मना	(महाभा.१–स्त्रीपर्व.अ.८।१७)	१८४
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव	(भाग.पुरा.११।११।३)	३९४
विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः	(सिद्धान्तशि.गोलाध्या.त्रिप्रश्नवासना.श्लो.१३)	३७४
विप्रशापं समर्थोपि	(भाग.पुरा.११।६।४२)	५५१
विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्द	(भाग.पुरा.७।९।१०)	५६८
विलोक्यैकान्तभूतानि	(भाग.पुरा.६।१८।३०)	२७९
विवृणुते तनुं स्वाम्	(मुण्डकोप.३।२।३)	३०४
विशेषास्त्वङ्गना भीरुः	(अमरकोष २।६।३)	४७९
विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं	(भाग. पुरा.३।१०।१२)	५, ७५, ४२०

विश्वसृजः प्रथमाः सत्रम् आसत	(तैत्ति.ब्राह्म.३।१२।९।७)	१४३
विष्णुर्वा अकामयत पुण्यं श्लोकं	(तैत्ति.ब्राह्म.३।१।५।७)	५५३
विष्णोः कर्माणि पश्यत	(तैत्ति.संहि.१।३।६)	१७८
वीर्यमाधत्त	(भाग.पुरा.३।५।२६)	३५१
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति एकः	(श्वेता.उप.३।९)	२९४
वृन्दावनं सखि	(भाग.पुरा.१०।२१।१०)	६५
वेदमयो विधाता	(भाग.पुरा.३।८।१५)	२८१
वेदैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्	( )	४०६
वैकुण्ठः कल्पितो येन	(भाग.पुरा.८।५।४)	५०८
वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च	(शास्त्रार्थनिब.४५।४६)	११९
वैष्णवाः वै वनस्पतयः	(बोधा.गृ.सू.३।६।४)	१२७, ३५५
व्यत्ययो बहुलम्	(पाणि.सू.३।१।८५)	६१०
व्याप्तेश्च समञ्चसम्	(ब्रह्मसू.३।३।१०)	१३३
शतायुर्वै पुरुषः	(शतप.ब्राह्म.१३।२।६।८)	२८७, ३७५
शम उपशमे	(धातुपा.दिवादि.१२०१)	१३८
शरीरारोग्यम् ऐश्वर्यम् अरिपक्षक्षयः	(विष्णुपुरा.१।९।१२५)	६४३
शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणाद्	(ब्रह्मसू.१।३।३४)	२३१
श्नाभ्यस्तयोः	(पाणि.सू.६।४।११२)	३२३
श्रुतौ स्मृतौ पुराणे च कालत्रयम्	(उमां प्रति काशीखण्डे शिववाक्यं)	४३०
श्रोत्रं त्वग्घ्राण-दृग्-जिह्वा	(भाग.पुरा.२।५।३१)	२२२
श्वा मृगग्रहणे शुचिः	(विष्णुस्मृ.२३।४९)	६११
षाड्वर्गिकं जिघ्रति	(भाग.पुरा.१।३।३६)	११३
षू प्रसवे	(धातु.पा.दिवादि.९६)	४४८
स आत्मानमेव द्वेधा अपातयत्	(बृहदा.उप.१।४।३)	२७९
स एतं प्राजापत्यम् अजं तूपरमालभेत	(तैत्ति.संहि.२।१।५)	१६१
स एतं मन्त्रम् अपश्यद्	(जैमि.ब्राह्म.३।१९३)	२०
स एव स्वान्तरं निन्ये	(भाग.पुरा.३।२२।३६)	३८३
स एष जीवो विवरप्रसूतिः	(भाग.पुरा.११।१२।१७)	१२४
स एष भगवान् कालः सर्वेषां	(भाग.पुरा. १।१३।१९)	१६२
स चापि यत्र	(भाग.पुरा.२।८।१०)	२७७
स त्वक्षरात्परतः परः	(मुण्डकोप. २।१२)	८५
स बृहतीमेव अस्पृशद्	(छन्दःशास्त्रम् पृ.३४)	४१८, ४१९
स भवान् दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः	(भाग. पुरा.३।१।१०४।)	५९३
स भूमिं विश्वतो वृत्वा	(शु.यजुर्वेद ३।१।१)	१३४
स यमो देवानाम् इन्द्रियं वीर्यमयुवत	(कृ.यजु.२।१।३)	५८२
स वराहो रूपं कृत्वोपन्न(?)मज्जत्	(तैत्ति.ब्राह्म.१।१।३।६)	४२९
स वा एष तदा द्रष्टा	(भाग.पुरा.३।५।२४)	२५०

स विश्वजन्म	(भाग.पुरा. ३।५।१६)	१८५
स वै निवृत्तिधर्मेण	(भाग.पुरा. ३।७।१२)	२४९
स सर्वधीवृत्तिः	(भाग.पुरा.२।१।३९)	६१, ११२
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्	(भाग.पुरा.३।११।१२)	३७१
संवत्सरो वै प्रजापतिः	(प्रश्नोप.१।९)	४७९
सः एतं विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं	(तैत्ति.ब्राह्म.३।१।५।७)	५५३
सः एषः दोषः	(भाग.पुरा.३ ।१ ।१३)	१६
सः कथम्	(भाग.पुरा.३ ।२ ।३)	४७
सङ्ख्यातानि सहस्राणि	(भाग. पुरा.३।११।।१९)	३८०
सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति	(छान्दो.उप.६।९।२)	२७८
सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य	(भाग.पुरा.२।५।१८)	५१०
सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः	(भाग.पुरा.१०।८।५२)	७९
सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्	(तैत्ति.उप.२।६)	२५५, २५७
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.२ ।१ ।१)	१२३, २७९
सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा	(भाग.पुरा.९।४।६६)	६३
सदा असंयुतः	( )	३६९
सदृशान्यात्मनो गुणैः	(भाग.पुरा.३।१३।११)	४२९
सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्	(स्कन्दपुरा.आवन्त्यखंड २१।६)	५५८
सन्धौ होतव्यम्	( )	४७५
सप्त वै शीर्षण्याः वाग् अष्टमी	(तैत्ति.संहि. ५।३।२।५)	८०
सप्तानां गिरीणां परस्ताद् वित्तं वेद्यम्	( )	४४५
सभां वा न प्रवेष्टव्यम्	(मनुस्मृ. ८।१३)	१८
समुद्राय स्वाहा	(शुक्लयजुर्वेद २२।२५)	४५१
समुद्रियाभ्यः स्वाहा	(तैत्ति.संहि.७।४।१२।१३)	४५१
सरसमहवसन्ता य प्रायच्छद्	( )	४५८
सर्गो नवविधस्तस्य	(भाग.पुरा. ३।१०।१३)	५
सर्वं सर्वमयम्	(नृसिं.उ.ता.उप.९)	३०६, ३६८
सर्वस्य गात्रस्य शिर: प्रधानम्	(नीति)	२३४
सर्वेषां विसर्गाणां पायु एकायनम्	(बृहदा.उप.२।४।११)	५२
सर्वेषां सतु नामानि	(मनुस्मृति १।२३)	१२४
सहस्रशीर्षा	(ऋग्वेद मं.१०।९०।१)	४३४, २९५
सहाचला भुवश्चेलुः	(भाग.पुरा.३।१७।४)	७
सा च प्रशासनात्	(ब्रह्मसूत्र १।३।११)	३९०
साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्	( )	३५१
साङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहः	(भाग.पुरा.५।२५।३)	३९९
साध्यात्मः साधिभूतः	(भाग.पुरा.३।६।९)	२२४
सारस्वतीं मेषीमालभेत	(मानवश्रौ.सू.३।६।१५)	४०५

सुखाय कर्माणि करोति लोकः	(भाग.पुरा.३।५।२)	२६९
सुतं मृधे	(भाग.पुरा.७।८। १५)	९९
सुपां सुलुग्	(पाणि.सू.७।१।३९)	३९
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः	(कैवल्योप.१।१३)	२७७
सूर्यस्तस्याऽधिभौतिकम्	(सर्वनिर्णयप्रकरण का.१०९)	३६२
सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते	(भाग.पुरा.३।७।९)	२४७
सैषा त्रय्येव विद्या तपति, य एषोऽन्तरादित्ये	(छान्दो.उप.१।६।६)	१३०
सो अकामयत	(तैत्ति.उप.२।६)	२४२, ३४६
सो अध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः	(कठोप.१।३।९)	३०७
सो अश्नुते	(त्तैति.उप.२।१)	६३
सोमेन यजेत	(तैत्ति.संहि.३।२।२।३)	४६०
स्त्रियः प्रविष्टः उदरं पुंसो रेतः	(भाग.पुरा.३।३१।१)	३६५
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च	(भाग.पुरा.११।३०।६)	१५८
स्थिरबुद्धिरसंमूढः	(भग.गीता ५।२०)	१२५
स्मर्तव्यः सततं विष्णुः	(पद्मपुरा.)	५७८
स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्	(भाग.पुरा.४।२४।२९)	३१८
स्वधाम नय मामपि	(भाग.पुरा.११।६।४३)	५३, १२९
स्वयं त्वसाम्यातिशयः त्र्यधीशः	(भाग.पुरा.३ ।२ ।२१)	७८
स्वरूपं वा परस्य च	(भाग.पुरा.३।७।३८)	२९७
स्वादृगुत्थविपर्यासभवभेदजभीशुचः	( )	३९३
स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम्	(भाग.पुरा.३ ।१ ।२५)	३१
स्वोपयुक्तार्थसंयुतः	(त.दी.नि.३।२)	२
हन्ति पुण्यं पुराकृतम्	(अग्निपुरा.१७५।३७)	३१५
हस्तानिन्द्रो बलेनैव	(भाग.पुरा.३।२६।६६)	२२३
हासो जनोन्मादकरी च माया	(भाग.पुरा.२।१।३१)	२९२
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते	(भाग.पुरा. ११।३। १४)	५३
हृदयं यस्य धर्मः	( )	४०३
हृदि प्राणो गुदेऽपानः	(अम.को.१।१।३६)	२२५

श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभजी कृत सुबोधिनी लेखका अन्तिम पृष्ठ

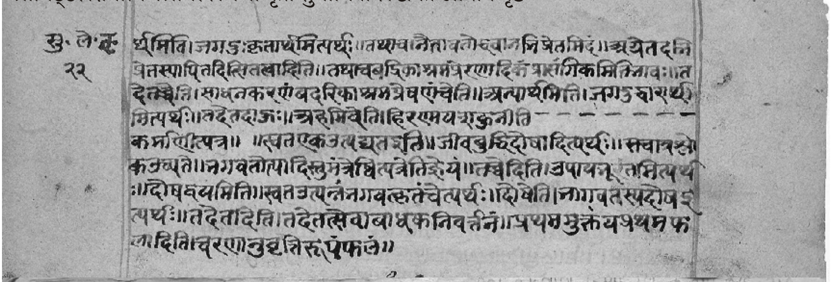

मांडवी – २

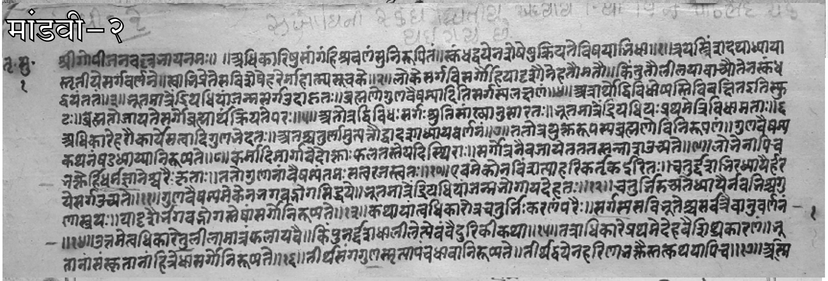

अमदावाद

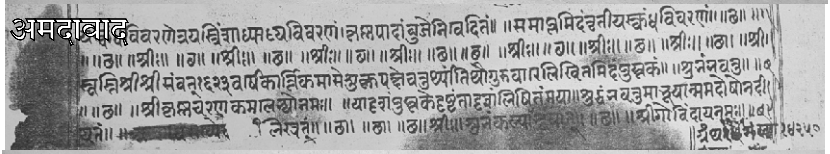

मांडवी – १

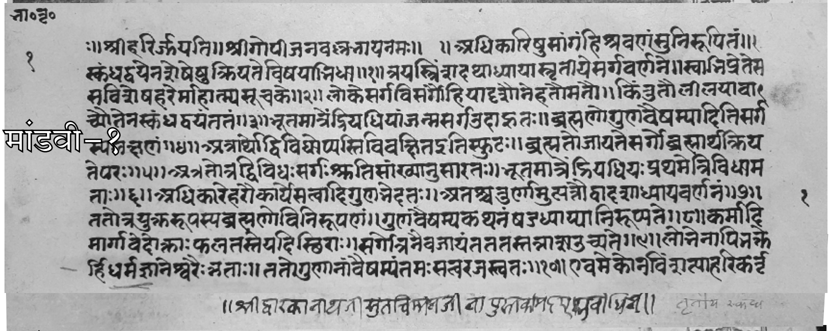

मांडवी – ३

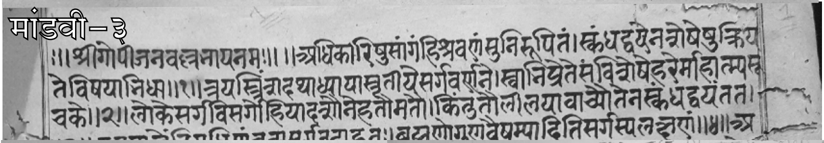
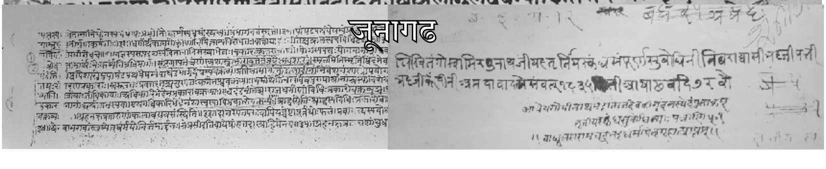
जूनागढ